जयोदय महाकाव्य

(उत्तरांश)

—: मूलग्रन्थकर्ता एवं संस्कृत टीकाकार :—

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

(आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)

प्रेरक प्रसंग : प. पू आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु श्री गम्भीर सागरजी, क्षु श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व पं जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमालासम्पादक एवं नियामक : डॉ दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट - डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मगा सकते है।

प्राप्ति स्थान :

✻ **सोनी मन्दिर ट्रस्ट**
सोनीजी की नसियाँ,
अजमेर (राज)

✻ **डा शीतलचन्द जैन**
मत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
१३१४ अजायब घर का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

✻ **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
मन्दिर संघी जी, सांगानेर
जयपुर (राज.)

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

जयोदय महाकाव्य

(उत्तरांश)

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :
मुनि श्री सुधासागर जी महाराज एवं
क्षु श्री गंभीरसागर जी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज

-: सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार :-
डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य

सौजन्यता :
श्री रतनलाल कंवरीलाल पाटनी (आर. के. मार्बल्स लि.)
मदनगंज – किशनगढ़

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज.)

प्रकाशन :
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

मुद्रण एवं लेजर टाइप सैटिंग :
निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स
पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291
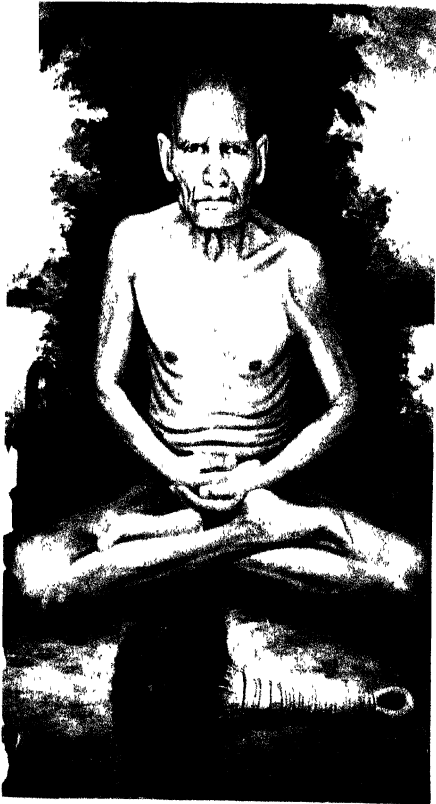
दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज

प्रकाशकीय समर्पण

आ श्री वि द्या सा ग र जी

卐

मु श्री सु धा सा ग र जी

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्‌घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एव नर-पुंगवों को जन्म दिया है । इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेको कीर्तिमान स्थापित किये हैं । जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है ।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये । मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि स २०१६ मे खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ हो गये थे । आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे ।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबडा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था । आपके बडे भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था । आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये । प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई । साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बडे भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये । वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे । लेकिन आपका मन आगे पढने के लिए छटपटा रहा था । सयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये । उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए । विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एव दृढ़ता देखकर आपके बडे भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी ।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे । वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और सस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की । जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एव प्राकृत ग्रन्थो को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी । आपका मन क्षुब्ध ही उठा, परिणामत आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुन जीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया । अडिग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एव जैनेत्तर विद्वानों से जैन वाँङ्मय की शिक्षा प्राप्त की । वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं भूरामल जी नाम से विख्यात हुए । वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया ।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही। आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया। इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया। इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानो में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के दिग्गज विद्वानो की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती है।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये। जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थो श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया। "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अगीकार किये। ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु मे आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए। सन् १९५९ मे ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए। और आपको आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। सघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वता एव मजगता के साथ सम्पन्न किया। रूढिवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एव लेखन में व्यतीत होता रहा। फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये। उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे। मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एव तात्विक वक्ता थे। पथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ, अजमेर तथा ब्यावर भी गये। ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है"।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था। चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया। आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले

जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा । नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ-सकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोडी । इसी बीच उन्होंने अखड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कडी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया । इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने मे । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एव वागमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ मे आपके सघ का चातुर्मास पुन नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपंती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पडता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीडा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर ! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रात काल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर

देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अत अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम मे विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति मे किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्ततोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी का कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय मे रत्नत्रय- आराधना में शनै शनै कृश हो रहा है। अत मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य का पदासीन कर दू। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण सस्कृति का सरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा सघ का कुशलता पूर्वक सचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार का धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त मे निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणो से समर्पित करदी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एव अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज सघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एव मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे यह एक विस्मयकारी एव रोमाचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एव आचार्य पद देने की स्वीकृति मागकर, उन्हें आचार्य पद मे विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मंदिर का प्रागंण गूज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि स २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनाक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शाति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आरुढ़ हो जाओ, तभी कल्याण सभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों

की ओर गया है। परिणामत आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एव चमत्कारिक क्षेत्र, सागानेर (जयपुर) में सगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निग्धता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक सगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय सगोष्ठी आयोजित की जावे। उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुन प्रकाशित कराकर विद्वानो को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे। इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त सगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का सरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एव उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है। अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गभीर सागरजी एव पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एव उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है। आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी वी" लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक सस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है। अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढकर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं। अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन भी

एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का ससघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनो का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावो को भुलाकर जैन शासन के एक झडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुन प्रकाशन कराने का सकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एव विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एव धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एव पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओ से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एव श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणो में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयाजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह जयोदय महाकाव्य (उत्तरांश) श्री वाणीभूषण बा ब्र पं भूरामलजी शास्त्री ने लिखा था, यही ब्र बाद मे आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए।

इस ग्रन्थ का प्रथम सस्करण वीर निर्माण संवत् २५१५ में श्री ज्ञानोदय प्रकाशन - पिसनहारी, जबलपुर - 3 से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुन यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अत· पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज अजमेर आभार व्यक्त करती है । एव इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत सलग्न हैं ।

विनीत

श्री दिगम्बर जैन समिति
एवं सकल दिगम्बर जैन समाज
अजमेर (राज)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान, **जन्म काल** - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी, **माता का नाम** - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन), **बाल्यकाल का नाम** - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में **शिक्षा** - प्रारम्भिक शिक्षा गांव के विद्यालय में एव शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ प्र) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में

* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में

* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय .

* सन १९४७ (वि सं २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि सं २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि सं २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि सं २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाढ शुक्ला ५ सं २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एव इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* सवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल जी गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये।

* संवत् २०२६ में ब्रह्म पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी को मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म दीपचंदजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, और क्षु स्वरुपानंदजी नाम रखा जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतल सागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया। आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी एव वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* संवत् २०१६ - अजमेर सं २०१७ - लाडनू, सं २०१८ - सीकर (तीनो चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर, २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा), स २०२१ - मदनगंज - किशनगढ स २०२२ - अजमेर, स २०२३ - अजमेर, स २०२४ - मदनगंज-किशनगढ स २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ), स २०२६ - अजमेर (केसरगज), सं २०२७ - किशनगढ रैनवाल, म २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं २०२९ - नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय

* स २०१२ से स २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था मे - रोहतक/हासी/हिसार/गुउगाँवा/रिवाडी/ एवं जयपुर ।
* सं २०१६ से स २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगज-किशनगढ/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरमोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/ सावरदा/खडेला/हयोढ़ी/कोठी/मडा-भीमसींह/भींडा/किशनगढ-रैनवाल/कास/श्यामगढ/मारोठ/सुरेरा/दाता/कुली/ खाचरियाबाद एव नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एव संल्लेखना व्रत ग्रहण	- मंगसर वदी २ सं २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ	- ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या स २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय	- पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि	- ६ मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेव नमन् । शत् शत् नमन ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार "युगवीर" ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरसावा (सहारनपुर) में "वीर सेवा मंदिर" नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का "वसीयतनामा" लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। "वसीयतनामा" में उक्त "वीर सेवा मन्दिर" के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 का उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार प मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत: अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्वेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था पश्चात् बा छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें "अनेकान्त" (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एव लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है। अत: उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें।

ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द सगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आशीर्वाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागानेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मुनि 108 सुधासागर महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वय ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **जयोदय महाकाव्य** (उत्तरांश) के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस सस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अत· ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतुं शासनम् ।

दिनाङ्क · 9-9-1994

(पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व)

डॉ. शीतल चन्द जैन
मानद मंत्री
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
1314 अजायब घर का रास्ता
किशनपोल बाजार, जयपुर

प्रथम संस्करण से

प्रकाशकीय

एक दशकसे भी अधिक जैसे दीर्घकालसे प्रतीक्षित 'जयोदय-महाकाव्य' के उत्तरांशको पाठको तक सौंपकर प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। इसके प्रकाशनमें इतना विलम्ब होनेके कई कारण रहे, यथा—(१) इसकी पाण्डुलिपि ही सुरक्षित नहीं मिल सकी, (२) इसके सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तरणके लिए सुयोग्य विद्वान्का अभाव, (३) पूर्वार्ध प्रकाशित करने वाली संस्थाकी गतिविधियोंमें ह्रास, (४) अन्य प्रकाशन संस्थाओंसे सम्पर्क आदि।

जैसा कि पूर्वार्धके सम्पादक श्रद्धेय पण्डित हीरालालजी शास्त्रीकी भावनानुसार इस ग्रन्थका सम्पादन डॉ० पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्यजीको करना चाहिए, कारण वे इस विषयके अधिकारी एवं सुख्यात विद्वान् हैं। अतः इस उत्तरांशका कार्य उन्हींपर सौंपा गया। पहले तो उन्होंने व्यस्तता एवं अस्वस्थताके कारण असमर्थता प्रकट की, किन्तु कुछ समय बाद जब मैंने स्वयं आग्रह कर सहयोग देनेकी बात की तब कहीं इसके अनुवाद एवं सम्पादनका कार्य आरम्भ हो सका। इस कार्यमें पण्डितजीको अत्यधिक श्रम करना पड़ा। जिसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ और खेद भी कि आज भी समाजमें इस विषयके तज्ञ विद्वान् अन्य नहीं हैं।

इस महाकाव्यके प्रकाशनमें मेरी रुचि होनेका मूलभूत कारण यही रहा कि प्रस्तुत कृतिकी विशिष्टाओंका समीचीन/निरपेक्ष/सार्थक मूल्यांकन हो एवं इसे संस्कृत साहित्य जगत्में उचित स्थान मिले। साथ ही, बीसवीं सदी जैसा दुष्कालमें भी देव भारतीके महाकविके अवतरण एवं उनके साहित्यका संस्कृत समाज आदर और गौरव स्थापित कर सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहें कि इस ग्रन्थका प्रकाशन बादको हो पा रहा है। इससे पहले इस पर पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण कर दो शोध छात्रोंने अपनेको गौरवान्वित किया तथा दो अभी भी कार्यरत हैं। कितना सुखद होता कि यदि उन्हें इस ग्रन्थका टीका सहित अवलोकन कर कार्य कर सकनेका अवसर मिलता। इससे अधिक सुखकर तो यह होगा कि इसके अठारहवें सर्ग, जिसमें प्रमुख स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियोंका उल्लेख हुआ है को, विश्वविद्यालय पाठ्यक्रममें सम्मिलित कर जहाँ इस महाकाव्यका भी अन्यों सम पठन-पाठन कार्यो तथा छात्रोंको देशके लिए समर्पित देशभक्तोंकी कुर्बानियोंके प्रति आदर की भावना पैदा करायें। वहीं बीसवीं सदीमें सृजित एकमेव महाकाव्यको लोकख्याति दिला संस्कृत साहित्यके विकासके ऐतिहासिक पृष्ठोंमें अपनेको तथा इस सदीको स्वर्णांकित करें।

विनत हूँ मैं महाकवि भूरामलजीके आश्चर्योत्पादक व्यक्तित्व प्रतिभाके प्रति। जिससे कि आज भी महाकविकी परम्पराका विकास हुआ और संस्कृत-साहित्यकी समृद्धिमे अकल्पनीय घटना घटी। प्रस्तुत कृतिपर प्रस्तावना लेखनके लिए डॉ० भागीरथ-जी त्रिपाठी "वागीश" से निवेदन किया गया। जिसे उन्होने सहज स्वीकार कर प्रस्तावना लिखने की कृपा की। उनकी इस साहित्याभिरुचिमे उपकृतहोता हुआ मैं उनके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ।

डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्यका आभार किन शब्दोमे व्यक्त करूं, इसके लिए मुझमे न तो बुद्धि है और न शब्द। कारण मुझे विवशतावश वृद्धावस्थामें भी उनमे इतना अधिक काम कराना पड़ा। जिसे उन्होने बिना प्रतिवाद किये सहर्ष किया भी। उनके प्रति विनम्र भावाञ्जलि अर्पित करते हुए कामना करता हूँ कि वे शतायुष्क हो। दीर्घ-काल तक हम सभीका मार्ग प्रशस्त करते रहें। इसके प्रकाशनमे अजमेर निवासी श्री महेन्द्र-कुमारजीका सहयोग भी स्मरणीय है, जिन्होने योजनानुसार इसकी कुछ प्रतियाँ विद्वानो एवं ग्रन्थालयोंमें भेंट हेतु प्रकाशन-पूर्व ही सुरक्षित करा दी। स्वच्छ एव शुद्ध मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालयके अधिकारी एव सहयोगियोको भूल पाना मेरे लिए असम्भव है। उन्हें भी हार्दिक साधुवाद। और अन्तमें ज्ञानोदय प्रकाशनकी गतिविधियोके प्रेरणा-स्रोत परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराजके प्रति विनयाभिभूत हू जिनके सुस्मरण एवं शुभाशीषसे ही इस कृतिके प्रकाशनका आदिसे अन्त तकका संबल प्राप्त हुआ।

ज्ञानोदय प्रकाशन महाकवि भूरामलजीके इस महाकाव्यको नेहरू जन्मशताब्दी वर्षमे प्रकाशित कर अपनी प्रकाशन शृखलामे संयुक्त होती इस अभिनव कड़ीको शिरोमणि उपलब्धि रूप मानता हुआ गौरवका सम्पादन|संवेदन कर रहा है।

पिसनहारी, ४८२००३, ०४०४८९ राकेश जैन

प्रथम संस्करण से

भूमिका

संस्कृतभाषाका लालित्य जम्बूद्वीपके कवियोको चिरकालसे अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। वैदिक ऋचाओमे ऋषियोंने रूपकोका आश्रय लेकर प्रकृतिकी अभिरामताको यथेष्ट रूपमे निबद्ध किया। यद्यपि उपनिषत्कालीन वाङ्मयमे संस्कृतभाषाका विश्लिष्ट स्वरूप विशेषत. निखर कर लोकके सामने आता है, तथापि लौकिक संस्कृतमे काव्यरूपताकी पूर्ण छवि वाल्मीकि वाङ्मयमें छिटकती है। लोकमङ्गलकारी आदर्श विषयवस्तुकी रसात्माको समुचित भाषापरिधानके माध्यमसे इस प्रकार प्रतिपादित करना कि वस्तुतत्त्व रसिक जनोके चित्तमे उतर सके। यही कविकौशल है, इसीमे कविके काव्यका सार्थक्य है तथा स्वय को परितृप्ति है। साहित्य वह कृति है जो श्रोता अथवा पाठकके मनोवेगोको तरगित करनेमे समर्थ होती है। काव्यस्रष्टा जिस प्रकार चाहता है, काव्यसृष्टि करता है। ध्वन्यालोककारका कथन है कि काव्यरूपी अनन्त जगत्का प्रजापति कवि ही है, उसे यह जगत् जिस प्रकार रुचता है, इस जगत्को उसीके अनुरूप परिवर्तित हो जाना पडता है—

अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते ॥

वैदिक कालसे ही स्थानीय बोलियोका विकास होने लगा था। भाषा-विश्लेषण द्वारा शिष्ट प्रयोगोका निर्धारण किया जाने लगा था। इस प्रकार उस कालमे शिष्टभाषा और सामान्यभाषाकी सीमारेखा खिच गई थी। 'मृध्र-वाच' जनोका एक पृथक् ही वर्ग था। भगवान् बुद्धके कालमे संस्कृतभाषाकी विविध प्राकृतभाषाएँ विकसित हो चुकी थी। भगवान् बुद्धने अपने उपदेश सामान्य जन तक पहुँचाने हेतु तदानीन्तन जनभाषाका प्रयोग किया था। भगवान् महावीरने भी अपने उपदेश संस्कृत भाषामे नही दिये।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिने परापर विद्याओके निष्णात विद्वानोको भी प्राकृतसे प्रभावित बताया है। भारतीय समग्र प्रदेशोंके व्यवहार को एकसूत्रतामे बाँधने लिए संस्कृत सेतुके रूपमे प्रधानभाषाकी भूमिकाका निर्वाह कर रही थी। सभी प्राकृते संस्कृतसे सबद्ध थी। अत राष्ट्रिय व्यवहार के लिए संस्कृतभाषा सम्पर्कभाषा एव साहित्यिक भाषाके रूपमे सबको मान्य थी। प्राकृतभाषाके मूल ग्रन्थो पर व्याख्याएँ संस्कृतमे रची जाती थी।

वात्स्यायनभाष्य और न्यायवार्त्तिकके सिद्धान्तोंके प्रत्याख्यानके लिए

तो संस्कृतमें बौद्ध न्याय ग्रन्थोकी बाढ-सी आ गई। जैन न्याय भी संस्कृत भाषा मे पीछे नही रहा। बौद्ध और जैन विद्वानोका ध्यान संस्कृत व्याकरण शास्त्रकी ओर गया। प्रथम शताब्दी स्थित जैन विद्वान् शर्ववर्माने कातन्त्र व्याकरण तथा चतुर्थ शताब्दी स्थित बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमीने चान्द्रव्याकरणकी रचना की। किन्तु उनके द्वारा अभी लोकहृदय-सस्पर्शी लोकसाहित्यकी सृष्टिका श्रीगणेश सस्कृतमे नही किया जा सका था। इस कार्यका शुभारम्भ किया अयोध्यामे जन्मे ब्राह्मण अश्वघोषने। उनके द्वारा विरचित 'बुद्धचरितम्' लौकिक सस्कृत साहित्यकी उत्कृष्ट कृति है। यद्यपि सौन्दरनन्द भी उनकी ही रचना है, तथापि साहित्यिक गुणोकी दृष्टिसे बुद्धचरितम् कालिदासीय काव्यसे कथमपि न्यून नही है।

बौद्ध संस्कृत साहित्यमे अश्वघोषप्रणीत काव्य आदिम भी है और अन्तिम भी। उक्त सस्कृत साहित्यमे सस्कृत साहित्यकी अन्य विधाओका विकास ही नही हो सका। इसके विपरीत जैन विद्वानो द्वारा विरचित कृतियोमे काव्यकी विविध विधाओके सवल्लनासत्र दर्शन होते है। इनम महाकाव्य, लघुकाव्य, कथासाहित्य प्रबन्धसाहित्य, सन्धानकाव्य, चम्पूकाव्य, गीतिकाव्य, दूतकाव्य, सुभाषित, पादपूर्तिसाहित्य, नाटक-नाटिका (दृश्यकाव्य), स्तोत्रसाहित्य, प्रशस्ति साहित्य पट्टावलि तथा गुर्वावलि साहित्य, विज्ञप्तिपत्र साहित्य, गद्यकाव्य एव साहित्यव्याख्याएँ सस्कृतवाङ्मयकी विशालनिधिके रूपमे हमे उपलब्ध है।

जैन विद्वानोने नूतन काव्यशैलीमे सस्कृत रचनाओका शुभारम्भ ईसवीय तृतीय-चतुर्थ शताब्दीमे ही कर दिया था। किन्तु पाचवी शताब्दी तक जैन काव्यवाङ्मयकी कृतियोका परिचय अन्यत्र उल्लेखके द्वारा ही हमें मिलता है। परन्तु सातवी शताब्दीसे सर्वाङ्गपूर्ण विकसित काव्यवाङ्मय उपलब्ध होने लगता है। यद्यपि जैनोका धर्म प्रधानतया त्याग और वैराग्य पर बल देता है, तथापि जैन विद्वान् युगकी आवश्यकताको दृष्टिगत रखकर काव्यप्रणयनमे प्रवृत्त हुए। उनके शुष्क उपदेशोको प्रभावशाली ललित शैलीके बिना कौन सुननेको तत्पर होता। यद्यपि जैन मुनियोको शृङ्गारमय कथाओं का श्रवण एव उपदेश वर्जित था, तथापि श्रावक वर्गको इस प्रकारके साहित्य मे रसोपलब्धि होती थी। युगानुरूपताका ध्यानमे रखकर जैन विद्वान् इस ओर प्रवृत्त हुए। साहित्यनिर्माणके क्षेत्रमे जैन विद्वानोने सर्वत: प्रथम लोकरुचि की ओर ध्यान दिया। किन्तु गुप्तकालमे और उसके परवर्ती युगमे संस्कृत वस्तुतः पाण्डित्यपूर्ण विवेचनो तथा काव्यरचनाओ की भाषा बन गई थी।

संस्कृत काव्यरचनाको दिशामें दक्षिण भारत, गुजरात तथा राजस्थान के विद्वानोको मुख्यतः श्रेय प्राप्त है। ईसाकी सातवी शताब्दीसे हमे जैन विद्वानो द्वारा प्रणीत काव्यरचनाएँ उपलब्ध है। उनमें रविषेण द्वारा विरचित पद्मचरित या पद्मपुराणको प्रथम संस्कृत रचना कहा जा सकता है। जटासिंह नन्द्याचार्य द्वारा प्रणीत वराङ्गचरित महाकाव्य भी सप्तम शताब्दीकी कृति है। अष्टम शताब्दीमे स्थित महाकवि धनञ्जयकी द्विसन्धानकाव्यम् अथवा राघव-पाण्डवीयम् नामक रचना संस्कृतवाङ्मयकी अनतिसाधारण एवं प्रसिद्ध कृति मानी जाती है। इसी शताब्दीकी दो अन्य काव्यकृतियाँ भी उल्लेखनीय है—१. कर्नाटकदेशस्थ पुन्नाटसघीय जिनसेन विरचित हरिवशपुराण महाकाव्य अथवा अरिष्टनेमि पुराणसग्रह तथा २ राजस्थानी जैन विद्वान् जिनसेन एव गुणभद्र द्वारा सदृब्ध महापुराण (आदिपुराण)। नवम शताब्दीकी दो रचनाएँ महनीय हैं—गुणभद्र एव लोकसेन रचित उत्तरपुराण तथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश।

कुछको छोडकर प्रारम्भिक कालसे सोलहवी शताब्दी तक पौराणिक शैली मे काव्यो तथा महाकाव्योकी रचनाका क्रम बना। इसलिए ऐसी कृतियों को पौराणिक रचना नाम दिया जा सकता है। पौराणिक युग कहना अधिक सगत नही जँचता क्योकि तत्समकालीन ऐतिहासिक एव अलंकारप्रधान शास्त्रीय महाकाव्योकी भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। कवियोने पौराणिक रचनाओ के साथ प्रायः पुराण शब्दका प्रयोग भी किया है। पौराणिक काव्य प्राय: बृहत्काय भी होते थे। उदाहरणार्थ महापुराण (आदिपुराण) ७६ पर्वोमे लिखा गया विशाल ग्रन्थ है। हरिवंश पुराण महाकाव्य ६६ सर्गोमे निबद्ध है।

दसवी शताब्दीमे वाग्भटने नेमिनिर्वाणमहाकाव्य और महासेन सूरिने प्रद्युम्न चरितकाव्य रचा। ये वाग्भट वाग्भटालकारके कर्ता वाग्भटसे भिन्न तथा पूर्ववर्ती ठहरते हैं। नेमिनिर्वाण महाकाव्यके पद्य वाग्भटालकारमे उद्धृत है। ग्यारहवी शताब्दीसे जैन विद्वानोने संस्कृतकाव्य और महाकाव्यमे वैशिष्ट्य उपनत किया। पुंगव ओडयदेव वादीभसिंहके 'क्षत्रचूडामणि' नामक लघुकाव्य के प्रत्येक पद्यका पर्यवसान सूक्तिमे होता है। ये सस्कृतगद्य लिखनेमे सिद्धहस्त थे। इनका गद्य-चिन्तमणि बाणभट्टकी कादम्बरीके समकक्ष माना जाता है। वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथजिनेश्वर महाकाव्य (११२५ वि स) १२ सर्गोमे आबद्ध श्लाघ्य रचना है।

शास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत वाङ्मयको समृद्ध बनानेमे कलिकालसर्वज्ञ हेम-चन्द्राचार्य (वि. सं. १२१६) का अनतिसाधारण योग रहा। उन्होने व्याकरणादि विविध विषयों पर संस्कृतमे ग्रन्थरचना तो की ही है, साहित्यिक दृष्टिसे भी उनका कृतित्व चिरस्मरणीय रहेगा। दस पर्वोमें निबद्ध 'त्रिषष्टिशलाकाचरितम्'

उनकी अनुपम कृति है। इसका प्रत्येक पर्व अनेक सर्गोंमे विभक्त है। बारहवी शताब्दीके तीन अन्य काव्य एवं महाकाव्य उत्कृष्ट कोटिके हैं—१. जयसिंहसूरि-प्रणीत कुमारभूपालचरितम्[1], २. मुनिरत्नसूरिकृत असमस्वामिचरितकाव्य (२० सर्ग) तथा हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्य (१२५७ वि. सं.)।

तेरहवी शताब्दीमे संस्कृत काव्यरचनाके क्षेत्रमे जैनकवियोंकी वृद्धि हुई। यद्यपि इस कालमे कई दर्जन काव्यों और महाकाव्योकी रचना हुई, तथापि डेढ़ दर्जन कृतियाँ वस्तुत. उल्लेखनीय है। जिनपालगणिका सनत्कुमारचरितमहाकाव्य, महाकवि आशाधर कृत भरतेश्वराभ्युदय काव्य (सिद्धचक्रमहाकाव्य) तथा देवप्रभसूरि विरचित पाण्डवचरित इस शताब्दीके प्रारम्भकी श्लाघ्य कृतियाँ हैं। गुर्जरदेशीय विद्वान् भट्टारक वादिचन्द्रने पाण्डव पुराण काव्यकी[2] १८ सर्गोंमे रचना की। इस शृंखलामे उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य उल्लेखनीय कृति है। काव्यप्रकाशके टोकाकार माणिक्यचन्द्र सूरिने पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य तथा शान्तिनाथचरितका प्रणयन किया। विजयचन्द्रसूरिने पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य रचा। इस प्रकार एक ही विषयवस्तु पर समकालीन दो महाकाव्योका प्रणयन उल्लेखनीय कविकर्म है। वस्तुपालरचित नरनारायणनन्द काव्य, अभयदेवसूरि विभावित जयन्तविजयमहाकाव्य, ठक्कुर अरिसिंहप्रणीत सुकृतसकीर्तनम्, उदयप्रभसूरिकृत सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, बालभारतके रचयिता अमरचन्द्रसूरिका चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि, विनयचन्द्र सूरिका मल्लिनाथचरित, चन्द्रतिलक उपाध्यायका अभयकुमारचरितकाव्य, माणिक्यदेव सूरिका सौ सर्गोंमे निबद्ध नलायन महाकाव्य, और बालचन्द्र सूरिका वसन्तविलास काव्य प्रशस्त कृतियोके अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

चौदहवी शताब्दी मे विरचित पुण्डरीकचरितमहाकाव्य (कमलप्रभसूरि-कृत), श्रेणिकचरितमहाकाव्य अथवा दुर्गवृत्तिद्वयाश्रयमहाकाव्य (जिनप्रभसूरि-कृत), शान्तिनाथचरितमहाकाव्य (मुनिभद्रसूरि), पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य (भावदेवसूरि), हम्मीरमहाकाव्य (नयनचन्द्रसूरि), वस्तुपालचरित (जिनहर्षगणि) एवं हरिवशपुराणमहाकाव्य (राजस्थानी विद्वान् भट्टारक सकलकीर्ति तथा ब्रह्मजिनदास) कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। अन्तिम कृति ४० सर्गों मे निबद्ध है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६ में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरीके अनुसार इस ग्रन्थका नाम 'कुमारपालभूपालचरित' एवं रचना काल पन्द्रहवीं शताब्दी है।—प्र०

२. जैन साहित्यका बृहद् इतिहास (भाग ६) मे डा० गुलाबचन्द्र चौधरीके अनुसार 'पाण्डवपुराणकी रचना सं० १६५२ मे नोघकनगर मे हुई थी।'—प्र०

संस्कृत में काव्य एवं महाकाव्य के प्रणयन का उत्साह पन्द्रहवी शताब्दी तक आते-आते क्षीण पड़ जाता है। सम्भवतः भारतपर हुए विदेशी आक्रमणोंके दुष्प्रभावसे जैन विद्वन्मण्डली अछूती नही रही। इस शताब्दीमे विरचित काव्यों-में दो ही विशेषत उल्लेखनार्ह है—माणिक्यसुन्दरकृत—१. श्रीधरचरितमहाकाव्य तथा ब्रह्म अजित विरचित—२ अञ्जनाचरितकाव्य अथवा हनूमच्चरितकाव्य[1]।

सोलहवीं शताब्दीमे भी जैन संस्कृतकाव्यधारा सूखने नही पाई। भट्टारक शुभचन्द्रने पाण्डवपुराणकाव्यकी २५ पर्वोंमे रचनाकी, जिसमे छ. हजार श्लोक विद्यमान हैं। तेरहवी शताब्दीमे गुर्जरदेशीय विद्वान् भट्टारक वादिचन्द्र इसी नामसे काव्यकी रचना कर चुके थे। अत इस परवर्ती काव्यमे कविने विशिष्टता दिखाई है। आकारमे यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती काव्यसे द्विगुणित है। संस्कृत भाषा सरल एव सरस है। ४६ वर्षोके पश्चात् गुर्जरदेशीय विद्वान् वादिचन्द्रने एक दूसरे पाण्डवपुराणकाव्यका १८ सर्गोंमे प्रणयन किया। उपाध्याय पद्मसुन्दर का रायमल्लाभ्युदय तथा रविसागरगणिका साम्बप्रद्युम्नचरितम् उत्तम कृतियाँ है। यह शताब्दी पौराणिक काव्योकी अन्तिम सीमा सिद्ध हुई।

सत्रहवी शताब्दीमे जैन संस्कृत काव्यधारा सूखने लग गई थी। इस शताब्दीकी एक ही उल्लेखनीय रचना है—मेघविजयगणिकृत सप्तसन्धानमहाकाव्य। अट्ठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियोमे जैन विद्वानोने संस्कृतवाङ्मयको किसी महाकाव्य कृतिसे अलकृत नही किया। यद्यपि अन्य विधाओमे छिटपुट संस्कृत रचनाएँ तो अवश्य हुई है, तथापि पूर्व शताब्दियो मे सम्पादित कृतियोके तुल्य उल्लेखनीय रचनाओका अभाव हो रहा।

बीसवी शताब्दीके पूर्वार्द्ध (वि० संवत् १९९४ तथा सन् १९३७ ई०) मे राजस्थानी वीरभूमिके सुपुत्र बालब्रह्मचारी वाणीभूषण भूरामलशास्त्री खडेलवालने अद्वितीय 'जयोदयमहाकाव्य'को रचना करके पूर्ववर्ती दो शताब्दियोकी शुष्क काव्यधाराको पुन प्रवाहित किया। चर्च्य महाकाव्य २८ सर्गोंमे निबद्ध है। इसमे जिनसेन प्रथम द्वारा प्रणीत महापुराणमे पल्लवित ऋषभदेव-भरतकालीन जयकुमार एव सुलोचनाके पौराणिक कथानकको पुष्पित किया गया है। इस महाकाव्यका नामान्तर 'सुलोचनास्वयवरमहाकाव्य' भी है—'जयोदयापरसुलोचनास्वयवरमहाकाव्य एकविंशतितमः सर्गः'। इसके अन्य उपजीव्य साहित्य मे उल्लेख्य है—महासेनकृत सुलोचनाकथा (वि० स० ८००), गुणभद्रकृत महा-

---

१. उपर्युक्त ग्रन्थके अनुसार 'इनमेंसे सस्कृतमे १७वी शताब्दीके विद्वान् ब्रह्मअजितने १२ सर्गमे एक हनुमच्चरित्रकी रचनाकी है।' भाग ६ पृ० १३९।

पुराणके अन्तिम पांच पर्व (वि० स० ९००), हस्तिमल्लकृत विक्रान्तकौरव अथवा सुलोचनानाटक (वि० सं० १२५०), वादिचन्द्रभट्टारककृत सुलोचनाचरित (वि० सं० १६७१), ब्र० कामराजप्रणीत जयकुमारचरित (वि० सं० १७१०) तथा ब्र० प्रभुराजविरचित जयकुमारचरित।

जयोदय महाकाव्यकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। जयकुमारका अपर अभिधेय मेघेश्वर भी है। ये हस्तिनापुरके नरेश है। किन्तु चक्रवर्ती भरतके सेनापति भी हैं। इनकी पत्नी सुलोचनाके चरित्रका आधार लेकर जैन कवियों ने कथा, काव्य, नाटक आदिकी रचना की है। विक्रान्तकौरवनाटक प्रसिद्ध है। जयकुमार अप्रतिम योद्धा होनेके साथ ही साथ सौन्दर्य एव शीलके भण्डार थे। एक बार वे काशिराज अकम्पनकी राजकुमारी सुलोचनाके स्वयवरमे सम्मिलित हुए। अयोध्याधिपति चक्रवर्ती भरतके पुत्र अर्ककीर्ति भी वहां उपस्थित थे। किन्तु राजकुमारी सुलोचनाकी वरमालासे जयकुमारकी ग्रीवा सुशोभित होने लगी। स्वयंवरकी समाप्तिपर अर्ककीर्ति तथा जयकुमारके मध्य सग्राम छिड़ गया। विजयश्रीने भी जयकुमारका ही वरण किया। महाकवि भूरामलने ३–५ सर्गो मे सुलोचनास्वयवरका वर्णन किया है। ६–८ सर्गोमे युद्धका वर्णन किया है। नवम सर्गमे अर्ककीर्तिको प्रसन्न करने हेतु काशिराज अकम्पनने उसका विवाह सुलोचनाकी अनुजा अक्षमालामे कर दिया और उसकी सूचना चक्रवर्ती भरतको भिजवा दी। १०-१२ सर्गोमे जयकुमारके विवाहकी तैयारियाँ, जयकुमार द्वारा सुलोचना रूप निरूपण, पाणिग्रहण, वरयात्राका सत्कार और ज्योनारका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। त्रयोदश सर्गमे काशीसे हस्तिनापुरके लिए प्रस्थान तथा गङ्गा नदीपर पडावका मनोरम वर्णन किया गया है। चतुर्दश सर्गमे नदीतीरोद्यान और वायुसेवनका वर्णन, पञ्चदश सर्गमे सूर्यास्तमन वेलाका अनुपम निरूपण तथा चन्द्रोत्सववर्णन किया गया है। षोडश सर्गमे निशीथोत्तरवर्ती पानगोष्ठीका वर्णन हुआ है। सप्तदश सर्गमे सुलोचनासुरतापहारका वर्णन हुआ है। अष्टादश सर्गमे सुरतोत्तर प्रभातवर्णन, उन्नीसवे सर्गमें प्रभातवन्दना, बीसवें सर्गमे जयकुमारका चक्रवर्ती भरतसे वार्तालाप, इक्कीसवें सर्गमे हस्तिनापुरको प्रस्थान, बाईसवें सर्गमे जयकुमार तथा सुलोचना का मिलनवर्णन, तेईसवे सर्गमे दम्पतिवैभववर्णन, चौबीसवे सर्गमे जयकुमार की सुलोचनाके साथ तीर्थ यात्राका वर्णन पच्चीसवें सर्गमे जयकुमार वैराग्यभावनाप्ररूपक, छब्बीसवे सर्गमे जयकुमारका जिनेन्द्र वृषभदेवसे सभाषण तथा पुत्र अनन्तवीर्यके राज्याभिषेकका वर्णन, सत्ताईसवें सर्गमे जयकुमार की दीक्षा, अट्ठाईसवे सर्गमे जयकुमारदम्पतीके उग्र तप द्वारा पाँचो इन्द्रियोके दमन का वर्णन किया गया है।

भोगसे योग, परिग्रहसे त्याग तथा वीरतासे शान्तिमयताकी ओर ले जानेवाली यह एक आदर्श कथा है।

यह जयोदय काव्य अट्ठाईस सर्गोमे निबद्ध है। महाकवि दण्डीके अनुसार महाकाव्यके लिए सर्गबद्धता अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है। धीर, उदात्त गुणोसे युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय अथवा देवता नायक होता है। वीर, शृङ्गार अथवा शान्त—इनमेसे अन्यतम रसको प्रधान या अङ्गी होना चाहिए। अन्य रसोको गौण रूपसे रखा जा सकता है। इतिहास प्रसिद्ध कथानक होना चाहिए। किसी सज्जनके चरितवर्णनके रूपमे भी कथानक रखा जा सकता है। प्रत्येक सर्गमे एक ही प्रकारके छन्दमे रचना की जा सकती है। परन्तु सर्गान्तमे वृत्तपरिवर्तित कर दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत लम्बे होने चाहिए और न बहुत छोटे। महाकाव्यत्वके लिए सर्गोकी सख्या आठसे अधिक अवश्य हो। सर्गान्तमे आगामी कथानक इङ्गित हो। महाकाव्यमे प्राकृतिक दृश्योका वर्णन आवश्यक है। इनमे सूर्योदय, सन्ध्या, प्रदोष, चन्द्रोदय, रात्रि, अन्धकार, वन, पर्वत, समुद्र, ऋतु इत्यादि वर्णनीय होते है। मध्य-मध्यमे वीररसके उपक्रममे युद्ध, मन्त्रणा एव शत्रुपर आक्रमण इत्यादिका साङ्गोपाङ्ग निरूपण आवश्यक माना जाता है। नायक एव प्रतिनायक का सघर्ष महाकाव्यत्वके लिए आवश्यक प्रतिपाद्य है। महाकाव्यका प्रधान उद्देश्य धर्म एव न्यायकी विजय तथा अधर्म एव अन्यायका पराभव भी होना चाहिए।

उक्त लक्षणोमे लक्षित जयोदय निर्विवाद रूपसे महाकाव्यकी पक्तिमें स्थापित होता है। काव्यके स्थूलरूपसे दो भेद किये जा सकते है—१. भावप्रधान अथवा व्यक्तित्वप्रधान तथा २. विषयप्रधान। प्रथममे कविकी एकमात्र आत्माभिव्यक्ति रहती है। दूसरे प्रकारके काव्यमे कोई देश अथवा समाज प्रतिपाद्य बनता है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाह्य जगत्के साथ रहता है। उसका वर्णन होनेके कारण इस प्रकारका काव्य वर्णनात्मक बनता है। कवि बाह्य जगत्की अन्त स्थलीमे बैठकर उसके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह किसी एक कविकी रचना न होकर देश अथवा जातिको रचना होती है। इसके प्रणयनमे पौराणिक कथाओकी सहायताका अधिक आश्रय रहता है। इसमे किसी एकका दृष्टिकोण स्थापित नही होता अपितु एक जाति अथवा युगका प्रतिफलन हुआ करता है। जयोदयमहाकाव्यके कथानकका पल्लवन पौराणिक कथानकको लेकर चलता है। इस श्रेणीकी रचनाओंकी अन्तरात्मासे एक समग्र युग अपने हृदय और अभिज्ञत्वको प्रकाशित करता है और उन्हें सदाके लिए समादरणीय बना देता है। जो महाकवि इस श्रेणीकी

रचनाओंको उनका वर्तमान रूप प्रदान करते है, उन्हे महाकवि कहा जाता है। ब्रह्मचारी भूरामल निश्चयतः महाकविकी श्रेणी मे स्थापित होते है।

विषयप्रधान रचनाओमे पूर्ववर्ती कवियोके कृतिवैशिष्ट्योंका साक्षात् अथवा असाक्षात् रूपसे अनुहरण अस्वाभाविक नही कहा जाएगा। नैषधीय चरितमहाकाव्यपर कालिदास एव माघके काव्योका प्रभाव विशेषत. परिलक्षित होता है। रघुवशके इन्दुमती स्वयवर वर्णनकी छाप दमयन्ती स्वयंवर वर्णनपर स्पष्टतः दिखाई पडती है। परवर्ती कवि पूर्ववर्ती कविके वर्णनकी अपेक्षा कल्पनाओको आगे बढाता है तथा उसमे विस्तारका होना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार माघके शिशुपालवधमहाकाव्य (११वे सर्ग) का प्रभाव नैषधीय प्रभात-वर्णन (१९वे सर्ग) पर स्पष्टत दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार जयोदयमहाकाव्य नैषधीयचरितमहाकाव्य शैलीसे विशेषतः अनुप्राणित है।

मानव अनुकरणशील प्राणी है। वह प्रारम्भसे ही भाषा और व्यवहारोंको परम्परया ही सीखता है। यद्यपि उसका व्यक्तित्व पूर्व व्यक्तित्वोसे निराला रहता है, इस कारण उसके कृतित्वपर उसके व्यक्तित्वकी स्पष्टत. छाप रहती है, इसीसे वह तथा उसका कृतित्व पहिचाने जाते है, तथापि परम्परासे प्राप्त सस्कारोकी छाप भी उसके व्यक्तित्व एव कृतित्वपर अनजाने ही अकित होती जाती है। पूर्वप्राप्त ज्ञानधाराको स्वकीय नूतनज्ञानसनिवेश द्वारा अग्रेसारित करना विज्ञानेतर क्षेत्रके अनुसन्धानका सिद्धान्त है।

महाकवि भूरामल शास्त्रीके इस महाकाव्यका पर्यालोडन करनेसे ज्ञात होती है उनकी स्वाध्यायव्यापकता। इस महाकाव्यमे पूर्ववर्ती काव्यो एवं शास्त्रों को मथकर नवनीतवत् गृहीत तत्त्वोका पर्यालोचन तो एक स्वतन्त्र गवेषणा-प्रबन्धका विषय है, तथापि निदर्शनार्थ प्रस्तोष्यमाण दो उद्धरण पर्याप्त होगे। अमरुकशतक शृङ्गाररसका अप्रतिम काव्य माना जाता है। जयोदयमहाकाव्य १६, ७१ मे उसके भावको स्वोपज्ञ प्रणाली द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

क्रीडाकोपात् कथमपि गच्छेति मयोदिते कठिनहृदयः।
त्यक्त्वा तल्पमनल्पं गतवान् सखि पश्यताददयः॥ ७१।

अमरुक कविके वक्ष्यमाण पद्यको देखकर सुधीजन इस महाकविके प्रतिभा-प्रकर्षका अनुभव करेंगे। महाकविकी प्रस्तुतिका प्रकार एव अलंकार सर्वथा नूतन है। तुलनीय अमरुशतकका पद्य—

कथमपि सखि! क्रीडाकोपाद् व्रजेति मयोदिते
कठिनहृदयः शय्या त्यक्त्वा बलाद् गत एव सः।

इति सरभस ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे स्पृहा
पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति करोमि किम् ॥

जयोदयमहाकाव्यके उद्ध्रियमाण पद्यमे 'शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्ग.' इस उक्तिपर भोजप्रबन्धका स्पष्टत प्रभाव है—

पतत्यहो वारिनिधौ पतङ्ग पद्मोदरे सम्प्रति मत्तभृङ्ग ।
आक्रीडकद्रोर्निलये विहङ्ग शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्ग. ॥ १५,२० ।

नराभरणकारके 'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता'के भावार्थको प्रकट करनेवाला यह पद्य काव्यमयी भव्यताके साथ उपस्थित हुआ है जयोदय-महाकाव्यमे—

यथोदये ह्यस्तमयेऽपि रक्त. श्रीमान् विवस्वान् विभवैकभक्तः ।
विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यतैवमहो तटस्था महता सदैव ॥ १५,२ ।

महाकविने प्रत्येक सर्ग के अन्तमे अपने मातापिताका परिचय देनेके लिए जो पद्य ग्रथित किये है, उसकी प्रेरणा उन्हे निश्चयत महाकवि श्रीहर्षसे मिली है । यथा नैषधीयचरित—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालकारहीरः सुत
श्रीहीर· सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा—
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥

तुलनीय जयोदयमहाकाव्यके प्रथम सर्गका अन्तिम पद्य--

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च य धीचयम् ।
तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनयप्रोद्धारसाराश्रितो
नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥

नैषधीयचरितकारने सोलहवें सर्गमे स्वकीय अभिजनका भी सकेत किया है । किन्तु महाकवि भूरामलजीने पद्यमे ऐसा कही भी सकेत नही किया । उन्नीसवें सर्गमे विद्याप्राप्ति स्थानका अवश्य उल्लेख किया है, जो अनुकरणीय है । यथा—

सर्गस्तेन जयोदये विरचिते स्याद्वादविद्यालया-
न्तेवासिप्रथितेन याति गणितोऽप्येकोनविंशाख्यया ॥

संस्कृत काव्यके अपकर्षकालमे श्रीहर्षने महनीय काव्योपहार समर्पित किया सस्कृत जगत्को । पूर्ववर्ती युगमे कवित्वका जो उत्कर्ष हुआ था, उसमे श्रीहर्षने नूतन प्रयोगसंनिधानोका सन्निवेश किया । यह कार्य सहसा या उनके

अनजानेमे नही हो गया। श्रीहर्ष अपने इस काव्यवैशिष्ट्यसे भलीभाँति परिचित थे। उन्होने इक्कीसवें सर्गके अन्तमे पुष्पिकाके रूपमे इसका साटोप उल्लेख किया है—

'तस्यागादयमेकर्विशगणनः **काव्येऽतिनव्ये** कृतौ'

श्रीहर्षके नैषधीयचरितमहाकाव्यकी 'अतिनव्यता'की व्याख्या स्वय कवि ही करता है। वह कहता है कि यह ऐसा महाकाव्य है जिसकी उक्तियोमें ऐसे शृङ्गार आदि रसोके प्रमेयोके गुम्फ है, जिनका अन्य कवि स्पर्श भी नही कर सके—

'अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये ' '' ।

कवि नैषधीयमहाकाव्यमे अपूर्व अर्थकी सृष्टिकी बात भी कहता है—'एका न त्यजतो नवार्थघटनाम्' । श्रीहर्षने इसे छन्द प्रशस्तिके सदृश बताया है। इससे नैषधीयचरितमे विविध छन्दोंकी योजनाका भाव निकलता है। क्रशेतररसस्वादु (१५), शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्ति (१४), स्वादूत्पादभृत् (१३) इत्यादि विशेषणोका प्रयोग नैषधीयचरितके लिए किया है।

पहिले बताया जा चुका है कि महाकवि भूरामलकी काव्यरचनाके पूर्व लगभग दो शताब्दियाँ काव्यप्रणयनसे शून्यप्राय रही। सस्कृतकाव्यके ऐसे अपकर्षकालमे कविने सस्कृत जगत्को जयोदय महाकाव्यके रूपमे महनीय काव्योपहार समर्पित किया। महाकवि भूरामलजी पूर्वकाव्यातिशायिनी स्वकीय रचनाके वैशिष्ट्यसे भलीभाँति परिचित थे। उन्होने भी श्रीहर्षकी भाँति अपनी इस कृतिकी नव्यताका सर्गान्त पुष्पिकामे दो बार उद्घोष किया—प्रथम सर्गमे तो 'नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गत.' कहकर आरम्भ किया तथा श्रीहर्षकी भाँति ठीक इक्कीसवें सर्गमे 'काव्येऽतिनव्ये कृतौ'के स्थानपर '**काव्येऽतिनव्येऽसकौ**'से उपसहार किया। श्रीहर्ष द्वारा कृत उपसहार एक सर्गके पूर्व होनेसे चरितार्थ रहा क्योकि नैषधीयचरितमहाकाव्य बाईस सर्गोंमे सम्पन्न हुआ है। जयोदयमहाकाव्यमे यह उपसहार सत्ताईसवें सर्गमे करना चाहिए था क्योकि यह महाकाव्य अट्ठाईस सर्गोंमे पर्यवसित हुआ है। सर्गोंकी दृष्टिसे नैषधमहाकाव्यातिशायिता इसमे विद्यमान है। तृतीय सर्गमे जयोदयमहाकाव्यकारने इस महाकाव्यका एक नवीन विशेषण दिया है, जो नैषधीयचरितकी पुष्पिकामे नही है। वह है—'नव्या पद्धतिमुद्धरत्' । महाकविका यह महाकाव्य किसी नवीन शैलीको प्रकट कर रहा है।

जयोदयमहाकाव्यमे नव्यताके पदे पदे दर्शन होते हैं। विशेषतः रसो, कल्पनाओ, अलकारविन्यास, छन्दोयोजना एवं भाषाप्रयोगमे पूर्वापेक्षया नूतन

मार्ग अपनाया गया है। कविके व्यक्तित्वको उन्मिषित करनेवाली अकल्प्य कल्पनाशक्तिका काव्यशोभाधायनमे विशेष योग रहता है। चन्द्रमा पृथिवीसे कितनी दूरपर अवस्थित है, उसका क्षेत्रफल क्या है, वह किससे प्रकाश पाता है इत्यादि तथ्य प्रकाशित करना ज्योतिर्विज्ञानकी मौनान्तपरिणति है। वैज्ञानिकोंका वही शुष्क चन्द्रमा कविके कल्पनारम्य जगत्मे साहित्यसंसारका शृङ्गार संयोगियोका सुधासार, वियोगियोका विषागार, उपमाओका भण्डार तथा उत्प्रेक्षाओंका आसार बन जाता है।

जयोदयमहाकाव्यकारने प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। जब कविका प्रकृतिके साथ तादात्म्य-स्थापन होता है, तभी वह प्राकृतिक वर्णन-दक्षता प्राप्त कर सकता है। कवि प्रकृतिका कुशल चितेरा माना जाता है। पन्द्रहवें सर्गमे कविने सूर्यास्तमनवेलाका प्रभावशाली वर्णन किया है। सूर्य पश्चिम दिशामे पहुँचा, तो कमलिनी अपनी सपत्नीके सौभाग्यको देखकर ईर्ष्यासे सिकुड़ गई। उत्प्रेक्षा द्वारा प्रणीत इस कल्पना का आस्वाद लें—

सरोजिनी कुड्मलिता दिशाया समीक्ष्य साश्चर्यमिति स्मितायाः।
मन्ये प्रतीच्या अधुनावभातितमामुदात्ताधरबिम्बकान्तिः ॥१५,५॥

सूर्य अपनी प्रेमिका कमलिनीको छोडकर पश्चिम दिशा रूपी नायिकाके पास चला गया। इस अनादरके कारण कमलिनी सकुचित हो गई। उसकी इस दुर्दशाको देखकर पश्चिम दिशाने आश्चर्य प्रकट किया तथा अपने सौभाग्यकी वृद्धिपर गर्व कर अपने अधरोष्ठबिम्बको प्रभाको छिटकाया था। एक स्त्री पतिके आगमनपर स्वयको सौभाग्यशालिनी मानती हुई सपत्नीको चिढाने हेतु ऐसी ही चेष्टाएँ किया करती है।

जिस प्रकार प्रवासमे पतिके आनेपर बुद्धिमती स्त्री पहले कुशल समाचार पूछकर उसका आतिथ्य करती है, तदनन्तर प्रसन्नताके साथ सौभाग्यसूचक लाल साडी पहनती है, उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीने सूर्य रूपी वल्लभके आनेपर पहले पक्षियोके मधुर कलरवसे उसका स्वागत किया। पश्चात् लालिमाके छलसे सौभाग्यसूचक लाल साडो पहन ली—

उपागतेऽहस्कृति तस्य वीना कलै कृतातिथ्यकथाप्यशीना।
श्रीशोणिमच्छद्ममय प्रतीची दधाति सच्छाटकमात्तवीचिः ॥१५,६॥

१६वें श्लोकमे कविने सूर्यको दिनश्रीका कुम्भ बनाया। मानो वह सन्तप्त पृथिवीको शीतल करनेके लिए घडा लेकर पश्चिम समुद्रसे जल भरने जा रही हो—

धराभितप्तेति विदां निधाय समेति तस्या अभिषेचनाय।
समात्तसप्ताश्वकशातकुम्भकुम्भान्तिमाम्भोधिमियं दिनश्रीः।

१५, १८ श्लोकमे कवि कल्पना करता है कि नववयस्का पश्चिम दिशा वृद्ध पति सूर्यको पसन्द नही करती है। सूर्य प्राची दिशाका स्वामी भी है, अतः पश्चिम दिशा अन्यनायिकासक्त नायकको भी नहीं चाहती है। इसलिए वह उसे क्षण भरके लिए अपने पास नही रहने देना चाहती है। उसे अपने आकाश रूपी घरसे निकाल देना चाहती है—

> प्राचीनताताेऽप्यनुरागवन्त प्रतिश्रणत्येव नवा दृगस्तम्।
> निष्काशयत्याशु नभोनिकायात् सहस्ररश्मि चरमा दिशा या॥

यहाँ 'चरमा' मे पदच्छेद द्वारा 'च रमा' अर्थ भी निकलता है।

१५,२३ मे कवि कल्पना करता है कि आकाशमे अनेक नक्षत्र छिटके हुए हैं, वे मानो पश्चिम समुद्रमे सूर्यके गिरनेके कारण उचटे समुद्र जलके छीटे हो। एक दूसरी कल्पनामे नक्षत्रोको अन्धकार रूपी राक्षसका दाँत बताया है। वह राक्षस सन्ध्यालालिमा रूपी रक्तका पान कर रहा है (१५,२४)। घर-घरमे जलने वाले दीपक मानो सूर्यके प्रतिनिधि हो। सूर्य अपने शरीरको खण्ड खण्ड कर दीपकोका वेष धारण कर घर-घरमे सुशोभित हो रहा था (१५,२२)।

रात्रिवर्णनमे कविने श्लेष आदि अलकारोकी सहायतासे कल्पनाओको साकार रूप दिया है। यथा—उडुप = नौका तथा चन्द्रमा, तरणेर्विनाशः = नौका तथा सूर्यका अदर्शन, नदीप = समुद्र एव दीपकोंका अभाव, तिमिरे = अन्धकारमे और तिमि = मगरमच्छोसे र = भरे, विकलानिका दूसरा अर्थ रलयोश्चैक्यकी दृष्टिसे विकराणि हुआ है (१५,२१)। चन्द्रोत्सवके वर्णनमे कविने नूतन उद्भावनाओकी रत्नमजूषा सँजो दी है। निशीथके पश्चात् पानोत्सव वर्णन। विधि और विधुके सप्तम्येक वचनमे शब्दश्लेषका आश्रय लेकर वक्रोक्ति अलकार का ठाट दर्शनीय है (१६,७२)। माऽपहर कुचग्रन्थि किमपास्ता तेऽस्ति हृद्ग्रन्थिः (१६, ६९) मे भी सुन्दर वक्रोक्ति बन पडती है। १६, २० मे श्लेष, अनुप्रास और रूपक अलङ्कारोका एक साथ प्रयोग हुआ है।

अर्धरात्रिमे कामदेवकी सहायताका हृद्य वर्णन हुआ है। इस सोलहवें सर्गमे हुए कामनिरूपण पर भी नैषधीयचरितका स्पष्टतः प्रभाव पडा है। कवि प्राय सर्वत्र श्लेषालङ्कारका आश्रय लेकर दो अर्थोंका प्रतिपादन करता है। 'रामाभिधामाकलयन्ति नाम (१६,३) मे कामी और सन्यासी दोनो अर्थोंका कुशलतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है। कामको अजेय समझ कर सुन्दर पुरुष गृहदेवी की शरणमे गया। यहाँ 'गृहदेविकाया' मे श्लेष है (१६, ४) 'अष्टाङ्गसिद्धः' द्वारा अणिमा, महिमा आदि अष्टसिद्धियो तथा स्त्रीके आठ अंगोका अर्थ है। इस प्रसग मे श्लेष अनुप्रासालंकारकी एक छटा देखें—

मुहुर्न बद्धाञ्जलिरेष दासः सदा सखि प्रार्थयते सदाशः।
कुतः पुनः पूर्णपयोधरा वा न वर्तते सत्करकस्वभावा ॥ १६,१३।

उल्लेखालङ्कारपूर्वक उपमालंकर तथा अनुप्रास इन तीनोंका उक्त वर्णन प्रसंगमें स्वाभाविक प्रयोग हुआ है—

सिताश्रितं दुग्धमिवादरेण निपीयते संगमिनापरेण।
अयोषिता तक्रमिवात्र नक्तसंकोचत श्रीशशिरश्मिचक्रम् ॥ १६,९१।

१३३ श्लोको वाले सम्पूर्ण सत्रहवें सर्गमे कविने सुलोचनासुरतका उपन्यास किया है। सुरतानन्तर अष्टादश सर्गमे प्रभात वर्णन अच्छा बन पड़ा है। कवि अलकारोके बिना तो कोई वर्णन कर ही नही सकता। श्लेषसे अर्थान्तरका एक उदाहरण प्रस्तुत है प्रभातवर्णनके प्रसंगमे—

विस्फूर्तिभृन्नृवर किन्नवदद्रुरेष
प्रागुत्थितो वियति शोणितकोपदेशः।
श्रीसद्मनोऽनुभवतो मधुमेहपूर्ति
भो राजरुग्विजयिनस्तव भाति मूर्तिः ॥

अर्थान्तरसे राजरोग (क्षय) और मधुमेह जैसे आधुनिक अर्थोंकी भी अवतारणा की गई है।

प्रातःकालिक वर्णनके साथ अर्थान्तर द्वारा अनेकान्तवाद सिद्धान्तको गुम्फित कर दिया—

वोरोदिते समुदितैरिति संवदामः
कल्यप्रभाववशतः प्रतिबोधनाम ।
सम्प्रापित च मनुजैश्चतुराश्रमित्व-
मेकान्तवादविनिवृत्तितयासि विश्वम् ॥

प्रभातवर्णनके प्रसंगमे कविने बताया कि प्रातःकालके समय द्विजराजवंश =तारागणोंको कही भी चमक=प्रतिष्ठा नही थी। अर्थान्तरसे ब्राह्मणोंकी वंश-प्रतिष्ठाके लिए वैश्यकी चिन्ताका भाव भी प्रकट किया है—

न क्वापि भाति—अधुना द्विजराजवंशः
सुप्तोऽसि बाहुजसमाजसतां वतंस।
कस्ते तुलाधुर उदेति जनेषु वा यः
संविप्लवोऽत्र बहुधान्यसमीक्षणाय ॥ १८,५७।

आचार्योंने अलंकारोंको काव्यशोभाकर, शोभातिशायी इत्यादि कहा है। इससे स्पष्ट है कि पहलेसे ही मनोज्ञ अर्थको सुन्दरतर बनाना अलंकारोंकी वृत्ति

है। जिस प्रकार आभूषण रमणीके शरीरको पहलेसे कहीं अधिक रमणीय बना देते हैं, उसी प्रकार अलकार भी भाषा और अर्थकी सौन्दर्यवृद्धि करके उनमें चमत्कार लाते हैं। इतना ही नही वे रस, भाव आदिको उत्तेजित करनेमे भी सहायक सिद्ध होते है। शास्त्रीय पाण्डित्यके बिना अलकारोंका प्रयोग सूझबूझके साथ करना नितान्त कठिन कार्य है। श्रीभ्गमल इस शताब्दीमे अलंकार शैलोके श्रेष्ठ कवि ठहरते है। वे श्लेषालंकारका समुचित प्रयोग करनेमे सिद्धहस्त हैं—१४, १, २,४८, १५, २१, १६, ३, १०, १३,२०;४९ इत्यादि। श्लेषोपमा और श्लेषसे अर्थान्तरके लिए द्रष्टव्य १४, ५, १५, ५०, १८, १२ इत्यादि स्थल। कही कहीं तो एक ही पद्यमे श्लेषके साथ अनुप्रास और रूपक अलंकार का भी प्रयोग हुआ है (द्र० १६, २०) तो कही वक्रोक्तिका (१६, ४९)। महाकविके द्वारा प्रयुक्त अन्य अलंकारोमे समासोक्ति (१४, १, ६, ४०; ४६, ५८; ८१), समामाक्तिसे अर्थान्तर (१४, ७), सहजसहयोगितालंकार, उपमा, यमक, अन्यथानुपपत्ति, अर्थान्तरन्यास, सनासोक्ति, रूपक, अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अनुमति, रूपकयुक्त-समासोक्ति, विरुद्धभाव, उल्लेखालंकार, संकर, उल्लेख-यमक, उल्लेखके साथ उपमा एव अनुप्रास इत्यदि मुख्य है। श्लेषालकारके अनन्तर यदि कवि किसी अन्य अलङ्कारके प्रयोगमे सिद्धहस्तता दिखा सका है, तो वह है उत्प्रेक्षालकार। अमरुकके काव्यकी भाँति इस महाकाव्यमे मौग्ध्याभिव्यक्ति इत्यादि भी अलकार बन गये हैं। यह महाकाव्य छन्द.शास्त्रकी तो मञ्जूषा ही है। इस महाकाव्यमे वार्णिक छन्दोके साथ मात्रिक छन्दोका समुचित विन्यास हुआ है।

काव्यमे रसध्वनिकी योजनाके बिना अलंकार (आभूषण) मृतक स्त्रीके अलकारको भाँति निष्फलताकी स्थिति बनाते हैं। रस रूपी आत्माकी उपस्थिति रहने पर ही शरीर पर अलकारोका महत्त्व होता है—

रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसम्पदा॥

आचार्योंने साहित्य पर विचार करते समय उसका लक्षण किया—'रसवद् वाक्यम्'। यह रस उनकी दृष्टिमे साहित्यात्मा या काव्यात्मा है। यह रस शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा शान्त नामक नौ विभागोमे विभक्त हुआ है। एक ही रसके उक्त भेदोके कारण क्रमशः रति (प्रेम) हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (घृणा), विस्मय, (आश्चर्य) तथा निर्वेद नामक स्थायी भाव बनते हैं। इस महाकाव्यमे शृङ्गार, वीर एवं शान्त रसोकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ढंगसे की गई है। शृङ्गार रसकी उत्पत्तिमे रति अथवा प्रेमकी भावना अनवरत रूपसे बनी रहती है। इस कारण उसे शृङ्गार रसका

स्थायी भाव माना जाता है। महाकविने चौदहवें सर्गके द्वितीय श्लोक द्वारा शृङ्गार रसके उद्दीपक उद्यानके सौन्दर्य रूपी विभावको दरसाया है। उक्त विभावके प्राप्त होने पर तटोद्यानमे आया शिष्टजन समूह कामशृङ्गार रसं: व्याकुल हो गया। विरोधाभास अलंकार द्वारा इसे भव्य भावभूमि पर सजाया गया है। श्लेषको सहायतासे विरोधका परिहार हुआ है—

असुगतवैभववानिव तेन तत्र तथागतसमीरणेन।
समजनि सुरतविचारविशिष्टो दूरतोऽपि चायातः शिष्टः॥

चौदहसे लेकर सत्रहवें सर्गमे शृगाररसके विविध रगोंसे परिमण्डित चित्र सुसज्जित हैं। सखी द्वारा प्रेमसन्देश भिजवाने वाली नायिकाका निवेदन सुनें—

सखि त्व स्निग्धाङ्गी प्रभवति युवा सोऽपि तरल.
तमिस्रेय रात्री रहसि कथनीयं मदुदितम्।
समस्येय क्लिष्टा दिशतु किलेष्टन्तु भगवा-
निय वाचा वल्ली प्रमरति सती स्माम्बुजदृशः॥ १५, ८८।

अमरुकशतकम् ता शृङ्गारकी श्लोक-शतावली ही है किन्तु यहाँ तो उसका भण्डार भग पडा है। शृङ्गार रसका चषक सम्मुख पाकर पाठक उसीमे रम जाता है।

अष्टम सर्गमे वीररसका सागर लहराता दिखाई पडता है। कवि उसमे ऐसा रमा है कि वीररसानुरूप भाषा वीररसका पतिभक्त रमणीकी भाँति अनुसरण करती प्रतीत होती है—

उद्धूत-सद्धूलिघनान्धकारे शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला चुकूजुरेव तु शिखण्डिमालाः॥ ८
द्वयोः पुनश्चाहतिमुज्जगाम प्रपक्षयोरायुधसन्निनादः।
प्रोल्लासयन्, सड्डमरुप्रसिद्धसूत्राङ्कवद् वीरनटान् समिद्धः। १२
शुण्डावता तस्य सता हता वा नवद्विपास्ते चपलस्वभावाः।
यथाकथञ्चित्पदकाश्रयेण नयाः परेषा जिनवाग्रयेण॥ ६७।
काराप्रकारायितमारुरोहानस पुनश्चक्रपते. सुतो हा।
स्वयं सखाकृत्य तथाष्टचन्द्रान् प्रस्पष्टतन्द्रान् युधि कष्टचन्द्रान्॥ ६८
अङ्कीचकाराध्वकलङ्कलोपी हरिञ्जयं नाम रथ जयोऽपि।
खरोऽध्वना गच्छति येन सूर्यस्तेनैव सोमोऽपि सुधौघधुर्यः॥ ६९।
तेजोऽप्यपूर्वं समवाप द्वीप इव क्षणेऽन्तेऽत्र जयप्रतीपः।
निःस्नेहतामात्मनि संब्रुवाणस्तथापदे संकलितप्रयाणः॥ ७०।

शान्त रसका उपक्रम कविने प्रथम सर्गसे किया और उपसंहार अन्तिम अध्यायोंमे। इसलिए इस महाकाव्यमे शान्तरस अंगी है, अन्य शृङ्गार एवं वीररस उसके पोषक है।

प्रथम सर्गमे वर्णित है कि वनक्रीडा हेतु वनमे गये जयकुमारने एक मुनि के दर्शन किये। कवि उनके विषयमे लिखता है—इस भूमण्डल पर ये साधु मुनिराज, गुणस्थान और मार्गणाओकी चर्चासे संपन्न हैं, उत्तम विधियुक्त धर्म धारण करने वाले हैं, प्राणिमात्रको अभयदान देने वाले हैं। ऐसा होने पर भी ये मुक्ति प्राप्त करनेमे तत्परतासे लगे हैं--

भुवि महागुणमार्गणशालिना सुविधधर्मधरेण च साधुना।
अभयमङ्गिजनाय नियच्छता यदपि मोक्षपरस्वतया स्थितम् ॥

बुद्धि ठिकाने रखने हेतु सरस्वतीकी आराधनाके लिए मुनि द्वारा किया गया उपदेश शाश्वत बन गया है--

श्रीमती भगवती सरस्वती स्रागलंकृतिविधौ वपुष्मतीम्।
राधयेन्मतिसमाधये सुधी. शाणतो हि कृतकार्य आयुधी ॥

स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न करने वाले अनेक पद्योमे रुचिर भाव पिरोये गये हैं—

स्मितरुचिताधरदलमनल्पशो जल्पन्ती मनुजेन केनचित्
तरलितनयनोपान्तवीक्षणै. श्रणति क्षणमपरत्र च क्वचित्।
अनुसंधत्ते धिया हि या पुनरपर रूपबलोपहारिण
विदितमिदं युवतिनं भूतले या बिभर्ति परमेकताकिणम् ॥

कामिनीके समीप जब उसका प्रिय आता है, तब वह नीचा मुंह करके जमीन खुरचने लगती है। इस संकेतके द्वारा वह गूढ आशय प्रकट करती है कि यदि हमारे प्रेममे फँसोगे तो अधोगति प्राप्त करोगे। आश्चर्य है कि फिर भी कामान्धोंका मन नही चेतता है—

अहह पार्श्वमिते दयिते द्रुत नतदृशाऽवनिकूर्चनतोऽद्भुतम्।
वदति यद्यपि भावि वधूजनो न तु मनः प्रतिबुध्यति कामिनः ॥

जयोदय महाकाव्यकी पूर्ववर्ती महाकाव्योसे जो नूतनता है, वह है उसमें वर्णित राष्ट्रियताकी महत्ताका सूचक भावबन्ध। अन्तमे कवि स्वयं स्वीकार करता है—

राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम्।
गणसेवी नृपो जातराष्ट्रस्नेहो वृषेषणाम् ॥

महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू परिवार, सुभाष चन्द्र बोस, बल्लभ भाई पटेल, पद्मराज, राजगोपालाचार्य, सरोजनी नायडू, जिन्ना इत्यादिकी श्लेष द्वारा प्रशस्त अभिव्यक्ति बन पडी है। गणतन्त्रको सफलताका समर्थन करने वाली असेम्बलीका महत्व अंकित है। इस काव्यके राष्ट्रीयता-सुधारससे परिपूर्ण ये चार पद्य शाकुन्तलम्के चार पद्योके समान चिर स्मरणीय रहेगे—

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा
स्थान विनारि-मृदुबल्लभराट् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखता खलु पद्मराजो
निर्याति साम्प्रतमित. सितरुक्समाजः॥
मञ्जुस्वराज्यपरिणामसमर्थिका ते
सम्भावितक्रमहिता लसतु प्रभाते।
सूत्रप्रचालननयोचित-दण्डनीति·
सम्यग्महोदधिषणासुघटप्रणोति·॥
यद्वा सुगा धियमिता विनतिस्तु राज-
गोपाल उत्सवधरस्तव धेनुरागात्।
दृष्ट्वा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना-
नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात्॥
गान्धीरुष प्रहर एत्यमृतक्रमाय
सत्सूत नेहरुचयो बृहदुत्सवाय।
राजेन्द्रराष्ट्र-परिरक्षणकृत्तवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदाय·॥

काव्यके रस और भाषामे अद्वय योगकी स्थिति रहती है। अभिनव गुप्त ने कहा है कि रसाभिभृत हृदय वाले कविके द्वारा अभिव्यक्त अलंकार (भाषाका वह अशेष सौन्दर्य) कटककुण्डलादिवत् कही बाहरसे जोडा हुआ नही रहता, प्रत्युत वह काव्यपुरुषका स्वाभाविक देहधर्म होता है—

'न तेषां बहिरङ्गत्व रसाभिव्यक्तौ'। प्रथमत होती है रसानुभूति, तदन्तर उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति। रसानुभूति तथा शब्दाभिव्यक्ति—दोनो एक ही चित्तप्रयास द्वारा प्रस्फुटित होते हैं। जिस चित्तप्रयास द्वारा रस-विधारण होता है, उसीके द्वारा अलंकार इत्यादिके माध्यमसे रस भी प्रस्फुटन पाता है। जयोदय महाकाव्यमे यद्यपि रसके साथ अलंकारोका पर्याप्त प्रयोग किया गया है, जिसे समालोचक इस प्रकारके काव्यमे हृदयपक्षका अभाव तथा कलापक्षका प्राधान्य मानते है, तथापि इस काव्यमे जैन कवियोके द्वयाश्रय एवं सप्तानुसन्धान काव्यकी भाँति अनैसर्गिकता तथा दुरूहताने शरण नहीं ले ली है।

जयोदय महाकाव्यपर यदि प्राचीन काव्योका प्रभाव है, तो वह आधुनिक संस्कृतसे भी अछूता नही रहा है। कविने ७, ६३ तथा चतुर्दश सर्गके प्रथम श्लोककी स्वोपज्ञ संस्कृत व्याख्यामे 'अभिलाष' शब्दका हिन्दीकी भाँति स्त्रीलिंगमे प्रयोग किया है। भुज् धातु पालन और अभ्यवहार = भक्षण अर्थोंमें व्यवहृत होता है। इसका आत्मनेपदमे प्रयोग केवल भोजनार्थमें विहित है, रक्षण या पालन अर्थमे तो परस्मैपदमे ही व्यवहार होगा। किन्तु जयोदय-महाकाव्य(२, १५३) मे भोजनार्थमे 'भुनक्ति' का परस्मैपदमे व्यवहार किया गया है। १४, ५९ से 'सिञ्चितुम्' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'सेक्तुम्' प्रयोग ही शिष्टसम्मत है। १७, ९ मे 'पुनीतनामा' कहा गया है। पुनीत शब्द शिष्टजनाननुमोदित है। केवल श्रीमद्भागवतमहापुराणमे इसका प्रयोग हुआ है। किंतु वह न तो शिष्टजनानुमोदित है और न व्याकरणसमत हो। सभी संस्कृतविज्ञ जन जानते हैं कि सेव् धातु आत्मनेपदी है। किंतु इस महाकाव्यमे (२६, १००) उसका परस्मैपदमे प्रयोग किया गया है—सेवन्तु। स्वोपज्ञ व्याख्यामे उसका 'समाराधयन्तु' अर्थ भी बताया है। इसी प्रकार 'मृष्टुम्' (१४, ६०)के स्थान पर 'मार्ष्टुम्' उचित था—'मृजेर्वृद्धि.'। पल्लाके अथमे 'पल्ल' (१६, ७) शब्द प्रादेशिक भाषासे प्रभावित है।

लक्षण ग्रन्थोमे अप्रयुक्ततताप्रयोगको एक प्रकारका काव्यदोष माना गया है। इस महाकाव्यमे अनेकत्र अप्रचलित शब्दोका व्यवहार हुआ है। श्लेषालकारके विषयमे अर्थान्तरके लिए इस प्रकारके प्रयोग कथञ्चित् मर्षणीय हो सकते हैं। किंतु सामान्य स्थलोमे वे अमर्ष्य हैं। 'जजृम्भे (१४, ३६) का अर्थ 'समर्था बभूव' अप्रचलित है। कविने काव्यमे नवीन शब्दोके उपयोगके लिए विश्वलोचन नामक शब्दकोषकी प्रायशः सहायता ली है। १५,८ की स्वोपज्ञ संस्कृतटीका की टिप्पणी मे 'विश्वकोषके 'भृङ्गः पुष्पत्वपे खिड्गे तथा धूम्याटपक्षिणि' को उद्धृत किया है। टिप्पणीमे 'खिड्गो विटः' भी लिखी है। वस्तुतः 'खिड्गे' के स्थान पर षिड्गे' होना चाहिये। सस्कृतवाङ्मयमे खिड्गका प्रयाग क्वाचित्क है। प्राकृतभाषामे 'षिड्ग'के स्थान पर खिंग ही मिलता है—'अणेग-खिंगजणउव्वासियरसणे'। इसी प्रकारके अन्य अप्रसिद्ध शब्दोंके कुछ निदर्शन प्रस्तुत हैं—गर्मुकगोलम् = सुवर्णपिण्डम् (१५, १७), श्रणति=ददाति (१५, १८), चङ्ग.=दक्षः (१६,४)। तुलनीय—हिन्दीमे भलाचगा। अन्दुक=अलंकरण (१६, १०); भरूक्तैः=स्वर्णघटितैः (१७, ७)। श्लेषालकारके प्रसंगमे कवि ने 'आत्मभूतनयता' के दो अर्थ किये हैं—१ वायुसेवनभाव तथा २. नारदत्वम्। इस प्रकार यह काव्य नैषधीयचरितकी तरह बहुत्र व्याख्यागम्य भी बन गया है। कौतुकिता = पुष्पवत्ता (१४, ४०), जलस्रुतेः=सरितः (१४, ४४), रीणाः=उदा-

सीनाः (१४, ५०); नदीन=समुद्र(१४, ८३), निरवापयत्=प्रोञ्छयत्(१४, ९३)-निर् + वापि बुझाने अर्थमें ही प्रसिद्ध है, प्रोञ्छनार्थमे अप्रसिद्ध । आभूत=ऐच्छत् (१४, ९५) अप्रसिद्धार्थ है आ + भू धातु का । इसी प्रकार निरूहम्=निस्सकोचम् (१४,९५); तिमिलम् = समुद्रम् (१५, ९) प्रतीपपत्नी = सपत्नी (१४,३०), अधीना = कर्तव्यविचारशीला (१५, ६) इत्यादि । वस्तुतः इतने विशाल काव्य में अप्रयुक्तताप्रयोगके उक्त उदाहरण अनिन्द्यसुन्दरी रमणीके कपोल पर उभड़े तिलके सदृश काव्यसौन्दर्य-वर्धनमें सहायक ही बन रहे हैं ।

'अनामिका सार्थवती बभूव'की भाँति काव्यमे अन्वर्थभावके कई उदाहरण मनोरम बन पड़े हैं । यथा—रञ्जनी नामक मदिराका नाम सार्थक हुआ क्योंकि वह स्त्रियोके हृदयमे, वचन, गालो, नेत्रों और समस्त चेष्टाओंमें अनुराग प्रकट करने वाली थी—

हृदि वाचि कपोलयोर्दृशोर्वा निखिलेष्वेव विचेष्टितेष्वपि ।
अनुरागमिवानुभावयन्ती प्रथितार्थाऽजनि रञ्जनी जनी ॥ १६, ७९

श्रीतिलक नामक पुष्पकी व्युत्पत्तिके प्रसंगमें अन्वर्थभावका प्रयाग रमणीय बन पड़ा है—

नर्म वयस्ययाऽऽलेः श्रीतिलकं कलितं खलु भाले ।
रुचात्मनस्तु जगत्तिलकाया अन्वर्थभावमेवमथायात् ।। १४, २९ ।

जलके सर्वतोमुखी पर्यायको सार्थकता बताते हुए अर्थचरितार्थता प्रस्तुत की है—

तटस्थिताना वारि योषितां मुखारविंदच्छविन्दलोदितम् ।
श्रियमुपेत्य साम्प्रतं ललाम सर्वतोमुखं बभूव नाम ॥ १४, ५६।

समष्टितः यह महाकाव्य इस शताब्दीकी सर्वश्रेष्ठ काव्यकला का निदर्शन है । प्राचीनताके साथ नवीनताका असाधारण समन्वय प्रस्तुत करता है । 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' इस उक्ति का निदर्शन ऐदंयुगीन किसी काव्यमें देखना हो, तो वह है 'जयोदयमहाकाव्यम्' । यह अलंकारोंकी मंजूषा, चक्रबन्धोंकी वापिका, सूक्तियों और उपदेशोंकी सुरम्य वाटिका है । इसमे कविके पाण्डित्य एवं वैदग्ध्यका अपूर्व सम्मिलन काव्यकी उदात्तताका परिचायक है । काव्यक्षेत्रके अन्धकारयुगको गौरव प्रदान करने वाला यह गौरवमय महाकाव्य है । नवार्थ-घटनाके लिए इसकी कही कही दुरूहता अस्वाभाविक नही है । प्रकृतिनिरीक्षणमें महाकविकी सूक्ष्मेक्षिका-शक्तिको उसकी कल्पनाशक्तिने पूर्णतः परिपुष्ट किया है जयकुमार तथा सुलोचनाके विषयमें विरचित पूर्ववर्ती काव्योंकी रत्नमालामें जयोदयमहाकाव्य अनर्घ्य मणिके रूपमें देदीप्यमान हो रहा है ।

इस महाकाव्यकी नवार्थघटनाके विश्लेषणार्थ महाकविने संस्कृत भाषा-मे ही पदपदार्थस्फोरणी स्वोपज्ञ व्याख्या लिखकर काव्यको परिमण्डित किया है। जहाँ तक मुझे विदित है, महाकाव्य क्षेत्रमें अद्यावधि यह अप्रतिम निदर्शन है, जहाँ महाकविने स्वरचित महाकाव्यकी सस्कृतमे स्वयं व्याख्या प्रणीत की हो। अन्यथा ऐदंयुगीन नवीन मल्लिनाथका अन्वेषण करना होता और यह महाकाव्य इस युगमे तो प्रचारमें आनेसे वञ्चित ही रह गया होता।

इतनी अगाध वैदुषीके रहते हुए भी वाणीभूषण महाकविने महाकवि कालिदासकी 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः' 'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः' इत्यादि उक्तियोमे प्रकाशित विनयके समान विनयको प्रकट करते हुए कहा है कि कवि तो वस्तुतः जिनसेन इत्यादि हैं। आश्चर्य है कि हम भी कवि बन गये हैं। यह उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि कौस्तुभ मणि ही वास्तविक मणि है किन्तु काँचको भी मणि कहा जाता है। कविका तात्पर्यार्थ यह है कि वास्तविक कवि तो जिनसेन प्रभृति हैं, हम तो नामके कवि हैं—

कवयो जिनसेनाद्या कवयो वयमप्यहो।
कौस्तुभोऽपि मणिर्यद्वन्मणिः काचोऽपि नामतः॥

कविने सभी अधिकारी गुणदोषविवेचक विद्वानोंसे आग्रह किया है कि वे इस काव्यके गुणदोषोकी समीक्षा करें किन्तु आत्मश्लाघी असहृदय व्यक्ति दूर रहे—

गुणविगुणविद तु स्रागपि ख्यापयन्तु
विशदिमविशदंशा पेयताङ्केऽत्र हसाः।
अशुचिपदकतुष्टा आत्मघोषाः सुदुष्टा.
किमिव नहि वराकाः काकुमायान्तु काकाः॥

महाकविने इस काव्यमे वर्णित अनेक घटनाओको अपने जीवनानुभवोंसे सँवारा है। जयकुमारके पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध जीवनसे कविका सुतरां साम्य दिखता है। बालब्रह्मचारी कवि भूरामलजी जीवनकी सन्ध्यावेलामें वीतराग होकर मुनि बन गये और ज्ञानसागर अन्वर्थ नामसे विख्यात हुए। उन्होंने इस काव्य के उपान्त्य प्रश्नगर्भोत्तर पद्य द्वारा अपना हृद्य प्रकाशित कर दिया है, जिसमे श्रद्धा, व्रत और विद्या रत्नत्रयसे युक्त मनकी आकाक्षा की गई है—

श्रवणीयास्तु का शुद्धा ब्रह्मविद्भिः किमर्जितम्।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या मण्डित तैः किमस्तु नः॥

साहित्यकी कतिपय विधाओंका परम लक्ष्य तो सत्य ही होता है। सत्यकी अभिराम परिनिष्ठामे ही काव्यके प्रामव्यकी इतिकर्तव्यता निहित रहती है।

सत्यके इस चरम और परम निकषकी महत्ताको हृद्गत कर लेनेपर हमें इस महाकाव्य की कविताका उत्कर्ष भी कविके काल्पनिक जगत्के अन्तःस्थलमे संनिहित सत्य में परिलक्षित होता है। मानव जीवनके मूलभूत विचारोमे जब तक किसी महान् आदर्शका उत्थान नही होता, तब तक हम सबके अन्तःकरणमें विद्यमान सान्द्र तथा बलवती भावनाओका उद्रेक भी नही हो पाता।

यद्यपि कविके हृदयसे कविता स्रोतस्विनी स्वान्तःसुखाय ही फूट पड़ती है, तथापि अनुवर्ती परोपकारी जन लोककल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर लोकोपकारी काव्यके भावों तथा आदर्शोंको जन-जनके हृदय तक पहुँचानेकी ललक मनमे सँजोये रखते हैं। उसे मूर्त रूप प्रदान करनेमे जनभाषा परम सहायक बनती है। इसी दृष्टिसे देवभाषामे निबद्ध इस उदात्त महाकाव्यको राष्ट्रभाषा हिन्दीमे अनूदित करानेका भाव इसके प्रकाशकोंके हृदयमे प्रस्फुरित हुआ। संस्कृत साहित्य तथा जैन दर्शनके सुयोग्य विद्वान् साहित्याचार्य श्री पन्नालालजी जैन इस पुण्यकार्यमे प्रवृत्त हुए। वे स्वोपज्ञ व्याख्याका आश्रय लेकर ग्रन्थग्रन्थिविभेदनपूर्वक काव्यकी आत्माको पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करनेमें कृतकार्य हुए हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वोपज्ञ सस्कृत टीका तथा विशद हिन्दी व्याख्यासे विभूषित यह महाकाव्य सस्कृत विद्वानो एव हिन्दीवेत्ता गुणग्राही विद्याप्रेमियोंके लिए समान रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा।

महावीर जयन्ती
२०४६ वि०सं०
वाग्योगचेतनापीठम्,
शिवाला, वाराणसी

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
निदेशक,
अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण से

सम्पादकीय—प्रस्तुति

आजके ख्याति प्राप्त, बहुश्रुत आचार्य विद्यासागरजीके दीक्षा एवं विद्यागुरु स्व० आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजने जब वे महाकवि भूरामलजी शास्त्रीके नामसे जाने जाते थे, तब "जयोदय महाकाव्य" की रचना की थी। यह काव्य, संस्कृतके उपलब्ध महाकाव्योंमें परिमाणकी अपेक्षा जहाँ अद्वितीय है, वहाँ काव्यकी समस्त विधाओंके सुविस्तृत वर्णन एवं अलंकारोंके चमत्कार पूर्ण संयोजनसे भी अद्वितीय है।

इसके २८ सर्गोमें हस्तिनापुरके राजा जयकुमारका प्रारम्भसे लेकर निर्वाण प्राप्ति तकका वर्णन है। जयकुमार भारतवर्षके आद्य चक्रवर्ती भरत महाराजके प्रधान सेनापति रहे हैं। दिग्विजयके कालमें इन्होंने मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, गणबद्ध देवोंसे भी विजय प्राप्त की थी। घटना तृतीय कालके अन्तकी है। इनकी प्रिया सुलोचना, भगवान् वृषभदेवके द्वारा कर्मभूमिमें स्थापित चार राजवंशोंमेंसे एक वाराणसीके राजा अकंपन महाराजकी पुत्री थी। अकंपनने इसके विवाहके लिए स्वयंवरका आयोजन किया था। यह स्वयंवर भारतमें होने वाले स्वयंवरोंमें आद्य स्वयंवर था। उसमें भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्ति आदि भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजपुत्र सम्मिलित हुए थे। सुलोचनाने जयकुमारके कण्ठमें जयमाला डाली। अपने आपको अपमानित समझ अर्ककीर्तिने जयकुमारसे युद्ध किया। युद्धमें जयकुमारने विजय प्राप्त की। महाराज अकंपनने अपनी छोटी पुत्री रत्नमालाका अर्ककीर्तिके साथ विवाह कर विद्वेषकी भावनाको बुद्धिमत्तासे शान्त किया।

इस स्वयंवरका साङ्गोपाङ्ग वर्णन महाकवि हस्तिमल्लने स्वरचित 'विक्रान्त कौरव' नाटकमें किया है। विस्तृत प्रस्तावनाके साथ मैंने इसका सम्पादन—अनुवाद किया है और प्रकाशन वाराणसीकी प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था 'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन' ने किया है। यही सब कथानक और जयकुमारके अन्यान्य वृत्तान्तोंको लेकर महाकवि भूरामलजीने जयोदय काव्यकी रचना की थी। श्री महाकवि भूरामलजी प्रतिभासम्पन्न कवि थे। काव्य रचनाके लिए उपयुक्त कारणोंमें प्रतिभाका प्रमुख स्थान है। यह प्रतिभा उनमें पूर्ण रूपसे विद्यमान थी। न केवल जयोदय काव्यकी रचना उन्होंने की है किन्तु वीरोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय आदि महाकाव्य तथा चम्पू ग्रन्थोंकी भी रचना की है। इनका प्रकाशन ब्यावरकी मुनिश्री ज्ञानसागर ग्रन्थमालासे हो चुका है।

जयोदय काव्य कवि कल्पनाओंका अनुपम भाण्डार है। श्लेष, विरोध, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारोंसे समस्त काव्य समलंकृत है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें अन्त्यानुप्रासका स्थान सुरक्षित रखा गया है। संस्कृतके अनेकों अप्रसिद्ध शब्दोंका इसमें प्रयोग हुआ है।

'यमकादौ भवेदैक्य श्लोरलोर्वबोस्लथा' इसका जगह-जगह दिग्दर्शन होता है। काव्यकी अङ्ग-वन क्रीडा, जलक्रीडा, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, दूतीप्रेषण, संभोग, प्रभात, सूर्योदय, नदी, पर्वत आदिका सुन्दर वर्णन इस महाकाव्यमें प्रस्तुत किया गया है। शृङ्गार, वीर और शान्त रसका यथास्थान विनिवेश भी दर्शनीय है।

विक्रम सवत् २००७ मे जब यह काव्य मूल रूपमें प्रकाशित होकर जैन जैनेतर विद्वानोंके पास भेजा गया, तब कवि की काव्य प्रतिभासे सभी विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। सबको आश्चर्य हुआ कि इस समय भी श्री हर्ष, माघ, भारवि और कालिदास-की कोटिका काव्य-निर्माता विद्यमान है। अप्रसिद्ध शब्दोंके प्रयोग और उनकी विचित्र संयोजनासे हतप्रभ होकर जब आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजसे अनुरोध किया गया कि टीकाके बिना ग्रन्थोका हार्द प्रकट नही होगा, तब उन्होने स्वयं इसकी संस्कृत टीका लिखी। प्रकाशित मूल प्रतिमेसे उन्होने कितने ही श्लोकोंको छोडा, कितने ही का क्रम परिवर्तन किया, कितनेका ही नया समावेश किया और पूर्वार्द्धमें कितने ही का अन्वय भी लिख दिया। उनके आधारसे स्व० पं० हीरालालजी शास्त्रीने प० अमृतलालजी साहित्याचार्य एवं जैनदर्शनाचार्य वाराणसीके सहयोगसे इसके १३ सर्गोंका हिन्दी अनुवाद किया, जिसे ब्यावरकी ज्ञानसागर ग्रन्थमालाने प्रकाशित किया। शास्त्रीजोके दिवंगत हो जानेसे १४–२८ सर्गका उत्तरार्द्ध प्रकाशित होनेसे रह गया। सम्पादन और अनुवादके लिए इसकी पाण्डुलिपि यद्यपि ५ वर्ष पूर्व मेरे पास आ चुकी थी, परन्तु अन्य व्यस्तताओके कारण मैं कुछ काम नही कर सका। इसी बीच पाण्डुलिपि कुछ अन्य लोगोके पास भी पहुँचाई गई, पर ग्रन्थकी दुरूहता और कार्यके परिश्रमसाध्य होनेके कारण कुछ हो नही सका।

सागर विद्यालयसे अवकाश प्राप्त हो जानेके बाद इस काव्यको देखा और आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजके द्वारा स्वलेखनीसे लिखित स्वोपज्ञ संस्कृत टीका तथा उनके द्वारा प्रयुक्त अप्रसिद्ध शब्दोंके सग्रह रूप विश्वलोचन कोषको सामने रखकर कार्य चालू किया, जो अनवरत ६ माहके परिश्रमसे पूर्ण हुआ। सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्य प्रतिभाके चमत्कारोंसे भरा हुआ है। पर इस संक्षिप्त लेखमें उनका निदर्शन सम्भव नहीं है। अतः इसके अठारहवे सर्गमें वर्णित प्रभात वर्णनके कुछ प्रसंग पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करनेका प्रयास करता हूँ। पाठक देखें और तुलनात्मक अध्ययन करें कि माघ आदि महाकवियोंके प्रभात वर्णनसे इसमे क्या कैसा वैशिष्ट्य है।

अठारहवे सर्गमें १०४ श्लोकोंके द्वारा प्रभात वर्णन हुआ है। अन्तके कुछ श्लोकोंको छोडकर समग्र सर्गमे वसन्ततिलका छन्दका प्रयोग हुआ है। यह छन्द जब अनेक राग-रागनियोमे पढा जाता है, तब श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं।

प्रातर्वेलामें मन्द-मन्द वायु चलती है, पूर्व दिशामें लाली छा जाती है, पक्षी कलरव

करते हैं, कमलिनी विकसित होती है, कुमुदिनी निमीलित होती है, चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाता है, तारे लुप्त हो जाते हैं, उदयाचलमें सूर्यका उदय होता है, चकवा-चकवीकी विरह वेदना समाप्त होती है, उलूक अन्धे होकर गुफाओंमें छिपते हैं, चारण विरद बखानते हैं और प्रतापी राजाके समान सूर्यका उदय होता है। इत्यादि प्राकृतिक कार्यों के चित्रमें कविने अपनी कल्पनाकी कूचिकासे जो रङ्ग भरा है, वह बरबश पाठकके मनको मोह लेता है। इन सब प्रसङ्गोंका वर्णन श्लेषालंकारका अवलम्बन लेकर कहीं दार्शनिक पद्धतिसे, कहीं ऐतिहासिक पद्धतिसे, कहीं राजनीतिके परिवेषसे और कहीं राजनीतिके नेपथ्यसे किया है, जो एकसे एक बढ़कर है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

प्रात: वायु मन्द-मन्द चल रही है, क्यों ? इसके लिये कविकी उत्प्रेक्षा है—

लुप्तोरुरत्ननिचये वियतीव ताते,
चन्द्रे तु निष्करदशामधुना प्रयाते।
घूकेऽपकर्मनयने द्रुतमेव जाते
मन्दं चरत्यधिगमाय किलेति वाते ॥ ४ ॥

सबके लिए आश्रय देनेसे पिताके तुल्य जो आकाश था उसका विशाल रत्नोंका संग्रह (नक्षत्र समूह) लुप्त हो गया,—लूट लिया गया। पुत्र तुल्य जो चन्द्रमा था, वह निष्कर—किरण रहित (पक्षमें हस्तरहित) अवस्थाको प्राप्त हो गया अर्थात् चन्द्रमा आकाशके लुप्त रत्नोंके खोजनेमें असमर्थ हो गया और रात्रिमें विचरने वाले जो उलूक थे उनके नेत्र देखनेमें असमर्थ हो गये। अतः किसी अन्य सहायकको न पाकर वायु स्वयं ही उन लुप्त रत्नोंके समूहको खोजनेके लिए मानों धीरे-धीरे चल रही थी।

ता पुष्पिणीं व्रततिमभ्युपगम्य सम्यक्,
शुद्धेन तेन पयसा प्लवनं वरं यः।
सम्प्राप्तवान्न पुनरप्युपसर्ग एष,
स्यान्मन्दमित्थमनिलश्चरति प्रगे सः ॥ २६ ॥

पुष्पितलता (पक्षमें रजस्वला स्त्री) का सम्पर्क—स्पर्श पाकर जो शुद्ध जलसे स्नानको प्राप्त हुआ था ऐसा पवन, यह सोचकर कि यह झंझट पुनः प्राप्त न हो, प्रातःकालके समय धीरे-धीरे चल रहा हो, तात्पर्य यह है कि उस समय शीतल, सुगन्धित और मन्द पवन चल रही है।

इस सदर्भकी एक उत्प्रेक्षा और देखिए—

किञ्चाहतः स्तनतटैर्निपतन्विलग्ने,
योषाजनस्य परिवर्तितनाभिदघ्ने।
रुद्धो नितम्बशिखरैरिति सम्प्रबुद्धो,
मन्दं प्रयाति पवनः स पुनस्तु शुद्धः ॥ २७ ॥

दूसरी बात यह है कि यद्यपि पवन स्त्रीजनोके स्तन तटोसे ताडित हुआ, उसे उनके कटि प्रवेश पर गिरना पडा, नाभि तकके प्रदेशोंमें घूमना पडा और नितम्ब शिखरोसे अवरुद्ध होना पडा, फिर भी वह चूँकि सम्प्रबुद्ध—ज्ञानवान था, अतः शुद्ध निर्विकार रहकर धीरे-धीरे—सावधानीसे चल रहा है।

पक्षी जागकर घोसलोंमें कलकल ध्वनि कर रहे हैं, इसके लिए कविकी मौलिक उत्प्रेक्षा देखिए—

व्योम्नि स्थितिं भरुचितां समतीत्य दीने,
राज्ञोऽपवर्तनदशो प्रतिपद्य हीने ।
सद्योऽथवाभ्युदयनेतरि भावनाना-
माद्येऽर्थवत्यपि पदे विकृतोक्तिमानात् ॥८॥

जब आकाश, राजा—चन्द्रमा (पक्षमें नृपति) की अपवर्त दशा—अस्तोन्मुख अवस्था (पक्षमें कुत्सित शासन प्रवृत्ति) को प्राप्त कर भरुचितां—नक्षत्रोंसे देदीप्यमानता (पक्षमें भरुचिता सुवर्णसम्पन्नता) को छोडकर दीन हो गया—प्रभाहीन हो गया (पक्षमें निर्धन हो गया) तथा सूर्य शीघ्र ही अभ्युदय—उदय (पक्षमें सम्पन्नता) को प्राप्त हो गया, तब पक्षी अपनी कलकल ध्वनिसे आगमोक्त बारह भावनाओमे से प्रथम भावना—अनित्य भावनाको सार्थक कर रहे थे। भाव यह है कि राजा—चन्द्रमा रूपी एक राजाका अस्त होना और सूर्य रूपी अन्य राजाका उदित होना, इससे ससारकी अनित्यताको पक्षी अपनी कलकल ध्वनिसे प्रकट कर रहे हैं।

चन्द्रमा निष्प्रभ हो गया है। क्यो ? इसका उत्तर कवि से पूछिए—

यन्मीलितं सपदि कैरविणीभिराभिः
क्षीणा क्षपाऽस्तमितमच्युत तारकाभि ।
संचिन्तयन्दयितदारतयेन्दुदेवः
प्राप्नोति पाण्डुवपुरित्यथवा शुचेव ॥२१॥

चन्द्रमाकी तीन स्त्रियाँ थी—१. कुमुदिनी, २. रात्रि और ३. तारा। इनमेंसे इस समय कुमुदिनी मूर्च्छित हो गई, रात्रि नष्ट हो गई और तारा अस्तमित हो गईं, मर गई। यतश्च चन्द्रमा स्त्रीप्रेमी था, अत. अपनी तथोक्त स्त्रियोंके विषयमें चिन्ता करता हुआ मानों शोकसे ही पाण्डु—श्वेत शरीरको प्राप्त हो रहा है।

हि + इने इतिच्छेदः 'इनःपत्यौ नृपे सूर्ये' इति विश्वलोचनः। २ 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे' इति विश्वः।

चन्द्रमा पश्चिम दिशामें पहुँच रहा और पूर्व दिशामें लालिमा छा रही है—इसका आलंकारिक वर्णन देखिए—

धिग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति,
योऽस्मत्सकाश उदयं विधुराप चेति ।
भासौ घृणापरकयेन्द्रदिशाशु दन्त-
वासः परावृतममुष्य समस्तु सन्तः ॥३३॥

हे सत्पुरुषो ! पूर्व दिशामें जो यह लाल-लाल कान्ति फैल रही है, यह किससे उत्पन्न हुई ? मैं कहता हूँ, सुनो, पूर्व दिशा सोचती है कि जो चन्द्रमा हमारे सन्निधानमें उदय (पक्षमें उन्नत दशा) को प्राप्त हुआ, वही वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) का सेवन करता हुआ विनिपात-अधोगमन (पक्षमें पतन) को प्राप्त हो रहा है, इसे धिक्कार हो, यह सोच कर घृणा करनेमें तत्पर पूर्व दिशा रूपी स्त्रीने अपना अधरोष्ठ फुलाया, उसीसे यह लाल कान्ति उत्पन्न हुई ।

इसी संदर्भके अन्य उत्प्रेक्षाका अवलोकन कीजिए । रात्रि, एक असंतुष्टा नायिका है—

यात्येकतोऽपि तु कुतोऽपि विरज्य राज-
न्यात्माधिपेऽपरदिशां प्रतियाति राजन् ।
सत्पुष्पतल्पमसकौ रजनी दलित्वा,
रोषारुणा विकृतवाग्भरतश्छलित्वा ॥३६॥

मागध, जयकुमारको सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे राजन् ! अपना पति चन्द्रमा (पक्षमे अपना स्वामी) जब किसी कारणसे नाराज हो पश्चिम दिशा (पक्षमें अन्य नायिका) की ओर चला गया, तब यह रात्रि (पक्षमे असंतुष्ट नायिका) क्रोधसे लाल हो विकृत वाग्-पक्षियोके द्वारा कृत कलरव (पक्षमे आक्रोश पूर्ण वचनों) से झकझक करने लगी और नक्षत्र रूपी फूलोंकी सेज नष्ट-भ्रष्ट कर एकान्तमें चली गई ।

कुमुदिनीका निमीलन, सूर्यका उदय, चन्द्रमाकी निष्प्रभताका वर्णन एकत्र देखिए—

चन्द्रोऽस्पृशत्कमलिनीमहसत्कमोदि-
न्येतद्द्वयेऽरुणदगर्यमराड् विनोदिन् ।
स्रागभ्युदेति किल तेन कुमुद्वतीयं,
मौनिन्यमूच्छशभृदेति च शोचनीयम् ॥३८॥

हे विनोदरसिक ! चन्द्रमाने कमलिनीका स्पर्श किया, यह देख कुमुदिनीने हँस दिया, इन दोनों कार्यों पर क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ सूर्य रूपी राजा शीघ्र ही उदयको प्राप्त हो रहा है, इससे कुमुदिनी—कुमुद्वती—कुत्सित हर्षसे युक्त होती हुई मौन

लेकर बैठ गई—निमीलित हो गई और चन्द्रमा शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया। राजाके सामने अपराधियोंकी यह दशा होती है।

निःस्नेह अतएव बुझनेके सन्मुख दीपककी अवस्था देखिये—

निःस्नेहजीवनतयापि तु दीपकस्य
मशोच्यतामुपगतास्ति दशा प्रशस्य।
संघूर्ण्यमानशिरसः दलितप्रभस्य,
यद्वन्मनुष्यवपुषो जरसान्वितस्य ॥४१॥

हे प्रशंसनीय! जिसका शिर कांप रहा है और बाल सफेद हो गये हैं ऐसे वृद्ध मनुष्यकी दशा—अवस्था जिस प्रकार स्नेह-प्रीति रहित जीवन होनेसे शोचनीय हो जाती है उसी प्रकार जिसका अग्रभाग कांप रहा है और जिसकी प्रभा क्षीण हो रही है ऐसे दीपककी दशा-बत्ती स्नेह–तैल रहित जीवन होनेसे शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो रही है।

दार्शनिक पद्धतिसे प्रभातका वर्णन करने वाले कविकी श्लेष प्रियता देखिये—

कूटस्थता खरमरीचिरुपैति तात!
भ्रष्टाध्वरो भवति वा द्विजराडिहातः।
स्याद्वादवागुदितपिच्छमगस्य वृत्ति-
स्सा सौगताय नियता क्षणदाप्रवृत्तिः ॥५०॥

हे तात! खरमरीचि—सूर्य, कूटस्थता–पूर्वाचलकी शिखर पर स्थितिको प्राप्त हो रहा है। पक्षमे प्रखर वक्ता–स्पष्टवादी मरीचि-साख्यमतका प्रवर्तक कूटस्थता–नित्यैक-वादको प्राप्त हो रहा है (पक्षमें ब्राह्मण भ्रष्टाध्वर–हिंसक यज्ञको प्राप्त हो रहा है।) पूंछको ऊपर उठाने वाले मुर्गोंकी वृत्ति शब्दको प्राप्त हो रही है, अर्थात् मुर्गे बोल रहे हैं। (पक्षमें मयूरपिच्छको धारण करने वाले दिगम्बर मुनियोंकी वृत्ति स्याद्वाद वाणीको प्राप्त हो रही है और क्षणदा–रात्रिकी प्रवृत्ति गताय नियता–अच्छी तरह समाप्त हो गई है (पक्षमें सौगत–बौद्धमतको प्राप्त हो गई है–क्षणिकवादको स्वीकृत कर रही है।)

प्रातःकालके समय होने वाली दिन रातकी सन्धिका वर्णन करते हुए कविने जिस उपमालंकारका प्रयोग किया है उसका रहस्य देखिये कितना गहरा है—

नो नक्तमस्ति न दिनं न तमः प्रकाशः
नैवाथ भानुभवनं न च भानुभासः।
इत्यर्हतो नृप! चतुर्थवचो विलास-
सन्देशके सुसमये किल कल्यभासः ॥६२॥

---

१. जैनेन्द्र व्याकरणमें ह्रस्वकी प्र, दीर्घ की दी, और प्लुतकी प संज्ञा होती है।

हे नृप ! हे राजन् ! अर्हन्त भगवान्के चतुर्थ वचनकी चेष्टाका संदेश देने वाले प्रातःकालीन दीप्तिके सुन्दर समयमे न रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोका अनुभवन है और न सूर्यकी दीप्तियाँ है ।

भावार्थ—जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित स्यादस्ति आदि सात वचनोंमें चतुर्थ वचन 'स्यादवक्तव्य है' अर्थात् पदार्थ न अस्ति रूप है, न नास्ति रूप है, न अस्ति नास्ति रूप है किन्तु अवक्तव्य है क्योंकि एक ही साथ अस्ति नास्ति ये दो विरोधी धर्म प्रधानतासे नही कहे जा सकते । इसी तरह इस प्रभात कालमे न तो रात है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोका अनुभवन–सद्भाव है और न सूर्यकी रश्मियाँ हैं किन्तु प्रकाश और अन्धकारकी एक अवक्तव्य दशा है ।

इसी सन्दर्भका श्लेषसे ओत-प्रोत एक पद्य और देखिये—

निर्मूलता व्रजति भो क्षणदाप्रणीति-
नास्ति प्रदीपभुवि कापिलसत्प्रतीतिः ।
स्याद्वाद एव विभवः प्रतिपल्लवं स
भात्यर्हतो दिनकरस्य यथावदंशः ॥६४॥

हे महानुभाव ! सुनो, यह जो क्षणदा प्रणीति–रात्रिकी चेष्टा है वह निर्मूलताको प्राप्त हो रही है अर्थात् रात्रि समाप्त हो रही है (पक्षमे बौद्धोंकी क्षणदा प्रणीति–क्षणिक मत नीति निर्मूल हो रही है, प्रदीप भुवि–दीपकोंके स्थानमें कुछ भी सुन्दर प्रतीति नही है अर्थात् दीपकोकी प्रभा समाप्त हो गई है अथवा प्रदीप–ह्रस्व दीर्घ, और प्लुत संज्ञक स्वरोके स्थान भूत शब्दोंके उच्चारणमे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरका भेद नही जान पडता (पक्षमें कापिल–कपिलानुयायी सांख्योकी कोई प्रणीति–नित्यवादकी स्थापना नही है । वृक्षोंके पल्लव–पात पात पर विभवो वाद, स्यात्–पक्षियोका कलरव हो रहा है अथवा पल्लव पल्लव–अक्षर अक्षरमें अर्हन्त भगवान्का स्याद्वाद–कथंचित् वाद ही दिनकरके अंशके समान विभव–वैभवको प्राप्त हो रहा है ।

कमलिनीके सुन्दर दलो पर पडी ओसकी बूँदोंका वर्णन देखिये—

सद्वारिशौक्तिकततिं स्वयमेव तेषु
सम्बिभ्रती कमलिनी कलपल्लवेषु ।
उद्घाटितस्वनयना निजवल्लभस्या-
सौ स्वागतार्थमभियाति हितैकवश्या ॥६७॥

यह प्रेम परायणा कमलिनी कमलरूप नेत्र खोल कर अपने पति सूर्यके स्वागतके लिये कोमल पल्लव रूप हाथोंमें जल बिन्दु रूप मोतियोकी पंक्तिकी धारणा करती हुई स्वयं सुशोभित हो रही है ।

एक विचित्र कल्पना देखिये—

> भ्रष्टोडुमौक्तिकवदुज्वलरक्तरीति-
> ध्वान्तेभकुम्भभिदिनो रविकेशरीति ।
> दृष्ट्वा ततः प्रभवदुत्कलिता मही ता-
> मेषोऽस्ति पालितपृषद् द्विजराट् सचिन्तः ॥७८॥

प्रातर्वेलामे नक्षत्र नष्ट हो जाते हैं, आकाशमे लालिमा छा जाती है और चन्द्रमा कान्ति हीन हो जाता है । ऐसा क्यो होता है ? इस सन्दर्भमे कविकी कल्पना है—नक्षत्र रूपी मोतियोको बिखेरता और अरुणता रूपी खूनके गुब्बारोको ऊपरकी ओर उड़ाता हुआ सूर्य रूपी बब्बरसिंह अन्धकार रूपी हाथीके मस्तकको भेदकर इस ओर आ रहा है यह देख पृथिवी पर व्याकुलता छा गई । कमलकी कलियोके बहाने उसका हृदय फट गया । इस घटनासे अपने भीतर हरिणकी रक्षा करने वाला चन्द्रमा विचारता है कि जब सूर्य रूपी बब्बर शेरने हाथीको नही छोडा तब हमारे हरिणको कैसे छोड़ेगा ? इस चिन्तासे ही मानों चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया ।

जिस समय इस काव्यका निर्माण हुआ था उस समय भारतमे गाधीजी, नेहरू परिवार, राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू तथा जिन्ना आदि राजनेता प्रसिद्ध हो रहे थे । कविने उन सबका नाम श्लेषालकार द्वारा इस जयोदय काव्यमे बडी श्रद्धासे अभिव्यक्त किया है । यह चातुर्य कही अन्यत्र नही दिखाई देता । कविकी इस प्रतिभा पर आश्चर्य चकित होना पडता है । देखिये—

> यद्वा सुगा धियमिता विनतिस्तु राज-
> गोपाल उत्सवधरस्तव धेनुरागात् ।
> हृष्टा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना-
> नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात् ॥८३॥

हे राजन् ! आपकी विनीतता उत्तम गतिशील बुद्धि को प्राप्त है, आपकी गोरक्षा की प्रीतिसे राजके सब गोपाल-गोरसके आनन्द मना रहे हैं । इस प्रातर्वेलामें सरोजिनी-कमलिनी हर्षित-विकसित है और मदन विजयीपुरुष अपने आप की परमात्मा, परब्रह्म का एक अश माननेसे संध्या वन्दनादि अनुष्ठान-प्रशस्त कार्य कर रहे है ।

श्लेष से प्रकट होनेवाला दूसरा अर्थ भी देखिये—

हे राजन् ! आपकी विनम्रता या शिक्षा गाधोजी की विनम्रता या शिक्षाका अनुसरण कर रही है, आपको गो प्रेमसे राजगोपालाचार्य आनन्द का अनुभव कर रहे हैं तथा सरोजिनी नायडू प्रसन्न हैं । सिर्फ एक ओर जिन्ना नामक यवन नेता परकीय भारतको अपना मानते हुए विषम—पारस्परिक विरोधके कार्योंमें—हिन्दुस्तान-पाकिस्तानके विभाजनका अनुष्ठान कर रहे हैं ।

इसी प्रकरणका एक चमत्कार और देखिये—

गान्धीरुष: प्रहर एत्यमृतक्रमाय
तत्सूत नेहरूचयो बृहदुत्सवाय।
राजेन्द्रराष्ट्रपरिरक्षणकृत्तवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः ॥८४॥

हे राजाओंके इन्द्र! प्रातःकालके पहरमें उत्तम पुरुषोंकी बुद्धि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये पुण्य पाठ रूप गो-वाणीको प्राप्त होती है। इस समय सत्-नक्षत्रोंको दीप्ति महान् उत्सवके लिये होती अर्थात् नक्षत्र निष्प्रभ हो रहे हैं अत. राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला आपका यह अय—समीचीन भाग्य, सहज स्वभावसे वृद्धिको प्राप्त हो। गाधीजीके रोषको दूर करनेवाला नेहरू परिवार सत्सु-सज्जनोमें महान् उत्सवके लिये तत्पर है और राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, यह सब राष्ट्रनेताओका परिकर अभ्युदय को प्राप्त हो॥[1]

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा
स्थान विनारिमृदुवल्लभराट् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखतां खलु पद्मराजो
निर्याति साम्प्रतमित सितरुक्समाजः ॥८१॥

इसी सन्दर्भका एक श्लोक और देखिये—

हे अजात शत्रु! तथा कोमल प्रकृति वाले मनुष्योंको प्रिय राजन्! इस प्रातर्वेला मे सूर्य दीप्तिकी समीचीन कीर्ति अभ्युदयकी प्राप्ति हो रही है अथवा अभिगत-प्राप्त है उदय-उत्कर्ष जिसमे ऐसे स्थानको प्राप्त हो रहे हैं। पद्मराज-श्रेष्ठ कमल (शतदल-सहस्र दल) प्रसन्न मुखताको प्राप्त हो रहा है अर्थात् विकसित है और सितरुक्समाज—चन्द्रमाका परिवार—नक्षत्रगण यहाँसे निकल रहा है छिप कर अन्यत्र जा रहा है।

अर्थान्तर—हे देव इस समय (विक्रम संवत् २५०७) सुभाषचन्द्र बोस की उज्ज्वल कीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है, अजात शत्रु तथा कोमल प्रकृति वालोंको प्रिय राष्ट्र—डा० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपतिके आसनको प्राप्त हो रहे है, पद्मराज प्रसन्न मुखता-को प्राप्त है अर्थात् देशके स्वतन्त्र होनेसे हर्षका अनुभव कर रहे हैं और सितरुक्समाज—गौराङ्ग अग्रेजोंका परिवार अथवा समूह यहाँसे निकल रहा है—अपने देशको जा रहा है।

इस प्रकार अठारहवाँ सर्ग ही नही सम्पूर्ण ग्रन्थ विचित्र सूक्तियोंसे परिपूर्ण है। कैलासका वर्णन, जयकुमारके द्वारा कृत जिनेन्द्र पूजाका विस्तार, भगवान् वृषभदेवके

---

१. 83–84, 81 श्लोकोकी सस्कृत टीका द्रष्टव्य है, इसके बिना शब्दोंकी तोड-फोड हृदयंगत नही हो सकती।

समवसरणका वैभव, जय कुमारका वैराग्य, पुत्रको राजनीतिका उपदेश तथा तपश्चर्याका विशद वर्णन इस काव्यकी गरिमाको बढ़ाने वाले प्रकरण हैं। सुलोचनाके सतीत्वके प्रभावसे उफनती गङ्गाका प्रभाव कम होना, ग्राहसे जयकुमारके गजका मुक्त होना, अर्ककीर्तिको जीतनेके बाद जयकुमारका भरत चक्रवर्तीसे साक्षात्कार और भरत चक्रवर्तीके द्वारा जयकुमारका शुभाशसन आदि सन्दर्भ वरवश पाठकोंका मन मोहित कर लेते हैं।

१४ वें सर्गसे लेकर २८ वें सर्ग तकका यह उत्तरार्ध संस्कृत और हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित हो रहा है। श्री आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा विरचित जयोदय, वीरोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय और समुद्रदत्त चरित्रका अध्ययन कर कुमारी विदुषी डा० किरण टण्डनने कुमायूं विश्वविद्यालयसे 'मुनि श्री ज्ञान सागरका व्यक्तित्व और उनके संस्कृत काव्य ग्रंथोंका साहित्यिक मूल्याकन' विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है।

ग्रन्थ पर विस्तृत प्रस्तावना श्री डॉ० भगीरथ त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' निदेशक अनुसंधान संस्थान सम्पूर्णानन्द संस्कृत महाविद्यालय काशीने लिखकर महाकाव्यका गौरव बढ़ाया है। अनुवाद संस्कृत टीकाके आधार पर किया गया है। कुछ श्लोक ऐसे हैं जिन पर आचार्य ज्ञानसागरजीने स्पष्ट लिखकर संस्कृत टीका नहीं लिखी थी पर आवश्यक थी अतः संस्कृत टीकाका संयोजन भी किया है। समास बहुल अनेकार्थक श्लोकोंका हिन्दी अनुवाद कठिन होता है। यदि शब्दार्थकी ओर दृष्टि जाती है तो हिन्दीका सौन्दर्य समाप्त होता है और हिन्दीके सौन्दर्यकी रक्षा की जाती है तो कविका भाव प्रकट नहीं हो पाता। फिर भी यथाशक्य दोनोंको सँभालनेका प्रयत्न किया गया है। प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय विज्ञ पाठक मनीषी स्वयं करेंगे। काव्यके निर्माता श्री महाकवि भूरामल शास्त्री (स्व० आचार्य ज्ञानसागर जी) की प्रतिभासे चमत्कृत हुए बिना नहीं रहेंगे।

इसके १–१३ सर्ग तकके पूर्वार्धमें संस्कृत टीकाके साथ अन्वय भी दिया गया है परन्तु १४–२८ सर्गके उत्तरार्धमें अन्वय नहीं दिया जा सका है क्योंकि द्व्यर्थक श्लोक अधिक हैं तथा शब्दोंकी तोड़ फोड़ अधिक मात्रामें है अतः संस्कृत टीका साथमें रहनेसे अन्वयकी सार्थकता हृदयगत नहीं हुई।

१७ वें सर्गमें संभोग शृङ्गारका वर्णन है उसकी हिन्दी टीका मैंने नहीं लिखी। जिज्ञासु महानुभाव संस्कृत टीकाके माध्यमसे अपनी जिज्ञासा शान्त करें। एक निवेदन है कि "जयोदय महाकाव्य" काव्य ग्रन्थ है काव्यमें प्रसङ्गवश सब रसोंका वर्णन होता है। शृङ्गारके स्थान पर शृङ्गारका और शान्तके स्थान पर शान्त रसका वर्णन आवश्यक होता है। अतः पाठकोंका लेखक पर यह आक्षेप नहीं होना चाहिये कि लेखकने खुलकर शृङ्गारका वर्णन किया है।

आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज अपने विद्या और दीक्षा गुरुकी इस

महनीयकृतिको प्रकाशित देख प्रसन्नताका अनुभव करेंगे। अनुवाद करते समय आचार्यश्रीसे कई बार परामर्श किया गया है तथा प्रकाशनके पूर्व ग्रन्थकी पाण्डुलिपि विशाल जनसमूहके बीच नैनागिरिजीमे आचार्यश्री को समर्पित की गई थी। संपादन और अनुवाद त्रुटियोंके लिये विज्ञपाठकोसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस काव्यके 'प्रभात वर्णन' आदि कुछ प्रसंग अपने आपमें परिपूर्ण हैं तथा विश्व-विद्यालयोके पठन क्रममें सम्मिलित करने योग्य हैं।

श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढिया, जबलपुर

विनीत
पन्नालाल जैन

प्रथम संस्करण से

जयोदय महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय

●

जयोदय महाकाव्य

• •

जयोदयमहाकाव्यम्

चतुर्दश सर्गः

[1]अथ तीरारामे सरितायां रुचिरासीन्महतो[2] जनतायाः।
आत्मभूतनयताऽधिगमाय[3] सुललिततालान्वितोत्सवाय ॥१॥

टीका—अथानन्तरं जनतायाः रुचिरभिलाषा महती बहुला अपि च नारदस्य वीणा चासीत्। क्वासीत्? सरितायाः नद्यास्तीरारामे प्रान्तोद्याने। किमर्थम्? आत्मने यो भूतो हितकरो वायुस्तस्य नय. समीचीनतया सेवनं तत्तायाः अधिगमाय प्राप्तये वायु-सेवनार्थम्। एवमात्मभूतनयो नारदस्तत्ताधिगमाय पुनरपि सुललिता मनोहरा ये ताला-स्ताडवृक्षाः, उपलक्षणात् सर्वेऽपि पादपास्तैः, पक्षे लयमूर्च्छनादिसंगीतशास्त्रोक्तास्ताला-स्तैरन्वितो युक्तो योऽसावुत्सवस्तस्मै। समासोक्तिरलंकारः।

असुगतवैभववानिव तेन तत्र तथागतसमीरणेन।
समजनि सुरतविचारविशिष्टो दूरतोऽपि चायातः शिष्टः ॥२॥

टीका—तत्र दूरतो दुष्टरतयुक्तः स सुरतस्य विचारेण विशिष्ट इति विरोध इव

अर्थ—तदनन्तर नदीके तटवर्ती उद्यानमे आत्महितकारी वायुका अच्छी तरह सेवन करने तथा अत्यन्त मनोहर ताड आदि वृक्षोके मध्य क्रीडा करने के लिये जन समूहकी महती—बहुत भारी अभिलाषा हुई। **अर्थान्तर**—आत्मभूतनयता नारदपनेकी प्राप्तिके लिए एव अत्यन्त सुन्दर तालो—सगीतमे उपयुक्त स्वर—मूर्च्छनाओके उत्सवके लिए महती—नारद की वीणा प्रकट हुई। यह समासोक्ति अलकार है ॥१॥

अर्थ—उस तटोद्यानमे आया हुआ **शिष्ट**—सभ्य जन समूह यद्यपि **दूरत**—दुष्टरत—कुत्सित क्रीडा वाला था तो भी **सुरतविचारविशिष्टः**—अच्छी

---

१ हिन्दी टीकाकारक। मङ्गलाचरण—
सारदा शारदा वन्दे कर्मकल्मषहारिणीम्।
धारिणी गुणभूषाणा विघ्नसन्दोहवारिणीम् ॥

२ 'नारदस्य तु वीणायां महती स्यात् पृथौ त्रिषु' इति विश्वलोचन।

३ आत्मभू ब्रह्मा तस्य तनय पुत्रो नारदस्तस्य भावस्तत्ता तस्या अधिगमाय प्राप्तये।

तस्य परिहारः—दूरादायातोऽभिप्राप्तः शिष्टो जनः सोऽपि च सुरतस्य स्त्रीप्रसङ्गस्य विचारेण विशिष्ट. समजनि सम्बभूव। केनेति चेत् ? तेनतथागतस्य बुद्धस्य समीरणेन प्रेरणेन। स एव चासुगतवैभववान् सुगतवैभवेन हीन इति विरोधः। तस्य परिहार·—तेन तथा मन्दमन्दरूपेणागतेन समीरणेन वायुना, असुभ्यः प्राणेभ्यो गतं प्राप्तं यद् वैभवं तद्वानिव समजनि जात इति। विरोधाभासोलकार ॥२॥

दृष्ट्वाच्छायां तरुणोपात्तां हृष्टा सम्भोक्तुमिहागात्ताम्।
अच्छाया स्वयमितः पवित्रीभूतशरीराऽसकौ भवित्री ॥३॥

टीका—काचिद् युवतिस्तरुणा वृक्षेणोपात्तां संजनितां छायां यद्वा तरुणेन युवकेनोपात्ता सलब्धा छायां शोभां तद्गतशरीरसुन्दरतां दृष्ट्वा हृष्टा प्रसन्ना सती तां संभोक्तुं

क्रीडाके विचारसे युक्त हो गया। यह विरोध है—जो कुत्सितरतसे युक्त है वह सुरतसे युक्त कैसे हो सकता है ? विरोधका परिहार यह है कि **दूरतोऽपि आयातः**—दूरसे भी आया हुआ वह शिष्टजन समूह **सुरतविचारविशिष्टः**—स्त्री सभोगके विचारसे युक्त हो गया। तात्पर्य यह है कि उद्यानकी सुन्दरता-रूप उद्दीपक विभावके मिलनेपर काम-शृगाररससे आकुलित हो गया। साथ ही **तथागत**[1] **समीरणेन**—बुद्धकी समीचीन प्रेरणासे युक्त होनेपर भी असुगत[2] वैभववानिव—सुगत-बुद्धके वैभवसे रहितकी तरह हो गया। यह विरोध है—जो बुद्धकी समीचीन प्रेरणासे युक्त है वह बुद्धके वैभव—प्रभुत्वसे रहित कैसे हो सकता है ? विरोधका परिहार इस प्रकार है—वह शिष्टजन समूह **तथा-आगतसमीरणेन**—उस प्रकार मन्दमन्दरूपसे आयी हुई वायुसे असु—प्राणोके लिये गत-प्राप्त वैभवसे युक्त जैसा हो गया था। भाव यह है कि उद्यानकी मन्द-मन्द सुगन्धित वायुसे शिष्टजन समूहको ऐसा लगा मानों हमारे प्राणोके लिए कोई वैभव—बहुत भारी सम्पत्ति ही मिल गयी हो यह विरोधाभासालकार है ॥२॥

अर्थ—कोई युवति [3]**तरुणोपात्तां**—वृक्षके द्वारा जनित छाया-अनातपको देखकर प्रसन्न होती हुई उसका उपभोग-सेवन करनेके लिये इस उद्यानमे गयी। अथ च, कोई युवति [4]**तरुणोपात्तां**—युवकके द्वारा प्राप्त छाया—शोभा या कान्तिको देखकर प्रसन्न होती हुई उसका उपभोग करनेके लिये इस उद्यानमे

१–२ 'सर्वज्ञ. सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः' इत्यमर.।

३. तरुणा वृक्षेण उपात्ता सजनिता।

४. तरुणेन युवकेन उपात्ता प्राप्ता।

समास्वादयितुमिहागात् प्राप्ता, किन्त्वसावेवासकौ स्वयमेवेतः पवित्रीभूतशरीरा वृक्षस्य तस्य छाययालङ्कृतशरीरा भविश्री सती किलाछायाविहीना भवित्रीति, तस्य छायां भोक्तुं-गता स्वयं छायां व्यतीतवतीति वैपरीत्यमभूत् । एष विरोधाभासोऽलंकारः ॥३॥

अगदलसच्छायां परिपश्य (?) संगवतामनुययौ वनस्य ।
दूरे जरस्य निजोयधीतः पृथुलवलिभृतोऽनुरागिणीतः ॥४॥

टीका—काचिद् युवतिः, निजीयधीतः स्वकीयबुद्धित एव, इतः सकाशात् अनुरागिणी सम्बद्धप्रीतिः सती, दूरेजरस्य जरारहितस्यापि पृथुलवलिभृतः बहुवलिशालिनः इति विरोधः। तस्य परिहारः—दूरे जरस्य दूरगतमूलस्य पृथु विपुलविस्तारं लवलिवृक्षं बिभर्तीति तस्य पृथुलवलिभृतो वनस्य, अतएव अगदस्य गदरहितस्य लसन्ती या छाया तां परिपश्य (?) दृष्ट्वा सगतदां पर्याप्तरोगितामनुययाविति विरोधः। तस्य परिहारः—अगस्य वृक्षस्य यानि दलानि पत्राणि तेषां सती या छाया तां परिपश्य (?) संगं ददातीति

गयी परन्तु **पवित्र**—उज्ज्वल शरीर वाली वह युवति यहाँ आकर स्वयं **अच्छाया**—छायासे रहित हो गयी। आयी थी छायाका उपभोग करनेके लिये परन्तु स्वय छायासे रहित हो गयी, यह विरोध है। परिहार यह है कि वह यहाँ आकर स्वय **अच्छाया**[1]—निर्मल भाग्यवाली हो गयी। अर्थान्तरमे जो युवति किसी युवककी शोभा देखकर हर्षित होती हुई सभोगके लिये यहाँ गयी थी उसका शरीर स्वेद नामक सात्त्विकभावके कारण **पवित्र**[2]—जलरूप हो गया अत वह उस युवककी छायाका उपभोग नही कर सकी ॥३॥

अर्थ—कोई एक स्त्री अपनी बुद्धिसे **इतः**—इस उद्यानमे **अनुरागिणी**—प्रीति सहित हो, **दूरेजरस्य**—वृद्धत्वसे रहित होनेपर भी **पृथुल वलिभृतः**—विस्तृत वलियो—वृद्धावस्थामे प्रकट होनेवाली झुर्रियोको धारण करनेवाले (परिहार पक्षमे) **दूरे**[3]**जरस्य**—दूर तक फैली हुई जडोसे सहित, विशाल लवलि (हरफररे बडी) वृक्षको धारण करनेवाले वनकी **अगदलसच्छायां रोगापहारिणी सुन्दर छायाको** देखकर **संगवतां**—सब ओरसे सरोग अवस्थाको प्राप्त हुई थी यह विरोध है। परिहार पक्षमे **अगदलसच्छायां**—वृक्षके पत्तोकी सुन्दर छायाको

---

१ न विद्यते छाया यस्या सा। पक्षे अच्छो निर्मल. अयो भाग्यं यस्या. सा। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातप.' इत्यमर। 'अय. शुभावहो विधिः' इत्यमर।
२. 'पवित्रमुपवीताम्बुताम्रे दर्भेऽपि धर्मणि' इति विश्वलोचनः। 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च. स्वरभङ्गोऽथ वेपथु.। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृताः' साहित्यदर्पणे। ३. श्लेषके कारण र और ल में अभेद किया गया है।

सगवस्तस्य भाव. सगवता तामनुययौ।ससर्गयोग्यतां जगामेति विरोधाभासोऽलकारः ॥४॥

बहुकल्पपादपैरपि रम्य सुमनःसमूहतो भुवि गम्यम् ।
नन्दनं वनमिवातिमनोज्ञं पुण्यपूरुषैर्बभूव भोग्यम् ॥५॥

टीका—यद् वन नन्दन स्वर्गीयवनमिव भुवि धराया बभूव । यतस्तद् बहुकल्पैरनेकप्रकारकै पादपैरपि रम्य मनोहर पक्षे बहुभि. कल्पपादपै सुरवृक्षैरपि रम्य । सुमनसा पुष्पाणा पक्षे देवाना समूहतो गम्य ज्ञेयमेव । पुण्यपूरुषैर्महाभागजनै. भोग्यमनुभवयोग्यमिति श्लेषोपमालकार ॥५॥

उच्चैः पल्लवमधोजटीति तपस्यतोऽन्यस्मै गुणरीति ।
अनोकहस्य सुकृतसगीतिरभूदतो यौवनप्रतीतिः ॥६॥

टीका—उच्चैर्गता पल्लवा पत्राणि यत्र तद्यथा स्यात्तथा। किञ्चाधो गच्छन्ति जटा

देखकर **सगवता**—पति समागमको देने वाली क्षमताको प्राप्त हुई थी। वृक्षोकी सघन छाया देख उसे विश्वास हुआ था कि यहा अवश्य ही पतिका समागम प्राप्त होगा। यह विरोधाभास अलकार है ॥४॥

अर्थ—वह उद्यान पृथिवी पर नन्दन वनके समान अत्यन्त मनोहर था क्योकि जिस प्रकार नन्दन वन [3]बहुकल्पपादपे —अत्यधिक कल्पवृक्षो से रमणीय होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी बहुकल्प-पादपे —अनेक प्रकारके वृक्षोसे रमणीय था। जिस प्रकार नन्दनवन [4]सुमन समूह—देवोके समूहसे जानने योग्य होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी सुमन समूह—विद्वानोके समूहसे जानने योग्य था और जिस प्रकार नन्दनवन [5]पुण्यपुरुष—यक्षजनोसे भोग्य होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी पुण्यशाली पुरुषोसे भोग्य था। यह श्लेषोपमालकार है ॥५॥

अर्थ—यतश्च उस उद्यानमे कोई **अनोकह्**—वृक्ष **उच्चैः पल्लव**—ऊपरकी ओर पत्तोको करके (पक्षमे ऊपरकी ओर पद् लवो--पैरोको करके), **अधो-**

---

१ जटा विद्यन्ते यस्य तत् जटि शिर ।

२ युवतीना समूहो यौवनम् तस्य प्रतीति विश्वास पक्षे प्रति इति गमनमित्यर्थ ।

३ बहुप्रकारा बहुकल्पा ते च ते पादपाश्च त । पक्षे बहवश्च ते कल्पपादपाश्च बहुकल्पपादपा तं ।

४ 'सुमना पुष्पमालत्यो स्त्रियां धीरे सुरे पुमान्' इति विश्वलोचन ।

५ पदोर्लवा पल्लवा चरणाग्रा , पक्षे पत्राणि ।

यत्र तद्यथा स्यात्तथा। अन्यस्मै गुणस्योपकारस्य रीतिर्यत्र तद्यथा स्यात्तथा। तपस्यतः आतपे स्थितिमतोऽनोकहस्य वृक्षस्य तावत् सुकृतस्य-संगीतिः पुण्योदयोऽभूत्। अतो युवतीनां समूहो यौवतं तस्य प्रतीतिः प्रसक्तिरभूत्। योऽपि कोऽपि युवतिसंगमायोपरि चरणलब्ध नीचैश्च केशसहित शिरो विधायापरेषु करुणापरायणश्च भवति तप कर्तुमिति समासोक्तिरलकारः ॥६॥

वागाश्रितसम्पदोऽभ्युपास्तिः कौतुकसंग्रहोऽमुकस्यास्ति।
सद्य एव भुवि विवहनक्रिया स्पृहणीयापि फलोदयश्रिया ॥७॥

टीका—अमुकस्य वनप्रदेशस्य वा अगान् वृक्षानाश्रिता प्राप्ता या सम्पत् अभ्युपास्ति समुपलब्धि, पक्षे वाग्दानात्मिकायाः सम्पदोऽधिगति। तथा कौतुकानां पुष्पाणां पक्षे विनोदभावानां सग्रह संप्राप्तिरस्ति भवति। फलानामाम्रादीनामुदयः प्रादुर्भावः

जटि--नीचेकी ओर जडोको करके (पक्षमे जटाधारी—शिरको करके) तथा दूसरोके लिये **गणरीति**--उपकार करनेकी रीतिको प्रकट कर तपस्या कर रहा था--घाममे खडा था अतः उसके **सुकृतसंगीति**--पुण्यका उदय हुआ था। इसी कारण युवतियोंके समूहका उस ओर **प्रतीति**--प्रति + इति गमन हो रहा था। पक्षमे प्रतीति-विश्वास हो रहा था। यहाँ समासोक्तिमे यह भाव प्रकट किया गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष ऊपरकी ओर पैर और नीचेकी ओर शिर कर धूपमे खडा हो, तपस्या करता है तो उसे बहुत पुण्यकी प्राप्ति होती है और उसके फलस्वरूप **यौवत**—युवति समूहका उस पर विश्वास जागृत होता है फलतः युवति समूह आदि भोगोपभोगकी सामग्री उसे प्राप्त होती है। यहाँ समासोक्ति अलकार है ॥ ६ ॥

अर्थ--अथवा वहाँ किसी वन प्रदेशको **अगाश्रितसम्पदः**—वृक्षो सम्बन्धी सम्पत्तिकी प्राप्ति थी अर्थात् कही सघन वृक्षावलीकी शोभा बिखर रही थी। कही **कौतुकसंग्रह**--पुष्पोंका सग्रह हो रहा था अथवा वृक्षोके नीचे बैठे लोग तरह तरहके विनोद कर रहे थे अथवा [२]**कौ**—किसी भूमिमे [३]**तुकसंग्रहः** बच्चे एकत्रित हो खेल रहे थे। कही भूमि पर **फलोदयश्रिया**—आम आदि फलोके प्रकट होनेकी शोभासे **स्पृहणीय**—मनोहर **विवहन क्रिया**—तोता मैना आदि

---

१. कौतुक त्वभिलाषेऽपि कुसुमे नर्महर्षयो.' इति विश्वलोचन।
२ 'क्षमा धरित्री क्षितिश्च कु' इति धनंजय।
३. 'तुक् तोक चात्मज प्रजा' इति धनंजय।

पक्षे सन्तानोत्पत्तिस्तस्य श्रिया स्पृहणीया, वीनां पक्षिणां वहनक्रिया संधारणचेष्टा पक्षे पाणिपीडनक्रिया सद्य एव शीघ्रमेव भुवि भवतीति किल सर्वदार्थे वर्तमानक्रिया । समासोक्तिरलंकारः ।

बिल्वफलानि विलोक्य सहर्षं निजोरोजमण्डलं ददर्श ।
सहसा तानि तथैव सुयोषा पुनरपि द्रष्टुमभूदपदोषा ॥८॥
नेशायामूनि वल्लभानि तव कुचकुम्भवदियानिदानीम् ।
भेदोऽस्तीति समाह वयस्या तदभिप्रायवेदिनी तस्याः ॥९॥

टीका—अपदोषा काश्यांदिदोषवर्जिता सुयोषा युवतिः हर्षेण सहितं सहर्षं विल्वस्य फलानि विलोक्य निजमात्मीयमुरोजयोः स्तनयोर्मण्डलं ददर्श । पुनरपि सहसोत्साहेन तानि द्रष्टुं तथैवाभूत् तदा तस्याः समीचीनाभिप्रायस्यान्तरङ्गभावस्य वेदिकी ज्ञानवती वयस्या सखी सहसा हासयुक्ता सती समाह समुवाच यत्किलामूनि विल्वफलानि तव कुचकुम्भवत् ईशाय स्वामिने वल्लभानि प्रीतिदानि न भवन्तीतीयानिदानीं भेदोऽस्ति ॥

पश्य पिकोमुमुकां गुणमालिन् प्रिये मञ्जुलास्याश्च र वाली ।
हन्त हन्त चैवास्त्यतिकाली किन्न तवापि तन्वि कचपाली ॥१०॥

पक्षियोके धारण करनेकी चेष्टा हो रही थी अर्थात् फलयुक्त वृक्षोपर विविध पक्षी उछल कूद कर रहे थे । यहाँ समासोक्तिसे अर्थान्तर—दूसरा अर्थ प्रकट होता है—

किसी युवकको वागाश्रित—वाग्दान—सगाई रूप सपदाकी प्राप्ति हो रही थी, इसी उपलक्ष्य मे सगीत आदि विविध कौतुको-कुतूहलोका सकलन हो रहा था और किसी जगह फलोदयश्रिया—संतान रूप फलकी प्राप्ति रूप शोभासे स्पृहणीय-आकाक्षणीय [1]विवहन क्रिया—विवाहकी क्रिया हो रही थी। तात्पर्य यह है कि उस तीरोद्यानमे उपस्थित जन समूहमे किसी युवककी सगाई हुई और वही लगे हाथ विवाह भी हो गया। यह समासोक्ति अलकार है ॥७॥

अर्थ—कृशता आदि दोषोसे रहित—गठीले शरीर वाली कोई युवति हर्ष सहित विल्वफलोको देखकर अपने स्तन मण्डलको देखने लगी। देखकर वह पुनः शीघ्र ही उन विल्व फलोको देखने लगी। इसी बीच उसके अभिप्रायको जानने वाली सहेली सहसा—हँसकर बोली कि ये विल्वफल तुम्हारे स्तनोंके समान इस समय तुम्हारे पतिको प्रिय नही है इतना ही इन दोनोमे भेद है ॥८-९॥

---

१. विवहनं विवाह पक्षे वीनां पक्षिणा वहनं धारणम् ।

टीका—एका युवतिः कृष्णवर्णां कोकिलां दृष्ट्वा निजवल्लभमाह—हे गुणमालिन् ! स्वामिन् ! अमुकां पिकीं पश्य । तदा तदभिप्रायवेदी स आह—हे प्रिये ! तव अस्याश्च र वाचां आली वाक्ततिर्मञ्जुला मनोहारिणी । इत्येतच्छ्रुत्वा सा पुनराह—हन्त हन्त क्वैतस्या मया सह तुलनास्ति । एषा त्वतिकालो श्यामवर्णास्तीत्येव श्रुत्वा स आह—हे तन्वि ! तव कचाना केशाना पाली परम्परापि किं काली नास्ति । वक्रोक्तिरलकारोऽत्र ॥१०॥

कण्टकितं पदमङ्के नेतुः समधिकृत्य चाऽऽपदमपनेतुम् ।
कण्टकिताखिलतनुरजनीति तं च तथा कुर्वती सुगीतिः ॥११॥

टीका—सुष्ठु गीतिरुक्तिर्यस्याः सा सुगीतिः कापि वनिता कण्टकयुक्तं कण्टकितं पदमात्मनश्चरण नेतुर्नायकस्याङ्के किलापदमपनेतुं निरापदत्वमुरीकर्तुं समधिकृत्य धृत्वा चापि कण्टकिता कण्टकैर्युक्ता रोमाञ्चिताऽखिला सम्पूर्णा तनुर्यस्या. सा सती तं नेतारमपि तथा कण्टकित कुर्वती विदधत्यजनि जाता । तद्गुणो नामालंकार. ॥११॥

कुसुमावचये सरजस्कदृशः फूत्कर्तुमिवेशे सति सुदृशः ।
चुम्बति मुदश्रुनिस्सरणेन समभावीह समुद्धरणेन ॥१२॥

टीका—इह कुसुमाना पुष्पाणामवचयः संकलन यत्र तस्मिन् समये रजसा सहिता

अर्थ—कोई एक युवति काली कोयल देखकर पतिसे बोली—हे गुणमाली-गुणज्ञ ! इस कोयलको देखो। युवतिके अभिप्रायको जानने वाला पति बोला कि प्रिये ! (तुम्हारी) और इस कोयलकी वचनावली मनोहर है अर्थात् तुम दोनो ही प्रियवादिनी हो। यह सुन युवतिने कहा कि बडे खेदकी बात है—इसके साथ मेरी तुलना कहाँ है ? यह तो काली है (पर मै काली नही हूँ) यह सुनकर पतिने कहा कि हे तन्वि ! क्या तुम्हारो केशपाली भी काली नही है यह वक्रोक्ति अलकार है ॥१०॥

अर्थ—किसी मधुरभाषिणी स्त्रीके पैरमे काँटा लग गया, उसने आपदा दूर करनेके लिये अपना कण्टक युक्त पैर पति की गोदमे रख कर कहा कि काटा निकाल दीजिये, परन्तु पतिके शरीरका स्पर्श पाकर उसका सपूर्ण शरीर कण्टकित—रोमाञ्चित पक्षमे काटोसे युक्त हो गया और पतिको भी उसने कण्टकित—रोमाञ्चित (पक्षमे काँटोसे युक्त कर दिया)। यह तद्गुणालकार है ॥११॥

अर्थ—फूल तोडते समय किसी सुलोचना—सुन्दर नेत्रो वाली स्त्रीकी आँखमें फूलकी रज—पराग लग गयी। उसे फूंकनेके बहाने पति उसका चुम्बन

सरजस्का सा चासौ दृग् यस्यास्तस्याः सुदृशः सुलोचनायाः फूत्कर्तुमिव चुम्बति सतीशे स्वामिनि मुदश्रुणा समालिङ्गनसजातहर्षाश्रुणा निस्सरणेन स्वयमेव समुद्धरणेन रजो निर्गमनेन समजनि जन्म लब्ध सहजसहयोगितालकारः।

आस्यस्पर्द्धनफलं प्रदातुं विकसितकुसुममुद्यताऽऽदातुम्।
अलिना साम्प्रतमधरमुदारं सीच्चकार महिलैवमुदारम् ॥१३॥

टीका—एका महिला, आस्येनाननेन सार्धं यत् स्पर्द्धनमीर्ष्याकरण तदास्यस्पर्द्धनं तस्य फल प्रदातु विकसितकुसुम सम्फुल्लतामाप्त पुष्पमादातुमुद्यता प्रयत्नशीला सती साम्प्रत तत्कालमागत्याधरमोष्ठ नुदतीति तेनाधरदशकेनालिना भ्रमरेण, अर शीघ्रमेव मुदारमुदात्तरूप सीच्चकार ॥१३॥

प्रतिनगमवस्थितौ सुजम्पती शुशुभाते तत्रेति सम्प्रति।
भोगभुवः समुदाहरणेन तत्फलस्य समुदाहरणेन ॥१४॥

टीका—तत्र सम्प्रतिकाले नगं नग प्रति प्रतिनग प्रत्येकवृक्षमभिव्याप्यावस्थितौ शोभनौ जम्पती सुजम्पती पतिपत्नीरूपौ तस्य वृक्षस्य यत्फल तस्य समुद् हर्षसहित यदा-हरणं समादान तेन हेतुना भोगभुव प्रथमादिकालावस्थाया समीचीनेनोदाहरणेन समुदाहरणेन शुशुभाते शोभा जग्मु.। यमकाख्योऽलकार उपमा च ॥१४॥

दारवज्जहाराङ्गिनां मन परिस्फुरन्नेत्राङ्कितालन.।
ललितामलकावलिं दधान सालसंगमं च वनवितानः ॥१५॥

टीका—तदा वनस्य वितानो विस्तारः सोऽङ्गिना जनानां मनो दारवद् भूत्वा

करने लगा। इससे उस स्त्रीके आँखोसे हर्षके आँसू निकल पडे जिससे पराग स्वय ही निकल गया। यहाँ सहज सहयोगिता अलकार है ॥१२॥

अर्थ—डाली पर खिला हुआ यह फूल हमारे मुखके साथ ईर्ष्या कर रहा है इस विचारसे ज्यो ही कोई स्त्री उस फूलको तोड़नेके लिये उद्यत हुई त्यो ही एक भ्रमरने उसके अधरोष्ठ पर आघात कर दिया जिससे वह स्त्री जोर-जोरसे सी-सी करने लगी ॥१३॥

अर्थ—उस उद्यानमे प्रत्येक वृक्षके नीचे खडे स्त्री पुरुषोके सुन्दर युगल हर्ष पूर्वक फल तोड रहे थे इसलिये वे भोगभूमिके युगलोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१४॥

अर्थ—उस समय वनके विस्तारने स्त्रीके समान मनुष्योके मनका हरण किया था क्योंकि जिस प्रकार स्त्री **परिस्फुरन्नेत्राङ्किताञ्जन—**चञ्चल नेत्रो

जहार । यतः स परिस्फुरत् सुविवासमधिगच्छद् यन्नेत्र मूलं तेनाङ्कितो युक्तोऽञ्जन नामवृक्षो यत्र सः । पक्षे परिस्फुरती ये नेत्रे चक्षुषी तयोरङ्कितमाकलितमञ्जनं येन स वारजनस्तथा । ललिता मनोहरा याऽऽमलकाना धात्रीवृक्षाणामावलिं पक्षे ललितां सुन्दराकाराम् अलकानां केशानामावलिं पंक्ति दधानः । तथा सालानां सर्जवृक्षाणां संगमं सपर्कं पक्षेऽलसभावेन सहितं सालसं गमं गमनं दधान इति श्लेषोपमा ॥१५॥

परिफुल्लवदनमापुः सम्यक् मृदुलताभिरामतया गम्यम् ।
मदनमनोहरं च गुणवत्यो नववयोऽन्वय वनं युवत्यः ॥१६॥

टीका—गुणवत्यो युवत्योऽपि तद्वन सम्यक् कान्तमिवेत्यर्थः । आपुः प्रापुः । परितोऽभितः फुल्लानि पुष्पाणि वदने मुखस्थाने यस्य तत्, पक्षे सदैव प्रसन्नाननं । तथा मृदुभिर्लताभिर्याऽभिरामता सुन्दरता तया गम्य समनुभाव्य, पक्षे मृदुलतायाः कोमलताया

मे अञ्जन-काजल धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी **परिस्फुरन्ने**[1]-**त्राङ्किताञ्जन**[2]—सब ओर फैली हुई जडोसे युक्त अञ्जन नामक वृक्षोको धारण कर रहा था । जिस प्रकार स्त्री **ललिताम्** [3]**अलकावलिं**—सुन्दर केशा-वलीको धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी **ललितामलकावलिं**—सुन्दर धात्री वृक्षोंकी पक्तिको धारण कर रहा था और जिस प्रकार स्त्री **सालसं गमं**—आलस्य सहित गमनको धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी [4]**सालसंगम**—सागौन वृक्षोके सगम—समागमको धारण कर रहा था । यह श्लेषोपमा अलकार है ॥१५॥

अर्थ—गुणवती–सौन्दर्यादि गुणोसे युक्त युवतियाँ अपने पतिकी समानता रखने वाले उस वनको अच्छी तरह प्राप्त हुई थी । तात्पर्य यह है कि वह वन, युवतियोके लिये अपने पतिके समान जान पडता था, क्योकि जिस प्रकार पति **परिफुल्लवदन**—सदैव प्रसन्न मुखवाला होता है उसी प्रकार वह वन भी **परिफुल्लवदन**—खिले हुए पुष्पोसे युक्त अग्रभाग वाला था । जिस प्रकार पति **मृदुलताभिरामतया गम्य**—कोमलता और सुन्दरतासे सेवनीय होता है उसी

---

१. 'नेत्र विलोचने वृक्षमूले वस्त्रे गुणे मथि' इति विश्वलोचन ।
२. 'अञ्जनो दिक्करीन्द्रे स्यादञ्जन तु रसाञ्जने । अक्षिकज्जलयोर्वीरे गिरिभेदेऽप्यथा-ञ्जने ।' इति विश्वलोचन. ।
३ 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमर. ।
४. 'साल सर्जतरु स्मृतः' ।

याऽभिरामता सारता तया गम्यं सर्वोसमं मधुरमिति । तथा मदनेन नानाम्रवृक्षेण मनोहरं, पक्षे मदनवन्मनोहरं । तथा नवानां वयसां पक्षिणामन्वयः समूहो यत्र तत्, पक्षे नवस्य वयसो यौवनस्यान्वयः सद्भावो यत्र तम् । इति श्लेषोपमालुप्तरूपा ॥१६॥

पादपमाश्लिष्टवतीं वल्लीं समुदीक्ष्य मुदा युवतिमतल्ली ।
नेतारमिहालिलिङ्ग गाढं सरसतया घनमालाऽऽषाढम् ॥१७॥

टीका—इह या युवतिमतल्ली सा पादपं वृक्षमाश्लिष्टवतीं वल्लीं समुदीक्ष्य मुदा प्रसन्नभावेन सरसतया सकामभावेन पक्षे सजलत्वेन यथा घनमाला मेघततिराषाढमासं तथा गाढमालिलिङ्ग स्वकीय नेतारमित्युपमा ॥१७॥

आह स कमलनालकुलबाहो हृद्भिन्नं नु दाडिमस्याहो ।
जम्भजृम्भितकोमलभावं तवाश्चर्यतोऽभिवीक्ष्य तावत् ॥१८॥

प्रकार वह वन भी **मृदु-लताभिरामतयागम्य**—कोमल लताओकी सुन्दरतासे अनुभव करनेके योग्य था। जिस प्रकार पति [1]**मदनमनोहर**—कामदेवके समान सुन्दर होता है उसी प्रकार वह वन भी **मदनमनोहर**—आम्रवृक्षोंसे मनोहर था और जिस प्रकार पति **नववयोऽन्वय**—नूतन तरुणावस्थासे सहित होता है उसी प्रकार वह वन भी **नववयोऽन्वय**[2]—नये-नये पक्षियोके समूहसे सहित था। यह श्लेषोपमालकार है परन्तु 'पतिके समान' यह उपमा लुप्त है। मात्र विशेषणोके द्वारा उसका बोध होता है ॥१६॥

अर्थ—इस उद्यानमे किसी प्रशस्त युवतिने वृक्षसे लिपटी लताको देख प्रसन्नतापूर्वक [4]सरसभाव—शृगार भावसे अपने पतिका उस तरह गाढ आलिङ्गन किया जिस तरह कि मेघमाला सरसभाव—जलभावसे आषाढ मासका आलिङ्गन करती है। उपमालंकार है ॥१७॥

---

१ 'मदन स्मरधत्तूरवसन्तद्रुमसिक्थके' इति विश्वलोचन. वसन्तद्रुम आम्रवृक्ष इत्यर्थ ।

२ वयस्तु यौवने बाल्यप्रभृतौ विहगे वया'' इति विश्वलोचन ।

३ मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ ।
प्रशस्तवाचकान्यमून्यय. शुभावहो विधिः ॥ इत्यमर. ।

४ रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे ।
पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ ॥ इति विश्वलोचनः

टीका—तदा स नेता आह तावत्—अहो कमलमालकुलबाहो ! मृणालतुल्यकोमलभुजे ! तव जम्भानां दन्तानां जृम्भितं परिवर्द्धमानं कोमलभावं सौन्दर्यमभिवीक्ष्य तावदाश्चर्यतो नु किल दाडिमस्य करकफलस्य हृद् अन्तो भिन्नं विदीर्णमिति । 'जम्भो दन्तेऽपि जम्भीरे' इति विश्वलोचने ॥१८॥

करं करजकिरणैः कुसुममति काचिदप्यपकुसुमे संदधतीम् ।
दृष्ट्वा युवतिं सखीजनेन स्मितपुष्पाण्यर्पितानि तेन ॥१९॥

टीका—काचिदपि चापकुसुमे पुष्पैर्विहीनेऽपि देशे करजानां स्वकीयनखानां किरणैः कृत्वा कुसुमानां पुष्पाणां मतिर्बुद्धि यत्र यस्य वा तं करं स्वहस्तं संदधतीं क्षिपन्तीं युवतिं नवयौवनां दृष्ट्वा तेन तत्रोपस्थितेन सखीजनेन स्मितानि मन्दहास्यरूपाणि पुष्पाणि अर्पितानि दत्तानि तस्यै ॥१९॥

यमिति विटपमालिलिङ्ग रामा कुसुमेषुयुवतितोऽप्यतिरामा ।
तेनाऽऽमोदपूर्णताऽदर्शिभूत्वा सहजेन कुसुमवर्षी ॥२०॥

टीका—अथवा कुसुमेषोः कामस्य युवतिर्या रतिस्ततोऽप्यभिरामाऽधिकसुन्दरी रामा यमिति कमपि विटपं लतास्तम्बमालिलिङ्ग तेनैव सहजेन स्वभावेन कुसुमवर्षी भूत्वाऽऽमोदपूर्णता सौरभसमर्थताऽदर्शीत्यनेन पुण्यप्रतीतिः ॥२०॥

अर्थ—आलिङ्गनके समय पतिने कहा—अहो मृणालके समान कोमल भुजाओं वाली प्रिये ! तुम्हारे दाँतोंके बढते हुए सौन्दर्यको देख आश्चर्यसे अनारका हृदय—अन्तःकरण विदीर्ण हो गया है ॥१८॥

अर्थ—कोई एक युवति अपने नखोंकी किरणोसे पुष्प रहित प्रदेश पर भी पुष्प समझ अपना हाथ डाल रही थी अर्थात् नखोंकी किरणोको ही पुष्प समझ तोड़नेके लिये बार-बार हाथ डाल रही थी उसे देख उपस्थित सखीजनो ने उसके लिये मन्दहास्यरूपी पुष्प समर्पित कर दिये। तात्पर्य यह है कि सखीजनोने उसके भोलेपन पर हँस दिया ॥१९॥

अर्थ—रतिसे भी अधिक सुन्दर स्त्रीने जिस किसी विटप—लतास्तम्ब का आलिङ्गन किया—पुष्प तोड़नेके लिये जिस पर अपने हाथ रक्खे उसीने सहजभावसे पुष्पवर्षी होकर हर्षकी पूर्णता दिखलायी। भाव यह है कि जिस प्रकार सुन्दर स्त्रीका आलिङ्गन पाकर विट—शृङ्गार रसमे रचा-पचा विट पुरुष हर्ष प्रकट करता है उसी प्रकार लतास्तम्बने भी स्त्रीका आलिङ्गन पाकर पुष्प वृष्टि द्वारा अपना हर्ष प्रकट किया था ॥२०॥

तुल्या तरुणीभिश्चभरूणां तरुणानामिव तत्र तरूणाम् ।
विपल्लवाभावतया ख्याता लताः सतां सङ्गवतां ताः ॥२१॥

टीका—तत्र स्थले ता लता या विपल्लवाना भृष्टपत्राणा विपत्तिलवाना वाभावस्तया ख्याता सत्य· सता समीचीनाना सङ्गवता प्रसङ्गप्राप्ताना तरूणा मध्ये तरुणानां यौवनवता भरूणा भर्तॄणा मध्ये स्थिताभिस्तरुणीभिस्तुल्या सदृशा बभुरित्युपरिष्टात् ॥२१॥

करस्फुरच्चम्पकवृन्तस्य संवादमिषादेकान्तस्य ।
चकार कान्तमतिथिमित्यधुना प्रगल्भतायामुत्तीर्णमना· ॥२२॥

टीका—प्रगल्भताया चतुरतायामुत्तीर्णं कुशल मनो यस्याः सा प्रौढाऽधुना साम्प्रत करे हस्ते स्फुरति लगितस्तिष्ठति चम्पकस्य वृन्त यत्प्रसवबन्धन तस्य सम्वाद कथन तस्य मिषात्कान्तमात्मनो दयितमेकान्तस्य निर्जनदेशस्या तिथि चकार त तथैकान्तस्थाने नीतवतीत्यर्थ. ॥२२॥

विजित्य विश्व विशतस्तस्या हृदयेऽनङ्गस्य धवः शस्याम् ।
वन्दनमालामिव सुमस्रजं क्षिप्तवानिदानीं मुदं व्रजन् ॥२३॥

टीका—धव कान्त· स विश्व जनसमूह विजित्य तस्या कान्ताया हृदय विशतो गच्छतोऽनङ्गस्य कामदेवस्य वन्दनमालामिव शस्यां शोभनीयामिदानी मुद व्रजन् सन् तस्या हृदये सुमस्रज पुष्पमालां क्षिप्तवान् ॥२३॥

अर्थ—उस उद्यानमे जो लताएँ **विपल्लवाभावता**—सघन पत्रावलीसे प्रसिद्ध थी वे अपने समागमको प्राप्त उत्तमवृक्षोके बीच तरुणपतियोके बीच स्थित तथा **विपल्लवाभावता**—अल्पतम विपत्तिसे भी रहित—सुखी तरुणियो के समान सुशोभित हो रही थी ॥२१॥

अर्थ—उस समय चतुराईमे निपुण किसी प्रौढा स्त्रीने हाथमे स्थित चम्पा की बोडीका रहस्य बतानेके बहाने पतिको एकान्त स्थानका अतिथि किया अर्थात् उसे एकान्त स्थानमे ले गई ॥२२॥

अर्थ—इस समय हर्षको प्राप्त होते हुए पतिके समस्त विश्वको जीत कर स्त्रीके हृदयमे प्रवेश करने वाले कामदेवके स्वागतके लिये वन्दनमालाके समान फूलोकी माला उसके हृदय पर डाल दी ॥२३॥

---

१ 'भरुर्भर्तरि काञ्चने' इति विश्वलोचन ।

चाम्पेयरुचौ तनौ तवेति चम्पकदाम न रुचिमभ्येति ।
मुमोच मालामिति वकुलस्यालिङ्गन् कुचौ गले खलु तस्याः ॥२४॥

टीका—कश्चिच्चतुरो नर. स्वकान्तां प्रति हे तन्वि चाम्पेयस्य सुवर्णस्य रुचिरिव रुचिर्यस्यास्तस्यां तव तनौ वपुर्लतायामिदं चम्पकपुष्पाणां दाम माला रुचि नाभ्येतीत्युक्त्वा तदुद्धरणपूर्वक तस्याः कुचौ स्तनावालिङ्गन् सन् तस्या गले वकुलस्य (पुष्पाणा) मालां मुमोच खलु । एक इति शब्द उक्तिप्रकारार्थो द्वितीयो विधिविधानार्थः । खलु च वाक्यालकारे ।

लताप्रताने गता महति या चकर्ष कान्तं परिरम्भधिया ।
मुमुदे साम्प्रतमितो वयस्या वलयस्वनेन वध्वास्तस्याः ॥२५॥

टीका—या वधू महति सघनतामिते लताना प्रताने गता प्राप्ता सती परिरम्भस्यालिङ्गनस्य धिया मनस्यया कान्त चकर्ष साम्प्रतमितस्तस्या वध्वा या वयस्या सखी सा वलयस्य ककणस्य शब्देन तज्ज्ञात्वा मुमुदे । अन्यथानुपपत्तिरलकारः ॥२५॥

मुहुरपि नतोन्नतश्रोणिभरा नरायितस्येवाभ्यासपरा ।
परिफुल्लोलपाठ्चनेनासीद्यासौ लोके सुरूपराशिः ॥२६॥

टीका—यासौ लोके सुरूपस्य राशिः सौन्दर्यस्य सम्पत्तिर्ललना सा तत्र परिफुल च तदुलप लताप्र च तस्याञ्चनेन विनर्तनेन तदुपरि एव तया मुहुरपि बारं बारं नतश्चोन्नतश्च

अर्थ—कोई एक चतुर मनुष्य अपनी स्त्रीसे बोला कि स्वर्णके समान कान्ति वाले तुम्हारे शरीर पर यह चम्पाकी माला शोभाको प्राप्त नही होती (क्योकि पीले रङ्गमे पीला रङ्ग छिप जाता है। यह कहकर चम्पाकी माला निकालनेके बहाने स्तनोका आलिङ्गन करते हुए उसने स्त्रीके गलेमे वकुल—मौलिश्रीके फूलोकी माला डाल दी ॥२४॥

अर्थ—जो स्त्री सघन लताओके झुरमुटमे पहुँच गई थी उसने आलिङ्गन की इच्छासे पतिको खीचा इधर उसी समय उस स्त्रीकी सखी कंकणके शब्द से रहस्य जानकर प्रसन्नताको प्राप्त हुई ॥२५॥

अर्थ—लोकमे जो सौन्दर्यकी सम्पत्तिरूप थी ऐसी कोई अतिशय रूपवती स्त्री पुष्पित लताग्रको नीचा करनेका प्रयत्न कर रही थी, ऐसा करनेसे उसके

---

१. 'चाम्पेयश्चम्पके नागकेसरे पुष्पकेसरे।
स्वर्णे क्लीबं' इति विश्वलोचन ।

श्रोणिभरो यस्याः सा नरस्येवाचरणं नरायितं तस्याभ्यासे परा तल्लीनेवासीद्बभूव । गुल्मिन्यामुलपं मतमिति विश्वलोचने ॥२६॥

उदग्रकुसुमोच्चिचीषयान्या लताग्रदुःस्थाङ्घ्रितया मान्या ।
असोढुमीशेवोरोजभरं निपपातोपरि धवस्य त्वरम् ॥२७॥

टीका—अन्या काचिन्मान्या वधू सोदग्रमत्युच्चैर्गतं यत्कुसुमं पुष्पं तस्योच्चिचीषा गृहीतुमिच्छा तयाऽतो लताग्रे दुष्टतया तिष्ठति स दुःस्थः स चासावङ्घ्रिस्तत्तया असम्यग्धृतचरणतया कारणेन, उरःजयोः स्तनयोर्भरमसोढुमीशेवाशक्नुवानेव सती त्वरं शीघ्रमेव धवस्य स्वामिन उपरि निपपात ॥२७॥

पीडयतः पञ्चभिरेव शरैर्जगत्स्वगत्यानङ्गस्य वरैः ।
गणनातिगैः सहायस्यूतीत्यपहृता जनैर्वनस्य भूतिः ॥२८॥

टीका—पञ्चभिरेव शरैर्बाणैः पुष्परूपैः स्वगत्या निजचेष्टया जगत् तावद्विश्वभरं पीडयतो दुःखं नयतोऽनङ्गस्य कामस्येव वरैस्तैः श्रेष्ठैर्गणनातिगैरसंख्यातैः सहायस्य स्यूतिः सन्ततिर्यत्र तदिदमिति किल जनैर्वनस्य भूतिः सम्पत्तिरपहृता विनाशं नीता । 'भूतिर्मातङ्गभृङ्गारे भस्मसम्पत्तिजन्मसु' । 'सन्ततौ सीव्यने स्यूतिः' इति च विश्वलोचने । अनुप्रेक्षालङ्कारः ॥२८॥

नर्मवश्यया वयस्ययाऽऽलेः श्रीतिलकं कलितं खलु भाले ।
रुचात्मनस्तु जगत्तिलकाया अन्वर्थभावमेवमथायात् ॥२९॥

स्थूल नितम्ब बार बार ऊँचे नीचे हो रहे थे जिससे वह ऐसी जान पडती थी मानो पुरुषायित क्रियाका अभ्यास ही कर रही हो ॥२६॥

अर्थ—कोई एक मान्य स्त्री ऊँचाई पर लगे फूलोको तोडनेकी इच्छासे लताके अग्रभाग पर चढी परन्तु पैर अच्छी तरह न जमनेके कारण वह स्तनो का भार धारण करनेके लिये असमर्थ हुईकी तरह शीघ्र ही पतिके ऊपर गिर पडी ॥२७॥

अर्थ—यद्यपि कामदेव अपनी चेष्टासे पाँच ही बाणोके द्वारा समस्त जगत् को पीडित करता है पर यहाँ तो असंख्यात उत्कृष्ट बाणोंके द्वारा उसके सहायकोंकी सन्तति विद्यमान है, यह सोच कर लोगोने वनकी पुष्परूपी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया अर्थात् इच्छानुसार अत्यधिक फूल तोड लिये ॥ २८ ॥

टीका—अथ कया नर्मवश्यया विनोदवशगतया वयस्यया सख्या, आलेः प्रतिसख्या भाले ललाटे खलु श्रीतिलकं नाम पुष्पं कलितं धृत, कीदृश्याः सख्याः ? आत्मनो रुचा शोभया जगत्तिलकाया विश्वशिरोमण्याः, अतस्तदन्वर्थभावमयात् सार्थकतामवाप तदा ॥२९॥

दत्तं दयितेनापि सुभागा श्रवणेऽशोकपुष्पमनुरागात् ।
प्रतीपपत्न्यास्तदेव किन्न समभूत्स्विदसीमशोकाङ्कम् ॥३०॥

टीका—दयितेनापि प्रियेणापि अनुरागात्प्रेमवशात् सुभगाया भाग्यशालिन्याः श्रवणे कर्णे दत्त स्थापित यदशोकपुष्पं तदेव प्रतीपपत्न्याः सपत्न्या. स्विदिति प्रत्युतासीमशोकस्यापूर्वस्या पश्चात्तापस्य चिह्नं किन्न समभूदेवेति वक्रोक्तिरलकारः ॥३०॥

लग्नाङ्गेषु च शुशुभे तेषां तावत्पुष्पप्रकरादेशाः ।
जगज्जिगीषोः स्मरस्य बाणोदिता लक्षवलना न तदा नो ॥३१॥

टीका—तदा तेषां जनानामङ्गेषु तावत् पर्याप्तमात्राया पुष्पाणां प्रकरः समूह एवादेश सनिर्देशो यस्याः सा जगज्जिगीषो. स्मरस्य बाणोदिता लक्ष्यवलना शरव्यपरम्परा न शुशुभे इति नो किन्तु शुशुभ एव ॥

अर्थ—किसी विनोदप्रिय सखीने दूसरी सखीके ललाट पर श्रीतिलक नामका फूल रख दिया। वह सखी अपनी कान्तिके द्वारा जगत्की तिलक थी शिरोमणि स्वरूप थी अत वह श्रीतिलक नामका फूल अपने नामकी सार्थकताको प्राप्त हो गया अर्थात् भाल पर रखे जानेके कारण सचमुच ही तिलक हो गया ॥ २९ ॥

अर्थ—किसी पतिने प्रेम वश सौभाग्यशालिनी प्रियाके कान पर अशोकका फूल लगा दिया परन्तु वही फूल सपत्नी सौतके असीम शोकका चिह्न क्या नही हो गया था ? वक्रोक्ति अलकार है ॥ ३० ॥

अर्थ—उस समय नर नारियोके शरीर पर, पर्याप्त मात्रामे पुष्प समूह हो जिसमे आदेश रूप था ऐसी जगत्को जीतनेके इच्छुक कामदेवके बाणोकी लक्ष्य परम्परा अवश्य ही सुशोभित हो रही थी। तात्पर्य यह है कि पुष्प समूह से सुशोभित नर नारी ऐसे जान पडते थे मानो जगद्विजयी कामदेवने उन्हें अपने बाणोंका निशाना ही बना रक्खा हो ॥३१॥

---

१. 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानावधारणे' इत्यमर ।

बद्धमुष्टिवलितोचितबाहुमुन्नमय्य कुचयुगलमुताहू ।
क्लममिषेण निजमोप्सितमेषा प्राणपतिं प्रति तदा सुवेषा ।।३२।।

टीका—बद्धमुष्टी च वलिते कुटिलतामिते चोचिते बाहू भुजे यत्र तदुत कुचयोः स्तनयोर्युगल द्वयमुन्नमय्य तदेषा सुवेषा योषा क्लममिषेणालसताव्याजेन प्राणपतिं प्रति निजमोप्सित स्वाभिलषितमाहाभिव्यक्तवती ॥

उच्चित्याधःस्थं कुसुमं तु परमबला यावत्संगन्तुम् ।
पदमदाशोकयष्टौ नामामूलं सा फुल्लैरभिरामा ।।३३।।

टीका—काचिदबलाऽधःस्थ कुसुमन्तूच्चित्य परं कुसुम संगन्तु यावदशोकयष्टौ पदमदात्तावत् सा पुनरामूल पूर्णरूपेण नाम फुल्लैरभिरामाभूविति विक् ।।३३।।

पुरा तु राजीवदृशा दत्तामनुस्मरन् वरमालासत्ताम् ।
प्रत्युपक्रियामिवाभिमानी तन्निगले क्षिप्तवानिदानीम् ।।३४।।

टीका—तु पुनः कश्चिदभिमानी जनः पुरा विवाह-समये राजीवदृशा कमल-चक्षुषा स्त्रिया दत्तां वरमालायाः सत्तामनुस्मरन्निह किलेदानीं तस्याः प्रत्युपक्रियामिव तन्निगले माला क्षिप्तवान् । उत्प्रेक्षालकारः ।।३४।।

अर्थ—उस समय उत्तमवेषको धारण करनेवाली किसी स्त्रीने, जिन पर बद्धमुष्टि तथा मुडी हुई दोनो कोमल भुजाएँ लग रही है ऐसे स्तन युगलको ऊपर उठाकर आलस्यके बहाने अपना अभिप्राय पतिसे प्रकट किया ।। ३२ ।।

अर्थ—किसी स्त्रीने अशोक यष्टिके नीचे स्थित फूलोको तोडकर ऊपर लगे हुए फूलोको तोडनेके लिये उस पर पैर रक्खा कि वह पुनः मूल-जड तक फूलो से रमणीय हो गई ।

भावार्थ—'**पादाघातादशोको विकसति च बकुलो योषितामास्यमद्यैः**' इस कवि समामके कारण स्त्रीके पैरका स्पर्श पाकर वह अशोकयष्टि पुनः नीचेसे लेकर ऊपर तक फूलोसे युक्त हो गई ।।३३।।

अथ--किसी अभिमाना पुरुषने विवाहके समय कमललोचना स्त्रीके द्वारा दी हुई वरमालाकी सत्ता स्मरण करते हुएके समान प्रत्यर्पणकी भावनासे उसके गलेमे माला डाल दी ।

भावार्थ—अभिमानी मनुष्य किसीके उपकारको विस्मृत नही करता। चूँकि स्त्रीने विवाहके समय पतिके गलेमे वरमाला डाली थी अतः इस समय उसका बदला चुकानेकी भावनासे पतिने भी उसके गलेमे माला डाल दी ।।३४।।

याच्ञोच्चकुसुमग्रहाय सहजालिङ्गनसुखाभ्युपायः ।
उवास दोर्भ्यां द्रुतं सचेता दशनांशुविजितशशिरुचिमेताम् ॥३५॥

टीका—एषोच्चकुसुमग्रहायोपरिदेशस्थपुष्पग्रहणाय यासौ सहजा याच्ञा सा किलालिङ्गनसुखस्याभ्युपाय इति मत्वा सचेता विचारशीलो नर एतां दशनानां दन्तानामंशुभिः किरणैर्विजिता पराजिता शशिनश्चन्द्रस्य रुचिः प्रभा यया तां दोर्भ्यां बाहुभ्यामुदासोत्थापितवानेव ॥३५॥

रमणं धृत्वा कापि करेण स्कन्धे रामा समादरेण ।
उदग्रपुष्पोच्चयोपलम्भे पुलकितेव सा पुनर्जजृम्भे ॥३६॥

टीका—कापि रामा समादरेण प्रेम्णा करेण स्वकीयेन रमणं पतिं स्कन्धेऽस्योपरिप्रदेशे धृत्वा रमणस्पर्शनेन पुलकितेव सोदग्रपुष्पोच्चयस्योपलम्भे जजृम्भे समर्था बभूव ।३६।

पवनप्रचारनिपतत्केशाऽपाकरणमिषाद्विशुद्धवेशाम् ।
उदग्रशुम्बस्थपाणिलेशां चुचुम्ब वक्त्रे पतिर्विशेषात् ॥३७॥

टीका—कस्या अपि पतिः स्वामी तां विशुद्धो वेशः समाचारो यस्यास्तामुदग्रे समुच्चैर्गतिशुम्बेऽप्रकाण्डे तिष्ठति लगति पाणिलेशो हस्ताग्रभागो यस्यास्तां पवनस्य प्रचारेण निपतन्ति ये केशास्तेषामपाकरण निवारण तस्य मिषात् वक्त्रे मुखे विशेषाच्चुचुम्ब तस्य न कापि बाधा प्रोभूत् ॥३७॥

अर्थ—ऊपर लगे हुए फूलको तोडनेके लिये किसी स्त्रीने पतिसे सहज याचना की। विचारशील पतिने सोचा कि यह आलिङ्गन सम्बन्धी सुख प्राप्त करनेका अच्छा उपाय है, ऐसा विचार कर उसने दाँतोकी किरणोसे चन्द्रकान्तिको जीतनेवाली स्त्रीको दोनो भुजाओंमे ऊपर उठा दिया (तथा कहा कि लो तुम्ही तोड लो) ॥३५॥

अर्थ—कोई स्त्री ऊँचाई पर लगे फूल तोडना चाहती थी इसके लिये उसने बडे आदरसे पतिके कन्धेपर हाथ रक्खा, पतिके स्पर्शसे वह रोमाञ्चित हो गयी, रोमाञ्चित होनेमे वह कुछ लम्बी हो गयी अत ऊँचाई पर लगे फूलोको प्राप्त करनेमे समर्थ हो गयी ॥३६॥

अर्थ—विशुद्ध—उज्ज्वल वेषवाली कोई स्त्री दोनों हाथोसे ऊपरकी शाखा पकडे हुए थी। इधर वायुके वेगसे खुलकर उसके केश मुखपर आ गये उन्हे दूर करनेके बहाने पतिने उसके मुखका बार-बार स्पर्श किया। स्त्रीकी ओरसे कोई बाधा नही हुई ॥३७॥

उदग्रशाखानिलग्नबाहोः सवेगवक्षःस्फुरणेनाहो ।
स्खलितं कुचाञ्चलं मृदुदत्याः कस्य न मोदकरमभूत्सत्याः ॥३८॥

टीका—तथैवोदग्रशाखायामुच्चैर्गतायां शाखायां निलग्ना सम्बद्धा बाहुर्भुजा यस्यास्तस्यास्तथा मृदुदय सुकोमला दन्ता यस्यास्तस्याः सत्या यद्वेगसहित वक्षसो हृदयस्य स्फुरणं तेन कारणेन स्खलितं प्रच्युतं कुचाञ्चल स्तनयोर्वस्त्रं तदहो कस्य मोदकरं हर्षदायकं नाभूत् किन्तु बभूवैवेति वक्रोक्तिः ॥३८॥

कुसुमेषोः शरजर्जरितापि या जनता स्वयमितस्तयापि ।
स्फुटं कुसुमसंधारणरीतिर्विषमगदं विषस्य भवतीति ॥३९॥

टीका—या जनता कुसुमेषोः स्मरस्य शरेण पुष्पेण जर्जरिता तया तदेतः स्फुटं स्पष्टमेव स्वयं कुसुमानां पुष्पाणां सन्धारणरीति रपि स्वीकृता, यतो विषस्यागदं प्रतीकारो विषमेव भवतीति निरुक्तिरस्त्यत्र किलेत्यर्थान्तरन्यासः ॥३९॥

सज्जनतया[1] वियुक्तो यावत्संयुज्यापि तरुरभूत्तावत् ।
कौतुकिताऽऽस्तां[2] विपल्लवित्वमप्याविरभूद्यतोऽपविस्त्वम्[3][4] ॥४०॥

अर्थ—कोमल दाँतोवाली कोई प्रशस्त स्त्री अपनी भुजासे ऊपरकी डाली पकड़े हुए थी इधर वेगसे उठी वक्ष स्थलकी धडकनसे उसके स्तनपरका वस्त्र नीचे खिसक गया। उस समय उसके स्तन वस्त्रका नीचे खिसकना किसके लिये हर्षदायक नही हुआ था। यह वक्रोक्ति अलकार है ॥३८॥

अर्थ—कामके बाणोसे जर्जरित होनेपर भी जनताने उस समय स्पष्टरूपसे फलो—कामके बाँणोको धारण करनेकी रीति अपनाई थी, सो ठीक ही है क्योकि विषकी औषधि विष ही होती है। यह अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥३९॥

---

१ सती समीचीना चासौ जनता तया, पक्षे सज्जनस्य भाव सज्जनता तया।

२. कौतुकानि पुष्पाणि विद्यन्ते यत्र स कौतुकी तस्य भाव कौतुकिता, विनोदसहितता च।

३ विगतं विनष्ट पल्लवित्व पत्रसहितत्व पक्षे विपदा लवा अंशा विद्यन्ते यस्य स विपल्लवी तस्य भाव।

४ अपगता विनष्टा वय पक्षिणो यत्र स अपविस्तस्य भाव अपविस्त्वम् अथवा न विद्यते यस्य पवनस्य विरवकाशो यत्र तस्य भाव ।

टीका—तत्र तदा सज्जनतया समीचीनया जनतयाऽथवा सुजनभावेन संयुक्य संयोगमवाप्यापि पुनर्यावद् वियुक्तस्तद्रहितोऽभूत्तथा वृक्षस्तावदेवापि कौतुकिता पुष्पवत्ताऽथवा विनोदभावस्तु दूरमास्तां विपल्लवित्वं पल्लवरहितत्वं तथा विपत्तियुक्तत्वमपि किलाविरभूत् प्रकटतामाप यतस्तत्रापवित्वं पक्षिभिश्च रहितत्वं तथा पस्य पवनस्य विरवकाशस्तद्रहितत्वमर्थात्सर्वशून्यत्वमभूत् ततः सज्जनता कदापि न त्याज्या हितैषिणेति समासोक्तिरलंकार' ।:४०।।

प्रियपरिमलितागुरुपरिणामौ　कलभनिकुम्भविभाभिरामौ ।
कुसुमभरपतत्परागसातौ सुदृशः कुचौ गुरुतरौ जातौ ।।४१।।

टीका—सुदृशः सुलोचनायाः कुचौ स्तनौ यौ कलभस्य हस्तिशावकस्य निकुम्भस्य मस्तकस्य निभा प्रभेव निभा ययोस्तौ तत एवाभिरामौ सुन्दरौ । किञ्च, प्रियेण भर्त्रा परिमलितौ मुहुर्मर्दितोऽगुरुचन्दनस्य परिणामो विलेपनं यद्वा लघुभावो ययोस्तौ । किन्तु कुसुमाना भर. पुष्पदाम योऽधुनावधारितस्तस्मात्पतन् समागच्छन् योऽसौ परागः पुष्परजस्तेन सा (शा) तौ कल्याणरूपावतो गुरुतरौ पूर्वापेक्षयाधिकोन्नतौ जातौ ।।४१।।

अर्थ—उम वनमे वनक्रोडाके समय जो वृक्ष **सज्जनता**—समीचीन जनसमूहसे युक्त थे, **कौतुकिता**—नाना प्रकारके पुष्पो अथवा संगीत आदि विनोदोंसे सहित थे, **विपल्लवित्व**—रङ्ग विरङ्गे विशिष्ट पल्लवो—पत्तोसे सहित थे तथा वायु और पक्षियोके सचारसे सहित थे, वे ही वृक्ष अब वनक्रीडाके अनन्तर **सज्जनता**—समीचीन जनतासे रहित हो गये, उनका पुष्प समूह नष्ट हो गया, उनके नीचे होनेवाले नाना विनोद समाप्त हो गये, और पक्षियोकी चहल कदम अथवा मन्द सुगन्ध वायुका संचार भी समाप्त हो गया ।

यहाँ समामोक्तिसे एक यह अर्थ अन्तर्निहित है कि जो व्यक्ति सज्जनता-सुजनभावसे सहित पश्चात् जब उसे छोड़ देता है तक उसके सब कौतुक-विनोद नष्ट हो जाते है, यह बात तो दूर है, विपत्तियोंके अंश भी उसे घेर लेते हैं यही नही वायुका सचार भी नष्ट हो जाता है—लोग बाग उसके पास आना जाना छोड देते हैं जिससे उसे शून्यताका अनुभव करना पडता है अत किसीको सुजनता नही छोडना चाहिये ।।४०।।

अर्थ—पतिके द्वारा बार-बार मर्दित होनेसे जिनपर लगा हुआ अँगुरु चन्दन का लेप छूट गया था और इसी कारण जो अगुरु—लघु हो गये थे ऐसे किसी सुनयनाके करिशावक के मस्तक के समान सुन्दर स्तन, पुष्पमाला से पड़ती हुई परागसे आनन्ददायक तथा गुरुतर श्रेष्ठ अथवा पहलेकी अपेक्षा अधिक उन्नत हो गये थे ।।४१।।

किसलयशकलोदितेन पद्मरागरुचि करद्वयं च सद्म ।
रसेन मञ्जुलदृशः पवित्र-विद्रुमसम्पदोऽपि परमत्र ।।४२।।

टीका—मञ्जुलदृशः स्त्रियाः पद्मरागस्य तन्नामरत्नस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य तत् करयोर्द्वयं युगलं तदत्र पुष्पावचयस्थाने किसलयानां सद्योजातपल्लवानां शकलानि खण्डानि तेभ्य उदितेन रसेन पवित्रस्य विद्रुमस्य प्रवालस्य या सम्पत् तस्या अपि परं सद्म स्थलं द्विगुणितरागरुचिमदभूदित्यर्थः ।।४२।।

दीर्घदर्शितां लब्धुमिवात उत्पले उपश्रुति स्म भातः ।
साम्प्रतं तुलयितुं नयनाभ्यां सन्निहिते खलु गभीरनाभ्याः ।।४३।।

टीका—साम्प्रतं खलु गभीरागाधयुता नाभिर्यस्यास्तस्याः श्रुत्योः श्रवणयोरुप समीपं नयनाभ्यां तुलयितु खलु सन्निहिते उत्पले कमले ते अतो दीर्घदर्शितां नयनगतां लब्धु सम्प्राप्तुमिवायाते भातः स्म शशुभाते । 'ईदूदेद्द्विर्वीति' सूत्रेणात्र प्रकृतिभावः । उत्प्रेक्षा-लंकारश्च ।।४३।।

दयितजनैरुत्कलितं दाम-भरं दधाना स्त्रियां ललाम ।
तदसहमानतयेव सदंसा अतिनतिमापुः स्फुरत्प्रशंसा. ।।४४।।

टीका—दयितजनैर्वल्लभैरुत्कलितं संक्षिप्तं दामभरं माल्यमण्डलं यल्ललाम वस्तुतो मनोहरं तं दधानाः स्त्रियां नारीणां सदंसाः समीचीनाः स्कन्धाः स्फुरति प्रकटीभवति प्रशंसा येषां ते तद्दामभरमसहमानतयेव किलातिनतिं पूर्वापेक्षयापि किलाधिकां विनति-मापुः स्वीचक्रुरुत्प्रेक्षालंकार. ।।४४।।

अर्थ—किसी सुनयना-स्त्रीके पद्मरागमणिके समान कान्तिवाले दोनो हाथ पल्लव खण्डोंसे उत्पन्न रस-रङ्गके द्वारा पवित्र मूँगाकी शोभाके भी स्थान हो गये थे—उनकी लालिमा दूनी हो गयी थी ।।४२।।

अर्थ—गहरी नाभिवाली किसी स्त्रीके कानोके समीप दीर्घदर्शिताको प्राप्त करनेके लिये जो नील कमल सुशोभित हो रहे थे वे अब इन नेत्रोके साथ अपनी तुलना करनेके लिये ही मानो निकटस्थ हो गये थे अर्थात् कानोंसे कुछ खिसक-कर नेत्रोके पास आ गये थे । यह उत्प्रेक्षालकार है ।।४३।।

अर्थ—पतिके द्वारा डाली हुई मालाओके समूहको जो सचमुच ही अत्यन्त मनोहर था, धारण करने वाले स्त्रियोके कन्धे अत्यधिक प्रशसित हो रहे थे उस प्रशसाको सहन नही कर सके इसीलिये अत्यन्त नीचे हो गये थे । सज्जन पुरुष अपनी प्रशसा सुन नम्र हो ही जाते है ।।४४।।

वनश्रिया[1] समुचितपुष्पायाः सम्पर्कितया सभ्यनिकायाः ।
युक्तमेव संस्नातुमिदानीमापुर्जलस्रुतेर्विभवालीम् ॥४५॥

टीका—अथेदानीं सभ्यानां निकायाः समूहास्ते समुचितं पुष्पं फलकारणं मासिकरजो वा यस्यास्तस्या वनश्रिया वनस्य शोभायाः स्त्रिया वा संपर्कितया समागमभावेन हेतुना संस्नातुं स्नानं कर्तुं जलस्रुतेः सरितो विभवालीं विभवस्य सीमानमापुः प्राप्नुवन्तस्तद्युक्त-मेव ॥४५॥

उपमधुवनमद्रिराजकं च स्फुटमनुरागितयेव समञ्चन् ।
सुखमुपलभमान एष लोकः सम्बभूव शिवकेलिसदोकः ॥४६॥

टीका—एष लोकोऽनुरागितया प्रेम्णा, उपमधु वसन्तर्तुं सहितं तथाद्रिभिर्नानावृक्षै राजकं शोभितं स्फुटमिव स्पष्टं यथा स्यात्तथा समञ्चन् सेवमानोऽतः सुखमुपलभमानोऽ-धुना शिवस्य जलस्य या केलिः क्रीडा तस्या अपि सदोकः स्थानं सम्बभूव, जलकेलि-करणायोद्यतोऽभूत् । पक्षे मधुवने विराजमानमद्रिराजकं सम्मेदाचलमाराधयन्नैहिकसुख-प्राप्तिपूर्वकं शिवकेलिसदोकोऽपि परम्परयेति सूचितमतः समासोक्तिरलंकारः ॥४६॥

रसप्रसन्नास्तरुणाक्रान्ता वलिभिर्मनोज्ञमध्या कान्ता ।
समाप पाथोजमुखी सरितां वयःप्रतीता तुलनाकलिता ॥४७॥

अर्थ—तदनन्तर इस समय सभ्य मनुष्योंके समूह समुचित पुष्प—फूलोंसे सहित (पक्षमे रजोधर्मसे युक्त) वनश्री—वनकी लक्ष्मी (पक्षमे स्त्री) के सम्पर्क—समागम होनेके कारण अच्छी तरह स्नान करनेके लिये नदी तटकी ओर गये यह उचित ही था ॥४५॥

अर्थ—यह जन समूह वसन्त ऋतुसे सहित तथा नानावृक्षोंसे सुशोभित वनका स्पष्ट रूपसे सेवन कर—स्वेच्छापूर्वक वन विहार कर सुखको प्राप्त हुआ। पश्चात् जल क्रीड़ाका भी उत्तम स्थान हुआ—वन क्रीड़ाके अनन्तर जल क्रीड़ाके लिये उद्यत हुआ। यहाँ श्लिष्ट शब्द विन्याससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है—यह जनसमूह मधुवनके समीप विद्यमान पर्वतराज सम्मेदा-चलकी अच्छी तरह आराधना करता हुआ ऐहिक सुखको प्राप्त हुआ और परम्परासे शिवकेलि—मोक्षसुखका भी पात्र हुआ। समासोक्ति अलंकार है ॥४६॥

---

१. 'अद्रि शैले द्रुमे सूर्ये' इति विश्वलोचनः ।
२. 'शिवं मोक्षे सुखे जले' इति विश्वलोचनः ।

टीका—कान्ता स्त्रीजातिरपि सरितां नदीं समाप तुलनया तुल्यतया कलिता स्वीकृता सती। यतो रसेन भृङ्गारेण पक्षे जलेन प्रसन्नाह्लादकारिणी तथा तरुणेन यूना स्वभर्त्रा क्रान्ता संयुक्ता पक्षे तरुणा वृक्षनामपदार्थेन क्रान्तोभयोः पार्श्वयोरलंकृता। आवलिभिस्तरङ्गैर्मनोज्ञं मध्यं यस्याः सा तथा वलिभिर्भङ्गीभिर्मनोज्ञं मध्यं यस्यास्सा। तथा पाथोजं कमलमेव मुखं तदिव वा मुखं यस्याः सा पाथोजमुखी। तथा वयोभिर्जल-पक्षिभिर्युक्ता वयसा यौवनेन प्रतीतेति किल श्लेषालंकारः ॥४७॥

पाद्यमुत्तमं सफेनहासाऽऽतिथ्यहेतवेऽदात्सरिता सा।
कोकोक्तिभिः कृतक्षेमकथा सत्तरङ्गहस्तप्रणतिपथा ॥४८॥

टीका—सा सरिता तेषामागतानामातिथ्यहेतवे सफेनहासा फेनरूपेण हासेन सहिता सती, कोकस्य चक्रवाकस्योक्तिभिः कृता क्षेमस्य कथा यया सा सती, सन्तो ये तरङ्गास्त एव हस्तास्तैः प्रणतेर्नम्रतायाः पन्था यस्यास्सा सती, किलोत्तम पाद्यं जलं पदप्रक्षालनायादात् ददौ। रूपकालंकारः ॥४८॥

विभिन्नशैवलदलच्छलेन मुदङ्कुरानपि दधती तेन।
लास्यं प्रचलन्तीभिरूर्मिभिः क्लृप्तवतीवामानि जन्मिभिः ॥४९॥

टीका—सा सरिता विभिन्नानां जलमलानां दलस्यच्छलेन तेन व्याजेन मुदङ्कुरान्

अर्थ—उस समय अपनी तुलनासे युक्त स्त्रीजाति, नदीको प्राप्त हुई क्योकि जिस प्रकार स्त्रीजाति रसप्रसन्ना—शृङ्गार रससे आह्लाद करने वाली होती है उसी प्रकार नदी भी रसप्रसन्ना—जलसे आह्लाद उत्पन्न करने वाली थी। जिस प्रकार स्त्री तरुणाक्रान्ता-युवक पतिसे आक्रान्त होती है उसी प्रकार नदी भी तरुणाक्रान्ता—दोनो तटो पर खडे वृक्षोसे सहित थी। जिस प्रकार स्त्रीका मध्यभाग वलि-विशिष्ट रेखाओंसे मनोहर होता है उसी प्रकार नदीका मध्यभाग भी आवलि—तरङ्गोसे मनोहर था और जिस प्रकार स्त्री पाथोजमुखी—कमलके समान मुखवाली होती है उसी प्रकार नदी भी पाथोजमुखी-कमलरूपी मुखसे सहित थी। यहाँ श्लेषालकार है ॥४७॥

अर्थ—उन आगत नरनारियोके अतिथिसत्कारके लिये जिसने फेनरूपी हास्यको धारण किया है, चकवोकी उक्तियोसे जिसने कुशल समाचार की प्रच्छना की है तथा विद्यमान तरङ्गरूपी हाथोके द्वारा जिसने नमस्कार करने की पद्धति पूर्ण की है ऐसी उस नदीने उन्हे पाद प्रक्षालनके लिये उत्तम जल दिया ॥४८॥

अर्थ—जो नाना प्रकारके शैवालदलोके छलसे हर्षके रोमाञ्च धारण कर

हर्षजन्यरोमाञ्चानपि दधती स्वीकुर्वती तथैव प्रबलस्तीभिरूर्मिभिर्लहरीभिर्लास्यं नृत्यं कल्पयन्ती कुर्वतीव जनैर्मिर्लोकैरमानि कथिता । अपह्नुत्यलंकारोऽत्र कथितः ॥४९॥

पर्यटतामिव विकासिकमलेषु शिलीमुखानां गीतिं तेषु ।
शुश्रूषवोऽप्यपाङ्गैः स्त्रीणां जिता हरिण्यो द्रुताश्च रीणाः ॥५०॥

टीका—तेषु नद्यां सजातेषु विकासिकमलेषु प्रफुल्लितपद्मेषु पर्यटतां विचरणं कुर्वतां शिलीमुखानां भ्रमराणां गीतिं गानं शुश्रूषवोऽपि श्रोतुमिच्छावत्योऽपि हरिण्यो मृगयोषितस्तासां स्त्रीणां तत्रागतानामपाङ्गैर्नेत्रकोणैर्जिता. पराभूताः सत्यो रीणा उदासीना अतएव द्रुतास्ततोऽन्यत्र गताः । स्त्रीणा नेत्रसौन्दर्यं मृगीभ्योऽधिकमिति ॥५०॥

पङ्केजातं जितं मुखेन तव सुकेशि ! साम्प्रतमसुखेन ।
मूर्ध्नि मिलिन्दावलिच्छलेन कृपाणपुत्रीं क्षिपदिव तेन ॥५१॥

तव नयनयोश्च सौन्दर्येण पश्य शस्यवाग्जितमिति तेन ।
ह्रियेव मीनमण्डलं विमले विलीयते गङ्गायास्तु जले ॥५२॥

यन्मध्यं च सरसतामञ्चल्ललितावर्तं गम्भीरं च ।
नाभिभवोचितसम्पत्तितयाऽऽकर्षति चित्तं मम चातिशयात् ॥५३॥

सुराजहंसप्रतिपत्तिमती कमलानुसारिणीयं तु सती ।
अविकलकुशला त्वमिव विभाति हे सुलोचने ! नवस्य जातिः ॥५४॥

सरसेणेत्थं संकलितायाः श्रीवचनेन भर्तुरबलायाः ।
अन्तरार्द्रभावेनाङ्कुरितं गात्रमिहासीत्तटमिव सरितः ॥५५॥

(पञ्चभि. कुलकम्)

रही थी ऐसी उस नदीको लोगोने चलती हुई लहरोसे नृत्य करती हुईके समान माना था। यहाँ अपह्नुति अलंकार है ॥४९॥

अर्थ—नदीमे विकसित कमलोपर विचरण करनेवाले भ्रमरोंके गानको सुननेकी इच्छुक होनेपर भी हरिणियाँ स्त्रियोके कटाक्षोसे पराजित हो गयी थी इसीलिये वे उदासीन हो वहाँसे अन्यत्र चली गयी थी। यह अपह्नुति अलंकार है ॥५०॥

अर्थ—हे सुकेशि ! चूकि इस समय तुम्हारे मुखने कमलोको जीत लिया है इसलिये वह खेदसे भ्रमरावलिके बहाने अपने मस्तकपर मानो छुरी चला रहा है। हे मधुर भाषिणि ! देखो. तुम्हारे नयनोके सौन्दर्यसे मछलियोका समूह जीत लिया गया है इसीलिये वह लज्जासे गङ्गाके निर्मल जलमे विलीन हो रहा

टीका – हे सुकेशि सुन्दरकेशवति, पङ्केजातमिव कमल तव मुखेन जितं पराभूतं सत् तेन कारणेन साम्प्रतमसुखेन खेदेन मिलिन्दानां भ्रमराणामावलेश्छलेन मूर्ध्नि स्वशिरसि कृपाणपुत्रीं छुरिकां क्षिपतीव किल। किञ्च, हे शस्यवाक् मञ्जुभाषिणि पश्येदं मीनानां मण्डलं तव नयनयो सौन्दर्येण जितमस्तीति कारणेन ह्रिया लज्जयेव किल विमले गङ्गाया जले विलीयते गुप्तो भवति तु तावत्। तथा हे सुलोचने नद्यस्य जातिरिय तु त्वमिव विभाति। यत इयमविकलमनल्प कुशं जल लाति स्वीकरोति, त्वं चाविकलकुशला बुद्धिमती। इय तु कमलानि पङ्कजान्यनुसरति त्वं च कमलां लक्ष्मी-मनुसरतीति कमलानुसारिणी। यदस्या मध्य सरसतां सजलतां सजलतां सौन्दर्यसहित-तां चाञ्चत् स्वीकुर्वत्। ललितावर्तं सुन्दरपरिभ्रमणयुक्त गम्भीर च। किञ्च, अभि-भवो न भवति यस्या इत्युचिता सम्पत्ति· पक्षे नाभौ तुण्डिकायां भवतीति नाभिभवा

है। हे सुनयने! यह नदीकी जाति और तुम एक समान हो। क्योंकि जिस प्रकार नदीका मध्यभाग **सरसता**—सजलताको प्राप्त है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी **सरसता**—स्नेह अथवा शृङ्गारसे सहितताको प्राप्त है। जिस प्रकार नदीका मध्य भाग **ललितावर्त**—सुन्दर भँवरोसे सहित है उसी तरह तुम्हारा मध्यभाग भी **ललितावर्त**—सामुद्रिक शास्त्रमे प्रतिपादित सुन्दर रोम-चिह्नोसे सहित है। जिस प्रकार नदीका मध्य भाग **गंभीर**—गहरा है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी (नाभिकी अपेक्षा) **गभीर-गहरा है**। जिस प्रकार नदीका मध्यभाग **नाभिभवोचित सम्पत्ति**—आदरके योग्य उचित शोभासे हमारे चित्तको अत्यन्त आकर्षित कर रहा है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी **नाभिभवोचित सम्पति**—नाभिसम्बन्धी सौन्दर्य सम्पत्तिसे हमारे चित्तको अत्यन्त आकर्षित कर रहा है। जिस प्रकार नदी **सुराजहंस**[3]--उत्तम राजहंस पक्षियोके सद्भावसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **सुराजहंस**—उत्तम राजाओके सन्मानसे सहित हो। जिस प्रकार नदी **कमलानुसारिणी**[4]—कमलोसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **कमलानुसारिणी**—लक्ष्मीका अनुसरण करने वाली

---

१ 'रस स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विष। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' ॥ इति विश्व०।

२ 'आवर्तश्चिन्तने चाऽऽवर्तने वाप्यम्भसा भ्रमे'। इति विश्व०।

३ 'राजहंसस्तु कादम्बे कलहंसे नृपोत्तम' इति विश्व०—'राजहंसास्तु ते चञ्चु-चरणैर्लोहितै: सिता' इत्यमर।

४ 'कमल जलजे नीरे क्लोम्नि तोषे च भेषजे। कमलो मृगभेदे स्यात् कमला श्रीवर-स्त्रियाम्। इति विश्व०।

योषिता सम्पत्तिसत्तया मम चित्तं चातिशायावाकर्षति [हरति सतीयमित्थं सरसेन भर्तुः स्वामिना श्रीवचनेन संकलितायाः समादरीकृताया अबलाया गात्रं शरीरं सरितो नद्याः स्तटमिवान्तरार्द्रभावेनान्तःप्रेम्णा क्लिन्नतया वेहाङ्कुरितं रोमाञ्चितं चाङ्कुरैर्युक्तं चासीद् बभूव। तथा राजहंसस्य पक्षिणो भूपशिरोमणेश्च प्रतिपत्तिमतीयं च त्वं च ॥५१-५५॥

तटस्थितानां वारि योषितां मुखारविन्दच्छविदलोदितम्।
श्रियमुपेत्य साम्प्रतं ललाम सर्वतोमुखं बभूव नाम ॥५६॥

टीका—साम्प्रतं तटस्थितानां योषितां स्त्रीणां मुखारविन्दानां छवयः प्रतिबिम्बानि तासां दलेन समूहेनोदितां प्राप्तां श्रियं शोभामुपेत्य वारि जलं तत्सर्वतोमुखमिति ललाम सार्थनाम बभूव। नामेति पादपूर्तौ ॥५६॥

जले विशन्ती श्रीरमणीया प्रतिमेवामले निजीयाम्।
करावलम्बार्थमिहायातां मेने जलदेवतां तदा ताम् ॥५७॥

टीका—या श्रीरमणीया युवतिः सा विशन्ती नद्यन्तर्यान्ती सती तदाऽमले जले निजीयामेव प्रतिमां तामिह करावलम्बार्थमायातां जलदेवतां मेने। देवतातुल्यशोभमा सा किलेति भाव। भ्रान्तिमानलंकारश्च ॥५७॥

हो और जिस प्रकार नदी **अविकलकुशला**[1]—पूर्ण जलको धारण करने वाली है उसी प्रकार तुम भी **अविकलकुशला**—सपूर्ण कुशल-क्षेमको धारण करनेवाली हो। इस प्रकार पतिके **सरस**—रसीले वचनोंसे सन्मानित स्त्रीका शरीर आन्तरिक प्रेमसे सरिता तटके समान **अङ्कुरित**—शष्पप्ररोहो सहित पक्षमे रोमाञ्चित हो गया ॥५१-५५॥

अर्थ—तटपर स्थित स्त्रियोके मुखकमल सम्बन्धी प्रतिबिम्बोके समूहसे जल, 'सर्वतोमुख' इस सार्थक नाम वाला हो गया था।

भावार्थ—संस्कृतमे 'सर्वतोमुख' पानीका एक नाम है उस समय नदीके तटपर स्थित स्त्रियोके मुख पानीमे प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिये सब ओर मुख ही मुख दीख रहे थे अतः कवि की दृष्टिमे 'सर्वतोमुख' नाम सार्थक हो गया ॥५६॥

अर्थ—निर्मल जलमे प्रवेश करती हुई किसी सुन्दरीने अपनी परछाईंको हस्तावलम्बन देनेके लिये आई हुई जल देवता माना था ॥५७॥

---

१. 'क्षरं वनं कुशं नीरम्' इति धनंजय.।

न्यस्य मृदुपदं पुराभिगाधं कामिचित्तवद् वारि अगाधम् ।
रागिभिरङ्गैरनुरञ्जयति स्म चान्तराविष्टतया युवतिः ॥५८॥

टीका—युवतिर्वारि मद्या जलं कामिनश्चित्तमिव कामिचित्तवत् पुरा प्रथमं तु अभिगाधं यावदवगाहनीय तावन्मृदु पदं न्यस्य प्रीतिजनकं कोमलवचनमुक्त्वा ततः पुनरगाधमतलस्पर्शमपि तदन्तराविष्टतयाऽभ्यन्तःप्रवेशेन रागिभिरङ्गैर्यावकादियुक्तचरणादिभिः प्रेमवद्धैः कटाक्षापाङ्गादिभिरनुरञ्जयति स्मानुरञ्जयामास । समासोक्तिरलंकारः ॥५८॥

आत्तमात्तमप्यञ्जलौ जलमधीरनेत्रा सिञ्चितुं बलम्(रम्) ।
निजनेत्रप्रतिबिम्बसंश्रयाज्जहावहो सविसारशङ्कया ॥५९॥

टीका—अधीरे चपले नेत्रे नयने यस्यास्सा युवतिर्वरं स्वभर्तारं सिञ्चितुं स्नपयितुमञ्जलौ जलमात्तमात्तं मुहुर्मुहुर्गृहीत्वापि निजनेत्रयोः प्रतिबिम्बे प्रतिमे तयोः संश्रयात् समाश्रयाद्धेतोर्विसाराभ्यां मीनाभ्यां सहितं सविसारं तस्य शङ्कया जहौ त्यजति स्माहो-आश्चर्यकरमेतत् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥५९॥

मनोभुवा पाण्डुनि कपोलके नतभ्रुवः प्रतिबिम्बितालके ।
स्फुरदगुरुवरो (लो) वारशङ्कया मृष्टमिहारब्धं वयस्यया ॥६०॥

अर्थ—किसी युवतिने पहले, कामी मनुष्यके चित्तके समान प्रवेश करनेके योग्य (कम गहरे) जलमे कोमल पैर रक्खा पश्चात् अतलस्पर्शी गहरे पानीमे भीतर प्रविष्ट होकर माहुर आदिकी लालिमासे युक्त अङ्गोके द्वारा उस जलको अनुरञ्जित-लाल लाल कर दिया ।

यहाँ समासोक्तिसे यह अर्थ ध्वनित है कि जिस प्रकार कोई स्त्री पहले मृदु-पद—कोमल वचन कहकर पतिके हृदयको टटोलती है—उसके अनुरागका अंदाज लगाती है । पश्चात् धीरे-धीरे उसके अन्तर—हृदयमे प्रवेशकर अपने राग वर्धक अङ्गोके द्वारा उसे अनुरक्त कर लेती है—प्रेमपाशमे बद्ध कर लेती है उसी तरह यहाँ युवतिने पहले उथले—कम व गहरे पानीमे अपने कोमल पैर रक्खे पश्चात् गहरे पानीमे प्रविष्ट हुई और अपने हस्तपाद आदि अङ्गोसे उसे अनुरक्त कर दिया—लाल कर दिया ॥५८॥

अर्थ—कोई चञ्चलाक्षी पतिको नहलानेके लिये अञ्जलिमे बार बार पानी लेती थी परन्तु उसमे अपने ही नेत्रोका प्रतिबिम्ब पडनेसे उसे मछलियोकी शङ्का हो जाती थी । इसलिये वह पानीको यू ही छोड देती थी । यह भ्रान्तिमान् अलकार है ॥५९॥

टीका—इह जलकेल्यवसरे नते भ्रुवौ यस्यास्तस्याः सुलोचनाया मनोभुवा कामदेवेन पाण्डुनि स्वच्छाकारे कपोलके गण्डमण्डलेऽलग्न प्रतिबिम्बिताः अलकाः रशा यत्र तस्मिन् स्फुरता मगुरोबला (रा) मां पत्राणामुबारा स्पष्टा या शङ्का तया हेतुभूतया वयस्यया सख्या सम्मृष्टुं परिमार्जितुमारब्धम् । सन्देहोऽलंकारः ॥६०॥

सुतनोर्मकरन्दातिशयेन स्माश्रितालिगुञ्जनमिति तेन ।
श्रितसंसर्गसुखं वियोगसात्पूत्कुरुते श्रवणोत्पलं रसात् ॥६१॥

टीका—सुतनोर्युवत्याः श्रवणोत्पलं कर्णगतकमलं यत्किलश्रितससर्गसुखं येन तस्याः संसर्गस्य सुख लब्ध तदधुना वियोगसात् विरहमनुभवत्सत् रसाद्विगत् सुखानुभवनात् किल तेन स्वप्रसिद्धेन मकरन्दातिशयेन सुगन्धबाहुल्येन श्रितं समालब्धमलिगुञ्जन भ्रमराणां रोदनं येन तदिति पूत्कुरुते स्म । उत्प्रेक्षालंकारः ॥६१॥

भूषणभङ्गभयादिवाधुनाऽम्भो निर्ममे स्त्रियां तु साधुना ।
फेनसंचयेनोरसि हारं शैवलैः कपोले दलसारम् ॥६२॥

टीका—अम्भो नद्या जल तदधुना स्त्रियां नारीणां भूषणानां किलालकाराणां यो भङ्गस्तस्माद्भयादिव तु पुनस्तासामुरसि साधुनाऽभ्युचितेन फेनसचयेन तु हार मुक्तादाम तथा कपोले गण्डमण्डले शैवलैर्जलमलैर्दलाना पत्राणां सार समुचितांशं निर्ममे चकारेत्युत्प्रेक्षा ॥६२॥

अर्थ—नतभौंहोवाली अर्थात् नीचेकी ओर देखनेवाली किसी स्त्रीके कपोल—गाल काम व्यथासे पाण्डुवर्ण-स्वच्छ हो गये और उनमे उसीके केशोका प्रतिबिम्ब पड रहा था। सामने खड़ी उसकी सहेलीने समझा कि यह इसके कपोलोपर अगुरुपत्र-अगुरुचन्दनसे निर्मित काली काली पत्र रचना है अत. उसने उसे धोना शुरू कर दिया। यह संदेहालंकार है ॥६०॥

अर्थ—किसी स्त्रीके कान पर जो नील कमल लगा हुआ था उसके ऊपर मकरन्द की तीव्र सुगन्धके कारण भ्रमर गुजार कर रहे थे। इससे ऐसा जान पडता था कि जिसने स्त्रीके संसर्ग से सुखका अनुभव किया था ऐसा वह नील कमल अब जल क्रीडाके समय कानसे जुदा होनेका प्रसङ्ग पाकर दु.खसे मानो रो ही रहा हो। यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥६१॥

अर्थ—नदीके जलको इस बातका भय लगा कि हमारे द्वारा स्त्रियोके आभूषण नष्ट हो गये हैं इस भयसे ही मानो उसने संचित फेनसे वक्षःस्थलपर मोतियोका हार बना दिया और कपोलों पर शैवालके द्वारा श्रेष्ठ पत्र रचना कर दी ॥६२॥

वपू रम्यं मम वक्त्रविधानमाहृता सरोजात्सुषमा न ।
इति किल वारिणि निममज्ज मुहुः शपनायेशान्तिकं जितकुहूः ।।६३।।

टीका—जिता कुहू: कोकिलस्य शब्दो यया सा नारी, ईशस्यान्तिकं स्वामिनः समीपम्। हे नाथ! मया सरोजात्कमलात्सुषमा शोभा न हृता, किन्तु मम वक्त्रस्य विधानं तत्स्वयमेव रम्यमस्तीति किल शपनाय स्पष्टीकरणाय मुहुर्वारंवारं वारिणि निममज्ज। उत्प्रेक्षालंकारः ॥६३॥

निमज्जितायाः जले जवेन नेत्रानुमितं मुखं सुखेन ।
तदङ्गरागगन्धलुब्धेन सम्पतता रोलम्बकुलेन ।।६४।।

टीका—जवेनानभिज्ञातरूपेण जले निमज्जितायाः निमग्नायाः वल्लभायाः मुखं तस्या अङ्गे यो रागश्चन्दनादिकृतो लेपस्तस्य गन्धे लुब्धेनानुरागयुक्तेनातस्तत्र सम्पतता समागत्य पर्यटता रोलम्बानां भ्रमराणां कुलेन समूहेन हेतुना सुखेनानायासेनैव नेत्रा स्वामिनाऽनुमितं ज्ञातमित्यनुमितिरलंकारः। 'रोलम्बः षट्पदो भृङ्गश्चञ्चरीकोऽलिरित्यपि' इति कोशः ।।६४।।

सुगुरुश्रोणिजुषः शनैः शनैर्जले प्लवन्त्यास्तर्कितं जनैः ।
उरोजयुगलं तत्सहकारि सहजालाबुफलप्रतिहारि ।।६५।।

टीका—सुगुरुश्रोणिजुषोऽत्यन्त गुरुं श्रोणिभरं वहन्त्या अपि शनैः शनैरपरिश्रमेण

अर्थ—कोयलकी कूकको जीतने वाली कोई स्त्री पतिके समीप पानी मे बार-बार डुबकी लगा रही थी मानो वह यह स्पष्ट करनेके लिये कि हे नाथ! मैंने कमलसे उसकी शोभाको नही चुराया है मेरे मुखका जो विधान है वह स्वय स्वत ही रमणीय है।

भावार्थ—मेरे मुखकी सुन्दरता देख आप मुझपर यह आरोप न लगावें कि मैंने यह कमलसे छीन ली है। मेरी मुखकी शोभा स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं। इसीलिये तो पानीमे बार-बार डूबनेपर भी वह ज्यो की त्यो बनी हुई है। उत्प्रेक्षालकार है ।।६३।।

अर्थ—किसी स्त्रीने बेगसे—पतिको जताये बिना ही पानीमे डुबकी लगा ली। उसके अङ्गरागकी सुगन्धके लोभी भ्रमरोका समूह वहाँ मँडराने लगा। उस भ्रमर समूहसे पतिको अनायास ही अनुमान हो गया कि यह डूबी है। अनुमिति अलकार है ।।६४।।

अर्थ—कोई एक स्त्री स्थूल नितम्ब वाली होकर भी पानीमे धीरे-धीरे

जले प्लवन्त्यास्तरन्त्या युवत्याः सहजयोः स्वभावसम्पन्नयोरलाबुफलयोः प्रतिहार्यमुकरणकारि यदुरोजयुगलं स्तनद्वयं तत्सहकारि सहायकर तर्कितं विचारितं जनैस्तत्र त्यप्यनुमितिरलंकारः ॥६५॥

पृथुलहरितया मुरारिरूपं कमिति जना आत्मनः स्वरूपम् ।
सविग्धाविग्धतया तद् देवमयं चानुययुः ख्यातम् ॥६६॥

टीका—जनास्तद्वारि पृथवो लहरयो भङ्गा यत्र तत्तया । अथवा पृथुलश्चासौ हरिश्च तत्तया मुरारिरूपं नारायणरूपमनुययुः । तथा कमिति नामतया आत्मनः स्वरूपमनुययुरित्येवं संविग्धाविग्धतया ख्यात देवमय मेघसन्तानत्वादनुययुरनेकप्रकारं तत्तावदिह ।६६।

पुमांसमा॰ीनमिहानुमितिमंसमात्रके तद्वदघ्नमिति ।
आत्मनोऽपि कृत्वा निमज्जतो साऽऽश्लेषिजवात् प्रेमिणा सती ॥६७

टीका—इह पुमासमंसमात्रके स्कन्धपर्यंन्तजले किलासीनमित्यनुमितिं कृत्वा तथैवात्मनोऽपि तद्वध्नमसमात्रमेव स्यादित्यनुमितिं कृत्वा तत्र निमज्जती सती सा केनापि प्रेमिणा जवादेवाश्लेषि समालिङ्गिता ।।६७॥

नितम्बमाधिस्योन्नमन्नितः पयःप्रवाहोऽवाप योषितः ।
मन्वरस्य कन्दरप्रवेशलीलामुदरगह्वरेऽप्येषः ॥६८॥

अनायास तैर रही थी अत लोगोंने सहज तुम्बीफलका अनुकरण करनेवाले स्तनयुगलको उसका सहायक माना था। यह भी अनुमिति अलंकार है ॥६५॥

अर्थ—यह पृथुलहरितया—बडी-बडी लहरोसे युक्त होनेके कारण जल है, अथवा पृथुल-हरितया—स्थूल-पुष्ट शरीर हरि-विष्णु रूप होनेके कारण मुरारि-कृष्णरूप है अथवा 'क' इस नाम सादृश्यके कारण आत्मस्वरूप है, इस प्रकार सदिग्ध असंदिग्धपनेसे प्रसिद्ध देवरूप है—देवता रूप है मेघरूप है ऐसा समझकर लोग उसका अनुगमन कर रहे थे उसका सेवन कर रहे थे तात्पर्य यह है कि वह नदी का जल अनेक रूप था ॥६६॥

अर्थ—स्कन्ध पर्यन्त गहरे पानी मे किसी पुरुषको खडा देख स्त्रीने सोचा कि यह मेरे लिये भी स्कन्धपर्यन्त गहरा होगा, ऐसी सोच वहाँ जाकर स्त्री डूबने लगी परन्तु उसके प्रेमीने वेगसे निकाल कर उसका आलिङ्गन किया ॥६७

---

१ 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु ।
कं सुखे वारिशीर्षे च' इति विश्व० ।

२ 'देवो राज्ञि सुरे देवे' इति विश्व० ।

टीका—पयसः प्रवाहः स योषितो नार्या नितम्बं श्रोणिपृष्ठभागमाभित्याधिकूलयेत उन्नमन् उन्नतिभाव गच्छन् सन्नेषोऽपि पुनस्तस्या एवोवरगह्वरे गभीरतरे नाभिकुहरे मन्दरस्य महापर्वतस्य कन्दरे गुहामध्ये प्रवेशम्य लीलामवाप। योऽसावुद्धततामेति तस्या अभिभवो गर्तपातो वावश्यभावीति चिन्त्यम् ॥६८॥

निरस्य शैवालदुकूलमारान्मध्यं स्पृशति मानुषे वाराम्।
ततेरानतं त्रपयेवातः कमलमाननं बभूव वा तत् ॥६९॥

टीका—वारां तते नद्या जलपङ्क्ते शैवलमेव दूकूलं वस्त्र निरस्यापाकृत्याराच्छीघ्र-मेव मानुषे नरे तस्या मध्य देश स्पृशति सति त्रपया लज्जयेव वा तत्प्रसिद्धं कमलमेवानन-माननमेव वा कमल तदानत बभूव नम्रता जगाम। रूपकयुक्तसमासोक्ति ॥६९॥

प्रियास्यमब्जं वा सस्फाति भ्रमो विभ्रमैर्निरकाशीति।
वारिरुहामतिदूरवर्तिभी रसिकस्य मनोऽभूत्तमामभि ॥७०॥

टीका—इद दृश्यमान प्रियाया आस्य मुखं वाब्ज यत् सस्फाति सुविकसितमस्ती-त्येष भ्रम सन्देहोऽसौ वारिरुहादतिदूरवर्तिभि कमले कदापि न सभवद्भिर्वि भ्रमैर्निरकाशि दूरीकृतोऽभूदेव रसिकस्य मनोऽभि भिया वर्जितमभूत्तमाम्। यदेतद् विभ्रमैर्युत तदेव प्रिया-मुखमिति निर्णय जगामेति भ्रमपरिहारोऽलकार स्त्रीमुख कमलादपि वरमिति च ॥७०॥

शीतार्तिमतेव वाससा रसैर्निषेकाद्विस्फुरद्दृशाम्।
वासोष्मजुषोः स्तनयो शीत-समीरभाजागतं भुवीतः ॥७१॥

अर्थ—जो पानीका प्रवाह स्त्रीके उन्नत नितम्बका आश्रय पा उछल रहा था वही इधर उसके नाभिगर्तमे प्रवेश कर रहा था। इस तरह वह किसी ऊँचे पर्वतकी कन्दराओमे प्रवेश करनेकी लीलाको प्राप्त होता है। भाव यह है कि जो उद्धनता दिखलाता है उसका पतन होता ही है ॥६८॥

अर्थ—जब किसी पुरुषने शैवाल रूपी वस्त्रको दूरकर शीघ्र ही नदीकी जलपङ्क्तिके मध्यभागका स्पर्श किया तब उसका कमलरूपी मुख लज्जा से नीचा हो गया ॥६९॥

अर्थ—यह प्रियाका मुख है या विकासको प्राप्त कमल है, इस प्रकारका भ्रम-सदेह कमलोसे दूर रहनेवाले विभ्रमो–हावभाव विलासोके द्वारा निकाल दिया गया था और इस तरह रसिक अनुरागी पतिका मन मुखके विषय भय-रहित हो गया था ॥७०॥

टीका—भुवि पृथिव्यामितस्तावत्तज्जलकेलिकाले तत्प्रत्ययस्य प्राय. सर्वास्वपि विभक्तिषु सद्भावात् । विस्फुरद्दृशां विकसितचक्षुषां स्त्रीणां वाससा वस्त्रेण रसैर्जलैर्निषेकात्समभिसेचनात् किल शीतार्तिमता शीतस्य पीडामनुभवतेवापि पुन शीतसमीरभाजाऽलिशीतलवायुं चानुभवता तेन कामोष्मजुषोर्यथेष्टं वा स्मरमय चोष्मभाव संदधतो. स्तनयोरुपरि आगतं प्राप्तमित्युत्प्रेक्षा ॥७१॥

शमितः प्रियकरवारिविधानात् मदनजातवेदा ललनानाम् ।
धूममञ्जुता-सौ कुतोऽन्यथा समुज्जजृम्भे दृगञ्जनकथा ॥७२॥

टीका—ललनानां स्त्रीणां मदनः काम एव जातवेदा अग्निर्दाहकत्वात्स प्रियस्य वल्लभस्य करेण वारिविधानाज्जलसेचनाद् हेतो. शमित उपशमभावमित. किलान्यथा तु पुनर्दृशोश्चक्षुषोरञ्जन यन्निर्गतमित्येषा कथा यस्या साऽसौ धूमस्य मञ्जुता मनोज्ञता कुत समुज्जजृम्भे ॥७२॥

कठिनस्तनस्थले वनितायाः सिक्तं रसिना दग्धुमथायात् ।
तदौष्ण्यमादायोत्पतज्जलं पुरःस्थरिपुयोषितो हृद्बलम् ॥७३॥

टीका—अथ वनिताया वल्लभाया कठिने स्तनस्थले रसिना प्रीतिकरेण सिक्तं यज्जल तद् तद्गतमौष्ण्यमादाय गृहीत्वोत्पतत् सद् रिपुयोषित सपत्न्या हृदो मनसो बल सत्त्व दग्धु भस्मयितुमयात् जगाम पुर स्थिताया इत्युत्प्रेक्षा ॥७३॥

अर्थ—पृथिवीपर जलक्रीडाके समय जलसे सीचे जानेके कारण विकसित नेत्रोवाली स्त्रियोके वस्त्र मानो शीतकी बाधासे सहित थे साथ ही शीत वायुकी भी बाधाका अनुभव कर रहे थे अत॰ काम जन्य गर्मीसे युक्त स्त्रियोके स्तनोके ऊपर आ लगा। यह उत्प्रेक्षा अलकार है ॥७१॥

अर्थ—ऐसा जान पडता है कि स्त्रियोकी कामाग्नि पतिके हाथोंसे सपन्न जलसेचनसे शान्त की गयी थी। यदि ऐसा न होता तो धूमकी जो मनोहरता बढ रही थी वह नेत्रोसे निर्गत अञ्जन है ऐसा कहना कैसे ठीक होता ?

भावार्थ—जलक्रीडाके समय स्त्रियोके नेत्रोका काजल धुलकर वक्षःस्थलपर आ गया था और श्यामताके कारण वह धूमके समान जान पडता था अतः यह कल्पना की गई कि हृदयमे विद्यमान कामरूपी अग्नि पतिके हाथोसे सीचे गये जलसे शान्त हुई थी, उसीका यह धूम उठ रहा है। अग्नि बुझानेपर धूम उठता ही है ॥७२॥

अर्थ—स्त्रीके कठिन वक्ष॰स्थलपर रसिक-पतिके हाथोसे सीचा गया जल स्तनोकी उष्णताको लेकर जो उछल रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सामने खडी सौतके मनोबलको भस्म करनेके लिये ही जा रहा था। यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥७३॥

कमिति च कान्तकरादायातं जातं पत्न्या यदेव सातम् ।
शरतामत्र वैरिरामाया हृदयभेदनायैतद्वुतायात् ॥७४॥

टीका—यदेव जल कमन्ते पार्श्वे यस्य तस्य कान्तस्य करादायातम् तस्मात् कमिति जलं तदेव सुख चेति स्मृतिपूर्वक पत्न्या सातमानन्दकरम् जातमेतदेवोतात्र वैरिरामाया सपत्न्या हृदयस्य भेदनाय शरतां वाणरूपता शरापरनामत्वादयाज्जगामेति विरुद्ध-भावोऽलङ्कृति ॥७४॥

न सुष्ठु मृष्टाऽगुरुपत्रततिस्त्वकया लोकोत्तरकान्तिमति ।
वञ्चितेतिनिजगण्डमण्डलमर्पयति स्म नियोगिनेऽमलम् ॥७५॥

टीका--हे लोकोत्तरकान्तिमति ! त्वयैव स्वकया गण्डयो स्थिताऽगुरुपत्राणां तति पक्ति. सुष्टु न मृष्टा किलेत्युक्त्वा वञ्चिता सती साऽमलमपि स्वच्छमपि निजं गण्ड-मण्डल नियोगिने स्वामिनेऽर्पयति स्म वत्तवनीति मौग्ध्याभिव्यक्तिरेवालङ्कृतिरत्र ॥७५॥

जलेन लौल्याद्वसनेऽपहृते विलासवत्या जघने प्रसृते ।
नखमण्डलावलिच्छलतोऽभात्स्मरप्रशस्तिः प्रणीतशोभा ॥७६॥

टीका जलेन लौल्यात् स्वाभाविकतरलतया वसने दुकूलेऽपहृते दूरीकृते संति विलासवत्या श्रीमत्या प्रसृते जघने रतकाले समासानि नखमण्डलानि तेषामावलि परम्परा तस्याश्छलत प्रणीता शोभा यया सा स्मरस्य प्रशस्तिर्यश: स्थितिरभादुत्प्रभाविस्य पहॣनुतिर्त्यलकार ॥७६॥

अर्थ—पतिके हाथसे आया—उछाला हुआ जो जल स्त्रीके लिये सुखदायक हुआ था वही सपत्नीका हृदय विदीर्ण करनेके लिये शरता–वाणपनेको प्राप्त हुआ था।

भावार्थ—जिसके अन्त–पासमे 'क' है जल है वह कान्त हुआ अर्थात् जलमे खडे हुए पतिने जो क—जल पत्नीके ऊपर उछाला था वही क—जल पत्नीके लिये क—सुख रूप हुआ परन्तु वही क—जल सौतके हृदयको विदीर्ण करनेके लिये शर–वाण पानेको प्राप्त हो गया। एक ही वस्तुने दो विरुद्ध कार्य किये अत यह विरुद्ध भाव अलकार है ॥७४॥

अर्थ--हे सर्वश्रेष्ठकान्तिको धारण करनेवाली प्रिये ! 'तुमने अगुरु चन्दनसे निर्मित पत्रपङ्क्तिको अच्छी तरह साफ नही किया है' इस तरह छली हुई स्त्रीने अपना निर्मल कपोल मण्डल पतिके लिये अर्पित किया (साथ ही कहा आप ही साफ कर दें) स्त्रीके भोलेपनका प्रदर्शन ही अलकार है ॥७५॥

अर्थ--जलने अपनी स्वाभाविक चपलतासे किसी स्त्रीका वस्त्र दूर कर दिया जिससे उसके विस्तृत नितम्ब पर अङ्कित नखाघातकी पङ्क्ति कामदेवकी प्रशस्ति-यशोगाथाके समान सुशोभित होने लगी ॥७६॥

वाग्मिता हि येषां रुचिहेतुः सम्विविदिता मनस्विनिवहे तु ।
यदत्र तूष्णीं नूपुरैः स्थितं जडप्रसङ्गे मौनं हि हितम् ॥७७॥

टीका—मनस्विनां विचारवतां निवहे समाजे सुत्पुनर्येषां मिता परिमिता वागेव वाग्मिता सा हि रुचिहेतुः प्रीतिकारणं सम्विमसिता मता। तैर्नूपुरे स्त्रीणां चरणभूषणे-रत्र भूषणं स्थितं मौनमादाय प्रावर्ति। यद् यस्माज्जडानां मूर्खाणां डलयोरभेदात् पुनर्जलानां प्रसङ्गे मौन विहितं भवति अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥७७॥

मीनमत्स्यकादेस्तु जीवनं ह्युत्पलजातेरस्ति यद्वनम् ।
गावोऽभ्युन्नतगिरेरागतं पय इत्येवं जगतोऽत्र मतम् ॥७८॥
उद्भिज्जजातेरमृतमितीष्टं विषममग्नये स्वतोऽस्त्यनिष्टम् ।
शिवमिति हिन्दुजनानामेतद्भुवनमन्वभूज्जनस्य चेतः ॥७९॥

टीका—एतद् यन्नद्यां तिष्ठति तन्मीनमत्स्यकादेस्तु जीवनं प्राणधारणमेव हि मतं। तथा चोत्पलजातेः कमलसत्ताया वनं निवासस्थानं मतं। अभ्युन्नताद्गिरेरागतमस्तीत्यतो गाव इत्येवमेतद्गीयते। तथा जगतः पयः पातुं योग्य, उद्भिज्जजातेरङ्कुरवृक्षविरमृत-ममरणकारणमितीष्ट। विषममग्नये जनायास्ति यतस्तस्मै स्वतो ह्यनिष्ट भवति, हिन्दुजनानां वेदानुयायिनामेतच्छिवमिति, किन्तु जनस्यास्मदादेश्चेतस्त्वेतद् भुवनमित्यन्व-भूत्। उल्लेखालकारः ॥७८-७९॥

अर्थ—विचारवान् मनुष्योके समूहमे थोडा बोलना (वाग्मिता-प्रशस्त बोलना) रुचिकर होता है, यह सोचकर स्त्रियोके नूपुर उस समय चुप हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि जड-मूर्खो (पक्ष मे जल) के प्रसङ्गमे मौन रह जाना ही हितकर होता है। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥७७॥

भावार्थ—जब विद्वानोके समक्ष थोड़ा बोलना अच्छा है तब जलो-जड़ोके समक्ष तो बिलकुल नही ही श्रेष्ठ होगा यह विचार कर नूपुर चुप हो गये थे उनकी रुनझुन बंद हो गयी थी।

अर्थ—नदीमे जो यह जल है वह मीन मत्स्य आदिका प्राणाधार होनेसे **जीवन** है। कमल कुमुद आदि उत्पल जातिका निवास स्थान होनेसे **वन** है। ऊँचे पर्वतसे आया है अत **गो** है। जगत्के पीने योग्य होनेसे **पय** है, अकुर आदि उद्भिज्जातिको अमृत्युका कारण होनेसे **अमृत** है, अग्निके लिए स्वयं अनिष्ट है अत. विषम (**विष**) है। वेदानुयायी हिन्दुओके लिये वन्दनीय होनेसे **शिव** है और अस्मदादिजनोका चित्त इसे **भुवन** है ऐसा अनुभव करता है।

भावार्थ—उपर्युक्त श्लोकोमे पानीके विविध नामोंका उल्लेख किया गया

जलावगाहप्रतिपत्तिकारणैकसम्भवादम्भसि संविभूषणैः ।
हिरण्मयैश्चारुदृशां परिच्युतैः किलौर्वविह्नेः शकलैर्व्यशोभि तैः ॥८०॥

टीका—जलावगाहस्य प्रतिपत्तिरनुभवनमेव कारणं तदेवैको मुख्य सम्भवः सद्भावस्तस्मादम्भसि जले परिच्युतैः स्खलितैश्चारुदृशां सुलोचनानां स्त्रीणां हिरण्मयैर्हेमनिर्मितैः संविभूषणैः कंकणादिभिस्तैः किलौर्ववह्नेर्वडवाग्नेः शकलैः खण्डैः किलेव व्यशोभि शोभा लब्धा । उत्प्रेक्षालंकारः ॥८०॥

मृगीदृशां यावकरागकल्पकान्वयेन सिन्दूरकलाक्तमस्तका ।
पयोधियोषिन्निजनायकं तरां जगाम तावत्सुतरङ्गितान्तरा ॥८१॥

टीका—तावत्काले पयोधियोषिन्नदी सापि मृगीदृशां स्त्रीणां चरणादिषु लग्नस्य यावकरागस्य योऽसौ कल्पकः समूहस्तस्यान्वयेन सम्बन्धेन सिन्दूरस्य कलया सौभाग्यसूचिकयाऽऽक्तं विभूषितं मस्तकं यस्याः सा, सुतरङ्गितं शोभनैस्तरङ्गैर्युक्तमथवा शोभनीयविचारसहितमन्तरं मध्यं मनो वा यस्याः सा सती निजनायकं समुद्रं जगामतराम् । समासोक्तिरलंकारः ॥८१॥

है यथा—[1]जीवन, वन, [2]गो, पयस्, अमृत, विष[3], शिव[4] और भुवन ॥७८-७९॥

अर्थ—जलावगाहन रूप प्रमुख कारणसे सुन्दर नेत्रोवाली स्त्रियोके जो सुवर्णमय आभूषण पानीमे गिर गये थे वे मानो वडवानलके खण्डोके समान ही सुशोभित हो रहे थे । यह उत्प्रेक्षालकार है ॥८०॥

अर्थ—जो स्त्रियोके माहुरकी लालिमासे सयुक्त थी तथा सिन्दूरसे जिसका मस्तक सुशोभित हो रहा था ऐसी नदी, तरङ्गितमध्यवाली (पक्षमे अनेक उमंगों से युक्त हृदय वाली) होती हुई अपने पति समुद्रके पास वेगसे जा रही थी ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई स्त्री पैरोमे माहुर और मस्तक पर सिन्दूरकी बिन्दी लगाकर मनमे अनेक उमगोको सजोती हुई पतिके पास जाती है उसी प्रकार नदी भी समुद्रके पास गई थी । यह समासोक्ति अलंकार है ॥८१॥

---

१. 'पय कीलालममृतं जीवन भुवनं वनम्' इत्यमर ।
२ 'तोय जीवनमब्विषम्' इति धनजय ।
३ गौ पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु ।
स्त्रीगविभूमिदिग्नेत्रवाग्बाणसलिले स्त्रिय ॥ विश्व०
४. 'शिवं मोक्षे सुखं जलम्' इति विश्व०

अपास्तमाल्यं च्युतयावकाधरं निरस्तवस्त्रं दयितेश्वरैः समम् ।
निषेव्यमाणं तरलं जलं बभौ मुदे वधूनां दलवद्वृत्तमम् ॥८२॥

टीका—यत्तरलमपि जलं तत् दयितेश्वरैः निजनायकैः समं सार्द्धं अपास्तं विनष्टं माल्यं यत्र यथा स्यात्तथा, च्युतं व्यतीतं यावकं यस्मादेतादृगधरं रदच्छदं यत्र तद्यथा स्यात्तथा, निरस्तं गतं वस्त्रं यत्र तद्यथा स्यात्तथा निषेव्यमाणं रतवद्वृत्तमं सत्, तद्वधूनां मुदे हर्षाय बभौ रराजेत्युपमालंकारः ॥८२॥

स्वार्थभुज्जगदितिप्रकाशितात्तां जहद्भिरथ निम्नगोदिता ।
आत्ततृड्भिरियमङ्गिभिर्हिताद्या नदीनमहिला समर्थिता ॥८३॥

टीका—अथ स्वार्थभुगिदं सर्वं जगदिति प्रकाशितात् प्रसिद्धात्सूक्ताद्धेतोर्या नदी तामिमां जहद्भिर्जनैरुज्जिहानैस्तु निम्नं गच्छतीति निम्नगेयमित्युदिता कथिता । किन्तु आत्ततृड्भिस्तृषातुरैः पुन सेयमेव नदीनस्य समुद्रस्य सम्पत्तिरतश्च महिला स्त्रीत्येव समर्थिताङ्गिभिर्जनैर्हितात्स्वार्थवशात् ॥८३॥

नितम्बिनीनां जघनाघातात्तटाभिनीतं वारि तदा ताम् ।
कलुषतामगादपि च जडानां पराभव. कष्टकरो नाना ॥८४॥

टीका—तदा नितम्बिनीनां जघनैः श्रोणिपुरोभागैर्योसावाघातस्तस्मात्तटाभिनीतं स्फालितं च निरावरतयैकपार्श्वीकृतं च वारि कलुषतां कर्दमितां सरोषतां चागाज्जगाम । अपि हि पराभवो निरादरो जडानां मुग्धबुद्धीनां विचारहीनानां च नानाकष्टकरो भवति किं पुनरन्येषाम् । अत्र जडानां जलानामपीत्यपि । अर्थान्तरन्यासोऽलंकार. ॥८४॥

अर्थ—जिसमे मालाएँ टूटकर गिर गयी थी, अधरोष्ठकी लाली छूट गयी थी तथा वस्त्र भी दूर हो गया था ऐसा वह नदीका चञ्चल उत्तम जल पतिके साथ किये गये सभोगके समान स्त्रियोके हर्षके लिये हुआ था। यहाँ उपमालंकार है ॥८२॥

अर्थ—'जगत् स्वार्थी है' इस प्रसिद्ध सूक्तिके अनुसार जो मनुष्य नदीको छोडकर जा रहे थे उन्होने उसे निम्नगा कहा परन्तु जो प्याससे युक्त थे उन्होंने हितकारी होनेसे उसे समुद्रकी सम्पत्ति अथवा स्त्री माना ॥८३॥

अर्थ—जिस प्रकार विकट नितम्ब वाली स्त्रीके जघनाघातसे शय्याके किनारे तक पहुँचाया हुआ मुग्धबुद्धि वल्लभ कलुषता-सरोष अवस्थाको प्राप्त होता है उसी प्रकार स्त्रियोके जघनाघातसे तट तक पहुँचाया हुआ नदीका जल भी कलुषता—मलिनताको प्राप्त हुआ था सो ठीक ही है क्योकि जड-जल अथवा मुग्धबुद्धि जनोंको भी पराभव नाना कष्टोको करने वाला होता है।

निरम्बरश्रोणिजुषोऽम्बुलोलनात् अपापरायाः कुलजेषु साऽधुना।
चकार सख्यं लहरी तदङ्गसात्सरोजवल्लीबलदानतो रसात् ॥८५॥

टीका—अधुना जलकेलिकालेऽम्बुनो जलस्य लोलनाच्चलनाद्धेतो निरम्बरां वस्त्रवर्जितां श्रोणिं जुषति सेवते या तस्या, अत कुलजेषु गोत्रशालिषु जनेषु मध्ये अपापराया लज्जायुक्ताया ललनात् रसात्प्रसङ्गवशाल्लहरी जलोर्मिरेव तदङ्गसात् तस्या अङ्गस्य समीपं सरोजवल्ल्याः कमलिन्या बलस्य पत्रस्य दानत सख्यं सहायभावं चकार ॥८५॥

तत्याज जलं पश्चादार्त्तस्वरमङ्गनाजनः कलुषम्।
स्मृत्वा धृष्टप्रियतां सहजामिति तां स्वकीयां सः ॥८६॥

टीका—पश्चाज्जलकेलेरनन्तरमङ्गनाजन स्त्रीसमाज स तां प्रसिद्धां स्वकीयां स्वसम्बन्धिनीं सहजामकारणसम्भवां धृष्ट समर्थ एव प्रियो यस्मै तत्तामिति किल स्मृत्वाऽऽर्त्तस्वरमार्त्तस्य दु खिनो रुग्णस्येव वा स्वर इव स्वरो यस्य तत्तथा कलुषं कर्दमित खिन्न जलं तत्याजेत्युत्प्रेक्षा ॥८६॥

चेलाञ्चलैः क्षरद्भिर्जलमिव लावण्यमङ्गनाकुलकैः।
उत्तीर्णमथातितरलतरङ्गरङ्गक्षमैः सरसः ॥८७॥

टीका—अथानन्तरमतितरला ये तरङ्गास्तेषां रङ्गे स्थाने क्षमैः समर्थैरङ्ग-

---

यहाँ श्लेषके कारण 'ड' और 'ल' मे अभेद माना गया है। यह अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥८४॥

अर्थ—जल क्रीडाके समय जलकी चञ्चलतासे जिसका नितम्ब वस्त्ररहित हो गया था तथा इसी प्रकार जो कुलीन मनुष्योके बीच लज्जित हो रही थी उस स्त्रीकी सहायता पानी की एक लहरने प्रसङ्गवश कमलिनीका एक दल—पत्र पहुँचा कर की थी ॥८५॥

अर्थ—जलक्रीडाके बाद स्त्री समूहने अपनी सहज-स्वाभाविक शालीनताका स्मरण कर वियोगजन्य दु खसे ही मानो दु.खपूर्ण शब्द करने वाले जलको छोड दिया था। यह उत्प्रेक्षालकार है।

भावार्थ—टीकासे प्रकट होने वाला एक व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि जिस प्रकार कोई सबल स्त्री 'मुझे तो उपभोग समर्थ प्रिय ही पसद है' इस प्रकारकी अपनी स्वाभाविक परिणतिका स्मरण कर उपभोगमे असमर्थ होनेके कारण रोगीकी तरह दीन शब्द करने वाले मलिन जड—रतिक्रियानभिज्ञ पतिको छोड देती है उसी प्रकार स्त्री समूहने नदीके जलको छोड़ दिया था ॥८६॥

अर्थ—तदनन्तर अत्यन्त चञ्चल तरङ्गोके बीच क्रीड़ा करनेमे समर्थ वे

मानां स्त्रीणां कुलकैः समूहैः, कथंभूतैस्तैः ? चेलानां वस्त्राणामञ्चलैः प्रान्तभागे लावण्य-मिव क्षरद्भिः सरसस्तटाकाद्वर्धाज्जलस्रोतस उद्धारं प्राप्तं तैरित्युत्प्रेक्षालंकार ॥८७॥

तरुणीं समुत्तरन्तीं तोयत उत्फुल्लतामरसहस्ताम् ।
अनुमेनिरे नरा हरिरामामिव सिन्धुनिर्मथनात् ॥८८॥

टीका—नरास्तदानीमुत्फुल्लं विकसितं च तत्तामरसं कमलं हस्ते यस्यास्तां तोयतो जलात्समुत्तरन्तीं निर्गच्छन्तीं कांचित्तरुणीं सिन्धोः समुद्रस्य निर्मथनान्निर्गतां लक्ष्मी-मिवानुमेनिरे । उपमालंकार ॥८८॥

तरलैरलकैः समाकुला ललनाऽऽलिङ्गनमङ्गरागिणा ।
अनुकूलमवाप्य सत्वरं रससारं समवाप चापरा ॥८९॥

टीका—अपरा तरलैर्विकीर्यमाणैरलकैः केशैः समाकुला सती साङ्ग रङ्गयति भूषयति सोऽङ्गरागी प्रियतमस्तेन सार्द्धमनुकूलमालिङ्गनमवाप्य सत्वरं शीघ्रमेव रसस्यानुरागस्य सारं समवाप ॥८९॥

अभिगम्य बिम्बमुच्चैः कुचवत्याः कचसंचय. पुनः ।
स्म समेति रतिं परिक्षरच्छरदम्भादिव बन्धसम्भयात् ॥९०॥

टीका—उच्चैः कुचवत्या स्त्रिया कचानां सञ्चय. केशपाशोऽधुनोन्मुक्तत्वान्नितम्ब-बिम्बमभिगम्य पुनर्बन्धभयादिव परिक्षरतो निर्गच्छतः शरस्य जलस्य दम्भाद् व्याजाद्रो दनं समेति स्म । उत्प्रेक्षापह्नुत्यो सकर ॥९०॥

स्त्रियाँ वस्त्रान्तभागसे जलकी तरह सौन्दर्यको झराती हुई जल प्रवाहसे बाहर निकली ।

भावार्थ—नदीसे बाहर निकलते समय उनके वस्त्रोके प्रान्तभागसे जो पानी झर रहा था उससे वे ऐसी जान पडती थी मानो अपने सौंदर्य को ही झरा रही हो । यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है ॥८७॥

अर्थ—विकसित कमलको हाथमे लिये, पानीसे निकलती हुई किसी युवतिको मनुष्योने समुद्रमथनसे निकली लक्ष्मीके समान माना था । यह उपमा-लंकार है ॥८८॥

अर्थ—चञ्चल केशोसे युक्त कोई अन्य स्त्री प्रियतमके साथ आलिङ्गनको प्राप्त होकर शीघ्र ही अनुरागके सारको प्राप्त हुई थी ॥८९॥

अर्थ—उन्नत स्तन वाली किसी स्त्रीका केशपाश जलसे निकलते समय खुला होनेसे नितम्ब मण्डल तक लटक रहा था और उससे पानी चू रहा था उससे वह ऐसा जान पडता था कि अबतक तो मै बन्धन रहित होनेसे नितम्ब मण्डलका स्पर्श करता रहा परन्तु अब बाध दिया जाऊँगा इस भयसे वह मानों

मृदुपद्मदृशः सुमध्यमाया स्वभुजाभ्यां कचवृन्दबन्धने ।
भुजमूलमथोन्नतं तिरस्तः शनकैः सम्प्रति सस्वजेऽभिसारी ॥९१॥

टीका—अभिसरतीत्यभिसारी कामुक पुरुष. स्वभुजाभ्या, मृदुनी पद्मे इव दृशौ यस्या सा तस्या , शोभनं मध्यं मध्यभागो यस्या सा तस्या नायिकाया स्व भुजाभ्यां स्वकीयबाहुभ्यां कचवृन्दस्यबन्धने तत्परा सन्, शनकै क्रमशस्तस्या भुजमूलमथोन्नत-मूर्ध्वभागं तिरस्तस्तिर्यग्भागञ्च सम्प्रति सस्वजे समालिलिङ्ग ॥९१॥

सुदृशां दृगुपान्तरक्तता प्रथमं या हि तिरोहिताञ्जनैः ।
अधुना द्विगुणीकृता जलैरनु बद्धेर्ष्यतयेव निर्मलैः ॥९२॥

टीका—सुदृशा मुग्धाक्षीणां दृशा चक्षुषामुपान्तेषु या रक्तता नेत्रप्रान्तारुणता, प्रथममञ्जनै. कज्जलैस्तिरोहिता विलुप्तासीत् सैवाधुना निर्मलैर्जलै रनुबद्धेर्ष्यतयेव स्पर्धा-वशतयेव द्विगुणीकृता परिवृद्धि नीतेत्यर्थ । उत्प्रेक्षालकार ॥९२॥

शुचि सिप्रझरानजानती समुदीक्ष्यात्महृदीशमन्तिके ।
मुहुरम्बुजलोचना तनुं स्नपनार्द्रां निरवापयच्चिरम् ॥९३॥

टीका—काचिदम्बुजलोचना, अन्तिके समीपे एवात्मनो हृदीश भर्तार समुदीक्ष्य दृष्ट्वा तदनुभावात्सञ्जातान् शुचीन् सिप्राणां सात्त्विकभावोद्भूतघर्मजलाना झरान् प्रवाहान् अजानती नानुमन्यमाना स्नपनार्द्रामेव तनु मत्वा मुहु. पुन पुनश्चिरं दीर्घकालं निरवापयत् प्रोञ्छयामास ॥९३॥

रो ही रहा था। यह उत्प्रेक्षा और अपह्नुतिके मेलसे सकर अलकार है ॥९०॥

अर्थ—कोई एक पुरुष कोमल कमलके समान नेत्रो तथा सुन्दर कमर वाली अपनी स्त्रीके केशपाशको अपनी भुजाओसे बाधनेके लिये तत्पर हुआ और इस समय वह स्त्रीके कक्ष तथा उन्नत पार्श्व भागका धीरे-धीरे स्पर्श करता रहा ॥९१॥

अर्थ—स्त्रियोके नेत्र कोणो की जो लालिमा पहले कज्जल से विलुप्त हो गई थी वही इस समय निर्मल जलके द्वारा मानो ईर्ष्यासे ही दूनी कर दो गयी थी यह उत्प्रेक्षा अलकार है ॥९२॥

अर्थ—कमलके समान नेत्रो वाली किसी स्त्रीने समीप ही अपने पतिको देखा। फलस्वरूप सात्त्विकभावके रूपमे उसके शरीरसे स्वच्छ पसीना झरने लगा। उसे न समझ वह शरीरको स्नान जलसे ही गीला समझती रही और उसे बार बार पोछती रही ॥९३॥

---

१ 'निदाघसलिले सिप्रे' इति विश्व० ।

अभिनववसनानां स्वीकृतौ तावदाभिः
　　सुचिरपरिचितानि स्पष्टपद्माननाभिः ।
वधुरविरलवारीत्येवमार्द्राणि यानि
　　बहुविरहविपत्तेर्मुञ्चितानीव तानि ॥९४॥

टीका—स्पष्टानि विकसितानि यानि पद्मानि कमलानि, तानीवाननानि मुखानि यासां तास्ताभिराभि । अभिनववसनानां नूतनवस्त्राणां स्वीकृतौ तावद् यानि सुचिर-परिचितानि पुरातनानि, आर्द्राणि वस्त्राणि मुञ्चितानि, तानि बहुविरहविपत्तेर्वियोग-दु खादिव, अविरलवारि वधु । उत्प्रेक्षालंकारः ॥९४॥

समुदितजलकेलिं वीक्ष्य तं पीठकेलिं
　　सकलजनसमूहं तत्र तावन्निरूहम् ।
दिनपतिरपि रागीहाशु गच्छत्प्रयागी
　　झगिति हि जलराशिं गन्तुमाभूत्प्रवासी ॥९५॥

टीका—दिनपति. सूर्योऽप्योऽपीह रागी शोणिमशाली, तथाशुगच्छन्त: प्रयागा घोटका यस्य स तत्र तावत् समुदिता जलकेलिर्येन तं पीठकेलिं धृष्टप्रायं सकलानां जनानां समूहं निरूहं नि संकोच वीक्ष्य, य' प्रवासी नित्यमेव गमनशील स सूर्यो झगिति हि जलराशिं पश्चिम समुद्रं गन्तुमाभूदैच्छत् । 'पीठकेलि. पीठमर्द' । 'प्रयागस्तीर्थभेदे स्याद्यज्ञे वाहे बिडौजसि' इति विश्वलोचन ॥९५॥

सकलमपि कलत्रमनुमानवं
　　लिखितमनूक्तं ललितमतिबलम् ।
वधत्स्वपदबलमुचितार्थभवं
　　बहु सञ्चरितवमवमलं भुवः ॥९६॥

अर्थ—विकसित कमलके समान मुखवाली इन स्त्रियोने नवीन वस्त्रोको स्वीकृत-धारण करते समय जो चिरपरिचित गीले वस्त्र छोड़े थे वे विरह सम्बन्धी भारी दुःखसे ही मानो अश्रु रूपी अविरल जलको धारण कर रहे थे। यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥९४॥

अर्थ—वहाँ अच्छी तरह जलक्रीड़ा करने वाले उस धृष्ट समस्त जन-समूहको निःसंकोच देखकर जान पड़ता है कि सूर्य भी रागी—अनुराग से युक्त (पक्षमे लालिमासे) युक्त हो गया था इसीलिये नित्यगमन करनेके स्वभाव वाला वह सूर्य भी शीघ्रगामी घोड़ोंसे युक्त हो शीघ्र ही पश्चिम समुद्रकी ओर जानेकी इच्छा करने लगा था ॥९५॥

टीका--अपि पुन कलेन सुन्दरेण शरीरेण सहितं सकलं कलत्रं नारीदलं तन्मानव स्वस्वामिनमन्वनुमानव लिखित लेखपत्रमनूक्तं किमप्यनुक्त्वा ललितं सुन्दरं तत एवातिवरं, रलयोरभेदात्, । स्वेषां पदानां शब्दानां बलं यत्तत्, तथोचितार्थस्य भव. सदा यत्र तत्, समीचीनं चरितं ददातीति सच्चरितपदं, तथा अवमलं निर्दोषं, भुवो बहु संसारकार्यस्य समर्थक वचन् धृतवद् बभूव सन्दधार । सरिदवलम्बनचक्रबन्धोऽयम् ॥९६॥

अर्थ—सुन्दर शरीरसे सहित स्त्री समूहने अपने प्रिय जनके प्रति उस पत्रको धारण किया जो मौखिक सन्देह कहे बिना लिखा गया था, मनोहर था, अत्यन्त-वर-श्रेष्ठ था, अपनी शब्दावलीकी सामर्थ्यसे सहित था, जिसमे उचित अर्थका सद्भाव था, जो समीचीन चरितको देने वाला था, निर्दोष था और ससारकी श्रेष्ठ वस्तु स्वरूप था—सासारिक कार्यौको सिद्ध करने वाला था । यह सरिदव लम्ब नामक चक्रबन्ध है ॥९६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वय
वाणीभूषणवर्णिन घृतवरीदेवी च य धीचयम् ।
वृत्तोत्तुङ्गतरङ्ग वारि सरिताख्याते प्रसन्न स्वय
सर्गोऽत्येति चतुर्दशस्तदुदितेऽस्मिन्सुप्रबन्धेऽप्ययम् ॥१४॥

इति वाणीभूषण ब्रह्मचारि भूरामल शास्त्रि विरचिते जयोदयापरनाम
सुलोचना स्वयवर नाम महाकाव्ये सरिदम्बलम्बनामा
चतुर्दश सर्ग समाप्त

●

पञ्चदशः सर्गः

प्राणेशसत्सङ्गमलालसानां कटाक्षबाणैरधुनाङ्गनानाम् ।
हतः किलारादरविन्दवेषमुपैति पूषारुणिमानमेषः ॥ १ ॥

टीका—अधुना दिनात्ययसमये एव पूषा सूर्यं आरादनायासेनैव, अरविन्दस्य रक्तकमलस्य वेष इव वेषो यस्य तमरुणिमानं लोहितभावमुपैति प्राप्नोति आरक्तवर्णोऽवलोक्यते यतः किलासौ प्राणेशस्य वरस्य सत्सङ्गमे संप्रयोगे लालसा वाञ्छा यासां तासामङ्गनानां स्त्रीणां कदा त्वमस्तं गच्छेर्यदा वयं रात्रिभावात् प्रियेण सहानुतिष्ठाम इति मुहुरवलोकनात् कटाक्षा एव बाणास्तै. कृत्वा हतो जर्जरीकृतः ॥१॥

यथोदयेऽह्यस्तमयेऽपि रक्तः श्रीमान् विवस्वान्विभवैकभक्तः ।
विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यतैवमहो तटस्था महतां सदैव ॥ २ ॥

टीका—श्रीमान् जगता प्रशस्तत्वात् विभवस्य सकलार्थकारितायाः । किञ्च वीनां पक्षिणां भवः सत्ता तस्यैकः प्रसिद्धो भक्त प्रेमी दिन एव पक्षिणां सञ्चारात् । स एव सूर्यो यथोदये समुद्भवकालेऽह्नि दिने रक्तो लोहितवर्ण आसीत्तथास्तमये निपतनसमयेऽपि रक्त एव । एव कृत्वा महतामक्षुद्रहृदयानां विपत्सु सम्पत्स्वपि किंवा र.कटेषु किंवा महोदयेषु सदैव नित्यं तुल्यता समानभावेन प्रवृत्तिः सा तटस्था भवति न सम्पत्स्वनुरज्यन्ते न च विपत्सूद्विग्नाश्च भवन्ति । अहो महदाश्चर्यस्थानमेतत् ॥२॥

अर्थ—तदनन्तर दिन समाप्तिके समय यह सूर्य अनायास ही लालकमलके समान लालिमा को प्राप्त हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो प्राणवल्लभके समागममे इच्छा रखने वाली स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे घायल होकर ही लालिमा को प्राप्त हुआ था ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीमान् तथा ऐश्वर्यका एक भक्त अथवा पक्षियोके सद्भाव का प्रमुख भक्त सूर्य जिस प्रकार उदय कालमे लाल होता है उसी प्रकार अस्त कालमे भी लाल रहता है । बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषो की प्रवृत्ति सपत्ति और विपत्तिमे सदा एक सदृश-तटस्थ होती है । तात्पर्य यह है कि महापुरुष न सम्पत्तिमे अनुरक्त होते है और न विपत्ति मे उद्विग्न[1] ॥ २ ॥

---

१. उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

लयं तु भर्त्रैव समं समेति दिनं दिनेशेन महीयसेति ।
कृतज्ञतां ते खलु निर्वहन्ति तमामसुभ्योऽप्यमलास्तु सन्ति ।।३।।

टीका—दिनमपि तु भर्त्रा निजस्वामिना महीयसा पूज्येन दिनेशेन सूर्येण सममेककालमेव लयं समेति प्रणश्यतीत्येव येऽमलाः शुद्धस्वभावा भवन्ति ते खलु सत्यमसुभ्योऽपि प्राणानपि त्यक्त्वा कृतज्ञतामुपकारिणामाभारित्वं निर्वहन्ति न कदापि विस्मरन्ति ।।३।।

नवेऽधुना सङ्क्रमनेऽब्जनेतुर्दिश: प्रतीच्या मुखमण्डले तु ।
हार्दोचितह्रीविभवेन भाति प्रवाललक्ष्मीमुषि, कापि कान्तिः ।।४।।

टीका—अधुना दिनान्तसमयेऽब्जनेतु सूर्यस्य सङ्क्रमने समागमे प्रतीच्या दिश: पश्चिमाया मुखमण्डले प्रवालस्य विद्रुमस्य लक्ष्मी मुष्णाति चोरयतीति तस्मिन् लोहितवर्णे रागपूर्णे वा मुखे हार्देन प्रेम्णोचिता या ह्रीर्नवसमागमत्वात् प्रेमपूर्विका या लज्जा तस्या विभवेनोदयेन कृत्वा, काप्यनिर्वचनीया कान्तिर्भाति शोभते । 'प्रवाललक्ष्मीमुषिका' एवमेकपदत्वेन कान्तिविशेषणत्वं वास्तु । नव इति तु तत्कालसञ्जाते सङ्क्रमेऽस्मिन्निति ।।४।।

सरोजिनीं कुड्मलितां दिशायाः समीक्ष्य साश्चर्यमितिस्मितायाः ।
मन्ये प्रतीच्या अधुनावभातितमामुदात्ताधरबिम्बकान्तिः ।।५।।

टीका—अधुना साम्प्रतं सरोजिनीं कमलिनीं कुड्मलितां कुड्मलभावमिता सकोचयुक्तां समीक्ष्य दृष्टैव खलु साश्चर्यमिति स्मिताया आश्चर्येण सहिता साश्चर्या सा चासौ

अर्थ—दिन, अपने स्वामी एव पूज्य सूर्यके साथ ही नष्ट हो जाता है सो ठीक ही है क्योकि जो शुद्धस्वभाव वाले होते है वे प्राणोसे भी अर्थात् प्राण देकर भी कृतज्ञता का अत्यन्त निर्वाह करते हैं ॥ ३ ॥

अर्थ—इस समय सूर्यका नवीन समागम प्राप्त होनेपर पश्चिम दिशाके मूगा जैसे गुलाबी मुखमण्डलपर प्रेमोचित लज्जा के वैभवसे कोई अनिर्वचनीय कान्ति सुशोभित हो रही थी।

भावार्थ—जिसप्रकार नवीन समागमके समय स्त्रीके मुखमण्डल पर लज्जामिश्रित अनुपम कान्ति सुशोभित होती है उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीके मुखमण्डल पर भी सूर्य रूप नायकके साथ नवीन समागम होने पर अनिर्वचनीय शोभा प्रकट हुई थी ॥ ४ ॥

अर्थ—उस समय पश्चिम दिशामे जो लालिमा फैल रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानो कमलिनीको सकुचित देखकर पश्चिम दिशा रूप स्त्रीने जो अपना अधर फैलाया था उसी की कान्ति हो।

मितिरनुज्ञा तया स्मितायाः विस्मितायाः अहो आश्चर्यचकितायाः प्रतीच्या दिशायाः पश्चिमायाः उदात्तस्योच्छूनीकृतस्याधरबिम्बस्य कान्तिः प्रभा सा बहु भातितमामिति मन्येऽहं जानामि किल। यद्वा साश्चर्यं यथा स्यात्तथा समीक्ष्य स्मितायाः इत्येवमपि व्याख्येयम् ॥५॥

उपागतेऽहस्कृति तस्य वीनां कलैः कृतातिथ्यकथाप्यशीना।
श्री शोणिमच्छद्ममयं प्रतीची दधाति सच्छाटकमात्तवीचिः ॥ ६ ॥

टीका—अहस्कृति सूर्ये समागते सन्निकटमागते सति अशीना कर्तव्यविचारशीलेव प्रतीची आत्तवीचिः समुपलब्धप्रसत्ति. सती वीनां पक्षिणां कलैर्मधुरशब्दैः कृत्वा तस्य सूर्यस्य कृता प्रारब्धातिथ्यकथाऽतिथिसत्कारविषये सम्भवयोग्यकुशलक्षेमाविरूपा वार्ता यया सा, श्रीशोणिमच्छद्ममयं श्रीशोणिमा सन्ध्यासमयलालिमैवेतिच्छद्मना व्याजेन युक्तमिति तन्मयं शाटकं वस्त्रं दधाति। 'शीनोऽजगरमूर्खयोः'। 'अवकाशे सुखे वीचिः' इति विश्वलोचनकोषे ॥६॥

निभाल्य भानुं दिशि पश्चिमायां धृतानुरागं द्युपतेर्दिशायाः।
मित्रामुकं पश्य तमालदास्यमास्यं जनीमत्सरभावभाग्यम् ॥ ७ ॥

टीका—पश्चिमायां दिशिधृत सम्बद्धोऽनुरागो लालिमा प्रेमभावश्च येन तं भानुं

भावार्थ—सूर्य, अपनी प्रेमिका कमलिनीको छोडकर पश्चिम दिशा रूपी नायिकाके पास चला गया। इस अनादरसे कमलिनी संकोच को प्राप्त हो गई। उसकी इस दशाको देख पश्चिम दिशाने आश्चर्य प्रकट किया और अपने सौभाग्यकी वृद्धिका गर्व कर अपना अधरोष्ठ फुलाया था। एक स्त्री पतिके आने पर अपने आपको सौभाग्यशालिनी मानती हुई सपत्नीको चिढ़ानेके लिये ऐसी करती है ॥ ५ ॥

अर्थ—सूर्यके आने पर जिसने पक्षियोको मधुर शब्दोंसे कुशल समाचार पूछ कर अतिथि सत्कार किया था ऐसी विचारशील पश्चिम दिशाने प्रसन्नता को प्राप्तकर लालिमाके छलसे उत्तम साडी धारण की।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रवाससे पतिके आने पर बुद्धिमती स्त्री पहले कुशल समाचार पूछकर उसका अतिथि सत्कार करती है पश्चात् प्रसन्न होती हुई सौभाग्य सूचक लालसाड़ी पहिनती है उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीने सूर्य रूपी वल्लभके आनेपर पहले पक्षियोकी मधुर बोलीसे उसका अतिथि सत्कार किया पश्चात् लालिमाके छलसे सौभाग्य सूचक लाल साड़ी पहिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—सूर्यको पश्चिम दिशामे सानुराग-लाली अथवा प्रेम सहित देख पूर्व

सूर्यं निभाल्यावलोक्य कृतं संजातं वा सुपतेरिन्द्रस्य दिशायाः पूर्वायास्तमालस्य तमालपत्रस्य वास्यं वासभावोऽनुकरणं यस्मिंस्तत् तादृगतिश्यामलमास्यं मुखं। यच्च किल जनीषु स्त्रीषु जातिस्वभावतयैव य समुक्तो मत्सरभाव परोत्कर्षासहिष्णुत्वं तस्य भाव्यं स्पष्टीकरणममुकं हे मित्र ! पश्य तावत् ॥७॥

बन्धौ परिप्राप्तवतीह भङ्गं सद्योऽधिमध्यं विनिवेश्य भृङ्गम् ।
निमीलिताम्भोजदृगब्जिनीति जाता समारब्धविलासिनीतिः ॥ ८ ॥

टीका—बन्धौ कुटुम्बिनि सूर्ये भङ्गं परिप्राप्तवति सति अस्तंगते, इहास्मिन्नवसरेऽधिमध्य मध्यमधिकृत्याधिमध्य कोषकर्णिकायां धृत्वाथवा तु पुनरङ्कमारोप्य भृङ्गं मधुपं विट[1] सद्यः शीघ्रमेव विनिवेश्य समारोप्य निमीलितं मुद्रितमम्भोजं पद्ममेव दृग्यया सा निमीलिताम्भोजदृक्, अब्जिनी कमलवल्ली समारब्धा विलासिभ्यो विलासिनीनां वा नीतिः प्रवृत्तिः शिक्षा वा यया सा समारब्धविलासिनीतिरस्ति ॥८॥

आत्मापराधस्य नराः स्मरन्तु विलोक्य कालं विलयाह्वयं तु ।
ग्राहोदयत्वात्तिमिलं वदन्तु विजृम्भमाणं गिलितु जगत्तु ॥ ९ ॥

टीका—ग्रहाणामयं ग्राह उदयो यस्मिंस्तत्त्वात्, यद्वा ग्राहस्य मकरनामजलजन्तो रुदय उच्छलनं यत्र तत्त्वात् तदेतत्तिमिलमन्धकारमेव तिमिं लातीति त समुद्रं जगत् तु

दिशा का मुख तमालपत्रके समान अत्यन्त श्याम हो गया। हे मित्र ! स्त्रियोके मात्सर्य भाव का यह स्पष्ट उदाहरण देखो ॥ ७ ॥

अर्थ—अपने बन्धु-कुटुम्बी सूर्यका पतन होनेपर कमलिनीने शीघ्र ही भ्रमरको मध्यमे बन्द कर कमल रूपी नेत्र बंद कर लिये। इसतरह वह विलासिनी-स्त्री की ईति-पीड़ाको प्रकट करने लगी। अर्थात् पतिका निधन होने पर स्त्री शोक वश नेत्र भी नही खोलती है। अथवा—जिसप्रकार पतिके मरनेपर कोई विलासिनी-भोग प्रधान स्त्री शीघ्र ही अपने बीच किसी भृङ्ग-विटको बसा कर सुखसे नेत्र बन्द कर सोती है उसी प्रकार सूर्य रूप पतिके अस्तंगत-नष्ट हो जानेपर कमलिनीने भी अपने भीतर भ्रमरको बसा कर सुखानुभूतिसे कमलरूपी नेत्र निमीलित कर लिये। इसतरह उसने अपने आचरणसे विलासिनी-कुलटा स्त्री की ईति-प्रवृत्ति को प्रकट किया ॥ ८ ॥

अर्थ—ग्राह-ज्योतिष शास्त्रमे प्रसिद्ध ग्रहोका उदय होनेसे अथवा मगर मच्छादि जलजन्तुओके उछलनेसे जिसे तिमिल-समुद्र कहते हैं, जो जगत् को

---

१. 'भृङ्गः पुष्पलिपे षिङ्गे तथा धूम्याटपक्षिणि' इति विश्वः। षिङ्गो विट इत्यर्थः।

किल गिलितुमुदरसात्कर्तुं विजृम्भमाणं निरङ्कुशत्वेन वृद्धिमाप्तवन्तं भवन्तु कथयन्तु ते नरा ये किल वीनां पक्षिणां लयाह्वयं गुप्तिकारकं यद्वा विलयाह्वयं प्रलयनामानं कालं समयं विलोक्य तु पुनरात्मापराधस्य किमस्माभिरपराद्ध किं नवेत्येवमादि स्वेनानुष्ठितस्यापराधस्य दुष्कर्मणः स्मरन्तु ये किल स्मरन्ति सन्ध्यावन्दनायाम् ॥९॥

[1]रवेरथो बिम्बमितोऽस्तगामि, उदेष्यदेतच्छशिनोऽपि नामि ।
समस्ति पाथेषु रुषा निषिक्तं रतोश्वरस्याक्षियुगं हि रक्तम् ॥१०॥
मित्रं हतं पश्यत आस्यमाराच्छितीकृतं श्रीनभसोऽश्रुधारा ।
उदेष्यदृक्षच्छलतो निरेति ततः शुचेयं मम भावनेति ॥११॥

टीका—मित्रं सूर्यमेव सुहृदं हतं नष्टं पश्यतोऽवलोकयतः श्रीनभसः श्रीमतो गगनस्याराच्छीघ्रमेवास्य मुखं शितीकृत श्यामलतां नीतमस्ति । ततश्च मित्रहतिदर्शनाद्धेतोः समुत्पन्नया शुचा पश्चात्तापेन कृत्वोदेष्यतामुद्गच्छतामृक्षाणां नक्षत्राणां छलतो मिषात् इयं दृश्यमानाश्रुधारा नयनजलपरंपरा निरेति निर्गच्छतीति मम कविहृदयस्य भावना वर्तते ॥११॥

निगलनेके लिये निरङ्कुश रूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रहा है तथा जो पक्षियोके लिये लय–सुरक्षाकारक अथवा प्रलयकारक होनेसे विलय नामको प्राप्त है ऐसे समय–सूर्यास्त कालको देख कर उत्तम मनुष्य अपने अपराधोका स्मरण करते है अर्थात् सन्ध्यावन्दना–सामायिकमे बैठकर अपने अपराधोका स्मरण कर उनकी आलोचना करते हैं ॥ ९ ॥

अर्थ—इधर सूर्यका बिम्ब अस्त हो रहा है और उधर चन्द्रमा का प्रसिद्ध बिम्ब उदय को प्राप्त होगा । क्रोधवश कामदेवके लाल-लाल नेत्रयुगल पथिकोंके ऊपर पड रहे हैं ॥ १० ॥

अर्थ—मित्र–सूर्य (पक्ष मे सुहृद्) को नष्ट हुआ देख शोभासम्पन्न आकाश

---

१. ग्रन्थकर्त्रा श्लोकस्यैतस्य संस्कृतटीका न कृता ।
इसके आगे मूल प्रतिमे निम्नश्लोक अधिक है—
दिनावसाने तरणेर्विनाशो न दृश्यते क्वाप्युडुपस्तथा सः ।
नदीपरूपे तिमिरे ब्रुडन्ति चक्षूंषि नृणां विकलानि सन्ति ॥
इस श्लोक की सं० टीका नहीं है हिन्दी अर्थ अगले पृष्ठ पर देखें ।

हंसं हठात्सायमयेन भुक्तं समुज्झितोपान्ततयोपरक्तम् ।
निभाल्य नीडान्यधुना श्रयन्ति द्विजातयस्तं च पुनः शपन्ति ॥१२॥

टीका—सायमयेन सन्ध्याकालरूपेण केनापि मांसाशिना हठात् बलात्कारेण कृत्वा समुज्झितोपान्ततया परित्यक्तोपरिमभागतयोपरक्तं उपरिस्थत्वगंशपरिहारेणेति कृत्वाभिव्यक्तलोहितत्व किल हंस सूर्यमेव मानसौकसं भुक्तं भक्षितं निभाल्य दृष्ट्वाधुना साम्प्रतमस्माकमप्येवावस्था स्यादिति सत्रस्ताः सन्त· सर्वेऽपि द्विजातयः पक्षिणो नीडानि कुलायस्थानानि श्रयन्ति त च पुनर्भोक्तारं कलकलेन कृत्वा दुष्टं वदन्तीति ॥१२॥

उच्चैस्तनाकाशगिरीशसानोः श्रीगैरिकस्योच्चय एव भानो.।
मिषाच्च्युतोऽतः समुदेति पांशुः सायाख्ययायं सुतरां ततांशुः ॥१३॥

टीका—उच्चैस्तन उच्चतरो य आकाशस्येव गिरीशस्य पर्वतराजस्य सानुः शृङ्गभागस्तस्मात् गगनरूपपर्वतोपरिमस्थलात् भानो· सूर्यस्य मिषात् श्रीगैरिकस्योच्चयो रक्तरेणुस्कन्धश्च्युतो भाति, अतएव कारणात्सुतरां स्वयमेव तता विस्तृता अंशवो यस्य स ततांशु· पांशु· सूक्ष्मधूलिलेशोऽय सायाख्यया सन्ध्यारुणिमनाम्ना समुदेति किल ॥१३॥

पीत्वा दिवा श्रीमधुनस्तु पात्रं पूषा पुनर्लोहितमेत्य गात्रम् ।
क्षीवत्वमापन्न इवायमद्य समीहतेऽहो पतितुं विपद्य ॥१४॥

का मुख श्याम हो गया और इसी शोकसे उदित होनेवाले नक्षत्रोंके छलसे उसकी अश्रुधारा निकल रही है, ऐसी मेरी भावना है—कल्पना है ॥११॥

अर्थ—सन्ध्या समय पक्षी कलकल शब्द करते हुए घोसलो मे चले जाते है। क्यो ? इसका उत्तर कवि इस प्रकार दे रहा है—

पक्षियोने समझा कि हस[1]—मराल (पक्षमे सूर्य)को सायंकाल रूपी किसी मासभोजीने जबर्दस्ती खा लिया है। खाते समय उसके ऊपरका खूनसे लथपथ लाल चमडा छोडा है। कही हमारी भी ऐसी अवस्था न हो जावे, इस आशङ्कासे भयभीत हो पक्षी सुरक्षाकी दृष्टि से घोसलोका आश्रय ले रहे हैं और कलकल शब्दके रूपमे उस खाने वालेको दुष्ट कह रहे हैं ॥१२॥

अर्थ—ऐसा जान पडता है कि अत्यन्त ऊँचे आकाश रूपी पर्वतराजकी शिखरसे सूर्यके बहाने यह गेरूका समूह गिरा है उसीको यह विस्तृत किरणों वाली धूलि सन्ध्या नामसे ऊपरकी ओर उड रही है ॥१३॥

---

१ हंस सूर्यमरालयो इति विश्व हस. पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमरः ।

टीका—पूषा नाम सूर्यो दिवा प्रातरारभ्य सायपर्यन्तं यावदह्निं श्रीमधुनः पात्र कम-लाख्यं मदकारकं पीत्वास्वाद्य पुनरनन्तरमधुना लोहितं गात्रमेत्य मदानुभावेन शरीरेऽरुणि-मानमासाद्य क्षीवत्वमुन्मत्तभावमापन्न इव किलायमद्याधुना विपद्य पदहीनो निष्किरणो भूत्वा पतितु समीहते निपातमिच्छति। अहो पानशौण्डतायाः परिणामस्याश्चर्यकारि प्रभावद्योतनार्थम् ॥१४॥

स्थितिः सतां सम्वरितामुकेन समक्कृता श्रीर्जडजेषु येन ।
रविः कुतो नावपतेदिदानीमुत्तापकोऽसौ जगतोऽभिमानी ॥१५॥

टीका—योऽसौ जगतो विश्वस्याप्युत्तापकः सन्तापकरो भवति घर्मदायको वा। यतो जडजेषु मूर्खेषु तेषु कमलेषु च श्री. लक्ष्मी· शोभा च समक्कृताऽऽरोपिता, सतां साधुपुरुषाणां भाना वा स्थितिरवस्थानममुकेन सम्वरिता विनाशिता स एषोऽभिमानी मानस्य पराकाष्ठा मित· स इदानीं कुतो नावपतेत् ? लोकेऽभिमानस्य पराकाष्ठामितानां पतनस्यावश्यंभावात्। सन्निराकरणेनासतामावरणं स्वभिमानिन एव कार्यम् ॥१५॥

अर्थ—सूर्य दिन भर कमल रूप मद्य पात्रको पीकर लाल शरीरको प्राप्त हो गया—मदिरापानके नशासे उसका शरीर लाल हो गया। अब वह इस समय विपन्न—पद रहित स्थानभ्रष्ट अथवा निष्किरण हो नीचे गिरना चाहता है। आश्चर्य है कि मदिरा पानका ऐसा कुप्रभाव होता है ॥१४॥

अर्थ—इस सूर्यने सत्—साधु पुरुषो (पक्षमे नक्षत्रो) की स्थितिको नष्ट किया है और जडज-मूर्खो (पक्षमे कमलोमे) श्री—लक्ष्मी (पक्षमे शोभा) को स्थापित किया है। साथ जो जगत्को उत्ताप-तपन (पक्षमे गर्मी) को देने वाला है तथा अभिमानी है—घमण्डी है (पक्षमे श्रद्धालु जनोके अभिमान-समादरसे सहित है) ऐसे सूर्यका इस समय पतन क्यो न हो ?

भावार्थ—जो सज्जनोकी स्थितिको नष्ट कर दुर्जनोको प्रोत्साहन देता है, जो ज्ञानीजनोको दरिद्र बनाकर मूर्खोंको लक्ष्मीका निवास बनाता है, जो एक दो-को नही समस्त संसारको सताप पहुँचाता है और स्वय अपनी उच्चताका अभि-मान्—अहंकार करता है उसका पतन अवश्य होता है।

सूर्योदय होनेपर सत्[1]-नक्षत्र विलीन हो जाते हैं, कमल विकसित होने से श्रीसम्पन्न सुशोभित होने लगते हैं, समस्त जगत्को ऊर्जा-आवश्यक गर्मी प्राप्त होती है तथा श्रद्धालु जनोके द्वारा उसे अभिमान (संमुख-आदर) प्राप्त होता है। सूर्यकी इस स्वाभाविक स्थितिको यहाँ श्लेष द्वारा रूपान्तरित कर

---

१. श्रीर्लक्ष्मीभारतीशोभाप्रभासु सरलद्रुमे इति विश्व०

धराभितप्तेति विदां निधाय समेति तस्या अभिषेचनाय ।
समात्तसप्ताश्वकशातकुम्भकुम्भान्तिमाम्भोधिमियं दिनश्रीः ॥१६॥

टीका—इय दिनश्रीर्नाम वनिताहो एषा जगन्माता धरा पृथ्वीदानीमभितप्ता किल सन्तापसमन्विताऽस्तीति विदा बुद्धि निधाय धृत्वैव तस्या अभिषेचनाय सन्तापापहरणार्थं स्नपयितु समात्त. सगृहीत सप्ताश्वक सूर्य एव शातकुम्भस्य कुम्भः स्वर्णघटितकलशो यया सा, अन्तिमाम्भोधिं पश्चिमदिक्समुद्र समेति गच्छति । यतोऽतोऽप्रतोऽसौ धरा सन्तापरहिता भवेदिति ॥१६॥

गर्मुत्कगोलं तु हिमावभीषुं पुनर्जगद्भूषणतां निनीषुः ।
तापान्वितं सीमनि सिन्धुवार प्रक्षिप्तवांस्त विधिहेमकार ॥१७॥

टीका—विधि समय एव हेमकार पश्यतोहरः स पुनरपि जगतो भूषणता समस्तस्यापि भूलोकस्यालकरणतां नेतुमिच्छुर्निनीषुः सन् एनं हिमावभीषु हिम प्रालेयमवन्तीति-हिमाव शीतापहारका अभीषव किरणा यस्य त सूर्यमेव गर्मुत्कस्य गोलं सुवर्णपिण्ड तापान्वित तापेन घर्मेणान्वित यद्वा वह्नि न संतप्तं च कृत्वा सिन्धुवारश्चरम समुद्रजलस्य सीमनि मध्ये प्रक्षिप्तवान् पातितवान् ॥१७॥

पतनका कारण प्रतिपादित किया गया है ॥१५॥

अर्थ—'पृथिवी सतप्त है' ऐसी बुद्धि धारण कर उसका अभिषेक करनेके लिये दिनश्री नामक कोई स्त्री सूर्यरूपी स्वर्ण कलशको लेकर पश्चिम समुद्रको गई है ।

भावार्थ—सन्ध्या समय लालवर्ण वाला सूर्य पश्चिम समुद्रके समीप पहुँचा है इस सन्दर्भमे कविने उत्प्रेक्षा की है कि जगन्माता पृथ्वीको सतप्त देख उसे नहलानेके लिये ही मानो दिनश्री नामक कोई स्त्री सूर्यरूपी स्वर्णकलशको लेकर पानी लानेके लिये पश्चिम समुद्र के पास गयी है ॥१६॥

अर्थ—ऐसा जान पडता है मानो समयरूपी स्वर्णकार, फिर भी समस्त ससारकी आभूषणताका प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ सुवर्ण पिण्डको तापसे युक्तकर अथवा अग्निमे तपाकर पश्चिम समुद्र सम्बन्धी जलके बीच डाल रहा है ।

भावार्थ—कोई स्वर्णकार नया आभूषण बनानेके लिये सुवर्णपिण्डको अग्निमे तपाकर पानीमे डाल देता है उसी प्रकार समयरूपी स्वर्णकार सूर्यरूपी सुवर्णपिण्डको तपाकर मानो पश्चिम समुद्रके जलमे डाल रहा है ॥१७॥

प्राचीनतातोऽप्यनुरागवन्तं प्रतिक्षणत्येव नवा दृगन्तम् ।
निष्काशयत्याशु नभोनिकायात्सहस्ररश्मिं चरमा दिशा या ॥१८॥

टीका—या चरमा दिशा पश्चिमदिशा सैव चापि रमा स्त्री, कीदृशी सा नवा तत्कालभिनयवती नववयस्का, अनुरागवन्तं लालिमान्वितं प्रीतिधारिणं वा सहस्ररश्मिं सूर्यं प्रति, प्राच्या. पूर्वदिशाया इनतातः स्वामित्वेनाथवा प्राचीनतातः पुराणभावेन वृद्धत्वेन हेतुना कृत्वा दृगन्तं प्रेमपूर्वकावलोकनं क्षणति ददाति अपि किं, नैव ददाति । यद्वा दृगन्तं नाम क्षणमात्रावस्थानं न ददाति किन्तु नभोनिकायात् स्वस्मान्नभःस्वरूपादालयात् आशु शीघ्रमेवानादरेण निष्काशयति नवाया वृद्धेऽनुरागाभावात् ॥१८॥

निमीलतीहातिशयेन दिक्षु गलद्द्विरेफाश्रुपयोजचक्षुः ।
राजीविनीयं भवतो वियोगाच्छोकाकुलेवाभिरवीति योगात् ॥१९॥

टीका—रविभमिव्याप्य वर्ततेऽभिरवि योऽसावीतेर्बाधायायोग समागमस्तस्मात् भवत संजायमानाद् वियोगात् शोकाकुला सतापपरिपूर्णा राजीविनी कमलवल्ली दिक्षु

अर्थ—यह जो पश्चिम दिशारूपी नवीन वय वाली स्त्री है वह अनुरागवान्—लालिमासे सहित (पक्षमे प्रेम सहित) भी सूर्यको, पूर्व दिशाका स्वामित्व होने (पक्षमे वृद्धत्व) के कारण प्रेमपूर्वक अवलोकन क्या देती है ? उसकी ओर नेत्र खोलकर देखती भी है क्या ? अर्थात् नही देखती । उसे वह अपने आकाशरूपी घरसे निकाल रही है ।

भावार्थ—सूर्यको अस्त होता देख कवि कल्पना करता है कि पश्चिम दिशारूपी नववयस्का स्त्री वृद्धत्वके कारण उसे पसन्द नही करती है, उसकी ओर प्रेमसे देखती भी नही है, उसे क्षणभरके लिये भी अपने पास नही रहने देना चाहती है किन्तु अपने आकाशरूपी घरसे निकाल देना चाहती है जबकि सूर्य अनुराग—पश्चिम दिशारूपी स्त्रीके प्रति अनुराग—प्रेम रखता है । बाहर निकालनेका एक कारण यह भी है कि पश्चिम दिशारूपी स्त्रीको विदित हो गया कि इसके ऊपर तो प्राचीनता—पूर्वदिशाका स्वामित्व है—यह उसके अधीन है अत. इसपर हमारा स्वामित्व स्थापित नही हो सकता । भाव यह है कि जिस प्रकार नववयस्का स्त्री वृद्धपतिको पसन्द नही करती, इसी प्रकार अन्य स्त्रीमे आसक्त पतिको भी पसन्द नहीं करती ॥१८॥

अर्थ—जिसके कमलरूपी नेत्रोसे निकलने वाले भ्रमररूपी आँसू दिशाओमे व्याप्त हो रहे हैं ऐसी यह कमलिनी सूर्यके ऊपर आयी बाधासे होनेवाले वियोग

---

१. इनस्य भाव इनता, प्राच्या इनता प्राचीनता तस्मात्, पूर्वदिक्स्वामित्वात् पक्षे प्राचीनरूपभावः प्राचीनता तस्याः वृद्धत्वात् ।

विशासु समन्ततोऽतिशयेनानल्पभावेन गलन्तो निरंकुशो द्विरेफा भ्रमरा एवाश्रवो वाष्प-लेशा यस्मात्तत् पयोजरूपचक्षुर्निमीलति मुद्रयति। इहास्मिन् प्रसङ्गे। इवानुप्रेक्षायाम्।

पतत्यहो वारिनिधौ पतङ्गः पयोदरे सम्प्रति मत्तभृङ्गः।
आक्रीडकद्रोर्निलये विहङ्गः शनैश्च रम्भोरुजनेऽप्यनङ्गः ॥२०॥

टीका—आक्रीडनकद्रोरुद्यानवृक्षस्य। अन्यत्सर्वं स्पष्टं भाति ॥२०॥

न दृश्यते क्वाप्युडुपस्तथा स प्रदोषभावात्तरणेर्विनाशः।
नदीपरूपे तिमिरे ब्रुडन्ति चक्षूंषि नृणां विकलानि सन्ति ॥२१॥

टीका—स उडुपश्चन्द्रमा क्वापि कुत्रचिदपि न दृश्यतेऽनुदयात्। तरणेश्च सूर्यस्य प्रदोषभावात् सायकालत्वाद् विनाशस्तिरोभाव एवं कृत्वा नृणां चक्षूंषि यानि विकलानि प्रशक्तानि सन्ति तानि नदीपरूपे दीपाभावरूपे यद्वा दीव्यता विपरीते श्यामरूपे तिमिरे बुडन्ति निमज्जन्ति। लोके यथा झञ्झावातादिना दोषसद्भावात्तरणिर्नामनौर्नश्यति, उडुपो नामडुलिश्च नोपलभ्यते तदा विकलानि रलयोरभेदात्) करवर्जितानि यानि भवन्ति तानि तिमियुक्ते नदीपस्य समुद्रस्य रूपेऽवगाहे ब्रुडन्त्येव तावत् ॥२१॥

से शोकाकुल हो अपने तथाभूत कमलरूप नेत्रोको अत्यन्त निमीलित कर रही है। भाव यह है कि जिस प्रकार पतिपर आयी विपत्तिमे शोकाकुल हो स्त्री आँसू बहाती हुई नेत्र बद कर लेती है उसी प्रकार कमलिनी ने भी नेत्र बन्द कर लिये और निकलते हुए भ्रमरोके व्याजसे वह आँसू बहाने लगी ॥१९॥

अर्थ—आश्चर्य है इस समय कि सूर्य समुद्र मे गिर रहा है, मत्तभ्रमर कमल के भीतर पड रहा है, पक्षी उद्यान वृक्ष पर बने घोमले मे जा रहा है और काम धीरे-धीरे स्त्रियो मे प्रवेश कर रहा है ॥२०॥

अर्थ—वह उडुप–नक्षत्रपति–चन्द्रमा कही दिखायी नही देता और प्रदोष–रात्रिका प्रारम्भ होनेसे तरणि–सूर्यका भी तिरोभाव हो गया है, इस तरह मनुष्योको नेत्र विकल–बेचैन (पक्षमे कर रहित) होते हुए दीपक-रहित तिमिर–अन्धकारमे डूब रहे है।

यहाँ भाव यह है कि जिस प्रकार प्रदोष--झञ्झा वायु आदि प्रकृष्ट दोष से जब तरणि–जहाज नष्ट हो जाता है और आपात कालके लिये सुरक्षित कोई उडुप-छोटी नौका भी दिखाई नही देती तब जहाज पर सवार विकल–विकर–हाथ रहित मनुष्य जिस प्रकार दु.खी होते हुए तिमिर–तिमिर मगर-मच्छोंसे भरे नदीपरूप-नदीपति-समुद्रके मध्यमे नियमसे डूबते हैं उसी प्रकार रात्रिके प्रारम्भमे चन्द्रमाका उदय न होने, सूर्यका तिरोभाव होने और

उपद्रुतोंऽशुस्तिमिरैः सरद्भिर्भयेऽप्यसंमूढमतिर्महद्भिः ।
विखण्डय देहं प्रतिगेहमेव विराजते सम्प्रति दीपवेषः ॥२२॥

टीका—सरद्भि प्रसारमङ्गीकुर्वद्भिर्महद्भिर्बहुपरिमाणवद्भिस्तिमिरैरूपद्रुत उपद्रवं गत. सन् भयेऽपि सकटसमयेऽपि न मुह्यते मतिर्यस्य सोऽसमूढमतिरशुर्विवस्वान् देहं विखण्डय स्वशरीरं विभिन्नीकृत्य प्रकारान्तर नीत्वा सम्प्रति गेह गेहं प्रतीति प्रतिगेहमेवः स्पष्टवृष्टो दीपवेषः प्रदीपरूपधारको भवन् विराजते । यत्किल सन्ध्यायां दीपततिरुद्घाटिता भवति भास्वरत्वात्सा सूर्यखण्डप्रतिकृतिरूपेति तात्पर्यार्थ ॥२२॥

रवेः सवेगं पतनात्समुद्रे समुत्पतन्त्यध्वनि किन्नु शब्रैः ।
तदङ्कजानां पयसां पृषन्ति नक्षत्रनाम्ना सुतरां लसन्ति ॥२३॥

टीका—रवेः सूर्यस्य सवेगं वेगपूर्वक समुद्रेऽपरवारिनिधिमध्ये पतनात् तदङ्कजानां समुद्रमध्यसंभूताना पयसा पृषन्ति लेशा· शब्रैर्मेघस्याध्वनि मार्गे गगने समुत्पतन्ति सम्यक् प्रकारेण यानि उच्चलन्ति तान्येव नक्षत्रनाम्ना कृत्वा लसन्ति शोभन्ते किन्नु इति प्रश्ने ॥३२॥

पातुं किलात्रारुणमस्त्रमेष व्यक्तोडुदन्तावलिरम्बरे सः ।
हाहान्धकारोऽपि निशाचरोऽपि विलोक्यते धैर्यधनोपलोपी ॥२४॥

टीका—अत्रावसरेऽरुणं सन्ध्यारक्तिमानमेवास्त्र[3] शोणित पातुमास्वादयितु किल,

---

दीपको का अभाव होनेसे मनुष्योके नेत्र असहाय हो अन्धकारमें डूबने लगे ॥२१॥

अर्थ—घर-घरमे दीपक जल उठे उससे ऐसा जान पडता था कि सब ओर फैलने वाले महान् अन्धकारके द्वारा उपद्रवग्रस्त होनेपर भी सकटके समय जिसकी मति—विचार शक्ति मूढ नही होती ऐसा अंशु-सूर्य ही अपने शरीरको खण्ड-खण्ड कर दीपकोका वेष रख घर-घरमे सुशोभित हो रहा हो ।

भावार्थ—घर-घरमे जलने वाले दीपक मानो सूर्यके ही प्रतिनिधि थे ॥२२॥

अर्थ—पश्चिम समुद्रमे वेगपूर्वक सूर्यके पडनेसे समुद्रके मध्यमे उत्पन्न जलके जो छीटे आकाशमे उछटे थे वे ही क्या नक्षत्र नामसे सुशोभित नही हो रहे है ? ॥ २३ ॥

अर्थ—हाय हाय, जिसने नक्षत्र रूपी दन्तावलीको प्रकट किया है तथा जो

---

१ 'अंशुस्त्विषि रवौ लेशे' इति विश्व० ।
२ 'अरुणोऽनूरुसूर्ययो· । कुष्ठे चाव्यक्त रागे च सन्ध्यारागे च पुस्यम्' । इति विश्व० ।
३. 'अस्त्र तु शोणिते लोभे' इति विश्व० ।

एष सम्मुखे वर्तमान॰ व्यक्ता स्फुटीकृता चासाङ्गुनामैव दन्तावलिर्येन स प्रसिद्धप्रायोऽन्धकारो नाम निशाया चरतीति निशाचर. पिशाच इव धैर्यधनस्योपलोप करोतीति स विश्वमात्रस्य भयकारक इत्यर्थ , विलोक्यते स्पष्टमेव दृश्यते, अन्ध करोतीति अन्धकारो यं दृष्ट्वा कि कर्तव्यतामूढतयाऽखिलोऽपि जनोऽन्ध इव भवतीति यावत् ॥२४॥

सन्ध्यामिषेणापरशैलसानुं प्रज्वाल्य यन्नश्यति चित्रभानुः ।
तमांसि धूमाः प्रसरन्ति नो चेद्द्यामश्रुसङ्घो भमिषात्कुतश्चेत् ॥२५॥

टीका—चित्रभानुर्नाम सूर्य एव वह्नि सन्तापकारकत्वात् स सन्ध्यामिषेण सायंकालकृतारुणिमच्छलेन कृत्वाऽपरशैलस्यास्ताचलस्य सानु वन प्रज्वाल्य भस्मसात्कृत्वा यद् यस्मात्कारणान्नश्यति वन दग्ध्वा स्वयमपि शाम्यति ततोऽमी धूमा एव प्रसरन्ति आकाशे व्याप्नुवन्ति तमासीतिनामतः ख्यातप्राया । नो चेदन्यथा पुनर्भमिषो नक्षत्रच्छलधारकोऽश्रुसङ्घो वाष्पजलसमूहश्च कुत॰ कारणात् द्यामाकाश न चेत् पूरयेत् य पूरयति तावत् ॥२५॥

नक्षत्रकाचांशतताग्र एष शालो विशालोऽस्तु तमोनिवेशः ।
आज्ञामतिक्रम्य रतीश्वरस्य निर्गच्छतां य॰ प्रतिषेधदृश्यः ॥२६॥

टीका—एष तमोनिवेशोऽन्धकाररूपधारक. नक्षत्राण्येव काचाशा दर्पणखण्डास्तैस्तत व्याप्तमग्र पुर प्रदेशो यस्य स एष विशालो बहुविस्तारवान् शाल एव अस्तु भवतु । य किल रतीश्वरस्य कामदेवस्याज्ञामतिक्रम्योल्लङ्घ्य निर्गच्छता नृणा प्रतिषेधाय निवारणाय दृश्यो दर्शनयोग्यो भवति । लोकेऽपराधकारिजनरोधनार्थं कारागारस्याग्रे प्राकार दत्त्वा तस्योपरिमभागे काचांशा आरोप्यन्ते यत सोऽनुल्लङ्घनीय स्यात्तथात्रापीति ॥२६॥

धैर्य रूपी धनको लुप्त करने वाला है ऐसा यह अन्धकार रूपी निशाचर—राक्षस सन्ध्याकी लालिमा रूपी रुधिर पीनेके लिये आकाशमे दिखाई दे रहा है ॥२४॥

अर्थ—चित्रभानु—सूर्यरूपी अग्नि अस्ताचलके वनको जला कर स्वय शान्त हो गयी—बुझ गयी है। यदि ऐसा नही होता तो अन्धकार रूपी धुआ क्यो फैलता और नक्षत्रोके छलसे आसुओका समूह आकाशको क्यो व्याप्त करता ? ॥ २५ ॥

अर्थ—यह अन्धकारका समूह ऐसा एक विशाल कोट है जिसके अग्रभाग पर काचके टुकडे खचित किये गये है और ऐसा कोट जो कि कामदेवकी आज्ञाका

---

१ 'सानु शृङ्गे बुधेऽरण्ये' इति विश्व० ।
२ 'चित्रभानुरिनेऽनले' इति विश्व० । इन सूर्य इत्यर्थ ।

नष्टेऽपि पत्यौ तरणौ द्युरामा सुधांशु मारादभिसर्तुकामा ।
समुत्तरीतुं परिवादघाटीं तमोमयीं वा विदधाति शाटीम् ॥२७॥

टीका—द्युरामाऽऽकाशरूपिणी स्त्री तरणौ सूर्ये नाम पत्यौ स्वामिनि नष्टे सति प्रलयमिते सति, अपि पुनराराद्येव शीघ्रमेव सुधांशु चन्द्रमभिसर्तुकामा चन्द्रमसं स्वीकर्तुमिच्छावती भवती तमोमयीमन्धकाररूपिणीं श्यामवर्णां शाटीमावरणवस्त्रं परिवादो नाम लोकापवादो धव विहायान्यमिच्छतीति परिवादस्तस्य घाटीं घटयित्रीं समुत्तरीतुं पार गन्तु विदधाति परिदधाति किल ॥२७॥

प्रदोषसिंहक्रमणान्वयानां नेदं तमः क्षुब्धदिशागजानाम् ।
विनिर्गलद्गण्डजलप्रसारस्तारातिचारो कुवलोपहारः ॥२८॥

टीका—प्रदोषो रजनीमुख स एव सिंहस्तेन कृते आक्रमणेऽन्वयः क्षुब्धरूपतया प्रत्ययो येषा तेषा क्षुब्धानां दिशागजाना विनिर्गलतो गण्डजलस्य प्रसारः पूर एव नत्विदं तम । तथा तारातिचारात् नक्षत्रापदेशात्कुवलाना मौक्तिकानामुपहारः परितोषकरणरूपो विद्यते ॥२८॥

उल्लघनकर निकलने वाले मनुष्योके लिये प्रतिषेधक-निषेध करनेवालेके समान दिखायी देता है ॥२६॥

अर्थ—द्यो —आकाश रूपी स्त्रीने सूर्यरूपी पतिके नष्ट हो जानेपर शीघ्र ही चन्द्रमा रूपी अन्य पतिको स्वीकृत करनेकी इच्छासे लोकापवाद रूपी घाटी—विषम भूमिको पार करनेके लिये अन्धकार रूप काली साडी धारण कर ली अर्थात् काले रङ्गका बुर्का ओढ लिया ।

भावार्थ—जिस प्रकार कृष्णाभिसारिका स्त्री 'मै पहिचान मे न आऊँ' इस भावनासे काला बुर्का ओढकर अन्य पतिके पास जाती है उसी प्रकार द्यौ —आकाशरूपी स्त्रीने भी लोकापवादसे बचनेके लिये अन्धकार रूप काला बुर्का ओढ रक्खा था ॥२७॥

अर्थ—यह अन्धकार नही है किन्तु प्रदोष (रात्रिका प्रारम्भ) रूपी सिंह के आक्रमणमे विश्वास रखने वाले क्षुभित दिग्गजोके झरते हुए मद जलका प्रवाह है और नक्षत्रोके बहाने मोतियोका उपहार है ।

भावार्थ—यहाँ अपह्नुति अलकारके माध्यमसे कवि कह रहा है कि यह अन्धकार नही है किन्तु प्रदोष रूपी सिंहने दिग्गजोपर आक्रमण किया है उस आक्रमणसे क्षोभको प्राप्त दिग्गजोका झरता हुआ काला-काला मद जल है, और

---

१ 'कुवल तत्पले मुक्ताफलेऽपि बदरीफले' इति विश्व० ।

स्वर्गीयगङ्गागतकोकिकानामितोऽकिकानां विरहात्तकानाम् ।
तारा न वारां तु पृषन्ति सन्ति चक्षुर्भुजां दिक्षु पुनः पतन्ति ॥२९॥

टीका—एतास्तारा न सन्ति किन्तु इत. सन्ध्यासमयात् कारणात् विरहात्पतितो वियोगात्किलाक दुःख यासामित्यकिकास्तासामकिकानां तासामेव तकानां स्वार्थे क-विधानात् स्वर्गीयगङ्गागतकोकिकानामाकाशगङ्गास्थितचक्रवाकवधूना चक्षुर्भुवा वारामश्रुजलाना पृषन्ति बिन्दव एव दिक्षु समन्तत· पतन्ति निपतनशीलानि मुहुर्मुहु-र्निगमनस्वभावानि तानि एतानि सन्ति ॥२९॥

चण्डांशुचाण्डालसमाश्रयत्वाद्दुष्टं विहायःसदनं तु मत्वा ।
स्फुरत्तमामन्दतमश्चयेन निशावधूर्लिम्पति गोमयेन ॥३०॥

टीका—चण्डांशु· सूर्य एव चाण्डाल. सतापकारकत्वात्तस्य समाश्रयत्वादधिष्ठान-करणाद्धेतोरेतद् विहाय आकाशमेव सदन गृह तु पुनर्दुष्ट मत्वा निशानामवधूः स्फुरत्त-मेनात्युत्कर्षतया जायमानेनामन्देनानल्पेन तेन तमसश्चयेनान्धकारसमुदायेनैव गोमयेन गोसकृता लिम्पति तावत् ॥३०॥

दुर्वारमुत्सर्पति तावदस्मिन्दिवामणिं किन्नु सहस्ररश्मिम् ।
तमःसमुद्रे द्रुतमम्बु पातु स्मरन्त्यमी शुद्धहृदोऽधुना तु ॥३१॥

टीका—दुर्वार निरर्गल यथा स्यात्तथोत्सर्पति तावदस्मिन् दृग्गोचरे तम.समुद्रे द्रुत नाम लुप्त सहस्ररश्मि दिवामणि सहस्रकिरणधारिण सूर्य नाम रत्नमभ्युपातु किलाधुनामी शुद्धहृद. सन्ध्यावन्दनकारिण स्मरन्ति ॥३१॥

ये जो तारे चमक रहे है वे दिग्गजोके द्वारा दिया हुआ मोतियोका उपहार है ॥२८॥

अर्थ—ये तारे नही है किन्तु सन्ध्या समयके विरहसे दु खी आकाश गङ्गाकी चकवियोके नेत्रोसे उत्पन्न होनेवाले अश्रुजलकी बूंदे है। दिशाओमे बार-बार पड़ रही है। यह अपह्नुति अलकार है ॥२९॥

अर्थ—सूर्यरूपी चाण्डालके अधिष्ठान—स्थित होनेसे आकाशरूपी घरको अशुद्ध-अपवित्र मानकर निशा रूपी स्त्री उसे अतिशय रूपसे प्रकट होनेवाले घोर अन्धकार समूह रूपी गोबरके द्वारा लीप रही है ॥३०॥

अर्थ—यह जो सन्ध्या वदन करनेवाले शुद्ध हृदयसे युक्त-भक्तजन स्मरण—ध्यान कर रहे है वे ऐसे जान पडते है मानो अबाध रूपसे आगे बढते हुए इस अन्धकार रूप समुद्रमे शीघ्र ही लुप्त हुए हजार किरणोके धारक सूर्यरूपी रत्न-को प्राप्त करनेके लिये उपाय ही सोच रहे है ॥३१॥

गतस्तटाकान्तरमाशु हंसस्त्यक्त्वामुकं पुष्करनामकं सः ।
तमोमिषाच्छैवलजालवंशः स्फुरत्यतोऽस्मिस्तमंमस्तदंशः ॥३२॥

टीका—हसो नाम सूर्य एव मरालोऽमुक पुष्करनामकमाकाशमेव जलाशय त्यक्त्वाऽशु शीघ्रमेवाधुना तटाकान्तर गत. कश्चिदन्यजलाशय प्राप्तोऽस्त्यत एवास्मिन् पुष्करेऽस्तो दशो भक्षणकरणपरिणामो यस्य स शैवलजालानां वशः समूह एवायं तमोमिषादन्धकारच्छलेन स्फुरति उत्तरोत्तरमाधिक्येन लसति ॥३२॥

तम समारम्भपरम्पराभित्सूचीरुचः पीनपयोधराभिः ।
दीपान्प्रबुद्धान् प्रतिधाम कामशरानिव स्वर्णधरान्वदामः ॥३३॥

टीका—पीनौ पुष्टौ पयोधरो यासां ताभि स्त्रीभि प्रबुद्धान् समुद्भावितान् तमसः समारम्भस्य परम्परा प्रतति भिनत्तीति तमःसमारम्भपरम्पराभित् चासौ सूची तीक्ष्णाग्रा तस्या रुगिव रुग्येषा तान् दीपान् धामधामप्रतीति प्रतिधामसम्भवान् स्वर्णधरान्कनकनिर्मितान् कामशरानेव वदाम । निशि दीपोद्योत दृष्ट्वैव कामिना कामसचारसभवात् ॥३३

अभात्तमा पीततमा हि दीपैर्विकस्वरैर्भर्मकितासमीपैः ।
सौभाग्यदात्री विधृतैर्हरिद्रानामाङ्कुराङ्का भुवि शर्वरी द्राक् ॥३४॥

टीका—शर्वरीयं रात्रि दीपं कृत्वा होति निश्चयेन पीततमा पीतमुदरसात्कृतं तमो

अर्थ—ऐसा जान पडता है कि हस—सूर्यरूपी हसपक्षी इस पुष्कर—आकाशरूपी पुष्कर–तालाबको छोडकर शीघ्र ही अन्य तालाबमे चला गया है इसीलिये तो यहाँ अन्धकारके छलमे खण्ड रहित–भक्षण क्रिया से रहित शैवालका समूह उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जबतक तालाबमे हंस रहता है तबतक वह शैवालका भक्षण करता रहता है और उसके चले जाने पर शैवालका समूह उत्तरोत्तर अधिक मात्रामे बढने लगता है ॥३२॥

अर्थ—स्थूल स्तनोवाली स्त्रियोने घर-घरमे जो अन्धकारके समूहको नष्ट करने वाली सूचीके समान दीपक जला रक्खे तो उन्हे हम कामदेवको स्वर्ण निर्मित बाण ही कहते है। भाव यह है कि दीपक कामबाणोके समान जान पडते थे ॥३३॥

अर्थ—जो सुवर्णशलाकाओसे निर्मितकी तरह देदीप्यमान दीपक जगह-

---

१ 'हस पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमर. ।

२ पुष्कर व्याम्नि पानीये इति विश्व० ।

३ 'ध्वान्त सतमस तमस्' इति धनजय ।

४ 'दोषेऽपि खण्डने दशो' इति विश्व० ।

यया सा पीततमा प्रणष्टान्धकारेति यद्वा पीततमात्यन्तपीतवर्णा कीदृशैर्दीपैर्दीपैः विकसन्तीति विकस्वरास्तैरुद्भासमानैः, भर्म सुवर्णं तदेव मर्मकं तत्तत्र भावे भवतीति भर्मकिता तस्या समीपैर्यद्वा सा समीपा येषां तैः स्वर्णघटितशलाकासदृशैः, तैर्विधृते संस्थापितैः, भुवि पृथिव्या अंकुरा एवाङ्का यस्याः साङ्कुरितरूपा हरिद्रा हरितो नाम दिशा रातीति हरिद्रा तथा च हरिद्रानाम वेशवारवस्तु द्राक् शीघ्रमेव सौभाग्यदात्री अभासमां लसनि स्मेति नाम ॥३४॥

प्रदीपयुक्ता मृदुदारभावा समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा ।
समर्थित साधुविधानमेति संध्या स्वयं व्याकृतिसत्क्रियेति ॥३५॥

टीका—इति एव रीत्या सध्या स्वय सुतरामेव व्याकृतेर्व्याकरणस्य सत्क्रिया प्रतिभाति यत प्रदीपयुक्ता प्रदीपैर्दीपकैर्युक्ता सन्ध्या तथा जैनेन्द्रव्याकरणे ह्रस्वदीर्घप्लुताना क्रमशः प्रदीपसज्ञा भवन्ति तैर्युक्ता व्याकरणसत्क्रिया । मृदवः सुकोमला दाराणां स्त्रीणा भावा परिणामाः सुरतोचिता यस्यां सा सन्ध्या, पक्षे मृदा प्रातिपदिकाना सुबन्ताना शब्दानामुदारभावो यस्यां सा । समासत सक्षेपरूपेण तासां हितं कान्तसयोगादिरूप करोतीति प्रभावो यस्या सा, पक्षे समासतो नामविभक्तिसहारकर्मणः पश्चात् संज्ञाभ्य समुक्तप्रत्ययकरण तद्धितं, धातुभ्य प्रत्ययकरणं च कृत् तद्धिते च कृत्प्रत्यये च प्रभावो

जगह स्थापित किये गये थे उनसे अन्धकारको नष्ट करने वाली यह रात्रि हल्दीके अकुरोसे चिह्नित हो शीघ्र ही सौभाग्य देनेवाली हुई थी।

भावार्थ—जिस प्रकार सौभाग्यशालिनी स्त्री हल्दीसे रगे पीतवस्त्र धारण करती है उसी प्रकार यह रात्रि भी दीपकोके प्रकाशसे पीतवर्णवाला हो, सौभाग्यशालिनी हो रही थी ॥३४॥

अर्थ—इस तरह उस समय वह सन्ध्या स्वय ही अच्छी तरह व्याकरण सम्बन्धी सत्क्रियाको प्राप्त हो रही थी। क्योकि जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **प्रदीपयुक्ता**—ह्रस्व दीर्घ और प्लुत सज्ञाओंसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **प्रदीपयुक्ता**—अनेक दीपकोसे सहित थी। जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **मृदुदारभावा**—मृत्—सुबन्त शब्दोंके उदार-श्रेष्ठ सद्भावसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **मृदुदारभावा**—स्त्रियोके सभोगादि कोमल परिणामोसे सहित थी। जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा**—समास, तद्धित और कृदन्त प्रकरणोके प्रभावसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा**—सक्षेपसे स्त्रियोके हितकारी प्रभावसे सहित थी। और जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **धू**—भूवा आदि धातुओंके समर्थित सर्वसमत् विधान-प्रयोगको प्राप्त है उसी प्रकार सन्ध्या भी **साधुविधानं**—

यस्यास्सा । समर्थितं सर्वं सम्मतं साधूनां विधानं सन्ध्यावन्दनमाख्यं, पक्षे सा, धूनाभूवादि धातूनां विधानमेति प्राप्नोति । एव सन्ध्यासमयस्य व्याकरणत्वम् ।

अस्तोदयाहार्यगतार्कचन्द्राभिधानकर्णाभरणाप्यतन्द्रा ।
समुत्क्षिपन्तीकुसुमानिभानि ह्यायातिसंध्यासुतरामिदानीम् ॥३६॥

टीका—अस्तोदयाख्यावाहार्यौ पर्वतौ तत्रगतौ प्राप्तावर्कचन्द्राभिधानावेव कर्णाभरणे यस्यास्सा तन्द्राहीनानालस्यवतीभानिनक्षत्राणि तान्येव कुसुमानि सुमत् प्रसन्नतया यथा स्यात्तथाक्षिपन्ती सतीदानीमात्मावसरे सुतरामेनायाति किल ॥३६॥

असौ निशेन्दोः परिरम्भवारादारात्तु ताराश्रमवारिसारा ।
ह्रियांशुदीपव्ययिनीत्युदारा तमोमिषात्तत्कृतधूमधारा ॥३७॥

टीका—असौ निशा नाम स्त्री, इन्दोः स्वस्वामिनः परिरम्भवारात् आलिङ्गनसमयात् हेतोस्तु पुनरारात् शीघ्रमेव तारा श्रमवारिणः पतिसगमकालसंभूतस्य सात्त्विकस्य स्वेदस्य सारा यस्यास्सा । उदारा पवित्राशयवती ह्रिया त्रपया कृत्वांशुदीपस्य सूर्यनामक दीपकस्य व्ययिनी हानिकर्त्री समस्ति तत एव तमोमिषात्तिमिरच्छलतः एषा तेनांशु-दीपव्ययेन कृता सम्पादिता धूमधारा प्रसरतीति ॥३७॥

साधुओकी सामायिक-सन्ध्या वन्दन आदि सर्वसंमत् विधिको प्राप्त हो रही थी ।❀ यह श्लेषोपमालकार है ॥३५॥

अर्थ—अस्ताचल और उदयाचल पर स्थित सूर्य और चन्द्रमा ही जिसके कर्णाभरण है तथा जो आलस्यमे रहित है ऐसी सन्ध्या (सन्ध्यारूपी स्त्री) बडी प्रसन्नतासे नक्षत्र रूपी पुष्पोको वर्षाती हुई स्वय ही इस समय आ रही है ॥३६॥

अर्थ—जिमके शरीर पर तारारूपी स्वेद जलकी बूंदे झलझला रही है ऐसी इम पवित्र आशय वाली रात्रि रूपी बधू ने चन्द्रमारूपी पति के आलिङ्गन का समय होनेसे लज्जावश सूर्यरूपी दीपकको बुझा दिया है। इसीलिये अन्ध-कारके बहाने उस बुझे हुए दीपकसे धुएँकी धारा उठ रही है ॥३७॥

---

१ 'अहार्य पर्वते पुसि' इति विश्व० । २ 'अंशुस्त्विषि रवौ' इति विश्व० ।

❀ जैनेन्द्र व्याकरण मे प्र-दी-प ये ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत की संज्ञाएँ है । 'मृत्' सुवन्त की मज्ञा है और 'धु' यह धातु की सज्ञा है, समास-तद्धित और कृदन्त प्रकरण सभी व्याकरणोमे प्रसिद्ध है ।

नारी निशा चावनिशादरस्य नारीह सा रीतिकरी स्मरस्य ।
लात्वा रतिं स त्ररतीव लोके पतत्यतः सम्प्रति नाबलोऽके ॥३८॥

टीका—असौ निशा रात्रि कारी के सूर्योऽरिर्वैरी यस्याः सा कारी श्यामला च वर्तते । अवनौ पृथिव्या मच्छ श तस्मिन्नादरो यस्य सोऽवनिशादर स्तस्य । यद्वा, न निशा-वनिशा तस्या दरपरिणामो भीतिभावो यस्य सोऽवनि शादरस्तस्य घस्ने तूर्ष्णीशीलस्य रात्रौ समुद्यमवत स्मरस्य कामस्येहास्मिन्नवसरे सा नारी स्त्री जातिः न विद्यते अरिर्यस्या एवभूता निरङ्कुशा भवतीत्यर्थाः । सा स्मरस्य रीतिकरी भवति । यद्वा स्मरस्य हसन स्म प्रसत्तिरनस्यारि स्तस्येति करोतीति स्त्री हसारीतिकरी । सैव स्मरस्य करी हस्ती स रतिं कामदेव स्त्री प्रातिप्रसू (?) लात्वा लोकेऽस्मिन् ससारे सञ्चरतीव इतस्ततः पर्यटतीवेति । अतएव सम्प्रति अधुना पुन रबलो जन. स्त्रीविहीनो मनुष्य· सोऽके सकटे पतति नि स्त्रीको दु खीभवतीति ॥३८॥

अकाय शंका सहितः सकायः पन्थाः सतां व्योमभवद्विहायः ।
कुमुद्वती नाम सुमुद्वनोति कृत्वात्र जाता क्षणदा प्रणोतिः ॥३९॥

टीका—स कश्चिदपि काय —क सूर्य एवाय आजीवन यस्य स काय· कोवाकमल-प्रभृनिर्जन स तु अकस्य दु खस्याय सम्प्राप्तिभावस्तस्यशका सहितो भवति । यद्वा कायेन सहित सकाय शरीरधारी जन स चाकायस्य अनङ्गस्य कामस्य शका सहित कामातुरो भवतीति । असौ सतां नक्षत्राणा पन्था मार्गो य आकाश वीनां पक्षिणाम् ओम स्वीकरण यस्य व्योम स एवाधुना विहायोऽभवत् । वीना पक्षिणा हायकरणत्वात् । यद्वा सतां पन्था

अर्थ—एक तो अँधेरी रात है, फिर स्त्री जाति पृथिवी सम्बन्धी सुखमे आदर रखनेवाले कामदेवकी आज्ञाकारिणी है, यही नही कामदेव अपनी स्त्री रतिको साथ ले लोकमे सर्वत्र भ्रमण कर रहा है अत स्त्री रहित मनुष्य इस समय सकटमे पड रहा है ॥३८॥

अर्थ—इस समय **काय**--**क**-सूर्यके आश्रित **आय**—आजीविकावाले चकवा तथा ककल आदि पदार्थ **अकायशंकासहित**-दुःख प्राप्तिकी शकासे सहित हो रहे है—सूर्यके अभावमे दु·खकी शका कर रहे है अथवा **सकाय**—शरीर धारी मनुष्य **अकाय**—कामकी शकासे सहित हो रहे हैं अर्थात् कामातुर हो रहे है । नक्षत्रोका मार्ग तथा व्योमपक्षियोको स्वीकार करनेवाला आकाश विहाय—अन्धकारके कारण विहाय—पक्षियोके लिये कष्टकारक हो रहा है । अथवा नक्षत्रोका मार्ग आकाश व्योम कहलाता हुआ **भवत्**—नक्षत्रोंसे युक्त **विहायस्**

---

१. 'को ब्रह्मानिल सूर्याग्नियमात्मद्योति बर्हिषु' विश्व० ।

व्योमाधुना भवत्-नक्षत्रसंघातयुक्तं सत् विहायो भवतीति। या कुमुद्वती घस्रे दुःखिता नाम कैरविणी सकुचितत्वात् साधुना सुमुद्वती प्रशस्तियुक्ता जाता। इत्यत. कृत्वात्र लोके क्षणदाप्रणीति क्षणदाया रात्रे प्रणीति प्रवृत्तिर्यद्वा तु क्षणदा क्षणसात्परिवर्तन-शीला प्रणीतिर्जाता लक्ष्यते तावत् ॥३९॥

पीतं यदेतन्निशयाम्बरन्तु नीडं खगाः स्पष्टमिति श्रयन्तु।
प्रयाति कामी नवलोहितन्तु दारा श्रयन्ते धवलम्भवन्तः ॥४०॥

टीका - यदेतदम्बरमाकाशमेव वस्त्रं तन्निशया रात्र्या पीत ग्रस्त यद्वा तु हरिद्रया पीतवर्णमस्ति। तु पुन. खगा पक्षिणस्तदेव नीडमिति डलयोरभेदात् नील श्यामवर्णं स्पष्ट यथास्यात्तथा श्रयन्तु निभालयन्तु यन्निभालयन्ति तावत्। यद्वा नीड कुलायं श्रयन्तु सन्ध्यासमयत्वात्। कामी कामातुरो मनुष्य स नव च तल्लोहित रक्तवर्णं च तत्प्रयाति जानाति यत किलातुरागवान् भूत्वा नवलस्तरुणवयस्कः कामी हित सुख-शर्मसाधन प्रयाति तदेवाकाश प्रत्येति। दाराश्च भवन्तस्ते प्रख्याता युवतय इत्यर्थः। ताश्च तदाकाश धवल शुक्लवर्णं जानन्ति, तस्मिन्नन्धकारबहुले गगनेऽपि यथेच्छप्रक्रमं कुर्वन्ति, धवस्य प्राणेश्वरस्य लम्भ प्राप्तिस्तद्वन्तो जाता इति यावत्। अर्थादेकवर्णमप्याकाश यथारुचि नाना वर्णतयानुज्ञात लोकैरिति ॥४०॥

आकाश हो रहा है। और जो कुमुदिनी दिनमे सकुचित रहनेसे **कुमुद्वती**—कुत्सित हर्षमे सहित थी—दुखी थी वही इस समय विकसित हो जानेसे **सुमुद्वती**—उत्तम हर्षमे सहित है। इस तरह इस समय **क्षणदा**—रात्रिकी प्रवृत्ति परिवर्तनशील है। तात्पर्य यह है कि किसीको दु खका कारण है और किसीको सुखका कारण है। '**क्षणमुत्सव ददातीति क्षणदा**' जो उत्सव देवे वह क्षणदा और जो '**क्षणमुत्सवं द्यति खण्डयतीति क्षणदा**' जो उत्सवको खण्डित करदे वह क्षणदा है। अथवा '**क्षणं परिवर्तनं ददातीति क्षणदा**' जो क्षण क्षणमें परिवर्तनको देती है वह क्षणदा है। इस प्रकार क्षणदा-रात्रि वाचक क्षणदा शब्द-के विविध अर्थ है ॥३९॥

अर्थ—यह जो **अम्बर**—आकाश है उसे रात्रिरूपी स्त्रीने **पीत**—पीला वस्त्र समझ पीत कर लिया है—ग्रस्तकर लिया है। पक्षी उसी आकाशको **नीड**—नीला (पक्षमे **घोसला**) समझकर उसका आश्रय ले रहे है। कामी जन उसे **नवलोहित**—नवीनलाल वर्णका समझ रहे है (पक्षमे **नवल**—नूतन तारुण्ययुक्त कामी जन उसे **हित**—सुखका साधन जान रह है और **दार**—स्त्रियाँ उसे **धवल**—शुक्ल वर्ण समझकर स्वीकृत कर रही है अर्थात् आकाशके तिमिराच्छादित होनेपर भी उनकी काम-प्रक्रिया चल रही है। पक्ष मे **दारा**—स्त्रियाँ **धवलम्भवन्तः**—पतिकी प्राप्तिसे सहित हो रही है अर्थात् कामातुर हो पतिके पास पहुँच

कलङ्किनः शासनमत्र रात्रावहो न सा के बलकारिमात्रा ।
विचारहीनां भुवमीक्षमाणो लभे प्रवेशं न मनागिवाणोः ।।४१।।

टीका—अत्र रात्रौ निशायां कलङ्किनश्चन्द्रमसः शासनमस्ति । के सूर्ये विषये बल-कारिमात्रा सा न विद्यते । वीनां पक्षिणां चारः प्रचारस्तेन हीना रहितां भुवमीक्षमाणः पश्यन् सन्नहं अणो परमाणोरिवास्मात् प्रवेशं स्वरूपं न लभे पश्यामि अन्धकारबहु-लत्वात् । अत्र रात्रौ कलिरूपायामागमाज्ञया कृत्वा कलङ्किनो नाम राज्ञः शासनं भवति, केवलज्ञानकारिमात्रात्र मनागपि सा न भवति—केवलज्ञानप्रादुर्भावोऽस्मिन्समये नैवास्ति । तथा विचारहीनां भुवं सद्विवेकरहितां प्रजामीक्षमाणोऽहं प्रवे प्रकृष्टबुद्धिविषयं शं धर्मं मनागपि न लभे । सद्धर्मव्याख्यानमपि व्याख्यातृदोषेण कृत्वा सदोषमेवाधुना भवति विसंवादत्वात् । यथाणो. प्रवेशं न लभे तथा धर्मस्य सत्यार्थरूपमपि । के जले पर्यन्ततः समुद्रसद्भावात् लङ्का नाम नगरी यद्वा राजधानी यस्य स कलङ्की तस्य शासनमत्र रात्रा-वपि अपराधबहुलरूपायां जनसत्तायामपि विद्यते तस्मात् अकेन सहिते साकेऽपराधिजने बलकारिमात्राधुना न विद्यते न्यायशीलस्य ब्रिटिशशासनस्य सद्भावात् किलापराधिजन-

---

रही हैं ।।४०।।

अर्थ—रात्रिमे चन्द्रमा चमक रहा है, सूर्य अस्त हो चुका है, पृथिवी पक्षियो-के सचारसे रहित है और अन्धकारकी बहुलतासे कही कुछ दिखायी नही दे रहा है इस प्राकृतिक बातको कवि अपनी भारतीमे इस प्रकार कह रहा है—

रात्रिमे **कलंकी**—चन्द्रमा (पक्षमे सदोष राजा) का शासन है, **क**—सूर्यकी तिमिरापहारिणी शक्ति नष्ट हो चुकी है। पक्ष मे किसी बलिष्ठ राजाकी सामर्थ्यका अस्तित्व नही है) और पृथिवी **विचार**—पक्षियोके सचार (पक्षमे अच्छे विचारो) से शून्य हो रही है अत. मै परमाणुके प्रदेशकी तरह **प्रवेश**—प्रकृष्टदेशना (पक्षमे **प्रकृष्टं ववातीति प्रवः स चासौ ईशश्चेति प्रवेशः तं निग्रहा-नुग्रहसामर्थ्यवन्तं नृपं**) श्रेष्ठ राजाको नही प्राप्त हो रहा हूँ यह आश्चर्य है ।

अथवा

इस समय (इस पचम कालमे) आगम प्रसिद्ध **कलङ्की**—कल्कि राजाका शासन है, केवलज्ञानका प्रादुर्भाव नही है और पृथिवी विचार-सद्विवेकसे रहित है अतः मैं परमाणुके प्रदेशकी तरह कही भी शं–सुख-शान्तिको प्राप्त नही हो रहा हूँ यह दुःखकी बात है ।

अथवा

इस समय **कलंकी**—चारों ओर **क**—जलसे वेष्टित होनेके कारण—लंका तुल्य सुरूपमे निवास करने वाले ब्रिटेनका शासन है **साके**—अपराधी जनोंमें

प्राबल्यमधुनापि नास्ति, विपरीतस्चारो विचारस्तेन हीनां भुवमीक्षमाणोऽहं प्रवे शुद्ध-स्वरूपेऽस्मिन् भूतले श हिंसां न लभे यथाणो प्रवेश न लभे इतिवर्तमानशासनप्रशंसनं भवति ॥४१॥

सन्ध्यामिषेणोत्कषणप्रतीतमस्तावनिध्रे　　निकषाश्मनीतः ।
विक्रीय भानुं　भरुपिण्डमानीतानीव　खेनोडुकरूप्यकाणि ॥४२॥

टीका—अस्तावनिध्रे नामास्ताचलरूपे निकषाश्मनि कर्षणपाषाणे इतः सन्ध्यामिषेण सायकृतारुणिमच्छलेनोत्कषणप्रतीत समुल्लिख्य प्रत्यायित भानु सूर्यमेव भरुपिण्ड सुवर्ण-गोलक विक्रीय दत्त्वा खेनाकाशेनोडुकानि नक्षत्राण्येव रूप्यकाणि नाणकानि आनीतानि समारब्धानि तत एव पुन सुवर्णगोलक न दृश्यते तावत् ॥४२॥

निशावधूः स्वागतमात्मभर्तुरुद्दिश्य वै कैरवहर्षकर्तुः ।
बृहत्तमस्तोमककेशवेशे मुक्ताश्च तारा विवधात्यशेषे ॥४३॥

टीका—सुस्पष्टमिदं वृत्तम् ।

बल-सामर्थ्यका अभाव है और पृथिवी—प्रजा विचार—विपरीत आचरणसे रहित है अत मै कही पर श–हिंसाको नही प्राप्त कर रहा हूँ अर्थात् सर्वत्र सुख शान्तिसे प्रजा जीवन यापन करती है।[1] यह अनुभव कर रहा हूँ ॥४१॥

अर्थ—सूर्यास्तके बाद आकाशमे तारे छिटक रहे है जिससे ऐसा जान पडता है मानो आकाश (रूप वणिक्) ने अस्ताचल रूपी कसौटी पर इस सध्याके बहाने कसकर सत्यापित सूर्यरूपी स्वर्ण पिण्डको बेचकर उसके बदले नक्षत्र रूपी चाँदोके सिक्के प्राप्त किये है ॥४२॥

अर्थ—निशारूपी स्त्री अपने पति चन्द्रमाके स्वागतके उद्देश्यसे सुविस्तृत समस्त अन्धकार समूह रूप के।-विन्यासपर तारारूप मोतियोको धारण कर रही है।

भावार्थ—तिमिराच्छादित समस्त आकाशमे छिटके हुए नक्षत्र ऐसे जान पड़ते है मानो रात्रि रूपी स्त्रीने अपने पति–चन्द्रमाके स्वागतके लिये अपने केशपाश पर मोती ही लगा रक्खे हो। ॥ ४३ ॥

---

१ जयोदय काव्यकी रचना ब्रिटिश शासनमे हुई थी इसलिये कविने श्लेषसे उसकी प्रशंसा की है।

यदर्कबिम्बं करकं त्ववापि तथास्य सन्ध्यात्वगिवोज्झितापि ।
कालेन तद्बीजभुजा तु भानि भवन्तु-अस्थीन्यथ थूत्कृतानि ॥४४॥

टीका—यत्किलार्कबिम्ब सूर्यमण्डल तत्तु करक नाम, दाडिमफलमवापि समुपलब्ध कालेन नाम कर्त्रा तथा पुनस्तस्य करकस्य बीजानि भुनक्तीति तद्बीजभुक्तेन तद्बीजभुजा तु पुनरपि सा सायमरुणिमा नाम सा त्वगिव चर्मतुल्योज्झिता समुत्पाट्य परित्यक्ता, अथानन्तर तदास्वादयता तेन तदस्थीनि नाम बीजान्तर्गतकठिनांशरूपाणि नि:साराणि यानि थूत्कृतानि तान्येवामूनि भानि नक्षत्राणि नामतो भवन्तु तावत् ॥४४॥

निशौतुकी तन्मयकौतुकित्वात्कपोतमादाय विधुं स्वकित्वात् ।
गता नभः सौधशिरोऽथ ऋक्षास्तद्दन्तपातात्पतिता हि पक्षाः ॥४५॥

टीका—निशा रात्रिर्नामौतुकी विडाली मा विधु चन्द्रमसमेव कपोत पारावत तन्मयकौतुकित्वात्कपोतग्रहणैककौतुकशीलत्वात् किलादाय गृहीत्वा तु पुनरकित्वात् तत्कपोतग्रहणरूपापराधयुक्तत्वात् नभ आकाशमेव सौधं हर्म्यं तस्य शिर उपरिभाग गता प्राप्तवती लक्ष्यते तावत् । अथ च ऋक्षा नक्षत्राणि तस्या निशा–विडाल्या दन्तपातात् सहसैव दशनसघातात्कृत्वा ये पक्षा पत्राणि पतिता इतस्ततो विकीर्णास्ते भान्तीति शेषम् ॥ ४५ ॥

उत्सङ्गजं सूचयतीन्दुदेवं पूर्वाद्रिमूलान्तरितं दिगेव ।
शोणानना कैरवराशिभृङ्गारवैरियं सन्मणितप्रसङ्गा ॥४६॥

अर्थ—सूर्यास्त होनेके बाद सन्ध्याकी लालिमा भी समाप्त हो चुकी है और आकाशमे उज्ज्वल तारे चमकने लगे है इससे ऐसा जान पडता है कि कालरूपी काल–यमने सूर्यबिम्ब रूपी अनारका फल प्राप्त किया है और सन्ध्या रूपी लाल त्वचा को उजाडकर फेकनेके बाद उसने अनारके बीजोको खाया है खाते समय बीजोके भीतरका जो कठोर अश है उसे उसने थूक दिया है, यह कठोर अश ही तारे है ॥ ४४ ॥

अर्थ—रात्रिरूपी बिल्ली, कबूतर पकडनेके कौतूहलसे चन्द्रमारूपी कबूतरको पकडकर आकाशरूपी भवनके उपरिम भागपर जा पहुँची, वहाँ अपने अपराधी स्वभावसे उसने दातोके आघातसे उस कबूतरके पंखे उखाडकर फेक दिये, वे पखे ही नक्षत्र है ॥ ४५ ॥

---

१. करकोऽस्त्री करङ्के स्यात्कुण्डया चाथ पुमान्खगे ।
कुसुम्भे दाडिमे हस्ते करका तु घनोपले ॥ इति विश्व०

टीका—पूर्वदिक् शोणमरुणमानन मुख यस्यास्सा सम्भवती प्रीतिवशेन प्रसन्नमुखेत्यर्थः । कैरवेषु रात्रिविकासिकमलेषु रागिणो ये भृङ्गा भ्रमरास्तेषामारवैर्गुञ्जनैः कृत्वा कैरवसगतषट्पदस्वनमिषेणेति भणिते सुरतसमयसम्भवा-नन्वशब्दने प्रसङ्गः प्रस्तावो यस्यास्सा, इन्दुदेवं चन्द्रमेव स्वस्वामिन अद्रे. पूर्वपर्वतस्य मूलेऽन्तरितं प्रच्छन्नं भवन्तं तमुत्सङ्गमङ्कारोपितं सूचयति चन्द्रमस प्रेमपरायण स्पष्टयतीति यावत् ॥ ४६ ॥

चण्डीशचूडामणिरेष भर्ता कुमुद्वतीनां स्मरसन्निधर्ता ।
मित्रं समुद्रस्य च पूर्वशैल-शृङ्गे तु सोमः कलशायतेऽलम् ॥४७॥

टीका—एष दृष्टिपथ गतः सोमश्चन्द्रमा. चण्डीशस्य महादेवस्य चूडामणिर्मुकुटस्थानीय, कुमुद्वतीनां भर्ता प्रसन्नकर्ता, स्मरस्य नाम रतिपते सन्निधर्ता पारिपार्श्विकः, समुद्रस्य च मित्रमुल्लासकारकत्वात्, स पूर्वशैलस्य नाम प्रासादस्थानीयस्य शृङ्गे उपरिमभागे कलशायते कलश इवाचरतीति अलमिति पर्याप्तम् ॥ ४७ ॥

तमोंऽशुकं राज्यपसार्य शस्तैः करैश्च मध्यं स्पृशति स्वतस्तैः ।
परिस्फुरत्कैरववक्त्रबिम्बा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणीति दम्भात् ॥४८॥

टीका—तमोंऽशुक तिमिरमेव वस्त्रमपसार्योपसहृत्य राज्ञि चन्द्रमस्येव हृदयेश्वरे ते प्रख्यातैः शस्तैराह्लादकरैः करैः किरणैरेव हस्तैः कृत्वा मध्यमङ्कदेशं स्पृशति तदुत्सङ्गमाश्रयति सति श्यामा रात्रिर्नाम षोडशवर्षिका स्त्री सा परिस्फुरदुत्फुल्लतामागच्छत् कैरवमेव वक्त्रबिम्ब मुखमण्डल यस्या एवम्भूता भवती चन्द्रमणिषु

अर्थ—सन्ध्याकी लालिमारूप मुखसे युक्त पूर्वदिशा रूपी स्त्री कुमुदोपर गुंजार करने वाले भ्रमरोके शब्दोके बहाने सभोगकालीन शब्दको सूचित करती हुई पूर्वाचलके मूलमे छिपे चन्द्रमा रूपी पतिको सूचित कर रही है। तात्पर्य यह है कि पूर्व दिशामे चन्द्रोदय होने वाला है ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो महादेवका मुकुटमणि है, कुमुदिनियोका पति है, कामदेव का निकटवर्ती है और समुद्रका मित्र है ऐसा यह चन्द्रमा पूर्वाचल रूप प्रासाद की शिखर पर कलशाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥ ४७ ॥

अर्थ—ज्योही राजा-चन्द्रमारूपी पतिने अपने प्रख्यात-प्रसिद्ध और उत्तम कर-किरणरूपी हाथोसे अन्धकाररूपी वस्त्रका अपहरण कर मध्यभाग का स्पर्श किया त्योही श्यामा—रात्रिरूपी नवयुवतिका कुमुदरूपी मुख मण्डल

---

१ 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयो' इति विश्व ।

चन्द्रकान्तरत्नेषु या किलेतिविकरणपरिणामो जलदानलक्षणस्तस्या वम्भात् व्यपदेशात् स्वतोऽनायासेनैवाद्रवत् स्खलतिस्मेति प्राणेश्वरसयोगे प्रेमपरायणतया परिणतिमगच्छत् किल ॥ ४८ ॥

तमोमयं केशचयं नियम्य मरीचिभिश्चाङ्गुलिभिश्च सम्यक् ।
विमुद्रिताम्भोरुहनेत्रबिन्दुमुखं रजन्याः परिचुम्बतीन्दुः ॥४९॥

टीका - इन्दुर्नाम चन्द्रमा· स रजन्या निशाया नाम स्त्रियास्तमोमयमन्धकारात्मक- केशचयं शिरोरुहसमूह स्वकीयाभिर्मरीचिभि· किरणैरेवाङ्गुलिभि करशाखाभि· कृत्वा नियम्य संभाल्य सम्मुद्रितो अम्भोरुह जलजमेष नेत्रबिन्दुर्नयनतारकदेशो यत्र तत् तादृक्- मुखं सम्यक् सुष्ठु यथा स्यात्तथा परिचुम्बति प्रेम्णास्वादयति । प्रीतिसपर्के समुद्भूतेना- नन्देन कृत्वा नेत्रनिमीलन तु जातिस्तयात्र जलजसंकोचनमभूदिकलेति भावः ॥४९॥

तमोवगुण्ठातिगता ततापि तारापदेशाच्छ्रमवारिणापि ।
पत्युश्चरत्युत्सवहेतवे तु समुद्यता कैरवहर्षसेतु ॥५०॥

टीका—इय निशा नाम स्त्री तमोवगुण्ठातिगता तम एवावगुण्ठनमाच्छादनं तस्मा- दतिगता रहिता निरावरणसन्दर्शितशरीरेत्यर्थः । तथा ताराणामपदेशाच्छलाच्छ्रमवारिणा पतिसंयोगेन कृत्वा समुत्थितेन प्रस्वेदजलेन च यापि प्राप्ता व्याप्तासीत् । तथा कैरवाणां नक्तंकमलानां हर्षस्य प्रसन्नभावस्य सेतु· स्थान यद्वा कैरद्योतैश्चन्द्रप्रकाशै कृत्वा रवस्येति- लवस्य चकोरस्य हर्षसेतुः, इत्येवंभूता च पुनः पत्युश्चन्द्रमसो रतिसम्बन्ध्युत्सवस्य हेतवे कारणाय तु समुद्यतास्ति ॥५०॥

खिल उठा और चन्द्रकान्त मणियोंसे झरने वाले जलके छलसे वह स्वय ही द्रवीभूत हो गई ॥ ४८ ॥

अर्थ—चन्द्रमा रूपी पति किरणरूपी अङ्गुलियोंके द्वारा अन्धकार रूप केश समूहको संभालकर रजनी—रात्रिरूपी स्त्रीके उस मुख (पक्षमें अग्रभाग) का अच्छी तरह चुम्बन कर रहा है जिसमें कमल रूपी नेत्र प्रदेश निमीलित हो रहे हैं ॥४९॥

अर्थ—रात्रिरूपी स्त्रीके शरीरपर जो अन्धकारका विस्तृत आवरण था वह दूर हो गया, ताराओके छलसे उसके शरीर पर सात्त्विक भावके रूपमें पसीना की बूँदें झलझला उठी और कुमुद खिल उठे, इससे ऐसा जान पडता है कि यह सब परम्परा, पति—चन्द्रमाके रति सम्बन्धी उत्सवके लिये ही प्रकट हुई है ॥५०॥

निष्पीड्यमाने तिमिरे करेण भृशं सितांशोर्विधिनाऽऽदरेण ।
भङ्क्त्वार्गलं कोकयुगं ह्युदाराशयेन सद्द्वार मदायि चारात् ॥५१॥

टीका—सितांशोर्नाम चन्द्रस्य करेण किरणेनेव हस्तेन भृशं मुहुः निष्पीड्यमाने ताड्यमाने तिमिरे तमःसमूहे सत्युदाराशयेन महात्मना विधिनादृष्टेनादरेण विनयेन कृत्वा कोकयोर्युग मिथुनं तदेवार्गलं निगडं भङ्क्त्वा विभज्याराच्छीघ्रमेव सत् सम्यक् द्वारं मार्गमुखमदायि दत्तं । सूर्यास्तमुपेत्य चक्रवाकमिथुन विच्छिन्नं चन्द्रोदयेन कृत्वा तिमिरं विनष्टमिति ॥५१॥

शाणोपलेऽस्मिन्खलु शीतभानावयं जगत्ताडनकुण्ठितानाम् ।
उत्तेजनामङ्कपरिस्थितीनां स्मरः शराणां समुपैत्यदीनाम् ॥५२॥

टीका—अयं स्मरः जगतां प्राणिमात्राणा ताडन तेन कृत्वा ताडनकर्मणि व्यापारेण कृत्वा कुण्ठिताना शराणामात्मबाणानामङ्कपरिस्थितीना टङ्कृतचिह्नस्य परिस्थितिर्यत्र तेषां, अस्मिन् शीतभानौ चन्द्रमसि नाम शाणोपले घर्षणपाषाणे नदीनामदीनामति प्रशस्तामुत्तेजनां तैक्ष्ण्यकरणवृत्तिं समुपैति प्राप्नोति चन्द्रोदये प्राणिमात्रेषु कामसञ्चारो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥५२॥

विलासिनीनां प्रतिवीथि आस्यं निरीक्षमाणः शुचिहासभाव्यम् ।
करान्प्रसार्योपगवाक्षमिन्दु सौन्दर्यभिक्षामटतीष्टबिन्दुः ॥५३॥

टीका—वीथिं वीथिं प्रति प्रतिवीथि सर्वासु रथ्यासु स्थितानां विलासिनीनां पण्यस्त्रीणां

अर्थ—जब चन्द्रमाकी किरण रूपी हाथोके द्वारा अन्धकार बार-बार अत्यधिक पीडित होने लगा तब उदाराशय-दयालु दैवने आदरपूर्वक चक्रवाक युगल रूपी आगलको तोडकर भागनेके लिये उसे अच्छा-विस्तृत द्वार दे दिया। भाव यह है कि चन्द्रोदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो गया और चकवा चकवी का युगल बिछुड गया ॥५१॥

अर्थ—सचमुच, कामदेव इस चन्द्रमा रूपी मसाण पर जगत्को ताडित करनेसे मोथले अपने उन बाणोकी तीक्ष्णताको प्राप्त करता है जो अङ्क—चन्द्रमाके चिह्न पर स्थित है।

भावार्थ—चन्द्रमा काम बाणोको पैना करनेके लिये मानो मसाण—घिसने का पाषाण है और उसके बीच जो काला चिह्न है वह बाणोके घिसनेसे उत्पन्न हुआ दाग है ॥५२॥

अर्थ—चन्द्रमाकी किरणे गली गलीमे झरोखोके पास पहुँच रही हैं उससे

शुचेः पुनीतस्य हासस्य स्मितलक्षणस्य भाव्यं स्पष्टीकारकमास्यं निरीक्षमाणः पश्यन् सन् इन्दुश्चन्द्रमा इष्टस्य विन्दुर्जाताभीष्टसववक उपगवाक्षं जालकं प्रति करान् किरणानेव हस्तान्प्रसार्य तासामग्रे कृत्वा सौन्दर्यस्य लवणिम्नो भिक्षां याञ्चमटति प्राप्नोति । स्त्रीणामास्य चन्द्रमसोऽपि सुन्दरतरमिति भाव ॥ ५३ ॥

कुमुद्धवे मोदकरे स्वभावान्नवासुरा[1] सावि नवा सुरा वा ।
नर[2] सरः श्रीसबलाऽबलापि सभं नभस्थानमिदं यदापि ॥५४॥

टीका—यदिद नभस्थानमाकाशस्थल तत् भरहितमप्यधुना सभभैर्नक्षत्रैः सहितमपि प्राप्तम् । नरो मनुष्य स पुनरधुना रकारेण कामानलेन सहितः सरः, अबला स्त्रीजाति सा श्रीसवमुत्सव लातीति श्रीसबला प्रमोदसहितापि प्राप्ता खलु । कुमुदां चन्द्रविकासि कमलाना धवे स्वामिनि चन्द्रमसि मोदकरे उदयमवाप्य जगतामाह्लादकारके भवति सति असौ वासुरा रात्रिरपि वान वासुरा न रात्रिर्जाता कामिनां दिनवज्जारणकर्त्री, यद्वा नवा सुरा नूतना मदिरेव मदकर्त्री स्वभावादेव ॥ ५४ ॥

मन्ये मधुच्छत्रमधस्त्रजानिर्भवन्ति यद्विन्दुनिभानि भानि ।
तमोमिषादुत्थितमक्षिकाभिर्व्याप्तं जगत्किन्नु पुरैव नाभि ॥५५॥

ऐसा जान पडता है मानो चन्द्रमा वेश्याओके मुसकुराते एव मनोभावको स्पष्ट करने वाले मुखको देखकर—किरणरूप हाथ पसारकर उनसे सौन्दर्यकी भिक्षा माँगनेके लिये ही घूम रहा है ॥ ५३ ॥

अर्थ—कुमुदपति—चन्द्रमाके आनन्दकारी होनेपर—पूर्णरूपसे उदित होने पर स्वभावसे ही—अपने आप **वासुरा**—रात्रि वासुरा—रात्रि नही रही किन्तु दिनके समान प्रकाशमान हो गई अथवा कामी मनुष्योको दिनके समान जगाने वाली हो गई । अथवा **नवा-सुरा**—नूतन मदिराके समान नशा करने वाली हो गई । **नर**—मनुष्य **नर**—मनुष्य (पक्षमे कामरहित) नही रहा किन्तु **सर**—काम सहित हो गया । **अबला**—स्त्री भी **अबला** न रह कर **श्रीसबला**—लक्ष्मीके समान **सबला** अथवा लक्ष्मीके मव—उत्सवको लानेके कारण **श्रीसबला** हो गई और **नभस्थान**—आकाशरूप स्थान **नभस्थान**—नक्षत्रोका स्थान न होकर भी **भस्थान**—नक्षत्रोका स्थान हो गया ॥ ५४ ॥

---

१. 'वासुरा वारितायां स्यान्निशाभूम्योश्च वासुरा' इति विश्व०
२ 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्व०

टीका—योऽसावघस्रजानिः, न घस्रमघस्रं नक्तं जाया स्त्री यस्य सोऽघस्रजानिः चंद्रमाः, स एव मधुनश्छत्रमिव भवति, यस्य विदुनिभानि सम्यतद्बिन्दुभिस्तुल्यानि नक्षत्राणि भवन्ति। तमसोऽन्धकारस्य मिषाद् व्याजाद् उत्थिता इतस्ततः प्रचलिताश्च या मक्षिकास्ताभिर्व्याप्त व्याकुलीभूतं जगत्समस्तमपि किम्व मिवमस्ति। पुरैव पूर्वमेव किमिद न सत्य किंतु सत्यमेव ॥ ५५ ॥

सिंहीसुतस्याऽऽग्यरदैर्व्रणन्तु सुधांशुबिम्बस्य पदानि सन्तु ।
वियोगिनीनामथवा दृगन्तैः समंगतैं रञ्जनकैर्धृतं तैः ॥५६॥

टीका—सिंहीसुतस्य नाम राहो रदैर्दशनैः कृत्वा सुधांशुबिम्बस्य चंद्रस्य व्रणं तु जातं तस्य पदानि चिह्नानि कलङ्क नाम्ना सन्तु भवंतु। अथवा पुनः वियोगिनीनां विरहिस्त्रीणां दृगंतैर्नयनकोणैः सम साधं गतै प्राप्तैस्तै प्रसिद्धै रञ्जनकैः कज्जलैः धृतमङ्कितं तच्चन्द्रमसो बिम्बमिव भवति किल ॥ ५६ ॥

आकाशनीराशयपुण्डरीकं वदाम्यदोऽङ्कस्थित चञ्चरीकम् ।
यूनां मनो वर्त्मनि तर्तरीकं तरत्यहो कामरमामरीकम् ॥५७॥

टीका—अदश्चन्द्रबिम्ब तदेनत्खलु अङ्के कर्णिका मध्ये स्थितश्चञ्चरीको भृङ्गो यस्य तत् आकाश एव नीराशयस्तटाकस्तस्य पुण्डरीकं नाम श्वेतकमल मेवाह वदामि। यत्किल चंद्रबिम्बं यूनां तरुणानां मनोवर्त्मनि चित्तमार्गे कामस्य रमा रति. सैवामरी देवी तस्य तत्सम्बधि [1]तर्तरीक जलतरणयान तावद्वर्ततेऽहो इत्याश्चर्यम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—मैं मानता हूँ कि यह अघस्रजानि—निशापति—चन्द्रमा मधुच्छत्र—शहदका छत्ता है, नक्षत्र शहदकी बूदोके समान है और अन्धकारके छलसे मधुमक्खियों द्वारा यह समस्त जगत् क्या पहलेसे ही व्याप्त नही है? अर्थात् है ॥ ५५ ॥

अर्थ—चन्द्रमण्डलके बीचमे जो काला काला कलङ्क है वह राहुके दांतोसे किया हुआ घाव है अथवा विरहिणी स्त्रियोके नयन कोणोसे आसुओके साथ निकले हुए काजलोके द्वारा निर्मित काला दाग है ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस चन्द्रबिम्बको मै आकाशरूपी तालाबका वह श्वेत कमल कहता हूँ जिसकी कर्णिकाके मध्यभाग पर भ्रमर बैठा है और युवाजनोके मनोमार्गमे यही चन्द्रबिम्ब रतिदेवीका जलयान बनकर तैर रहा है ॥ ५७ ॥

---

१ 'तर्तरीक पारगे स्यात्तर्तरीकं वहित्रके इति विश्व०

प्राच्यां पुरारक्तिमुपेत्य पापी शापान्निशाया अधुनोपतापी ।
कलङ्कितामेति तुषारसार-गात्रोऽपि रात्रेर्हृदयैकहारः ॥५८॥

टीका—रात्रेर्हृदयैकहारश्चन्द्रमा पुरा प्राक् सन्ध्यासमये प्राच्यां नाम पूर्व दिशायामारक्तिमरुणिमानमनुराग चोपेत्य गत्वा निशाया: स्वनियोगिन्या शापात् दुराशिर्वशात् अधुना साम्प्रतमुपतापी पश्चात्तापशील. स पापी स्वकृतापराधवशेन कृत्वा कलङ्कितां लाञ्छनयुक्ततामेति । तुषारस्यहिमस्य सार एव गात्रं शरीरं यस्य सोऽत्यन्तधवलतनुरपि भवन् कलङ्कमाप्नोति । उदयकालीनामरुणतामुज्झित्य श्वेततामनुभवन् प्रव्यक्त कलङ्कश्चन्द्रमा भवतीति कृत्वोक्ति ॥५८॥

स्मरामरस्यामलमातपत्रं शृङ्गारवारस्य च ताम्रपत्रम् ।
विराजते सम्प्रति राजसत्रं सुधामयं श्रीद्युसदाममत्रम् ॥५९॥

टीका—राज्ञश्चन्द्रमस सत्र छद्म यत्र तदेतत् पुरोवर्तिस्मरामरस्य कामदेवस्य निर्मलमातपत्र साम्राज्यसूचक छत्रमेव सम्प्रति विराजते.। यद्वा शृङ्गारवारस्य सुरतवेलायास्ताम्रमत्रं शासनख्यापक प्रमाणपत्रमेव । किवा पुन सुधामयममृतपूर्णं द्युसदां देवानाममत्रं भाजनमेव वर्तते । 'सत्रं यज्ञे सदादाने कैतवे वसने वने' इति विश्वलोचने ॥५९॥

अर्थ—रात्रिके हृदयका अद्वितीय हार—चन्द्रमा सन्ध्या समय पूर्व दिशा मे लालिमा (पक्षमे अनुराग) को प्राप्त होकर पापी हुआ, इस समय अपनी नियोगिनी रात्रिके शापसे उपतापी—संतप्त शरीर वाला हुआ। इस तरह वह बर्फके समान शुक्ल शरीरसे युक्त होता हुआ कलङ्किताको प्राप्त हो रहा है ।

भावार्थ—चन्द्रमाकी असली स्त्री तो रात्रि थी परन्तु वह आते समय पूर्व दिशा रूपी स्त्रीसे अनुराग कर बैठा अत· पापी हो गया। इससे कुपित हो असली स्त्री रात्रिने उसे शाप दे दिया फलस्वरूप उपतापी हो गया—उसके शरीरमे जलन उठने लगी उसकी जलनसे बिरही मनुष्योको भी जलन होने लगी। उस जलनके प्रतिकारके लिए चन्द्रमाने अपने शरीरको बर्फसे आच्छादित किया, बर्फसे आच्छादित होनेसे वह शुक्ल तो हो गया परन्तु शुक्ल होनेपर उसका कलङ्क और भी अधिक प्रकाशमे आने लगा। एक स्त्रीको छोड अन्य स्त्रीसे अनुराग करने वाले नायकको यही दशा होती है ॥५८॥

अर्थ—यह जो राजसत्र—चन्द्रमाका छल लिये हुए शुक्ल पदार्थ दिख रहा है वह कामदेवके निर्मल छत्रके समान, अथवा सभोग समयके प्रख्यापक प्रमाण पत्रके समान अथवा अमृतसे परिपूर्ण देवपात्रके समान सुशोभित हो रहा है ॥५९॥

गरं जगन्मोहकरं तमस्तु यदस्य चन्द्रस्य हि भक्ष्यवस्तु ।
अतः स्वतः कज्जलजालजाति तुषारभासो जठरं विभाति ॥६०॥

टीका—यदस्मात्कारणात् अस्य तुषारभासः स्वच्छप्रभस्य चन्द्रस्य रात्रिपतेः भक्ष्यवस्तु भोजनं जगतां समस्तलोकानां मोहकरमतएव गरं विषरूपं तु तमस्तिमिरं हीति निश्चयेन वर्ततेऽतोऽस्य जठरं नामोदरमध्यं कज्जलस्य जालः समूहस्तस्य जातिरिव जातीर्यस्य तत् स्वत एव सहजतयैव विभाति तमसोऽधिकरणरूपत्वात् ॥६०॥

तमस्विनीज्योत्स्निकयोः प्रसत्तिसंवादवादीव विधुर्बिभर्ति ।
सितासितप्रायमुतात्मकायं द्विच्छायमङ्गाङ्गनयोरिहायम् ॥६१॥

टीका—तमस्विनी तमिस्रा ज्योत्स्निका चन्द्रिका तयोर्द्वयोः प्रसन्नतायाः संवादवादीवाविसम्वादपक्षपाती व भवन् विधुश्चन्द्रमा इहाङ्गनयोर्द्वयोर्मध्येऽयं प्रवर्तमान उताहो स्वित् सितं चासितं च यदिति बाहुल्येन भवतीति सितासितप्रायमात्मनः कायं शरीरं द्विच्छायं प्रभाद्वितयात्मकं बिभर्ति धारयति । अङ्गेति मृदुभाषणे ॥६१॥

केचिच्छशं केचिदितः कलङ्कं वदन्तु हीन्दोरनिमित्तमङ्कम् ।
पिपीलिकानां तु सुधाकशिम्बं किलावली चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥६२॥

अर्थ—चन्द्रमाकी भोज्य वस्तु रूप जो यह अधकार है वह समस्त जगत्को मोहित करने वाला विष है। इस विष रूप अन्धकारको ही चन्द्रमा खाता है—नष्ट करता है इसलिये बर्फके समान शुक्ल शरीर वाला होने पर भी इसका उदर काजलके समूहके समान स्वयं ही काला दिखायी देता है।

भावार्थ—यतश्च चन्द्रमाने विष तुल्य अन्धकारको खाया है इसीलिये उसका उदर-मध्यभाग कलक बहाने काला दिखायी पडता है ॥६०॥

अर्थ—यह चन्द्रमा, रात्रि और चाँदनी रूप दोनो स्त्रियोको प्रसन्नताका समाचार कहना चाहता है इसीलिये तो रात्रिको प्रसन्न करनेके लिये कृष्ण और चांदनीको प्रसन्न करनेके लिये शुक्ल इस तरह दोनो प्रकारके शरीरको धारण कर रहा है।

भावार्थ—चन्द्रमा स्वभावसे शुक्ल है और बीचमे कलङ्कसे युक्त होनेके कारण काला है। इससे ऐसा जान पडता है कि वह चादनीको प्रसन्न रखनेके लिये शुक्ल और रात्रिको प्रसन्न रखनेके लिये कृष्ण कान्तिसे युक्त शरीरको धारण करता है ॥६१॥

टीका—इत इन्दोश्चन्द्रमसोऽङ्कं चिह्न तावदनिमित्तं निष्कारणमेव केचित् जनाः शशमिति वदन्ति. केचित्पुन कलङ्क मिति वदन्ति, ते वन्दन्तु व्यर्थमेव प्रलपन्तु । तु पुनः किन्तु सुधा कशिम्ब्रममृतमयगुच्छक चन्द्रबिम्ब पिपीलिकाना चिण्टिकानामावली परम्परा चुम्बति स्पृशति किलेति युक्तभाषणे तावत् । मधुरपदार्थे पिपीलिकासंसर्गस्य युक्ति युक्तत्वात् ॥६२॥

विनेऽपि भावाच्छशिनो न तस्या च कौमुदीयं कुमुदस्य हि स्यात् ।
चान्द्री पदे सम्विदि भूपभूवत् सम्बन्धआधार इतो बभूव ॥६३॥

टीका—इय कौमुदी कुमुदानामिय कौमुदीति कृत्वासौ कुमुदस्य हि स्यात् भवेत्, नाथ शशिनश्चन्द्रस्य, तस्य विनेऽपि निशात्ययसमयेऽपि भावात्, यदि पुन कौमुदी चन्द्रस्याभविष्यत्तर्हि विनेऽपिचाप्राप्यस्य तत्सद्भावा विशेषात् । चन्द्रस्येय चान्द्रीतिपदे पुनरितः सम्विदि ज्ञाने भूपस्य भूरित्येनावन्मात्रतया रक्ष्यरक्षकरूपसम्बन्धाधारो हेतुरस्तु न पुन-कार्यकारणरूप· सम्बन्धोऽत्र दृश्यते कारणसद्भावे कार्यसद्भावाविशेषात् ॥६३॥

अर्थ—चन्द्रमाके चिह्नको इधर कोई बिना कारण ही खरगोश कहते है और कोई कलङ्क कहते है सो कहे—कहते रहे। युक्तिसगन बात तो यह है कि अमृतके गुच्छक स्वरूप चन्द्र विम्बको चोटियोका समूह चुम्बित कर रहा है। भाव यह है कि मधुर पदार्थ पर चीटियोका लगना युक्तियुक्त है ॥६२॥

अर्थ—सस्कृत कोषोमे चादनीके जो नाम प्रसिद्ध है उनमे **कौमुदी** और **चान्द्री** (चन्द्रिका) नाम भी शामिल है ? इन नामोकी सगतिका विचार करने वाले कविका कहना है कि यतश्च चन्द्रमा दिनमे भी रहता है अत यह **कौमुदी** चन्द्रमाकी नही हो सकती, यदि चन्द्रमाकी होती तो दिनमे भी रहना चाहिये। इस तर्कसे यह कौमुदी (चादनी) चन्द्रमाको न होकर कुमुदोकी ही हो सकती है क्योकि कुमुद दिनमे भी रहते है परन्तु चादनी दिनमे रहती नही है। चादनीको **चांद्री** भी कहते है पर इसकी सगति **'भूप की भू'** राजाकी भूमिकी तरह रक्ष्य रक्षक भावमे ही सम्भव है कार्य कारण भावसे नही। जिस प्रकार राजा भूमिकी रक्षा करता है अत भूमि राजाकी कहलाती है उसी प्रकार चन्द्र, चादनीकी रक्षा करता है इसलिये चन्द्रकी कही जाती है। जिस प्रकार भूप, भूका कारण नही है उसी प्रकार चन्द्र, चादनीका कारण नही है। यदि कार्यकारण भाव माना जावे तो जब चन्द्रमा दिनमे भी रहता है तब उसका कार्य चादनी भी दिनमे रहना चाहिये क्योकि कारण को रहते हुए कार्य अवश्य रहता है। तात्पर्य यह है कि लोग चन्द्रमाको महत्त्व चादनीके कारण दिया करते हैं पर तर्कसे

एतत्सविन्दीवरभासि नाम समापतत्साम्प्रतमिन्दुधाम ।
पयोधिमध्ये पततोऽनुर्नति वृत्तं सुरस्रोतस आविभर्ति ॥६४॥

टीका—एतत्पुरोवर्ति, सविन्दीवरं समुत्कृष्टनीलोत्पलं तद्विव भाः प्रभा यस्य तस्मिन् सविन्दीवरभासि आकाशे समापतत् यत्पतितं तद् इन्दुधाम चन्द्रमसः प्रकाशो नाम पयोधिमध्ये समुद्रस्यान्तःपततः सुरस्रोतसो गङ्गाप्रवाहस्य वृत्तमाविभर्ति धारयति तावत्खलु ॥६४॥

शशी विहायःसरसि प्रसन्नो हंसायते मेचकशैवलाशी ।
श्रीचन्द्रिकासारिणि वारिणीह तारातती राजति बुद्बुदाशीः ॥६५॥

टीका—विहायःसरसि आकाशसरोवरे प्रसन्नः शशी चन्द्रमा मेचकं[1] तम एव शेवलमश्नातीति सः हंसायते हंस इव लक्ष्यते । श्रीचन्द्रिकासारिणि कौमुद्याः सार इव सारा यस्मिंस्तस्मिन् वारिणि जलप्रवाहे इहाधाररूपे ताराणां नक्षत्राणां ततिः पङ्क्तिः सा बुद्बुदानां जलोत्थफोलकानामाशिर्वचनमिवाशीर्यस्याः सा विराजति खलु ॥६५॥

रामोऽपि राजा हृतवानिदानीं तारावराजीवनकृद्विधानी ।
निशाचरं सन्तमसं विशालैः सलक्षणोऽसौ करवालजालैः ॥६६॥

टीका—राजा चन्द्रमा भूपतिश्च रामो रमणीयो दशरथपुत्रो वा ताराया वरः सुग्रीवो यद्वा ताराणां नक्षत्राणां वरं श्रेष्ठमाजीवनं करोत्येवंविधं विधानं यस्यास्ति सः, इदानीं साम्प्रतं विशालैः सर्वतो गतिशीलैः करवालजालैरसिवरस्य व्यापारैरथवा कराणां

कौमुदी और चान्द्री दोनो ही चन्द्रमाकी सिद्ध नही होती फिर लोग इसे महत्त्व क्यो देते है ॥६३॥

अर्थ—समीचीन नील कमलकी प्रभा वाले अर्थात् नीले आकाशमे जो यह चन्द्रमाका प्रकाश पड रहा है वह समुद्रके बीच पडते हुए आकाश गङ्गाके सादृश्यको धारण कर रहा है ॥६४॥

अर्थ—आकाशरूपी सरोवरमे निर्मल चन्द्रमा, अन्धकार रूप शेवालको खाने वाले हसके समान आचरण करता है और चन्द्रिकाके सार रूप जलमे ताराओकी पक्ति बबूलेके समान सुशोभित हो रहो है ॥६५॥

अर्थ—इस समय राम–रमणीय, तारावराजीवनकृद्विधानी—नक्षत्रोंके श्रेष्ठ जीवनको करनेवाले विधानसे सहित एव सलक्षण—चिह्न युक्त इस राजा–

---

१. 'मेचकः श्यामले बर्हिचन्द्रे ध्वान्तेऽथ मेचकम्' इति विश्व० ।

किरणानां बालजालेर्नूतनतेप्रपञ्चैरसौ निशाचरं रात्रिसम्भवं राक्षसं वा हृतवान् नाशयति स्मेति, सलक्षणः चिह्नसहितो लक्ष्मणनामकेनानुजेन सहितश्च भवतीति ॥६६॥

स्वगोघृतैरुज्ज्वलितेषु काष्ठोदयेषु तारापरनामसाराः ।
जुहोति लाजाः किल कामसिद्धये द्विजाधिराडेष किलाधिकारात् ॥६७॥

टीका—एष द्विजाधिराट् चन्द्र एव विप्र. स स्वस्य गावो रश्मय एव घृतानि तै-रुज्ज्वलितेषु निर्मलीभूतेषु यद्वा ज्वालाकुलितेषु काष्ठोदयेषु दिशागमेष्वेव दारुसंग्रहेषु तारा इत्यपरं नामैव सारो यासां ता लाजाः भ्रष्टतन्दुलानि कामसिद्धये वाञ्छित-प्राप्त्यर्थं तथा च स्मरसम्पत्त्यर्थमधिकारात् प्रसङ्गविशेषात् किल जुहोति हवनकर्ता भवति । चन्द्रोदये तारा मन्दतां यान्ति कामवासना चाभिव्यक्ता भवतीति यावत् ॥६७॥

पयोनिधेः फेनकचन्दनन्तु भङ्गाः समुत्पेष्टुमहो जयन्तु ।
मुदे समादाय तदेतदेष दिगङ्गना लिम्पति लाञ्छनेशः ॥६८॥

टीका—फेनकमेव चन्दनं समुत्पेष्टुं घर्षयितु पयोनिधेः समुद्रस्य भङ्गास्तरङ्गा

चन्द्रमाने विशाल करवालजाल—किरणोके नूतन प्रपञ्चके द्वारा निशाचर—रात्रि सम्बन्धी सन्तमस—घोर अन्धकारको नष्ट कर दिया है ।

अथवा

इस समय तारावराजीवनकृद्विधानी—सुग्रीवके उत्कृष्ट जीवन निर्माता तथा सलक्षण—लक्ष्मण नामक अनुजसे सहित रामो राजा—राजा रामचन्द्रने संतमस—घोर अज्ञानी—महापराधी निशाचर—रावण रूप राक्षसको अपनी विशाल तलवारोके समूहसे नष्ट कर दिया ॥६६॥

अर्थ—चन्द्रिकाका प्रसार होने पर धीरे-धीरे नक्षत्रोके समूह दिशाओमे अन्तर्हित होने लगे इससे ऐसा जान पडता है मानो यह चन्द्रमा रूपी श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने अधिकारसे कामसिद्धि—अभिलषित अर्थकी सिद्धिके लिये (पक्षमे काम बाधाकी अभिव्यक्तिके लिये) अपने किरण रूप घीके द्वारा प्रज्वलित—प्रकाशमान (पक्ष मे ज्वालाओसे युक्त) काष्ठोदय—दिशाओके समागममे (पक्षमे समिधा-नामक काष्ठ सग्रहमे) तारा—नक्षत्र नामक लाईको होम रहा है । तात्पर्य यह है कि नक्षत्र कम होने लगे तथा स्त्री-पुरुषोमे कामकी अभिव्यक्ति शुरू हो गई ॥६७॥

अर्थ—फेनरूपी चन्दनको घिसनेके लिये समुद्रकी लहरें जयवन्त प्रवर्तें । उसी

चयन्तु, तवेतत्तमावाय लात्वा मुदे प्रसत्तये लाञ्छनोजन्मा: कर्ता दिगङ्गना लिम्पति चन्द्रोदये समुद्रोऽभ्युदयमाप्नोति दिशाश्च सर्वा. प्रसादमाप्नुवन्ति ॥६८॥

स्तनन्धयः सम्भवतीव कामी यज्जन्मपत्रस्य विधोः स्मरामि ।
यस्यारिभावे गुरुशुक्लतास्ति व्ययस्थलेऽथो तमसोऽभ्युपास्तिः ॥६९॥

टीका—कामी जनो मदनभावनावान् स स्तनं धावतीति स्तनन्धयो नाम महिला-सहवाससहितोऽथ च स्तनपानशील: सम्भवति । यस्य जन्मपत्रं यज्जन्मपत्रं तस्य विधोश्चन्द्रस्य स्मरामि चन्द्रमसं स्तनन्धयस्य कामिनो जन्मपत्रमेवानुभवामि, यस्य व्ययभावे द्वादशे स्थाने तमसो नाम राहोरभ्युपास्तिरस्य च व्ययस्थले नाशस्वरूपे तमसोऽन्धकारस्या-ऽभ्युपास्तिः, अरिभावे षष्ठस्थले गुरुर्बृहस्पतिः शुक्लश्च भृगुस्तयोर्भाव. गुरुशुक्लता यद्वा गुर्वी शुक्लता धवलीभावोऽस्ति किल ॥६९॥

पीयूषपात्रान्निपतन्ति यानि पृषन्ति सन्तीव शुभानि भानि ।
जनैरिदानीमुत दृश्यते खाङ्कुरस्य तस्यैव कलङ्करेखा ॥७०॥

फेन रूपी चन्दनको लेकर आनन्दके लिये यह चन्द्रमा दिशारूपी स्त्रियोको लिप्त कर रहा है ।

भावार्थ—चन्द्रोदय होनेसे समुद्र लहराने लगा है । लहरानेसे फेन उत्पन्न हो रहा है और उसकी सफेदीसे दिशाएँ उज्ज्वल हो रही हैं ॥६८॥

अर्थ—इस समय मनुष्य कामी—कामवासनासे युक्त क्या हुआ है मानों बालकका जन्म हुआ है क्योंकि जिस प्रकार कामी मनुष्य स्तनन्धय—स्तनकी ओर दौडता है—स्तनस्पर्श करना चाहता है उसी प्रकार बालक भी स्तनन्धय—स्तनपान करने वाला होता है । मैं चन्द्रमाको उस बालकका जन्मपत्र समझता हूँ अर्थात् चन्द्रमासे मनुष्यके मनमे कामभावनाकी जागृति होती है । उस चन्द्रमा रूप जन्मपत्रके अरिभाव—षष्ठस्थानमे गुरुशुक्लता—बृहस्पति और शुक्र ग्रहका सद्भाव है (पक्षमे अत्यधिक शुक्लता—सफेदीका सद्भाव है) और व्ययस्थान—बारहवे स्थानमे तम-राहुग्रहकी उपासना-सद्भाव है । पक्षमे अन्धकारका सद्भाव है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बालकके जन्मपत्रमे चन्द्र, गुरु, शुक्र और राहुका विचार किया जाता है उसी प्रकार कामी मनुष्यके विषयमें भी श्लेषसे चन्द्र, गुरु शुक्र और तम—राहुका विचार किया गया है ॥६९॥

टीका—पीयूषस्य पात्रं चन्द्रमास्तस्मात् यानि कानिचित् पृषन्ति बिन्दवः पतन्ति तानि शुभानि प्रशस्तरूपाणि अमूनिमानि सन्ति लसन्ति। तस्यैव भिन्नस्य कुतोऽपि कारणात् स्फुटितस्य पीयूषपात्रस्य कलङ्करूपेण या लेखा संजाता सा किल जनैरिदानीमधुनापि खाम्नभस स्पष्टं दृश्यते तावत्। उतेति कल्पनान्तरेऽत्र प्रयुक्त. ॥७०॥

सुधाकरं श्रीकलशं दधानाम्बरं वरं क्षालयतीव मानात्।
तमोमल हन्तुमथ क्षपेय सायस्फुरत्फेनिलनामधेयम् ॥७१॥

टीका—इयं क्षपानाम रात्रि सुधाकरं चन्द्रमेव श्रीकलशं जलपरिपूर्णं कुम्भं दधाना-धारयित्री सायं सध्यालक्षणमेव स्फुरद्भासमानं फेनिलनामधेयं यत्र वर्तते तदेतत्तम एव मल हन्तुमपाकर्तुं मम्बरमाकाशमेव वस्त्र वरं यथा स्यात्तथा क्षालयतीव। किलेतिमाला-न्माम प्रमाणविशेषादनुमान नामधेयादनुज्ञायते ॥७१॥

पादार्दितामह्नि रवेस्तु दीनां रुतैरिदानीं रुदतीमलीनाम्।
परामृशन् भाति निशानिशान कुमुद्वतीं स्मेरमुखीं दधानः ॥७२॥

टीका—अह्नि तावद्दिने तु रवेः सूर्यस्य पादैः किरणैरेव चरणाघातैः कृत्वार्दितां पीडितां यावद्दिनं सूर्यपादैस्ताडितामिदानीं पुनरलीनां भ्रमराणां रुतैः शब्दैः कृत्वा रुदतीं कुमुद्वतीं कुमुदलता स्मेरमुखीं सहासवक्त्रां दधान कुर्वाणः निशानिशानश्चन्द्रमा. तामिमां परामृशन् भाति खलु ॥७२॥

अर्थ—अमृतभाजन—चन्द्रमासे जो बूदे निकल रही हैं वे ही शुभ नक्षत्र है और यह कलङ्ककी रेखा उसी फूटे हुए अमृतभाजनके मध्य दिखने वाला श्यामल आकाश है ॥७०॥

अर्थ—ऐसा अनुमान है कि चन्द्रमारूपी शोभायमान कलशको धारण करनेवाली रात्रिरूपी स्त्री अन्धकाररूपी मैलको दूर करनेके लिये सन्ध्यारूप रीठा या साबुनसे युक्त अम्बर—आकाशरूपी अम्बर—वस्त्रको अच्छी तरह मानो धो ही रही है ॥७१॥

अर्थ—दिनभर सूर्यके पादो—किरणो (पक्षमे चरणाघातो)से पीड़ित अतएव भ्रमर शब्दोके द्वारा रोती हुई दीन कुमुदिनीको यह चन्द्रमा स्पर्श करता और प्रसन्नमुखी करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई नायक अपनी नायिकाको अन्य पुरुषसे ताडित होनेके कारण रोती तथा दीनावस्थाको प्राप्त देख हाथसे उसका स्पर्श करता हुआ उसे प्रसन्नमुखी बना देता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी सूर्यके पदाघातोंसे

श्रीमान् शशी कैरविणीवनेषु नरोऽपि नारी मुखचुम्बनेषु ।
नियुज्यमानो भवनप्रदेशे सदम्बरोत्तानिततल्पवेशे ॥७३॥

टीका—सदम्बरेणाकाशेनैन वस्त्रेणोत्तानिते विस्तारिते तल्पस्य शयानकस्य वेशे निवेशे, भानां नक्षत्राणां वनस्य स्थानस्य प्रदेशे यद्वा भवनस्य शय्यागारस्य प्रदेशे कैरविणीवनेषु कुमुद्वतीसमूहेषु नियुज्यमान शशी चन्द्रमा, अपि पुनर्नारीणां स्वस्त्रीणां मुखानां चुम्बनेषु आस्वादनेषु नियुज्यमानश्च नरः श्रीमानेव ॥७३॥

सापि कला शिशिरोचितविभवा कमलं कर्तुमुपगतात्र न वा ।
परमहिमामृतवर्षिण्येषा ज्येष्ठसुखाय समस्ति विशेषात् ॥७४॥

टीका—सा सिद्धस्वभावापि पुन. कला शशिन इति शेषः । शिशिरोऽनुष्णरूप उचितो विभवो यस्यास्सा क पुरुष मल कर्तुं भूषयितु वा नोपगता प्रवृत्ता । पर उत्कृष्टो महिमा यस्याम्सा, अमृतस्य पोयूषस्य वर्षिणी वर्षाकर्त्री विशेषात्स्पष्टरूपेण ज्येष्ठमुत्तम षड्ऋतुजात सुख तस्मै समस्ति सर्वदैवाह्लादकारिणी भवति । यत सा पिकान् कोकिलांल्लाति

दिनभर ताडित तथा भ्रमर शब्दोके बहाने रोती हुई कुमुदिनीको अपने कर स्पर्शसे सान्त्वना देता हुआ प्रसन्नमुखी कर रहा है । भाव यह है कि रातमे कुमुदिनी खिल उठी और उसपर भ्रमर गुञ्जार करने लगे ॥७२॥

अर्थ—समीचीन अम्बर-आकाशरूप वस्त्रके द्वारा जिसमे शय्या बिछाई गई है ऐसे भ-वन-प्रदेश—नक्षत्रोके स्थानस्वरूप आकाश प्रदेशके मध्य, कुमुदिनियोके समूह मे नियुज्यमान–पतित्व भावसे स्वीकृत चन्द्रमा श्रीमान्–अद्‌भुत शोभासे सहित है । और सदम्बर-उत्तम क्षौम—रेशमी वस्त्रसे निर्मित शय्या जिसमे बिछायी गयी है ऐसे भवन प्रदेश–उत्तममहलके मध्य अपनी स्त्रियोके मुख चुम्बनमे सलग्न पुरुष भी श्रीमान्—सौभाग्य लक्ष्मीसे युक्त हैं ॥७३॥

अर्थ—जो, **शिशिरोचितविभवा**—शीतलता प्रदान करने वाले योग्य वैभवसे युक्त है, **पर-महिमा**—उत्कृष्ट महिमासे सहित है, तथा **अमृतवर्षिणी**—सुधा बरसानेवाली है ऐसी चन्द्रमाकी वह प्रसिद्ध कला **कमलंकर्तुं**—किसे विभूषित करनेके लिये यहाँ नही आयी है ? अपितु सभीको विभूषित करनेके लिये आयी है । इस प्रकार वह कला स्पष्टरूपसे [1]**ज्येष्ठसुखाय**—श्रेष्ठ सुखके लिये है ।

---

१. अतिशयेन प्रशस्य श्रेष्ठ ज्येष्ठं च । 'प्रशस्य श्रः' 'ज्या च' इत्यनेन प्रशस्य स्थाने 'श्र' 'ज्या' इत्यादेशौ भवतः सि० कौ० ।

स्वीकरोतीति पिकला वसन्तर्तुस्वरूपा। तथैव शिशिरस्यर्तोरुचितो विभवो यस्यास्सा। कमलं जलजमिति आत्यामेकवचनं तत्‌ कमलसमूहं कर्तुं सम्पादयितुमुपगता। नवा नवीनकपार्थात् शरदृतुः। परमो हिम प्रालेयप्रचयो यस्यां सा परमहिमाहिमर्तुवती। अमृतवर्षिणी जलवर्षाकारिणी, ज्येष्ठस्य मासस्य सुखाय वा समस्ति ॥७४॥

बद्धं त्वनर्घस्य किमर्थमेतद्धैमं तुलाकोटियुगं च मे तत्।
इतीव रोषात् पदयुग्ममासीद्रक्तं रमाया अरुणोपभासि ॥७५॥

टीका—इदानीं पुनर्निशासमागमेन कृत्वा स्त्रीणां शृङ्गारकरणमेव वर्णयति। मे ममानर्घस्यामूल्यस्वरूपस्य तवेतत्‌ हेमसंजातं हैमं तुलाकोट्योर्नूपुरयोर्युगं द्वितयं किमर्थमिति बद्धं, इतीव कृत्वा रोषात्‌ कोपवशात् रमायाः स्त्रियाः पदयोश्चरणयोर्युग्मं द्वितयं अरुणया 'महदी' ति नामिकयोपभासि रक्तं लोहितमासीदभूत् ॥७५॥

नितम्बबिम्बे परयोपरोपिताभितःस्खलन्ती खलु सप्तकी सिता।
मिता पताकेव जिताखिलारिणः प्रासादशृङ्गेऽहिपहारवैरिणः ॥७६॥

टीका—परया कयाचित् स्त्रिया नितम्बबिम्बे स्वकीयश्रोणिप्रदेशे सिता समुज्ज्वलरूपा सप्तकी 'करधनी' ति प्रसिद्धा मेखला उपरोपिता परिधारिता, या खलु जिताः परास्ता अखिला अरयः शत्रवो येन तस्य, 'अरं दुष्टत्वं यस्यास्तरीत्यरीतीनन्तत्वसम्पत्ते'। अहिपः शेषनाग एव हारो गलभूषणं यस्य हरस्य वैरी कामदेवस्तस्य पताकेव ध्वजवस्त्रलेखेव मिता लोकैरनुमानिता खलु प्रासादस्य निवासस्थानस्य हर्म्यरूपस्य शृङ्गे ऊर्ध्वप्रदेशे। कामदेवस्य निवासस्थानं तावन्नितम्बस्थलम् ॥७६॥

अथवा वह कला छह ऋतुओं सम्बन्धी सुखके लिये है। यतश्च चन्द्रमाकी वह कला **पिकला**—कोयलोको स्वीकृत करती है अतः **वसन्त ऋतु** रूप है, **शिशिरोचित विभवा**—शिशिरऋतुके योग्य वैभवसे सहित है अतः **शिशिर ऋतु** रूप है, **कमलं कर्तुं**—कमल समूहको करनेके लिये आयी है अतः नूतन **शरद् ऋतु** रूप है, **परम-हिमा**—अत्यधिक बर्फसे महित है अतः **हेमन्त ऋतु** (हिम ऋतु) रूप है, अमृत—**वर्षिणी**—जल बरसाने वाली है अतः वर्षाऋतु रूप है, और **ज्येष्ठ-सुखाय**—जेठमासके सुखको करने वाली है अत ग्रीष्मऋतुरूप है ॥७४॥

अर्थ—[रात्रि समागमसे स्त्रियोने अपने शरीरका शृङ्गार किया—यह वर्णन चल रहा है।] मुझ अमूल्यके लिये यह स्वर्णमय नूपुरोंका युगल क्यो बाँध दिया, इस क्रोधके कारण ही मानों स्त्रीका चरण युगल मेहदीसे लाल वर्ण हो गया था ॥७५॥

अर्थ—किसी अन्य स्त्रीने अपने नितम्ब स्थल पर वह करधनी पहिन रक्खी

तारुण्यतेजोभिरभूस्तनाख्यो द्वीपोऽपियोऽनङ्गनिवासयोग्ये ।
व्यच्छादि हारावलिवारिपूरैः क्षेत्रेऽन्यया कान्तिभरैकयोग्ये ॥७७॥

टीका—अनङ्गस्य कामस्य निवासयोग्ये, कान्तेर्भर प्रवाह तेनैकेनभोग्ये भोक्तु योग्ये क्षेत्रे स्वकीयशरीरे तारुण्यस्य तरुणिम्नस्तेजांसि तैर्योऽसौ स्तनाख्य उरोरुहरूपो द्वीपोऽभूत् बभूव स हारावलय एव वारिपूरा जलप्रवाहास्तैः कृत्वा व्यच्छादि आच्छादितोऽन्यया कयापि स्त्रिया हारपरिधारण कृतमित्यर्थः ॥७७॥

श्रुतिलङ्घनाय वाञ्छति नयनद्वितये स्वभावतस्तरले ।
उचितज्ञताधिपन्ना साध्वी कज्जलमलंचक्रे ॥ ७८ ॥

टीका—साध्वी सत्स्वभावा स्त्री उचितं जानातीत्युचितज्ञस्तस्य भावे भावे तसिल्प्रत्ययं विधायोचितज्ञतयाधिपन्ना प्रसिद्धा सती श्रुतेः कर्णस्य धर्मशास्त्रस्य च लङ्घनाय तिरस्करणाय पारगमनाय च वाञ्छति सति यत स्वभावत एव तरले चञ्चलरूपे नयनयोर्द्वितये कज्जलमलचक्रेऽञ्जनमञ्जितवती कलङ्कस्वरूपम् ॥ ७८ ॥

गुरुशुक्लतया निवेशिते मृदुचन्द्राननयाथ कुण्डले ।
खलु दौरुधरीं श्रियं तरां स्म बिभर्तः प्रियकामजन्मनि ॥७९॥

टीका—अथ पुनर्मृदु सुकोमल चन्द्रवदाननं यस्यास्तया कयापि स्त्रिया गुरुशुक्लतयातिशयधवलिम्ना निवेशिते आरोपिते कुण्डले तथा गुरुबृहस्पतिः शुक्लो (रत्न्यो-

---

जो सब ओरसे नीचे खिसक रही थी तथा जिसे लोग सब शत्रुओको जीतनेवाले कामदेवके महलकी शिखरपर फहराती हुई पताका मानते थे ॥७६॥

अर्थ—कामदेवके निवासके योग्य तथा कान्तिके प्रवाहके योग्य अपने शरीरमे यौवनके तेजसे जो स्तन नामका द्वीप बन गया था वह किसी अन्य स्त्रीके हारावलिरूप जलके प्रवाहोसे आच्छादित हो गया था—तिरोहित हो गया था ॥७७॥

अर्थ—स्वभावसे चञ्चल नयनयुगल जब श्रुति कर्ण (पक्षमे धर्मशास्त्र)त को उल्लङ्घित करने अथवा तिरस्कृत करनेकी इच्छा करने लगा तब उचित बातको जानने वाली किसी साध्वी—उत्तमस्वभावसे युक्त स्त्रीने उसे कज्जलसे अलंकृत कर दिया—'बस करो' यह कहकर आगे बढनेसे रोक दिया अथवा दण्ड स्वरूप उसे कलङ्कित—लाञ्छित कर दिया। तात्पर्य यह है कि किसी स्त्रीने नेत्रोमे काजल लगाया ॥ ७८ ॥

अर्थ—चन्द्रके समान कोमल मुख वाली किसी स्त्रीके द्वारा अत्यधिक शुक्लता

रभेवात् शुक्रो) भृगुस्तयोर्भावो गुरुशुक्लता तया प्रियस्य हृदयेश्वरस्य कामजन्मनि अनुरागोत्पत्तिविषये दौरुधरीं श्रियं बिभर्तस्तरां स्मेति खलूत्प्रेक्षायां । गुरुशुक्रग्रहयो-र्मध्ये चन्द्रसम्भावनया दुरुधरयोगो भवतीति ज्योति. शास्त्रे ॥ ७९ ॥

अथ चक्रवदाबभौ कयावधृतं गन्धवहाविभूषणम् ।
अवकृष्टमिवाशु कोषतो विजिगीषोः स्मरचक्रवर्तिनः ॥८०॥

टीका—अथ पुन कयान्ययावधृत गन्धवहाविभूषण जेतुमिच्छुर्विजिगीषुस्तस्य स्मरचक्रवर्तिन· कामदेवसम्राज. आशु शीघ्रमेव कोषतोऽवकृष्टं निष्कासितं चक्रवदायुध इवाबभौ ॥ ८० ॥

एकत्राङ्कितचौरसाधु पतिभिः शश्वत्वणिग्भिर्भवान्
रङ्गाहो तुलितोऽसि हेमतुलयास्तां किंतु रत्नाञ्चितम् ।
प्रीत्या तत्तु विशालदृग्भिरधुनात्वारोप्यते मस्तके
पापाप्नोषि हतोऽसि मुग्धवनितापादेषु पश्य स्थितिम् ॥८१॥

टीका—एकत्र एकस्थाने चौर साधुपतिश्चेति द्वौ यैस्तै रेकस्मिनेवाङ्कनपत्रे चौर नाम साधुजन नाम च लिख्यते यैस्तै र्वणिग्भि हे रङ्ग । हेमतुलया त्वमपि तुलितोऽसि अहो आश्चर्यप्रकाशने । तत्तावदास्तां किंतु अधुना साम्प्रतं तत् हेम स्वर्णं तु खलु प्रीत्या प्रेमपूर्वकं रत्नै. खचितं कृत्वा विशालदृग्भिरुत्फुल्ललोचनाभिर्मस्तके आरोप्यतेऽपि । हे पाप ? मुग्धवनितानां नववधूनां पादेषु चरणेषु स्थितिमाप्नोषि पश्य त्व तावद्धतो-ऽसि ॥ ८१ ॥

(पक्षमे गुरुशुक्लतया—गुरु और शुक्र ग्रहके योग) के कारण धारण किये हुए कुण्डल प्रिय—पतिके हृदयमे कामभाव उत्पन्न करनेके लिये दुरुधर योगकी शोभाको अत्यधिक रूपसे धारण कर रहे थे। ज्योतिष शास्त्रके अनुसार गुरु और शुक्र ग्रहके बीच चन्द्रकी सभावना होनेपर दुरुधर योग होता है ॥ ७९ ॥

अर्थ—किसी अन्य स्त्रीके द्वारा धारण किया हुआ नाक का आभूषण, विजयाभिलाषी कामदेवके शीघ्र ही म्यानसे निकाले हुएके चक्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ८० ॥

अर्थ—एक ही अङ्कनपत्र—बहीमे चौर और श्रेष्ठ साधुओके नामको अङ्कित करने वाले व्यापारियोके द्वारा हे रागे ! आप सदा स्वर्णकी तराजूसे तोले गये हो अर्थात् व्यापारियोने जिस तराजूसे स्वर्ण तोला है उसीसे आपको तोला है। यह आश्चर्यकी बात थी। पर अब वह दूर रहे। इस समय तो वह सुवर्ण विशाक्षी-स्त्रियोके द्वारा रत्न जटितकर प्रीतिपूर्वक मस्तकपर धारण किया

अनुबद्धपरस्पराङ्गुलिस्वकरद्वन्द्वमुदञ्च्य जृम्भिणी ।
हृदयं विशतो मनोभुवः कृतवत्येव च तोरणश्रियम् ॥८२॥

टीका—अनुबद्धाः सम्मिलिताः परस्परस्याङ्गुलयो यत्र तदनुबद्धपरस्पराङ्गुलि स्वस्य करयोर्हस्तयोर्द्वन्द्वमुदञ्च्योर्ध्वीविधाय जृम्भिणी जृम्भावती स्त्री तत्कालं हृदयमन्तः-करणं विशतः प्रवेशं कुर्वतो मनोभुवो मदनस्य तोरणश्रियं सालंकारद्वारोद्घाटनशोभां कृतवती सम्पादयतीव रराजेति शेषः ॥८२॥

प्रियागमनतत्परा यदधिजानु सत्कूर्परा-
भिनम्रकरपल्लवार्पितकपोलमूला परा ।
लिलेख समयोचितोत्पठितमञ्जु मञ्जु स्वना
परेण भुवि पाणिना किमपि यन्त्रमाकर्षकम् ॥८३॥

टीका—परान्या कापि स्त्री प्रियस्यागमने तत्परा तल्लीना यत् यस्मात् किल जानू-परिवर्तमानमधिजानु सन् प्रशंसनीय कूर्पर कफोणिदेशो यत्र स चासावभिनम्रो नतिमाप्त कर एव पल्लवस्तस्मिन्नर्पितं सधारितं कपोलस्य मूलं यया सा सती मञ्जु-

---

जाता है परन्तु हे पापी रागे ! तू मुग्ध स्त्रियोंके पैरोमे स्थितिको प्राप्त हो रहा है अर्थात् स्त्रियाँ तेरे कडे बनवाकर पैरो मे पहिनती है इस तरह तू भाग्य-हीन है ।

भावार्थ—अविचारी लोगोके द्वारा अच्छे बुरेका विचार न किया जावे यह ठीक है परन्तु जो विशाल दृष्टि विचारवान हैं वे अच्छे बुरेका विचार अवश्य करते हैं । इसीलिये विशाल दृष्टि स्त्रियाँ सीसफूल बनाकर रत्न जटित स्वर्णको मस्तकपर धारण करती हैं और मुग्ध—मूढ—ग्राम्य स्त्रियाँ कडे बनवाकर रांगेको पैरो मे पहिनती हैं । तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ रत्न जडित स्वर्णमय शीशफूल मस्तकोपर धारण कर रही हैं ॥८१॥

अर्थ—जिनकी अङ्गुलियाँ परस्पर मिली हुई है ऐसे दोनो हाथोंको ऊपर उठाकर जमुहाई लेती हुई स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उस समय हृदयमे प्रवेश करते हुए कामदेवके लिये तोरण ही बाँध रही हो ॥८२॥

अर्थ—प्रियागमनकी प्रतीक्षामे लीन तथा घुटनोपर रखी टेहुनीसे कुछ झुके कर पल्लवमे कपोल रखे हुई कोई मधुरभाषिणी स्त्री उस अवसरके योग्य पाठ पढती हुई दूसरे हाथसे पृथिवीपर किसी आकर्षक अनिर्वचनीय यन्त्रको लिख रही थी ।

भावार्थ—पति प्रतीक्षामे लीन कोई स्त्री घुटनेपर स्थित एक हाथमें कपोल

स्वमा मञ्जुभाषिणी परेणेतरेण पाणिना हस्तेन भुवि पृथिव्यां किमप्यनिर्वचनीयमाकर्षक यन्त्रं समयेऽवसरे यदुचित तदुत्पठितं तेन मञ्जु यथास्यात्तथा लिलेख ॥८३॥

विभूषणैः स्पष्टमलंकृतं वपुर्नितम्बिनीनां समलंकृतं पुनः ।
मृगाण्डखण्डा गुरु चन्दनार्चावशाच्छ्रियः सदोषं धवसंभुवां दृशाम् ॥८४॥

टीका—नितम्बिनीनां स्त्रीणां वपु. शरीरं नूपुरकेयूरेकुण्डलादिभिरलकृतं शृङ्गारितं तदेव पुनर्मृगाण्डस्य कस्तूरिकाया खण्डो लेशोऽगुरुचन्दनं च तयोश्चर्चना विलेपन तद्वशात् धवस्य पत्यु सम्भुवां प्राणेशसम्बन्धिनीनां दृशां चक्षुषां श्रिय. शोभाः दोषया रात्र्या सहितं सदोषं यद्वा दोषेण दूषणेन सहितं सदोषं वपु पीनवत्य' खलु ॥८४॥

इतः कलत्राणि न बालकानि मुखानि येषां तु नवालकानि ।
धनूंषि कामेन च तानितानि मनांसि यूनां सुरताश्रितानि ॥८५॥

टीका—इतः कलत्राणि स्त्रिय. बालका न भवन्तीत्यबालकानि युवत्योऽथवा न संजाता बालका येषां तान्यपि नवालकानि नवयौवनवत्य. स्त्रिय इत्यर्थः । येषां कलत्राणां मुखानि तु पुनर्नवालकान्येव यतो नवा नवीना. कोमला श्यामला सद्य शृङ्गारिताश्चालका येषां तानि भवन्ति । कामेन स्मरेण धनूंषि तानितानि (विस्तारितानि) कामः सज्जायुधो बभूव । यूनां तरुणानां मनांसि हृदयानि च सुरत रतिसुखमाश्रयन्तीति सुरताश्रितानि तथैव सुरतां देवताकृपतां दिव्यतामाश्रयन्तीति वा ॥८५॥

रखे हुई थी तथा कुछ गुनगुनाती हुई दूसरे हाथसे पृथिवीको कुदेर रही थी। उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो मन्त्रोच्चारणपूर्वक किसी आकर्षक यन्त्रको ही लिख रही हो ॥८३॥

अर्थ—स्त्रियोका शरीर यद्यपि नूपुर–केयूर–कुण्डलादि आभूषणोंसे अच्छी तरह अलंकृत–शृङ्गारित था तथापि पति—सम्बन्धी नेत्रोकी शोभाने उसे कस्तूरी और अगुरु चन्दनकी लेपके कारण सदोष—रात्रिसे सहित अथवा श्यामलता रूप दोषसे समलं–कृत–मलिन किया हुआ देखा था ॥८४॥

अर्थ—इधर स्त्रियाँ न बालक—पूर्ण युवतियाँ अथवा बालक न होनेसे रति क्रियामे पूर्ण सक्षम थी उनके मुख भी नवालक—नवीन संभाले हुए केशोंसे सहित थे और इधर कामदेवने धनुष नान रक्खे थे अतः तरुण जनोंके मन सुरताश्रित—सभोग सुखके आश्रित हो रहे थे अथवा दिव्यरूपताको प्राप्त हो रहे थे ॥८५॥

प्रणयविकाशविदः　　पुनरपाङ्गमयगोभिरुचितचित्तहृतः ।
दृश इव सख्यो युवतिभिरधिवयितं प्रेषिताः कतिभिः ॥८६॥

टीका—पुनरनन्तरं कतिभिर्युवतिभिस्तरुणीभिरधिवयितसमीपमित्यधिवयितं प्रियस्य पार्श्वमित्यर्थः सख्यो वयस्याः प्रेषिता इव लोचनानि यथा, प्रणयस्य प्रेम्णो विकाशं विदन्ति जानन्तीति प्रणयविकाशविदः सख्यो दृष्टयश्च । तथापाङ्गो मदनः पक्षेऽपाङ्गा नेत्रप्रान्तास्तन्मयीभिर्गोभिर्वाणीभिरुत रश्मिभिरुचितं चित्तं यद्वाभिलष्य चित्तं हरन्तीति ता उचितचित्तहृतः सख्यो दृष्टयश्च ॥८६॥

संविशेति किल तुल्ययोषिता लज्जया किमपि नाहमानिनी ।
नम्रया खलु भृशं दृशात्र सा स्मेक्षते स्वतनुतापितां तनुम् ॥८७॥

टीका—हे सखि सन्विशेति किल तुल्यया समवयस्कयोषिता प्रतिनिवेदयितु प्रेरिता मानिनी स्त्री लज्जया कृत्वा किमपि नाह न निजगाद किल । अत्र तु पुनः सा अतनुना कामेन तापितां तनु शरीरं नम्रया नतया दृशा दृष्टया कृत्वा भृशं पुनः पुनरीक्षते स्म खलु पतिसंयोगवाञ्छाभिव्यक्त्यर्थम् ॥८७॥

सखि ! त्वं स्निग्धाङ्गी प्रभवति युवा सोऽपि तरलः
तमिस्रेयं रात्री रहसि कथनीयं मदुचितम् ।
समस्येयं क्लिष्टात्र दिशतु किलेष्टन्तु भगवा-
नियं वाचां वल्ली प्रसरति सती स्मान्बुजदृशः ॥८८॥

टीका—पतिसंयोगाभिलाषवती स्त्री सखीं प्रति किं सन्विवेशेति कथयति तावत् ।

अर्थ—कितनी ही युवतियोंने अपने पतिके पास उन सखियोंको भेजा जो उन्हींकी दृष्टिके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार दृष्टि प्रेमके विकासको जानने वाली होती है उसी प्रकार सखियाँ भी नायक नायिका सम्बन्धी प्रेमके विकासको जानने वाली थी और जिस प्रकार दृष्टि **अपाङ्गमयगोभिः**—कटाक्षमय वाणीके द्वारा उचित-योग्य अथवा इच्छित पतिके चित्तको हरती है उसी प्रकार सखियाँ भी **अपाङ्गमयगोभिः**—काममय वचनोके द्वारा इच्छित पतिके चित्तको हरने वाली थी ॥८६॥

अर्थ—कोई सखी नायकके पास जाकर कहती है—मानवती सखीने लज्जावश मुझसे ऐसा कुछ नही कहा है कि तुम उनसे संदेश कहो । किन्तु नीची दृष्टिसे वह यहाँ कामके द्वारा संतापित शरीरको बार-बार देखती रही ॥८७॥

हे सखि ! त्वं स्वयं स्निग्धाङ्गीति स्नेहभूमि , स च युवा वय परिपूर्णस्तरलश्चपलतामापन्नोऽपि प्रभवति स्वतन्त्रायते । इयं रात्रिस्तमिस्रा तमसापरिपूर्णा, मदुदितं च रहस्येकान्तस्थाने कथनीयं निवेदनीयमितीयं समस्या क्लिष्टा दु.सम्पाद्या । अत्र प्रसङ्गे तु पुनर्भगवानिष्टं दिशतु प्रतिपादयतु । इय सती प्रशंसायोग्यावस रोचितत्वाद्वाचां वल्ली परम्परा कस्या अप्यम्बुजदृश कमललोचनाया प्रसरति ॥८८॥

अनुकूलेङ्गितकर्त्रीच्छायेव प्रेषिताथ कामिन्या ।
दयितं प्रतीतिदूती सन्देशमुदाजहार सती ॥८९॥

टीका—अथानन्तर छायेव शरीरच्छविरिवानुकूल स्वकीयचेष्टानुसारमिङ्गितं चेष्टित करोतीति स्त्री अनुकूलेङ्गितकर्त्री दयित स्वस्वामिनं प्रति समीपं प्रियस्येति । कामिन्या कयापि वाञ्छावत्या प्रेषिता दूती सती निम्नप्रकारेण सन्देशमुदाजहार निगदितवतीत्यर्थ ॥८९॥

त्वं विजितमदनरूपस्त्वय्यनुरक्ता च हरिणनयना सा ।
इत्यनुशयादिवामूमुत्तपति किलैकिकां मदनः ॥९०॥

टीका—दूती गत्वा यदेवोक्तवती तदेवानुवदति । हे सुन्दर ! त्व विजितं न्यक्कारतां नीतं मदनस्य रूप येन स तादृश । सा च हरिणस्य नयने इव नयने यस्याः सा सुविशालतिरश्चञ्चललोचना त्वयि विषयेऽनुरक्तानुरागकर्त्री भवति । ततः शत्रोर्मित्रं च शत्रुरेवेति नीतितोऽनुशयादिव कोपवशादेव किलामूमेकिकामेकाकिनीमसहायां मदनः कामदेव उत्तपति कष्टकरो वर्तते ॥९०॥

अर्थ—कोई स्त्री सहेलीसे कह रही है—"हे सखि ! तुम स्नेहकी भूमि हो (तुम्हारा मुझपर जितना स्नेह है यह मै जानती हूं) वह युवा चपल है (शीघ्र ही तुम्हारी बात मानने वाला नही है) रात अधेरी है (तुम कैसे जा सकोगी) फिर मेरा सदेश एकान्तमे कहना है (उसके पास भीड़ लगी रहती होगी) इस तरह यह समस्या कठिन है (सुखसे सुलझने वाली नही है) (फिर भी आशावती हूँ) भगवान् इष्टमार्गको बतावेगे ।" इसप्रकारके वचन किसी कमल-लोचनाके मुखसे निकल रहे थे ॥८८॥

अर्थ—तदनतर किसी कामातुर स्त्रीके द्वारा पतिके पास भेजी गई, छायाके समान अनुकूल चेष्टा करनेवाली दूतीने सहेलीका सन्देश कहा ॥८९॥

अर्थ—कोई दूती नायकसे कहती है—हे सुन्दर ! तुमने कामदेवका रूप जीता है और वह तुममे अनुरक्त है, इस क्रोधसे ही मानो कामदेव उस बेचारी अकेलीको सतप्त करता है ॥९०॥

कुसुमादपि सुकुमारं वपुरबलानामितीवमुद्धरति ।
इषुणा स्मरस्य सुन्दर ! कुसुमेन हतं तवीयाङ्गम् ॥९१॥

टीका—हे सुन्दर ! मनोहराङ्ग ! तवीयमङ्गं शरीर स्मरस्यानङ्गस्येषुणा बाणेन कुसुमेन पुष्पात्मकेन हतं क्षतभावं गतं सत् अबलानां स्त्रीणां वपु शरीरं कुसुमादपि फुल्लापेक्षयापि सुकुमारं कोमलतर भवतीति लोकख्यातमिदं उद्धरति स्पष्टीकरोति तावत् ॥९१॥

अनुरागवर्तिना तव विरहेणोग्रेण सा गृहीताङ्गी ।
किमु सम्वदामि गौरी सञ्जातार्द्धावशिष्टेव ॥९२॥

टीका—अपि तवानुरागवर्तिना प्रेमवशंगतेन विरहेणैवोग्रेण भयंकरेण रुद्रेण वा गृहीतमङ्गं यस्याः सा गौरी गौरवर्णा गिरिजा वा हे सुन्दर ! अर्द्धविशिष्टा कृशकायतया क्षीणशरीरा महादेवेन कृत्वा कायानुप्रविष्टकायतया वा सञ्जाता हे सज्जनाहं किमु परं सम्वदामि । सा तव विरहवशा प्रतिदिनं क्षीयत इति ॥९२॥

इन्दुकरैर्मलयभवैर्वातै स्पृष्टा मुहुश्च मञ्जुमते ।
दोषभयादिव सिञ्चति तनुमतनुसवाश्रुपूरैः सा ॥९३॥

टीका—हे मञ्जुमते ! सुकुमारबुद्धे ! सा मम सखी इन्दोश्चन्द्रस्य करैः किरणैरेव हस्तैर्मलयभवैर्दक्षिणदिग्भवै (मलं याति प्राप्नोति मलयस्तस्माद्भवे. समुत्पन्नैर्वा) वातैर्वायुभिः मुहु. पुन पुन स्पृष्टा सती मास्म कदाचिद्भवदन्यपुरुषसंसर्गजन्यो दोष इति

अर्थ—हे सुन्दर ! उसका शरीर कामदेवके पुष्परूप बाणके द्वारा घायल हो गया है इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियोका शरीर फूलसे भी अधिक सुकुमार होता है ॥९१॥

अर्थ—हे सुन्दर ! क्या कहूँ ? तुम्हारे अनुरागके वशीभूत उग्र–भयकर (पक्ष मे विरहरूप रुद्र) विरहके द्वारा जिसका शरीर गृहीत है तथा जो दुर्बलताके कारण आधी रह गई है (पक्षमे महादेवने जिसे अर्धांगी बना लिया है) ऐसी वह गौरी—गौर वर्णवाली स्त्री सचमुच ही गौरी—पार्वती हो गई है ॥९२॥

अर्थ—हे सुकुमारबुद्धे ! इन्दुकर—चन्द्रमाकी किरणरूप हाथो और मलयवात—दक्षिण वायुके द्वारा बार-बार स्पर्शको प्राप्त हुई बेचारी वह दोषके भयसे ही मानो अर्थात् मुझे परपुरुषने अपने हाथोसे छू लिया है तथा मुझे मलिन पदार्थके ससर्गसे दूषित वायु स्पर्श कर रही है इस दोषके भयसे, कामसे उत्पन्न

दोषस्य भयादिव सवश् पूरैर्नयनजलसमूहैरतनुसंभूतैस्तैर्विरहलक्षणे तनुं स्वस्य शरीरं सिञ्चति चाण्डालादिसंसर्गे पवित्रीकरणार्थं स्नाति लोको यथा ॥९३॥

इति वारितोऽङ्कुराङ्कितततनुर्मनुष्यो जवेन सुरतार्थी ।
मुक्ताफलानि चाश्रुव्याजादिव सन्ददे तस्यै ॥९४॥

टीका—इत्युक्तप्रकारेण वारितो वचनसमूहादेव जलतः इत्याङ्कुरै रोमाञ्चैरेव कन्दलैरङ्कुरिता व्याप्ता तनुः शरीरं यस्य स मनुष्य जवेन शीघ्रतयैव सुरतार्थी सुरतं वाञ्छति यद्वा शोभनां लतां वल्लीं वाञ्छतीति सुरतार्थी भवन् अश्रूणां व्याजान्मिषात् तस्यै दूत्यै मुक्ता एव फलानि सन्ददे वस्तवानुपहाररूपेति ॥९४॥

दयिताहृतस्य मनसः समातुरैः परिमूढतामिव गतैः पुरा नरैः ।
उदिते समुद्धृतपदैः क्षपाकरे प्रयये ततोऽनुपदिभिः स्फुरत्तरे ॥९५॥

टीका—दयितया प्रियया आहृतस्य वशीकृतस्य मनसश्चित्तस्य परिमूढतां मुग्धतामिव किल गतैर्नरैर्युवभिः समातुरैः पुरैव पूर्वमेव व्याकुलीभूतैः पुनस्ततः क्षपाकरे चन्द्रमसि उदिते सति स्फुरत्तरे समुद्धृतानि पदानि यै स्तैर्मनुष्यैः प्रयये प्रयत्नं कृतमनुपदिभिरनुकूल-चरण सञ्चारैस्तैः ॥९५॥

अनुतनूपगतस्य वपुष्मतो गुरुतरप्रतिबिम्बमथोद्वहत् ।
अतिभरादिव कम्पवतः करान्मुकुरकं निपपात नतभ्रुवः ॥९६॥

टीका—तनोः शरीरस्य समोपमनुतनु, उपगतस्य प्राप्तस्य वपुष्मतः कान्तिमतः प्रियस्य गुरुतरं श्रेष्ठतरं दुर्भरतरं वा प्रतिबिम्बमुद्वहत् सधारयत्, मुकुरकं दर्पणं नतभ्रुवः

अश्रुरूप जलसे अपने शरीरको सीचता रहती है। भाव यह है कि वह उद्दीपक आलम्बनोंके मिलने पर आँसू बहाती रहती है पर आप इतने भोलेभाले हो कि उसकी बाधाको समझते ही नही ॥९३॥

अर्थ—इस प्रकारके वचनरूपी जलसे जिसका शरीर रोमाञ्चरूपी अङ्कुरो-से व्याप्त हो रहा था ऐसा कोई एक पुरुष सुरतार्थी—संभोगका र पक्षमे र और ल के अभेदसे लताका) इच्छुक हो गया तथा उसने आँसुओके बहाने दूतीके लिये मुक्ता फलोकी भेट दी ॥९४॥

अर्थ—वल्लभाके द्वारा हरे गये मनको मूढताको प्राप्त हुए के समान जा पहले ही कामसे व्याकुल हो गये थे ऐसे मनुष्योने अत्यन्त प्रकाशमान चन्द्रमाके उदित होनेपर दूतीके पीछे ही पैर उठाकर चल दिया ॥९५॥

अर्थ—पतिके निकट आनेपर स्त्रियोंके शरीरमें प्रकट हुए सात्त्विक भावोंका वर्णन है। शरीरके समीप आये हुए प्रिय पतिके गुरुतर—अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा

स्त्रियः कम्पवतः कम्पनशीलात्करात् हस्तात् अतिभराद्विवाहमानसम्भारादिव किल निपपात पतितमासीत् ॥९६॥

कान्तावलोकविकसन्नयनप्रणुन्नं
　　कञ्जन्तु सम्भ्रमवतः श्रवणान्नताङ्ग्याः ।
प्राणेशपादभुवि सन्निपतद् रराजा-
　　तिथ्ये दृशः परिकृतं प्रतिबिम्बमेव ॥९७॥

टीका—कान्तस्य प्रियस्यावलोके विकसद् विकासमाप्तवद् यन्नयनं नेत्रं तेन प्रणुन्नं प्रेरितं सम्भ्रमवतो विनययुक्ताया नताङ्ग्या अभ्युत्थानादि कृतवत्याः श्रवणात्कर्णदेशात् प्राणेशः स्वामी तस्य पादभुवि पुरोभागे सन्निपतद् पातवत् कञ्जं कर्णपुष्प तु पुनर्दृश-श्चक्षुष प्रतिबिम्ब प्रतिनिधिस्वरूपमेवातिथ्ये परिकृतं प्रेषितमेव रराज शुशुभे ॥९७॥

प्रमदा प्रमदाश्रुभिः प्रिये समुपागच्छति सत्वरं तराम् ।
स्नपयत्यमुकोचितासनं निजवक्षः स्म चकोरलोचना ॥९८॥

टीका—चकोरलोचना चकोरस्य लोचने इव लोचने यस्याः सा प्रमदा प्रसन्नवदना स्त्री प्रिये प्राणेश्वरे समुपागच्छति समीपमागतवति सति अमुकस्य स्वामिनः उचितं योग्यं च तदासनं च तन्निजस्यात्मनो वक्ष उरस्थलं प्रमदेन तत्कालसम्भवेनानन्दसंदोहेन जातै रश्रुभिर्नयनजलै कृत्वा स्नपयतिस्म । सा प्रसन्ना नायिका ॥९८॥

बहुत भारी प्रतिबिम्बको धारण करने वाला दर्पण किसी स्त्रीके कापते हुए हाथसे नीचे गिर गया मानो प्रतिबिम्बके भारी होनेके कारण ही उसका हाथ कापने लगा था ॥९६॥

भावार्थ—पतिको पास आता देख स्त्री लज्जासे नीचेकी ओर देखने लगी । उसने पतिकी ओरसे लज्जावश अपनी दृष्टि हटा ली परन्तु पतिका प्रतिबिम्ब दर्पणमे लेकर उसे अनुराग पूर्वक देखने लगी । देखते-देखते उसके हाथमें वेपथु—कम्पन नामक सात्त्विक भाव प्रकट हो गया और उस कारण दर्पण हाथसे छूट-कर नीचे गिर गया नीचे गिरने का कारण यह था मानो वह प्रतिबिम्ब इतना गुरुतर—श्रेष्ठतर अथवा अत्यन्त वजनदार था कि स्त्रीका हाथ उसका भार सहन करनेमे असमर्थ हो गया था ॥९६॥

अर्थ—पतिके आनेपर उठकर खडे होने और प्रणाम करनेके संभ्रमसे युक्त किसी स्त्री के कानसे गिरकर जो कमलपतिके चरणाग्र—आगे गिर गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पतिके दर्शनसे खिलते हुए नयन कमलसे

मानिनी प्रियमुदीक्ष्य विनीवावंशुके विनमितास्यमिहासीत् ।
सा पदानि परिदृष्टवतीव प्रस्थितस्य सहसा स्मयकस्य ॥९९॥

टीका—या काचिदपि मानिनी स्त्री सा प्रियमुदीक्ष्य समीपमागत पतिमवलोक्यां-शुकेऽधोवस्त्रे विनता नीविर्बन्धनग्रन्थिर्यस्य तस्मिन् भवति सति विनमितमास्यं मुखं यथा स्यात्तथासीत् । कथमिति चेत् ? सहसैव सहजेनैव प्रस्थितस्य विनिर्गतस्य स्मयकस्य गर्वस्य पदानि चरणचिह्नानि दृष्टवतीव सा ॥९९॥

निजनायकमवलोक्य तमागतमेका यावद्रामा
शातवतीहोत्थितासनतः परिधानमतिथिरागम् ।
संहर्षवशात्पादयोर्नतं जघनपीठमभिरामं
मङ्क्षु विनिह्नवशालि च समदान्माहात्म्यगतारामम् ॥१००॥

टीका—एका रामा स्त्री तं निजनायकं स्वस्वामिनमागतं पुरतः स्थितमवलोक्य शातवती प्रसन्नताधारिणी सतीहासनतः पीठादुत्थितोद्भूत्बभूव । तावदेवातिथौ प्राघूर्णिके रागः प्रेमभावो यस्य तत्तस्याः परिधानमधोवस्त्रं च सहर्षवशात् प्रसन्नतया हृत्वेत्यर्थः पादयोश्चरणयोर्नतं प्रणतं भवत् माहात्म्येन महत्तया गतः समुपलब्ध आरामो यस्य तद् विशालरूपमित्यर्थः विनिह्नवेन निश्छलभावेन शोभते तत् च विनिह्नवशालि अतएवाभिरामं मनोहारि जघन पीठ समादवो । निशासमागमश्चक्रबन्ध इति ॥१००॥

प्रेरित हो पतिका आतिथ्य—अतिथि सत्कार करनेके लिये नयनोका प्रतिनिधि ही हो ॥९७॥

अर्थ—चकोरके समान नेत्रो वाली कोई स्त्री पतिके निकट आनेपर उसके आसनके योग्य अपने वक्ष स्थलको हर्षके आँसूओसे सीचने लगी । यह अश्रु नामक सात्त्विक भावका वर्णन है ॥९८॥

अर्थ—कोई एक मानवती स्त्री पतिको देख अधोवस्त्रको गाठसे रहित हो गई । लज्जाके कारण उसका मुख नीचा हो गया उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो शीघ्र ही निकलकर जाने वाले मानके पद चिह्न ही देख रही हो ॥९९॥

अर्थ—कोई एक स्त्री पतिको आया देख आसनसे उठकर खडी हो गयी । साथ ही अतिथि—पतिसे अनुराग रखने उसके अधोवस्त्रने चरणोमे नम्रीभूत होकर हर्षपूर्वक उसके लिये सुन्दर एव सुविशाल नितम्ब स्थल रूप पीठ—आसन प्रदान किया । भाव यह है कि कामोद्रेक वश अधोवस्त्रके विगलित होनेसे स्त्रीका नितम्ब-स्थल प्रकट हो गया ॥१००॥

स श्रीमान् सुषुवे चतुर्भुजवणिक् शान्तेः कुमाराह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये कौमुदमेषयत्यपि सुधाबन्धूज्ज्वले तत्कृतेः
सर्गः स्वीयकलाभिरेव दशमः पञ्चोत्तरो निर्गतः ॥१५॥

अर्थ—श्रीमान् सेठ चतुर्भुज जी तथा घृतवरी देवीने जिस वाणीभूषण, ब्रह्मचारी तथा बुद्धिमान् [1]शान्ति कुमार नामक पुत्रको उत्पन्न किया था, उसके द्वारा निर्मित चन्द्रोत्सवका वर्णन करने वाले चन्द्रमाके उज्ज्वल इस काव्यमे अपनी कलाओंसे सुशोभित यह पञ्चदश सर्ग पूर्ण हुआ ॥१५॥

●

१. कविका राशि नाम 'शान्ति कुमार' था, 'और चालू नाम 'भूरामल' था ।

षोडशः सर्गः

निशीथतीर्थे कृतमज्जनेन जयाय निर्यातमथ स्मरेण ।
पीयूषपावोज्ज्वलकुम्भदृष्ट्या सुभस्फुरन्मङ्गललाजवृष्ट्या ॥१॥

टीका—अथानन्तर निशीथोऽर्द्धरात्रिसमय स एव तीर्थो जलावगाहप्रवेशास्तस्मिन् कृतं मज्जन येन तेन स्मरेण नाम कामदेवेन पीयूषपावश्चन्द्रमाः स एवोज्ज्वलकुम्भो मङ्गल्यकलशस्तस्य दृष्ट्या दर्शनेन कृत्वा शोभनानि भानि नक्षत्राणि एव स्फुरन्त्यो मङ्गल-लाजास्तासां सृष्ट्या सर्जनेन च कृत्वा जयाय दिशो विजेतुं निर्यातं तावत् । अत्र-रूपकम ॥ १ ॥

प्रयाणवेलां कुसुमायुधस्याप्यहो स्वयंस्त्री पुरुषेषु न स्यात् ।
तारुण्यमूर्तिष्वपि कस्य कस्य सहायवाञ्छा सुतरां प्रपश्य ॥२॥

टीका—कुसुमायुधस्य कामदेवस्य प्रयाणवेला दिग्विजयसमयं सुतरां प्रपश्य (?) ज्ञात्वापि पुनस्तारुण्यमूर्तिष्वपि वयःसन्धिस्थितेषु चापि स्त्रीपुरुषेषु तेषु मिथुनेषु कस्य कस्य किल स्त्रीवर्गस्य पुरुषवर्गस्य वा स्वयमेव सहायस्य वाञ्छा न स्यात् किन्तु सर्वस्यापि सहकारिसमागमायाभिलाषाभूत् । अहो आश्चर्यं ॥ २ ॥

विश्वस्य यद् धैर्यधनं व्यलोपि वियोगिनोऽस्यापि तु योगिनोऽपि ।
रामाभिधामाकलयन्ति नामाधुना पुनस्ते प्रतिकर्तुकामाः ॥३॥

टीका—यद् यस्मात्कारणात् विश्वस्य नाम जगतो धैर्यमेव धन तेन व्यलोपि लुप्तं सर्वस्यापि लोकस्य धैर्यं नष्टप्रायमभूत् तस्माद्वियोगिनो जनाः स्त्रीविरहिता अथापि योगिनः

अर्थ—तदनन्तर अर्धरात्रि रूपी जलाशयके घाटपर जिसने स्नान किया था ऐसा कामदेव चन्द्रमा रूप उज्ज्वल कलशको देखकर तथा सुन्दर नक्षत्र रूपी माङ्गलिक लाईकी वर्षाकर दिग्विजयके लिया निकला ॥ १ ॥

अर्थ—आश्चर्य है कि कामदेवके दिग्विजयका समय अच्छी तरह देखकर तरुणाईकी मूर्ति स्वरूप स्त्री पुरुषोमे किस-किसको सहायताकी इच्छा नही हुई थी ? अर्थात् सभी स्त्री पुरुष कामदेवकी सहायताकी इच्छा करने लगे ॥ २ ॥

अर्थ—यतश्च इस समय समस्त जगत्का धैर्यरूपी धन लुप्त हो गया था

---

१. प्रदृश्य ।

संन्यासिनश्च लोकास्तेऽधुना साम्प्रतं व्यापत्ति प्रतिकर्तुं, कामास्समयागतामापत्तिमपनेतु-मभिलषन्तः सन्तो नाम रामाभिधामाकलयन्ति वियोगिनो रामाया अभिधां, योगिनश्च रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति स रामः परमात्मा तस्याभिधामाकलन्ति स्मरणं कुर्वन्ति खलु। रस्य कामस्याभा शोभाभावो यत्र स रुद्रो जिनो वा तस्याभिधां ना ॥३॥

अनङ्गजन्मानमहो सवङ्गशक्त्याप्यजेयं समुदीक्ष्य चङ्गः।
गतो विवेक्तुं निजमित्युपायादुपासनायां गृहदेविकायाः ॥४॥

टीका—चङ्गोदक्षो सामर्थ्यवान् नवयौवनपूर्णोऽपि पुरुषोऽनङ्गजन्मानं मदनं नाम सवङ्गस्य सुन्दरशरीरस्य केवलस्यासहायस्य शक्त्या बलेन यद्वा प्रशसनीयया शक्त्यायुधेन कृत्वापि पुनरजेयं समुदीक्ष्य ज्ञात्वा खलु कस्मादप्युपायान्निज विवेक्तुं ततोऽथ पृथक्कर्तुं गृहदेविकाया. सधर्मिण्या गृहिण्या (कुलदेवताया. वा) उपासनायां गतो निरतोऽभूत् ॥४॥

रतीश्वराज्ञां शिरसा वहन्ति तेऽत्रापि वस्त्राभरणैर्लसन्ति।
तच्छासनातीतिकृतश्च के ते वाचंयमास्सन्तु गुहासु ते ते ॥५॥

टीका—ये रतीश्वरस्याज्ञां शिरसा वहन्ति शिरोधार्यां कुर्वन्ति तेऽत्रापि वस्त्राभरणैर न्यरालङ्करणैर्लसन्ति किन्तु ते तच्छासनस्यातीतिकृतस्तदवज्ञानकारिण, केऽपि जनास्ते गुहासु वसन्तो वाचयमा मौनिनो भवन्तु ॥५॥

एकाकिने धूमसमं तमस्तु वाष्पाम्बुपूरोदयकारि वस्तु।
सदङ्गनस्याञ्जनवत्सुशास्तुर्दृगम्बुजोन्मीलनकृत् सदास्तु ॥६॥

अतः समागत विपत्तिके प्रतिकारकी इच्छा करते हुए वियोगी—स्त्री रहित मनुष्य रामाभिधा—स्त्रीके नामका स्मरण करते थे और योगी—साधुजन रामाभिधा—राम—शुद्ध आत्मा अथवा कामकी सम्पदासे रहित—काम विजयी जिनेन्द्रदेवका स्मरण करते थे ॥३॥

अर्थ—समर्थ—नवयौवनसे परिपूर्ण होनेपर भी पुरुष, केवल सुन्दर शरीरकी शक्ति-सामर्थ्य (पक्षमे शक्ति नामक शस्त्रसे) कामदेवको अजेय विचार कर किसी उपायसे अपने आपको उससे पृथक् करनेके लिये गृहदेवी—अपनी स्त्री (पक्षमे कुलदेवी)की उपासनामे निरत—तत्पर हो गया।

भावार्थ—कामोद्रेकसे निर्वृत्त होनेके लिये स्त्रीकी शरणमे गया ॥४॥

अर्थ—जो रतीश्वर—कामदेवकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं वे (परलोक-

---

१. 'चङ्गस्तु शोभने दक्षे' इति विश्व०

टीका—रात्रिसम्बन्धि तमस्तु एकाकिने विरहिणे जनाय बाष्पाम्बुपूरस्य नेत्रजल-प्रवाहस्योदयकारि वस्तु धूमसम धूमेन समान भवति। तदेव सती अङ्गना स्त्री यस्य तस्य मुद्रास्तुर्जनस्य दृशौ एवाम्बुजे तयोरुन्मीलनकृत् सदञ्जनवत् सदैवास्तु समस्तु खलु उल्लेखो-ऽलकार ॥६॥

सौभाग्यमृद्वीरु जनास्य फुल्लविलोकिने श्रीध्वजवस्त्रपल्लः।
हृद्भेदकृत्सम्भवतीव भल्लः परत्र यो दीपशिखांशमल्लः ॥७॥

टीका—दीपशिखांशमल्लः सौभाग्यमृतो भागवतो भीरुजनस्य ललनालोकस्यास्य-मेव फुल्ल विलोकयतीति तस्मै जनाय श्रियो ध्वजस्य वस्त्रपल्लः य एव दीपशिखांशमल्लः परत्र ललनास्यावलोकनरहिते जने हृदो हृदयस्य भेदकृत् भल्ल इव भवतीति शेषः। उल्लेख एवालङ्कारः ॥ ७ ॥

मुद्द्योतनं द्वैतवतो निकाममुद्योतनं चन्द्रमसोऽभिरामम्।
वियोगिनः संतमसं तथातियत्नादिदानीं मनसि प्रयाति ॥८॥

टीका—चन्द्रमसोऽभिराम मनोहरमुद्योतनं द्वैतसतो मिथुनजनाय निकाम यथेष्टं मुदः प्रसन्नताया द्योतन प्रकटीकरण भवति। इदानीमेव तथा सन्तमस तु वियोगिनो जनस्य मनसि यत्नात्प्रयाति जगतो गत्वा वियोगिहृदय एव तमःसभूतं भवतीति खलु युक्तम्। उल्लेखालङ्कार ॥ ८ ॥

की बात दूर रहे) इस लोकमे भी वस्त्राभूषणोसे सुशोभित रहते है और जो उसकी आज्ञाका उल्लघन करते हैं वे गुफाओमे रहते हुए मौनी होते हैं ॥५॥

अर्थ—रात्रि सम्बन्धी जो अन्धकार था वह विरही मनुष्यके लिये तो धुएंके समान अश्रु जलके प्रवाहको करने वाला पदार्थ था और स्त्रीसहित मनुष्यके लिये नयन कमलको उन्मीलित करने वाले अज्जनके समान था ॥ ६ ॥

अर्थ—जो दीप शिखाका अशरूप मल्ल था वह सौभाग्य शाली स्त्री जनके मुख रूप कमल पुष्पको देखने वाले पुरुषके लिये लक्ष्मीके ध्वज वस्त्रका पल्ल—प्रान्त—भाग था वही स्त्री जनसे रहित विरही मनुष्यके हृदयको भेदन करने वाला भाला था

भावार्थ—रात्रिके समय प्रज्वलित दीपक, सयोगी मनुष्यके लिये हित कारक और विरही—वियोगी मनुष्यको दुःखकारक थे ॥७॥

अर्थ—इस समय चन्द्रमाका सुन्दर प्रकाश संयोगी स्त्रीपुरुषोके हर्षको अत्य-धिक बढाने वाला है और ससारका सघन अन्धकर प्रयत्न पूर्वक सिमट कर वियोगी मनुष्योके हृदयमे आ घुसा है ॥ ८ ॥

सिताश्रितं दुग्धमिवादरेण निपीयते सङ्गमिनापरेण ।
अयोषितां तक्रमिवात्र नक्रसंकोचतः श्रीशशिरश्मिचक्रम् ॥९॥

टीका—सङ्गमिना स्त्रीप्रसङ्गभाजा मनुष्येण श्रीशशिनश्चन्द्रस्य रश्मिचक्रं ज्योत्स्नासमूहः सितया शर्करया श्रितं युक्तं दुग्धमिवादरेण प्रेम्णा निपीयते तदेवात्रापरेण वियोगिना जनेनाथ पुनरवितं ह्यिह्नि व्यतीतं तक्रं दधिविकारमिव नक्रस्य नासिकायाः संकोचतोऽदयित एव निपीयते । उल्लेखपूर्वकोपमानामालङ्कारः ॥ ९ ॥

कामारिनामाप्यभवल्ललामा यदीयमूर्धान्वुकशीतधामा ।
दिशां जये प्रीतिपितुः प्रशस्यं साचिव्यमेव प्रचरत्यवश्यम् ॥१०॥

टीका—कामस्यारिर्हरस्तस्य नामापि ललाम मनोहरमभवज्जातं यत्सम्बन्धी यदीयश्चासौ मूर्धा शिरस्तस्यान्वुकमलङ्करणं शीतधामा चन्द्रमा भवति तस्मात् कामस्यालिमित्र रलयोरभेदात् । यत एव चन्द्रमाः प्रीतिपितुर्मदनस्य दिशांजये दिग्विजयविषयेऽवश्यमेव प्रशस्य प्रशंसायोग्य साचिव्यं सचिवत्व प्रचरति । चन्द्रसाहाय्येन स्वच्छन्दभावेन कामस्य प्रचारो भवतीति ॥ १० ॥

निशाचरः पञ्चशरोऽस्ति पृष्ठलग्नो ममैकाकिन आ निकृष्टः ।
त्वत्तो लभे नो यदि तन्त्रसूत्रमष्टाङ्गसिद्धो समतास्तु कुत्र ॥११॥

टीका—इत्यतः कोऽपि विरही स्वनायिकाया अनुनयं करोति—पञ्चशरः काम एव निशाचरो रात्रौ सञ्चरणशीलोऽस्ति स निकृष्टः पीडाकरत्वात् ममैकाकिनो निःसहायस्य पृष्ठलग्नः सम्भवति । आ इत्याश्चर्यं । ततो हे दयिते यदि तन्त्रसूत्रं मन्त्रप्रतिपादकं शास्त्रं यदि नो लभे ऐमि तदा पुनरष्टाङ्गसिद्धेरणिमादिरूपसम्भूतेरथवा काममन्दिराद्यष्टाङ्गसिद्धेः समता कुत्रास्तु ॥११॥

अर्थ—स्त्री समागमको प्राप्त मनुष्यके द्वारा जो चन्द्रकिरणोंका समूह शर्करा मिश्रित दूधके समान आदरसे पिया जाता है—सेवन किया जाता है वही चन्द्र किरणोंका समूह विरही मनुष्यके द्वारा वासी छाछके समान नाक सिकोड़कर पिया जाता है ॥ ९ ॥

अर्थ—शकरका नाम भी आभूषणस्वरूप होता है क्योंकि उनके मस्तकका आभूषणस्वरूप चन्द्रमा भी कामदेवके दिग्विजयके समय प्रशंसनीय सहयोग करता है ॥१०॥

अर्थ—आश्चर्य है कि यह अत्यन्त निकृष्ट कामरूपी निशाचर—राक्षस (रात्रिमे प्रभाव दिखानेवाला) मेरे पीछे लगा है अतः हे प्रिये ! यदि तुमसे तन्त्र-

श्यामं मुखं मे विरहैकवस्तु ह्येकान्ततो रक्तमहो मनस्तु ।
प्रत्यागतस्ते ह्यधराग्रभाग एवाभिरूपे मनसस्तु रागः ॥१२॥

टीका—हे प्रिये ! मे मुखं विरहैकवस्तु त्वद्वियोगवशर्वातितया श्यामं कृष्णवर्णं भवति तु पुनर्मनश्च मे एकान्ततो निश्चितरूपतयारक्तमनुरागयुक्तं लोहितं भवति किन्तु ते तव मनसो हृदयस्य रागोऽनुरागोऽसौ हीति निश्चयेनाभिरूपे मनोहरेऽधरस्याग्रभाग एव प्रत्यागतस्तव मनसि तु मम विषये जातुचिदपि नानुरागस्तिष्ठति खलु ॥१२॥

मुहुर्नु बद्धाञ्जलिरेष दास सदा सखि ! प्रार्थयते सदाशः ।
कुत. पुनः पूर्णपयोधरा वा न वर्तते सत्करकस्वभावा ॥१३॥

टीका—हे सखि ! एष समक्षे वर्तमानो दास सदाश सम्यगाशावान् बद्धाञ्जलिः प्रकृतहस्तयोजनावान् मुहुर्वारवार प्रार्थयते । त्व तु पुन पूर्णौ प्रव्यक्ततां गतौ पयोधरौ स्तनौ यस्या यद्वा पूर्णतया जलधारणस्वभावापि, कलस्तु मधुरो ध्वनि कल एव कलक सन् प्रशसायोग्यः कलक एव स्वभावो यस्याः प्रशस्तमधुरभाषिणी । किञ्च करक भृङ्गारक सत् उत्तम करकमेव स्वभावो यस्या सा कुतो न भवसीति, जलधारिणी च तृष्णावते जनाय जल न पाययसीति कथ कदर्यस्वभावता ते नेति सूक्ति । श्लेषोऽनुप्रासश्चालकार ॥१३॥

सूत्र कामरूप निशाचरका निरा करनेवाला मत्र साधक शास्त्र नही प्राप्त करता हूँ तो मुझे अष्टाङ्गसिद्धि—अणिमा महिमा आदि अष्ट विध विभूतिकी अथवा तुम्हारे अष्टाङ्ग शरीरकी प्राप्तिसे समता कैसे हो सकती है ? ॥११॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरा मुख तो विरहकी एक वस्तु है अर्थात् तुम्हारे विरहके कारण कृष्णवर्ण हो गया है परन्तु मेरा हृदय नियमसे रक्त—रागयुक्त अथवा लाल वर्ण है। आश्चर्य है कि तुम्हारे मनका राग मनोहर अधरोष्ठमे आ गया है। तात्पर्य है कि तुम्हारे मनमे मेरे विषयमे कुछ भी अनुराग-प्रेम नही है ॥१२॥

अर्थ—हे सखि ! यह सामने खडा दास सदासे आशा लगाये बद्धाञ्जलि—हाथ जोडकर (पक्षमे पानी पीनेके लिये अजलि बाँधकर) प्रार्थना कर रहा है कि मुझे स्वीकृत करो (पक्षमे पानी पिला दो। तुम पूर्णपयोधरा हो—तुम्हारे स्तन पूर्ण विकसित है (पक्षमे तुम जलको धारण करनेवाली हो) फिर भी करकस्वभावा—मधुरभाषिणी नही हो रही हो (पक्षमे करकस्वभावा—करक—जलपात्रके स्वभाववाली नहीं हो रही हो, यह आश्चर्यकी बात है)।

सद्धारगङ्गाधरमुग्ररूपं तवेममुच्चैस्तनशैलभूपम् ।
दिगम्बरं गौरि ! विधेहि चन्द्रचूडं करिष्यामि तमामतन्द्रः ॥१४॥

टीका—हे गौरि ! गौरवर्णे ! पार्वति ! वा तवेममुच्चैस्तनशैलस्यात्युन्नतपर्वतस्य कैलासाख्यस्य भुवं पातीति उच्चैस्तनशैलभूपं तमेवोच्चैस्तनमेव शैलभूप उरोरुहपर्वत-नायकं तमेवोग्ररूप महादेवस्वभावमुन्नतस्वभाव वा सन् चासौ हारो गलभूषणमेव गङ्गा तां धरतीति त तथैव सती धारा यस्यास्तां गङ्गां धरतीति वा तमेन दिगम्बरं विधेहि वस्त्ररहित कुरु यमहमतन्द्रोऽनलसो भूत्वा चन्द्रश्चूडास्थाने यस्यैतादृशं नखक्षतेन कृत्वा करिष्यामीति । श्लेषोऽत्र ॥१४॥

भावार्थ—जलसे भरे कलशको धारण करनेवाली किसी स्त्रीसे कोई तृषातुर मनुष्य पानी पीनेके लिये अजली बाँधकर पानीकी याचना करे और वह स्त्री 'हा पिलाती हूँ' ऐसे मधुर शब्द न कहे तो लोकमे उसे अच्छे स्वभाववाली नही कहा जाता इसीप्रकार मै चिरकालसे आशा लगाये हुए हाथ जोडकर तुमसे प्रेमकी याचना कर रहा हूँ पर तुम बोलती भी नही हो अतः तुम्हारा स्वभाव प्रशस्त नही जान पडता है ॥१३॥

अर्थ—हे गौरवर्णे ! जो समीचीन हार रूपी गङ्गाको धारण कर रहा है तथा उग्र रूप है—उन्नत है (पक्षमे शिव रूप है) ऐसे उच्चैस्तन शैलभूप—उन्नत स्तन रूप गिरिराजको दिगम्बर—वस्त्र-रहित करो जिससे मैं आलस्य रहित हो उसे चन्द्र चूडकर सकू—नख क्षतोसे विभूषित कर सकू।

भावार्थ—हे गौरि ! तुम्हारा स्तन क्या है मानो शकर है क्योकि जिस प्रकार शकर **सद्धारगङ्गाधर समीचीन धारा वाली गङ्गाको** धारण करते हैं उसी प्रकार स्तन भी **सद्धारगङ्गाधर**—समीचीन हार रूपी गङ्गाको धारण करता है। जिस प्रकार शकर **उग्र है**—उग्र नामको धारण करते हैं उसी प्रकार स्तन भी **उग्र है**—उन्नत है। जिस प्रकार शकर **उच्चैस्तन शैलभूप**—अत्यन्त ऊँचे कैलास पर्वतकी भूमिको रक्षा करने वाले हैं उसी प्रकार तुम्हारा स्तन भी **उच्चै—स्तन शैलभूप है**—अत्यन्त उन्नत पर्वत राज है। तुम इसे **दिगम्बर** बना दो—दिगम्बर नामसे युक्तकर दो (पक्षमे वस्त्र रहित कर दो) जिससे मैं **चन्द्रचूड**—चन्द्रमौलि नामसे युक्त कर सकू (पक्षमे अर्ध चन्द्राकार नखक्षतोंसे विभूषित कर सकूँ)। सस्कृत कोषोमे शंकरके निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं—गङ्गाधर, उग्र, कैलासपति, दिगम्बर तथा चन्द्र चूड आदि। यहाँ श्लेषा-लकार द्वारा इन नामोका प्रयोग किया गया है। 'गौरी' नाम पार्वतीका भी प्रसिद्ध है ॥१४॥

त्वमप्सर·सारमयी त्वदन्तःक्रियाश्रिया मे सफरो दृगन्तः ।
न सम्भवे वेवमहो यतस्तु कुतः पुनर्यद्दुरितं समस्तु ॥१५॥

टीका—हे सुन्दरि ! त्वं पुनरप्सरसां स्वर्गवेश्यानां सारमयी, तथा चाप्सरसां जलयुक्त सरोवराणां सारमयी वा, तस्मात्त्वदन्तःक्रियाश्रिया त्वदान्त.करणचेष्टया मे दृगन्तो मम कटाक्षविक्षेप. सफरः फलवान् यद्वा मत्स्यवत्क्रीडाकरो न सम्भवेत् । यतो यस्मात् कारणात् यत् किंचिद्दुरित पातकं ममापराधलेश· समस्तु पुन. किल । श्लेष. ॥१५॥

चण्डः स्मरोऽसौ धनुरेति कान्ते सन्धारयोच्चैस्तन पर्वतान्ते ।
ज्वलत्यलं मे विरहाग्निनान्ते किं स्यान्निवासोऽपि विभूतिमास्ते ॥१६॥

टीका—हे कान्ते ! सुन्दरि ! असौ चण्डः प्रचण्डरूपधरः स्मरो धनुरेति मम वधाय कोदण्डमुद्धरति तस्मात्त्वोच्चैस्तन उच्चतरपयोधर एव पर्वतस्तस्यान्ते सन्धारय नान्यथा मम कुशल भवेत् । विरहेणैवाग्निना मे ममान्ते प्रान्ते ज्वलति सति ते तवापि निवासः सद्म विभूतिमान् वैभववान् भस्मरूपो वा स्यात् किमिति । श्लेषोऽत्रापि ॥१६॥

स्मरः स्म रङ्गस्थलमेत्य वंशस्पृङ्मेऽपि धन्वापहरत्यरं सः ।
त्वं देवि हे विव्यशराधिभूर्यन्मुदे तु कोदण्डमुवेतु भूयः ॥१७॥

टीका—हे देवि ! स्मरः कामदेवो रङ्गस्थलमेत्य स मे वंशस्पृङ् मर्मस्पर्शकरः

अर्थ—हे सुन्दरि ! तुम अप्सराओ—स्वर्गकी सुन्दरियोमे सारमयी—श्रेष्ठतम हो अथवा तुम अप्सरो—जलयुक्त सरोवरोमे श्रेष्ठतम हो। यदि तुम्हारे मनो व्यापारसे मेरा कटाक्ष यदि सफर—सफल अथवा सफर—मत्स्यके समान क्रीडा करने वाला न हो सका अर्थात् मैं दृष्टि भर आपको देख नही सका तो इस तरह यह मेरा दुरित–पाप अथवा अपराध होगा ॥१५॥

अर्थ—हे प्रिये ! प्रचण्ड रूपको धारण करने वाला यह काम धनुषको प्राप्त हो रहा है—मुझे मारनेके लिये धनुष तान रहा है अतः मुझे **उच्चैस्तन पर्वतान्ते**—पर्वतके समान अत्यन्त उन्नत स्तनोकी ओटमे रख लो, अन्यथा मेरी रक्षा नही हो सकेगी। जब कि मेरा **अन्त**—निकटवर्ती प्रदेश (अथ च अन्त·करण) विरह रूपी अग्निसे जल रहा है तब तुम्हारा निवास स्थल **विभूतिमान्**—विशिष्ट वैभवसे युक्त क्या रह सकेगा ? (पक्षमे विभूतिमान्—भस्मसे रहित क्या हो सकेगा ?) अर्थात् नही ॥१६॥

अर्थ—हे देवि ! कामदेवने रङ्गभूमिमे आकर मेरे मर्मका भेदन किया है,

कवचापहारकश्च भवन् धन्वं स्थानं धनुर्वापहरतिस्म । त्वं च पुनर्दिव्यशरस्य गलभूषणस्याधिभूः स्थानं यद्वा दिव्यबाणानामधिभूर्यस्मात् कारणात् तु पुनर्मुदे प्रसन्नतार्थं भूयः पुनरपि कोदण्डं धनुरस्तु खलु ॥१७॥

नतभ्रु तप्तास्यतनुज्वरेण किलोपवासोऽस्तु सुखाय तेन ।
रसायनाधीट् रसमर्पयास्मिन्नालं तवावेदितलङ्घनेऽस्मिन् ॥१८॥

टीका—हे नतभ्रु ! त्वमपि अतनुज्वरेण विशालज्वरेण कामज्वरेण वा तप्तासि किल तेन हेतुना उपवासो लङ्घन सम निवासः सुखायास्तु भवतु, इति निगदति सति प्रिये कान्तायाः प्रत्युक्तिः । हे रसायनाधीट् । वैद्यराज ! तवोदितलङ्घने तव कथिते उपवासरूपे लङ्घने यद्वा तवावेदितस्याभ्यर्थनारूपस्योल्लङ्घने निवेधने नालमस्मि समर्था न भवामि ततः शीघ्रमेव रसमर्पय । लङ्घनकरणेऽसमर्थायास्तु रोगिण्याः पारदादिरसप्रदानेन चिकित्सा कार्या भवतीति ॥१८॥

सद्वृत्तसम्वादसमर्थमद्य श्रीचन्द्रकान्तामृतगुं प्रपद्य ।
नितान्तमन्तःकठिनापि वारिमुक्तामथोरीकुरुते स्म नारी ॥१९॥

टीका—योग्येन योग्यसङ्गमरूप सद्वृत्त तस्य सम्वादे समर्थं पति चन्द्रकान्ता-

---

(पक्षमे कवच तोड डाला है) और मेरा धन्व—देश-स्थान (पक्षमे धनुष) छीन लिया है, अर्थात् मैं स्थानभ्रष्ट और शस्त्ररहित हो गया हूँ परन्तु, तुम **दिव्यशरधिभू**—सुन्दर कण्ठहारको भूमि हो (पक्षमे **दिव्य**—अलौकिक **शरो**—बाणोकी **अधिनायक** हो अतः प्रसन्नताके लिये मुझे फिर भी कोदण्ड—देश विशेष यद्वा धनुष प्राप्त हो । जिससे मै स्थान भ्रष्ट और शस्त्ररहित न रहूँ ॥१७॥

अर्थ—श्लेष द्वारा नायक नायिका की उक्तिप्रत्युक्ति है । नायक कहता है कि हे नत भौंहो वाली प्रिये ! तुम अतनुज्वर—बहुत भारी बुखार से (पक्षमें काम ज्वर से) संतप्त हो, पीडित हो, इसलिये उपवास—लङ्घन करना (पक्षमे साथ ही निवास करना) सुख के लिये हो । नायक के यह कहने पर नायिका कहती है—हे रसायनाधीट् ! रसायन विद्या के सम्राट् ! वैद्यराज ! (पक्षमे रस-अयन-अधीट्) शृङ्गार रसके स्वामी प्राणनाथ !) मै तुम्हारे द्वारा बतलाये हुए इस लंघन रूप उपवासके करनेमे समर्थ नही हूँ । पक्षमे आपकी प्रणयप्रार्थनाके उल्लंघन करनेमे समर्थ नही हूँ) इसलिये कोई रस—आयुर्वेदिक रसायन दीजिये (पक्षमे रस-शृङ्गार रस) प्रदान कीजिये जिसके द्वारा मैं अनायास अतनुज्वरसे उन्मुक्त हो जाऊँ ॥१८॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रकान्ता—चन्द्रकान्त मणिसे निर्मित पुतली भीतरसे

मणिरिवामृतगु चन्द्रमस प्रपद्य लब्ध्वाऽन्तोऽन्तरङ्गे मनसि कठिनापि नारी स्त्री नितान्त-मत्यन्तमेव वारि मुञ्चतीति वारिमुक् तस्य भावो वारिमुक्तामथ च वारिणो जलस्य मुक्ता बिन्दु प्रस्वेदरूपां सात्त्विकभावजातामथवा वारिं वाच मुञ्चतीति तस्य भावस्तां वारिमुक्ता लङ्घनेऽहमल न भवामीति रसायनाधीत् रसमर्पयेति च पूर्ववृत्तकथितप्रकारा-मुरु कुरुते स्मेति ॥१९॥

सविभ्रमां यौवनवारिवेगां वधूनवीं भो शृणु वीर ! मे गाम् ।
उदारशृङ्गारतरङ्गसेनां कोऽत्येतुमीशः शुचिहासफेनाम् ॥२०॥

टीका—भो वीर ! हे भ्रातः । मे मम गामुक्ति शृणु, यत्किल वधूनवीं स्त्रियमेव नवीं, कीदृशीं ? विभ्रमेण नेत्रविकारेण पक्षे आवर्तेन सहितां सविभ्रमां यौवनस्यैव वारिणो जलस्य वेग प्रवाहो यस्या तां, उदारः सर्वग्राह्यश्चासौ शृङ्गारो नाम रसस्तस्य तरङ्गाणां लहरीणां सेना परम्परा यस्यां ता शुचिहासाः प्रेमपूर्वकस्मितलेशा एव फेना यस्या तामत्येतुमुल्लङ्घयितु को वा जन ईशः समर्थो भवति न कोऽपीति । श्लेषोऽनु-प्रासो रूपकञ्चाल।ारः ॥२०॥

उदारवक्त्रैरुत दारनक्रैरक्लेशितः सद्रतिवीचिचक्रैः ।
समुल्वणं यौवनवारिराशिमत्येति जीयात्स नरोऽस्मराशीः ॥२१॥

टीका—उदाराणि उत्कृष्टानि महान्ति वा वक्त्राणि मुखानि येषां तैः । उत पुनः दारैरेव नक्रैः स्त्रीमकरैरित्यर्थः कृत्वा सतो या रतिस्तस्या वीचयो लहरयस्तासा चक्रैः समुल्वणमुद्वेलभावमाप्त यौवनमेव वारिराशिं समुद्रं यः कोऽप्यत्येति तदस्पृष्टः प्रवर्तते

कठिन—कठोर स्पर्श वाली होकर भी अमृतगु—सुधारश्मि—चन्द्रमाको पाकर वारिमुक्ता—जल स्त्राविताको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार कठिन हृदय वाली भी नारी सुयोग्य वल्लभको प्राप्त कर सात्त्विक भावके रूपमे स्वेद बिन्दुओको धारण करने लगी अथवा पूर्व पद्यमे निरूपित अनुकूलताको प्राप्त हो गई ॥१९॥

अर्थ—हे भाई ! मेरो उक्ति सुनो, जो नेत्रविकार रूप विभ्रमसे सहित है (पक्षमे भँवरसे सहित है) जिसमे यौवन रूप जलका प्रवाह विद्यमान है, जिसमें उदार शृङ्गार रस रूप तरङ्गो की सन्तति उठ रही है और जो उज्ज्वल हास्य रूपी फेनसे सहित है ऐसी स्त्रीरूपी नदी को पार करनेके लिये कौन समर्थ है ? ॥ २० ॥

अर्थ—उदार मुख वाले स्त्री रूपी मगरो और समीचीन रति-प्रीति रूप लहरोके समूहसे उद्वेलभाव को प्राप्त हुए यौवन रूपी समुद्र को जो पार करता

स किलास्मरस्य ब्रह्मभावस्याशी. शुभाशंसनं यस्य स एवंभूतो नरो जीयादेव । अत्र रूपकालंकारः ॥ २१ ॥

कान्तारसद्देशचरस्य चक्षुःक्षेपोऽभवत् सद्विटपेषु दिक्षु।
अद्धै तसम्वादमुपेत्य वाणमोक्ष. क्षणाद्वा सवयस्य कारण: ॥२२॥

टीका—कान्तया प्रियया लसन् शोभमानो यो देशः स्थान तस्मिन् चरतीति तस्य, यद्वा कान्तारे वने योऽसौ सन् देशस्तस्मिन् चरतीति तस्य कामदेव स्यैव वनेचरस्य दिक्षु दिशासु समन्तत· सद्विटपेषु सत्सु विटपेषु कामिषु यद्वा वृक्षेषु चक्षुःक्षेपोऽवलोकनमभवत् य. खलु स एवाद्वै तस्यैकाकिनः सम्वादं प्रसङ्गमुपेत्य सम्प्राप्य सवयसि नवयौवनपरिपूर्णे जनेऽकारणो विकलता रहितो वाणमोक्षः क्षणादेव भवति । अत्र श्लेषोऽलंकार ॥ २२ ॥

नवोद्धतं नाम वधत्तदिन्दुबिम्बं बभूवेह घृतस्य विन्दुः ।
वियोगवह्न्युत्तपनाय हेतुद्वै तस्य वा स्नेहनकर्मणे तु ॥२३॥

टीका—सवेतत् इन्दुबिम्ब नाम चन्द्रमण्डल वियोगिनो जनस्य वियोगवह्नि-स्तस्योत्तपनाय प्रज्वलनाय हेतुः कारणं तथा द्वैतस्य मिथुनस्य स्नेहकर्मणे प्रेमोत्पादनाय स्निग्धत्वार्थमिव कारणं भवत् सत् नवोद्धृतैमक्षूणं किल घृतस्य विन्दुर्लेशो बभूव तावदिति ॥ २३ ॥

कुन्दारविन्दावितता द्वयेभ्यः शय्येव सासीद् विरहाश्रयेभ्यः ।
हसन्ति अङ्गारकभावमित्यासकौ च कौ मौघमिता तमिस्रा ॥२४॥

है तज्जनित विकारोसे अछूता रहता है ब्रह्मचर्यके आशीर्वादसे युक्त वही पुरुष जयवत प्रवर्ते ॥ २१ ॥

अर्थ—कान्तार सद्देशचर—प्रियासे शोभायमान देशमे (अथच) कान्तार-वनके समीचीन प्रदेशमे विचरने वाले कामदेव रूपी वनेचरका दृष्टिपात सब ओर विटप–कामीजनो (अथ च) वृक्षोपर हुआ करता था उसी कामदेव रूप वनेचरका वाण मोचन एकान्तका प्रसङ्ग पाकर यौवनसे परिपूर्ण जनोपर अकारण–विकलता रहित क्षणभरमे होने लगा। भाव यह है कि एकान्तमे स्थित वयस्यक नर नारियोमे अनायास ही काम का सचार होने लगा ॥ २२ ॥

अर्थ—जो यह चन्द्रमण्डल है वह वियोगी मनुष्य की वियोग रूपी अग्निको प्रज्वलित करनेका कारण है और संयोगी दम्पतियोकी स्निग्धता पारस्परिक स्नेह (पक्षमे चिकनाई) को बढ़ानेके लिये नवीन निर्गत घृतकी बिन्दु है ॥२३॥

टीका—या सक्तौ दृष्टिपथगता तमिस्रा रात्रिश्च पुनर्भानां नक्षत्राणां मोघेन मिता परिमिता सती कौ च पृथिव्या द्वयेभ्यो युगलेभ्यः स्त्रीपुरुषेभ्यः कुन्दारविन्दादिभिः कुन्दकुसुमकमलादिभिस्तता व्याप्ता शय्येव शय्यासदृशी आसीत् सैवेयं रात्रिर्विरहाश्रयेभ्यो वियोगिलोकेभ्योऽङ्गारकाणा वह्निकणानाभावेन मिथ्या हसन्तीव गौरसीवासीत्। उल्लेखपूर्वकोपमानामालंकारः ॥ २४ ॥

शरीरिवर्गस्य तमां विवेकहान्या महान्याग गुणाभिषेकः ।
सुरा सुराद्धान्तचुरासुयोग आद्यः स्मरेषोरिति सम्प्रयोगः ॥२५॥

टीका—हे यागगुणाभिषेक! यागस्य हवनस्य गुणे वृद्धिकरणेऽभिषेको दीक्षाप्रयोगो यस्य तत्सम्बोधनम् अर्थात् हे यज्ञकर्तः सम्मुखे वर्तमान विप्रवर! विद्धार्थिमित्यर्थः। शरीरिवर्गस्य ससारिजनसमूहस्य विवेकस्य हान्या कृत्वा राद्धान्तस्यागमस्य चुरा चौर्या कर्म यत्र तासु मतिविहीनासु सुरासु मदिरासु महान् योगोऽभवत् इति स एवाद्यः स्मरस्य कामदेवस्येषोर्वाणस्य सम्प्रयोगो जातः ॥ २५ ॥

नालीयकं सौधमिवास्तु वस्तु संयोगिनः किं न वियोगिनस्तु ।
पुंसः पुनः पित्तलपात्रमस्तु-सम्वेदवत्खेदकरं तदस्तु ॥२६॥

टीका—संयोगिन. स्त्रीससर्गभृतो जनस्य यन्नालीयक तालवृक्षरसः सुधाविकारः सौधममृतकृतमिव किल वस्तु अस्तु सारभूतं भवतु। वियोगिनः स्त्रीविरहितस्य तु पुनः पुस. पुरुषस्य तदेव पित्तलपात्रे स्थितयन्मस्तु दधि तस्य सम्वेदोऽनुभवनं तद्वत् खेदकरं कष्टप्रद किन्नास्तु अपितु भवत्येव ॥ २६ ॥

अर्थ—नक्षत्रोंके समूहसे व्याप्त जो रात्रि सयोगी जनोको कुन्द तथा कमलादि पुष्पोसे व्याप्त शय्याके समान जान पडती थी वही रात्रि वियोगी जनोके लिये अङ्गार कणोसे युक्त हसन्ती–गौरसी (सिगड़ी) के समान हो रही थी ॥ २४ ॥

अर्थ—हे यज्ञकारक विप्रवर! विवेक—हिताहित ज्ञानकी हानिके द्वारा आगम ज्ञानको अपहृत करने वाली मदिरामें संसारी जनोंकी जो प्रवृत्ति हुई थी वही कामदेवके वाण का प्रथम योग था। तात्पर्य यह है कि मनुष्य कामा कुलित हो मदिरा पानमे प्रवृत्त होते हैं ॥ २५ ॥

अर्थ—सयोगी–स्त्री सहित पुरुषको ताड़ी क्या सौध–सुधा निर्मित वस्तु नही है? अमृतके समान आनन्दकारी क्या नहीं है? और वियोगी मनुष्य को पीतलके पात्रमे रखे हुए दहीके स्वादके समान क्या खेदकारी वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

द्वैतानि तानि प्रकृतादरस्य नृशंसतायां सरकं स्मरस्य ।
शिलीमुखैर्जर्जरितेष्वसिञ्चन् पुनः पुनः स्वास्वनितेषु किञ्च ॥२७॥

टीका—तदेव सरकं मद्यं, तानि द्वैतानि मिथुनानि कर्तृभूतानि नृशंसतायामादौ प्रकृतः सम्पादित आदरो हर्षिर्येन तस्य स्मरस्य रतिपतेः शिलीमुखैर्बाणैः कृत्वा जर्जरितेषु छिन्नभिन्नेषु स्वस्वास्वनितेषु चित्तेषु पुनः पुनरसिञ्चन् सिञ्चन्ति स्म ॥२७॥

नालं समुत्पीनपयोध्रभावात्सम्पादने दोर्वलनस्य सा वा ।
विनामने वक्त्रवरस्य मद्यपाने कुतः स्यात्कुशलाद्य सद्यः ॥२८॥

टीका—सा वा युवतिः समुत्पीनौ प्रसन्नोन्नतौ पयोध्रौ कुचौ तयोर्भावात् किल दोर्वलनस्य बाह्वोर्वलनसंमुखीकरणे तथैव च वक्त्रवरस्य मुखमण्डलस्य विनामने नम्रकरणेऽलं समर्था नाभूत् ततोऽद्यास्मिन् मधुवारे मद्यस्य पाने मदिरास्वादने सद्यः सहसैव सा कुतः कथं कृत्वा कुशला स्यान्न कुतोऽपीति ॥२८॥

अन्वाननं पानकपात्रमाशासमन्वितायाः वितरन्विलासात् ।
हस्तेन शस्तस्तनमण्डलान्तमालिङ्ग्य सम्यङ्मदमाप कान्तः ॥२९॥

टीका—कान्त प्रियजनो हृदयेश्वरः आशासमन्वितायाः पातुमभिलाषवत्या आननमनु समीपमन्वाननं पानकपात्रं मधुभृतचषकं विलासात् कौतुकपूर्वं वितरन् ददानः सन् तस्मिन्नेव काले हस्तेन तस्याः शस्तस्योच्छून मृदुलतमस्पर्शस्य स्तनमण्डलस्यान्तं प्रान्तभागं आलिङ्ग्य स्पृष्ट्वा स्वयमपि सम्यक् यथेष्ट मदं संहर्षलक्षणमाप। असङ्गतिनामालंकारः ॥२९॥

अर्थ—स्त्री-पुरुषोने मदिरा क्या पी थी मानो उन्होने क्रूरतामे आदर रखने वाले कामदेवके बाणोसे छिन्न-भिन्न हुए अपने-अपने हृदयोमे उस मदिराको पुनः पुनः सीचा था ॥२७॥

अर्थ—कोई एक स्त्री स्तनोंकी स्थूलताके कारण न भुजाओको मुख मण्डलके पास ले जानेमे और न मुख मण्डलको नीचाकर मद्यपात्रके पास ले जानेमे समर्थ थी तब वह उस समय मद्यपानके अवसर पर मदिरा पान करनेमे सहसा कुशल कैसे हो सकती थी ॥२८॥

अर्थ—कोई एक स्त्री मदिरा पीना चाहता थी पर पीनेमें असमर्थ थी उसका पति कौतुकपूर्वक मदिराका पात्र उसके मुखके पास ले जा रहा था और हाथसे स्तनमण्डलका स्पर्श कर रहा था इस तरह वह मदिरा पानके बिना ही मदहर्षरूप नशाको प्राप्त हो रहा था । असंगति अलंकार है ॥२९॥

भर्त्रात्तिनाम ग्रहणं सपत्न्याः समर्पिताहो मदिरापि पत्न्या ।
अस्याः समस्या मददारणाय दृश्यापि तस्या मददारणाय ॥३०॥

टीका—सपत्न्याः प्रतिस्त्रिया नाम ग्रहण यथास्यात्तथा हे सुन्दरि ! मदिरामास्वादयेति कथनपूर्वक समर्पिता दत्ता मदिरा सुरा पत्न्या ललिताङ्गया प्रिययापि प्राप्ता सती समस्या सम्यगास्वादितापि सती सा मदिरास्या प्रियायाः प्रत्युत मदस्य दारणायापहरणाय बभूव । किन्तु तस्याः सुन्दर्याः केवल दृश्यापि सत्यनास्वादितापि पुनर्मददोन्मत्तताकर्त्री सती रणाय कोणाय रहस्यं लब्धुमेकान्तवासायेत्यर्थः । 'रणः कोणे कणे युद्धे' इति विश्वलोचनः । सपत्न्याः सुखकर्त्री बभूवेति । पूर्वोक्त एवालंकारो यमकश्चालङ्कार. ॥३०॥

हाला हि लालायितमन्तरङ्गं करोति बीजग्रहणेऽवभङ्गम् ।
हालाहलं प्राह जने त्रपाला बालापिनी प्रीतपणस्य बाला ॥३१॥

टीका—हाला मदिरा सा बीजग्रहणेषु बीजमिति शुक्रपर्यायवाची शब्दः, तस्य ग्रहणेषु सुरतचेष्टास्वित्यर्थः । लालायितमुत्कण्ठितमन्तरङ्गं करोति, हीति निश्चयेन प्रीतपणस्य प्राणप्रियस्यालापिनी आह्वानकर्त्री बाला नववधूः, त्रपालौ लज्जाकारके जने श्वशुरप्रभृतिके समीपस्थिते सति तामेव हालाहल प्राह गरलमिव प्रोक्तवती पतिप्रसङ्गेन विना स्थातुं न शशाकेति ॥३१॥

अर्थ—सौतका नाम लेकर पतिके द्वारा दी हुई मदिरा पत्नीने प्राप्त की परन्तु आश्चर्य है कि वह मदिरा आस्वादित होनेपर भी मददारणाय—मदगर्वका अपहरण करनेके लिये हुई मद-नशा बढ़ानेके लिये नही, किन्तु मददा—मदको देने वाली होकर भी रणाय—ईर्ष्याजनित युद्ध—कलहके लिये हुई। और वही मदिरा सौतके लिये दृश्या—देखने योग्य—अनास्वादित होनेपर मददा—मदको देने वाली होती हुई रणाय—कोण—एकान्त वासके लिये हुई थी। तात्पर्य यह कि वह मदिराके देखने मात्रसे इतनी विह्वल हो गई कि एकान्त स्थानकी इच्छा करने लगी ॥३०॥

अर्थ—सचमुच ही हाला—मदिरा स्त्रीके हृदयको रति क्रियामें उत्कण्ठित कर देती है इसीलिये तो त्रपालु—लज्जा कारक श्वसुर आदिके समीपस्थ रहनेपर भी नववधू नायकका आह्वान करती है—उसे बुलाती है—उसके बिना रहनेमें असमर्थ हो जाती है। इस तरह अपनी चेष्टासे वह हालाको हालाहल—वषि कहती है अर्थात् विष तुल्य सिद्ध करती है ॥३१॥

मद्यं पिबन्नत्र कृतावतारं स्वयोषितः फुल्लसरोजसारम् ।
पीत्वाऽऽननं यन्मदमाप गाढं न तेन वा तादृशमेव वाढम् ॥३२॥

टीका—मद्यं मदिरां पिबन् जनः, अत्र मद्ये कृतोऽवतारो येन तत् फुल्लस्य सरोजस्य कमलस्य सार इव सारो यस्य तत् स्वयोषितो विवाहितायाः स्त्रिया आननं मुखं पीत्वा-विलोक्य यद् यादृक् गाढं मदमाप प्राप्तवान् तादृशं मदमेव जनस्तेन मद्येनापि कृत्वा न जगाम, वाढमिति सत्यप्रतीतिकमेव ॥३२॥

सोमं समीक्ष्यास्य समत्वहेतुं जेतुं दुरन्तं कुसुमेषु केतुः ।
मधुन्युपात्तप्रतिमावतारं पपावदः सत्वरमप्यसारम् ॥३३॥

टीका—कुसुमेषोः कामस्य केतुः पताका युवतिः, आस्यस्य मुखस्य समत्वं तुल्यभावस्तस्य हेतुं कारणं मधुनि मद्ये उपात्तो गृहीतः प्रतिमायाः प्रतिबिम्बस्यावतारो येन तं सोमं चन्द्रमसं दुरन्तं स्पर्द्धाकारितया प्रतिशत्रुं समीक्ष्य ज्ञात्वा तं जेतुमसारं सारहीनमपि मद्यं परवशकारित्वादित्यर्थः । अदो मद्यमपि सत्वरमेव शीघ्रं पपौ पीतवती ॥३३॥

मद्येन सार्द्धं मम शेमुषीतः स शीतरश्मिश्छविभृन्निपीतः ।
नो चेदिदानीं सुदृशां सदन्तस्तमः स्मयाख्यं च कुतो हृतं तत् ॥३४॥

टीका—मम शेमुषीतो मम विचारेण मद्येन सार्धं छविभृत् मद्ये प्रतिबिम्बित स शीतरश्मिश्चन्द्रोऽपि निपीत एव नोचेदन्यथा तु पुनः सुदृशां शोभनचक्षुषां स्त्रीणां स्मयाख्यं गर्वापरनामकं तदन्तस्तत्समो हृदि विद्यमान तिमिरं च कुतः कस्मात् कारणात् हृतं प्रणष्टं तावत् । अत्र हेतुरलङ्कारः ॥३४॥

अर्थ—कोई एक पुरुष एक ही पात्रमे स्त्रीके साथ मद्य पान कर रहा था । उस मद्य पात्रमे स्त्रीका मुख कमल प्रतिबिम्बित हो रहा था उसे देखकर पुरुष जिस अत्यधिक मद—नशाको प्राप्त हुआ था उस प्रकारके मदको मद्यको पीता हुआ प्राप्त नही हुआ था ॥३२॥

अर्थ—कामदेवकी पताका स्वरूप कोई युवति चादनी रातमे मदिरा पान कर रही थी । मदिराके पात्रमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था उसे देख युवतिने विचार किया कि यह चन्द्रमा मेरे मुखकी तुलनाका कारण है:—उसके साथ स्पर्धा करता है अतः मेरा शत्रु है । शत्रुको पी जाना—नष्ट कर देना ही अच्छा है इस विचारसे उस युवतिने सारहीन मदिराको भी शीघ्र पी लिया ॥३३॥

अर्थ—हमारे विचारसे तो स्त्रियोंने कान्तिधारी उस चन्द्रमाको मदिराके साथ पी लिया था यदि ऐसा न होता तो इस समय स्त्रियोंके हृदयमे विद्यमान

रागं तमक्ष्णोः प्रियवच्छ्रयन्तं रतिप्रतिज्ञां प्रथयन्तमन्तः ।
सुरारसं सन्निदधाति योषा स्मया स्मयोच्छेदपटुं सुतोषा ॥३५॥

टीका—अक्ष्णोश्चक्षुषोर्मध्ये तं प्रसिद्धं रागं रक्तिमानमनुरागं वा श्रयन्तं, अन्तर्हृदये रतेः प्रतिज्ञां प्रथयन्तं विस्तारयन्तं स्मयस्य दुरभिमानस्योच्छेदे निराकरणे पटुं समर्थं सुराया रसं प्रियवत् यथा हृदयेश्वरं तथैव प्रीतिपूर्वकं या सुतोषा सन्तोषवती योषा स्त्री सा सन्निदधाति स्म । अनुप्रास उपमा च ॥३५॥

कलङ्किना क्रान्तपदं च कश्यं नावश्यनश्यत्तमसेदमश्यम् ।
तत्याज वेगाच्चषकं स्वहस्तादित्येवमुत्का सुरताय शस्ता ॥३६॥

टीका—कश्यं मद्यं कलङ्किना कलङ्कयुक्तेन पापिना विरहिजनसन्तापकारिणा चन्द्रमसा क्रान्तपदं प्रतिबिम्बद्वारेणोपलब्धस्थानं ततः इदम् अवश्यमेव नश्यत्तमो यस्य तेन विचारकारिणा जनेनाश्यमास्वादनीयं न भवति किलेत्येव कृत्वा चषकं पानपात्रं स्वहस्ताद् वेगादेव तत्याजोज्झितवती या उत्का सुरताय रतिक्रीडार्थं शस्ता प्रशंसनीयाभूत् सा ॥३६॥

अधोऽथ पीतासवसुन्दरेभ्यस्त्यक्तं त्वमत्रं मिथुनाननेभ्यः ।
रुदत्तविम्बोवरमेव शापश्रिया ह्रियेवालिरवैरवाप ॥३७॥

टीका—अथासवपानानन्तरं पीतेनास्वादितेन तेनासवेन द्राक्षादिसमुत्थेन मद्येन कृत्वा सुन्दराणि मनोहराणि तेभ्यो मिथुनानां दम्पतीनां आननेभ्यो मुखेभ्यस्त्यक्तं यदमत्र

गर्व नामक अन्धकार कैसे नष्ट हो जाता ? यहाँ हेतु अलंकार है ॥३४॥

अर्थ—जो नेत्रोमे राग लालिमा (पक्षमे अनुरागको धारण कर रहा था, हृदयमे रतिकी प्रतिज्ञाको विस्तृत कर रहा था तथा स्मय—दुरभिमानको नष्ट करनेमे समर्थ था ऐसे मदिरा रसको किसी स्त्रीने पतिके समान संतोष पूर्वक सन्निहित किया था ॥३५॥

अर्थ—यतश्च यह मद्य, कलङ्की—कलक युक्त (पक्षमे पापी) चन्द्रमाके द्वारा आक्रान्त पद है—पापी चन्द्रमाने इसमे अपना पैर रख दिया है अथवा अपना स्थान बना लिया है अतः विचारवान् मनुष्यके द्वारा आस्वादन करने योग्य नही है ऐसा विचार कर सभोगके लिये उत्कण्ठित किसी सुन्दरीने पान पात्रको वेगपूर्वक अपने हाथसे छोड दिया ॥३६॥

अर्थ—तदनन्तर पी हुई मदिरामे सुन्दर स्त्रीपुरुषोके मुखोसे नीचे छोड़े हुए

सुरापात्रं शापभिया सुराशिवा कृत्वालिरवैर्भ्रमराणां गुञ्जनैर्हेतुभिः रुवत् रोदनं कुर्वत्सत् नविन्दीवरं नीलोत्पलमेव किलाधोभूमित्वमाप। न त्वमस्माकं मुखस्य तुलामारोढुमर्हतीति कृत्वा निरावृतं सत् त्यक्तमित्यतो ह्रिया लज्जावशेनेन्दीवरं भ्रमरशब्दमिषाद् रुरोदेति ॥३७॥

आस्वाद्य मद्यं चषकं त्यजन्त्यास्सम्प्रस्रवत्सीध्वधरं सुदत्या ।
चुचूष सद्यश्चतुरस्तमत्यादरेण चूतोचितकं सुदत्याः ॥३८॥

टीका—मद्यमास्वाद्य यथेच्छ पीत्वा पुनश्चषक पानपात्र त्यजन्त्या अतएव प्रस्रवति सीधु यस्मात्तत् संप्रस्रवत् सीधुश्चासावधरश्च त भजन्त्या धारयन्त्याः सुदत्याः शोभन-दन्ताया दयितायाश्चतुरो नरस्त प्रियाया अधरोष्ठ चूत इवोचितश्चूतोचितः स्वार्थे क प्रत्यय। आम्रवदित्यर्थ आदरेण परमप्रेम्णा सद्यस्तत्कालमेव चुचूषास्वादितवान् ॥३८॥

चक्राह्वयद्वैत वदुज्ज्वलाशेऽधराधरि प्रेमजुषो विलासे।
वर्त्म स्वयं वै तमसोऽवरुद्धं मनोजराजेन पुनः प्रबुद्धम् ॥३९॥

टीका—चक्राह्वय योश्चक्रवाकचक्रवाक्योर्द्वैतं मिथुन तद्वत् उज्ज्वला पवित्रोद्दीप्ता चाशाभिलाषा यत्र तस्मिन् प्रेमजुषोर्वरवध्वो. (अधरे अधरे प्रवृत्य प्रवृत्तमित्यधराधरि) विलासे चेष्टिते सति तमसोऽभिमानस्यान्धकारस्य वा वर्त्म मार्गः स्वयमेव वै अवरुद्ध प्रतिरोधितमभूत् मनोजराजेन कामदेवेन पुनः प्रबद्ध प्रबोधमाप्त वै ॥३९॥

मदास्पदोऽसावधुनोदियाय प्रच्छादितोऽन्तस्त्रपया चिराय।
यत्नेन योऽम्भोजदृशां महीयान् रागो दृशोः प्रीततमं प्रतीयान् ॥४०॥

टीका—अम्भोजदृशां कमलाक्षीणां दृशोश्चक्षुषोरन्तरभ्यन्तरे यः रागो यत्नेन कृत्वा

मद्य पात्रोमें नील कमल ही शेष रह गये थे जो अनावृत होनेके कारण भ्रमरोंके शब्दके मिषसे मानो रो ही रहे थे ॥३७॥

अर्थ—जो मद्य पीकर पान पात्रको छोड रही थी ऐसी किसी स्त्रीके उस अधरोष्ठको जिससे कि मद्य झर रहा था कोई चतुर मनुष्य आमकी तरह चूस रहा था ॥३८॥

अर्थ—चकवा चकवीके युगलके समान स्त्री पुरुषोंका अधर पान सम्बन्धी विलास जब उत्कट उत्कण्ठाके साथ चल रहा था तब अभिमानका जो मार्ग स्वय अवरुद्ध—रुका हुआ था वह कामदेवके द्वारा पुनः प्रबुद्ध हो गया ॥३९॥

अर्थ—स्त्रियोंके नेत्रोंके भीतर जो रागलालिमा (पक्षमे अनुराग) लज्जाके

चिराय चिरकालतस्त्रपया लज्जया प्रच्छादितो गोप्यतां नीतः स एव रागो रक्तिमा प्रीततम हृदयेश्वर प्रति इयान् महान् महापरिणामवान् सोऽसौ प्रान्तवर्ती अधुना साम्प्रतं मद एवास्पद स्थान यस्य स उदियाय प्रकटतामाजगाम ॥४०॥

यदेवमिन्दीवरपुण्डरीकसारैः समारब्धनिजप्रतीकम् ।
मदेन सत्कोकनदस्य शोभां चक्षुर्दधच्चारुदृशामदोऽभात् ॥४१॥

टीका—यत्किल चारुदृशां मनोहराक्षीणां चक्षु· इन्दीवराणि नीलोत्पलानि पुण्डरीकाणि श्वेतकमलानि तेषां सारैस्तत्त्वभागैः समारब्ध निष्पन्न निजप्रतीकं स्वकीयमङ्गं तदेवाद इदानीं मदेन कृत्वा कोकनदस्यारविन्दस्य शोभां लोहितिमानं दधत् सन्दधान सत् अभात् शुशुभे मद्यपानप्रसादेन स्त्रीणां लोचनानि रक्तवर्णानि सञ्जातानीति ॥४१॥

अप्रस्तुतत्वात्सुदृशां सदङ्गे गुप्तोऽपि सन्धातुगतो यथार्थः ।
मदेन चानेन किलोपसर्ग–पदेन हावादिगणः कृतार्थः ॥४२॥

टीका—हाव आदिर्येषा ते हावादयस्तेषा गणः आदिपदेन विभ्रमविलासप्रभृतश्च । अप्रस्तुतत्वादप्रासङ्गिकत्वात् सुदृशा शोभने दृशौ यासा ता. सुदृशस्तासां सत् प्रशस्तमङ्गं शरीर तस्मिन् सन्नपि गुप्तोऽनभिव्यक्त. स एवानेन मदेन मद्यपानेन कृत्वा किल निश्चयेन कृतार्थ. प्रस्पष्टलक्षणो बभूव । यथा धातुगतोऽर्थो वाच्यादि स उपसर्गपदेन प्रादिना प्रव्यक्ततामाप्नोति मद्यपान कृत्वा स्त्रियो हावभावविभ्रमविलासतत्परा बभूवुरिति ॥४२॥

भ्रूजोऽस्य बध्वाभृशमभ्यकारि स्मितं मुखाम्भोरुहिहाव हारि ।
वाक्कौशलं किञ्च मदेन यूना छटा कटाक्षस्य दृशोरनूना ॥४३॥

द्वारा चिरकालसे छिपा कर रक्खा गया था वही राग इस समय पतिके प्रति मदिराके आश्रयसे इतने अधिक परिमाणमे प्रकट हुआ था। भाव यह है कि मदिरा पानसे स्त्रियोंके नेत्रोमें लालिमा आ गई थी और लज्जा धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी ॥४०॥

अर्थ—स्त्रियोंका जो नेत्र नील कमल और श्वेतकमलके सारसे निर्मित था वही अब मदिराके मदके कारण लाल कमलकी शोभाको धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥४१॥

अर्थ—जिस प्रकार भू आदि धातुओका छिपा हुआ भी अर्थ प्र-परा आदि उपसर्गोंके द्वारा प्रकट हो जाता है उसी प्रकार अप्रासङ्गिक होनेसे स्त्रियोंके शरीरमे छिपे हुए हाव-भाव विभ्रम-विलास आदि भाव इस मदिरा पानसे प्रकट हो गये थे ॥४२॥

टीका—किञ्च यत्ता तरुणेन मदेन मुग्धोऽपि अस्याः सरलहृदयाया वधूट्या मुखाम्भोरुहि मुखकमले हावेन हारि मनोहरं स्मितं हास्यं भृशं पुनः पुनरप्यकारि कृतं । किञ्च वाचां वाणीनां कौशलं चातुर्यमकारि । दृशोश्चक्षुषो रमूना बहुतरा कटाक्षस्यच्छटाऽकारि। एवं कृत्वा नववधूवैंलक्ष्यमवाप मदप्रसङ्गेन ॥४३॥

रूपं सदैवाप्रतिमच्छविनं कार्यानपेक्षि प्रणयं पवित्रम् ।
वचश्च चारु प्रवरेषु तासां ब्रवीमि सत्कार्मणमिन्दुभासाम् ॥४४॥

टीका—इन्दोश्चन्द्रस्य भा शोभेव भा यासां तासां सुन्दरीणां न विद्यते प्रतिमा प्रतिरूपं यस्याः साऽप्रतिमा तामप्रतिमां छविं भायते यत्तदप्रतिमच्छविनं रूपं तथा कार्यमनपेक्षत इति कार्यानपेक्षि स्वाभाविकं प्रत्युपकारवाञ्छारहितमतएव पवित्रं प्रणयं प्रेम तथैव चारु प्रगल्भं वच एतत्सर्वं सत् सम्भवत्खलु प्रवरेषु प्राणनाथेषु विषये कर्मणि कर्तव्यकार्ये कुशलं यद्दिव्यं साधनं तत्कार्मणं बभूवेति ब्रवीमि वक्तुं प्रभवामि ॥४४॥

तनूनपाद्भिर्मदनं तथाद्भिः खण्डं तथाम्भोरुहरम्यपाद्भिः ।
समासभृद्धास विलासभाषादिभिर्नृतोऽपगलेत् सकाशात् ॥४५॥

टीका—यथा किल तनूनपाद्भिर्वह्निभिः कृत्वा मदनं नाम मक्षिकोत्थं वस्तु अपगलेत् चलति, यथावाद्भिर्जलैः कृत्वा खण्ड नाम शर्करापगलेत्, तथैव समासभृत् संकोचशालि नृणां चेतस्तत्, अम्भोरुह कमलमिव मनोहर पात् चरणो यासां ताभिः स्त्रीभिः, हासो विलासोभाषा सम्भाषणं चादिर्येषांतैरनुनयविनयैः सकाशात् समीपस्थितं नृचेतः प्रियजनस्य चलोऽपि अपगलेत् । दीपकोऽलङ्कारः ॥४५॥

अर्थ—जो भोलीभाली स्त्री पहले लज्जावश नम्रमुखी हो चुपचाप बैठी थी मदिराके भारी नशाने उसके मुख कमलपर हावभावसे मनोहर मुसक्यान अत्यधिक प्रकट कर दी, उसकी वाणीमे कुशलता ला दी और नेत्रोमे कटाक्षोकी छटा अत्यधिक रूप से प्रकट कर दी ॥४३॥

अर्थ—चन्द्रमाके समान कान्तिवाली स्त्रियोका अनुपम छविकी रक्षा करने वाला रूप, प्रत्युपकारकी वाछासे रहित पवित्र प्रेम और मनोहारी वचन, यही सब, पतियोके विषयमे होनेवाला कार्य कौशल है यह मैं कह सकता हूँ ॥४४॥

अर्थ—अग्निके द्वारा मदन—मेन गल जाता है, जलके द्वारा खांड–शक्कर गल जाती है और कमलके समान सुन्दर पैरो वाली स्त्रियोंके हास, विलास तथा सम्भाषण आदिसे पुरुषका सकोचशील—लज्जालु चित्त गल जाता है—वशीभूत हो जाता है ॥४५॥

अयेज्जनीनां स्मितसारजुष्टिर्नृभ्यो वशीकारकचूर्णमुष्टिः ।
मञ्जीरकोवारकणत्कृत पञ्चेषुमन्त्रोक्तिपदं समञ्चत् ॥४६॥

टीका—जनीनां नारीणां स्मितसारस्य जुष्टिः प्रीतिपूर्वकोपलब्धिः सा नृभ्यो युवभ्यो वशीकारकस्य चूर्णस्य पिष्टविशेषस्य मुष्टिरिव मोहनाय जयेत् । तथैव तासां मञ्जीरकयोर्नूपुरयोर्युद्वारं कणत्कृतं परिकूजनं तच्च पुनः पञ्चेषोः कामदेवस्य मन्त्रोक्तिपदं मन्त्रोच्चारणस्थानसमञ्चदङ्गीकुर्वज्जयेत् । दीपकोऽलंकारः ॥४६॥

रतीशतीर्थाङ्कपदं जघन्यमुद्घाट्य वृक्कोणकणैर्धरन्य ।
उरोजवुर्गे नयनं जनस्य कस्य स्मरावेशकरो न कश्यः ॥४७॥

टीका—यः कश्यो मद्यविशेषो युवतिभिर्निपीतः स रतीशस्य स्मरस्य तीर्थाङ्कानां-शासनप्रकाशकानां पद स्थान जघन्य जघने भव जघन्यं मदनमन्दिर तदुद्घाट्य विलासवशाद् निरावरणं कृत्वा वृक्कोणानां कटाक्षाणां कणैरशै पुनर्जनस्य प्राणनाथस्य नयन चक्षुः कर्म तत् किलोरोजे स्तनवुर्गे दुरधिगमत्वात् धरन् प्रवर्तयन् सा कस्य नाम लोकस्य स्मरावेशकरः रतीशशासनप्रवर्तको न बभूव किन्तु सर्वस्यापि लोकस्य कामोत्पत्तिकरो बभूव । रूपकमलकारः ॥४७॥

जगाम मैरेयभृते त्वमत्र आघ्रातुमात्तप्रतिमेऽलिरत्र ।
वध्वा स वध्वानयनेऽब्जबुद्धि स्याल्लोलुपानां तु कुतः प्रबुद्धिः ॥४८॥

टीका—अलिर्भ्रमरो मैरेयेण मद्येन भृते परिपूर्णेऽमत्रे पात्रे आत्ता प्रतिगृहीता प्रतिमा प्रतिच्छविर्येन तस्मिन् वध्वा नवस्त्रिया नयनेऽत्राब्जस्य कमलबुद्धि बद्ध्वा तदाघ्रातु जगाम, तदिदं युक्तमेव यतो लोलुपानां लोभवशंगतानां प्रबुद्धिर्विवेकः सा कुतो भवितुमर्हति न कुतोऽपि । अत्र सन्देहपूर्वकोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥४८॥

अर्थ—स्त्रियोंकी मुसकुराहट पुरुषोके लिये वशीकरणचूर्णकी मुट्ठी है तो नूपुरोकी प्रबल झनकार कामदेवके मंत्रोच्चारणके समान है। ये दोनों अपने कार्यमे सर्वोत्कृष्ट हैं ॥४६॥

अर्थ—युवतियोने जिस मदिराका पान किया था उसने उनके विशिष्ट अङ्गोको उद्घाटित किया, वस्त्ररहित किया, कटाक्षोका संचार और स्तनरूप दुर्गपर नायककी दृष्टिको रोका। ठीक ही है मदिरा किस पुरुषको कामदेवका आज्ञाकारी नही बनाती ॥४७॥

अर्थ—मदिरासे भरे हुए पात्रमे स्त्रीके नेत्रका प्रतिबिम्ब पड रहा था

स्वाद्यां वरान्तां सुमनोहरां तां मुहुर्मुहुः सत्तमसा क्षितान्तां ।
तथाविधामेव सुधाम पूर्वां स्थित्यर्थमन्तर्हृदयं वधुर्वा ॥४९॥

टीका—मिथुनजनाः कर्तारः स्वाद्यां स्वादनीयां वरस्तत्कोऽन्तः स्वभावो यस्यास्तां सुमनः पवित्रमन्तःकरणं हरतीति सुमनोहरा मोहकर्त्री तत एव सता तमसा तिमिरेणाक्षिणि नयने तान्तां व्याप्तिकर्त्रीं तथाविधामुक्तलक्षणामपूर्वामप्राक्तनां प्रागननुभूतां तां सुधामिव मन्यमानाः स्थित्यर्थं स्तम्भनकार्यार्थं हृदयस्यान्तर्मध्येऽन्तर्हृदयं वधुः। मुहुर्मुहुर्वारंवारं यथा स्यात्तथा धारयामासुः। अथवा सुकार आद्यः प्रथमस्थो वर्णो यस्यास्तां स्वाद्यां च पुना रकारोऽन्ते यस्यास्तां रान्तां सुरामित्यर्थः। सत्तमः सज्जनोत्तमः प्रियजन इति यावत्। स साक्षी समक्षे वर्तमानस्तेन तान्तां समाक्रान्तां सुमनोभ्यो हरणीयां मधूककुसुमसमुत्थां तामेतां विगतो धाकारो यस्यास्तां विधामेव तथा पुनरकारः पूर्वस्मिन् यस्यास्तामपूर्वां सुधामिति असुं प्राणमेवेति कृत्वा स्थित्यर्थं जीवनसम्पत्त्यर्थं मुहुर्मुहुरन्तर्हृदयं वधुः। श्लेषो वक्रोक्तिश्चालंकारः ॥४९॥

ततत्यजेदं भभभाजनं तु कुकुकुतं ते मुमुखासवं तु।
बध्वा ववेवेहि पिपिप्रियेति मदोक्तिरेवालि मुदे निरेति ॥५०॥

टीका—स्पष्टमिदं वृत्तम् ॥५०॥

उसे कमल समझ कर भ्रमर सूँघनेके लिये गया सो ठीक ही है क्योंकि लोभी जीवोंको विवेक कहाँ होता है ? ॥४८॥

अर्थ—आस्वादनीय, उत्कृष्टस्वभाव वाली, पवित्र मनको मोह युक्त करने वाली और नेत्रोंमे तिमिर—नशा रूप मूर्च्छाको विस्तृत करनेवाली उस सुराको स्त्री पुरुषोंने अपूर्व सुधा-अमृतमान कर स्तम्भनके लिये—संभोग सम्बन्धी क्षमता प्राप्त करनेके लिये बार-बार हृदयमें धारण किया था—बार-बार पीकर उदरस्थ किया था।

अथवा—

जो सुमनोहरा—महुआ आदि पुष्पोंसे निर्मित थी, तथा जो सत्तम—प्रियजनके साक्षीमें तान्त—विस्तृत थी, ऐसी स्वाद्यां—जिसके आदिमें सुवर्ण है और रान्तां जिसके अन्तमें रवर्ण है ऐसी सुरा—मदिराको स्त्री पुरुषोंने विधा—धासे रहित और अपूर्व—अकार सहित—असु-प्राण जैसा मानकर जीवनकी स्थिरताके लिये बार-बार हृदयस्थ किया था। बार-बार पिया था। यहाँ श्लेष और वक्रोक्ति अलंकार है ॥४९॥

अर्थ—मदिराके नशामें किसी स्त्रीकी वाणी अस्पष्ट तथा पुनरुक्त हो गई।

मणिमयचषके प्रियमवतरितां दृष्ट्वा वरखरुखण्डित करिताम् ।
अधरालक्तनुदोऽपि सुदारास्सम्मुद एव दधुर्मधुवारान् ॥५१॥

टीका—मणिमये चषके पानपात्रेऽवतरितां प्रतिबिम्बितां वरस्य प्राणनाथस्य खर-दो दन्तास्तेषां खण्डितानि चिह्नानि तैः करितां सम्पादितां प्रिय शोभां 'खरुर्दशन ईशोऽश्वे' इति विश्वलोचनः । दृष्ट्वाधरस्यालक्तकमोष्ठदेशे विलेपितं लाक्षारसं नुदन्ति तेऽधरा-लक्तकनुदस्तान् मधुवारानपि सुदारा युवतयः सम्मुद एव प्रसन्नतार्थमेव दधुर्घृत-वत्यः ॥५१॥

मधुनाप च रमणी यत्प्रगल्भतां वक्रवाक्यरमणीयः ।
सूचितगूढरहस्य. परिहासोऽरिश्च विरहस्य ॥५२॥

टीका—यद् यस्मात्कारणात् मधुना कृत्वा रमणी सुन्दरी स्त्री प्रगल्भता विदग्धत्वं आप जगाम तस्मात् वक्रवाक्यैर्नानाविधैः काकुपदैः रमणीयः शोभमानस्तथा सूचित प्रकटी-कृतं गूढरहस्यं येन यत्र वा स परिहासो हास्यविशेषः यः खलु विरहस्य पतिवियो-गस्यारिः प्रतिद्वन्द्वी यस्योदये पतिरहितत्व सोढुमशक्यं भवति स बभूवेति शेष. । यम-कालंकार ॥५२॥

मन्दगलत्त्रपमिरया निदधत्यायेषदुन्मिषितचक्षुः ।
वध्वाधोमुखयादो दयितमुखमीक्षितममङ्क्षु ॥५३॥
सुदृशां मदेन विभ्रमपुंषि वपूंषीरितानि निजघूर्णुः ।
इतरेतरसंधाविव कुचकुम्भैरुत्तैयत: ॥५४॥

वह प्रियसे कहती है कि मदिराका यह पात्र शीघ्र ही छोड़ो मुझे अपने मुखकी मदिरा देओ । स्त्रीकी यह अस्पष्ट तथा पुनरुक्त वाणी सखीके हर्षके लिये निकल रही थी ॥५०॥

अर्थ—मणिमय पानपात्रमें प्रतिबिम्बित पतिके दन्ताघात सम्बन्धी चिह्नोंकी शोभा देख स्त्रियां ओंठोके लेपको दूर करने वाली भी मदिराको हर्षके लिये धारण कर रही थीं ॥५१॥

अर्थ—यतश्च मदिराके द्वारा स्त्री चातुर्यको प्राप्त हो गई थी इसलिये कुटिल वाक्योंसे मनोहर तथा गूढ रहस्यको प्रकट करनेवाला वह परिहास जारी हुआ जो कि पति विरहका शत्रु था अर्थात् जिसके रहते हुए पतिका विरह असह्य हो रहा था ॥५२॥

सागसि रसिके रुष्टा तुष्टा न पदाब्जयोरपि च जुष्टा ।
मद्यविलुप्तविवेका तथैव तमतोषयद्विहैका ॥५५॥
प्रियसंगमनिर्जितरुषि शमितविवादे प्रसन्नया धनुषि ।
नेषुं रतिहृदयेशः श्रितसन्धौ यौवते प्रविदधे सः ॥५६॥
इत्येवमभिनिवेशे स्मरशर सम्विद्ध सकलभूवेशे ।
नक्तं व्रजति विशेषे संहृतिलिप्सौ नरि अशेषे ॥५७॥
एका सखी विवेकाञ्चितचित्ता सानुकूलमपि चकिताम् ।
उपदिशति स्म नवोढां प्रोढा वोढारमननुगताम् ॥५८॥
राजीवमधुर नयने नयने अयने निमीलिते कस्मात् ।
जितदर्पकमपि दर्पक वशगं प्रियमीक्षतां स्वस्मात् ॥५९॥
यदि कुपितासि सुभाषिणि करजक्षतपूर्वकं मदनशासिनि ।
भुजपाशेन दृढन्तं बधान निगलेऽत्र विलसन्तम् ॥६०॥

टीका—एते श्लोका नाति क्लिष्टा अतो न व्याख्यताः ॥५३-६०॥

अर्थ—तदनन्तर मदिराके नशासे जो अर्धोन्मीलित नेत्रोको धारण कर रही तथा जिसका मुख नीचेकी ओर था ऐसी किसी स्त्रीने धीरे-धीरे लज्जाको दूर कर शीघ्र ही पतिका मुख देखा ॥५३॥ हावभावोंको पुष्ट करनेवाले स्त्रियोंके शरीर नशासे झूमने लगे और उन्नत स्तनोंके द्वारा दोनो ओर घात प्रतिघात करने लगे ॥५४॥ जो अपने अपराधी पति पर कुपित थी और उसके चरणानत होनेपर भी प्रसन्न नही हो रही थी ऐसी किसी एक स्त्रीने मदिरासे विवेकके लुप्त हो जाने पर उस समय पतिको संतुष्ट किया था ॥५५॥ पति समागमसे जब स्त्रीसमूहका क्रोध शान्त हो गया, परस्परका विवाद दूर हो गया और दोनों-मे सन्धि हो गई तब कामदेवने धनुष पर बाण नही चढ़ाया ॥५६॥ इस संदर्भमे जब समस्त पृथिवी प्रदेश कामबाणोंसे विद्ध हो रहा था और मिलनके इच्छुक मनुष्य जब रात्रिके समय यथास्थान जा रहे थे तब एक विवेकशालिनी प्रौढा सखीने नवोढा स्त्रीको इस प्रकार समझाया था—हे कमल नयने ! तुमने मार्गमे ही नेत्र क्यों बन्द कर रक्खे हैं ? अहंकारके विजेता, कामाकुलित वल्लभको देखा ! हे मधुरभाषिणी ! यदि तुम कुपित हो तो कामदेवके आज्ञाकारी सुन्दर

१. युवतीना समूहो यौवतं तस्मिन् ।

अथ काञ्चिन्मानिनीं प्रतितस्या सखी गदति स्म तदेवाह नीचैः—

रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुनान्यशरणे वा ।
रचिता उचिता न रुषस्तत्त्वं निगदामि सखि ते वा ॥६१॥

टीका—हे सखि ! रमणे प्राणप्रिये जने यस्य समागमाय यत्नः कार्यस्तस्मिन् चरणयोः प्रान्ते नमनकरणे प्रवणः कुशलो दत्तचित्तो नान्यच्छरणमाश्रयणीयं भवत्या यस्मै तस्मिन् या रुषो रोषास्त्वया रचितास्समारब्धास्ता उचिता योग्या न सन्ति किन्तु यत्किञ्चित् तत्त्वमस्ति तत् तुभ्यं निगदामि । छेकानुप्रासोऽलंकारः ॥६१॥

शुभवति भवति सतारा नाकाशे भवति भवत्यपि चारात् ।
मदवति दवति रतीशे काननमेतस्य वरमीशे ॥६२॥

टीका—हे मदवति ! मानशालिनि ! भवति नक्षत्रमण्डलसहिते तथैव शुभवति पुण्यस्वरूपे आकाशे भवति सति अपि पुनर्भवती त्वादृशी च स्त्री आरादेव तारया युक्ता सतारा नयनस्येक्षणिका नाम तारा, तस्मादेतत्सम्मुखालोकनापि न भवति । ततो रतीशो कामदेवे दवो वनाग्निस्तद्वदाचरति यः स., दवन् तस्मिन् दवति सति एतस्य पत्यु. कुत्सितमाननं काननं चिन्तातुरत्वात् तदेव पुनः काननं वन वरं यथा स्यात्तथाहमीशे जानामि किल । श्लेषोऽनुप्रासश्चालंकारः ॥६२॥

जयते कञ्चुकहृदयं यदिदं ते तन्वि संकुचति हृदयम् ।
भुजवति जवति किलास्मिन्मुञ्च शरंमङ्क्षु गदितास्मि ॥६३॥

टीका—हे सखि ! ते कञ्चुक कुचवस्त्र हरतीति कञ्चुकहृत् सोऽयं जनो जयते

वल्लभको नखक्षत लगाओ और बाहुपाशसे उसे कण्ठमे बाँध दो ॥५७–६०॥

अर्थ—जिसे तुम्हारे सिवाय दूसरा शरण नही है ऐसा पति जब चरणोंके समीप नमन करनेमे तत्पर है तब हे सखि ! मैं तुम्हारे लिये तत्त्वकी बात कहती हूँ कि क्रोध करना उचित नहीं है ॥६१॥

अर्थ—हे मानिनि ! जबकि भवति—नक्षत्रोंसे युक्त आकाश शुभवति—शुभरूप भवति–हो रहा है अर्थात् आकाशमें तारे छिटक रहे हैं तब तुम समीपस्थ होकर भी सतारा नही हो रही हो उसकी ओर आँख भी नहीं उठा रही हो । कामदेव दावानलके समान आचरण कर रहा है जिससे इसका मुख काननचिन्तातुर होनेसे मलिन हो रहा है इतना ही नही कानन–वन हो रहा है अर्थात् कामरूपी दावानलमें वनके समान जल रहा है ऐसा मैं ठीक जान रही हूँ ॥६२॥

अर्थ—हे तन्वि ! हे कोमलाङ्ग सखि ! तुम्हारे कुचवस्त्रको हरण करने-

यतस्मात्कारणात् हे तन्वि ! कोमल शरीरधारिणि । ते हृदयं तदिद सकुचति सकोचमञ्चति तथा संकुचति सम्यक् कुचौ दधाति । हे भुजवति ! बाहुबलधारिणि । अस्मिन् प्रिये जयति बलात्कुर्वति सति मङ्क्षु शीघ्रमेव शरं मुञ्च हृदयस्य हार त्यज निष्कासय, अस्यानुकूला च भव । यद्वा शरं कटाक्षवाणं वा मुञ्च येनासौ तव वशवर्ती स्यात् । किलेति निश्चयेन । श्लेषोऽनुप्रासश्च ॥६३॥

अठचति रजनिरुदञ्चति सन्तमसं तन्वि चठचति च मदनः ।
युक्तमयुक्तं तत्त्यज रक्तममुष्मिंस्तु रचय मनः ॥६४॥

टीका—हे तन्वि ! रजनिर्निशासावञ्चति प्रतिपलं गच्छति सन्तमसं तिमिर मुदञ्चति प्रसरति मदनश्च चञ्चति चमत् करोति ततस्मात्कारणात् पूर्वोक्तमयुक्तमसङ्गत्वात् त्यजतु पुनरमुष्मिन् प्रियजने मनो रक्तं रचयानुरक्तं कुरु तदेतदेव युक्तम् । अनुप्रासः ।

मनसि मनसिजमिताया वनिताया विरहदग्धहृदयायाः ।
तल्लिङ्गानि तदानीं स्फुलिङ्गानीति निरगच्छन् ॥६५॥

टीका—मनसि चित्ते मनसिजेन मितायाः पर्याप्ताया किन्तु विरहेण दग्धं भस्मीभूतं हृदयं यस्यास्तस्यास्तदानीं तस्मिन् सखीवचनश्रवणसमये विरहदग्धहृदयत्वस्य लिङ्गानि ज्ञापकानि, स्फुलिङ्गानि निम्नप्रकाराणीत्येवंभूतानि निरगच्छन् ॥६५॥

आभीगिरा ह्याकृतिनः पुरापराधा उपेक्षिताः कति न ।
अधुना तु तर्जनीयः कितवो नियमेन न वशी यः ॥६६॥

वाला यह जयवंत रहे क्योंकि इस कुचवस्त्रसे तुम्हारा हृदय संकुचित हो रहा है । हे भुजवति ! हे बाहुशालिनि ! यदि यह तुम्हारा वल्लभ बलात् कार्य करता है तो तुम शर—हृदयका हार अलग कर दो अथवा कटाक्षबाण शीघ्र ही छोड़ो, यह मैं कह रही हूँ ॥६३॥

अर्थ—हे कृशाङ्गि ! रात्रि बीती जा रही है, सघन अन्धकार बढ़ रहा है और कामदेव चमत्कार कर रहा है अतः पहलेकी जो अयुक्त बात है उसे छोड़ो और इसमे अपने मनको अनुरक्त करो, यह युक्त है—ठीक जान पड़ता है ॥६४॥

अर्थ—जो मनमें कामसे परिपूर्ण थी तथा विरहसे जिसका हृदय जल गया था ऐसी किसी स्त्रीके उस समय विरह दग्ध हृदयसे सूचित करनेवाले इस प्रकारके तिलगे निकले—निम्न वचन प्रकट हुए ॥६५॥

टीका—हे आलि ! आल्या सख्यास्तव गिरा वचनेन न हि खल्वस्याकृतिनोऽकुशल-स्यापराधा दोषा मया पुरा व्यतीते काले कति नोपेक्षिताः किन्तु बहवोऽपि नाङ्गीकृताः। अधुना तु पुनसौ कितवो धूर्तो नियमेनैव तर्जनीयो न पुनरुपेक्षणीयो यतो यो वशी नीति-पथगामी न भवति किम्वानवा नूतना या शी परास्त्री तस्या या यशःकीर्तिर्गानमर्थात् प्रेम यस्य सः 'शी स्त्रीषु स्वपरस्त्रीषु' इति, 'यो वातयशसोः पुंसि' इति च विश्वलोचनः। वक्रोक्तिरलङ्कारः ॥६६॥

स्फुरसि कथभुजलतिके लोचनतां किंगता त्वमपि वृतिके ।
नागतमप्यहममतं स्पृष्टुमलं द्रष्टुमपि मम तम् ।६७॥

टीका—हे भुज लतिके। कथं त्व स्फुरसि हे वृतिके वर्तुलाकार धारिणि। यद्वा चिरकालतोऽनालिङ्गनत्वात् नियमस्थे त्वमपि कथकारं लोचनता नयनरूपत्व गतासि स्वयंदशभियाञ्छसि किन्त्वहं मम मत सम्मतिर्न विद्यते यत्र तनभमतमनभिवाञ्छित तमागतमपि खलुद्रष्टुमवलोकयितु मपि नालं समर्था न भवामि किं पुनः स्पृष्टुम् ॥६७॥

सोमो भवान्यदाभूद् विधुमणिघटिता तदाह मपि सा भूः ।
खररुचिरद्य शठ त्वं द्युमणि मणि प्रकृति महमपठम् ॥६८॥

टीका—हे शठ ! यदा भवान् सोम शान्तिरूप उमया कीर्त्या सहित. सोमो यशस्वी अभूत्तदाहमपि विधुमणिश्चन्द्रकान्ता तथा घटिता निर्मिता सा प्रसिद्धा भूर्जाता भवता सोमेन चन्द्रमसा मेलनकर्त्री। अद्य पुनस्त्वं खररुचिः कठोर चित्तो रविश्चासि तस्मात् कारणात् अहमपि द्युमणिमणिः सूर्यकान्त रत्न तस्य प्रकृतिं चेष्टामपठम्। यथा रवि

अर्थ—हे सखि ! तुम्हारे कहनेसे मैंने इस अकुशल—व्यवहारानभिज्ञके पहले कितने अपराध उपेक्षित नही किये हैं ? अर्थात् बहुत अपराध उपेक्षित किये हैं परन्तु इस समय यह धूर्त, जो कि नीतिसे भ्रष्ट है अथवा अन्य स्त्रीका कीर्ति-गान करता है अवश्य ही तर्जनीय है—उपेक्षणीय है ॥६६॥

अर्थ—फडकती हुई भुजाको लक्ष्य कर कोई कहती है कि भुजलतिके ! तुम क्यो फडक रही हो ? तुम क्यो लोचनपनेको प्राप्त हो रही है—लोचनकी तरह फडकती हो ? तुम तो व्रती हो अर्थात् तुमने उनका आलिङ्गन न करनेका व्रत ले रक्खा है। उनके आनेपर उन्हे देखनेका भी मेरा भाव नहीं है फिर स्पर्श करनेकी बात ही क्या है ? ॥६७॥

अर्थ—हे शठ ! अरे धूर्त ! जब आप सोम-चन्द्रमा रूप थे तब मैं चन्द्रकान्त-मणि निर्मित भूमि स्वरूपकी परन्तु अब आप खररुचि-कठोर प्रकृति वाले अथवा सूर्य रूप हो गये अत, मैं भी सूर्यकान्त मणिकी चेष्टाको पढ़ चुकी हूँ। अर्थात

समागमे सूर्यकान्तः प्रज्वलति तथा तव दर्शने ममापि कोपसमुद्भूतिः । श्लेषः प्रसङ्गचालंकारः ॥६८॥

तव निर्घृण किमिहार्थो याहि यथैवानुरज्यसेऽपार्थः ।
माऽपहर कुचग्रन्थि किमपास्ता तेऽस्ति हृद्ग्रन्थिः ॥६९॥

टीका—हे निघृ'ण । लज्जाहीन । तवेहापि अर्थं प्रयोजन विद्यते किं ? किन्तु न हि किमपि कार्यं ते । यथैव सहानुरज्यसे यस्यां तेऽनुरागो विद्यते तत्र याहि यतस्त्वमपार्थो दुरभिप्रायोऽसि । मम कुचग्रन्थि कञ्चुकबन्धनं मापहर नच्छिन्धि । ते तव हृदो हृदयस्य ग्रन्थिर्मायावित्वं साऽपास्ता निष्कासितास्ति किं ? किन्तु नापहृता । वक्रोक्तिः ॥६९॥

उक्तप्रकारेण प्रतारितः प्राणपतिर्यदा विनिर्गतस्तदा पुनर्वियुक्ता विलपति—

मानिन्यसहेति मुहुर्धिक्कृतिरपि कल्पिता मयीह बहुः ।
कितवगुणाननुवदता हे जिन ! सखयोजनेन सता ॥७०॥
क्रीडाकोपात्कथमपि गच्छेति मयोदिते कठिनहृदयः ।
त्यक्त्वा तल्पमनल्पं गतवान् सखि पश्यतादयः ॥७१॥

टीका - सुस्पष्टार्थमेतद्वृत्तद्वयमस्ति ।

सूर्यके देखनेसे जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार आपको देख कर मेरा क्रोध प्रज्वलित हो रहा है ॥६८॥

अर्थ—हे निर्लज्ज ! अथवा हे निर्दय ! तुम्हे यहाँ क्या प्रयोजन है ? तुम्हारा अभिप्राय अच्छा नही है जो तुम्हारे साथ अनुराग रखती है वहीं जाओ । मेरे कुचवस्त्रकी गाठ मत खोलो । क्या तुम्हारे हृदयकी गाठ–माया प्रवृत्ति दूर हो गई है ? ॥६९॥

अर्थ—हे भगवन् ! उस धूर्तके गुणोका बार बार कथन करने वाले समीचीन मित्रजनोंने 'तुम बडी अभिमानिनी हो तुम बड़ी असहनशील हो' इस तरहके धिक्कार–कुवचन मेरे विषयमे बार-बार कहे है पर मैं सब सहती गई परन्तु मैंने प्रणयकोपसे किसी तरह कह दिया कि 'जाओ-चले जाओ' इतने मात्रसे वह कठोर हृदय विशाल शय्याको छोड़कर चला गया । हे सखि ! देखो, कितना निर्दय है ? ॥७०-७१॥

यामि विधावभ्युदिते पुनरायास्यामि चेति संगदितम् ।
तदुदन्तत्वेनाहं नेदं तत्त्वेन वेद्मि मितम् ॥७२॥

टीका—यामि गच्छामि च पुनर्विधावभ्युदिते चन्द्रमस उदये सति रात्रौ किंवा भाग्योदये सति वा पुनरायास्यामि प्रत्यागमिष्यामि, इत्येव प्रकारेण संगदितं तदेतदहमुदन्तत्वेन वेद्मि । विधावित्येतत् किलोकारान्तविधुशब्दस्य सप्तम्येकवचनमेव जानामि किन्तु इकारान्तविधिशब्दस्य सप्तम्येकवचनं यद्भवति तस्य न स्मराम्यहं किल । यदुक्तं कुपितेन भर्त्रा तदिदानीमुदन्तत्वेन वार्तारूपेणैव शृणोमि न पुनरिदत्वेन वास्तवरूपेणापीति यतस्तदुक्तं मित संक्षिप्योक्तम् ॥७२॥

मञ्जुलघौ गुणसारे किल क्वचित् सुसखि ! नापदाधारे ।
तत्रोपपतौ चेतः पत्यौ नानीदृशि ममेतः ॥७३॥

टीका—हे सुसखि ! मञ्जुश्च लघुश्च तस्मिन् मञ्जुलघौ, गुणानां शृङ्गारादीनां सारो विद्यते यत्र स गुणसारस्तस्मिन् क्वचिदपि आपदानां विपत्तीनामाधारः स्थानं नास्ति यत्र स नापदाधारस्तस्मिन् तत्रैतादृशि उपपतौ जारे मम चेतोऽन्तःकरणं प्रवर्तते अनीदृशि च ईदृग् न भवति विरूपो गुणहीनो विपत्तिकरश्च भवति तस्मिन् पत्यौ स्वामिनीतोऽधुना प्रभृति मम मनो नास्ति किल । अथवा मञ्जुला घुसंज्ञा व्याकरणप्रसिद्धा यस्य तस्मिन्, गुण इत्यपि व्याकरणसिद्धा संज्ञा सा सारस्तथ्यांशो यस्य तस्मिन्, तथा क्वचित् तृतीयाया एकवचने नापदस्य नाप्रत्ययस्याधारस्तस्मिन् तत्रैतादृश्युपपतौ शब्दे मम चेतः प्रवर्तते न चैतद्विपरीते पत्याविति । श्लेषोऽलंकारः ॥७३॥

अर्थ—मैं अभी जाता हूँ, विधौ अभ्युदिते'—चन्द्रमाका उदय होने पर आऊँगा, यह जो कहना है उसे मैं एक उदन्त—वार्तामात्र—कहना मात्र जानती हूँ तत्त्व—वास्तविक रूप नही, क्योंकि उनका वह कहना मित था—अत्यन्त संक्षिप्त था ।

भावार्थ—संस्कृतमे 'विधौ' यह सप्तमी विभक्तिके एकवचनका रूप है जो विधु—चन्द्र वाची शब्दसे भी बनता है जो विधि—भाग्य वाची शब्दसे भी बनता है । मैं इसे उदन्त—उकारान्त विधु शब्दका रूप समझती हूँ विधि—इकारान्त विधि शब्दका नही । मेरे विधि—सद्भाग्यका उदय कहाँ है जिसके फलस्वरूप मैं पुनः उनके दर्शन कर सकूँ ॥७२॥

अर्थ—हे उत्तमसखि ! जो मञ्जु-लघु—मनोहर और लघु शरीर वाला है, गुण-सार-शृङ्गारादि गुणोंसे श्रेष्ठ है तथा आपत्तियोंका स्थान नहीं है ऐसे उपपति—

सखि ! शस्तः सखिवत्पतिरिति किं सिद्धान्ततो न जानासि ।
शस्तोऽतिसखिवदुपपतिरित्यालि ! न किं समानासि ॥७४॥

टीका—हे सखि ! सखिवद्वयस्यवत् पतिरपि प्राणवल्लभोऽपि शस्तः प्रशंसनीयोऽस्ति । यद्वा शस्तः शस्प्रत्ययत आरभ्य पुनः सखिशब्दवत् पतिशब्दोऽपि प्रवर्तत इत्येवं सिद्धान्ततो वस्तुत्वतो व्याकरणशास्त्राच्च त्वमपि किन्न जानासि ? एवं सखिवचने संजाते नायिकापि प्रतिवक्ति । यत्किल हे आलि ! सहचरि ! उपपतिर्जारः सोऽपि अतिसखिवत् परमवयस्यावद्भवतीवेत्यर्थः । त्वद्वदेव शस्तः प्रशंसनीयो भवति । अथवा तु अतिसखिशब्दवदुपपतिशब्दोऽपि शस्तः शस्प्रत्ययादारभ्य पुनः प्रवर्तत इत्येवं त्वमपि मानेन परिज्ञानेन सहिता नासि किम् ? अपि तु विदुष्येवासि ॥७४॥

जारमे अब मेरा चित्त लग रहा है इससे विपरीत—विरूप, गुणहीन आर विगत्तियोके स्थानभूत पतिमे नही लग रहा है ।

द्वितीयार्थ—जिसकी मनोहर घु संज्ञा (घिसज्ञा) व्याकरण प्रसिद्ध संज्ञा है, जो गुण—व्याकरण प्रसिद्ध गुण संज्ञासे श्रेष्ठ है, तथा जिसकी तृतीया विभक्तिमे ना आदेश नही होता है ऐसे 'उपपति' शब्दमे मेरा मन लग रहा है इससे रहित पति शब्दमे नही ।

भावार्थ—'पति' और 'उपपति' दो शब्द है इनमे उपपति शब्दकी घु (पाणिनीय व्याकरणमे घि) सज्ञा होती है। उपपति शब्दमे ङित् विभक्ति पड़े रहते गुण होकर 'उपपतये' आदि रूप बनता है तथा उपपति शब्दकी तृतीयाके एकवचनमे ना आदेश होकर 'उपपतिना' रूप बनता है ऐसे उपपति शब्दके चिन्तनमे मेरा मन लग रहा है पति शब्दके चिन्तनमे नहीं क्योकि उसकी घु (घि) सज्ञा नही होती उसमे ङित् विभक्ति पड़े रहते गुण नही होता और तृतीयाके एकवचनमे ना आदेश नही होता है। यह श्लेषालंकार है ॥७३॥

अर्थ—हे सखि ! पति, सखिवत्—मित्रवत् अर्थात् तुम्हारे ही समान शस्तः--प्रशंसनीय है यह क्या वास्तवमे तुम नही जानती हो। सखीके ऐसा कहनेपर नायिका उत्तर देती है—हे आलि ! उपपति–जार अतिसखिवत्–परम मित्रके समान प्रशंसनीय है इस ज्ञानसे क्या तुम सहित नहीं हो ? भाव यह है कि यदि पति मित्रके समान है तो उपपति परम मित्रके समान है ।

द्वितीयार्थ—हे सखि ! पति शब्द शस्तः—शस् प्रत्ययसे लेकर सखिवत्—सखि शब्दके समान है यह बात क्या तुम सिद्धान्ततः—व्याकरणके अनुसार नही जानती हो। सखीके ऐसा कहनेपर नायिका उत्तर देती है—हे आलि ! उपपति

श्रीमत्तमालशकलभ्रु ! विमुञ्च जालं
स्वच्छब्दबोधमधुना निगदामि मालम् ।
आशासितेति वदनोदलवैश्च शस्यै-
र्मुक्ताफलानि तु ददावुपहारमस्यै ॥७५॥

टीका—उपर्युक्तप्रकारेण नायिकासख्योः परस्परं सम्भाषमाणयोः सत्योः सहसैवागतं नायकं दृष्ट्वा सखी नायिकामनालोकितपतिकां प्रतिजगाद शब्दच्छलेन यत्किल हे श्रीमत्तमालशकलभ्रु ! श्रीमतस्तमालस्य शकल खण्डमिव भ्रुवौ यस्यास्तत्सम्बुद्धिः जाल प्रपञ्च छल वा विमुञ्च जहि । अधुना साम्प्रतं तव शब्दस्य बोधः परिज्ञानं यस्य तं मालं जनं तव स्वामिनमित्यर्थो निगदामि अहम्, अस्माकं परस्परसम्भाषणं तव स्वामिना श्रुतमिति संसूचयित्री सखी तस्या व्याकरणज्ञान च प्रशसति यत्ते शब्दबोधं माल मां श्रियं प्रशंसां वा लाति गृह्णातीति तं निगदामि तावदित्येव प्रकारेण शासिता सम्बोधिता सती सा नायिकापि साश्चर्यचकिततया वदने सञ्जाताया ये उदलवा जलांशास्तैः शस्यैः प्रशंसनीयैरनल्पैरित्यर्थोऽस्यै वयस्यायै मुक्ताफलानि नामोपहार पारितोषिक ददौ । श्लेषो मीलन चालंकारोऽत्र ॥७५॥

शब्द भी तो शस् प्रत्ययसे लेकर अति सखि शब्दके समान है यह क्या तुम नहीं जानती ?

भावार्थ—व्याकरणमे शस् प्रत्यय—द्वितीयाके बहुवचनसे लेकर पति और सखि शब्दके रूप एक समान चलते हैं और उपपति तथा अतिसखि शब्दके रूप भी द्वितीया के बहुवचनसे लेकर आगे एक समान चलते हैं ? इसलिये पति, उपपति, सखि और अतिसखि शब्दके श्लेषसे दो सखियोकी उक्ति प्रत्युक्ति है ॥७४॥

अर्थ—जब नायिका और सखीके बीच पूर्वोक्त प्रकारका सभाषण चल रहा था तब अकस्मात् नायिकाका पति आ गया परन्तु नायिकाने उसे देखा नही । सखी, नायिकासे कहती है कि हे शोभायमान तमाल पत्रके खण्ड समान भौंहो वाली ! जाल—व्यर्थका वाग्विस्तार अथवा छल छोडो । तुम्हारे पति हम दोनोके संवादको सुन चुके हैं । अब मै उनसे तुम्हारे शब्दबोध—व्याकरण ज्ञानकी बात कहती हूँ अर्थात् उन्हे बतलाती हूँ कि तुम्हारी प्रिया व्याकरणके ज्ञानमें बहुत दक्ष है । जब सखीने नायिकासे ऐसा कहा तब उसके मुखपर आश्चर्यसे चकित होनेके कारण स्वेद जलके कण छलक आये । उनसे वह ऐसी

---

१ 'माल क्षेत्रे जने मालो' इति विश्वलोचनः ।

प्रेयसी प्रियतमस्य पार्श्वतःश्चन्द्रकान्तमृदुपुत्रिकां स्वतः ।
संस्फुरत्तरलवारिकां हि का सङ्गतामकथयत्सपत्निकाम् ॥७६॥

टीका—सुगमम् ॥७६॥

यूनि रागतरलैरपि तिर्यक्पातिभिर्मदमतिष्ववतीर्य ।
दूरदर्शिभिरलङ्घि न बालालोचनैः श्रुतिरहो सुविशाला ॥७७॥

टीका—यूनि स्वप्रिये तरुणे रागेण प्रेम्णा तरलैश्चञ्चलैस्तथा मदमतिषु सुरापानेष्ववतीर्य प्रवर्त्य तिर्यक् पतन्तीति तिर्यक्पातिनस्तैरपि तथापि दूरदर्शिभिर्दीर्घालोचकैः बलितया लोचनैर्नयनैर्विशाला सुविस्तृता श्रुतिः श्रोत्रं शास्त्रं वा नालङ्घि नोल्लङ्घिता । अहो इति विस्मयो मदिभिः श्रुतलङ्घनस्यावश्यभाविस्वात् ॥७७॥

मधुनामधुना कृतं यत्पुना रसवत्प्रत्ययमेत्य चाधुना ।
मधुरसङ्क्रमं सम्ब्रवीम्यहं मिथुनजनायोत्तमसुखावहम् ॥७८॥

टीका—मधुनाम्नैव धुना धातुना कृतं संपादितं किंवा कुत्सकं रसवत्प्रत्ययमेत्य यद्वा सरसबोधमेत्य लब्ध्वाऽधुना साम्प्रतं पुनर्मिथुनजनाय स्त्रीपुंयोगयुक्ताय लोकायोत्तमसुखमावहतीति तं मधुरश्चासौ सङ्क्रमश्च तमहं सम्ब्रवीमि ॥७८॥

जान पडती थी मानो सखीके लिये प्रशसनीय मोतियोंका उपहार—पारितोषिक ही दे रही हो ॥७५॥

अर्थ—प्रियतमके सन्निधानसे जिसके शरीरमे सात्त्विकभावके कारण स्वेद जल कण छलक रहे हैं ऐसी किसी स्त्रीने अपने आपको चन्द्रकान्त मणिकी पुतली जैसा प्रकट किया था और सपत्नी के प्रति अपने आपको ऐसा प्रकट किया था जैसे चञ्चल तलवारको धारण कर रही हो ॥७६॥

अर्थ—युवा पतिविषयक प्रेमके कारण चञ्चल तथा तिरछे पडने वाले किसी स्त्रीके दीर्घदर्शी नेत्रोने सुरापानमे अवतीर्ण होकर भी आश्चर्य है कि श्रुति—कानो (पक्षमे शास्त्र) का उल्लङ्घन नही किया था ॥७७॥

अर्थ—कवि कहते हैं कि मैं इस समय सरस ज्ञानको प्राप्तकर स्त्री-पुरुषोके लिये उत्तम सुखदायक उस मधुर सङ्क्रमका वर्णन करता हूँ जो मधु नामक धातुसे कृत—विहित है (मदिरा पानसे सपादित है) ॥७८॥

---

१ 'तरलश्चञ्चले खड्गे' इति विश्वलोचनः ।

हृदि वाचि कपोलयोर्दृशोर्वा निखिलेष्वेव विचेष्टितेष्वपि ।
अनुरागमिवानुभावयन्ती प्रथितार्थाऽजनि रञ्जनी जनी ॥७९॥

टीका—हृदि हृदये वाचि वचने कपोलयोर्गल्लदेशयोर्दृशोर्नयनयोर्निखिलेष्वेव विचेष्टितेषु चेष्टाविशेषेषु अनुरागं प्रीतिभावमिव प्रियजनायानुभावयन्ती (न हीना-सावधीनात्युदारासौ) रञ्जनी जनीनां मानुषीणां मध्ये प्रथितः सत्यार्थतां नीतो यया सा प्रथितार्थाऽजनि सजाता ॥ ७९ ॥

दृगियं श्रुतिलङ्घनोत्सुकाऽऽराद्भ्रकुटीस्मार्तसुधर्मकीर्तिलोप्त्री ।
न पुराणपथाश्रिता विलासा सुरताङ्कोऽयमनीतिरेव तासाम् ॥८०॥

टीका—तासां स्त्रीणामिय दृग् दृष्टिः श्रुतेः श्रवणस्य लङ्घनं प्रत्याक्रमणं तस्मा-युत्सुकाऽस्त्याराच्छीघ्रमेव । तथैव भ्रकुटी भ्रुवोर्द्वितयी सा स्मृते रागतोऽसौ स्मार्तो मदन-स्तस्य सुधर्मश्चापदण्डस्तस्य कीर्तिः प्रशंसा तस्या लोप्त्री लोपकर्त्री ततोऽपि शोभनतरा । विलासाश्च पुराणं पन्थानं श्रयन्तीति पुराणपथाश्रितास्तादृशा न भवन्ति, नवा नवाः संभवन्ति । एवं कृत्वा सुरतस्याङ्को लक्षणं अनीतिरीतिवर्जितः स्पष्ट एवाभूत् । किञ्च श्रुतिरध्यात्मशास्त्रं तस्योल्लङ्घनकर्त्री दृष्टिः । स्मार्तधर्मः स्मृतिप्रतिपादितः सदाचार-स्तस्य कीर्तिलोप्त्री भ्रकुटी, त्रिषष्टिपुरुषचरितप्रतिपादकानि प्रथमानुयोगलक्षणानि पुराणनामशास्त्राणि तेषां पन्थास्तदनाश्रया विलासाः । एवं सुरताङ्कोऽनीतिर्नीतिवर्जितो यदृच्छावादपूर्णोऽभूदिति ॥ ८० ॥

अर्थ—हृदयमे, वचनमे, गालोंमे, नेत्रोंमे और समस्त चेष्टाओमे अनुराग-प्रेम (पक्षमे लालिमा) को प्रकट करने वाली रञ्जनी–मदिरा और जनी–स्त्री सार्थक नाम वाली हुई थी ।

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री हृदयमे, वाणीमे, कपोलोंमे, आंखोंमें और हाव-भाव रूपी सभी चेष्टाओंमे अनुराग–प्रेम प्रकट करती है उसी प्रकार रञ्जनी–मदिरा भी उपर्युक्त स्थानोमे अनुराग–लालिमा को प्रकट करती हुई अपने 'रञ्जनी' इस नामको सार्थक करती थी ॥ ७९ ॥

अर्थ—उस समय उन स्त्रियोंकी दृष्टि **श्रुतिलङ्घनोत्सुका**–अध्यात्मशास्त्रो का उल्लङ्घन करनेके लिये उत्सुक थी (पक्षमे लम्बाईके कारण श्रुति–कानो का उल्लङ्घन करनेके लिये उत्कण्ठित थी) भ्रकुटी **स्मार्त–सुधर्मकीर्तिलोप्त्री**–स्मृतियोमे प्रतिपादित सदाचार रूप धर्म की कीर्ति का लोप करने वाली थी (पक्षमे स्मार्त–स्मृति मात्रसे उपस्थित होने वाले कामदेवके सुधर्म–उत्तम धनुष

---

१. 'रञ्जनी नीलिका शुण्डा मञ्जिष्ठा रोचनीष्वपि' इति विश्व०

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितादष्टाधरस्वाञ्जनः
　सम्मिश्राब्जरजस्तयेव सहसा सम्मीलितालोचनः ।
बध्वाः पूतिकृतितत्परं मुकुलितं वक्त्रं पुनश्चुम्बतो
　निर्यातिस्म तदेव तस्य नितरां हर्षाश्रुभिः श्रीमतः ॥८१॥

टीका—जनः प्रेमी पुरुषः सोऽन्यवनितया दष्ट आस्वादितोऽधरो यस्य तस्मात्, लीलातामरसेन केलिकमलेनाहित' प्रतारितस्सन् सम्मिश्र मिलितमब्जस्य रजो यत्र [[1]तस्य भावस्तत्ता तया । इवोत्प्रेक्षायां सहसा झगिति सम्मीलितमालोचनमवलोकनं यस्य तथा भूतो जातः । नायक निमीलितनेत्र दृष्ट्वा वधूर्नितरां खिन्ना बभूव । पूत्कृतौ रोदने तत्पर समुखं मुकुलितं निःश्रीक च तस्या वक्त्रं मुखं पुनश्चुम्बतः श्रीमत' शोभासंपन्नस्य तस्य नायकस्य हर्षाश्रुभिः प्रमोदबाष्पैस्तदेव रजो लीलातामरसपरागो निर्यातिस्म निःसरति स्म । नायकेन छलेन नायिकायाः कोप उपशमित इत्यर्थः] ॥८१॥

भूर्जप्रायकपोलके दललताव्याजेन बीजाक्षराः
प्रान्ते कुण्डलसम्पदौ विलसतो युक्तौ ठकारौ तराम् ।
लोमालीति च नाभिकुण्डकलिता श्रीधूपधूमावली
सज्जीयाज्जपमालिका गुणवतीय हेमसूत्रावली ॥८२॥

टीका—पत्रावलीविभ्राजित बध्वाः कपोलं दृष्ट्वा कविः कल्पनां करोति—दललता-

---

की कीर्तिका लोप करने वाली थी) और उनके विलास–हावभाव आदि **पुराण-पथाश्रिता न**–प्रथमानुयोग सम्बन्धी पुराण ग्रन्थोमे प्रतिपादित शिष्ट व्यवहार का आश्रय करने वाले नही थे (पक्षमे प्राचीन व्यवहारके अनुकूल नही थे) इस तरह उनका वह सुरत लक्षण समागम अनीति–नीतिसे रहित था ॥ ८० ॥

भावार्थ—नायकके अधरोष्ठको अन्य स्त्रीके द्वारा डसा देख नायिकाने उसपर क्रीड़ा कमलसे प्रहार किया। नायकने झटसे नेत्र बन्द कर लिये मानो उस कमलकी पराग नेत्रोमे चली गई हो। नायकको निमीलित नेत्र देख नायिका घबडा गई वह रोना ही चाहती थी कि नायकने उसके मुखका चुम्बन कर उसका क्रोध शान्त कर दिया। नायकके नेत्रोसे हर्षके आँसू निकल पड़े मानो उन आँसुओंके द्वारा वह कमलकी पराग बाहर निकलगई हो ॥८१॥

अर्थ—नायिकाके कपोलोपर जो पत्रोपलक्षित लताका आकार बना हुआ

---

१ इतोऽग्रे टीकाभागस्त्रुटितः प्रकरणदृष्ट्या संपादकेन योजितः ।

व्याजेन पत्रोपलक्षितवल्लीछलेन भूर्जप्रायकपोलके भूर्जपत्रतुल्यगण्डप्रदेशे बीजाक्षरा मन्त्रा इव लिखिता.। कपोलयोरन्ते कुण्डलसम्बद्धौ कुण्डलकारौ युक्तौ मिलितौ ठकाराविव मंत्रशास्त्रे प्रयुक्तौ ठकारौ—ठकारौ वर्णौ विलसतस्तराम् अतिशयेन शुशुभाते। नाभिरेवं कुण्ड यज्ञ कुण्ड परितो विभ्राजमाना लोमाली रोमपङ्क्तिः श्रीधूपधूमावली—श्रीधूपस्य धूमावली धूमपङ्क्तिरिव शुशुभे बध्वा मध्यभागे स्थिता गुणवती गुणकारिणी पक्षे गुणोत्पादिका हेमसूत्रावली स्वर्णमखला जपमालिका जापमालेव सज्जीयात् समीचीनतया शुशुभे यथा कश्चिन्मन्त्रसाधको भूर्जपत्रे ठकारयुक्तान् बीजाक्षरान् विन्यस्य यज्ञकुण्डे हवनं करोति तस्य धूप परित प्रसर्पति पार्श्वे जपमालिकां च समावर्त्त तथा कामः कुरुते इति भावः ॥८२॥

मायात्रयपरिवेष्टिता त्रिवलिमिषेण तनूदरी।
भात्येषा सा स्मरभूपतेः स्तम्भनविद्या सुन्दरी ॥८३॥

टीका—त्रिवलयो नाभेरधस्तात्विद्यमाना रेखाविशेषास्तासा मिषेण व्याजेन माया त्रयेण परिवेष्टिता सहिता तनूदरी कृशोदरी एषा सुन्दरी नायिका स्मरभूपतेर्मदनमहीपस्य स्तम्भनविद्येव भाति शोभते ॥८३॥

सुन्दरीः सद्यः सुन्दरैः कलयितुमनुष्णरुचोऽनुसम्।
मधुरकलालिरिवोज्ज्वलप्रतिभा बभावाप्तक्षया ॥८४॥

टीका—आप्त. प्राप्त. क्षयो[1] निवासो यया तथाभूता, अनुष्णा शीतला रुक् कान्ति-

---

था वह ऐसा जान पडता था मानो भूर्जपत्रपर मन्त्रके बीजाक्षर लिखे गये हो कपोलोके दोनो ओर कुण्डल ऐसे जान पडते थे मानो मन्त्रमे प्रयुक्त होनेवाले 'ठ ठ' नामक बीजाक्षर हो। नाभिके पास जो काली काली रोमावली थी वह ऐसी लगती थी मानो नाभि रूपी यज्ञ कुण्डसे धूमकी पङ्क्ति उठ रही हो और मध्यभागमे स्थित सुवर्ण मेखला ऐसी जान पडती थी मानो मन्त्र साधकके उपयोगमे आनेवाली जपकी माला—स्मरणी ही हो ॥८२॥

अर्थ—जो त्रिवलियोके बहाने मानसिक, वाचनिक और कायिक इन तीन प्रकारकी मायाओसे वेष्टित था ऐसी कोई कृशोदरी स्त्री काममहीपालकी स्तम्भन विद्याके समान सुशोभित हो रही थी ॥८३॥

अर्थ—घरपर चमकती हुई चन्द्रमाकी मनोहर कला स्त्रियोको पतियोके

---

१ क्षयोऽपचयकल्पान्तनिवासेषु रुगन्तरे इति विश्वलोचनः।

र्यस्य तस्य चन्द्रमस मधुरा मनोहरा चासौ कला चेति मधुरकला, सुन्दरी· कामिनी सुन्दरैः कामिभिः सह सद्यो झटिति कलयितु मेलयितु आप्ता प्रतिभाचातुरी यया तथाभूता बुद्धिमतीत्यर्थ·। आलिरिव सखीव अनुसम् सम्यक्प्रकारेण बभौ शुशुभे। गृहाम्बरे चकासतीं चान्द्री कला दृष्ट्वा स्त्रिय पुरुषैः सह [1]सगन्तुमातुरा बभूवुरित्यर्थः ॥८४॥

रतिषु पाटवमासवोऽलमल विधातुमभूत् पुनः।
नतनो· सुखानुमतेः परं लालसकरः पठावन ॥८५॥

टीका—आसवो मद्य रतिषु सुरतेषु पाटव दाक्ष्य विधातु कर्तुम् अलमलम् अतिशयेन समर्थोऽभूत्। पुन. भूय न विद्यते तनुर्यस्य स नतनुस्तस्य कामस्य सुखानुमते. सुखसवेदनस्य पर लालसकर इच्छावर्धक पठावन· पौन पुन्यप्रवर्तकश्च बभूव ॥८५॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रिय घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तस्यास्मिन् मदयन् मनः समनसां सर्ग समाप्ति गतः,
श्रीकाव्ये स्वरसेन चैष दशमः षष्ठोत्तरः श्रीमतः ॥८६॥

टीका—स प्रसिद्ध. श्रीमान् लक्ष्मीसपन्न. श्रेष्ठी चासौ चतुर्भुजश्च श्रेष्ठिचतुर्भुजः चतुर्भुजनामधेय श्रेष्ठी घृतवरी तन्नामधेया देवी पत्नी च वाणीभूषणं एतदुपाधिसहितं अस्त्रिय ब्रह्मचारिणं धीचयं बुद्धिराशिभूत भूरामलोपाह्वय 'भूरामल' इति नामधेय य पुत्र सुषुवे जनयामास तस्य श्रीमत अस्मिन् श्रीकाव्ये समनसा सहृदयाना मनो मदयन्

साथ शीघ्र ही मिलानेके लिये चतुर सहेलीके समान अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥८४॥

अर्थ—मदिरा पान, रति क्रिया विषयक चातुर्यके करनेमे ही अत्यन्त समर्थ नही था किन्तु काम सुखकी अनुभूति सम्बन्धी लालमाको बढाने वाला एवं पुनः पुन प्रवृत्ति कराने वाला भी हुआ था ॥८५॥

अर्थ—अत्यन्त प्रसिद्ध चतुर्भुज सेठ तथा उनकी पत्नी घृतवरी देवीने वाणीभूषण पदवीके धारक ब्रह्मचारी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् जिस 'भूरामल' को जन्म दिया था उस श्रीमान्के इस श्रीकाव्यमे सहृदय मनुष्योके मनको प्रसन्न

---

१ क्षयोऽपचयकल्पान्तनिवासेषु रुगन्तरे इति विश्वलोचन।

हर्षयन् एव षष्ठोत्तरो दशम. षोडश इत्यर्थ. स्वरसेन स्वाभाविकरीत्या समाप्ति गतः प्राप्तः ।।८६।।

करने वाला यह सोलहवाँ सर्ग अपनी स्वाभाविक गतिसे समाप्तिको प्राप्त हुआ ।।८६।।

इस प्रकार वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामलके द्वारा रचित जयोदय काव्यमे सहृदय मनुष्योंके मनको प्रसन्न करने वाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

●

सप्तदश: सर्गः

अथोर्जतीन्दौ बहुमानचित्तं हर्तुं प्रहर्तुं च वियोगिचित्तम् ।
भयाढ्यतामभ्युपगम्य शिष्टाः सर्वे युवानो रहसि प्रविष्टाः ॥१॥

अथेत्यादि—अथ रात्रिसमुद्भवानन्तरं । बहुमानमनमनल्पमेव चित्तं मनं तद्धर्तुं च पुनर्वियोगिनां स्त्रीविरहिणां चित्तं प्रहर्तुं वशीकर्तुमिन्दौ चन्द्रमसि ऊर्जति समुदयं गच्छति सति भया प्रभया नूतनवस्त्राभरणाविकृतया शोभयाऽऽढ्यतां परिपूर्णता-मभ्युपगम्य सर्वे शिष्टा सभ्यतामुपपन्ना युवानो रहसि स्त्रीप्रसङ्गस्थाने प्रविष्टाः । बहुमानमनल्पपरिमाण यच्चित्तं तद्धर्तुं वियोगिनामन्यमनस्कानां च चित्तं प्रहर्तुं कस्मिंश्चि-दिन्दुनामनि प्रवर्तमाने सति भयाढ्यता भययुक्ततामुपेत्य रहसि गूढस्थान शिष्टास्तिष्ठ-न्तीति यावत् ॥१॥

श्रिया क्रियातोऽपि किलाप्रशस्यं कलङ्किनं जेतुमिवाप्यवश्यं ।
भास्वान् पवित्राणि रहःकृतानि जयोऽभ्यवाञ्छन्मृदुचेष्टितानि ॥२॥

श्रियेति—श्रिया कालिमोपयुक्तया प्रभया क्रियातोऽपि चौर्यादिभयकारिण्या हेतु-भूतया कलङ्किनं तत एवाप्रशस्यं जेतुमिव जयो जयनशीलो भास्वान् सूर्यः रहसि कर्तुं योग्यानि पवित्राणि वज्रादिभवानि जनताहितकरतया मृदूनि च तानि चेष्टितानि केन प्रकारेणेन्दुं जयानीति मन्त्रकार्याणि अभ्यवाञ्छत् तथा भास्वान् सुषमावान् जयो नाम राजा जयकुमारः रहःकृतानि स्त्रीसम्पर्काणि प्रसक्तहेतुतया मृदुचेष्टितानि काम-शास्त्रतया पवित्राणि तान्यवश्यमभ्यवाञ्छत् ॥२॥

कोकस्य कल्पो विधुजन्मनीति लोकस्य तल्पोक्तगुणप्रणीतिः ।
जयस्य चानन्दभुवीष्टिमाया नो कस्य वाञ्छा प्रभवेत्कलायाम् ॥३॥

कोस्येत्यादि—विधुजन्मनि चन्द्रोदये कोकस्य लोकस्य चक्रवाकजनस्य यत्र तल्पे शय्या सञ्जल्पे स्त्रीप्रसङ्गे उक्ता कथिता गुणस्य प्रणीतिरनुस्मरणरीतिर्येन स कल्पः सकल्पो भवति तथा करोहतस्यास्य सूर्यविदूरस्य लोकस्य कः कल्पो विचारो भवति । तल्पोक्तगुणप्रणीतिरेवाब्रह्मचारिणः सम्भवति 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नीत्यादिना कस्यापि ब्रह्मार्थपरकत्वात् । तथैव जयस्य चानन्दभुवि सुलोचनायामिष्टिमायासमाचरणसम्भावना प्रभवदेव । कलायां कं सुखं लातीति कला तस्यां कस्य जनस्य वाञ्छा न भवेत् किन्तु कलायां चन्द्रतत्तायां कस्य सूर्यस्यैव वाञ्छा न प्रभवेत् ॥३॥

संकोचभृत्पद्मधुरा पुरा तु कुमुद्वती सालिरिता नु मातुम् ।
सौरभ्यमेकान्ततयात्र तेन तदा सभासारजनी हितेन ॥४॥

संकोचभृदित्यादि—अत्र लोके तदा दिनावसानकाले तेन राज्ञा चन्द्रमसा वा । कीदृशेन तेन ? सभासारजनीहितेन भैर्नक्षत्रै सहिता सभा रात्रिस्तत्र सारोऽवश्य-कर्तव्यतया सम्मतो जनीनां स्त्रीणा हितमीहित वा येन तेन पक्षे भासा दीप्त्या सहितेन सभासा रजन्या निशाया हितेन मङ्गलकर्त्रा । एकान्ततयाऽनन्यभावतया सौलभ्य सुलभ-भाव पक्षे निश्चितरूपेण सौगन्ध्यमनुमातुं सा कौ पृथिव्यां मुद्वती कुमुद्वती सुलोचना पक्षे कैरविणी पुरा तु प्रथममेव सकोचभृती पदे चरणौ यस्यास्सा लज्जानुभावेन संकुच-न्तीत्यर्थ । मधुरा रमणीया पक्षे संकोचभृत् च पद्मधुरा कमलिनी यत्र सा, आलिभि सखीभि सहिता पक्षे सषट्पदा, इता प्राप्ता ॥ ४ ॥

तां सम्पदामभ्युपगम्य धात्री सम्बाधमध्यादुपभोगपात्रीम् ।
ततः समुद्धर्तुमिवाभ्यवाञ्छच्छनैरसौ निःस्व इवाध्वयात्री ॥५॥

तामित्यादि—असौ जयकुमार निर्गत विनष्टं स्व धन यस्य स निर्धनोऽध्वयात्री प्रवासकर्तेव भवन् समीचीन पद स्थान यस्यास्ता सुलोचना धनसम्पदा धनसमृद्धिमिवोप-भोगस्य पात्रीं पुन पुनरनुभवनयोग्यामभ्युपगम्य तत पुनस्ता धात्रीसम्बाधो मातृवर्गस्तन्म-ध्यात् पक्षे पृथ्वीप्रतलान्तरात् शनैर्निभृतमिव समुद्धर्तुं स्वसात्कर्तुमभ्यवाञ्छत् ॥ ५ ॥

सहालिभिः पार्श्वमुपागमि प्राक् ततः शनैस्तेन तयैकया स्राक् ।
क्व मायिना तां च नियुज्य बालावशेषितात्मैकसुहृद्रसाला ॥६॥

सहालिभिरित्यादि—तेन जयकुमारेण सा रसाला बाला प्राक् पूर्वं बहुभि-रालिभि सह पार्श्वमुपागमि तत. पुनः शनैरेकैकमिति बहिष्कृत्य तया कयाचिदेकया साकमुपालब्धा पुनस्तेन मायिना मिषकरणकुशलेन स्राक् शीघ्रमेव तामेकां च क्व कस्मिंश्चिदपि कार्यविशेषे नियुज्यात्मैवैक. सुहृद् यस्याः साऽनन्यतमैवावशेषिता ॥ ६ ॥

अथास्य दोषा रजनीव राज्ञ उरीकृता सत्कृतसूक्तिभाग्यः ।
निरुक्तवेशाभरणैः समुक्तैः समन्ततः पीततमा भरुक्तैः ॥७॥

अथेत्यादि—य सत्कृते स्त्रीसत्कारे सूक्ति मञ्जुभाषणता भजतीति सत्कृत-सूक्तिभाग् तस्यास्य राज्ञो जयकुमारस्य पक्षे चन्द्रमसोऽपि दोषा भुजयोरीकृता सा बाला भरुणोक्तै सुवर्णघटितैरथ च मुक्ताभिः सहितः समुक्तैः निरुक्तवेशाभरणैस्तैस्तैः प्रसिद्धैः समन्तत पीततमा सर्वोसमपीतवर्णयुक्ता पीत कवलीकृतं तमः शार्वरं यया सा रजनीवाभाविति शेषः ॥ ७ ॥

महाशयोऽगस्त्य इवैष वारां निधिं स्वसात्कर्तुमगाद्विहारात् ।
अजायताक्षोणरसर्द्धिरेषा योगोऽनयोः स्फूर्तिकरो विशेषात् ॥८॥

महाशय इत्यादि—वारांनिधिं समुद्र स्वसात्कर्तुमगस्त्य इव 'वारिनिधिं चुलुकीचकारागस्त्य' इति जनश्रुते । एष महाशयो जयकुमारो वारा रलयोरभेदाद् बाला सुलोचनामेव निधिं वाञ्छितवार्त्री स्वसात्कर्तुमगात् प्रयत्नवानभूत् । इहैवावसरे एषा बालापि आराच्छीघ्रमेवाक्षोणानत्यया रसस्यर्द्धिर्यत्रै तादृश्यजायत । एवमनयोर्द्वयोरेष योगः सम्बन्धो विशेषात्स्फूर्तिकरोऽजायत ॥ ८ ॥

योगस्तयोः कौतुकमित्यथोऽधाद्यस्याणिकायां गणिका अबोधाः ।
न यद्विचारश्चतुरैरवापि लेभे मुनीनां न मनोऽप्यपापि ॥९॥

योग इत्यादि—इति पूर्वोक्तप्रकारको योगस्तां समप्रभावेनोपभोक्तुमिच्छा राज्ञस्तस्याश्च यथोत्तरमधिकाधिकसौष्ठवसम्पत्तिरेवरूप प्रयोगस्तयोर्द्वयोस्तत्कौतुकमनिर्वचनीय विनं.दमधाद्दधार । यस्याणिकायां लेशमात्रपरिणतावपि गणिका पण्यस्त्रियो या. सुरतस्याधि[illegible]ग्यो भवन्ति ता अबोधा बोधविहीना बभूवु । चतुरैः कामन्दकादिभिरपि यस्य विचारो नावापि । मुनीनामपापि मनोऽपि यन्न लेभे तत्र तेषामनधिकारात् ॥ ९ ॥

सिंहासने स्थातुमथानुयोग्ये योग्ये नृशार्दूलवरेण भोग्ये ।
कुरङ्गनेत्राधिकृतापि नेत्रा शशाक सा कम्पवती न जेत्रा ॥१०॥

सिंहासन इत्यादि—अथ पाइर्वगमनानन्तर कम्पवती वेपथुनामसात्त्विकभावयुक्ता सा कुरङ्गनेत्रा कुरङ्गस्य नेत्रे इव नेत्रे यस्याः मृगाक्षी सुलोचना जेत्रा जयनशीलेन नेत्रा नायकेन जयकुमारेण अधिकृतापि स्वायत्तीकृतापि नृशार्दूलवरेण नरश्रेष्ठेन जयकुमारेण भोग्ये भोगमर्हति योग्ये स्वार्हे अनुयोग्ये अनुयोग सम्बन्धस्तदर्हे सिंहासने उपवेष्टु न शशाक शक्ता न बभूव लज्जातिशयादिति यावत् ॥ १० ॥

दिशां च यामादरभावकर्तासनेऽपि तस्थौ परिरभ्य भर्ता ।
न तामुपाद्रष्टुमहो मनीषामवाप सम्यक् स्मयसारिणी सा ॥११॥

दिशामित्यादि—आदरभावकर्ता बल्लभां प्रत्यादरभावस्य प्रकटयिता भर्ता बल्लभो जयकुमार यां दिशां च परिरभ्य समाश्रित्य आसनेऽपि तस्थौ समुपविष्टः स्मयसारिणी स्मयो गर्वोऽद्भुत वा तस्य सारिणी कुल्या सा सुलोचना तां दिशं सम्यक् प्रकारेण उपाद्रष्टुमवलोकयितुमपि मनीषां बुद्धिं नावाप न प्राप्ता लज्जानुभाववशादित्यर्थः ॥ ११ ॥

सदस्यदः शीलितमेव माला क्षेपात्मकं ज्ञातवतीव बाला।
तच्चापलं चाप ललामसारं दृशापि लब्धुं न शशाक सारम् ॥१२॥

सदसीत्यादि—यत्किल मालाक्षेपात्मक स्वयवरसभाया जयकुमारस्य कण्ठे मालारोहणात्मकं चापल चपलत्व तवद इव सार समुद्देश्य पूरकत्वात्, यच्च चाप इव धनु:सदृश ललाम सुन्दर सदसि सभायां शीलित कृतं तच्चारमधुना चापललाम असमञ्जसमसभ्यकार्यतया कुलीनानां लज्जास्पदत्वात् ज्ञातवती सञ्जानतीवतस्ततस्तु तन्न सुन्दर कृतमितीवशब्दस्यार्थः। सा बाला सुलोचना दृशापि चक्षुर्व्यापारेण च जयकुमार लब्धु न शशाक किं पुनरालिङ्गितुम् ॥ १२।

मास्तूत सुस्निग्धतमेऽत्र हृद्वा न्यस्तं दुराकर्षमितीङ्गकृद्वा।
चापल्यचारु प्रियसाद्व्रजन्तं प्रत्याचकर्षार्द्धपथाद् दगन्तम् ॥१३॥

मास्तूतेत्यादि—सा सुलोचना दृगन्तमपाङ्गवीक्षण यश्चापल्ये चपलतायां चारुस्त सहजचञ्चल तत एव प्रियसाद् व्रजन्त वल्लभस्य दिशि गच्छन्त तमत्र सुस्निग्धतमे परमस्नेहस्थानेऽनन्यप्रेमाधारेऽतिशयचिक्कणे च वा न्यस्त दापित हृदिव चित्तं यथा तथैव दुराकर्षं पुनस्तस्मादाकृष्टुमशक्य मास्तु न भवेदेवेत्युतेङ्ग विचारविनिमयं करोतीतीङ्गकृत् सदभिप्रायवतीव सा तमर्द्धपथाद् वर्त्ममध्यादेव प्रत्याचकर्ष त स्वकटाक्षं। वेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ १३ ॥

स्वाङ्गं प्रदातु भवतीव वामानुयाचमानाय पुनर्नवा मा।
राज्ञे किलाज्ञेव पुनर्ननामासकौ समारब्धपुनीतनामा ॥१४॥

स्वाङ्गमित्यादि—तदा समागमारम्भकालेऽनुकूलतया याचमानायानुयाचमानाय तस्मै राज्ञे सा वामा वक्रा न भवतीति नवामा सरलस्वभावापि स्वाङ्गमनुयाचितं निजमङ्गं प्रदातु वामा कुटिला विरुद्धपरिणामा भवतीति सैव पुनर्नवा नवीना मा लक्ष्मीस्तद्रूपा प्रिया वामा वामभागस्यार्द्धाङ्गिनी भवत्यसकौ सुलोचना समारब्ध समुपलब्धं हे प्रिये ! हे प्राणेश्वरि ! वल्लभे ! इत्यादि पुनीतं नाम यया सापि न किमपि नाम सञ्ज्ञाविशेषो यया सा ननामा, यथा स्त्री स्वस्वामिनामोच्चारण न करोति तथैव पुरुषोऽपि पत्नीनामनिर्देशं न करोतीति लोकाचारे[१]। पुनीतनामापि ननामेति विरोधश्च ततोऽसकावज्ञेव न किमपि जानातीति तद्विध भद्रस्वभावा किल तथा पुनराज्ञानुशासनपद्धतिरिव ननाम नमननिमग्नाभूदिति ॥ १४॥

---

१ 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयो ॥'

इति लोकाचारः

उत्थातुमर्हः स्तनपो हरारिर्ह्रिया भयेनापि पुनर्न्यवारि ।
यथा कुदृष्ट्या दुरितेन सम्यग्गुणः पवित्राभ्युदयैकगम्यः ॥१५॥

उत्थातुमित्यादि—उत्थातुमर्हः उद्भवनशीलो हरारिः कामः स्तनपः शिशुरिव स ह्रिया लज्जया भयेनापि पुनर्न्यवारि वारं वारं न्यषेधि, यथा पवित्राभ्युदयैकगम्यः पुण्यकर्मजन्मा सम्यग्गुणः सच्छ्रद्धापरिणामः कुदृष्ट्यानुचितशिक्षया दुरितेन मांसासनादिना कुचेष्टितेन निवार्यते तथा ॥ १५ ॥

ह्री क्रीडितुं स्थातुमथात्र कामः न सन्दिदेशाब्जदृशः स्म नाम ।
प्रत्यावजन्त्यर्द्धपथाद्धि बाणास्तिरश्चरन्तोऽपि दृगन्तबाणाः ॥१६॥

ह्रीत्यादि—अथात्रास्मिन्नवसरे कामो मदनः क्रीडितुं क्रीडां कर्तुं स्थातुं वा अब्जदृशः कमललोचनाया सुलोचनाया न सन्दिदेश सन्देशं दत्तवान् नामेति सभावनायां स्मेति पादपूरणे, ह्रीति विस्मये 'ह्री विस्मयविषादयो' इति विश्वलोचनः । अतएव हि निश्चयेन दृगन्तबाणाः कटाक्षशरा एव बाणाः शराः, तिरश्चरन्तोऽपि तिर्यक्व्रजन्तोऽपि अर्द्धपथात् अर्द्धमार्गात् प्रत्यावजन्ति प्रत्यागच्छन्ति वल्लभं द्रष्टुमुत्सुका अपि कटाक्षास्त्रपावशात् प्रतिनिवर्तन्त इति भावः ॥ १६ ॥

तनौ लतायां क्वचिदेव गूढेऽङ्ककेऽपि दृष्टिं निदधत्यमूढे ।
तामागतां धर्तुमिवाववारां शुकेन तत्राम्बुजलोचनारात् ॥१७॥

तनावित्यादि—न मूढो भवतीत्यमूढस्तस्मिन् समुचितकर्तरि भर्तरि तस्यास्तनौ लतायामिव सुकोमलायां क्वचिदेव गूढे वस्त्राच्छादितेऽपि अङ्ककेऽवयवविशेषे दृष्टिं निदधति सति तत्राम्बुजलोचना कमलनयनी तामागतां प्रियस्य दृशं धर्तुमिवाराच्छीघ्रमेवांशुकेन दुकूलेनावकाराच्छादितवती । भ्रमरी स्थादिकं धर्तुं वस्त्रेणाच्छादयतीति बालजातिः । शठकेन सम्यङ् निगूढमप्यङ्गं प्रागल्भ्येन कस्मिंश्चिदभिपश्यति सति समुद्घाटितभ्रमेण तत्र मुहुरावरणकरणं नवोढाजातिः ॥ १७ ॥

नापोपकण्ठं सहसोपकण्ठीकृतापि यूना पिकमञ्जुकण्ठी ।
नैकासनैकासनिताप्यसुप्ता संशायिता वावयवेषु गुप्ता ॥१८॥

नापेत्यादि—पिकस्य कोकिलस्येव मञ्जु मधुरं कण्ठं यस्याः सा सुलोचना सहसोपकण्ठं समीपदेशमपि नाप नैवाजगाम । अपि पुनर्यूना प्रगल्भेन तेनोपकण्ठीकृता कथमपि सामीप्यं नीतापि, एकमभिन्नमासनं प्रियेण सह यस्याः सैकासना सा न बभूव, पुनरेकासनिताप्येकासने स्थापितापि असुप्ता पुनः संशायिता शयनभावं नीतापि सती अवयवेषु निजाङ्गप्रत्यङ्गेषु गुप्ता समाच्छादितसकलावयवा जाता, न किन्तु निःसकोचा बभूवेति यावत् ॥१८॥

लुप्ता न संकोचतती रमायाः कृताः प्रणेत्रा बहुशोऽप्युपायाः ।
अपत्रपा स्यादिह सात्रपापि तेनाथ भूयो गुणसंकटापि ॥१९॥

लुप्तेत्यादि—प्रणेत्रा वल्लभेन बहुशोऽपि पूर्वोक्तरीत्या उपाया कृतास्तथापि रमाया लक्ष्मीस्वरूपायास्तस्याः सकोचततिर्लज्जालुता न लुप्ता । अथ पुनः सा त्रपापि न पत्राणि पाति रक्षतीत्यपत्रपा पल्लवभावरहिता स्यात् । अथवाऽपत्रपा निर्लज्जता नीता स्यादित्येव-मभिप्रायवता तेन सा भूय पुनरपि गुणैरनुनयविनयादिभि सकटा समाप्नक्षेत्राऽऽपि प्राप्ता । वल्लीगुल्मादिकं पल्लवनक्षत्राभावे न पल्लवितं भवति तथा जनसमाजसमागमेऽ नवकाशतया स्त्री विनिर्गच्छति तथैव त्रपापीति यावत् ॥१९॥

आयाति नाथे सुतरां निरस्ता वागादिसख्यः खलु यास्तु शस्ताः ।
लज्जाऽपलज्जा भवतीव कान्तसमागमेऽस्याः समगादुपान्तम् ॥२०॥

आयातीत्यादि—अस्या सुलोचनाया वाक् वाणी आदिर्यासा ताश्च ता सख्यश्च प्रगतिविश्वतोवलोकनवृत्तिरेवमादयो यास्तु शस्ता प्रशसायोग्यास्तास्तु नाथे भर्तरि आयाति नैकट्यमञ्चति सत्येव सुतरा सहजतयैव निरस्ता किन्तु लज्जानाम सखी अपलज्जा स्वय लज्जाविहीना भवतीव कान्तस्य समागमे सयोगसमये प्रत्युतोपान्त सामीप्यात्सामीप्यतर समगात् । प्रियससर्गे वचनशून्यत्व निश्चेष्टता चासाद्य ह्रीणतरा जातेत्यथ ॥२०॥

त्रपात्त पापिन्यपयातु केन क्रमेण कृत्वेति सुवर्षणेन ।
श्रीवारिदेनानुनयान्वयादिनदी त्वदीना सहसोदपादि ॥२१॥

त्रपेत्यादि—अत्रास्मिन् प्रसङ्गे पापिनी मनोरथबाधकतया पापवती त्रपा लज्जा केन क्रमेण कृत्वा केन प्रकारेण अपयातु दूरीभवतु इतीत्थ अदीना दैन्यरहिता अनुनयान्वय-नदी अनुनय वाक्परम्परा श्रीवारिदेन मेघेनेव वारिदेन वचनोच्चारणकुशलेन तेन वल्लभेन सहसा झटिति उदपादि उत्पादिता समुच्चारिता । सुवर्षणेन सुवर्षणशीलेन मेघेन नायकपक्षे शोभनवचनोच्चारणतत्परेण । वारि जल ददातीति वारिदो मेघस्तेन नायकपक्षे वारि सरस्वतीं वाचं ददातीति वारिदस्तेन 'वारि सरस्वतीदेव्यां वारि ह्रीवेरनीरयो' इति विश्वलोचन ॥२१॥

इवालिरस्मीह तु कौतुकाय लताङ्गि ते जातु न वास्त्वपायः ।
मयेति विश्वासमयेऽभिनेतुस्तां नेतुमासीत्सुवचोऽयने तु ॥२२॥

इवालिरित्यादि—हे लताङ्गि । वल्लीसदृशसुकोमलशरीरवति ! अहमिव तव कौतुकाय विनोदाय पक्षे कुसुमाय आलि सखीव, अथवा भ्रमरवदस्मि, मया ते जातुचिद् अपायो हानिर्न वास्तु नैव भवेत्, इत्येव प्रकारकमन्यदपि अभिनेतुर्वल्लभस्य सुवचः शोभनं

वचनं तां सुलोचनां विश्वासमयेऽयने मार्गे कर्तव्यपथे नेतुं प्रवर्तयितुमासीत् सजात । तु विशेषे ॥२२॥

न याचिता मा सुरताय वाचमदात्तदाऽवादि मुहुःस्तवा च ।
जयेन, येनासि समात्तमौना जानामि नानादरिणीं रतौ ना ॥२३॥

न याचितेत्यादि—पूर्वोक्तप्रकारं मुहु पुन पुनः कृत स्तव स्तवन यस्या सा मुहु स्तवा सा सुलोचना सुरताय याचिता सती वाच नादात् न किमप्युक्तवती, तदा जयेन पुनरप्यवादि उक्त यत्किल हे प्रिये ! मया प्रार्थितापि त्व येन कारणेन समात्तमौनासि न किमपि प्रतिवदसि तेनैवाह ना सुविचारशील पुरुषस्त्वां 'मौन सम्मतिलक्षणम्' इति ्रूक्तेन त्वां रतौ सुरतक्रीडाया न विद्यतेऽनादर उन्मनस्कप्रकारो यस्यास्तामुत च नानानेकप्रकारक आदरोऽनुकूलभावो यस्यास्ता जानामि, इत्येवमुक्ते ॥२३॥

समाह सा सम्प्रति नेति नेति स स्मामृतेनेव मुदं समेति ।
अहो भवत्या भुवि नद्वयेन समर्थितं मल्लपितं हितेन ॥२४॥

समाहेत्यादि—सा च सम्प्रति आलिङ्गनविषयिण्या सम्मत्या सम्प्रदानकाले नेति-नेति समाह नहि नहि किलालिङ्गन वाञ्छामीति । तदा स तस्या नेति-नेति सूक्तेना मृतेनेव मुद समेतिस्म । तत्कथमिति स्पष्टयति—भुवि धराया भवत्या त्वया नद्वयेन नकारयोर्द्वितयेन हितेन प्रेम्णा मल्लपित मदुक्तमेव समर्थित स्वीकृतमिति ॥२४॥

सा काममुत्सङ्गकृतापि तेन साऽऽकाममुत्सङ्गकृतापि ते न ।
वाञ्छामि बालेऽन्तलतामतोऽहं वाञ्छामि बालेऽन्तलतामतोऽहम् ॥२५

साकाममुर्वित्यादि—सा प्रसिद्धा सुलोचना काममुत् मदनमोहवतीत्यत सङ्गकृता प्रसङ्गकर्त्री तेन जयकुमारेण तदा हे बाले ! भद्रपरिणामिनि । अह तव बाले लोम्न्यपि अन्तलतां रलयोरभेदावन्तरता व्यवधानपरिणतिं वाञ्छामि जानामि लोमकृतव्यवधानमपि त्वया सह न शक्नोमि अतोऽहमन्तमन्यस्थान लाति गृह्णातीत्यन्तलस्तस्य भावोऽन्तलता तया मत सम्मतमूह वितर्क न वा वाञ्छामि मदन्यत्स्थानस्थितिं तव नेच्छामि, इत्युक्तिपूर्वकं सा सुन्दरी आकाम यथेच्छमुत्सङ्गं स्वक्रोडदेशे कृता स्थापिताऽऽपि समारब्धा ॥२५॥

स्खलत्तदन्यश्रवणावतंसानुयोजने दत्तशयद्वयं सा ।
मुखं तिरःक्लृप्तवती सुगात्री भर्त्रे कपोलस्य बभूव दात्री ॥२६॥

स्खलदित्यादि—तदोत्सङ्गकरणकाले स्खलतः प्रच्यवतः तस्मात्समुद्दिष्टादन्यस्य श्रवणस्यावतंसस्ताटङ्कस्तस्यानुयोजने दत्त प्रयुक्त शययोर्हस्तयोर्द्वय यत्र तत्स्वकीयं मुख तिरःक्लृप्तवती प्राणेशाद्विशि कुर्वती सा सुगात्री भर्त्रे स्वामिने कपोलस्य दात्री सहश्रमेव बभूव ॥ २६ ॥

दिने तु नेतुर्विरहासहत्वान्निश प्रभोः सङ्गदिशः स्मरन्ती।
दिनोदय सा पुनरिच्छतिस्म स्मरक्रियां भर्तुरनुत्तरन्ती ॥२७॥

दिनेत्यादि—स्पष्टमेतत्।

निचुम्बने ह्रीणतया नतास्या स्विन्ने हृदीशप्रतिबिम्बभाष्यात्।
समुन्नमय्याशुमुख मुखेन बाला ददौ चुम्बनकं तु तेन ॥२८॥

निचुम्बन इत्यादि—निचुम्बने चुम्बनकाले बाला सुलोचना ह्रीणतया लज्जालुतया नत विनम्रमास्य मुख यस्या. सती तस्मिन्नेव काले सात्विकतया स्विन्ने स्वेदपरिपूर्णे हृदि स्ववक्ष स्थले ईशस्य सम्मुखस्य प्राणनाथस्यैव यत् प्रतिबिम्ब तस्य भाष्यात् स्पष्टीकरणात् तस्मात् पुनरपि लज्जिता सती आशु शीघ्रमेव मुख समुन्नमय्य तेन कारणेन तु पुन. सुखेनानायासेनैव चुम्बनक ददौ ॥ २८ ॥

रतिह्रियोः प्रेक्षणकारिणीशान्वाशाजुष कुण्डलकद्वयी सा।
तिरोनताभ्युन्नतवक्त्रभाजस्तुलेव लोला सुतनो रराज ॥२९॥

रतिह्रियोरत्यादि—ईशमनु आशा दिशा तां जुषति सेवते तस्या प्राणनाथसम्मुखीनाया तिर एकतो नतमन्यतोऽभ्युन्नत वक्त्र भजतीति तस्याः सुतनो सुन्दर्या लोला चञ्चला या कुण्डलकद्वयी सा रतिश्च ह्रीश्च तयो· प्रेक्षणकारिणी–कतिमात्रा ह्रीः कतिमात्रा रतिरधुना सञ्जातेत्येव प्रेक्षणीतुलव रराज ॥ २९ ॥

विचुम्बतोऽधीश मुखस्य शीतकरत्वमित्युक्तवती सतीतः।
सत्वोद्भवद्वेपथुका तु तानि वितन्वती सम्प्रति सीत्कृतानि ॥३०॥

विचुम्बत इत्यादि—सती सत्त्वसर्गवती सा सम्प्रति चुम्बनकाले सत्त्वेन प्रसक्तिभावेनोद्भवती वेपथु प्रकम्पन यस्या. सा स्वार्थे कप्रत्ययः सत्प्रकम्पवतीतश्च तानि हर्षसञ्जातानि सीत्कृतानि वितन्वती सन्दधती विचुम्बतश्चुम्बन कुर्वतोऽधीशमुखस्य वल्लभवक्त्रस्य शीतकरत्व शीता अनुष्णा. कराः किरणा यस्य तद्भाव चन्द्रमस्त्वमुत च शीतं हिमत्तं परिणाम करोतीति तद्रूपत्वमिति—एवं रूपेण प्रकम्पनपूर्वकसीत्कारैरणेनोक्तवती ॥३०॥

न याचनातो ददती कपोलमथान्यहृत्कां स्मरसिन्धुकोलः।
कृत्वा तदादाय स सिस्मिये न किमित्थमुक्तिं गमितास्मि येन ॥३१॥

न याचनात इत्यादि—स्मरसिन्धौ कामशास्त्रसमुद्रे कोलः सन्तरणकाष्ठ इव योऽसौ सुरतक्रियाकुशलो जयकुमारो याचनात. कपोलं न ददतीमथ पुनरन्यहृत्कामन्यत्र क्वचिदपि दत्तमनस्कां कृत्वा समिथवार्तालापे तामेव समुत्तार्य ततस्तत्तस्याः कपोल–

भावाय स किन्न सिस्मिये किन्तु सिस्मिये। इत्थमुक्ति गर्वितास्मि वदाम्यहम्। येनेत्येतस्य पदस्य निम्नवृत्तेन सहान्वयः ॥३१॥

ह्रीणां न वीणां कुरुषे गिरा वा न कौमुदीवासि मृदुस्मिता वा ।
अथाद्य मूकासि कुतोऽप्यनूकात्तत्तान तामित्यपि वावदूकाम् ॥३२॥

ह्रीणामित्यादि हे अङ्ग ! गिरा मृदुलतरवाचा स्वकीयया वीणां ह्रीणां लज्जितां न कुरुषे, कौमुदीव चन्द्रिकावत् मृदु मधुर स्मित हसित यस्याः सापि वा न भवसि, अद्य कुतोऽप्यनूकात् केनापराधेन वा मूकासि न हसति न वदसि न किमपि चेष्टसे, इत्येव मथ निगद्य तां मौनशीलामपि वावदूकां ततान यतः सा निम्नप्रकारेणोक्तवती बभूव ॥३२॥

वाणी कृपाणीव न कर्कशार्यास्मि कौमुदी वन्न कलङ्किभार्या ।
नून तनुं भो सभयाऽनिवार्या त्रपात्रपायाच्च कुलीननार्याः ॥३३॥

वाणीत्यादि—हे आर्य ! वाणी या मर्मच्छेदकरी कृपाणी असिपुत्रिका तद्वत्कर्कशा कठोरपरिणामा नास्मि तथा कौमुदीवत् कलङ्किन. कलङ्कयुक्तस्य चन्द्रमसो वा भार्या न भवामि किन्तु भवच्चरणसेविकास्मि कुलीनाङ्गना । अत्र पुन. कुलीननार्याश्च तनुं भयेन सहिता सभया त्रपा लज्जा या किलानिवार्या न केनापि वारयितु शक्या । अथवा सभया निवार्या विद्वद्गोष्ठयैव निवार्या 'सभाया लज्जा न कार्या विद्वद्भिरिति' सा लज्जा नून निश्चयेन पायात् रक्ष्यात् ॥३३॥

बलादुपात्ताधरचुम्बनाय नता निपीता दृशि सस्मिता यत् ।
धवस्य दृष्ट्वाधरमात्ततुत्थं विधोः कलेवाब्धिमुताह सूत्यम् ॥३४॥

बलादित्यादि—ततोऽधरचुम्बनाय बलादुपात्तात एव नता नम्रमुखी जाता तस्मात् रदच्छदे न निपीय दृशि चक्षुषि निपीता तस्मात् धवस्य स्वामिनो यदधरमात्ततुत्थमात्तं संगृहीतं तुत्थमञ्जनं येन तत्तादृशं दृष्ट्वा सस्मिता भवन्ती तदाब्धि समुद्र विधोः कलेव सा तमुत सम्यगुत्थानं तत्परत्व यस्य तं सूत्थ आह गर्वितवती कृतवतीत्यर्थः ॥३४॥

पत्या च रत्यादरिणो निपीतरदच्छदप्रोञ्छनकारिणीतः ।
परं न तस्यैव हि रागभागाभिव्यक्तये स्वस्य हृदोऽपि चागात् ॥३५॥

पत्येत्यादि—रतिषदादरवती रत्यादरिणी सा पत्या स्वामिना निपीतस्य रदच्छदाधरोष्ठस्य प्रोञ्छनकारिणी सम्मार्जनकर्त्री, इतः पर सा तस्यैव स्वरदच्छदस्य रागभावाभिव्यक्तये एवं पर केवल नागात् किन्तु स्वस्य हृदोऽपि अन्तरङ्गदेशस्यापि रागभावाभिव्यक्तयेऽगात् जगाम प्रवृत्ताभूत् प्रोञ्छनेन यथा यथाधरस्यारुणिमपरिणामाभिव्यक्तिरभूत्तथा हृदये लज्जांशापगमादनुरागाभिव्यक्तिरभूदिति यावत् ॥३५॥

सारोऽभ्युदारो दयिते तवायं हारं समारब्धुमितीद्धमायम् ।
आरभ्य नाभे रसिकेन सम्यगाकण्ठमाश्लेषि वधूर्विनम्य ।।३६।।

सार इत्यादि—दयिते ! हे प्रिये ! तवाय दृश्यमान हार इत्यर्थ सार श्रेष्ठोऽभ्युदारोऽत्युत्कृष्टश्च वर्तते इति हार स्तनोपरि विभ्राजमान ग्रैवेयक समारब्धु सस्पृष्टु इद्धा माया यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा नाभेरारभ्य आकण्ठ कण्ठपर्यन्त रसिकेन रसवता नायकेन वधू सुलोचना विनम्य नम्रीभूय सम्यग् सुष्ठु आश्लेषि समालिङ्गिता । नाभेरारभ्य कण्ठपर्यन्तमालिङ्गितवानिति यावत् ।।३६।।

किलाभिभूतं स्मरवह्निमत्यादराद्धसन्त्या हि विभूतिमत्या ।
विकाशयामास शयाशयेन यथापशैत्यं जयराट् स तेन ।।३७।।

किलाभिभूतमित्यादि—बलादित्यादि वृत्तप्रकारेण हसन्त्या· प्रहसनसहितायास्तस्या हसन्त्या अङ्गारिकाया इव विभूतिमत्या वैभवशालिन्या पक्षे भस्मतूलवत्या अभिभूत सगुप्त स्मरवह्नि मदनानल स जयराट् चरितनायक 'सारोऽभ्युदार—' इत्यादि वृत्तविहितविधिना तेन शयस्य हस्तस्याशयेन सञ्चालनेन कुत्मेरणेन वात्यादरात् नमादरणपरिणामात् अपशैत्य स्फूर्तिसत्करण निरनुष्णत्व वा यथा स्यात्तथा विकाशयामास ।।३७।।

शनैश्च पश्चान्निरकाशि तेन भीर्ह्रीश्च नेत्रा शयचालनेन ।
रहो महोमन्त्रभिदा विदारादपूजि साध्व्या स्मितपुष्पधारा ।।३८।।

शनैश्चेत्यादि—रहस स्त्रीप्रसङ्गस्य मह उत्सवस्तस्य मन्त्रभिदा ससिद्धिकरणप्रकार वेत्तीति तेन नेत्रा भर्त्रा जयकुमारेण पश्चात् पूर्वोक्तक्रमानन्तर सखिनिष्काशनानन्तर वा शनैर्मन्द मन्द यथा स्यात्तथा शयस्य हस्तस्य चालनेन भीश्च ह्रीश्च निरकाशि निष्काशिता बहिष्कृताभूत्, तदैवारात्सत्वरमेव साध्व्या तया सत्यापि स्मितपुष्पाणा धारा परम्पराप्यपूजि सम्पूरिता ।।३८।।

जयाननेन्दुः सुदृगास्यपद्मश्रियान्वयं प्राप्य मुदेकसद्म ।
सानङ्गता किन्न यशोधना यदलम्बि वैरस्यविशोधनाय ।।३९।।

जयाननेन्दुरिति—जयस्यानन मेवेन्दुराह्लादकत्वात्, स सुदृश. सुलोचनाया आस्यमेव पद्म तस्य श्रिया शोभया महान्वय सम्बन्ध प्राप्याधुना मुदः प्रसन्नताया एकमद्वितीयं सद्म स्थानं बभूव । सेयमनङ्गता कामदेवपरिणतिरथवाऽनङ्गताऽसंघटितघटनाशिम.। वस्या किं खलु नयशोधना नोतिपरिवृत्तिरतएव चैषा यश एव धन यस्या. सा यशोधना किन्न भवति, किन्तु भवत्येव, यत्सा वैरस्य विद्वेषपरिणामस्य विशोधनाय यद्वा वैरस्यस्य नीरागपरिणामस्य विशोधनायालम्बि स्वीकृताभूत् ।। ३९ ।।

सुधाश्रयं प्रागधरं समाहावराङ्गपानेषु कृतावगाहा ।
सद्गा रतप्रान्तगतं मुहुर्वाऽववत्तरामुद्गतवेपथुर्वाक् ॥४०॥

सुधाश्रयमित्यादि—वाग्वाणी जयकुमारस्येति शेष । अवराया रलयोरभेदाव-बलाया. सुलोचनाया अङ्गपानेषु, कीदृशेषु ? आवराङ्गपानेषु वराङ्गपर्यन्ताङ्गस्वादनेषु कृतावगाहा, सती समीचीनाभा प्रभा स्फूर्तिर्यस्याः सा सम्भवती प्राक् प्रथम तु अधरमोष्ठ-देश सुधाया आश्रयं स्वर्गमेव समाह, यद्वा रतस्य प्रान्ते गतमनुभूत सुधाश्रयमधरं नीचै रूप गुणहीन समाह, तया तमेव मुहुर्वानुभूय पुनरुद्गतवेपथुः समारब्धसात्त्विकप्रकम्पना सम्भवती सैव वाक् तमेवाधर सद्गारतस्य वर्षस्य प्रान्तगत हिमालयपर्वतमिवा-वदत्तराम् ॥ ४० ॥

स्मितामृतांशैः परितोषितत्वात्तवोरु सम्वाहनमैमि सत्वात् ।
इत्युक्ति लेशेन तदुक्तदेशे कर पवित्रं कृतवानशेषे ॥ ४१॥

स्मितामृतांशैरित्यादि—हे सुन्दरि ! तव स्मितमेवामृतं तस्यांशैर्लेशै. परितो-षितत्वात्सन्तोषभावभागतत्त्वावह तवोर्वो सम्वाहन पादचम्पन मिति किल सत्वात् कृतज्ञतामाश्रितत्वादैमीत्युक्तिलेशेन एव प्रकारकवचनोच्चारणेन स जयकुमारस्तस्या. सुन्दर्या उक्तदेशे ऊरुयुगप्रदेशे पवित्र मृदुतरं कर हस्तमशेषे नीचैरारभ्योपरिपर्यन्तं सम्पूर्ण एव कृतवान् ॥ ४१ ॥

आप्तु कुचं हेमघट शुशोच सकोऽररं कञ्चुकमुन्मुमोच ।
चुकूज तन्व्या मृदुबन्धनश्वाभूद्रोमराजी प्रतिबोधभृद्वा ॥४२॥

आप्तुमित्यादि—स एव सको जयकुमारश्चौर इव तन्व्या. सुलोचनायाः कुचमेव हेमघट सुवर्णकलशमाप्तुमात्मसात्कर्तुं शुशोच चिन्तयामास, तदर्थं कञ्चुकनाम कुचाच्छादनवस्त्रमवाररं कवाटमुन्मुमोचोद्घाटयामास । तदानीमेव कशनमिति (?) मृदु सुकोमल बन्धनमेव श्वा कुक्कुरश्चुकूज शब्द चकार प्रतिबोधमार्यमिवेति यावत् । तदा रोमराजी लोमावली प्रतिबोधमृदभूत् जागरिता जाता । संहर्षवशाद्रोमाञ्चन-मभूदिति ॥ ४२ ॥

सदं चलं संप्रतिकर्तु मीश करोऽङ्गनावक्षसि तूद्यमी सः ।
अभूच्छुभाच्छादयदाशु भान्तं भुजालताभ्यां कुचकुड्मलान्तम् ॥४३॥

सदञ्चलमित्यादि—ईशास्य करो हस्तोऽङ्गना वक्षसि सम्यगञ्चलं छादनवस्त्रं संप्रतिकर्तुमपहर्तुमुद्यमी अभूत् । तदा सा शुभा लज्जावती आशु शीघ्रमेव कुचकुड्मलयोः स्तन कोरकयोरन्त प्रान्तं भुजालताभ्यां बाहुवल्लीभ्या माच्छादयत् । मा स्पृशताविति

---

१. 'वराङ्गमूर्धगुह्ययो' रित्यमर 'वराङ्गं मस्तके योनौ' इति विश्वलोचन. ।

सम्ववार तम् । भान्तं शोभनीयमित्येतत्कुचकुड्मलान्तस्यास्ति विशेषण । तु पुनर्वकारेण सहितं सवं च त लमर्थात् दल पल्लव प्रति कर्तुमुद्यमी यावदभूत्तावद्भ्रान्त कुड्मलान्त-माच्छादयदिति युक्तमेव ॥ ४३ ॥

बिलासवत्या उदितावकस्मात्पयोधरौ श्रीकलशाविवास्मात् ।
वितेनतुर्मङ्गलमुद्यतस्य जगद्विजेतुं रतिवल्लभस्य ॥४४॥
राजाभिषेकाम्बुघटौ स्मरस्य निधानकुम्भाविव यौवनस्य ।
रतेरिवाक्रीडधरौ धवेन प्रोद्घाटितौ स्त्रीस्तनकौ जवेन ॥४५॥
सुगमामेतौ

मुदञ्चभावेन कुचौ सुपीनौ करौ स्फुरद्धस्ततलौ च दीनौ ।
कुतोऽत्र पर्याप्तिमगच्छतां तौ नतभ्रुवश्चावनिपस्य भान्तौ ॥४६॥

मुदञ्चभावेनेत्यादि—नतभ्रु व सुलोचनाया कुचौ तावधुना मुदञ्चभावेन प्रमत्ति कृतोदञ्चनन सुपीनौ पूर्वापेक्षयापि पीनतरौ जातौ । च पुनरवनिपस्य भान्तौ शोभमानौ करौ तौ स्फुरत् समुञ्चद् हस्ततल यत्र तावतएव सकोचभावेन दीनावल्पपरिमाणौ जातावित्येवं तौ चात्र कुचमर्दने कुत कस्मात्कारणात् पर्याप्तिमनुकूलतामगच्छता न कथमपि ॥ ४६ ॥

मेरो शिलामूलघने प्रियायाः कुचोच्चये सोमतुजोऽभ्युपायात् ।
भूयोऽभिपातेन नखैः प्रकाममवापि भग्नैर्नखरेति नाम ॥४७॥

मेरोरित्यादि—सोमतुज सोमप्रभतनूजस्य जयकुमारस्य नखै कराग्रैरभ्युपायात् प्रयत्नविशेषात्समेत्य मेरोर्देवगिरे. शिलामूलवद्घनेऽतिशयकठोरे प्रियाया. सुलोचनायाः कुचोच्चये स्तनमण्डले भूय पुनः पुनरभिपातेन सम्पततेन हेतुना प्रकाममत्यर्थं यथा स्यात्तथा भग्नैश्छिन्नभिन्नाग्रभागैरेव तदानो खरास्तीक्ष्णा न भवन्तीति 'नखरा' इत्येतन्नाम—वाच्यताऽवापि लब्धा ॥ ४७ ॥

दृढं च यूनः करवारमाप्त्वाप्यपत्रतावापि किलाकुलेन ।
कुण्ठात्मकोरः कठिनेन तन्व्यास्तथापि नानामि मनाक् कुचेन ॥४८॥

दृढमित्यादि—यूनस्तस्य जयकुमारस्य करवार हस्तप्रहार किल निश्चयेना-कुलेन कल्पनान्तरमितेन तदानीं तेनापत्रता निश्छदताऽगुरुचन्दनादिकृतपत्ररचना-हीनताऽवापि तेन तन्व्या सुलोचनाया. कुचेन, तथापि कुण्ठात्मकेन सुदृढस्वरूपेणोरसा वक्ष स्थलेनेति हेतुना कठिनेन सहजकठिनेन चोर सहायमितेन तेन मनागपि नानामि नम्रता न स्वीकृता । तथा करवाल नामायुधप्रहार माप्त्वा तेनापत्रता वाहनहीनताऽवाप्ता पुनरपि तदधीनता न स्वीकृता । 'पत्र छदनमाख्यात पत्रो घोटक इत्यपि' ।

प्राप्योपहारं कमितुः करन्तु तन्व्याः प्रसन्नादुरसोऽपतन्तुः ।
मुक्तावली हास्यपरम्परा वा पपात तावद्विशदस्वभावा ॥४९॥

प्राप्येत्यादि—कमितुः स्वामिनः कर तु पुनर्हारस्य नामाभूषणस्य समीपमुपहारं तथा चोपहार पारितोषिकं प्राप्य तदा प्रसन्नात्प्रसत्ति गतात्तन्व्या सुलोचनाया उरसो वक्षःस्थलात् अपतन्तुः करसपर्केण त्रुटितसूत्रा विशदस्वभावा समुज्ज्वलरूपा सा मुक्तानामावली हास्यस्य हसनपरिणामस्य परम्परा वा सन्ततिवत् पपात । उपहारप्राप्तौ हास्यसभूतिर्युक्तैव तावत् ॥४९॥

वधूरस स्वामिकरप्रसारमवाप्य सद्यो निजहार हारः ।
स्वेदोदबिन्दुच्छलतोऽत्र मुक्तामालाविशालापि बभूव युक्ता ॥५०॥

वधूरस इत्यादि—स्वामिनो वल्लभस्य नृपस्य वा करप्रसार हस्तप्रसारं राजस्वविस्तार वावाप्य प्राप्य हारो मुक्तादाम वध्वा सुलोचनाया उरो वक्षस्तस्मात् सद्यो झटिति विजहार विहार कृतवान् । यथा कश्चिज्जनो नृपस्य राजस्वविस्तार दृष्ट्वा तद्देशादन्यत्र गच्छति तथा वल्लभकरप्रसारं दृष्ट्वा हारस्त्रुटित्वान्यत्र गत इति भाव । अत्र वधूरसि स्वेदोदबिन्दुच्छलतः स्वेदकणव्याजात् विशाला बृहत्परिमाणा मुक्तामाला मौक्तिकस्रक् युक्ता बभूव ॥५०॥

समस्त्यमुष्या हृदये सुकारे. समादरः श्रीगुणिनामुदारे ।
कुतोऽन्यथा स्थातुमशाकि हारैर्गुणच्युतैर्नात्र हताधिकारैः ॥५१॥

समस्तीत्यादि—शोभना कारि क्रिया यस्यास्तस्याः सुकारे 'कारि क्रिया नापिताद्यो.' इति विश्वलोचने । अमुष्याः स्त्रिया उदारे हृदये श्रीगुणिनां सज्जनानामेव समादरः श्रद्धापरिणामः समस्ति, इति निश्चयोऽन्यथा चेदेव नो चेत्तर्हि पुनरत्र गुणच्युतैर्डोरकरहितैर्निर्गुणैर्वा । अतएव हत प्रणष्टोऽधिकार पदप्राप्तिर्येषां तैर्हारैर्गलालङ्कारैस्तैः कुतो नाशाकि तत्रस्थातुमिति यावत् ॥५१॥

अकारि सच्छिल्पकृतः खरारेर्नखैर्विभुग्नैः कथमप्युदारे ।
स्त्रैदोदसिञ्जन्मृदुभिः पदं वार्मूले शिलोत्तानानिभे सबन्धोः ॥५२॥

अकारीत्यादि—सती समीचीना अन्वुरलङ्कृतिर्यस्यास्तस्या. सबन्धो स्त्रियाः 'अन्बुः स्त्रियामलङ्कार' इति विश्वलोचने । शिलोत्तानानिभेप्रस्तरसदृशे सुदृढे उदारे सविस्तारे दोर्मूले स्तनेखरस्य दुष्टलोकस्य कठोरवस्तुनश्चारिः सशोधकस्तस्य जयकुमारस्य सच्छिल्पकृतः सज्जननिर्मापकस्योत्तमशिल्पिनश्च विभुग्नैः कुण्ठभावमितैर्नखैः करापैः टङ्कैरिव तत्रत्यस्वेदोदेन घर्मजलेन सिञ्चद्भिरार्द्रभावं गतैरतएव मृदुभि क्रियाकुशलैस्तैः कथमपि कृत्वा पदमकारि स्थानमुपलब्ध परत्रापि पाषाणादौ सजलैरेव टङ्कैरुत्कुर्वन्ति शिल्पिन इति ॥५२॥

नखेरखानीह पयोधरे तु समुद्गमः श्री परिणाहनेतुः ।
तृतीयसम्पौरुषपादमेतुमजानिहेतुः किल सैव सेतुः ॥५३॥

नखैरित्यादि—इह सुलोचनाया पयोधरे स्तनमण्डल एव समुद्रे श्रीपरिणाहनेतुः श्रिया· सम्पदेयं परिणाहो विस्तारस्तस्य नेतु स्वामिनो जयकुमारस्य नखै. समुद्गमो यत्किञ्चिदप्युच्छूनव्रणसन्तानोऽखानि खनितः सैव किल तृतीयस्य सम्पौरुषस्य काम-पुरुषार्थस्य समुद्रसदृशस्य पारमेतु गन्तु हेतुः कारणभूत. सेतुर्जलमार्गोऽजानि (अज्ञायि) ज्ञातस्तेन जयकुमारेणेति ॥५३॥

सरोषदोषापनुदोऽपि वारिर्यतोस्ति लब्धा खल ते न खारी ।
सवक्षरा मञ्जुपयोधराभूर्विलोकयामोत्युदिताक्षराभूत् ॥५४॥

सरोषेत्यादि—सरोष रोषपूर्वक यथा स्यात्तथा दोषामाश्लेषकर्तुर्भुजामपनुदति परिहरतीति तस्या स्त्रिया , हे खल ! निर्विचारकारिन् ! ते तव नखारी रलयोरभेदा-न्नखाली करजततिर्यतो यस्माल्लब्धा परिप्राप्ता ततो मम मञ्जू पयोधरौस्तनौ यत्र वभूता भूर्वक्ष स्थली सन्ति सुस्पष्टान्यक्षराणि केलिप्रकाशकानि यस्यामेवभूता जाता । तथा हे खल ! तिलकल्कविशेष ! यतस्ते खरी करञ्जिका न लब्धा तत एव मञ्जु पयोचित पयो दुग्ध धरतीति मञ्जुपयोधराभू· गोस्थितिः सा सुष्ठु न क्षरति न दुग्ध ददातीति सवक्षरा जाता, इत्येव मुदितान्यक्षराणि यस्या सा वारिर्वागभूत् ॥५४॥

एवं समुत्तानितजन्मपत्रामत्रासयन्नाह पुनः पवित्राम् ।
नवग्रहोत्साहमयोजयोऽपि न येन संलग्नकथा व्यलोपि ॥५५॥

एवमित्यादि—एव पूर्वोक्तरीत्या समुत्तानितं समुपलब्ध जन्म येस्तानि समुत्तानित-जन्मानि पदानि त्रायते ता पवित्रा पुनरत्रासयन् किञ्चित्कालमसम्भुञ्जान·, नवे ग्रहे नूतने समालिङ्गने उत्साहमयो जयोनाम नृपोऽप्याह कथितवान् येन सलग्नकथा समासक्त-वार्ताऽऽलिङ्गनकरणप्रकारो न व्यलोपि न विस्मृत । तथा चैव समुत्तानित विस्तारितं जन्मपत्र यया ता नवग्रहेषु सूर्यादिषूत्साहमयस्तेषां सचारप्रकारपरिज्ञायक इत्यर्थो येन सलग्नस्य समुचितराशिसमुदयस्य कथा न व्यलोपि कुत्रस्थो ग्रहः कीदृशं फलं ददातीति यो जानाति स आह ॥५५॥

खिन्नास्यकेनासितकेशि नीचैर्गतेन दोषाकरतापि येन ।
निषिद्धयते किन्तु तनौ तवोच्चैस्तनेन सम्यग्गुरुणा हितेन ॥५६॥

खिन्नास्येत्यत्यादि—हे असितकेशि ! श्यामालकधारिणि ! येन तवाङ्केन दोषा-करता चन्द्ररूपता आपि समुपलब्धा तेनास्यकेन मुखेन नीचैर्गतेनाधःकृतेन त्व खिन्ना

व्यर्थमेवाकुलिता भवसि, किन्तु तव तनौ शरीरे उच्चैस्तनेन समुच्छ्रितरूपेण कुचेन सम्यग्गुरुणा गुरुतरेण तेन हि तवावयवेन निषिद्धयते मुखं नीचैः कर्तुं वार्यते किं पुनरन्येनाक्त्यावृतेन । तथा तव तनौ लग्नकुण्डलके नीचैर्गतेन नीचस्थानस्थितेन येन केनापि ग्रहेण दोषाणामाकरः स्यात तत्ता दूषणकारित्वमपि प्रकाशित ततस्त्वमनेन दुःखेन खिन्नासि किन्तु उच्चैस्तनेन परमोच्चस्थानस्थेन कर्कराशिगतेन गुरुणा बृहस्पतिना हितेन कल्याणकारकेण सम्यङ्निषिद्धयेते सा दोषाकरता निवार्यत इति ।।५६।।

पयोधरालिङ्गन एव कृत्वा समुत्करं गोमयमात्तसत्त्वात् ।
लसत्यथास्यामृतवारि कामधेनो ! त्वयारब्ध मिदं ललाम ।।५७।।

पयोधरेत्यादि—हे कामधेनो ! वाञ्छितकारिणि ! पयोधरालिङ्गन एवात्तसत्त्वात् सहजस्वभावात् गोमय सबुक्तिरूपं पक्षे गोपुरीषसमुत्करं कृत्वा त्वयेदमस्य जनस्यामृतकारि आनन्ददायक क्षीरसम्पत्ति वर वा । अथ तत एवेदमारब्धं ललाम मनोहरं लसति भाति आस्यामृतकारि हास्यकारक वा । पयोधरालिङ्गने गोदोहनकाले गोमयगोमूत्रकरणं गोस्वभावः ॥ ५७ ॥

रते च ते संकुचतीह हृद्यत्कौमारमुत्सृज्य तु मेऽतिहृद्यम् ।
गुणानुरागी करमर्पयामि ह्यस्योपकारं न हि विस्मरामि ।।५८।।

रते चेत्यादि—हे रते ! रतिवद्रूपवति ! ते हृत् हृदय यत् कौमारं कुमारकालमुत्सृज्य सकुचति समीचीन कुच पूर्णमस्ति तथा कौमार सुवर्णरूपत्वमुत्सृज्य सम्वितीयं सकुचति ततोऽथवा कौ पृथिव्यां मार विघ्न विहायेह संकुचति संकोचमञ्चति ततो मे मह्यं हृद्य प्रीतिकारकमस्ति । 'मारो विघ्ने मृत्यौ स्मरे वृषे' इति विश्वलोचने । ततोऽस्योपकारं महिष्णुतालक्षणं न हि विस्मरामि किन्तु गुणानुरागी भूत्वा कृतज्ञतया करमुपहारस्वरूप हस्तमर्पयामि ॥ ५८ ॥

श्रीः सा हृतानेन किलेति कृत्वा ममेभकुम्भस्य तदेकसत्त्वा ।
विमर्दयामास कुचाङ्कमस्याः स कामरामासुषुमेकमण्याः ।।५९।।

श्रीरित्यादि—तथा चानेन तव कठोरेणावयवेन ममेभकुम्भस्य हस्तिमस्तकस्य तस्यैवैकस्य सत्त्वमधिकारो यत्र सा तदेकसत्त्वा सा प्रख्यातप्राया श्रीः शोभा हृता, इति कृत्वा स्वमनसि निधाय किल कामरामाया रतिदेव्या या सुषमा सुन्दरता तस्या यैका मुख्या मणिः श्यामिका ततोऽप्यधिकसौन्दर्यतया तत्कोतिलोप्त्रीत्यर्थस्तस्या अस्याः सुलोचनायाः कुचाङ्कं विमर्दयामास ॥ ५९ ॥

पयोभुवः स्पर्शकृतेति मन्ये कलप्रवालेन कुलीनकन्ये ।
तवैतदागोऽत्र विशोधयामि समर्प्य सन्मौलिमणिं नमामि ।।६०।।

पयोभुव इत्यादि—हे कुलीनकन्ये ! अकम्पनराजपुत्रि ! मम कलप्रवालेन करपल्लवेन तव पयोभुवः कुचस्य स्पर्शकृताऽऽलिङ्गनकारकेणाथवा कलप्रवालेनाबोध-बालकेन तत्र पयोभुवः पानीयस्थानस्य जलकलशस्य स्पर्शकृता यदागः कृतमपराद्धं कुलीन-जलघटस्य बालकेनास्पर्शनीयत्वात् तदेतदागोऽहं सन्मौलिमणिं मुकुटरत्नमर्पयित्वा विशोधयामि परिहरामि नमामि च क्षमाप्रार्थनां करोमि । मम कोमलकरोऽसौ तव कठिन-कठोरकुचप्रदेशस्योन्मर्दनकर्मणि न समर्थः केवलं स्पर्शनमेव कृतमिति समाश्वासनं दत्त जयेन ॥ ६० ॥

साऽऽरोप्यहो सानुमतीव तेन वाहेन कृत्वा नवला बलेन ।
सदास्यशीतांशुनिचुम्बनेच्छानुभूतयेऽङ्के स्वयमुन्नतेच्छा ॥६१॥

सेत्यादि—सत आस्यस्य मुखस्यैव शीतांशोश्चन्द्रस्य यन्निचुम्बनमास्वादनं तदिच्छानुभूतये सा नवला नवपरिणीताऽत एवाच्छा स्पृहणीया तेन बलेन बल्लभेनानुमति सहिता सानुमतीव किल ततो वाहेन कृत्वा भुजेनासाद्य स्वयं स्वस्योन्नतेऽङ्के उत्सङ्गे आरोपि धृता । तथा च समीचीना आस्या स्थितिर्यस्य तस्य शीतांशोर्निचुम्बनं सस्पर्शनं तदिच्छानुभूतये सा नबला बलहीना सती च वाहेन वाहनेन कृत्वा बलेन सामर्थ्य-सम्पादनेन सानुमति पर्वत इवोन्नतेऽङ्के स्थाने कस्मिश्चिदप्यारोपीति । बालस्वभावतया चन्द्रस्पर्शनवाञ्छा युक्तैव । तथा घोटकादिष्वारोप्य पर्वतादिषु समारोपणमपि तदर्थ-युक्तमेव तावत् ॥ ६१ ॥

बलादुपालभ्य मुखं प्रबन्धकर्तर्यथो चुम्बति नीविबन्धः ।
सुमेषुचापभ्रुव एवमापद्भियेव सद्यः शिथिलत्वमाप ॥६२॥

बलादित्यादि—सुमेषुचापभ्रुव कामदेवधनुराकारकभ्रुकुटीमत्या सुलोचनाया मुखं बलात्कारेणापालभ्य समासाद्याथ पुनः प्रबन्धकर्तरि प्रणेतरि तच्चुम्बति सति तस्या नीविबन्धोऽधोवस्त्रग्रन्थिरप्येवं पूर्वोक्तरीत्या बलात्कारकरणप्रकारेणापद्भियेव सद्यः शीघ्रं शिथिलत्वमाप सहजशिथिलतां जगाम न किन्तु भयेनेतीन शब्दवाच्यार्थः ॥ ६२ ॥

सद्यो विनिर्यान्तमधोंऽशुकं साऽवलम्बितुं लम्बितबाहुवंशा ।
बभूव तावत्सहकृत्तयेव कुचाञ्चलं निर्व्रजदेतदेव ॥६३॥

सद्यइत्यादि—सद्यो निष्कारणमेव विनिर्यान्तं निर्गच्छन्तमधोंऽशुकमवलम्बितुं स्तम्भयितुं लम्बितौ प्रवर्तितौ बाहुवंशौ भुजदण्डौ यया सा तादृशी सुलोचना बभूव यावत्तावदेव सहकृत्तयेव सहकारिभावनयेव तत्तस्याः कुचाञ्चलं निर्यत् स्खलितं बभूव ॥ ६३ ॥

कृष्टेंऽशुके गूढमुरोभुजाभ्यां स्रस्तेऽन्तरीये वृतजानु नाभ्याम् ।
बद्धेक्षणे नेतरि तत्प्रतीपकर्णोत्पलेनास्तमितः प्रदीपः ।।६४।।

कृष्टइत्यादि—अंशुक इत्यनेन कुचाञ्चले कृष्टेऽपसारिते तया सुन्दर्या भुजाभ्यामुरो गूढमाच्छादित । पुनरन्तरीयेऽधोवस्त्रे स्रस्ते वृते सकलिते च ते जानू जङ्घे यत्र तत्तथाभूतं भूत्वा च तस्याः, अतः पुनर्नेतरि प्राणेश्वरे नाभ्यामनावरणभूतायां तुण्डिकायां तु बद्धेक्षणे संधृतनेत्रे सति तस्य तन्नयनस्य प्रतीपः सौन्दर्यसाम्यस्पर्द्धनेनारिस्वरूपं यत्कर्णोत्पल तेन प्रदीप एवास्तमितो मुदितो यातो नयनव्यापारो न भूयादिति ।। ६४ ।।

हृतप्रदीपेऽपि मयास्ति पीततमा निशा किं खलु सम्प्रतीत. ।
बालेति साश्चर्यसिता न नेतुर्ददाद् दृशं सन्मणिमौलये तु ।।६५।।

हृत प्रदीप इत्यादि—सम्प्रति मया हृतप्रदीपे मुदितदीपकेऽपीतः क्षेत्रेऽसौ निशा पीततमाः प्रणष्टान्धकारा किं कुतः कारणादस्तीति न जाने, इत्येव सा बाला मुग्धस्वभावाऽऽश्चर्येण प्रकृतविस्मयेन सिता श्वेततरा भवती नेतुः स्वामिनः सन्मणिमौलये प्रशस्तरत्नखचितमुकुटाय तु पुनर्दृशं चक्षुर्नादात् यतः तमःप्रणाशः ।।६५।।

न्यधात्सतो मूर्धमणौ स्वकर्णात् कञ्जं च सत्कर्तुमिवात्तवर्णा ।
भूमण्डलेऽस्मिन्मणिकुण्डले तु समुद्धरन्ती द्युतिदानहेतू । ६६।।

न्यधादित्यादि—आत्तवर्णा लब्धप्रबोधा पुनः सा सतो महाशयस्य मूर्धमणौ मुकुटरत्नस्योपरि सत्कर्तुं पूजयितुमिव स्वकर्णात्कञ्जं कमलं कर्णपुष्पमादाय न्यधाद्दधौ तदावरणकरणार्थं किन्तु अस्मिन्भूमि मण्डले द्युतिदानहेतू प्रदीप्तिसम्पादननिमित्ते ते स्वकीये मणिकुण्डले रत्नमयकर्णभूषणे समुद्धरन्ती अभिव्यञ्जयन्ती सती सा भर्तुः-किरीटाच्छादनकरणे प्रत्युत द्वे कर्णकुण्डले प्रकटयाञ्चकारेति मुग्धाजाति. ।।६६।।

चरन्नरं प्रेमिकरः प्रतीरेऽत्र नाभिकूपे पतितो गभीरे ।
काञ्चीगुणं प्राप्य पुनः स नाम जवेन तन्व्या जघनं जगाम ।।६७।।

चरन्नित्यादि—अत्र सुलोचनाया अङ्के प्रतीरे चरन् इतस्ततः पर्यटन् प्रेमिकरो जयकुमारहस्तो गभीरे नाभिकूपे पतितोऽपि सन्नरं शीघ्रं स एव पुनर्नाम काञ्चीगुणं प्राप्य जवेनैव तन्व्या जघनं नामावयव जगाम प्राप्तवान् ।।६७।।

वक्षोऽथ कक्षागुणतत्परेण पीनोरुकस्तम्भमितः करेण ।
परामृशन् प्रेमयुजो रराज विमोचयन्वा मदनेभराजम् ।।६८।।

वक्ष इत्यादि—अथानन्तरं इतोऽग्रे कक्षागुणे काञ्चीदामनि तत्परेण करेण हस्तेन

पीनोरुकस्तम्भं स्थूल सक्थिस्तम्भ परामृशन् पुनः पुनः स्पृशन् प्रेमयुजो जयकुमारस्य कक्षश्चतुर. सामर्थ्यवान्वा कर इति शेषः मदनेभराज कामकरिराज विमोचयन्वा रराज शुशुभे । वेत्युत्प्रेक्षायाम् । 'कक्षा तु गृहे काञ्चीप्रकोष्ठयोः' इति विश्वलोचने ॥६८॥

आवर्तवत्या वलिनिम्नगाया मध्यंगतः पीनपयोधरायाः ।
समन्वुकूलं स समैच्छवेवं चकार वाराकरवारमेव ॥६९॥

आवर्तवत्या इत्यादि—पीनपयोधराया अतिशयोच्चकुचाया आवर्तवत्या वक्षिणा वर्तात्मिकनाभिसहिताया वलिनिम्नगाया उदरस्थितत्रिवलिनामनद्यास्तस्या मध्यंगतः सन्नुवरवेशमाश्रितो भवन् सम श्रेष्ठ दुकूल वस्त्रमन्तरीयाभिध समैच्छत् समाकृष्टुमभ्य-वाञ्छत् । एव तदा वारा सा नवोढा करस्य वार निवारणमेव चकार स्वामिसवस्तहस्त-स्यापकर्षण चकार । अथवा स चौरवद्दुकूलमपहर्तुमगच्छत्तदा सा करवालं नामा-युधं दर्शयामासेत्यपि सन्ध्येयस्तया पीन पयोधराया अनल्पजलसहिताया आवर्तवत्या भ्रमणसहिता आवलयो लहरयो यस्यां सा च सा निम्नगा च तस्या मध्यंगतो ब्रुडन् सन् स एवं स समीचीनान्वु· स्थितिर्यत्र तच्च तत्कूल तट च तत् समैच्छत् तदा वारा नाम बालस्वभावापि सा करमेव वार बालक स्वकीय लघुहस्तमेवालम्बनार्थं चकार ददाविति यावत् ॥६९॥

करस्य संहर्षधरस्य नाभ्यामाकर्षतो वस्त्रमदः कराभ्याम् ।
विरोद्धुमेतां कलिमप्रदृश्यां काञ्च्या शिशिञ्जे वलयैश्च तस्याः ॥७०॥

करस्येत्यादि—तस्या नाभ्यां वस्त्रमाकर्षतः करस्य जयकुमारहस्तस्यादः कराभ्या-ममुष्या हस्ताभ्या सह संहर्षधरस्य स्पर्द्धावत एता मितरेतरसञ्जातामतएवाप्रदृश्यामनव-लोकनीयां कलिं विरोद्धुं मास्मभूयादेषां कलहसम्भूतिरिति सम्वदितुमेव काञ्च्याः कटि मेखलाया वलयैश्च शिशिञ्जे सशब्दित तावत् ॥७०॥

तनूदरि त्वत्तनुमध्यमेतत् किमुष्टिसंवाह्यमपीति मे तत् ।
शतच्छदोदारकरस्य नीविं निराचकारेति मिषात् स जीवी ॥७१॥

तनूदरीत्यादि—हे तनूदरि ! स्वल्पोदर धारिणि ! एतत्त्वत्तनुमध्यं कटिस्थानं शतच्छदवत्कमलवदुदार. सुविशालः करो यस्य तस्य मे तदेव मुष्टिसंवाह्यं मुष्टिना ग्रहणयोग्यमपि किं भवितुमर्हतीति मिषात् स समान सदृश जीवन सधर्मिण्या सह स जीवी जयकुमारो नीविं निराचकारेति ॥७१॥

पुरारुणद्गाढमथादृढेन करेण नीविं न नेत्यनेन ।
पदानुवादेन रतेरसाक्षिण्यभूदिवानन्दनिमीलिताक्षी ॥७२॥

पुरेत्यादि—सा नवोढा पुरा सर्वप्रथमप्रसङ्गे तु नीविं गाढमरुणत् वृढतया सधृतवती, अथ पुनर्द्वितीयसङ्गमे किञ्चिल्लज्जापगमात्तामेवावृढेन प्रशिथिलेनैव करेणारुणत्, ततः पुनरथ तृतीयसंगमे च नीविं केवलं न नेत्यनेन पदानुवादेन नेवं नेवमित्युक्तिमात्रेणैव न्यषेधयन्नतु करेणारुणत् । ततश्च पुनरनन्तरं रते रतक्रिया या असाक्षिणीवानभिज्ञेवाथ च रते प्रियसङ्गे योऽसौ रसस्तत्राक्षिशालिनीवानन्देन निमीलिते अक्षिणी यस्याः साभूत् ॥७२॥

वलित्रयोपासितविग्रहाय करद्वयी चापलमाप सा यत् ।
सम्भावयाम्यत्र तु तं तृतीयं सुदीर्घसूत्रं पुनरन्तरीयम् ॥७३॥

वलित्रयेत्यादि—वलित्रयेण नामावयवविशेषेणाथ वीरत्रयेणोपासितो यो विग्रहः शरीरं स्त्रिया रणस्थलं च तस्मै सा यूनः करद्वयी चापलमाप तु पुनर्यदत्र तृतीयमन्तरीयं नाम स्त्रिया अधोवस्त्रं तदह दीर्घसूत्रं प्रलम्बमानतन्तुप्रायमतिशयेनालसं च सम्भावयामि । जयस्य करौ तु समालिङ्गनोत्सुकौ जातौ किन्तु शाटकमत्रान्तरायमभूदिति यावत् ॥७३॥

समन्तरीयोद्भिदि सम्पतन्ती त्रपापगायां स्मरवैजयन्ती ।
प्रसङ्गतः　　सगतकण्टकत्वादभूदिदानीमुपलब्धसत्त्वा ॥७४॥

समन्तरीयेत्यादि—समन्तरीयस्य सुप्रशस्ताधोवस्त्रस्योद्भिदि सम्भेदनाया त्रपापगाया लज्जासरिति सम्पतन्ती सम्पातमाश्रयन्ती स्मरस्य नाम कामदेवस्य वैजयन्ती पताकेव सा सुलोचना तदानीमेव प्रसङ्गतः प्रियस्य ससर्गतोऽथवानुषङ्गिकरूपेण सङ्गतकण्टकत्वात्समुद्भूतरोमाञ्चत्वात् सलग्नशङ्कुत्वाच्चोपलब्धसत्त्वा समारब्धसहजानन्दा तथा चानिपतनशीलाभूत् । संकटसमये नद्या पतितुमिच्छन्ती शङ्कुप्रभृतिभिः सघट्य पुनः स्तब्धा भवति तथेयमन्तरीय भेदकाले त्रपानुभावमुपयाता तदानीमेव सश्लेषानन्दसम्भवेन रोमाञ्चेनावलम्बिताभूदिति ॥७४॥

पत्यौ परीरम्भ परेऽभिजात मानन्द सन्दोहमिहाभ्युपात्तम् ।
अमेय मन्तः परिमायितुं द्रागिय चकम्पे किल हर्षरुन्द्रा ॥७५॥

पत्यावित्यादि—पत्यौ प्राणेश्वरे परीरम्भपरे आलिङ्गनसंलग्ने जाते सति सम्प्रत्यभ्युपात्तमभिजातमुत्तममानन्दसन्दोहं यदन्तरभ्यन्तरे हृद्यमेयं सहजेनामान्तं द्राक् शीघ्रमेव परिमायितुं किलेयं सुलोचना हर्षेण रुन्द्रा सम्फुल्लपरिणामा सम्भवन्ती चकम्पे कम्पिताभूत् ॥७५॥

नरे हरत्यंशुकमाततान कोदण्डकं कर्णपयोभुवा न ।
नीव्यां करं कुर्वति सन्दधाना स्मरं सुमास्त्रं किमु ताह मानात् ॥७६॥

नर इत्यादि—नरे प्रणेतरि चौरे वांशुकं कुचाञ्चल हरति सति तदानीं सुलोचना तन्निषेधार्थं कोदण्डकं भ्रूप्रदेशं धनुर्वाऽऽततान चुकोपेत्यर्थः। सैव पुनस्तस्मिन्नरे नीव्या-मन्तरीयबन्धनस्थाने मूलधने च करं कुर्वति सति कर्णपयोभुवा श्रवणस्थितेनोत्पलेन सन्दधाना प्रहरन्तीत्येव सा मानादभिमानात् स्मर मदन सुमास्त्र किमुतनाह समाहैव। 'कोदण्ड कार्मुके भ्रुवि', 'नीवी तु स्त्रीकटीवस्त्रग्रन्थौ मूलधने स्त्रियाम्' इति विश्व-लोचने ॥७६॥

हरत्यधीशे वसन कटीतः ह्रीर्यातु संश्लेषविरोधिनीतः ।
स्मिताम्बुभिः सिक्तमुरोजदेवबिम्बं विनम्राननया तदेव ॥७७॥

हरतीत्यादि—पूर्वोक्तरीया निषेधनेऽपि न निवर्त्य पुनरधीशे स्वामिनि कटीतो वसनं हरत्यपसारयति सति सा क्षणान्तरे विनिवृत्तमाना सती तदर्द्धसम्मतिरूपत्वेन, अथ इतः सम्भवन्ती ह्रीर्लज्जा या सश्लेषस्य पतिप्रसङ्गस्य विरोधिनी सा यातु निर्गच्छतु, इत्येव स्मिताम्बुभिरीषद्धास्यजलैरुरोजदेवबिम्ब स्तनाभिधानदैवतप्रतिमान तत्प्रसिद्ध सिक्तमभिसेचित तया विनम्राननया नतमुख्या स्त्रियेति ॥७७॥

स्वमन्तरार्द्रत्वमुताह सम्यगनारतप्रेमरसैकगम्यम् ।
वपुर्दृढाश्लेषिणि यूनि वासःक्नोपं पयो मुञ्चदनङ्गभासः ॥७८॥

स्वमित्यादि—तत्तदाऽनङ्गभासोऽनङ्गस्य कामदेवस्य भाः प्रभावो यस्यास्तस्याः स्त्रिया· 'भा प्रभावे रुचि स्त्रियाम्' इति कोषात्। तस्या अनारतस्य निरन्तरसंजातस्य प्रेमरसस्यैकमनन्यतया गम्यमधीन वपु· शरीर तद्यूनि तरुणवयस्वे स्वामिनि दृढाश्लेषिणि प्रगाढालिङ्गनवति सति वास.क्नोप वस्त्रार्द्रत्वकर पयः प्रस्वेदात्मकं जल मुञ्चत् सन्दवत् तावत् स्व स्वकीयमन्तरभ्यन्तरस्यार्द्रत्व सम्यक् स्पष्टतयाऽऽह। आर्द्रत्वाभावे पय.प्रख्या-पनासम्भवात् ॥७८॥

चित्तेशचन्द्रस्य करोपलम्भे त्वानन्दसिन्धुर्द्रुतमुज्जजृम्भे ।
बहिर्बभूवाब्जदृशः सदेवंस्वेदापदेशादुदकं तदेव ॥७९॥

चित्तेशचन्द्रस्येत्यादि—चित्तेशो हृदयेश्वरः पतिः स एव चन्द्र आह्लादकरत्वात्तस्य करोपलम्भे हस्तसस्पर्शे किरणसङ्गमे च संजाते सति, एव तदाब्जदृशः कमलनयनायाः आनन्दसिन्धुर्हर्षसमुद्रो द्रुतं तत्कालमेवोज्जजृम्भे उच्छलितोऽभूत् चन्द्रसंसर्गे समुद्रोच्छलनस्य युक्तिसंगतत्वात् ततस्तत्सदुदकमेव स्वेदापदेशाद् बहिर्बभूव निर्जगामेति ॥७९॥

दीर्घाङ्गुलिः सङ्गवतो नृशद्रेः करोऽतिरिक्तोऽप्युदरे दरिद्रे ।
विसंकटं श्रोणितटं तदर्थवत्याः समाप्तुं किमभूत्समर्थः ॥८०॥

दीर्घाङ्गुलिरित्यादि—सङ्गवतः समागमं कुर्वतो नृशक्रे नरेन्द्रस्य जयकुमारस्य दीर्घाङ्गुलिरायतकरशाल करो हस्तो तदर्थवत्याः तस्य राज्ञोऽर्थवत्या अभिलाषपूरिकायाः सुलोचनाया दरिद्रे कृशेऽल्पपरिमाण इत्यर्थ उदरे जठरप्रदेशे अतिरिक्तो अतिशयेन रिक्त एवासीत् पूर्णतयास्थानमनाप्नुवन् अपिवभूव । सोऽपि विसकट विस्तीर्णं श्रोणितटं कटघथः पुरोभागं समाप्तुं सम्यक्प्रकारेण प्राप्तुं किं समर्थोऽभूत् नैव सोऽपि तत्र पर्याप्ति तामवापेति ॥८०॥

वारा यथारात्प्रतिरोमकूपमपूरि वारापि तथापि भूयः ।
न वारितामाप पुनीतकेश्या दत्वा दृशं कौतुकतोऽङ्कके़ऽस्याः ॥८१॥

वारेत्यादि—वारा रलयोरभेदाद् बाला नवयौवना सा रोमकूपं रोमकूपं प्रति प्रतिरोमकूप वारा जलेनापि यथाराच्छ्रीघ्रमेवापूरि तथापि भूयोऽस्याः पुनीतकेश्या ललितालकाया अङ्कके शरीरे कौ तु स्थले कतो जलनिमित्तादृशं दत्वा वारितां जलभावं नापेति विस्मयोऽथ च कौतुकतो विनोदभावेन दृश दत्वा पुनस्तां वारितां प्रत्यावर्तितां नाप । अथवा तत्र दृशं दत्वा नवो नवीनोयोऽरिर्वैरी तत्तामाप । समुद्गतं स्वेदजलमपि तदङ्गाव लोके बाधाकरमन्वभूत् किमुतान्यत् ॥८१॥

प्रियाश्रितैः प्रागतुषन्नरेन्द्र आभूषणैर्यैः परिणामकेन्द्रः ।
तदा तदङ्गे क्षणविघ्नकृद्भ्यस्तेभ्यो विरक्तोऽपि विकारकृद्भ्यः ॥८२॥

प्रियाश्रितैरित्यादि—परिणामानां विविधभावानां केन्द्रः स्थानभूतो नरेन्द्रो राजा जयकुमारः प्राक् समागमात्पूर्वं प्रियाश्रितैर्बल्लाभाधृतैर्यैराभूषणैरलङ्कारैरतुषत्संतुष्टोऽभूत् स नवा समागमावसरे तस्या स्त्रिया अङ्गानामीक्षणेऽवलोकने विघ्नकृद्भ्योऽन्तरायं कुर्वद्भ्योऽत एव विकारकृद्भ्यो वैचित्र्यकृद्भ्यो आभूषणेभ्यो विरक्तोऽपि रागरहितोऽप्यभूदितिशेषः 'न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ' इति प्रसिद्धेः ॥८२॥

दृष्ट्वा दृष्टा मुहुरुत्सवेन यालिङ्गितालिङ्ग्य भृशं धवेन ।
अचुम्बि बाला परिचुम्बितापि सा नूतना तृप्तिरनूतनापि ॥८३॥

दृष्ट्वेत्यादि—या बाला तरुणवयस्का सुलोचना धवेन स्वामिना जयकुमारेण दृष्ट्वा समवलोक्यापि मुहुर्वार वारमुत्सवेन तथैव प्रवृद्धेनोत्साहेन दृष्टावलोकिताभूत् । याऽऽलिङ्ग्य संस्पृश्यापि भृशं भृशं पुनः पुनरालिङ्गिता । या चुम्बिताऽधराबिम्बास्वादितापि भृशमचुम्नि चुम्बनविषयीकृता । यतः सा नूतना नूतनायां रुचिरवयभाविनी अनूत (अनु + उत) पुनरपि तृप्तिर्नापि न प्राप्ता तदालिङ्गनादीच्छानिवृत्तिर्नाभूत् किन्तु अनूतना तृप्तिरपि यथोत्तरं नूतनापि नवीनेवानुभूता ॥८३॥

योग्येषु भोग्येष्वपि सम्प्रतीकेष्वन्येषु सम्प्रीतिमतो जनीके ।
रुचिर्हि सर्वप्रथमाधरे तु माधुर्यमेवात्र समस्ति हेतुः ॥८४॥

योग्येष्वित्यादि—अन्येषु ओष्ठात्परेषु सम्प्रतीकेषु अवयवेषु योग्येषु यथोचितेष्वत एव भोग्येषूद्भोगयोग्येषु सत्स्वपि सम्प्रीतिमतो वल्लभस्य सर्वप्रथमा रुचिर्जनीके स्त्री-सम्बन्धिन्यधर एव जाता । अत्र माधुर्यमेव हेतुः समस्ति ॥८४॥

सपक्षमादष्टवति प्रवालोपमं तु नेतर्यधरं त्रपालोः ।
अकूजि सम्यग्वलयाकुलेन ससाध्वसेनेव पुनः शयेन ॥८५॥

सपक्षमित्यादि—त्रपालोर्लज्जावत्या अधरमोष्ठप्रदेशं यत्खलु प्रवालोपमं प्रवलालस्य विद्रुमस्याथवा तु किसलयस्योपमा यत्रेति सपक्षं तुल्यधर्मिणमादष्टवति सन्दशति सति नेतरि प्राणप्रिये तु पुनः सम्यग्वलयाकुलेन कङ्कणसहितेन शयेन हस्तेनापि ससाध्वसेनेनेव भययुक्तेन खलु, यथाऽधरं दष्टवांस्तथा मामपि कच्चिद्दशेदिति सम्यग्यथार्थमेवा-कूजि ॥८६॥

न सा कृशाङ्गी विजगाह सम्यक् प्रियस्य वक्ष परिणाहरम्यम् ।
स्प्रष्टुं भवानुच्चकुच सुकेश्याः शशाक किं तत्परिरम्भणेऽस्याः ॥८६॥

न सेत्यादि—तत्परिरम्भणे परस्परसमालिङ्गने मिथुनस्य सा सुलोचना यतः कृशाङ्गी-त्यस्थूलशरीरा ततः परिणाहरम्यं सुविस्तृतं प्रियस्य वल्लभस्य वक्षःस्थलं तत् सम्यङ् न विजगाह अवगाहयितुमर्हा न बभूव तथैवास्याः सुकेश्या उच्चकुचमतिशयोन्नतं स्तन-स्थलं स्प्रष्टुं भवानपि शशाक किं, किन्तु न सहजेन शशाकेति ॥८७॥

कुचोच्चये संचरता जयेन सद्धारभासारमिताश्रितेन ।
सम्भावनाभीप्सितनिम्नसिद्धिर्यत्राभितश्चोवलनामविद्धि ॥८८॥

कुचोच्चयेत्यादि—कुचोच्चये सुलोचनायाः स्तनमण्डले सञ्चरता सस्पर्शनं कुर्वता जयेन यत्र चासमन्तात्सारमासारं सद्धारं समीचीनं हारं नामाभूषणं श्रितेन, अथवा समीचीना व्यवधानरहिता धारा यस्य तं सद्धारमासारं प्रसारं जलपूरमित्यर्थं तं श्रितेन, सम्भावनाभीप्सितनिम्नसिद्धि समीचीनो भावः स्थितिर्यस्यास्सा सम्भावा सा चासौ नाभिश्च तया तस्या वेप्सिता निम्नगस्याधःप्रदेशस्य सिद्धि, तथा सम्भावनामिरभी-प्सिता या निम्नसिद्धिरिता प्राप्ता यत्र च, अभित इतस्ततः पर्यन्ततो होति निश्चयेनो-वलनामविदस्तीति उवकं जलं लाति संवधातीति तदुवलं जलप्रायस्थलमथ रत्नयोरभेदादुवर इति च नामविद् ॥८८॥

स्त्रियोऽन्तरीयेऽपि समुन्नतातः बभूव राज्ञः करसन्निपातः ।
कक्षाकलाकैरविणीव यत्रन्यमीलि नेत्राब्जयुगेन तत्र ॥८९॥

स्त्रिया इत्यादि—स्त्रियाः सुलोचनाया अन्तरीयेऽधोवस्त्रे मुद्रा बन्धनग्रन्थिचिह्न-विशेषस्तया सहित समुद्रोऽथ च वारिराशिस्तत्ततो राज्ञो जयकुमारस्य चन्द्रमसो वा करसन्निपातो हस्तप्रयोगो रश्मिसंसगो वा बभूव, यत्र कक्षाकला रसना कलापततिरेव कैवल्लभकरस्पर्शजातहर्षे रविणी शब्दायमाना, अथवा कैरविणी कुमुद्वतीव बभूव । तत्रैव नेत्राब्जयुगेन नयनकमलद्वितयेन न्यमीलि मीलनमङ्गीकृत लज्जानुभावयुक्तानन्दसन्दोहेन चन्द्रमस सम्प्रयोगेणेवेति यावत् ॥८९॥

शास्तारमाप्त्वानुनयन्तमस्मद्दिगम्बरत्वं समगादकस्मात् ।
आनन्दसन्दोहपदैकभूवन्न सान्वभूद्यत्किमतो बभूव ॥९०॥

शास्तारमित्यादि—अस्मादनन्तरं सा सुलोचना, हे सुन्दरि ! किं बिभेषि ? न न किमप्य ते विकरोमि, त्रपाप्यत्र पापिनीत्येवरूपेणानुनयन्त विनम्रवचनोच्चारणं कुर्वन्त शास्तार स्वामिनमाप्त्वाथवा त कमपि अनुनयं नयानुसार देशकालानुसारो वचनपद्धतिप्रकारो नयस्तदनुमारं शास्तारं शास्त्रप्रणेतारमाप्त्वाऽकस्मादेव सहजतयैव दिगम्बरत्व वस्त्ररहिततामथाकलङ्कपथारूढतामगत् स्वीचकार । अत. पुनरनन्तरं यत्किमभूत्तन्न सान्वभूदनिर्वचनीयानन्दभागभूत् आनन्दसन्दोहपदाना गुणस्थानानां भूः प्रणीतिस्तद्वद् गुणस्थानेषु सप्तमाद् गुणस्थानादुपरितमगुणस्थानेषु अबुद्धिपूर्वैव चेष्टा भवतीति ॥ ९० ॥

स्तनौ वराङ्गं च परीच्छताहमुत्सृष्टमीशेन रुषेत्युताह ।
विलग्नकम्भोजदृशोऽत्र तेने भ्रूभङ्गमाप्त्याप वलिच्छलेन ॥९१॥

स्तनावित्यादि—अत्र प्रणयप्रसङ्गे स्तनौ च वराङ्ग च परीच्छता सम्भुञ्जानेनेशेन भर्त्रा पुनरहं मध्यगतमुत्सृष्ट परित्यक्तमेवेत्येव पङ्क्तिभेदः कृत इत्येवभूतया रुषाम्बुजदृशोऽम्बुजनयनाया विलग्न नामाङ्गं तत्तदानीमपवलिच्छलेन वलिभ्रशनव्याजेन भ्रूभङ्गमाप्त्वा भ्रुवोरुत्तान कृत्वोत किम्लाह वदति स्म तावत् ॥ ९१ ॥

सुकण्ठकम्बुर्यदपूरि तेन निरस्य लज्जायवनीं स्मरेण ।
स्वेदोदपुष्पे सुदृशः सदङ्गे रतिः स्वयं मञ्जु ननर्त रङ्गे ॥९२॥

सुकण्ठकम्बुरित्यादि—सुदृशः सुलोचनायाः सदङ्ग एव रङ्गे नृत्यस्थले तेन जगन्नर्तकेन स्मरेण लज्जाजवनीं लज्जारूपा सावरणवस्त्रविस्तृति निरस्यापाकृत्य शोभनीय कण्ठो गल एव कम्बुः शंखः सोऽपूरि परिपूरितः । स्वेदोदकान्येव प्रस्वेदबिन्दव एव पुष्पाणि विकीर्णकुसुमस्थानीयानि यत्र तस्मिन् सदङ्गरङ्गे स्वय रतिरेव मञ्जु स्पष्टतया ननर्त ॥ ९२ ॥

महाशये कूजति कण्ठकम्बौ काञ्च्यां विपञ्च्यामपि संक्वणन्त्याम् ।
लासं गुरुस्तम्भरतो नितम्बश्चकार चारुस्मरवैजयन्त्याः ॥९३॥

महाशय इत्यादि—महाशये सुमधुरशब्दवति कण्ठकम्बौ कूजति सति काञ्च्यामेव विपञ्च्यां वीणायां संक्वणन्त्यां शब्दं कुर्वन्त्यां सत्यां स्मरस्य कामदेवस्य वैजयन्ती पताकेव सुलोचना तस्या गुरुरतिस्थूलो यो.स.ऊरुरूः स्तम्भस्तस्मिन् रतः प्रणिष्ठ-स्तदुपरिगतो नितम्बोऽथ च गुरुः स्थूलतरो नितम्बः स एव भरतो नृत्यकारकश्चारु लासं नृत्यं चकार ॥ ९३ ॥

एकस्य मुक्तावलिरेव सारे बभूव भूषा च्युतहारचारे ।
छायाछलेन श्रमवाःप्रसारे हृद्यन्यदीयेऽपि तयोरुदारे ॥९४॥

एकस्येत्यादि – तयोः संयुक्तयोर्दम्पत्योर्मध्ये एकस्य जयकुमारस्य मुक्तावलिरेव च्युतो निर्गतो हारस्य चारो यस्मात् तस्मिन् हाररहितेऽपि सारे सुविशदे चोदारेऽनति-संकीर्णे अन्यदीये हृदि सुलोचनाया उर स्थले श्रमवारां स्वेदजलानां प्रसारो यत्र तस्मिन् 'वार्वारि कं पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जयनाममालायाम् । छायायाश्छलेन सम्पतितप्रति-बिम्बपदेन भूषालङ्कारं बभूव ॥ ९४ ॥

मिथस्तयोरुज्ज्वलबाहुवल्लिमतल्लिकालिङ्गनमण्डली या ।
हेमाब्जिनी बालमृणालजन्मा पाशो रतीशस्य स एव जीयात् ॥९५॥

मिथस्तयोरित्यादि—सा च स चेति तौ तयोर्दम्पत्योः मिथः परस्परं या उज्ज्वलानां गौरवर्णानां बाहुवल्लिमतल्लिकानां भुजलताश्रेष्ठानामालिङ्गनमण्डली पुनः पुनर्जायमानसंश्लेषसन्ततिः स एव हेमाब्जिन्या स्वर्णारविन्दिन्या बालमृणालेभ्यो मृदुबिसेभ्यो जन्म यस्य स रतीशस्य मदनस्य पाशो बन्धनरज्जु जीयात् जयवान् भूयात् । दम्पतिबाह्वालिङ्गनं मदनस्य पाश इवाभूदिति यावत् ॥ ९५ ॥

ममाप्युरोजे नखलक्षणापि वृत्तिर्विभो ते न खलक्षणापि ।
बालाह रोषात्तव साधुता वा ममाधरश्रीर्यदि साधुता वा ॥९६॥

ममेत्यादि—बाला सुलोचना रोषादेवमाह—हे विभो ! ममापि मृदुवयस्काया उरोजे नखानां लक्षणं चिह्नं यया सा नखलक्षणा वृत्तिरापि स्वीकृता त्वयेयम् । तेऽपि किं खलु खलस्य धूर्तस्येव क्षणोऽवसरो यत्र सा खलक्षणा वृत्तिर्नास्ति किन्तु समस्त्येव । वा पुनर्ममाधरस्यौष्ठस्य श्रीः शोभा सा यावकाविकृता यदि धुताऽपहृता साऽसावेव तव साधुता सज्जनभावो वाऽवलोकितः ॥९६॥

प्रत्युक्तवान्नाहमितः स्मरामि यतो नरे वात्र विभासि सामि ।
सम्बद्धतामेति करो यथा मे स्तनोऽप्यमुक्तस्तव किन्न रामे ।।९७।।

प्रत्युक्तवानित्यादि—पूर्वोक्तं सरोषवाक्यं श्रुत्वा जयः प्रत्युक्तवान् यत्किल हे रामे ! सुन्दरि ! इतोऽहं न स्मरामि नैव जानामि तत्कारणं यतोऽत्र तवानुकूलकारिण्यपि नरे मादृशे सामि वक्रा सरोषा प्रतिकूलकर्त्री विभासि। तथा त्वमत्र नरे वा रतिरिवासि यतस्तत एवाहं न स्मरामि स्मर इव कामदेववदाचरामि। यतो यथैव मे कर सम्बद्धतामेति सम्यक्प्रकारेण बद्धोऽवरुद्धोऽस्ति तथैव तवापि स्तनः किममुक्तो मुक्तिरहितो नास्ति किं किन्तु समस्ति। तथा च मे करः सम्बद्धतामेति संस्पर्शनं करोति तथैव तव स्तनोऽप्यमुक्तो मौक्तिकैर्हीनः किं नास्ति। स्पर्शनमात्रेणैव ते स्तनस्येदृशो दशा, किमहं करोमीति ।।९७।।

सुलोचना सोमसुतावितस्तु रतिस्मरौ यत्प्रतिपक्षवस्तु ।
अभूत् प्रतिस्पर्धितयेव रङ्गभूमावितः स्फूर्तिकरः प्रसङ्गः ।।९८।।

सुलोचनेत्यादि—इतस्तु सुलोचना च सोमसुतश्च सोमप्रभनृपतितनूजो जयकुमारश्च स्तः, कथभूतौ तौ ? रतिस्मरौ रतिकामदेवौ ययो. प्रतिपक्षवस्तु प्रतिस्पर्धिवस्तु आसीदिति शेष। अत इतोऽत्र रङ्गभूमौ तयो प्रतिस्पर्द्धितयेव मिथो विजिगीषयेव स्फूर्तिकरः समुत्तेजनाकर. प्रसङ्गः समर्गोऽभूदिति ।।९८।।

सुमेषुरुच्चैस्तनशैलमन्वास्थितो बभूवाप्यनुकर्णधन्वा ।
परागरङ्ग्यस्रमभूच्छ्रमाम्भोऽनयोर्जयद्वीरभुवोस्त्रपाम्भो ।।९९।।

सुमेषुरित्यादि—उच्चैस्तनशैलमन्वास्थितः सुमेषुः कामोऽपि यदानुकर्णधन्वा समाकृष्टधनुर्बभूव तदानयोर्वीरभुवोर्दम्पत्योरस्रं तत्प्रहारेण निर्गतमस्रं रुधिरं परागस्य तद्बाणगतपुष्परजसो रङ्गो वर्णो यत्र तत्परागरङ्गि समभवत् तयोस्त्रपां जयद् लज्जा छादयत् श्रमाम्भः प्रस्वेदजलमित्यादेशभागभूत् ।।९९।।

अपत्यभावाय च रोमराजीतो जागरित्वव्रतमित्यभाजि ।
तयाथ मुक्ताफलतान्वकारि समुत्थघर्माम्बुलवप्रकारैः ।।१००।।

अपत्यभावायेत्यादि—पत्युरभावो वैधव्यं तस्याभावोऽपत्यभावः सौभाग्यं तस्मै तथाऽपत्यस्य भवन भाव पुत्रोत्पत्तिस्तस्मै रोमराजिकयेति रोमराजीतस्तृतीयाया तसिल्। जागरित्वव्रतमित्यभाजि अञ्चनमुपात्त जागरणं वा कृतम्। अथ च तया रोमराज्या समुत्थानां संजातानां घर्माम्बुलवानां प्रकारैः प्रक्रिया यत्रैवंभूता मुक्ता परित्यक्ता यावफलता निष्फलत्वपरिणामोऽन्वकारि मौक्तिकभावः ।।१००।।

शरीरमेतद्घनसारबिन्दोः समेत्य सद्व्यञ्जनसत्त्वमिन्दोः ।
तुल्याननाया अमृतस्य धारा पिगल्य जाता द्वितयीव सारात् ॥१०१॥

शरीरमित्यादि—इन्दोस्तुल्याननाया सुलोचनाया. समीचीनाना व्यञ्जनानामवय-वाना सत्त्व यत्र तच्छरीर समेत्य गत्वा घनोऽप्रविरलश्चासारश्च बिन्दु शुक्रो यस्य तस्य जयस्य शरीर पुन सा द्वितयी तथा च सद्व्यञ्जनस्य रुचिकारकस्य सत्त्व समेत्य घनसार-बिन्दो॰ कर्पूराशस्य शरीर तत्पुन. सा द्वितयी पिगल्यामृतधारा जाता । सयोगकाले तयो. शरीर प्रस्वेदप्रायमभूत् । यथा कर्पूर रुचिकरसत्त्वसयोगे पिगलति तथा तयोः शरीर परस्परसयोगे सति पिगलति स्मेति यावत् ॥१०१॥

यथा सदैवास्य कथा सुवर्षा सौदामिनी साप्यभवत् सहर्षा ।
यदाप सा कल्पलताप्रकर्षं तदङ्घ्रिपोऽप्यम्बरमाचकर्ष ॥१०२॥

यथेत्यादि—यथास्य जयस्य सदैव सर्वदैव सुवर्षा शोभनवर्षवती यौवनपूर्णरुचिकरी च कथा जाता तदा साऽसौ बाला दामिनी मालावती सहर्षाभवत् । यद्वास्य कथा सदैवा मेघसहिताऽत एव सुवर्षा सुवृष्टिकरी जाता तदा सा सौदामिनी तडिदपि सहर्षा चमत्का-रिण्यभूत् । यदा च सा कल्पलता प्रकर्षं हर्षभावमाप तदा तदङ्घ्रिप॰ कल्पवृक्षोऽपि अम्बर-माचकर्षाकाशमलचकार । यद्वा कल्प किं कार्यं किं न कार्यं वेति विकल्प लातीति तद्भावस्य प्रकर्षमाप लज्जाभयाविव वशगता तदा स तदङ्घ्रिपस्तस्याश्चरणधरणोऽपि भवन्नम्बर वस्त्र तस्या आचकर्षेति ॥१०२॥

तां माननीयां समयन् समाप. स्वभावत॰ सानुनयत्वमाप ।
रुषःस्थली सा पुरुषोऽत्र जातुचिदूनभावान्नवपुस्तदा तु ॥१०३॥

तामित्यादि—ता मानेनाभिमानेन नीया नीयमानां गर्ववतीं समयन् सम्बोधयन् क्षमाप सहनशीलो जयनृपः स्वभावत एवानुनयसहितत्वं सानुनयत्वमाप विनयानुनयं चकार यत॰ सा माननीया सम्मानयोग्या । अथवा तां माननीया निश्चलभावतया पृथ्वीरूपां समयन् सगच्छन् क्षमापो राजा सानुनयत्वं तदग्रे स्थितिमावहन् सन् पर्वतरूपतामचलभाव-माप । यदा सा रुष स्थली कोपवती जाता रुकारषकारस्थली जाता समभूत्तदा जातुचिदून-भावान्न्यूनपरिणामान्नवपुरशरीर इवाभूत् । किञ्च, नवः केवलः पुकार एव यस्य सोऽभूत् ॥१०३

विधुर्यदा कामधुरा नदीनस्वरूपतामाप तदा कुलीनः ।
कलान्वया चेत् पृथुरोमभावात्सासीत्समुद्रो मुवितस्तदा वा ॥१०४॥

विधुरित्यादि—यदा कामधुरा कामो धुरि अग्रभागे यस्याः सा विधुर्विगलधुकारा कामरा कामधना वाञ्छितदायिनी चुम्बनादिषु बभूव तदा स कुलीनो दीनो न भवतीति

तद्रूपतामाप, तत एव सा यदा विधुश्चन्द्र इव प्रसन्नरूपा जाता तदा नदीनस्य समुद्रस्य स्वरूपतामाप स., चन्द्रेण समुद्रस्य प्रसक्तिभावात् तस्यामासक्तोऽभूदिति । तथा यदा सा तेन सह क सुख लातीति एवरूपोऽन्वय स्वभावो यस्याः सा पृथुरोमभावाद्रोमाञ्चितत्वाज्जाता तदा स समुद्रो मुद्रिकया युतो धनी मुदितः पूर्वस्मादप्यधिकप्रसन्नो बभूव। किं वा सा पृथुरोमभावान्मीनस्वभावत्वात् क जल लातीत्येवरूपा कलान्वया जलजीवनाभूत्तदा स समुद्रोऽपि मुदितो मुत्काररहितोऽर्थात्मिरो जलाशयोऽभूत्तत्रैव मीननिवसनात् । किं वा यदा सा कलान्वया चन्द्ररूपत. कदाचित्प्रच्युत्य कलारूपा सकुचिताभूत्तदा समुद्रोऽपि स सर एव जात इति ।।१०४।।

अनङ्गसौख्याय सदङ्गगम्या योच्चैस्तना नम्रमुखोति रम्या ।
विभ्राजते स्माविकृतस्वरूपा प्रसक्तिमाप्त्वा महिषोति भूपात् ।।१०५।।

अनङ्गेत्यादि—या सुलोचना सद्भिः प्रशसनीयैरङ्गैर्गम्याधिगमयोग्यापि पुनरङ्गसौख्य न भवतीति तस्माविति विरोधस्तस्मादनङ्गसौख्य सुरतानन्दस्तस्मै बभूव। या किलोच्चैस्तनातिशयोन्नतापि नम्रमुखानि विरोधस्तत उच्चै.स्तनवती पुष्टस्तनीत्यतो लज्जावशान्नम्रमुखीत्येव रूपतया रम्या रमणीया। तथा भूपाद्राज्ञ. सकाशान्महिषी रक्ताक्षीत्येव प्रसक्तिमाप्तापि पुनरविना मेषेण कृत सम्पादित स्वरूप यस्या अजेत्येव विरोधेऽविकृतः सर्वगुणसम्पन्न स्वरूप यस्या एव भवती भूपान्महिषी पट्टराज्ञीत्येवं प्रसक्तिमाप्त्वा विभ्राजते स्म ।।१०५।।

निलेतुमन्तस्त्वितरेतरस्याभिवाञ्छत श्रीमिथुनस्य य स्यात् ।
विरोधहेतुः स्तनकः प्रियोरःसमुद्भवः स्पष्टतया कठोरः ।।१०६।।

निलेतुमित्यादि—इतरेतरस्यान्तर्निलेतुमेको द्वितीयस्य हृदि प्रविश्यानन्यतामवाप्तुमभिवाञ्छतः श्रीमिथुनस्य सुलोचनाजयकुमारयोर्द्वितयस्य यः कश्चिदपि विरोधहेतुस्तविच्छाया विरोधकारी बभूव स प्रियायाः सुलोचनाया उरसि समुद्भूद स्तनक स्पष्टतया प्रकटमेव कठोर आसीत् ।।१०६।।

अनादिरूपा सुदृगित्यनेन ह्यनन्तरूपत्वमितं जयेन ।
अनाद्यनन्ता स्मरतिक्रियास्ति तयोरनङ्गोक्तपथाभ्युपास्तिः ।।१०७।।

अनादिरूपेत्यादि—आदौ पूर्वस्मिन् काले न जात यत्तदनादि रूप यस्या. साऽनादिरूपा सुदृक् सुलोचना। न विद्यतेऽन्तो यस्य तत्तादृग्रूपं यस्य तस्य भाव जरारहितत्वमिति जयेनेत प्राप्तम्। इत्यनेन हेतुना तयोर्द्वयो रतिक्रिया अनादिरपूर्वा चानन्ता च निरन्तरास्ति स्म बभूव। तथा स्मरतिक्रियायामनादिरूपाऽऽदिवर्णरहिता रती रतिः सलोचना। अनन्तरूपोऽन्तवर्णरहित स्मर इति च जय.। तयोर्द्वयोरनङ्गोक्तपथाभ्यु-

णास्ति: कामदेवप्रतीतमार्गसदुपासनेयमस्ति । किञ्चाङ्ग यत् किञ्चिदप्यवयवरूपं न भवति यत्र लवनङ्गमित्युक्तम् ॥१०७॥

वामा नवा मापि यथोत्तरं सा रक्तोऽभवच्छ्रीहरितोऽपि वंशात् ।
जातो ह्यपीतो मधुराभिराभिः कषायलः कामधुरः क्रियाभिः ॥१०८॥

वामेत्यादि—सा सुलोचना वामापि न वामा कुटिलापि सरलेति विरोधस्ततः सा नवा नूतना मा लक्ष्मीरेव वामा स्त्री आपि प्राप्ता । तेन जयेन ततः स श्रीहरितो नील-वर्णोऽपि रक्तोऽरुणवर्णोऽभवदिति विरोधस्तत श्रीहरितः पुरुषोत्तमावपि यथोत्तरमधि-कतर रक्तोऽनुरक्तो जात इति । तथा वंशाद्वेणोर्जात समुत्पन्नो हि अपीत. पीतवर्णरहित इति विरोधस्ततो वशात्सत्कुलाज्जातो हि सोऽपीत इत्यत्र कामधुर कामचेष्टाधारिण्या आभिरुपर्युक्ताभिर्मधुराभिश्चेष्टाभि· क्रियाभिरपि कषायल. कषायरसयुक्त इति विरोध-स्ततः कषायलोऽङ्गरागवानभूत् चन्दनादिविलेपयुक्तो जातः ॥१०८॥

सानुनयाधिगमा महिला सा मणितत्वार्थमिता मृदुहासा ।
बहुलोहमय· पार्श्वमुपेतः काञ्चनरुचिं गतः स तथेतः ॥१०९॥

सानुनयेत्यादि—सा महिला स्त्री मृदुहासा ईषत्स्मितवती अनुनयेन चाटुकारेण सहितोऽधिगमः सगमो यस्यास्सा, यथा मणितत्व सुरतरवत्वमेवार्थं प्रयोजनमिता नीता प्राप्ता वा, तथा पार्श्वमुपेत समीपं गतः स जयकुमारो बहुलोहमयो नानातर्कवितर्क-युक्तस्सन् काञ्चनानिर्वचनीयां रुचिं गत. । अपि च सानोर्नयेन पर्वतस्य रूपेणाधिगमः परिज्ञान यस्यास्सा महिला पृथ्वीप्राया सा मणीना हीरकादिरत्नानां तत्त्वार्थेन रूपेण मितानुमानिता, तथैव लोहमय आयसरूपस्स पार्श्वनामपाषाणमुपेतस्सन् काञ्चनस्य स्वर्णस्य रुचिं गतः ॥१०९॥

पीता सुरोचनापि जयेन नीतानुरागमप्युत तेन ।
हरिताश्रयेण यात्र रमेदं धवलत्वं स्वात्मनो विवेद ॥११०॥

पीतेत्यादि—सा सुरोचना रमा लक्ष्मीरिव हरितायाः पुरुषोत्तमस्याश्रमेण स्थानेन तेन जयेन पीता सम्भुक्तास्वादिता सत्यनुरागं नीता प्रीतिभाव प्राप्ता । अत्र स्वात्मनो निजरूपस्य [१]धवलत्व भर्तृसनाथतां विवेद । यापि सुरोचना गोरोचनद्रव्यं सा पीता पिङ्गलवर्णा तु पुनारागं लालिमान नीता, श्रमेणायासेन कृत्वा हरिता नीलतां नीता धवलत्वं शुक्लतां च विवेदानुभूतवतीति बहुरूपतां तदावाप सा ॥११०॥

गौरी सम्प्रति साशु भारती राजते स्म खलु या रमा सती ।
हरति वसनमधिगम्य समस्यां स्मरति च पुरुषोत्तमेऽत्र तस्याः ॥१११॥

१. धवं पतिं लाति गृह्णातीति धवल तस्य भावस्तत्त्वम् ।

गौरीत्यादि—अत्र स्मरति कथं कार्यं किं विधेयमित्यनुशोचति सम्प्रति समस्यामधिगम्य पुरुषोत्तमे नरश्रेष्ठे जयकुमारे तस्या वसनं दुकूलं हरति सति सा आशु शीघ्रोच्चारणमागता भारती वाणी 'मा मे वसनमपहर' इत्यादिरूपतया प्रत्युक्तिर्यस्यास्सा राजते स्म, खलु या रन्तु योग्या रमा गौरी नवयौवना च या। या च तस्मिन् पुरुषोत्तमे कृष्ण इव कौतुकवति भवति रमा लक्ष्मीरिव सती तथा समस्यामधिगम्य स्मरति स्मर इवाचरति सति शुभा रतिरिव। तथा तस्या वसनमधिगम्य हरति हर इवाचरति सति गौरी पार्वतीव राजते स्म ॥१११॥

शाटीमिव बहुगुणां रतिं तु तनौ निशायामप्यधिगन्तुः।
संकुचतातिशयेन नानापद्‌व्रीणा स्मरवीणा समवाप ॥११२॥

शाटीमित्यादि—स्मरस्य वीणेव मधुरभाषिणी सुलोचना रतिं सुरतक्रीडां शाटीमिव बहवो गुणाश्चुम्बनालिङ्गनादय पक्षे तन्तवश्च यत्र तामधिगन्तुरनुभवनकर्तुर्भर्तुस्तनौ शरीरे चैव तनौ स्वल्पविस्तारे, अथवा तनौ निशायां लघुरूपायां रात्रौ तत्र संकुचतायाः शोभनस्तनत्वस्यातिशयेन नानानेकविधा यम्मर्दनादिरूपा यस्यास्सा, एवं व्रीणा लज्जावती। तथा च संकुचना सकोचवतातिशयेन प्रभावेणानापद् निर्विघ्ना सती। अपि च सकुचतायाः सुदृढोरोजतायाः अतिशयेन च तां समवाप परिपूर्णं कृतवती ॥११२॥

सद्यस्तनस्तबकभारमहोदयेन
पुष्टापि सज्जघनमूलसमुच्चयेन।
जातात्र संकलितरूपगतेन कामा
रामाविभूचितविहारवनीव रामा ॥११३॥

सद्य इत्यादि—वामा स्त्री सा सुलोचना विभूचितो वैभवसम्पन्नस्य योग्यो विहारो यस्यां सा सौवनीवात्र जाता सम्बभूव यत सा सकलित सम्पादित रूप सौन्दर्यंगतेन। अथ च शोभना कलय कोरकाणि यत्र ते च ते तरवो वृक्षाश्च तानुपगतेन, सद्यस्तनाविभिनवकुचावेव स्तबकौ, किञ्च सद्यस्तनास्तत्कालसजाता ये स्तबकाः पुष्पगुच्छकास्तेषां भारस्य महोदयेनापि, पुन. सत्समीचीन यज्जघनमूलं श्रोणिपुरोभागरूप तस्य समुच्चयेन सहर्षितेन चयेन प्रचारेण, अथ च सज्जानि घनानि च तानि मूलानि तेषां समुच्चयेन सग्रहेण पुष्टा सम्पन्नावयवा, तत कामस्य मदनोन्मादस्यारामः पर्यायो ॥११३॥

अञ्चलं च यदा कर्तुकामोऽभूत्तस्य वारकः।
सुवर्णघटकत्वेनोरस्तस्या गुरुतामगात् ॥११४॥

अञ्चलमित्यादि—तस्य जयस्य वारको नाम शिशुर्यदा लत्व च पुनर्लमित्यनेन नाल नाम समस्तमक्षरसमूहमाकर्तुकामः स्वीकर्तुमिच्छुरभूत् तदा सुलोचनाया उरःस्थलं

सुवर्णघटकत्वेनाक्षरसम्पादकत्वेन गुरुता शिक्षकतामगात्। तथा चालकर्तुं काम आभूषण-मिच्छुरभूत्तदा सुवर्णघटकत्वेन हेमकारत्वेन तस्या उरो गुरुतामगात्। किञ्च, यदाञ्चल वस्त्रपल्लवमाकर्तुं कामस्तस्य वारक करप्रचारोऽभूत्तदा तस्या वक्षः सुवर्णघटकत्वेन कनककलशात्मत्वेन गुरुता गौरवमाप कुचप्राकट्यमभूत् ॥११४॥

सकामावाथ क्षान्तां ममुपेत्य तदन्वयम्।
अन्ततो वञ्चितं कृत्वा रङ्गतत्त्वमितोऽभवत् ॥११५॥

सकेत्यादि—अथ कुचालिङ्गनानन्तर तत्रादौ ककारेण सहितां सकां पुनः क्षकारोऽन्ते यस्यास्तां क्षान्तां कक्षां करधनीमुपेत्यानु पुनरय जयकुमारो 'अम्' इत्यकार पुनर्वं वकारं चितं संगृहीत कृत्वा रम् रकारं गच्छतीति तत् तस्या अम्बरस्याधोवस्त्रस्य तत्त्वमितस्त-दुद्घाटनं गतोऽभूत्। एवकाम आदौ क्षान्ता मदनस्थले क्षमावती समुपेत्यान्तत पुनस्तस्या अन्वय लज्जानुभावादिरूप प्रकरण वञ्चित कृत्वानुनयादिना निराकृत्य रङ्गस्य नाम रात्रि-वृत्तस्य तत्त्वमितोऽभवत् ॥११५॥

स्वाद्य मृदुलमध्याया भान्तमास्येन्दुमञ्चतः।
सत्सुखं जनसत्त्वं तु सुलभं समभूदतः ॥११६॥

स्वाद्यमित्यादि—मृदुल सुकोमलो मध्योऽवलग्नप्रदेशो यस्यास्तस्याः स्वाद्य-मास्वादनयोग्य भान्त शोभायमानमास्येन्दुं मुखचन्द्रमस तावदञ्चत. स्वीकुर्वतस्तस्य जयस्य सत् प्रशसनीयं सुख यस्य तत् जनसत्त्व मनुष्यत्वमथ च सत्सु मध्ये खञ्जनसत्त्व चकोरपक्षित्व तु पुन. सुलभ समभूत्, यथा चन्द्रमसि चकोरानुरागस्तथा तत्र तस्यानु-रागोऽभूदित्यत। मृदुलकारो मध्ये यस्यास्तस्याः सुकार आदौ भवति यत्र तत्स्वाद्यं तथा भकारोऽन्ते वर्तते यत्र त भान्तमास्येन्दुमञ्चत सुलभत्व युक्तमेवेति ॥११६॥

उदयन्तं सरोमध्यमन्त्यजेनान्वितं श्रयन्।
तृष्णावानेन सोऽप्यासीदपि कञ्जमुखो भवन् ॥११७॥

उदयन्तमित्यादि—स जयकुमार उदयन्तमुन्नतिं गच्छन्तं सजलमपि सरोमध्यं जलाशयाङ्कमन्त्यजेन चाण्डालेनान्वित श्रयन् पश्यन् कञ्जमुखो जलजातमुखोऽपि तृष्णा-वानेवासीज्जल न पीतवात् यत। तथा चोदित्युकारेण य सविधानं यस्य, किञ्चान्ते-भवोऽन्त्यो जकारो यस्य, तथा रोकारेण सहित मध्य यस्य तनुरोज नताङ्ग्या स्तनदेशं श्रयन् स कञ्जमुख कमलवत्प्रसन्नमुखो भवन् तृष्णावानभिलाषी आसीत् ॥११७॥

अधरं मधुर शश्वद्रमणीकं समाश्रयन्।
समन्तात् पावनोऽप्यासीदपि पुण्य जनेश्वरः ॥११८॥

अधरमित्यादि—रमण्या इमं रमणीकमधरं नामौष्ठं शश्वन्मधुरं नित्यमेव स्वादुरसं समाश्रयन् सन्नपि स पुण्यजनानामीश्वरः स्वामी जय समन्तात्पावनः पवित्र एवासीत्, न किन्तु इतरजनवत् पापभागभूत्। तथा चाधरमकारधारकं पुनर्मधुरं मकारो धुरि यस्य ततश्च रमणीकं रकारो मणिवदग्रवर्ती यस्य तं समाश्रयन् नाममरमिति गत्वा समन्तात्पुनस्तस्यान्ते पावनं पकारस्यावनं परिरक्षणं यस्यैवं शीलोऽमरपो मघवा सन् पुनरपि पुण्यजनेश्वरो नाम दानवेन्द्रोऽभूदिति। यद्वाऽधरं धरावर्जितं मघवे नाम वैत्याय रोऽग्निर्भस्मकारको यत तत एव रमणीकं स्वर्गवन्मनोहरमिति च समर्थनीयमस्ति तावत् ॥११८॥

आननेनारविन्देन शर्वरीं सोऽन्वभून्मुदे।
सदामलक्षणं बाला तद्वक्षः समभावयत् ॥११९॥

आननेनेत्यादि—स जयकुमारः आननेनारविन्देन मुखेनैव कमलेन तं शर्वरीं युवतिं मुदे प्रसन्नतार्थमन्वभूत्। किञ्च, न रविं ददातीरविम्बस्तेनारविन्देन नाम चन्द्रेण शर्वरीं नाम रात्रिमिवान्वभूत्तां मुदे स। सा च बाला तस्य वक्षःस्थलं सदामलक्षणं दाम्ना माल्येन सहितं सदाम, तदेव लक्षणं यस्य तत्तथा सदैवामलं शुद्धं प्रकाशरूपं क्षणं यत्र तं दिवसमिव पवित्रं समभावयत्। रात्रिदिवसयोश्च सङ्गमः प्रकृतिसिद्ध ॥११९॥

वलिसद्मोदरं नाभिजातगर्तं नतभ्रुवः।
वामनोहरभावेन नरस्तावत् समध्यगात् ॥१२०॥

वलिसद्मेत्यादि—नतभ्रुवः उदरं वलिनामकस्यावयवस्य पक्षे वलिनाम्नोऽसुरराजस्य सद्म स्थानं नाभ्यास्तुण्डिकाया जातो गर्तो यत्र पक्षे नाभिजातमसुन्दरं गर्तं यत्र पातालगतत्वात् तत्, नरो जयकुमारो हरिश्च वा मनोहरभावेन सुन्दरत्वेन पक्षे वामनस्योह रातीति तद्भावेन खर्वरूपसूक्ष्मरूपसम्पादकत्वेन समध्यगात् जगाम तावत् ॥१२०॥

तदेकव्रतिना भानुभानितां तामपश्चिमाम्।
सरोमाञ्चतया गत्वा सा कुशेशयता श्रिता ॥१२१॥

तदेकव्रतिनेत्यादि—तस्यामेवैकं व्रतं स्वीकरणं यस्य तेन तदेकव्रतिना कुशेशयता दर्भासने शयनशीलताऽथवा कुशेशयता कमलरूपता श्रिता। भया शोभयानुभानितां यद्वा भानुना भानितामलङ्कृतां तामपश्चिमां स्त्रीषु प्रथममेव गणनीयां तथा प्राचीं नाम दिशां गत्वा लब्ध्वा रोमाञ्चैः सहितता सरोमाञ्चता तथा सरो जलाशय एव माञ्चं पर्यङ्कः शयनस्थानं यस्य तत्तया वा। यथा सूर्योदययुतां पूर्वदिशां दृष्ट्वा कमलं विकसितं भवति तथैव साभूदिति ॥१२१॥

नवनीतं वपुस्तस्याः पूतपुण्यपयोभवम्।
समाराधयतो जाता सुतक्रमहिता स्थितिः ॥१२२॥

---

१ 'शर्वरी तु त्रियामायां हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्वलोचनः।

नवनीतमित्यादि—तस्या सुलोचनाया वपु शरीरं तदेव नवनीतं नवीनतया लब्धं नववयस्कत्वात्तथा ऋक्षण मृदुलतमं भूत्वा, तच्च पूतपुण्यमेव पयो दुग्ध तस्मादुच्चितिरुत्पत्ति-र्यस्य तत्समाराधयत सन्दधानस्य तस्य जयकुमारस्य स्थिति शोभनेन तक्रक्रमेण महिता संकलिता। अथवा सुतस्य क्रमे पुत्रोत्पत्तिकरणे हितानुकूला जाता ॥१२२॥

मुख मुकुलमाचुम्बन् कुलीनो न लतां नयन् ।
समग्रभावतो गत्वा शान्ततामाप सुभ्रुवः ॥१२३॥

मुखमित्यादि—सुभ्रुवः सुलोचनाया मुखमानन तदेव लज्जानुभावाविना मुकुलं कुड्मलमिव सम्भूतम्। ततस्तन्नलतां कमलरूपतां नयन् विकसित कुर्वन् कुलीन सज्जाति-मान् जयकुमारः समग्रभावत पूर्णरूपेण शान्ततामाप सुखमनुबभूव। तथा तदेव मुकुलं मुख मुकारस्य रव नाशो यत्र तत् कुलमित्येवभूत नलतां लकाररहितता नयन् केवलं कुलीनः कुकारमात्रपरायण सन्, स सकारमग्रे प्रथमे यत्र तत् सकु इति तद्भावत पुन. शान्तता शकारोऽन्ते यस्य तत्तां शकारान्ततां सकुशता प्रसन्नतया रोमाञ्चभावमापेति यावत् ॥१२३॥

सुरोचितकविलग्नात् सुवर्णसूत्रधृक् भवन् ।
नाभितोयमधीत्यापि जलजातवदाबभौ ॥१२४॥

सुरोचितेत्यादि—सुरोचितमेव सुरोचितक तच्च तद्विलग्न मध्यं च तस्मात्परम-सुन्दरकटिप्रदेशात् सुवर्णसूत्रधृक् काञ्चीदामापहारको भवन् सन्नय जयकुमारो नाभितो नाम सुलोचनायास्तुण्डीसमीपमधीत्य गत्वा जलजातवत्कमलवत्प्रसन्नवदन आबभाविति प्रकृतोऽर्थः। तथा सुरेषूचितो यः कवि शुक्रस्तल्लग्नात् प्रवेशात् सुवर्णसूत्रधृग् भवन् ललिताक्षरं सूक्तमाश्रयन् सन् अय ना मनुष्योऽभितः समन्तादधीत्य पठित्वापि पुनर्जडजात-वन्मूर्खस्य पुत्रवदाबभौ। तथा सुवर्णसूत्रधृक् शोभनरज्जुधारको भवन्नपि सुरोचितात्करय जलस्य विलग्नात् स्थानात्तोयस्य समीपमभितोयमधीत्य गत्वापि जलजातवन्न बभावित्यपि ॥ १२४ ॥

सुरतसमुद्राद् हृदयामत्रे खलु शर्मवारिसम्भरणम् ।
भृशमित्यर्थात्सुदृशः समभाद् गद्गदगिरोद्धरणम् ॥१२५॥

सुरतेत्यादि—सुदृशो हृदयामत्रेऽन्तरङ्गपात्रे घटे सुरतसमुद्रात् शर्मवारिणः सम्भरणं बभूवेत्यत एवार्थाद् भृशं वार वार गद्गदगिरोद्धरणं समभात् खलु इत्युत्प्रेक्षा ॥ १२५ ॥

सुरतरङ्गिणि उत्कलिकावतो तरणिरद्य न विद्यत इत्यत ।
पृथुलकुम्भयुगं हृदि सन्दधद् धनरसस्य स पारमुपागतः ॥१२६॥

सुरतरङ्गिणीत्यादि—सुरतरङ्गिणी सुरतस्य रङ्गवती तथैव सुरतरङ्गिणी भागीरथी गङ्गेवोत्कलिकावती समुत्कण्ठावती लहरिमती चाभूत् तथापि तरणि. सूर्योऽद्य न विद्यते रात्रिरस्ति पक्षे नौका नास्तीत्यत कारणात् पृथुलयोरतिविस्तृतयोः कुम्भयोः कुचरूपयो-

र्युगं सन्दधत् समासादयत् सन् स जयकुमारो घनरसस्य शृङ्गाररसस्य प्रभूतजलस्य च पारमपरतीरमुपागतः प्राप्तवान् । 'भवेद्गुत लिका हेला सलिलवीचिषु' इति विश्वलोचने । रात्रिसमागमे सुरतक्रीडा नौकाभावे सन्तरणार्थं च कुम्भयुगलसयोजनं युक्त-मेवेति ॥ १२६ ॥

स्मराध्वरे तर्पितमिष्टमञ्चकं समर्पितप्रीति हि देवपञ्चकम् ।
व्यभूषि भूराभरणैरिहाधिकाप्यधारि निःस्वेदपदात्तदाशिका ॥१२७॥

स्मराध्वर इत्यादि—स्मराध्वरे कामयज्ञे इष्टं मनोहरं मञ्चकं पल्यङ्कं यस्य तत् तथेष्टस्य वाञ्छितस्य मञ्चकमभिलषितदायकं देवानां स्पर्शनादीन्द्रियाणां सुराणां च पञ्चकं समर्पिता प्रीतिर्यत्र यथा स्यात्तथानुरागपूर्वकमिति यावत् तर्पितम् । इह चाधिका भू. आभरणैर्दक्षिणास्वरूपै रतिक्रियासंलग्नतया परिच्युतैर्व्यभूषि भूषिता । अथ च निःस्वेदपदाद् घर्मजलव्याजात्तस्याशिकाऽधारि स्वीकृता ॥ १२७ ॥

नैषा वेग तावकं संविसोढुं शक्ता नैनां खेदयेतीह वोढुः ।
कर्णोपान्ते रत्युदात्तस्य गत्वा प्राहोढाया नूपुरं नाम सत्त्वात् ॥१२८॥

नेषेत्यादि—एषा नायिका तावकं त्वदीयं वेगं रतिप्राचुर्यं सम्यक्प्रकारेण विसोढुं शक्ता समर्था नास्ति, एनां न खेदय खिन्नां न विधेहि । इतीत्थम् इह सुरतावसरे नवोढाया नवपरिणीताया वध्वा नूपुरं मञ्जरीकं रत्युदात्तस्य सुरतप्रसक्तस्य वोढु पत्युः कर्णोपान्ते श्रवणसमीपे गत्वा सत्त्वाद् बलात् प्राह कथयति स्म नामेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥१२८॥

योषाया अधरे वरेण कलिते सद्यो दृशा मीलितं
निर्यातं रदरोचिषाब्जरुचिना हस्तेन वा वेपितम् ।
एवं रत्नविनिर्मितैश्च वलयैराक्रन्दितं वेगतः
स्तत्रान्यव्यसनातुरा हि भुवने ते सम्भवन्तीत्यतः ॥१२९॥

योषाया इति—वरेण पत्या योषायाः स्त्रिया अधरे अधरोष्ठे कलिते दष्टे सति सद्यो झटिति पीडातिरेकाद् दृशा दृष्ट्या मीलितं, रदानां दन्तानां रोचिषा किरणेन चीत्कृत-करणात् निर्यातं निर्गतं, अब्जस्य कमलस्येव रुचि कान्तिर्यस्य तेन हस्तेन करेण वा वेपितं कम्पितं, एवमित्थमेव रत्नविनिर्मितैर्मणिरचितैर्वलयैः कटकैश्च वेगतो रयेण आक्रन्दितं शब्दितं, इत्यतो ज्ञायते ते दृगादय भुवने लोके अन्यस्य व्यसने सकटे आतुरा दुःखिनो जायन्ते हि परमार्थतः ॥ १२९ ॥

रतान्ते सा भूयो वशनवसनं प्रोञ्छितवती
विलोलेनेदानीं शयकिसलयेनोज्ज्वलवतिः ।
विहस्यैवं रेजे तरलितदृशा तत्परिणति-
र्मुहुर्वक्त्रं पत्युः शिथिलसकलाङ्गीक्षितवतो ॥१३०॥

रतान्त इति—रतान्ते सुरतावसाने भूयः पुनर्विलोलेन चञ्चलेन शयकिसलयेन करपल्लवेन वसनवसनमधरोष्ठ प्रोञ्छितवती प्रोञ्छित कुर्वन्ती, उज्ज्वला दन्ता यस्यास्सा तथाभूता धवलदशना, शिथिलानि रतिबाहुल्येन निःसहानि अङ्गानि यस्याः सा, तस्य रतस्य परिणति· समाप्तिर्यस्यास्तयाभूता सा, इदानीं पत्युर्वल्लभस्य वक्त्र मुखं तरलित-दृशा रत्यतिरेकभयेन चपलदृष्टया मुहुः पुनः पुन., ईक्षितवती पश्यन्ती सा एव 'तव साधुता दृष्टा' व्यङ्ग्येन विहस्य हास्य कृत्वा रेजे शुशुभे ॥१३०॥

रत्यन्त गत्वाप्यददाने याचन्त्या वसनं बहुमाने ।
सरोषकुटिलं सम्पश्यन्त्या रुचिरुचितैवाथवा हसन्त्याः ॥१३१॥

रत्य·न्तमित्यादि—रत्यन्त सुरतावसान गत्वापि याचन्त्या वल्लभाया वसन वस्त्र बहुमानयुते भर्तरि अददाने अदत्तवति सति सरोषकुटिल यथा स्यात्तथा पश्यन्त्या अथवा 'मामकीन वस्त्र मह्य न ददासि तर्हि कस्यै दास्यसि ? स्वय वा धास्यसि' इति व्यङ्ग्येन हसन्त्या रुचि. शोभा उचितैव तदवसरयोग्यैवासीदिति शेषः ॥ १३१॥

सुप्ता कामकलाश्रमात्कुलवधूः पूर्वं प्रबुद्धापि वा
रम्नुः श्रीसुखनिद्रितस्य ललितं दोःपाशसम्पद्रसम् ।
तस्थौ निश्चलसत्तनुर्विलसतः संच्छेत्तुमेवाधुना
नागच्छत्सुविचारचेष्टितमना वाञ्छैकसभावनाम् ॥१३२॥

सुप्तेत्यादि—अधुना सुरतावसाने एषा कुलवधूः सुलोचना कामकलाश्रमात् रति-केलिखेदात् सुप्ता प्राप्तस्वापा पूर्वं पत्यु प्राक् प्रबुद्धापि जागृतापि श्रीसुखनिद्रितस्य निद्रानिमग्नस्य विलसतः शोभमानस्य रम्नुर्वल्लभस्य ललित सुन्दरं दोःपाशो भुजपाश एव सम्पद् सम्पत्तिस्तस्या रसमानन्द सछेत्तु दूरीकर्तु वाञ्छैकसभावनां वाञ्छाया एकाद्वितीया सम्भावना ता नागच्छत्वल्लभभुजबन्धनमपनेतु नावकाङ्क्ष किन्तु सुविचारेषु शोभन-विचारेषु चेष्टित मनो यस्यास्तथाभूता सती निश्चला निश्चेष्टा सती प्रशस्ता तनुः शरीरं यस्यास्तादृशीभूता तस्थौ स्थितवती ॥१३२॥

(सुरतवासना नाम षडर चक्रबन्धः)

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमास्त्रियं घृतवरी देवी च य धीचयम् ।
अस्मिन्स्तद्विहिते निरीत दशम· सप्ताधिकोऽङ्कः प्रियः
शिष्टानां सुरतोपहारकरणः संसूक्तयुक्तक्रियः ॥१३३॥

श्रीमानित्यादि—व्याख्यानं पूर्ववत् ॥१३३॥

इति श्रीवाणीभूषण-ब्र० भूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयमहाकाव्ये सप्तदशः सर्ग

●

अष्टादशः सर्गः

श्रीयुक्तपाठक ! शृणुत विनोदकृत्ते
सिद्धिं गतेऽर्हत इव द्वितयस्य वृत्ते ।
ऋद्धिं यतीन्द्रवदुपेतरि सूर्यकान्ते
वृद्धिं समर्णवदिते तमसि क्षपान्ते ॥१॥

श्रीयुक्तेत्यादि—श्रीयुक्तपाठक ! हे वाचक—महाशय ! ते विनोदकृत् हर्षकारकयुताथवा वृत्तान्तं शृणु । यत्तावत् किलार्हतो जिनस्य वृत्तेऽनशनाद्याचरणे इव द्वितयस्य स्त्रीपुरुषयोर्मिथुनस्यापि वृत्ते मैथुने सिद्धिं मुक्तिमुतावसानपरिणतिं गते सति सूर्यकान्ते नाम मणौ च यतीन्द्रवद्वृषिवर इव ऋद्धिमुपेतरि लभमाने यथा मुनीन्द्रऋद्धिमुपेत्य स्वचेष्टिते चमत्कुरुते तथा सूर्यकान्तमणिरप्यधुना कस्माद्वह्निं प्रकटयतीति भावः । तमसि अन्धकारे पुनः समर्णवत् सम्यगृणे यथा तथा वृद्धिं नामाधिकपरिणतिमिते प्राप्ते इदानीं क्षपान्ते प्रातःकाले चन्द्रमसः प्रकाशाभावे सूर्ये चानभ्युदितेऽधुनान्धकारवृद्धिर्भवतीति ॥१॥

स्वस्तिक्रियामतति विप्रवदर्कचारे
भद्रं सुगेहिवदिते कमलप्रकारे ।
स्वस्तु स्वतोऽद्य भवितु जगतोऽधिकारे
सर्वत्र भाविनि किलामलताप्रसारे ॥२॥

स्वस्तीत्यादि—अर्कचारे सूर्यस्योदये विप्रवत् स्वस्तिक्रियामतति, ब्राह्मणो यथा स्वस्तिवाचन करोति तथा शोभनामस्तिक्रियां गच्छति सति, कमलप्रकारे च सुगेहिवत्

अर्थ—हे श्रीयुक्त वाचक महाशय ! आगामी वृत्तान्त सुनो जो आपके हर्षका कारण है । जिस प्रकार अर्हन्तदेवका अनशनादि आचार सिद्धि—सफलताको प्राप्त होता है उसी प्रकार रात्रिके अन्तमे अथात् प्रातःकालके समय जब दम्पतीका समागमरूप कार्यसिद्धि—समाप्तिको प्राप्त हो गया था । मुनिराजके समान जब सूर्यकान्त मणि ऋद्धि—दीप्तिको प्राप्त हो रहा था और अन्धकार जब ऋणके समान वृद्धिको प्राप्त हो रहा था ॥१॥

अर्थ—जब सूर्योदय ब्राह्मणके समान स्वस्तिक्रिया—शोभनक्रिया (पक्षमे स्वस्तिपाठ) को प्राप्त हो रहा था, जब कमलोका समूह सद्गृहस्थके समान

गृहस्वराज इव भद्र पुण्यपरिणामं विकसनमिते प्राप्ते, सर्वत्र किलामलताया निर्मलपरिणतेश्च चामरताया देवभावस्य प्रसारे सति, इदानीमद्य स्वतोऽनायासेनैव स्वः स्वर्गं भवितु जगतो महितलस्याधिकारे सति ॥२॥

सूक्ति प्रकुर्वति शकुन्तगणेऽर्हतीव
युक्ति प्रगच्छति च कोकयुगे सतीव ।
मुक्ति समिच्छति यतीन्द्रवदब्जबन्धे
भुक्ति गते सगुणवद्रजनीप्रबन्धे ॥३॥

सूक्तिमित्यादि—अर्हति जिनदेव इव शकुन्तगणे पक्षिसमूहे सूक्ति सन्मार्गप्ररूपणामुत कलकलप्रायामुक्ति प्रकुर्वति सति, सज्जन इव कोकयुगे चक्रवाकमिथुने युक्ति बुद्धिविशदतामुत परस्परसंयोगवृत्ति प्रगच्छति सति, यतीन्द्रवद् योगिराज इवाब्जबन्धे कुड्मलरूपे मुक्ति संसारातीतावस्थामुत स्फुरणदशां समिच्छति सति, सगुणः पुण्यात्मा पुरुषस्तद्वत् रजनीप्रबन्धे निशासत्वे भुक्ति समाप्तिमवाप्ते पक्षे भोजनभाजनादिसम्पत्तिमधिगच्छति सति ॥३॥

लुप्तोरुरत्ननिचये वियतीव ताते चन्द्रे तु निष्करदशामधुना प्रयाते ।
घूकेऽपकर्मनयने द्रुतमेव जाते मन्दं चरत्यभिगमाय किलेति वाते ॥४॥

लुप्तोरुरत्नेत्यादि—सर्वेषामाश्रयदानत्वात् तात इव जनकस्थानीये वियत्याकाशेऽधुना लुप्तोरुरत्ननिचये संजाते लुप्तः समाप्तिमित उडूनामेव रत्नानां निचयोऽथवा

भद्र-विकास (पक्षमे शुभपरिणाम) को प्राप्त हो रहा था। जब पृथिवीतलको स्वर्ग बननेका अधिकार प्राप्त हो रहा था और जब सर्वत्र अमलता—निर्मलता (पक्षमे र—ल का अभेद होनेसे अमरता—देवभाव) का प्रसार हो रहा था ॥२॥

अर्थ—जब पक्षियोका समूह अर्हन्तके समान सूक्ति—मनोहर कलकल (पक्षमे सन्मार्गकी प्ररूपणापरक सुभाषित को कर रहा था, जब चकवा—चकवोका युगल सज्जन पुरुषके समान युक्ति—परस्परसंयोग (पक्षमे बुद्धिकी विशदता) को प्राप्त हो रहा था, जब अब्जबन्ध-कमलकुड्मल योगिराजके समान मुक्ति—विकास (पक्षमे संसारातीत अवस्था) को प्राप्त हो रहा था और जब रात्रिका सत्त्व—पुण्यशाली मनुष्यके समान भुक्ति—समाप्ति (पक्षमे भोजनभाजनादिरूप सम्पत्ति) को प्राप्त हो रहा था ॥३॥

अर्थ—प्रातःकालके समय वायु मन्द मन्द—धीरे धीरे चल रही थी। क्यो? इसके लिये कविकी उत्प्रेक्षा यह है। कि सबके लिये आश्रय देनेसे पिताके तुल्य जो

लुप्तोऽर्थाधिगतिवशामितो रत्नानां हीरकादीनामुरुरनल्पो निचयः संग्रहो यस्य तस्मिन्निति। अधुनैव पुनस्तत्पुत्रस्थानीये चन्द्रे निष्करतां किरणरहितावस्थामुत हस्तहीनतां प्रयाते तदन्वेषणयोग्यताभावे सतीत्यर्थः। तथव घूके काकारिपक्षिणि अपकर्मणो कर्तव्यताविहीने नयने चक्षुषी यस्य तस्मिन् द्रुतमेवाकस्मादेव जातेऽन्वेषणकर्मण्ययोग्ये सति तदन्वेषणार्थमन्यः कः स्यादित्यस्माद्धेतोः किलाभिगमायान्वेषणार्थमिव वाते मन्दं चरति शनैः शनैर्याति सति। वायो स्वाभाविकं मन्दगमनमन्वेषणाय कल्पितमित्युत्प्रेक्षा ॥४॥

सुप्ते विजित्य जगतां त्रितयं तु कामे लुप्ते त वीयधनुषो विरवेऽति वामे।
उप्ते रथाङ्गयुगचञ्चुपुटेऽभिरामेऽह्वोरात्रकस्य मधुरे चरमेऽत्र यामे ॥५॥

सुप्त इत्यादि---कामे मदने जगतां त्रितयं लोकत्रयं विजित्य स्ववशीकृत्य सुप्ते प्राप्तस्वापे सति, तदीयधनुषो मदन शरासनस्य अयिवामे क्रूरतरे विरवे विशिष्टास्फालनशब्दे लुप्ते प्रशान्ते सति, अत्र प्रभातवेलायाम् अहोरात्रकस्य रात्रिदिवस्य मधुरे मनोहरे चरमेऽन्त्ये यामे प्रहरे अभिरामे संयोगजन्यप्रसन्नतयाभिरामे मनोज्ञे रथाङ्गयुगस्य चक्रवाकमिथुनस्य चञ्चुपुटे चञ्च्वभ्यन्तरे उप्ते प्राप्तवपने सति विलीने सतीत्यर्थ. ॥५॥

मन्दत्वमञ्चति विधोर्मधुरे प्रकाशे
पर्याप्तिमिच्छति चकोरकृते विलासे।
सस्पन्दभावमधिगच्छति वारिजाते
सर्वत्र कीर्णमकरन्दिनि वाति वाते ॥६॥

मन्दत्वमित्यादि - विधोश्चन्द्रस्य मधुरे मनोहरे प्रकाशे मन्दत्वमल्पत्वमञ्चति प्राप्नुवति सति, चकोरैः जीवजीवैः पक्षिभि 'जीवजीवश्चकोरक इत्यमरः' कृते विहिते विलासे

आकाश था, उसका विशाल रत्नोका सग्रह (नक्षत्र-समूह) लुप्त हो गया—लूट लिया गया। पुत्र तुल्य जो चन्द्रमा था वह निष्कर—किरण रहित (पक्षमे हस्त-रहित) अवस्थाको प्राप्त हो गया अर्थात् चन्द्रमा आकाशके लुप्त रत्नोको खोजनेमे असमर्थ हो गया और रात्रिमे विचरने वाले जो उलूक थे उनके नेत्र देखनेमे असमर्थ हो गये, अत. किसी सहायकको न पाकर वायु स्वय ही उन लुप्त रत्नोके समूहको खोजनेके लिये ही मानो धीरे-धीरे जब चल रहा था ॥४॥

अर्थ—जब कामदेव तीनों जगत्को जीतकर सो गया था, जब कामदेवके धनुषकी क्रूर टंकार लुप्त हो गई थी, जब रात-दिनका अन्तिम मनोहर प्रहर चकवा-चकवीके चञ्चूपुटमे विलीन हो गया था, जब चन्द्रमाका प्रशस्त प्रकाश

हर्षव्यापारे पर्याप्ति समाप्ति इच्छति वाञ्छति सति, वारिजाते कमले सत्पन्नभावं संस्कुरतामधिगच्छति प्राप्नुवति सति, सर्वत्र भूतले नभस्तलेऽपि च कीर्णः प्रक्षिप्तो मकरन्दो विद्यते यस्य तस्मिन् वाते पवने वाति वहति सति ॥६॥

सम्पूर्णरात्रमुचितां रतिनामलीलां
तां रागिणामविरतप्रतियोगशोलाम् ।
दीपेऽभिवीक्ष्य बहुकौतुकतोऽधुना वा
सघूर्णमानशिरसीह सनिद्रभावात् ॥७॥

सम्पूर्णेत्यादि—सम्पूर्णरात्र सायमारभ्य प्रभातपर्यन्तम्, अविरतो निरन्तरसम्भूतो योऽसौ प्रतियोग क्रमपरिणामस्तच्छीलामुचितां योग्यतामापन्ना रागिणां परस्परमनुरागवतां मिथुनानामिति यावत् ता प्रसिद्धा रतिनामलीला बहुकौतुकतोऽभिवीक्ष्याधुना वा पुनरिह तस्मिन् दीपे सनिद्रभावादेव निद्रापन्नपरिणामात्किल संघूर्णमानशिरसि सजाते । प्रभातसमये विनाशसन्मुखत्वाद्दीपकस्य घूर्णमानत्वं सहजं निद्रायुक्तस्य च शिरो घूर्णत एवेति ॥७॥

व्योम्नि स्थितिं भरुचितां समतीत्य दीने
राज्ञोऽपवर्तनदशा प्रतिपद्य हीने ।
सद्योऽथवाभ्युदयमेतरि भावनाना-
माद्येऽर्थवत्यपि पदे विकृतोक्तिमानात् ॥८॥

व्योम्नीत्यादि—अथवेत्युक्तिपरिवर्तने । व्योम्नि गगने राज्ञश्चन्द्रमसो नृपते वाऽपवर्तनमस्तोन्मुखत्व कुत्सितप्रवर्तनं वा प्रतिपद्य लब्ध्वा भेभ्यो नक्षत्रेभ्यो रुचितामुत भरुभि. सुवर्णैश्चितां स्थितिं धनाढयता समतीत्य दीने जाते । इने सूर्ये सद्य एवाभ्युदयमेतरि उद्गमनं गच्छति सति, हीति निश्चयार्थं । तथा हीनेऽवनतदशापन्नेऽपि पुरुषेऽभ्युदय-

मन्दताको प्राप्त हो रहा था, जब चकोर पक्षियोके द्वारा किया हुआ नृत्यादि हर्ष व्यापार समाप्त होना चाहता था, जब कमल विकासोन्मुख था, जब सर्वत्र मकरन्द–परागको बिखेरने वाली वायु बह रही थी, और जब दीपक सपूर्ण रात्रिमे निरन्तर होने वाली रागी जनोकी योग्य रतिलीलाको कौतुक वश देखकर निद्रासे ही मानो अपने शिरको हिला रहा था ।।५–७।।

अर्थ—जब आकाश राजा–चन्द्रमा (पक्ष मे नृपति) की अपवर्तन दशा–अस्तोन्मुख अवस्था (पक्षमे कुत्सित शासन प्रवृत्ति) को प्राप्तकर भरुचितां–नक्षत्रोंसे देदीप्यमानता (पक्षमे भरु–चिन्ता–सुवर्ण सम्पन्नता) को छोड़कर

मुन्नतिपरिणामं गच्छति, एवं च विभिः पक्षिभिः कृतमुखितमानं कलकलरवस्तस्मादुत विकृतोक्ते विकारपरिणतेर्मानादृर्शनात् भावनानामनित्याशरणेत्यादिद्वादशानुप्रेक्षाणां जिनागमोक्तानामाद्ये पदे तावदनित्यवचनेऽर्थवति समर्थके सञ्जाते सति ॥ ८ ॥

सत्यार्थतां व्रजति चैव नभःस्वरूपे
भृङ्गे सतीह मधुसूदननामभूते ।
अम्भोरुहि स्फुरणतः स्विदहीनघुर्ये
श्रीकौस्तुभाकृतिमिते स्वयमेव सूर्ये ॥ ९ ॥

सत्यार्थतामित्यादि—इह प्रातर्वेलायां नभसो गगनस्य स्वरूप समाकृतिस्तस्मिन् सत्यार्थतामन्वर्थतामेव, न विद्यते भानां नक्षत्राणां स्वरूप यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या व्रजति प्राप्नुवति सति, भृङ्गे मधुपे मधुसूदन इति नाम यस्य तथाभूतश्चासौ भूपो नृपश्च तस्मिन् कृष्णनामधेये सति पक्षे मधु कमलरसं सूदयति मधुसूदनस्तथाभूते सति प्रफुल्लपयोजमधुपानतत्परे सति, स्विदथ वा अम्भोरुहि कमले स्फुरणतो विकासात् अहीनधुर्ये उत्कटशोभासम्पन्ने सति, किञ्च सूर्ये बालदिनकरे श्रीकौस्तुभस्य शोभा-सम्पन्नमणिविशेषस्याकृतिम् इते गते सति । प्रातःसमये गगने नक्षत्राणि विलीयन्ते भ्रमरा

दीन हो गया—प्रभाहीन हो गया (पक्ष मे निर्धन हो गया) तथा सूर्य शीघ्र ही अभ्युदय-उदय (पक्षमे सम्पन्नता) को प्राप्त हो गया, तब पक्षी अपनी कल-कल ध्वनिसे आगमोक्त बारह अनुप्रेक्षाओमेसे प्रथम अनित्यानुप्रेक्षा को सार्थक कर रहे थे ।

भावार्थ—'राजा[1]-चन्द्रमा रूपी एक राजाका अस्त होना और इन[2]-सूर्य रूपी अन्य राजाका उदित होना । इससे ससारकी अनित्यताको पक्षी अपनी कलकल ध्वनि से प्रकट कर रहे हैं, यह उत्प्रेक्षा की गई है ॥ ८ ॥

अर्थ—जब नभ स्वरूप-आकाश का स्वरूप भ-नक्षत्रो के विलीन होनेसे (न विद्यते भाना नक्षणाणा स्वरूप यत्र) इस व्युत्पत्ति के कारण सत्यार्थता-सार्थकताको ही प्राप्त हो रहा था । जब भ्रमर मधुसूदन-मधु नामक दैत्य को नष्ट करने के कारण मधुसूदन-कृष्ण नामक राजा हो रहा था (पक्ष मे विकसित कमल पुष्पसे मधु-पुष्प रसको ग्रहण कर रहा था) । जब कमल प्रफुल्लित होने से अत्यधिक शोभा युक्त हो रहा था और जब प्राची दिशा से उदित होने

---

१ 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयो ' इति विश्व ।
२ इन' पत्यौ नृपे 'सूर्ये' इति विश्वलोचनः ।

मधुपानं कुर्वन्ति, अम्भोरुहाणि विकसन्ति, बालदिनकरश्च प्राच्यामुदेतीत्येवमिह वर्णितम् ॥ ९ ॥

यन्नाक्षि चाक्षिपदहो पलकांशमासा-
मेणीदृशां तु रतिरासबृहद्विलासात् ।
प्राभूज्जवाद्रजनिनिर्गमनैकनाम-
सन्देशकस्य पटहस्य रवोऽभिरामः ॥ १० ॥

यन्नाक्षीत्यादि—उल्लिखितेषु कार्येषु सत्सु यत्र रजन्यामासामेणीदृशां मृगाक्षीणामक्षि नयन रतिरासस्य सुरतक्रीडाया यो बृहद् विलासस्तस्मात् पलकांश पक्ष्मपातलव नाक्षिपत् नैव चिक्षेप, क्रीडातिरेकात्ता नयनपक्ष्मपातमपि नाकुर्वन्निति भाव । तथाभूताया रजन्या रात्रेर्निर्गमनं नि सरणमेवैकमद्वितीय नाम यस्य तथाभूत: सन्देशो यस्य, कप्-समासान्त, एवभूतस्य पटहस्यानकस्य 'आनकः पटहो ढक्का' इत्यमर. । अभिरामो मनोहरो रवशब्दः, जवाद् वेगात् प्राभूत्प्रकटितो बभूव ॥ १० ॥

विश्रान्तिमभ्युपगते तु विभाततूर्ये
श्रीमेविनीरमणधाम समाययुर्ये ।
सूता जगु: सुमृदुमञ्जुलमुत्सवाय
रात्रिव्यतीतिविनिवेदनकारणाय ॥ ११ ॥

विश्रान्तिमित्यादि—तु पुन विभाततूर्ये प्रभातवादित्रे विश्रान्तिमभ्युपगते सति, तद्ध्वनिविरामानन्तरमित्यर्थ. । ये सूता मागधाः स्तुतिपाठका श्रीमेविनीरमणस्य राज्ञो जयकुमारस्य धाम भवन समाययु· समागतास्ते उत्सवाय उल्लासाय रात्रेर्व्यतीतिर्व्यप-गमस्तस्या विनिवेदनं सूचन तस्य करणाय विधानाय सुमृदुमञ्जुलं कोमलकान्तपदावली-सहित यथा स्यात्तथा जगुर्गायन्ति स्म ॥ ११ ॥

वाला बाल दिनकर अतिशय सुशोभित कौस्तुभ मणिकी आकृतिको प्राप्त हो रहा था ॥ ९ ॥

अर्थ—आश्चर्य है कि जिस रात्रि मे इन मृगनयनी स्त्रियो ने रति क्रीडा के विस्तारसे आँखकी पलक भी नही झपने दी वह रात्रि अब जा रही है—पूर्ण हो रही है, यही एक सदेश देनेके लिये मानो दुन्दुभि का मनोहर शब्द हो रहा है ॥ १० ॥

अर्थ—प्रात कालीन वादित्रके विश्रान्त होनेपर जो स्तुतिपाठक—चारण राजभवन मे आये थे, वे उत्सवकी वृद्धि तथा रात्रि समाप्ति की सूचना देनेके लिये कोमलकान्त पदावली से गान करने लगे ॥ ११ ॥

त्वं वासुरासि मदनैकधुराशिकाभि-
हें देवि ! सेवितसुखा मुखवासिकाभिः ।
लब्ध्वा मुकुन्दगुणमन्यजनाय नाम
मोहंकरीति तव संस्तवनं श्रयामः ॥ १२ ॥

त्वमित्यादि—हे देवि ! सुलोचने ! मदनैकधुरा कामोत्पत्तिकरणक्रियावती अन्य-जनाय सर्वसाधारणाय मोहकरी निद्रादायिनी स्वयं तु सेवितसुखा कृतारामा लब्ध-विश्रामा सती मुकुन्दगुणमेनं जयकुमारं मुकारस्य रव नाशस्तत्र वासिकाभिराशिकाभि-रर्थात्तु क सुखं ददाति सम्पादयतीति कन्दो दिवसस्तद्गुणमेनं लब्ध्वा त्वं वासुरा रात्रिरिवासि तथा रात्रिंदिनमनुसरति तथा त्वमेनमनुभवसीति । तथा हे देवि ! मदनैक-धुस्त्व मुकन्दगुणमेन मुखवासिकाभिराशिकाभिरर्थात् क सुखं ददातीति तद्गुणमेन लब्ध्वा सेवितसुखा लब्धानन्दाऽथच सेवित सपावित सुकारस्य रव यया सा वासुरार्थात् वारा रलयोरभेदावृबाला नवयौवनासि अन्यजनाय मोहकरी, यद्वामुकमेनं वगुणं दातारं जयकुमारमित्यपि । तथा हे देवि ! मुखवासिकाभिराशिकाभि सुवासनाभिरिति यावत्, कन्दगुण कन्दाना पृथिवीतलस्य पदार्थाना गुण लब्ध्वा मदनैकधुरा किलोन्मत्तताकरण-कारणेनान्यजनाय मोहकरी बुद्धिभ्रंशकारिणी सुरा मदिरेवासि त्वं । यद्वा मुकुन्दगुणं श्रीकृष्णसदृशमेन लब्ध्वा मदनैकधुरा मदनस्य नाम प्रद्युम्नस्यैवैकस्य धुरा जन्मदात्री अन्यजनाय माया लक्ष्म्या ऊह वितर्क करोति सम्पादयतीति मोहकरी त्व मुखवासिका-

---

अर्थ—हे सुलोचना देवि ! तुम वासुरा-रात्रिके समान हो, क्योंकि जिस प्रकार रात्रि मदनैकधुरा–कामोत्पादक क्रियाओंसे सहित होती है, उसी प्रकार तुम भी नायक-पतिके हृदयमे कामोत्पादन करनेवाली हाव-भाव-विलास आदि क्रियाओसे सहित हो। जिस प्रकार रात्रि, सेवितसुखा–विश्राम जन्य सुखको देनेवाली होती है, उसी प्रकार तुम भी सेवितसुखा–रति सुखका सेवन करने-वाली हो। जिस प्रकार रात्रि मुखवासिनाभि—मुकारके अभावसे सहित वासिता–अनुभूत आशिकाओं–सुखकारी सम्पदाओसे सहित होती है, उसी प्रकार तुम भी मुखवासिता–गुरुजनोके मुखमे वास करनेवाली अर्थात् उनके मुखसे उच्चरित होनेवाली आशिकाओ—आशीर्वादोसे सहित हो। जिस प्रकार रात्रि कन्दानुसारिणी अर्थात् दिनका अनुगमन करने वाली है, उसी प्रकार तुम भी दगुण—दाताके गुणोसे सहित अमुक–इस जयकुमारको पाकर उसका अनुगमन करने वाली हो और जिस प्रकार रात्रि अन्यजन–सर्वसाधारण जनोके लिये मोहकरी–निद्रारूप मूर्च्छाको उत्पन्न करने वाली है, उसी प्रकार तुम भी अन्यजन–

भिरासिकभिः 'भद्रं भवत्विति' वाचनाभिरिति सेवितमुखा सुरार्थाइवासि । एवं तव स्तवन श्रयामो वयं तवानुचरा इति ॥ १२ ॥

एषोऽस्ति मङ्गलमयः समयः प्रभात-
स्तत्तेऽर्थिनीह वशिनः शशिनः प्रभातः ।
ऐच्छन्मुखश्रियमिवानधिकारितातः
बिम्बं पलाशदलतामयतेऽथवातः ॥१३॥

एष इत्यादि—हे वशिनो जितेन्द्रियस्य तवाधीनस्य च जयकुमारस्यार्थिनि ! इच्छावति ! शृणु इति शेषः । एष प्रभातनाम समयः मङ्गलमयः सर्वेषामेव कल्याणकारकोऽस्ति । इह वात एव शशिनश्चन्द्रस्य बिम्बं प्रभात (पञ्चम्यास्तसिलप्रत्यय) पलाशदलतामयते पलाशपत्रवन्निष्प्रभमभूदिति किल । ते तव मुखश्रिय स्वकीयाननशोभामैच्छदभ्यवाञ्छदनधिकारितातोऽपि यतस्ते मुखसाम्यवाञ्छनेन तस्य कलङ्किनो जातुचिदधिकारो नास्तीति ॥१३॥

शाटीमिता कुसुमितामसकौ विभात-
सन्ध्याप्यवन्ध्यभवनाय सुभावितातः ।
मुञ्च क्षणं खलु विचक्षणवृत्तयात-
स्तामीश्वरः सफलयेदिति तं कृपातः ॥१४॥

शाटीत्यादि—हे देवि ! असकौ विभातसन्ध्यापि सुभाविताता सहजतया, वन्ध्या-

---

समस्तजनोमे मोह-प्रीतिको उत्पन्न करने वाली हो। इसीलिये हम आपका स्तवन-गुणगान कर रहे हैं।

यहाँ संस्कृत टीकामे श्लेषका आश्रय लेकर वाला, सुरा तथा लक्ष्मी आदिका पक्ष लेकर श्लोककी व्याख्या की गई है। उन सब पक्षोको संस्कृत टीकासे जानना चाहिये ॥१२॥

अर्थ—वशी-जितेन्द्रिय अथवा तुम्हारे अधीन रहने वाले जयकुमारकी इच्छा रखने वाली हे सुलोचना देवि! सुनो, यह मङ्गलकारी प्रभात समय है। यतश्च चन्द्रमाके बिम्बने तुम्हारे मुखकी शोभा प्राप्त करना चाही थी, जबकि उसे इस प्रकारकी अधिकारिता नही थी, ततश्च अनधिकारिताके कारण ही वह प्रभाकी अपेक्षा पलाशदलताको प्राप्त हो रहा है, अर्थात् पलाश दलके समान निष्प्रभ हो गया है ॥१३॥

अर्थ—यह प्रभातसन्ध्या भी (पक्षमे सन्तानकी इच्छुक स्त्री) सहज स्वभावसे

कर्म न भवतीत्यवन्ध्यभवनं तस्मै सार्थकतानिमितमुत प्रसवभावसम्पत्स्यर्थमिति कुसुमितां कौसुम्भरागसंयुक्तां शाटीमिता प्राप्तास्ति खलु, पश्येति शेषः। तीर्थस्नाता स्त्री पतिसंयोगार्थमवणवर्णां शाटीं परिदधाति तथासकौ सन्ध्यापि तावत्। अत कारणात्तामीश्वरो जयकुमारस्तां प्रभातसन्ध्यामपि सफलयेत् स्वसंयोगेन सार्थिकां कुर्यात् सन्ध्यावन्दनां सम्पादयेदिति यावदिति हेतोस्त्वं विचक्षणवृत्तया भवती किल विचारशीला यत समाजानुग्रहबुद्धया तं जयदेवनृप क्षणं किञ्चित् समयमात्र मुञ्च ॥१४॥

श्राद्धे यथावनिमहेश्वरि ! विप्रजातः
पूर्णोदरः ससुरभिश्च विभाति वातः ।
कोकोऽपि मङ्क्षुतवरो धृतमोदकोऽत
सन्तोषिणां तु विनतिः कणकाय नोऽतः ॥१५॥

श्राद्ध इत्यादि—हे अवनिमहेश्वरि ! महाराज्ञि ! श्राद्धे श्रद्धापूर्वकदानकाले यथा विप्रजातो ब्राह्मणपुत्र सुरभिणा धेन्वा सहितः पूर्णोदर इष्टभोजनेन सम्भृतोदरो भवति, तथासाविदानीं वातः पवनः ससुरभिः जलकमलप्रस्फुटभावात्सुगन्धयुक्तः पूर्णोदरो जलकणपरागसंग्रहयुक्तश्च विभाति। तथा म पापं दुःखं वा गच्छन्ति ते मङ्क्षुता दरिद्रिणस्तेषु वरः प्रधानोऽसौ वनितावियुक्तत्वात्कोकश्चक्रवाकपक्षी सोऽपि पुनरधुनात्र

सार्थकता प्राप्त करनेके लिये (पक्षमे बन्ध्यापन को दूर करनेके लिये) कुसुमानी रङ्गसे रंगी हुई लाल साड़ीको धारण कर चुकी है, इसलिये ईश्वर—राजा (पक्षमे वल्लभ) जयकुमार अपने संयोग—समीचीन योगदान (पक्षमे समागम) से उस प्रभात सन्ध्याको सफल कर सकें सन्ध्यावन्दनादिके द्वारा सार्थक कर सकें (पक्षमें सन्तानवती) कर सकें, अतः अपनी विचारशील दृष्टिके कारण क्षणभरके लिये उन्हें छोड़ दें।

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री चतुर्थ स्नानके अनन्तर बाझपनका दोष नष्ट करनेके लिये सहज स्वभावसे लाल साडी पहिनती है, उसी प्रकार सन्ध्याने भी अपनी निरर्थकताको नष्ट करनेके लिये छाई हुई लालीके बहाने लाल साड़ी पहिन रक्खी है, अत उसे सार्थक करनेके लिये वल्लभ–जयकुमारको छोड़ें ॥१४॥

अर्थ—हे महाराज्ञि ! जिस प्रकार श्राद्धमे ब्राह्मणपुत्र मनचाह्रा भोजन मिलनेसे पूर्णोदर और दक्षिणामे सुरभि–गायकी प्राप्त कर ससुरभि होता है, उसी प्रकार इस प्रभात वेलामे वायु भी जलकण तथा पुष्प परागसे युक्त होनेके कारण पूर्णोदर–पूर्णमध्य है तथा विकसित कमलोकी सुगन्धसे सुगन्धित हो रहा है। यही नही दुःखियो अथवा दरिद्रोमे प्रधान यह चक्रवाक पक्षी भी धृत-

धृतमोदको धृतः सम्प्राप्तो मोद एव मोदकः प्रसन्नभावो येन स इति, पक्षे च धृतः संलब्धो मोदकः लड्डुको येनेति। नोऽस्माकं सन्तोषिणां तु पुनः कणकायेव धान्यकणार्थमेव कायात्मचिन्तनार्थमेव विनतिः प्रार्थनास्ति। प्रभातसमयत्वात्प्रबुद्धा भवती सामायिकादिप्रातःकालीनां क्रियां कुर्विति भावः ॥१५॥

कृत्स्नप्रपालननिमित्तमिहाङ्गमातु-
स्त्वत्तोऽक्षतस्य तु परित्यजनं प्रयातुम्।
अभ्यागतो रविरुपात्तकरप्रसारः
कस्मात्तवापि महती दृढमुष्टितारम् ॥१६॥

कृत्स्नेत्यादि—इह प्रभातसमये त्वत्तोऽङ्गमातुर्लक्ष्म्याः कृत्स्नपालननिमित्तं सकलप्रजापरिपालनार्थं तावत्। अक्षतस्य—अक्षस्याचारस्य परिपालनकर्ता यस्तस्याचारव्यवहारवतो जयकुमारस्य परित्यजनं प्रयातुम्, उपात्तकरप्रसारः स्फुटितकिरणकलापो रविरभ्यागतः सन्निकटतमोऽस्ति। पुनरपि तवेयमिदानीं महती दृढमुष्टिता निद्रितावस्था कस्मादस्ति ? निद्रावस्थायां गाढमुष्टित्वात्। तथा कृत्स्नस्योदरस्य परिपालननिमित्तं परिपोषणार्थमक्षतस्य धान्यकणस्य परित्यजनं दानं प्रयातुं लब्धुमुपात्तकरप्रसारो विस्तारितहस्तोऽसौ रविनामाभ्यागतो भक्तोऽस्ति, पुनरपि तव दृढमुष्टिताऽनुदारता

मोदक—हर्षको प्राप्त अथवा लड्डुओको प्राप्त हो रहा है, अतः हम सन्तोषी जनोकी तो कणक—धान्यके कणो अथवा आत्मचिन्तनके लिये ही विनति—प्रार्थना है। अर्थात् सामायिक आदि प्रात काल सम्बन्धी क्रियाओको कीजिये।

भावार्थ—श्रद्धापूर्वक किये जाने वाले दानमे ब्राह्मणपुत्रने भरपेट भोजन और दक्षिणामे गाय प्राप्त की तथा चक्रवाक पक्षी (पक्षमे दरिद्र भिखारी) ने मोदक लड्डू प्राप्त किये। हमलोग यतश्च संतोषी हैं, अतः अनाजके दानोको ही प्रार्थना करते हैं॥१५॥

अर्थ—हे देवि ! जगत्की लक्ष्मी स्वरूप तुमसे सबका पालन करनेके निमित्त अक्षत—आचार-व्यवहारके पालक—जयकुमारका परित्याग प्राप्त करनेके लिये किरणोके प्रसारसे मुक्त सूर्य निकटतम है, अर्थात् प्रार्थना करनेके लिये सम्मुख स्थित है, फिर भी इस समय तुम्हारी दृढमुष्टिता क्यों है ? तुम मुट्ठी बाधे क्यो सो रही हो ?

अर्थान्तर—कृत्स्न उदरका पालन करनेके निमित्त तुमसे अक्षत-चांवलोका दान प्राप्त करनेके लिये रवि नामका भिखारी हाथ पसार कर आया है। फिर

कस्मादस्ति ? 'आचारे व्यवहारे च चुल्लावशः समिष्यते' । 'पालने पालके त स्यात्', 'कृत्स्नं स्यादुदरे जले' इति च विश्वलोचने ॥ १६ ॥

हे नाथ ! नाथ भवतो भवतोऽपि शस्य-
रूपस्य पश्य कथमद्य किलाशुभावः ।
सन्तृप्तये भवभृतां भवतात् समाय-
कायस्य यस्य बहुधान्यहितप्रभावः ॥१७॥

हे नाथेत्यादि—हे नाथ ! भवभृतामस्मदादीना सन्तृप्तये सम्यगाजीवनमेव समाय एव कायो यस्य तस्य । अथ च समस्य प्रशान्तिपरिणामस्याय एव कायो यस्य तस्य महानुभावस्य सर्वदैवान्यहिताय परोपकाराय प्रभावोऽथवा बहुरनल्पो योऽसौ धान्यहित-प्रभावोऽभूदोदनरूपपरिणामो जातस्तस्यैव भवतस्तव भवतोऽपि जन्मत एव शस्यरूपस्य प्रशंसनीयस्वरूपस्याथ च धान्यस्वरूपस्यापि किलाद्याशु[2]भाव. शीघ्रपरिणामोऽथवा व्रीहिभाव कथमिव न भवतात् । प्रभातसमयत्वात् सामायिकक्रियार्थं शीघ्रमेवोत्थान कर्तव्यमिति यावत् ॥ १७ ॥

मन्दाग्निरुग्युगभवद्दिननाथकान्ता
सन्दर्शितश्वयथुशार्वरमप्युपान्तात् ।
नेत्राण्यमूनि तिमिराख्यमथाप्यधू रे
दोषं किलौषधिपतौ प्रतियाति दूरे ॥१८॥

भी तुम्हारी दृढमुष्टिता–अनुदारता क्यो है ? मुट्ठी खोल कर उसे अक्षत क्यो नही देती हो ? ॥ १६ ॥

अर्थ—हे नाथ ! हम भवभृता–जन्मधारी प्राणियो को तृप्तिके लिये सम्यक् परिपालन अथवा प्रशान्त परिणाम रूप शरीरसे सहित तथा भवत.–जन्मसे ही प्रशसनीय रूपसे युक्त भवत –आपका सदा अन्यजन हितकारी प्रभाव क्यो न हो ? अवश्य हो ।

अर्थान्तर—हे नाथ ! आप भवत.–जन्मसे हो शस्यरूप है–धन्यरूप है, सबको जीवित रखना ही जिसका काय–लक्ष्य है तथा धान्योमे जिसका बहुत प्रभाव है, अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ धान्य माना जाता है, ऐसे आपका आशुभाव-धान्यरूप परिणाम क्यो न हो ? अवश्य हो ॥ १७ ॥

---

१. भवशब्दात्तसिल् प्रत्यय । २ 'आशुर्व्रीहौ क्लीब तु सत्वरे' इति विश्वलोचन ।

मन्दाग्नीत्यादि— इदानी हे महानुभाव ! ओषधिपतौ चन्द्रमसि तथैव भिषग्वरे दूरे प्रतियाति सति अस्तप्रायता गच्छति असन्निकटदेश गते च दिननायकान्ता नाम सूर्य-कान्ता नाम मणि, सा मन्दाऽनधिकपरिणामाया अग्नेर्वह्नेः रुग् रुचिस्तद्युगभवत् । अथ च दिननायननामकमहाशयस्यकान्ता स्त्री मन्दाग्निनामकरोगवती जाता । उपान्तादेव शार्वर नाम तिमिरमिद सन्दर्शित श्वयथु स्थूलत्वमुत च शोथरोगो वा येन तदभवत् । अमूनि नेत्राणि पुनरप्यथ तिमिराख्य दोषमधु । अनवलोकनदशां तिमिरनामकरोग वा प्रापुरिति । रेऽव्ययः खेदप्रदर्शने, अत एव नाशस्योप-समीप गतो यो भावस्तस्मा-दुपान्ताद्वा ।। १८ ।।

शीताङ्गतां विचलतः पवनस्य पश्य
विस्फोटवत्त्वमधुना सलिलोद्भवस्य ।
संदृश्यतेऽवनितुजो विकृतः प्रलापः
मूर्च्छां कुमुद्वति उतेतितमामपाप ।।१९।।

शीताङ्गतामित्यादि—हे अपाप ! पुण्यात्मन् ! अधुना विचलतः पवनस्य शीताङ्गता शीतलतां तथैव शीताङ्गनामरोगवत्ता पश्यावलोकय। सलिलोद्भवस्य कमलस्य विस्फोटवत्त्व विकासभृत्वमुत विस्फोटकनामरोगवत्त्व पश्य ; अवनितुजोवृक्षस्य

अर्थ—हे महानुभाव ! अब ओषधिपति-चन्द्रमा दूर चला गया है—अस्त होनेके सन्मुख है, सूर्यकान्तमणि तुच्छ अग्निके समान निष्प्रभ हो गया है और विस्तारको दिखाने वाला शर्वर-अन्धकार उपान्त-नाशके निकट है, फिर भी ये नेत्र तिमिर नामक दोषको धारण कर रहे है, अर्थात् निद्रामे निमग्न हो अनव-लोकन दशाको धारण कर रहे है, कुछ देख नही रहे है ।

अर्थान्तर—ओषधिपति-श्रेष्ठ वैद्यराजके दूर चले जाने पर सूर्यकी कान्ता-स्त्री मन्दाग्नि रोगसे युक्त हो गई है, अन्धकारको शोथका रोग हो गया है और उससे वह नष्ट हो रहा है तथा ये नेत्र तिमिर नामक रोग-रतोधीको धारण करने लगे है, यह खेदकी बात है ।। १८ ।।

अर्थ—हे पुण्यात्मन् ! इस समय चलने वाली वायुकी शीताङ्गता-शीतलताको देखो (पक्षमे शीताङ्गनामक रोग विशेषको देखो), कमलकी विस्फोटता-विकसित अवस्थाको (पक्षमे विस्फोट नामक रोगको देखो), इधर वृक्षका विकृत-पक्षियोके द्वारा किया हुआ प्रलाप-कलकल शब्द सुनाई दे रहा है, पक्षमे विकृत-दूषित प्रलाप-बकझक करने वाला रोग दिखाई दे रहा है ।

बिभिः कृतः पक्षिभि कृत. प्रलाप कलकलशब्द उत विकृत प्रलापनामरोग सन्दृश्यते। ततः खेदावृत कुमुद्वती मूर्च्छा मुद्रणावस्था मूर्च्छानामरोगं वेतितमाम् ॥ १९ ॥

यद्वा यथाभिरुचि सन्तमसं निशीय-
वम्भोरुहाणि मुकुलाञ्जलिभिर्निपीय ।
नाथोद्वमन्ति तवजीर्णतयाधुनार-
मेतानि निर्यदलिवृन्दपवप्रकारम् ॥२०॥

यद्वेत्यादि—हे नाथ ! अम्भोरुहाणि कमलानि निशि रात्रौ मुकुलाञ्जलिभिः कृत्वा यथाभिरुचि स्वेच्छानुसारमियद् बहुलतर सन्तमसमन्धकारं निपीय पीत्वाऽधुना निर्यता-मलीनां भ्रमराणां वृन्द समूहस्तस्य पदं छद्मैव प्रकारो यस्य तवैतवजीर्णतयैव किलोद्वमन्ति प्रत्युद्गिलन्ति एतानि तानि कमलानीति ॥ २० ॥

यन्मीलितं सपदि कैरविणीभिराभि
क्षीणा क्षपास्तमितमप्युत तारकाभिः ।
संचिन्तयन् दयितवारतयेन्दुदेवः
प्राप्नोति पाण्डुवपुरित्यथवा शुचेव ॥२१॥

यदित्यादि—सपदि साम्प्रतमाभिः कैरविणीभिर्यत्किल मीलित सम्मूर्छितं, क्षपा रात्रिः सा क्षीणाभूत् तारकाभिरस्तमितं मरणमवाप्तमित्यथवा चिन्तयत् दयिताः प्रियतमा दारा स्त्रियो यस्य तद्भावेन। असाविन्दुदेवश्चन्द्रः शुचेव किल वपुः शरीरं पाण्डु श्वेतप्रायं प्राप्नोति ॥ २१ ॥

इन सब अनहोनी बातोको देखकर ही मानो कुमुदिनी मूर्च्छा–मुद्रितदशा (पक्षमे मूर्च्छा नामक रोगको) अत्यधिक रूपसे प्राप्त हो रही है ॥ १९ ॥

अर्थ—हे नाथ । कमलोने रात्रिमे कुड्मलरूपी अञ्जलियोके द्वारा इच्छा-नुसार इतना अधिक अन्धकारका पान किया था कि अब वे ही कमल निकलने वाले भ्रमरोके छलसे अजीर्णके रूपमे उसी अन्धकारको उगल रहे है ॥ २० ॥

अर्थ—चन्द्रमाके तीन स्त्रियाँ थी—१ कुमुदिनी, २ रात्रि और ३ तारा। इनमेसे इस समय कुमुदिनी मूर्च्छित हो गई, रात्रि नष्ट हो गई और तारा अस्तमित हो गई, मर गई। यतश्च चन्द्रमा स्त्रीप्रेमी था, अतः अपनी तथोक्त स्त्रियोंके विषयम चिन्ता करता हुआ मानो शोकसे ही पाण्डु–श्वेत शरीरको प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

विस्फूर्तिभृन्नृवर ! किन्नवदद्रुरेष
प्रागुत्थितो वियति शोणितकोपदेशः ।
श्रीसद्मनोऽनुभवतो मधुमेहपूर्ति
भो राजरुग्विजयिनस्तव भाति मूर्तिः ॥२२॥

विस्फूर्तीत्यादि—भो नृवर ! जयकुमार ! वियति गगने प्रागुत्थितः पूर्वदिशि सञ्जातः शोणित एव शोणितकोऽरुणवर्णस्तस्योपदेश समस्ति । अत एवैष द्रुर्वृक्षो वीनां पक्षिणां स्फूर्तिभृत् यथोद्देश कणभक्षणायोद्गमनचेष्टाकृत् किन्नास्ति किन्त्वस्त्येवेति त्वं वद कथय जानीहीति तात्पर्यार्थ. । इह च पूर्ति विकासलक्षणामविकलतामनुभवतः श्रीसद्मन. पङ्कजस्य मधुनो मा लक्ष्मी. सम्पत्तिर्मकरन्दप्राप्तिरस्ति । राज्ञश्चन्द्रस्य रुचिं कान्ति विजयते प्रहरतीति राजरुग्विजयी तस्य तव मूर्तिस्तु भाति रोचतेऽस्मभ्यमिति शेष. । तथा वियति शोणितस्य कोपदेशो रक्तप्रकोपः प्रागेवोत्थितः पूर्वस्मिन् काल एव सञ्जातोऽधुना तु पुनरेष नवो नवीनश्चासौ दद्रुश्च कुष्ठविकारविशेष., विस्फूर्तिभृत् समभिव्यतिमानस्ति । किमिति पृच्छाकरणे । यतः खलु राजरुजः क्षयरोगस्य विजयिनस्तव मूर्तिस्तावन्मधुमेहस्य नाम मूत्रमार्गरोगस्य पूर्तिमनुभवतः श्रीसद्मनो धनाढ्यजनस्यापि भाति किमुतान्येषां सर्वसाधारणरोगिणामिति ॥२२॥

अर्थ—हे नरप्रवर ! जयकुमार ! आकाशकी पूर्व दिशामे उठा जो यह लाल रग दिख रहा है, वह क्या **विस्फूर्तिमान्**—पक्षियोकी चहल-पहलसे युक्त **द्रु**—वृक्ष ही नही है ? यह कहो । अर्थात् यह लाल लाल पल्लवोसे युक्त वृक्ष ही है और उसके आश्रयमे रहने वाले पक्षी दाना चुगनेके लिये इधर-उधर उड़ रहे हैं । इधर **पूर्ति**—पूर्ण विकासका अनुभव करने वाले **श्रीसद्म**—कमलके **मधु**—मकरन्दकी **मा**-लक्ष्मी सुशोभित हो रही है, अर्थात् खिले हुए कमलोसे मकरन्द चू रहा है और इधर **राजरुग्विजयिनः**—चन्द्रमाकी कान्तिको जीतने वाला आपका शरीर सुशोभित हो रहा है, हम सबको रुचिकर हो रहा है । तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा निष्प्रभ हो रहा है और आपकी प्रभा बढ रही है ।

अर्थान्तर—इधर आकाशमे जो पूर्वकी ओर लाली दिख रही है, वह रक्तके प्रकोप से उत्पन्न निरन्तर बढने वाली उसकी दद्रु—दाद क्या नही है ? अर्थात् है । और इधर **राजरुग्विजयी**-क्षयरोगपर विजय प्राप्त करने वाला आपका शरीर **मधुमेह**—मूत्रमार्गके रोग विशेषसे युक्त **श्रीसद्म**—धनाढ्य पुरुषोको भी अच्छा लगा रहा है—काश, ऐसा शरीर हमे भी प्राप्त होता, फिर साधारण रोगियोकी तो बात ही क्या है ॥२२॥

चन्द्राश्मतः प्रचलदम्बुभरं चकोर-
　　दृग्भ्यां समावृतमनङ्गसुरूपचौर ।
कोकद्वयोक्तहृदयस्य तथैव वह्नि-
　　राप्नोति किन्न रविकान्तमणिः स्विदह्नि ॥२३॥

चन्द्राश्म इत्यादि—अनङ्गस्य कामदेवस्य यत् सुरूपं सौन्दर्यं तस्य चौरस्तत्सम्बुद्धौ, हे मदनादपि मनोहर जयकुमार ! चन्द्राश्मतश्चन्द्रकान्तमणितः प्रचलत्प्रक्षरत् चकोर-दृग्भ्यां जीवजीवनयनाभ्यां समावृतं सम्मानितम् अम्बुभरं जलप्रवाहो यथा कोकद्वयस्य विरहसतप्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य यदुक्तं कथितं हृदयं तस्य यथा वह्निरभूत् सताप-दायक जातम्, स्वित्पुनरह्नि दिवसे रविकान्तमणिः सूर्यकान्तमणिस्तथैव चन्द्रकान्तमणि-श्चोतत्सलिलमिव वह्निं किन्नाप्नोति ? विरहानलसंतप्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य चन्द्रकान्त-मणिप्रक्षरज्जलमपि वह्निवत्संतापदायकमासीत् । दिवसे तु सयुक्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य सूर्यकान्तमणिप्रस्फुटितोऽनलो न सतापदायको वर्तत इति भावः ॥२३॥

निर्यातु जातु न तमोऽप्यपराधकारि
　　स्रागभ्युदेति भगवान् स तमोपहारी ।
इत्यर्गलायितमुदारविचारतत्या
　　चक्राङ्गनाममिथुनेन न किं जगत्याम् ॥२४॥

निर्यात्वित्यादि—वियोगकारणात्तमश्चक्रवाकमिथुनस्यापराधिकारि । अपराधि तमो दृष्ट्वा चक्रवाकमिथुन विचारयति—अपराधकार्येतत्तमो जातु न निर्यातु न पलाय-ताम्, तमोपहारी तिमिरापहारी स भगवान् ऐश्वर्यवान् सूर्यः स्राग् झटिति, अभ्युदेति सम्मुखमायाति, इत्युदारविचारतत्या विमर्शसरण्या चक्रवाकमिथुनेन रथाङ्गयुगलेन जगत्यां पृथिव्यां किं नार्गलायितमर्गलवदाचरितम् । यावन्न्यायाधिकारी न समागच्छति

अर्थ—रात्रिके समय चन्द्रकान्त मणिसे झरने वाला एव चकोर पक्षीके नेत्रोसे निकला जल जिस प्रकार चक्रवाक युगलको अग्नि रूप था, उस प्रकार दिनमे सूर्यकान्तमणि अग्नि रूप क्यों नही हो रहा है। तात्पर्य यह है कि विरही प्राणीको जल भी सतापकारी होता है और संयोगी प्राणीको अग्नि भी संताप-कारी नही होता ॥२३॥

अर्थ—यह अपराधकारी-हमारे वियोगको करने वाला अन्धकार कही भाग न जावे, अन्धकारको नष्ट करने वाला भगवान् सूर्य शीघ्र ही आने वाला

तावत् कश्चिदन्यायापराधकारिणं गृहीत्वा रक्षति तथा चक्रवाकमिथुनमपि सूर्यागमनपर्यन्त-मपराधि तिमिरं ररक्षेति भावः ॥२४॥

एणीदृशां रतिरसप्रसरोपभुक्तैः
सम्मृष्टपत्रततिभिः शुचिभिः समुक्तैः ।
गण्डैस्तकैः प्रहसितः स कलङ्कराशि-
र्निर्जीर्णकोहलफलच्छविरेवमासीत् ॥२५॥

एणीदृशामित्यादि—रतिरसप्रसरेण रतिक्रीडासमूहेन उपभुक्तैश्चुम्बनादिविधि प्राप्तैरत एव सम्मृष्टाः प्रोञ्छिताः पत्रततयोऽगुरुचन्दनादिकृतरचनाविशेषा येषां तैः, शुचिभिरुज्ज्वलैः शिरोऽवस्रंसिनीभिर्मुक्ताभिः सहितत्वेन समुक्तैः, एणीदृशां मृगाक्षीणां स्त्रीणां तकैः प्रसिद्धैः गण्डैः कपोलैः प्रकर्षेण हसितः स प्रसिद्धः कलङ्कराशिश्चन्द्रः सम्प्रति प्रातः निर्जीर्णं यत्कोहलफलं मधूकफलं तस्य छविरिव छविर्यस्य तथाभूत आसीत् । चन्द्रो दीप्तिरहितो जात इत्यर्थः ॥२५॥

तां पुष्पिणीं व्रततिमभ्युपगम्य सम्यक्
शुद्धेन तेन पयसा प्लवनं वरं यः ।
सम्प्राप्तवान्न पुनरप्युपसर्ग एष
स्यान्मन्दमित्यमनिलश्चरति प्रगे सः ॥२॥

तामित्यादि—पुष्पिणीं कुसुमोपेतां रजस्वलां वा व्रततिं लतां स्त्रियं वा अभ्युपगम्य संस्पृश्य सेवित्वा च शुद्धेन विमलेन तेन प्रसिद्धेन पयसा तीर्थोदकेनेति यावत्-सम्यक् शोभनरीत्या वरं श्रेष्ठं मस्तकपर्यन्तमित्यर्थः, प्लवनं स्नानं सम्प्राप्तवान् योऽनिलो न विद्यत

है, इस विचार सततिसे क्या चकवा-चकवीका युगल पृथिवीमे अन्धकारको रोकनेके लिये अर्गलके समान नही हुआ था ? अवश्य हुआ था ॥२४॥

अर्थ—रतिक्रीडाके समय चुम्बनादिके कारण जिनके वेलबूटे साफ हो गये हैं तथा जो मस्तकसे लटकने वाले मोतियोंसे सहित हैं, ऐसे स्त्रियोंके कपोलोंसे हास्यको प्राप्त हुआ वह कलङ्की चन्द्रमा इस समय मसले हुए महुआके फलके समान कान्तिरहित हो गया है ॥२५॥

अर्थ—पुष्पित लता (पक्षमे रजस्वला स्त्री)का संपर्क पाकर जो शुद्ध जलसे अच्छी तरह स्नानको प्राप्त हुआ था ऐसा पवन यह सोचकर कि यह झंझट पुनः

इला पृथिवी यस्य तथाभूतः सदागगनविहारीत्यर्थः, पवनः पुनरपि भूयोऽपि एव रजस्वलादिसंस्पर्शजन्य उपसर्ग उपद्रवो न स्यादिति हेतोः स प्रगे प्रातःकाले मन्द यथा स्यात्तथा चरतीत्युत्प्रेक्षा । सुगन्धिः शीतलो मन्दश्च वायुर्वहतीत्यर्थः ॥२६॥

किञ्चाहतः स्तनतटैर्निपतन् विलग्ने
योषाजनस्य परिवर्तितनाभिवध्ने ।
रुद्धो नितम्बशिखरैरिति सम्प्रबुद्धो
मन्दं प्रयाति पवनः स पुनस्तु शुद्धः ॥२७॥

किञ्चेत्यादि—पवनस्य मन्दतायामन्यदपि कारणं विद्यत इत्याह–किञ्चेति । स पवनो योषाजनस्य स्तनतटैः कुचाग्रैराहतस्ताडितो विलग्ने कटिप्रदेशे निपतन् पतन कुर्वन्, परिवर्तितो नाभिवध्नो नाभिपर्यन्तभागो येन स., वस्त्रोत्थापनादिक्रिययेत्यर्थः, तथाभूतः, नितम्बशिखरैः स्थूलनितम्बै रुद्ध. कृतावरोधः पुनस्तु योषाजनकृतोपद्रवोऽपि शुद्धो निर्दोषो विकारशून्य इति यावत्, सम्प्रबुद्धः प्रकृष्टबोधयुक्तः पवनो मन्दं यथा स्यात् प्रयाति । उत्प्रेक्षा ॥२७॥

सम्पल्लवं कविरिवाब्जततिः प्रभाते
सम्पल्लवं प्रतिरवेर्लभते यथा ते ।
वाचालतां निशि जगाम तमश्चमूक-
स्तस्मादुलूकतनयात् कतमश्च मूक ॥२८॥

सम्पल्लवमित्यादि—यथा ते तव भूपालस्य सम्पल्लव विभूतिभाव प्रति कविरसौ काव्यकर्ता सम्पल्लवं समीचीनवचनांशं लभते, तथैवाब्जततिः कमलपङ्क्तिरपि प्रभातेऽस्मिन् रवेः सम्पल्लवं सम्यक्प्रकारपादप्रक्षेप प्रति सम्पल्लव समीचीन पल्लव पत्र विकासभावाल्लभते । यथा कवयस्ते श्लाघां कुर्वन्ति तथा सूर्यस्य कमलानीति भावः । अत्र च तमसोऽ-

---

प्राप्त न हो, प्रातःकालके समय धीरे-धीरे चल रहा है। तात्पर्य यह है कि इस प्रभात वेलामें सुगन्धित, शीतल और मन्द वायु बह रही है ॥२६॥

अर्थ—दूसरी बात यह है कि यद्यपि पवन स्त्रीजनोंके स्तनतटोंसे ताडित हुआ, उसे उनके कटिप्रदेशपर गिरना पडा, नाभितकके प्रदेशोंमे घूमना पडा और नितम्ब शिखरोंसे अवरुद्ध होना पडा, फिर भी वह चूंकि सम्प्रबुद्ध–ज्ञानवान् था, अत शुद्ध निर्विकार रहकर धीरे-धीरे चल रहा है ॥२७॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस प्रकार कवि आपके सपल्लव (सपत् + लव) विभूतिके अंशका वर्णन करनेके लिये सपल्लव (सपद् + लव) समीचीन पदोके अंशको प्राप्त करता है, उसी प्रकार कमलसमूह सूर्यको सपल्लव–समीचीन पदनिक्षेपकी

ध्वकारस्य चमू सेना तत एव कं सुखं यस्य स, निशि रात्रौ वाचालतां वावदूकत्वं जगाम। तस्मादुलूकतनयात् पुनरन्यः कतमो जनो यो मूको भवेत् किलास्मिन् मङ्गलसमये न स्वस्तिवचनं कुर्यादिति ॥२८॥

श्रीकैरवेषु तु दलैर्विनमद्भिरेव-
मभ्युन्नमद्भिरिव वारिरुहेषु देव !
तं सन्दधत्सु परिणाममपूर्णमारात्
तुल्यत्वमञ्चति मिलिन्द इहाधिकारात् ॥२९॥

श्रीकैरवेष्वित्यादि—हे देव ! विनमद्भिर्मुद्रणभावमाव्रजद्भिर्दलैश्छदनैस्तैः श्रीकैरवेषु रात्रिविकासिकमलेषु तथैवमेवाभ्युन्नमद्भिर्विकासभावं गच्छद्भिस्तैर्दलैर्वारिरुहेष्वरविन्देषु आरात् तमपूर्णमपर्याप्तं परिणाम सन्दधत्सु इह प्रभातसमयेऽधिकारान्मिलिन्दः षट्पदस्तुल्यत्वमञ्चति समानभावमेति ॥२९॥

आदित्यसूक्तविपदोपहतप्रकारं
हे धीश्वरासुरहितं सहसान्धकारम् ।
दृष्ट्वैव नालदलसद्ध्वसितं विभाति
शोच्या तथास्ति कुमुदस्य तु मौनजातिः ॥३०॥

आदित्येत्यादि—हे धीश्वर ! बुद्धिमन् ! यद्वा हे अधीश्वर ! स्वामिन् ! सहसा-

---

अपेक्षा उसके संपल्लव–समीचीन पत्र विकासको प्राप्त होता है। अर्थात् सूर्यकी किरणोंके पडनेसे कमलकी कलिकाएँ विकासको प्राप्त हो रही है और चूंकि तमश्चमूक–अन्धकारकी सेनासे क–सुखका अनुभव करने वाला उलूक पक्षी रात्रिमे वाचालताको प्राप्त होता है–अत्यधिक बोलता है, अत. इस प्रभातके समय उलूकपुत्र–उल्लूके बच्चेके सिवाय दूसरा कौन मूक है, चुप बैठा है, अर्थात् कोई नही। तात्पर्य यह है कि सभी लोग स्वस्तिपाठ कर रहे हैं। केवल उलूक पुत्र–उल्लूके बच्चे–मूर्ख ही चुप बैठे हैं ॥२८॥

अर्थ—हे देव ! इस समय कुमुद–मुद्रणभावको प्राप्त होनेवाले और कमल, विकसित भावको प्राप्त होनेवाले पत्रो–कलिकाओसे एक समान अपूर्ण विकसित अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं, अत· अधिकारकी अपेक्षा भ्रमर उन दोनोंमे तुल्य· भावको–मध्यस्थ भावको प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—इस समय कुमुद न पूर्णरूपसे निमीलित हुए हैं और न कमल पूर्णरूपसे उन्मीलित–विकसित हुए हैं, अत एक सदृश अवस्था होनेसे भ्रमर दोनोमे समान भावको प्राप्त हो रहा है ॥२९॥

ऽकस्मात् स्वसाहसेन वाऽसुरहितमसुभिः प्राणै रहितमुतासुरेभ्यो हित तमन्धकारं नाम तिमिरमुतान्धकारं नाम दैत्यं, कीदृश तम् ? आदित्यसूक्तविपदोपहतप्रकारम् आदित्यस्य सूर्यस्य सूक्तं स्तवन यत्र तेषां वीनां पक्षिणां पदैर्वाग्विन्यासैश्चरणन्यासैर्वा पक्षे आदित्यैर्देवै सूक्ता प्रक्लृप्ता या विपत् तयोपहतो व्यापन्नः प्रकारो यस्य त तादृशमन्धकारं दृष्ट्वैव खलु नालदलसद्धसित नलस्य कमलस्यामी नाला ये दलाः पत्राणि तेषां सत्प्रशंसनीयं हसित स्फुरणमुत रलयोरभेदान्नारदस्य लसद्धसितं हास्यं प्रसन्नताहेतुकं विभाति तथा कुमुदस्य नाम चन्द्रविकासिनो वारिजातस्य मौनजातिर्मुद्रणमुत कुमुदनामदैत्यस्यावाग्भवनदशासौ शोच्या शोचनीयास्ति ॥३०॥

भीतेर्भरं तु कुलटाहृदयेऽवशिष्टं
घूकस्य लोचनयुगे तिमिरं प्रविष्टम् ।
बिम्बं रवेरुदयेनेन सता विशिष्टं
पश्येह मञ्जुलमहो नरनाथ विष्टम् ॥३१॥

भीतेरियतादि—अहो नरनाथ ! साम्प्रतं भीतेर्भयस्य भर समूहः कुलटाया इत्वरिकाया हृदयेऽवशिष्टमवस्थितम्, याः कुलटा रात्रौ निर्भय व्यचरस्ताः सूर्योदये सति भीता जाता इति भावः । तिमिर ध्वान्तं तु घूकस्य दिवान्धस्य लोचनयुगे नयनयुग्मे प्रविष्टम्, साम्प्रत तिमिरं नष्टमिति यावत् । रवेः सूर्यस्य बिम्बं मण्डलं सता प्रशस्तेनोदयेन विशिष्टं युक्तं जातम् । इत्थमिह मञ्जुल मनोहर विष्ट कालं पश्य विलोकय ॥३१॥

अर्थ—हे बुद्धिमन् ! अथवा हे अधीश्वर ! आदित्य–सूर्यके सूक्त–स्तवनसे युक्त वि–पक्षियोके पद–कलकल वाग्विन्याससे जिसकी प्रगति रुक गई है ऐसे अन्धकारको अकस्मात् असुरहित–निष्प्राण देखकर ही कमल पत्रोका समीचीन विकास सुशोभित हो रहा है और कुमुदकी स्थिति मौनजाति–शोचनीय हो गई है ।

अर्थान्तर—असुरहित–असुरोके लिये हितकारी अन्धकार–अन्धकासुरको आदित्य–देव कृत विपत्तिसे विनष्ट हुआ देखकर ही नारदजीका मनोहर हास्य विकसित हो रहा है और कुमुद नामक दैत्यकी मौनावस्था शोचनीय हो गई है, शोभा रहित हो गई है ॥३०॥

अर्थ—अहो राजन् ! इस समय भयका समूह व्यभिचारिणी स्त्रीके हृदयमे अवस्थित है, अन्धकार उल्लूके दोनों नेत्रोमे प्रविष्ट हो गया है और सूर्यका बिम्ब सुन्दर उदयसे युक्त है । आप इस सुन्दर प्रातर्वेलाको देखिये ॥३१॥

भास्वानसौ क्वचन यापितसर्वरात्रि-
रम्भोजिनीं विरहतोऽप्यतिदीनगात्रीम् ।
अङ्गीकरोति किल सम्भवता रसेन
तां सानुरागकरचारकलावशेन ॥३२॥

भास्वानित्यादि—क्वचनान्यत्रापरिचितस्थाने यापिता व्यतीता सर्वा रात्रिर्यस्य सोऽसौ भास्वान् सूर्योऽपि पुनर्विरहतो वियोगाद्धेतोरतिदीनगात्रीं म्लानप्रायशरीरामम्भोजिनीं कमलवल्लीं तामिमां, सानावुदयनामपर्वतदेशे रागकरोऽरुणिमसम्पादकश्चार उद्गमनप्रकारस्तस्य तत्र वा या कला भागस्तद्वशेन, अथवानुरागेण प्रेम्णा सहितः सानुरागः स चासौ करस्य हस्तस्य चार आलिङ्गनविशेषस्तस्य तत्र वा या कला चतुरता तद्वशेन सम्भवता यथोचितेन रसेनाङ्गीकरोति किल ॥३२॥

धिग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति
योऽस्मत्सकाश उदयं विधुराप चेति ।
भासौ घृणापरकयेन्द्रदिशाशु वन्त-
वासः परावृतममुष्य समस्तु सन्तः ॥३३॥[1]

धिगित्यादि—हे सन्तः ? असौ भा शोणिमच्छविः कुतो जाता तद्वदामि । यत्किल यो विधुश्चन्द्रोऽस्मत्सकाशे मम सन्निधावुदयमुद्गमनमुन्नतत्वं चाप लब्धवान् स एव वारुणीं दिशां पश्चिमामनुभवन् तामनुगच्छन्निदानीमथवा वारुणीं मदिरामनुभवन् पिबन्

अर्थ—जिसने कहीं अन्यत्र पूर्णरात्रि व्यतीत की थी ऐसा सूर्य (पक्षमे नायक) विरहसे अत्यन्त दीन शरीर वाली कमलिनी (पक्षमे नायिका) को पर्वतशिखरपर लालिमा बिखेरने वाली किरणोके उद्‌गमन सम्बन्धी कलाके वशसे (पक्षमे अनुराग सहित कर—हाथके सचार सम्बन्धी चतुराईके वशसे अङ्गीकृत कर रहा है—अपना रहा है ॥३२॥

अर्थ—हे सत्पुरुषो ! पूर्वदिशामे जो यह लालकान्ति फैल रही है यह किससे उत्पन्न हुई ? मैं कहता हूँ सुनो, पूर्वदिशा सोचती है कि जो चन्द्रमा हमारे सन्निधानमे उदय (पक्षमे उन्नतदशा) को प्राप्त हुआ वही वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्षमे मदिरा) का सेवन—(पक्षमें पान) करता हुआ विनिपात-अधोगमन

---

१ एतस्य पाठान्तरम् अस्मत्सकाशमसकौ विधुरभ्युदेति, स्रग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति । प्राच्या परावृतपुनीतरदच्छदाया, यद्भास्तिकान्तिरयिनाथ घृणापराया. ।

सन् विनिपातमधःपतनमस्तभावं चेति समाप्नोतीति धिगिति घृणापरकयेन्द्रदिशा प्राच्याशु शीघ्रमेव बल्लवासः स्वकीयमधरनामकमङ्गं परावृतमुद्दलितमम्ष्येव समस्ति कान्तिः ॥३३॥

उच्चैस्तनोदयगिरौ करकृत्तु पूषा
　शस्तानुरागभृदहो वियदेकभूषा ।
विद्मः स्फुरत्तरनखक्षतसंविधानं
　प्राच्या उरस्यवनिराडिति शोणिमानम् ॥३४॥

उच्चैरित्यादि—हे अवनिराट् राजन् जयकुमार ! वियत आकाशस्यैकानन्या यासौ भूषालङ्करणभूमिः पूषा सूर्यः सोऽधुना शस्तानुरागभृत् समस्ति प्रशस्तमनुराग रक्तपरिणाम-युतप्रेमभाव बिर्भात । तत उच्चैस्तनःऽतिशयोच्छ्रायरूपो योऽसावुदयनामगिरिः पर्वतस्तस्मिन् करकृत् किरणक्षेपको भवति तथोच्चैस्तन एवोदयगिरिस्तस्मिन् करकृद्धस्तक्षेपकरः । तत एव कारणात् प्राच्या. पूर्वदिशाया उरसि वक्षःस्थले स्फुरत्तर प्रस्फुटितप्राय नखक्षतस्य सविधान यत्र तमेन शोणिमान विद्मो जानीमहे वयमिति ॥३४॥

स्नाता सुधाकररुचां निचयैर्विशेषा
　प्राची स्वमूर्ध्नि खलु हिङ्गुलुलेखलेशा ।
भास्वत्सुवर्णकलशं तु गृहीतुकामा
　त्वन्मङ्गलाय परिभाति विभो ललामा ॥३५॥

स्नातेत्यादि—हे विभो ! हे स्वामिन् ! सुधाकरश्चन्द्रस्तस्य रुचां किरणाना कान्तीनां वा निचयैः समूहैः स्नाता कृतस्नाना ललामाभरणभूता एषा प्राची दिक् पूर्वदिशा स्वमूर्ध्नि स्वशिरसि स्वकीयभाल इति यावत्, हिङ्गुलू रक्तवर्णपदार्थविशेष. (इंगुर इति प्रसिद्धः), तस्य

(पक्षमे पतन) को प्राप्त हो रहा है, इसे धिक्कार हो, यह सोचकर घृणा करनेमें तत्पर पूर्वदिशारूप स्त्रीने अपना अधरोष्ठ फुलाया, उसीसे यह लाल कान्ति उत्पन्न हुई है ॥३३॥

अर्थ—हे राजन् ! आकाशके अद्वितीय अलकाररूप सूर्यने प्रशस्त अनुराग-लालिमा (पक्षमें प्रेम) से युक्त हो अत्यन्त ऊँचे उदयगिरिपर करप्रक्षेप किया किरणोका सचार किया (पक्षमें उन्नतस्तनरूपी उदयाचलपर करप्रक्षेप-हाथ-का संचार किया । हस्तसचारके समय जो स्पष्ट नखक्षत किये, उन्हीसे यह लालिमा है, यह हम जानते हैं ॥३४॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! जिसने चन्द्रमाकी किरणोके समूहसे स्नान किया है

लेखस्य लेशस्तिलकरूपो विद्यते यस्यास्तथाभूता सती तव मङ्गलं तस्मै तावकीनं मङ्गलाचारं कर्तुमित्यर्थः । भास्वानेव सुवर्णकलशस्तं सूर्यरूपकाञ्चनकलशं गृहीतुकामा मानुमना इव परिभाति शोभते ॥३५॥

यात्येकतोऽपि तु कुतोऽपि विरज्य राज-
न्यात्माधिपेऽपरदिशां प्रतियाति राजन् ।
सत्पुष्पतल्पमसकौ रजनी दलित्वा
रोषारुणा विकृतवाग्भरतश्छलित्वा ॥३६॥

यातीत्यादि—हे राजन् ! कुतोऽपि कारणाद्विरज्य द्वेषमासाद्यात्माधिपे राजनि चन्द्रमसि अपरदिशां पश्चिमामाशामुताननुकूलां दिशं प्रति याति सति असकौ रजनी रात्रिः, रोषेणेवारुणा रोषारुणा प्राभातिकमरुणिमानं रोषकृतमुत्प्रेक्षते कविरिति । विभिः पक्षिभिः कृत वाग्भरमुत विकृतमाक्रोशात्मकं वाग्भरं ततश्छलित्वा सतां नक्षत्राणामेव पुष्पाणां तल्पं शय्यातलं दलित्वा पादमर्दितं कृत्वापि तु पुनरेकतोऽन्यत्र याति गच्छति ॥३६

सद्वृत्तिरञ्चति निशाशनकैः प्रहाणि-
मप्येवमञ्चति यज्जलजस्य वाणी ।
कश्चिन्नभोऽदय इहास्ति विचारभावा-
च्छ्रीवर्द्धमानतरणेरुचिता प्रभा वा ॥३७॥

सद्वृत्तिरित्यादि—सतां नक्षत्राणां वृत्तिर्यत्र सा निशा शनैरेव शनकैस्तया न भवतीत्यशनकैः शीघ्रमेव प्रहाणिमभावमञ्चति, अथवा सतां सज्जनानां वृत्तिः सदाचारो निशायामशनकैर्भोजनैः प्रहाणिमभावमञ्चति । एवं यद् यस्मात् कारणाज्जलजस्यापि

तथा ललाटपर इंगुलका तिलक लगा रक्खा है, ऐसी आभूषण स्वरूप यह पूर्व दिशा आपके मङ्गलके लिये अपने मस्तकपर सूर्यरूप कलशको रखनेके लिये उत्सुक जान पडती है ॥३५॥

अर्थ—अपना पति चन्द्रमा जब किसी कारणसे नाराज हो पश्चिम दिशाकी ओर चला गया, तब यह रात्रि क्रोधसे लाल हो पक्षियोंके कलरवके बहाने बकझक करने लगी और नक्षत्ररूपी फूलोंकी सेजको नष्टभ्रष्टकर एक ओर-एकान्तमें चली गई ॥३६॥

अर्थ—हे विभो ! इस समय सद्वृत्ति-नक्षत्रोंके सद्भावसे युक्त रात्रि शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो रही है, कमलोंकी अणी-अग्रभाग समुन्नत हो रही है-

वाऽणी कमलस्याग्रदेश उच्चति स्फुटीभवितुमुद्गच्छति । किं वा जलजस्य डलयोरभेदा-ज्जडजस्य मूर्खजनबालकस्यापि वाणी वागुच्चलति प्रव्यक्ता भवति । तस्मादिह लोके भानां तारकाणामुदय कश्चिदपि नास्ति । यद्वा भो इति सम्बोधनात्मकमव्ययं मत्वा पुनरदयो दयाहीनः कश्चिदपि जनो न भाति । विचारस्य पक्षिसंचारस्योत मनस्कारस्य भावाद्धे तोः श्रीवर्द्धमान उद्गमनशीलो यस्तरणिः सूर्यस्तस्योचिता योग्या प्रभा कान्तिरुत श्रीवर्द्धमानोऽन्तिमस्तीर्थंकृत् स एव तरणिः सूर्य इव तस्य प्रभा वा रुचिता स्वीकृता भवतीति ॥३७॥

चन्द्रोऽस्पृशत्कमलिनीमहसत्कमोदि-
न्येतद्द्वयेऽरुणदृगर्यमराड् विनोदिन् ।
स्रागभ्युदेति किल तेन कुमुद्वतीयं
मौनिन्यभूच्छशभृदेति च शोचनीयम् ॥३८॥

चन्द्र इत्यादि—हे विनोदिन् ! विनोदरसिक राजन् ! चन्द्रः कमलिनीमब्जिनी-मस्पृशत् पस्पर्श, के जले मोदत इत्येव शाला कमोदिनी कैरविणी अहसत् जहास, परस्त्री-स्पर्शकर स्वपतिं दृष्ट्वा मात्सर्येण जहासेति यावत् । एतयोरनुचितकार्ययोर्द्वय तस्मिन् अरुणदृग् कोपारुणितलोचनः अर्यमा सूर्य एव राट् राजा स्राग् झगिति अभ्युदेति सम्मुख-मागच्छति । तेन किलेय कमोदिनी कुमुदिनी कुमुद्वती कुत्सिता मुद् हर्षो विद्यते यस्यास्तथा-

---

विकसित हो रही है, नक्षत्रोका कुछ भी उदय नही है–एक भी भ–नक्षत्र विद्यमान नही है, सर्वत्र विचारभाव–पक्षियोके संचारका सद्भाव है और शोभासे बढते हुए तरणि–सूर्यकी उचित–योग्य प्रभा दीप्ति विस्तृत हो रही है ॥३७॥

अर्थान्तर—इस समय सद्वृत्ति–रात्रि भोजन त्याग आदि सत्पुरुषोका आचरण अशनक–रात्रिभोजी पुरुषोके द्वारा नाशको प्राप्त हो रहा है, जलजा–मूर्ख पुत्रोकी वाणी प्रभावको प्राप्त हो रही है। यहाँ कौन अदय–दयाहीन नही है-सर्वत्र दयाका अभाव दिख रहा है। इस प्रकारके विचारसे अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मीसे युक्त श्रीवर्धमान स्वामीको प्रभाका विस्तार अथच जन्म लेना उचित ही है, क्योकि अधर्मका विस्तार होनेपर उसका नाश करनेके लिये तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता ही है ॥३७॥

अर्थ—हे विनोदरसिक ! चन्द्रमाने कमलिनीका स्पर्श किया, यह देख कुमुदि-नीने हँस दिया। इन दोनो कार्योपर क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ सूर्यरूपी राजा शीघ्र ही उदयको प्राप्त हो रहा है। इससे कुमुदिनी तो मौन लेकर बैठ

भूता सती मौनिनी मौनयुक्ता निमीलिता जाता शशभृच्चन्द्रश्च शोचनीय दैन्यमेति किलोत्प्रेक्षायाम् ॥३८॥

रात्रीमुचेऽमलरुचे विरहं विहाय
सन्तप्ततां द्युमणिसन्मणये तथा यत् ।
श्रीचक्रवाकमिथुनं मिलतीदमद्य
राजन् मुदश्रुझरसंस्नपनं प्रपद्य ॥३९॥

रात्रीमुच इत्यादि—हे राजन् ! यत्किल श्रीचक्रवाकमिथुनमस्ति तदद्यामलरुचे उज्ज्वलकिरणाय चन्द्रमसे रात्रीं मुञ्चति परित्यजतीति रात्रिमुक्तस्मै तु विरहं वियोगं सतप्ततां च द्युमणिसन्मणये सूर्यकान्तोत्तमरत्नाय विहाय त्यक्त्वा मुदश्रुझरेण प्रसन्नता-सूचकनयनजलप्रवाहेण च सस्नपन प्रपद्य परस्परं मिलति । तौ च सूर्यकान्तचन्द्रमसौ सज्जनरूपावतस्तत्स्वीकुरुतः, परदुःखहरणस्वभावत्वात् । यद्वाऽमलरुचे समुज्ज्वलमनसे जनाय सत्सुमणिरूपाय सज्जनराजाय विरहसन्तप्ततानामकवस्तुद्वय विहाय दत्त्वा चक्रवाकमिथुनं मिलति सत्समागमे यत्किञ्चिदप्यात्मीयं वस्तु दत्त्वैव सम्मेलनं क्रियत इति समाचारः सत्सम्मेलनं जातमिदानीमिति यावत् ॥३९॥

गई-पूनिमीलित हो गई और चन्द्रमा दीन दशाको प्राप्त हो रहा है ॥३८॥

अर्थ—हे राजन् ! यह जो चकवा-चकवीका जोडा है, वह रात्रिको छोडने वाले तथा उज्ज्वल कान्तिके धारक चन्द्रमाको अपना विरह और सन्मणि—सज्जनोत्तम (पक्षमे नक्षत्रोत्तम) सूर्यके लिये अपनी सन्तप्त दशा देकर हर्षाश्रुओके झरनेमे अच्छी तरह स्नानकर इस समय मिल रहा है।

भावार्थ—चकवा-चकवीका युगल रातभर विरह एव सतप्त दशासे दु.खी रहा। प्रात काल जब चन्द्रमा रात्रिको छोडकर जाने लगा तब उसने उसके लिये अपना विरह सौप दिया-तुम भी हमारी तरह रात्रिके विरहका अनुभव करो और सूर्य जब उदित हुआ तब उसके लिये अपनी संतप्त दशा दे दी-तुम भी दिनभर संतप्त दशाका अनुभव करा। यतश्च चन्द्रमा अमलरुक्-उज्ज्वल रुचि वाला था और सूर्य सन्मणि—सज्जनोमे मणिके समान श्रेष्ठ था, इसलिये दोनोने उनके विरह और सतापको लेकर स्वयं विरह और संतापका अनुभव किया। चन्द्रमा और सूर्यकी इस उदारतासे चकवा-चकवीके नेत्रोंसे हर्षाश्रुओ का झरना बहने लगा। उस झरनेमे अच्छी तरह स्नानकर दोनो मिल रहे हैं ॥३९॥

तारापतिर्हि नलिनीर्मलिनीर्विधाय
तत्प्रीतिदेऽभ्युदयतीह न संविधा यत् ।
तारा निगुह्य सहसास्तगिरिं प्रयाता
जिह्रेति तत्करगताः कति वीक्ष्य वा ताः ॥४०॥

तारापतिरित्यादि—ताराणां पतिश्चन्द्रमा नलिनीः कमलवल्लीर्मलिनीर्मुद्रिततया म्लानरूपा विधाय रात्रावधुना पुनस्तासां कमलिनीनां प्रीतिदे सूर्येऽभ्युदयति सम्पन्नभावं गच्छति सतीह यद् यस्मात्कारणात् संविधा निवसनयोग्यता नास्ति, तदिव मनसि कृत्वा सहसा तारा निगुह्य सगोप्य स्वयमस्तगिरिं प्रयाता चरमाचलं गतवान्, सोऽसौ तास्ताराः कतिचित्तथाकारास्तत्करगतास्तस्य सूर्यस्य करे प्रकाशे हस्ते च गच्छन्ति पतन्तीति तत्करगता वीक्ष्य जिह्रेति चिन्तितो भवति लज्जते वा । हीत्युत्प्रेक्षायां समस्ति ॥४०॥

निःस्नेहजीवनतयापि तु दीपकस्य
संशोच्यतामुपगतास्ति दशा प्रशस्य ।
सघूर्ण्यमानशिरसः पलितप्रभस्य
यद्वन्मनुष्यवपुषो जरसान्वितस्य ॥४१॥

निःस्नेहेत्यादि—हे प्रशस्य ! प्रजाजनैरखिललोकैः श्लाघनीय ! जरसान्वितस्य वृद्धस्य मनुष्यवपुषो नरशरीरस्य यद्वत्तद्वत् दीपकस्यापि पलितप्रभस्य पलभावं क्षणिकतामिता पलिता प्रभा यस्य, पक्षे पलितं श्वेतकेशत्वं तस्य प्रभा यस्य, अत एव घूर्ण्यमानशिरसो वृद्धस्य यथा शिरो घूर्णते, तथास्तप्रायदीपकस्य शिखापि प्रकम्पत एवेति, स्नेहेन तैलेन

अर्थ—ताराओंका पति चन्द्रमा रात्रिके समय कमलिनियोंको मलिन-मुद्रित करता रहा, अब प्रात काल जब कमलिनियोंको प्रीति प्रदान करने वाला सूर्य अभ्युदयको प्राप्त हुआ तब उसने विचार किया कि अब यहाँ रहना उचित नहीं। यह विचार कर वह अपनी स्त्री रूप ताराओंको छिपाकर शीघ्र ही अस्ताचलकी ओर चला गया, पर जाते-जाते उसने देखा कि कुछ तारा सूर्यके कर-प्रकाश अथवा हाथमे पड गई हैं, इससे वह चिन्तित हो रहा है अथवा लज्जित हो रहा है ॥४०॥

अर्थ—हे श्लाघनीय ! जिसका शिर काँप रहा है और बाल सफेद हो गये हैं, ऐसे वृद्ध मनुष्यके शरीरकी दशा-अवस्था जिस प्रकार स्नेह-प्रीति रहित जीवन होनेसे शोचनीय हो जाती है, उसी प्रकार जिसका अग्रभाग काँप रहा है

प्रीतिभावेन वा वर्जित यज्जीवन निःस्नेहजीवन तद्भावेन दशा वर्तिकाऽवस्था च संशोच्यता-मुपगतास्ति ॥४१॥

रात्रावहो पुलकितानि हसन्ति भानि
स्माम्भोरुहाणि किल मुद्रणमाश्रितानि ।
वार्बिन्दुभावमुपगम्य दलेषु तेषां
भिक्षामटन्ति परितो दिवसप्रवेशात् ॥४२॥

रात्रावित्यादि—रात्रौ निशासमयं यानि पुलकितानि प्रसन्नभावमितानि भानि नक्षत्राणि, मुद्रण सकोचमाश्रितानि अम्भोरुहाणि जलजानि हसन्ति स्म हास्य कुर्वन्ति स्म किल तान्येव पुनरधुना परितो दिवसप्रवेशाद् दिनोदयसद्भावात् कमलानां विकासाव-सरत्वात् तेषां दलेषु पत्रेषु जातीयसमुदायेषु तद्गेहद्वारेषु वा वार्बिन्दुभाव जलकणरूपता-मुपगम्यातिशयलाघवमासाद्य भिक्षामटन्ति, इत्यहो ॥४२॥

संसूयते तनयरत्नमपश्चिमातः
संश्रूयते कलकलो द्विजजातिजातः ।
पाथोरुहोदरदरावलिनो विमुक्ता
आमोदपूर्णमखिलं जगदेतदुक्तात् ॥४३॥

संसूयत इत्यादि—अपश्चिमात. सर्वप्रथमात· स्त्रिय इवेन्द्रदिशातस्तनयरत्न सूर्यनाम-सत्पुत्रः ससूयते समुत्पाद्यते, तत एव द्विजाना पक्षिणा ब्राह्मणाना वा जाते समूहाज्जातः कलकलस्वरः संश्रूयते । पाथोरुहोदरदरात् कमलकोशगह्वरावलिन कारावासिन इव भ्रम-राश्च विमुक्तास्सन्ति । तथोक्तादेव कारणात् जगद्विश्वमखिलमप्येतदामोदेन सुगन्धेन

और जिसकी प्रभा क्षीण हो रही है, ऐसे दीपककी दशा–बत्ती स्नेह–तैल रहित जीवन होनेसे शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो रही है ॥४१॥

अर्थ—रात्रिके समय प्रसन्नताको प्राप्त हुए जो नक्षत्र निमीलित–दीनदशा-को प्राप्त कमलोकी हँसी उडा रहे थे, वे इस समय सब ओरसे दिनका प्रवेश होने-के कारण जल कणोका रूप रख उन्ही कमल दलोपर (उनके द्वारपर) मानो भिक्षा माँग रहे है ॥४२॥

अर्थ—पूर्व दिशारूपी प्रथम पत्नीसे सूर्यरूपी पुत्ररत्न उत्पन्न हो रहा है, इसलिए द्विज–ब्राह्मण अथवा पक्षियोके समूहसे उत्पन्न हुआ कल-कल शब्द सुनाई पड़ रहा है, कमलोके उदरगर्त रूप बन्दीगृहसे भ्रमर रूपी बन्दी छोड़े

प्रसन्नभावेन वा पूर्णं सम्भृतमिति। पुत्रोत्पत्तिसमये द्विजलोकस्योचितर्बन्दिमोक्षणं च भवतीत्यत्रापि ॥ ४३ ॥

यत्नोऽमृताश्रमपरेण च खेन तात-
ख्यात ! प्रभातहविरासन एष जातः ।
भिन्ने भवत्यमृतधामनि नाम शुम्भत्-
स्वर्णस्य संकलितुमत्र नवीनकुम्भम् ॥४४॥

यत्न इत्यादि—हे तातख्यात ! महोदय ! भवति तारासहितेऽमृतधामनि चन्द्रमसि तथा क्षीरपात्रे भिन्ने नष्टे सति, अमृतानां देवानामाश्रमः स्वर्गस्तत्परेण तेनैव दुग्धाश्रमाधिकारिणा खेनाकाशेन प्रभात एव हविरासनो वह्निस्तस्मिन् स्वर्णस्य कनकस्य शुम्भत् शोभमानं नाम नवीनकुम्भ संकलितु निर्मातुमत्र यत्नो जातः, स युक्त एवेति भाव ॥ ४४ ॥

वीरोविते समुदितैरिति संवदामः
कल्यप्रभाववशतः प्रतिबोधनाम ।
सम्प्रापितं च मनुजैश्चतुराश्रमित्व-
मेकान्तवादविनिवृत्तितयासि विश्वम् ॥४५॥

वीरोविते इत्यादि—हे चतुर ! जयकुमार ! शृणु। विः पक्षी रोविते कलकलकरणे

जा रहे हैं और इसी कारण यह समस्त जगत् आमोद—हर्ष अथवा सुगन्धसे परिपूर्ण हो गया है ॥४३॥

अर्थ—हे महोदय ! जब भवत्—नक्षत्र युक्त अमृतधाम—चन्द्रमा अथवा दुग्धपात्र नष्ट हो गया—फूट गया, तब अमृताश्रम—स्वर्गरूप दुग्धाश्रमके अधिकारी आकाशने प्रातःकाल रूपी अग्निमें स्वर्णका शोभायमान नवीन घट बनाने का प्रयत्न किया।

भावार्थ—पूर्व दिशामे उदित होता हुआ लाल-लाल सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश रूपी दुग्धाधिकारीके द्वारा अग्निमे तपाकर स्वर्णका नवीन घट बनाया जा रहा हो। चन्द्रमा रूपी घटके नष्ट हो जानेपर नवीन घटका बनाया जाना उचित है। चन्द्रमा रूपी चाँदीका मटका फूट गया, अतः अब मजबूती की दृष्टिसे सुवर्णका घट बनाया जा रहा है ॥४४॥

अर्थ—हे चतुर ! विचारशील राजन् ! पक्षी कलकल करनेमे प्रसन्न हैं।

समुत् प्रसन्नचित्तोऽस्ति तावत्। इत्येवमितैरनुभवनशीलैर्मनुजैः कल्यस्य प्रभातस्य प्रभावः प्रत्युत्थापनकरण तद्वशात. प्रतिबोधनाम सचेतनत्वमेव स एव चैकान्तवादो रहः-स्थानस्थितिकरण तस्माद्विनिवृत्तिर्येषां तद्भावेन पुनरश्रमित्व स्वस्थत्वं च सम्प्रापितम्। यद्वा वीरस्य श्रीवर्धमानतीर्थकर्तुरुदिते सबदिते मते समुदितैः सङ्घशक्तिमितैर्मनुजैः कलेः कालस्याप्रभावो मुग्धत्वाभावस्तद्वशतः प्रतिबोधनाम कर्तव्यकर्मणि बत्तावधान-त्वमेवैकान्तवादो हठवृत्तिस्तद्विनिवृत्तितयाऽनेकान्तवादाश्रयणेन चतुराश्रमित्वं वर्णि-गृहस्थ-वानप्रस्थर्षिनामकाश्चत्वार आश्रमास्तद्वत्त्व च सम्प्रापितमिति वयं संवदामस्तवाग्रे यतस्त्व विद् विचारशीलोऽसि। तदेव स्पष्टयति कविः ॥ ४५ ॥

कञ्जोच्चयेन विकचत्वमवापि तात
सुश्रावकत्वमिति पक्षिवरेष्विहातः।
भानोः करग्रहभृतो भुवि धामनिष्ठा
भैराश्रिता पुनरुताध्ययनप्रतिष्ठा ॥४६॥

कञ्जोच्चयेनेत्यादि—हे तात! पूज्यवर! कञ्जानां कमलानामुच्चयेन विकचत्वं प्रस्फुरणमुत च केशरहितशिरस्कत्व सन्यस्ताश्रमे प्रविश्य केशलुञ्चनमवापि। पक्षिवरेषु चटकादिषु सुश्रावकत्व चकचकेत्यादिमधुरशब्दकरण तथा वानप्रस्थत्व चेह दृश्यत इति

इसलिये अनुभवशील मनुष्योने प्रात·कालके प्रभाव वश प्रबोधको प्राप्त हो एकान्त वासका परित्याग कर स्वस्थता प्राप्त की है, अर्थात् विचारशील मनुष्योने विचार किया कि जब पक्षी भी घोसलोसे निकलकर कलकल शब्द करते हुए प्रमुदित हो रहे है, तब हमलोगो का एकान्त स्थानमे निद्रानिमग्न रहना अच्छा नही है, इस विचारसे मनुष्योने एकान्त स्थानोका त्याग कर प्रबुद्ध हो स्वस्थताको प्राप्त किया है।

अथवा—भगवान् महावीरके द्वारा समर्थित मत–अनेकान्तवादमे समुदित–संगठित हुए मनुष्योने कलिकालके अप्रभाववश अर्थात् कलिकालसे प्रभावित न हो प्रबोधको प्राप्त किया अर्थात् अपने कर्तव्य कर्मका निर्धार कर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और ऋषित्व इन चार आश्रमोको प्राप्त किया तथा एकान्त-वादको छोड़कर स्वस्थताका अनुभव किया। हे राजन्! आप यह सब जानते हैं, अत. हम कहते हैं कि आप ज्ञानी है ॥ ४५ ॥

अर्थ—हे पूज्यवर! इस समय कमलोके समूहने विकचत्व–विकास को प्राप्त किया है। पक्षमे संन्यास धारण कर केशलुञ्चन की अवस्था को प्राप्त किया है।

शेषः। अत एव भुवि धरातलेऽस्मिन् करग्रहभृतः किरणकलापयुक्तस्योत विवाहितस्य सपत्नीकस्य भानोः सूर्यस्य धामनिष्ठा तेजोवत्त्वमुत गृहस्थत्वमस्त्येव। पुनरुतायनं गमनमधिकृत्य प्रतिष्ठा प्रलुप्तिरुताध्ययने पठने या प्रतिष्ठा सार्थाद्भणिभावगतिर्भैर्नक्षत्र-राश्रितेति विक् ॥ ४६ ॥

भानुस्तपोधन इवायमिहाभ्युदेति
　　निःशर्वरीत्वमपि यज्जगतस्तथेति।
कोकः प्रसिद्धविभवो गृहिणीमुपेतः
　　कौपीनभावमयते वनवासिचेतः ॥४७॥

भानुरित्यादि—इहायं भानुः सूर्यः स तपोधनो धर्मसम्पत्तिस्स तपोधनस्तपस्वी वाभ्युदेति समुन्नतिमुपैति, तथा शर्वरी[1] रात्रिः स्त्री च तदस्तित्वं शर्वरीत्वं ब्रह्मचारित्वं तदपि जगतः सर्वजनसमुदायस्यास्ति, प्रसिद्धश्चासौ विभवः पक्षिजन्मा तथा प्रसिद्धो विभव सम्पत्तिमद्भावो यस्य सोऽसौ कोको गृहिणीं सधर्मिणीमितो भार्यया सयुक्तो जातो गृहस्थोऽस्तीति कृत्वा वनवासि [2]वने जले वासो निवासो यस्य तद्वनवासि कमल च पुनरितः कौ पृथिव्यां पीनभाव प्रफुल्लावस्थामुत वनवासिनां वानप्रस्थाना चेतो मानस तत्कौपीन-

---

चिड़िया आदि श्रेष्ठ पक्षियोमे उत्तम श्रावकपना देखा जाता है–वे चक चक आदि विविध शब्द सुना रहे है (पक्षमे उनमे वानप्रस्थ दशा विद्यमान है)। करग्रहभृत्–किरणोके समूहसे युक्त (पक्षमे पाणिग्रहण–विवाह संस्कारसे युक्त) सूर्यमे धामनिष्ठा–गृहस्थता दिखाई दे रही है और भ–नक्षत्रोने अध्ययनशीलता प्राप्त की है (पक्षमे ब्रह्मचर्य आश्रम ग्रहण किया है)। इस तरह यहाँ पृथिवी पर चारो आश्रमोकी स्थिति विद्यमान है ॥ ४६ ॥

अर्थ—तपोधन–धामरूपी धनसे सहित यह सूर्य, तपोधन–तपस्वी ऋषिके समान यहाँ अभ्युदयको प्राप्त हो रहा है। नि शर्वरीत्व–रात्रिका अभाव (पक्षमे स्त्रीका अभाव) समस्त जगत्‌को है ही। प्रसिद्ध विभव–जिसका जन्म प्रसिद्ध पक्षीसे हुआ है, ऐसा कोक–चक्रवाक प्रसिद्धविभव–प्रख्यात सम्पत्ति वाला होता हुआ, गृहिणी–स्त्रीको प्राप्त हो रहा है और इधर कौ–पृथिवी पर वनवासि–कमल, पीनभाव–विकसित होनेके कारण स्थूल भावको प्राप्त हो रहा है (पक्षमे वनवासी–वनमे निवास करने वाले वानप्रस्थो का चेतः–चित्त अन्य सब वस्त्र

---

१. 'शर्वरी तु त्रियामाया हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्वलोचनः।
२. 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः।

भाव कौपीनस्य वस्त्रचिल्लिकाया भावमयते इत्यवस्त्रादिपरिग्रहं परित्यजति ॥ ४७ ॥

किञ्चित्पठत्यतिशयेन तु वायसादि-
भर्यिाधुना दिनकृताधिकृतान्ववादि ।
घूकोऽव्रजच्च विपिने कुमुदस्य शं वा-
धीशाभिभाति मुनिवन्मुखमुद्रणं वा ॥४८॥

किञ्चिदित्यादि—हे अधीश ! हे स्वामिन् । अधुना वायसादिः काकादिपक्षिसमूहः, अतिशयेन दीर्घस्वरेण नितरां वा किञ्चित्किमपि शास्त्रमित्यर्थः, पठत्यधीते । एतेनाध्ययनशीलो ब्रह्मचर्याश्रमः सूचित । दिनकृता सूर्येण आर्या श्रेष्ठा भा दीप्तिरधिकृता स्वीकृताथ च भार्या स्त्री अधिकृता परिणीता । एतेन गृहस्थाश्रमोऽन्ववादि निरूपित । घूको मूर्खोपमान उलूक इति यावद् विपिनमरण्यमव्रजत् जगाम । एतेन वानप्रस्थाश्रमो निवेदितः । कुमुदस्य रात्रिविकासिकमलस्य शं शान्तिर्मुखमुद्रणं वा निमीलनं वा मुनिवत्संन्यासिवदभिभाति शोभते । एतेन संन्यासाश्रमो वर्णितः ॥ ४८ ॥

आमन्त्रणार्थमिति चन्द्रमसो रसेन
शङ्खोऽसकौ ध्वनति सोदरतावशेन ।
औदास्यतो जगदतीत्य विचित्रवस्तु-
गेहायमानमिव निर्व्रजतोऽन्ततस्तु ॥४९॥

आमन्त्रणेत्यादि—असकौ शङ्खः, विचित्रवस्तुगेह 'अजायबघर' इति देशभाषायाम् तद्विदाचरतीति विचित्रवस्तुगेहायमानं जगदिदमतीत्य परित्यज्योदास्यत उदासस्य भाव

छोड़कर कौपीन भाव–लगोटीके अस्तित्वको प्राप्त हो रहा है) । इस तरह इस प्रातर्वेलामे यहाँ ऋषि, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ, ये चारों आश्रम अनुभवमे आ रहे है ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे अधीश्वर ! इस समय काक आदि पक्षी अत्यधिक रूपसे कुछ पढ़ रहे हैं। सूर्यने आर्या-श्रेष्ठ भा–दीप्तिको प्राप्त कर लिया अथवा सूर्यने भार्या–पत्नीको प्राप्त कर लिया है। उलूक वनमे चला गया है और कुमुदकी शान्ति तथा मुख मुद्रण–निमीलन मुनिके समान सुशोभित हो रहा है । तात्पर्य यह है कि इस समय ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रम प्रकट हो रहे हैं॥ ४८ ॥

अर्थ—यह शख, अजायबघरके समान आचरण करने वाले इस जगत्को उदासीनतासे छोडकर कही अन्यत्र जाने वाले चन्द्रमाको बुलाने अथवा

औदास्य तत उन्मनस्कतयेति यावत्, अन्ततः कुतोऽप्यन्यत्र तु निर्जतो यदृच्छया गच्छत-श्चन्द्रमस आमन्त्रणार्थं सम्बोधनार्थमिति किल सोदरतावशेन रसेन ध्वनति शब्दायते शङ्ख समुद्रजातश्चन्द्रोऽपीति भ्रातृस्नेहेन तमाह्वयतीति किल । शङ्खस्तु प्रभाते देवालयादौ सहजमेव ध्वन्यते ॥ ४९ ॥

नक्षत्ररीतिरधुना नभसो न भाति
गुप्तोऽप्युलूकतनयस्य तथा सजातिः ।
विप्राप्तसंववनतो नरपामरत्वं
केषाञ्चिदुद्धरति वर्णविधेर्महत्त्वम् ॥५०॥

नक्षत्रत्यादि – अधुना नभस आकाशस्य नक्षत्राणा रीतिर्न भाति तारकाततिर्नास्ति तथा क्षत्रस्य बाहुजवर्णस्य रीतिर्नास्तीति न, किन्त्वस्त्येव सर्वेषामवकाशदानत्वात् । अपि पुनरुलूकतनयस्य सजातिः सवृशो निशाचरवर्गस्तथा गुप्तः प्रच्छन्नतामवाप्तो गुप्तो वैश्यवर्णः सञ्जातो वास्तीति । तथैव हे नरप ! राजन् ! कमात्मानमिच्छन्तीति केषः आत्मानुभवकारिलोकास्तेषाममलत्व पवित्रत्वं देवताभूयस्त्व चोद्धरति प्रकाशयति । यत्खलु विभ्य. पक्षिभ्य· प्राप्त यत्सववन शब्दोच्चारणं ततो हेतुतोः वर्णविधेर्महत्त्व स्तुति-क्रमस्योत्तमत्वमस्ति तत्कर्तृभूतं वस्तु हे नर ! विप्रेभ्यो ब्राह्मणेभ्य आप्तमुपलब्ध सववन तत पुन· केषां प्रविरलानामेव लोकानां पामरत्व शूद्रवर्णत्वमुद्धरति । तव प्रजा-वर्गे शूद्राणामाधिक्य नास्तीति वर्णविधेर्महत्त्वमस्त्येव तावत् । तथा ब्राह्मणा मुखाज्जाता वर्णविधेरिति विप्रैराप्तं सववन मुखं यस्मात्तत इति वा ॥ ५० ॥

सम्बोधित करनेके लिये भ्रातृभावसे स्नेहवश शब्द कर रहा है । भाव यह है कि इस समय देवालयोमे शंख बज रहे हैं ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस समय आकाश सम्बन्धी नक्षत्ररीति–ताराओंकी स्थिति सुशोभित नही हो रही है, पक्षमे आकाशकी क्षत्रिय रीति–(न शोभते इति न, अपितु शोभत एव) अत्यन्त सुशोभित हो रही है। उलूक सजाति–निशाचर-राक्षस गुप्त हो गये है, कही छिप गये है, पक्षमे गुप्त–वैश्यवर्णी हो गये है। हे नरप ! हे राजन् ! विप्र–ब्राह्मणोसे समर्थन प्राप्त होनेके कारण, केषा–आत्माका अनुभव करने वाले लोगोकी अमलता–पवित्रता अथच देवरूपता प्रकट हो रही है अथवा हे नर ! विप्रवर्णकी प्रमुखताके कारण पामरत्व–शूद्रपना किन्ही विरले लोगोंमे ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पिछले पद्योमे चार आश्रमोकी स्थापना अर्थान्तरसे प्रकट की थी, उसी प्रकार इस पद्यमे क्षत्रियादि चार वर्णोंकी स्थापना अर्थान्तरसे प्रकट की गई है। विशेष अर्थ संस्कृत टीकासे ज्ञातव्य है ॥ ५० ॥

एवं प्रभूतवलसत्स्फुरणं गतस्य
स्पष्टिं प्रयाति भुवि सौरभवस्तु तस्य ।
अम्भोरुहस्य सहसा समुदर्करीति
स्वीकुर्वतो मधुरसं प्रति जातगीतिम् ॥५१॥

एवमित्यादि—सहसाऽकस्मादेव समुद् प्रसन्नतासहितामर्कस्य सूर्यस्य रीतिं चेष्टा-मुदयलक्षणामुत चोदर्करीतिमागामिफलप्रदर्शनरूपां स्वीकुर्वत एव मधुरसं प्रति जातगीतिं स्वीकुर्वत 'सहव'मिति प्रसिद्धमुत्पादयत उतहे मधुर ! प्रीतिजनक ! इत्येव सम्बोधनं विश्लिष्य पुन सम्प्रति कालजातानां पदार्थानां गीतिं स्पष्टीकरणं स्वीकुर्वत , एवं प्रभूतानां बहूनां वलानां पत्राणां सत्स्फुरणं गतस्य विकासमाप्तस्याम्भोरुहस्य तस्यामुकस्य भुवि पृथिव्यां सौरभमेव वस्तु सुगन्धरूपं तथा सुरस्यैव सौर स चासौ भवश्च सौरभवो देव-जातिम्नु पुन स्पष्टिं प्रयाति प्रचलति तथा जातानां जन्मवतां बालकानां गीतिं कुण्डली-करणनीतिं स्वीकुर्वतो भुवि सौरभवो भूसुरभावो ब्राह्मणत्व सम्भवति वेति ॥ ५१ ॥

यस्मादितः प्रलयमेति विभावरीति-
र्विश्वाश्रयिन् मृदुलताश्रयणान्यपीति ।
सद्भावनाविजयिनीं खलतां हसन्ति
तान्युत्तमानि किल कौतुकभाववन्ति ॥५२॥

यस्मादित्यादि—हे विश्वाश्रयिन् । लोकस्याधारभूत ! यस्मात्कारणादितो भूतलाद् विभावरीकृता ईतिर्बाधा विभावरीतिरथवा विकृतभावस्य विभावस्य रीतिश्चेष्टा प्रलयमेति विनश्यति । तस्मान्मृदुलताश्रयणानि मृदूनां लतानामाश्रयणानि निकुञ्जदेशा उत

अर्थ—हे राजन् ! इस तरह जो सहसा बहुत भारी कलिकाओके समीचीन विकासको प्राप्त है तथा जो प्रसन्नतासे युक्त सूर्यकी उदय रूप चेष्टा तथा मधु-शहदको उत्पन्न करने वाली स्थितिको स्वीकृत कर रहा है, ऐसे कमलकी सौरभ-सुगन्ध पृथिवीमे स्पष्टताको प्राप्त हो रही है, सर्वत्र फैल रही है ।

भावार्थ—श्लोकके चतुर्थ चरणमे 'मधुर' को राजाका सम्बोधन बनाकर सम्प्रति कालमे जात-उत्पन्न बालकोके सूर्य तथा भविष्य आदिका विचार संस्कृत टीकासे जानना चाहिये ।

अर्थ—हे जगतके आधारभूत ! जिस कारण इस भूतलसे विभावरीति-रात्रि सम्बन्धी बाधा अथवा विकृत भावकी चेष्टा नाशको प्राप्त हो रही है, उस कारण मृदुलता-कोमल लताओके आधारभूत वे निकुञ्ज, जो कि कौतुकभाव-

मृदुलताया भद्रताया आश्रयणानि सज्जनचेतांसि यानि किलोत्तमानि प्रशस्तानि तथा कौतुकानां कुसुमानामुत विनोदपरिणामाना भावन्न्ति सन्ति तानि, सता नक्षत्राणामुत परोपकारिणां भावनाया विजयिनीं जयनकारिणीं खलतामाकाशप्रदेशपङ्क्तिमुत मूर्खता हसन्ति तदुपहास कुर्वन्तीति ॥ ५२ ॥

संहृत्य वै रजनिमित्यथ वीतराग-
वृत्तिं गतश्चरति सत्स्वभिवृद्धभागः ।
योगीयते सहजलम्बकरः सुवृत्त-
भावेन भानुरपि भो जगदेकवृत्त ॥५३॥

सहृत्येत्यादि—भो जगदेकवृत्त ! जगत्येक प्रधानमादर्शरूपं वृत्त यस्य तस्य सम्बोधनम् । भानु सूर्योऽपि वै निश्चयेन रजनि रात्रि संहृत्याथ पुनर्वीतरागवृत्ति गतः, विभि पक्षिभिरितस्य सम्प्राप्तस्य रागस्य सुस्वरोच्चारणस्य वृत्ति गतः, सुवृत्तभावेन वर्तुलरूपतयोत सदाचारचेष्टितेन सहजमेव लम्बाः प्रसारिता. करा रश्मयो येन स, योगीयते योगीवाचरति योगीव निश्चेष्टतया प्रलम्बमानहस्तो भवति । एवं च य. सत्सु नक्षत्रेषु साधुषु वा चरति अभिवृद्धा भां दीप्ति गच्छतीति स , अथवा वृद्धः समुन्नतरूपो भागो देवादेशो यस्य स गीयते लोके कथ्यते स एवभूतः ॥५३॥

फूलोके सद्भावसे युक्त तथा उत्तम-प्रशस्त है, सद्भावनाविजयिनी-नक्षत्रोके सद्भावको जीतने वाली खलता-आकाश प्रदेशोकी पक्तिका उपहास करते है। अथवा मृदुलता-कोमलताके आधारभूत सज्जनोंको वे चित्त, जो कि उत्तम-उत्कृष्ट तथा कौतुकभाव-विनोदोके सद्भावसे सहित हैं, सद्भावनाविजयिनी-सज्जनोकी भावनाको जीतने वाली खलता-दुष्टता अथवा मूर्खताका उपहास करते हैं।

अर्थ—हे जगत्के आश्रयभूत वृत्त-आचरणके धारक ! निश्चयसे सूर्य भी रात्रिको नष्टकर **वीतरागवृत्ति गतः**—पक्षियोके द्वारा प्राप्त सुस्वरोच्चारण रूप रागकी वृत्तिको प्राप्त (पक्षमे रागद्वेष रहित वोतराग वृत्तिको प्राप्त) **सुवृत्तभाव**-गोलाकार (पक्षमे सदाचारसे युक्त) **सत्सु**-नक्षत्रोमे **अभिवृद्धभाग**-वृद्धिगत भा-दीप्तिको प्राप्त, (पक्षमे सत्पुरुषोमे वृद्धिगत भागसे सहित) एवं **सहजभाव लम्बकरः**-सहजभावसे लम्बायमान किरणोंसे सहित (पक्षमे सहज स्वभावसे लम्बमान-नीचे लटकते हुए हाथोंसे सहित) होता हुआ **योगीयते**-योगीके समान आचरण करता है, अर्थात् ध्यानस्थ मुनिके समान जान पड़ता है। अथवा **योगीयते**-जो सूर्य, उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त कहा जाता है ॥५३॥

विभ्राजते सुमुख ! सम्प्रतिपद्य सानुं
चारित्रकल्पवशवर्तितयेष भानुः ।
प्रोद्भिद्य मङ्क्षु कमलं स्फुरता पराग-
भावेन भूरिभरिताखिलभूमिभागः ॥५४॥

विभ्राजत इत्यादि—हे सुमुख ! एष भानुः सूर्यः सानुमुदयाचलशृङ्गवनप्रदेशं सम्प्रतिपद्य च पुनररित्रो भ्रमरस्य रक्षको यः कल्पो विचारस्तस्य वशवर्तितया, उत चारित्रकल्पस्य वशवर्तितया मङ्क्षु शीघ्रमेव कमलं सरोजं प्रोद्भिद्य यद्वा कस्यात्मनो मलं कश्मलं प्रोद्भिद्य स्फुरता प्रकाशमागच्छता परागभावेन मकरन्देनोतापरागभावेन वीतरागपरिणामेन भूरि पुनः पुनर्भरित सम्पूरितोऽसावखिलो भूमेर्भागो येन स विभ्राजते शोभतेऽसौ ॥५४॥

लोकोऽन्वितो धृतविभावसुखश्रियासीत्
सज्जो विधावुदितसत्कृतसम्पदाशीः ।
सद्यो विसर्गपरिणाममुपेत्य यावद्
विभ्राजतेऽयि नृप ! केवलभृत् स तावत् ॥५५॥

लोक इत्यादि—योऽयं लोकः सर्वसाधारणो जनो भुवनदेशश्च स विधौ चन्द्रमसि यद्वा सद्भाग्ये उदिते सति धृता स्वीकृता विभावसुर्निशा येन तस्य खस्य नभसः श्रिया शोभया यद्वा धृतो विभावोऽशाश्वतभावो येन तस्य सुखस्येन्द्रियजन्यभोगविलासस्य श्रिया

अर्थ—हे समुख ! यह सूर्य उदयाचलके शिखरको प्राप्त कर अरित्र[1]–अलित्र भ्रमररक्षक भावकी वशवर्तिता (पक्षमे चारित्र रक्षाके भावकी वशवर्तिता) से शीघ्र ही कमल (पक्षमे आत्माकी कलुषता) को प्रोद्भिद्य–विकसित (पक्षमें नष्ट) कर प्रकट होने वाले पराग–मकरन्द (पक्षमे अपराग–वीतराग परिणाम) से पुनः पुनः पृथिवीके भागो–प्रदेशोको भरता–परिपूर्ण करता हुआ देदीप्यमान हो रहा है ॥५४॥

अर्थ—हे राजन् ! जो यह लोक–जगत्, (पक्षमे सर्वसाधारण जन) है, वह रात्रिके समय विधु–चन्द्रमाका उदय होनेपर (पक्षमे विधि–सद्भाग्यका उदय होनेपर) विभावसुखश्रिया–रात्रियुक्त आकाशकी शोभासे (पक्षमे वैभाविक

१ रलयोरभेदादरि. अलि. भ्रमरस्तं त्रायत इत्यरित्र अलिरक्षको यः कल्पो विचारस्तस्य वशवर्तितया ।

सज्जः समायुक्त सन् उदितैः संप्रकटितैः सद्भिर्नक्षत्रैः कृता या सम्पत् तस्या आशीः समाशंसनं यस्य स आसीदभूद् निशासमये, स एवाद्य प्रभातकाले वीनां सर्गपरिणाम पर्यटनभावमुत विसर्गपरिणाम लोकोत्तरवृत्ति त्यागभावमुपेत्य यावद्विभ्राजते तावदेव हे नृप ! राजन् ! स केवलबोधभृद् अतीन्द्रियज्ञानमाप्तवान्, अपि किल। किञ्च, के नामार्के बलस्योदयरूपबोधभृत् चास्तीति ॥५५॥

श्रीभारतोक्तविभवो धृतराष्ट्र एव
वीरं जनाय खलु कौरवमीक्षते सः।
कृष्णोऽलिरत्र कलिकालसदुत्सवाय
विप्रोऽथ पद्ममपि सौरभविस्मयाय ॥५६॥

श्रीभारतेत्यादि—श्रीभासो रविदीप्तेर्लतया पङ्क्त्योक्तो योऽसौ विभव एव धृतः समाक्रान्तो राष्ट्रो देशो येन स समस्ति। तथा श्रीभारते नामेतिहासग्रन्थे उक्त प्रख्यापितो विभवो यस्य स धृतराष्ट्रो नाम राजा। स विः पक्षी यो रात्रौ वृक्षमध्यवसत् स एव कौ भुवि रञ्जनाय प्रसक्त्यर्थं खलु रवमीक्षते शब्द करोति। यद्वा कौरव नाम वीर जनाय खलु सर्वसाधारणायेक्षते पश्यति, नान्य कोऽपि तस्य दृक्पथमुपयातीति। अत्र च भूतले कृष्णो धूम्रवर्णोऽलिभ्रमरः कलिकायां कमलपत्रिकायां लसन् शोभमानो य उत्सवः स्फुरणलक्षणस्तस्मै। किं वा कलिकालस्य संश्वासावुत्सवश्च तस्मै। अथापि पुनः पद्मं कमलं सौरभस्य सुगन्धस्य विस्मयाय। अथवा पद्मं नाम बलदेवं सुराणामसौ सौरः स चासौ भशो यस्यास्ति तस्य देवलोकस्य स्मयायाश्चर्याय भवति ॥५६॥

अशाश्वत इन्द्रियजन्य सुखकी सपदासे) संयुक्त होता हुआ उदित सत्कृत–नक्षत्र कृत शोभाके आशिषसे (पक्षमे उदयागत पुण्य कर्मसे प्राप्त सपदाके आशिषसे सम्पन्न था), वही अब प्रातर्वेलामे विसर्गपरिणाम–पक्षियोके पर्यटन भाव (पक्षमे त्यागके परिणाम) को प्राप्त होकर के-वल-भृत्–सूर्यमे दृढताको धारण करता हुआ (पक्षमे केवलभृत्–केवलज्ञानको धारण करता हुआ) शोभायमान हो रहा है ॥५५॥

अर्थ—श्रीभास्–सूर्यकान्तिकी रता–(लता) पङ्क्ति द्वारा कथित जो विभव है, वह धृतराष्ट्र है–समस्त देशको व्याप्त करने वाला है, अर्थात् सूर्यरश्मियोका वैभव समस्त देशोमे व्याप्त हो रहा है। वह वि–पक्षी जो कि रात्रिमे वृक्षपर रहता है, कौ–पृथिवी पर आनेके लिये रवं ईक्षते–शब्द कर रहा है। यहाँ कृष्ण अलि–काला भ्रमर कलिकाओ पर शोभायमान विकास रूप उत्सवको प्रतीक्षा कर रहा है तथा वह पद्म–कमल भी सौरभविस्मयाय–सुगन्धके द्वारा आश्चर्यके

न क्वापि भाति-अधुना द्विजराजवंशः
सुप्तोऽसि बाहुजसमाजसतां वतंस ।
कस्ते तुलाधर उदेति जनेषु वा यः
सविप्लवोऽत्र बहुधान्यसमीक्षणाय ।।५७।।

न क्वापीत्यादि—हे बाहुजसमाजसता वतस ! हे क्षत्रियजनशिरोमणे ? अधुना द्विजराजस्य चन्द्रस्य वशस्तारकासमाजो यद्वा द्विजराजाना विप्राणा वशो न क्वापि भाति, तथापि त्व सुप्तोऽसि नैतद्युक्तम् । योऽथवा पुनर्जनेषु स कोऽस्ति यस्ते भवतस्तुलाधर· साहश्यरो विद्यते । अथवा वणिगस्ति । अत्र च प्रभातत्वाद् बहु अनल्पं च तद्धान्य च तस्य समीक्षणायान्वेषणार्थं सविप्लवो वीनां पक्षिणा सम्यक्प्लव उद्गमनन्, अथवान्यस्य शूद्रस्य समीक्षणाय क कीदृक् शूद्र स्यादित्यादितर्कणार्थं बहुधा सविप्लवो विसवादो भवतीनि ।।५७।।

लिये हो रहा है-अपनी आश्चर्यकारी सुगन्धको प्रकट कर रहा है ।

अर्थान्तर—भारत नामक इतिहासके ग्रन्थमे जिसका विभव-वैभव प्रख्यात है, ऐसा धृतराष्ट्र नामका राजा जनहितके लिये कौरव-दुर्योधनादिकको देख रहा है, अर्थात् वह पाण्डवोको उपेक्षितकर कौरवोको ही जनहितकारी मान रहा है । यहॉ कृष्ण-श्रीकृष्ण कलिकालमे शोभायमान उत्सवके लिये प्रतीक्षारत है, अर्थात् पाण्डवोको विजयी बनाकर कलिकालका भी आनन्द निमग्न करना चाहते है और पद्म-बलदेवको हम सौरभवि-देवोके भो स्मय-आश्चर्यके लिये मानते है, अर्थात् पद्म अपने शौर्यसे देवोको भी आश्चर्य चकित कर रहे है, ऐसा हम मानते है ।।५६।।

अर्थ—हे क्षत्रियकुल शिरोमणे ! इस समय द्विजराज-चन्द्रमाका वश-ताराओका समूह कही भी सुशोभित नही हो रहा है अथवा ब्राह्मणोका वंश कही भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नही हो रहा है, फिर भी आप सो रहे है, उसके हितकी ओर आपकी दृष्टि नही है । मनुष्योमे वह कौन है जो आपकी तुला-सदृशताको धारण कर सके अथवा तुलाधर-तराजूको धारण करने वाला वणिक् कौन है ? यहाँ प्रभात हो जानेसे **बहुधान्यसमीक्षणाय**—प्रचुर अन्नके अन्वेषणके लिये, **संविप्लव**-अच्छी तरह अथवा सब ओर पक्षियोका उत्पलवन-उत्पतन हो रहा है, अर्थात् अत्यधिक अन्नकी खोजके लिये पक्षी सब ओर उड़ रहे हैं । अथवा अन्य-क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्यसे अतिरिक्त शूद्रवर्णकी समीक्षा के लिये विसवाद हो रहा है ।।५८।।

नक्षत्रता स्वयमधीतिदशामुपेता
पद्मे श्रियः समुदिताः प्रभवन्त्य एताः ।
कल्याख्य एष समयो भवदीक्षणीयो
जल्पे द्विजातिरुचितं सुजनानणीयः ।।५८।।

नक्षत्रेत्यादि—हे सुजन ! द्विजातीना पक्षिणामुत च विप्राणां रुचितमभिलषितं जल्पे कलकलरवेऽथवा व्यर्थवितण्डावादेऽनणीयो वार वार भवति । नक्षत्रता ताराणां सहतिरीतिमधिकृत्य वर्तत इत्यधीति या दशावस्था तामुपेता विनाशं गता । अथवा क्षत्रता क्षत्रियत्वस्थितिः स्वधीतिदशामध्ययनदशां नोपेता स्वयं सुतरामेवापठितैव तिष्ठति । तत एवैतच्छ्रियः स्फूर्तिकीर्त्यादिरूपास्ताः समुदिता एकत्रीभूय पद्मे प्रभवन्ति पद्योर्मा यस्यास्तीति तस्मिन् चरणजे शूद्रे स्फुरन्ति, पद्मे कमले तु श्रिय सम्भवन्त्येव किल । इत्थमेष किल कल्याख्य प्रातर्नामक समयो भवता सुजनेन ईक्षणीयो दर्शनीयो विद्यतेऽथवा कलिः आख्या यस्य स कलिकालनामा समयो भवताऽवलोकनीयोऽस्ति ।।५८।।

नानाप्रसक्तिरिति यज्जडजेषु तेन
रक्ताम्बरत्वमितमर्कमहोदयेन ।
सर्वैद्विजैरधिकृता कणभक्षशिक्षा
सम्पादिता च तमसा सुगतैकदीक्षा ।।५९।।

नानेत्यादि—यद्यस्मात्कारणात् जडजेषु कमलेषूतापठितजातेषु नानाप्रसक्तिरनाप्रसक्तिरप्रसन्नभावो न भवति, उतानेकविधासक्तमनतास्ति । इत्यत एव तेनार्कमहोदयेनार्कस्य

अर्थ—हे सुजन ! सज्जनोत्तम ! इस समय द्विजातियो-पक्षियोकी बहुत भारी रुचि जल्प-कलकल शब्द करनेमे है और नक्षत्रता-नक्षत्रोकी पंक्ति नाशको प्राप्त हो गई है, अतः ये समस्त लक्ष्मियाँ-शोभारूप सम्पत्तियाँ पद्म-कमलमें एकत्रित हुई हैं । यह कल्य-प्रात. नामका समय आपके द्वारा दर्शनीय है ।

अर्थान्तर—हे सुजन ! इस समय द्विजातियों-ब्राह्मणोकी बहुत भारी रुचि जल्प-व्यर्थके वितण्डावादमे है और क्षत्रता-क्षत्रिय जाति स्वय अध्ययनकी दशाको प्राप्त नही है, अर्थात् वह स्वय पठन-पाठनसे रहित है, अत. ये समस्त लक्ष्मियाँ पद्म-शूद्र वर्णमे एकत्रित हुई हैं-शूद्रोका प्रभाव बढ रहा है। यह कल्याख्य-कलि नामका समय आप देखिये ।।५८।।

अर्थ—जडज-जलज-कमलोंमे अनाप्रसक्ति-अप्रसन्नता नही है, अर्थात् कमल विकसित होकर पूर्ण उल्लासको प्राप्त हो रहे हैं । इसलिये अर्कमहोदय-

महतोदयेन रक्ताम्बरत्वमाकाशस्यारुणत्वमुत चार्कमहाशयेन रक्ताम्बरत्वं रक्तवस्त्रधारकसम्प्रदायित्वमित प्राप्तम् । सर्वैर्द्विजैः पक्षिभिः कणभक्षशिक्षा धान्यादनतत्परताधिकृता प्राप्ता । अथवा द्विजैर्ब्राह्मणैः कणादनामाचार्यस्य शिक्षोपदेशोपलब्धिः स्वीकृता । तमसान्धकारेण पुनः सुष्ठु गतं गमन निस्सरण तत्रैका दीक्षा निर्गमनप्रवृत्तिः सम्पादिता । अथवा सुगतस्य नाम बौद्धाचार्यस्य दीक्षा सम्पादिता ॥५९॥

कूटस्थतां खरमरीचिरुपैति तात !
भ्रष्टाध्वरो भवति वा द्विजराड्विहातः ।
स्याद्वादभागुदितपिच्छगणस्य वृत्ति
सा सौगताय नियता क्षणदाप्रवृत्तिः ॥६०॥

कूटस्थतामित्यादि—हे तात ! खरमरीचिः प्रखरकिरण सूर्यः कूटे प्राक्पर्वतस्य शिखरे तिष्ठतीति तत्तामथ च खरः स्पष्टवक्ता मरीचिर्नाम सांख्यसम्प्रदायाचार्यः स कूटस्थता नित्यवृत्तिमुपैति । अत एवेह द्विजराट् चन्द्रमा स भ्रष्टमध्व मार्गं राति गृह्णातीति भ्रष्टाध्वरो भवति । वाथवा विप्रवर्गो भ्रष्टो विकृतिमवाप्नोतिर्हिसकदशां मुक्त्वा बलि-

---

सूर्यने रक्ताम्बरता-आकाशकी लालिमा प्राप्त कर ली है। तात्पर्य यह है कि इस समय कमल विकसित है और सूर्योदयके कारण आकाश लाल-लाल हो रहा है। सब द्विजो-पक्षियोने कणभक्षशिक्षा-दाना चुगनेकी शिक्षा प्राप्त कर ली है अर्थात् पक्षी दाना चुगने लगे है और अन्धकारने सुगत-अच्छी तरह चले जानेकी कला सीख ली है। भाव यह है अन्धकार बिलकुल नष्ट हो गया है।

अर्थान्तर—अर्कमहोदयेन-सूर्य ग्रहके महान् उदयसे अपने मूर्ख पुत्रोकी नानाभोग विलास सम्बन्धी सलग्नता देख किसी अर्क नामक वृद्ध कुटुम्बीने लाल वस्त्र पहिनने वाले सम्प्रदायको दीक्षा ले ली है। सब द्विजो-ब्राह्मणोने अध्यात्मविद्याको छोड उदरम्भरी शिक्षाका प्राप्त किया है, अथवा कणाद ऋषि प्रणीत न्यायशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है और अन्धकारने सुगत-बौद्धमतकी दीक्षा स्वीकृत की है ॥५९॥

अर्थ—हे तात ! खरमरीचि-सूर्य, कूटस्थता-पूर्वाचलके शिखरपर स्थितिको प्राप्त हो रहा है (पक्षमे प्रखरवक्ता-स्पष्टवादी मरीचि-सांख्यमतका प्रवर्तक) कूटस्थता-नित्यैकवादको प्राप्त हो रहा है। इधर द्विजराट् चन्द्रमा भ्रष्ट-छूटे हुए मार्गको प्राप्त हो रहा है (पक्षमे ब्राह्मण भ्रष्टाध्वर-हिंसक यज्ञको प्राप्त हो रहा है)। पूँछको ऊपर उठाने वाले मुर्गोंकी वृत्ति शब्दको प्राप्त हो

हिंसात्मतां गतोऽध्वरो यज्ञो यस्य स भवनि । उदितपिच्छानामुत्थापितपिच्छानां ताम्र-चूडानां गण· समूहस्तस्य वृत्तिर्वादभाग् वाद शब्द भजतीति तथाभूता स्याद् भवेत्, ताम्रचूडा वदन्तीत्यर्थः। अथवा उदितपिच्छानां मयूरपिच्छधारिणां दिगम्बराणां गणः समूहस्तस्य वृत्तिः प्रवृत्ति स्याद्वादभाक् स्याद्वादमनेकान्तवादं भजतीति तथाभूता, भवतीति शेष. ॥६०॥

दृष्ट्वा विवादमिह शाखिपदेषु नाना-
भिन्नां स्थितिं स्मृतिभवाधिगतेर्निदानम् ।
तां पङ्कजातकलितामिति हासवृत्ति-
मस्त्येव निर्वृतिपथेऽथ सतां प्रवृत्तिः ॥६१॥

दृष्ट्वेत्यादि—इह लोके शाखिनां वृक्षाणा पदेषु स्थानेषु यद्वा वेदानां शब्देषु वीना पक्षिणा वाद शब्दकरणमुत विसवादं नानानेकप्रकारक वृष्ट्वा तथैव स्मृतिभवः काम-स्तस्याधिगतिरुत स्मृतिभ्यो मनुप्रभृतिकृताभ्यो याधिगतिर्ज्ञप्तिस्तस्याः स्थितिं भिन्ना-मुच्छिन्नामनेकप्रकारा वा दृष्ट्वा। इत्यत एव च पुनस्ता प्रसिद्धा पङ्कजातैः कमलैः कलिता स्वीकृता हासवृत्ति विकासलक्षणामुतेतिहासानां पुरावृत्तग्रन्थानां वृत्ति टिप्पणिकां व्यवस्थितिरूपेण पङ्कजातेन कर्दमसमूहेन कलितां दृष्ट्वा निदानादस्मात् कारणादेवाथ पुन. सता नक्षत्राणामुत सज्जनानां प्रवृत्तिर्निर्वृतिपथेऽस्ति ॥६१॥

रही है, अर्थात् मुर्गे बोल रहे है (पक्षमे मयूरपिच्छको धारण करनेवाले दिगम्बर मुनियोकी वृत्ति स्याद्वाद वाणोको प्राप्त हो रही है ओर क्षणदा–रात्रिकी प्रवृत्ति सौगताय नियता–अच्छी तरह समाप्त हो गई है। (पक्षमे सौगत–बौद्ध मतको प्राप्त हो गई है–क्षणिकवादको स्वीकृत कर रही है ॥६०॥

अर्थ—इस लोकमे शाखिपद–वृक्षोंके स्थानोपर होने वाले विवाद–पक्षियोके कलकल शब्द को, कामकलाकी खण्डित स्थितिको और कमलो द्वारा प्राप्त विकासकी वृत्तिको देखकर सता–नक्षत्रोको प्रवृत्ति निर्वृतिपथ–समाप्तिके मार्गमें हो रही है। तात्पर्य यह है कि इस समय वृक्षोकी शाखाओ पर पक्षी चहक रहे हैं, रात्रिमे होने वाली कामकला भिन्न–खण्डित हो गई है, कमल हासवृत्ति–विकासको प्राप्त हो रहे हैं और नक्षत्र विलुप्त हो रहे है।

अर्थान्तर—विविध शाखाओसे युक्त वेदोके स्थानोमे होने वाले विवाद–विसवाद, स्मृति ग्रन्थोके ज्ञानकी छिन्न-भिन्न दशा तथा इतिहासकी वृत्तिको पङ्कजातकलित–कर्दमसमूहसे लिप्त–मलिन देखकर सतां–सज्जनोकी निर्वृति-पथ–निर्वाण मार्गमे प्रवृत्ति हो रही है। भाव यह है कि संसारके दूषित–अधार्मिक

नो नक्तमस्ति न दिनं न तमः प्रकाशः
नैवाथ भानुभवन न च भानुभासः ।
इत्यर्हतो नृप ! चतुर्थवचो विलास-
सन्देशके सुसमये किल कल्यभासः ।।६२।।

नो नक्तमित्यादि—हे नृप ! हे राजन् ! अर्हतश्चतुर्थवच 'स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादुभय ३ स्यादवक्तव्य ४ स्यादस्त्यवक्तव्य ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्य ६ स्यादुभयं च वक्तव्यम् ७' एतेषु सप्तभङ्गेषु चतुर्थवच स्यादवक्तव्य नाम तस्य विलासश्चेष्टित तत्सन्देशके कल्यभास प्रभातस्य सुसमये किलाधुना नो नक्त नैव दिनमप्यस्ति न च तमो नैव प्रकाशोऽपि नैव भाना नक्षत्राणामनुभवन न च भानुभास , किन्त्वस्फुटवृगेवेति ।।६२।।

प्राक् शैलमेत्य विचरत्ययमंशुमाली-
त्थं तत्पदप्रचालितात्रजगैरिकाली ।
व्योम्नीक्ष्यते नरवराथ तदेकभागः
संगत्य भो जलरुहामधुना परागः ।।६३।।

प्रागित्यादि—भो नरवर ! अयमंशुमाली सूर्य. प्राक्शैल पूर्वपर्वतमेत्य गत्वा विचरति पर्यटन करोति किलेत्थ तत्पदैस्तत्किरणैरेव चरणै. प्रचलिता समुत्थितात्र-

---

वातावरणको देख मज्जन पुरुष निर्वृतिपथ–निर्वाण मार्ग अथवा उपर्युक्त विवादोमे दूर रहने वाले मार्गमे प्रवृत्त हो रहे है–तटस्थ बन रहे हैं ।।६१।।

अर्थ—हे नृप ! हे राजन् ! अहन्त भगवान्के चतुर्थ वचनकी चेष्टाका संदेश देने वाले प्रात'कालीन दोप्तिके सुन्दर समयमे न रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोका अनुभवन है और न सूर्यकी दीप्तियाँ हैं ।।६२।।

भावार्थ—जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित स्यादस्ति आदि सात वचनोमे चतुर्थ वचन 'स्यादवक्तव्य' है, अर्थात् पदार्थ न अस्ति रूप है, न नास्ति रूप है, न अस्तिनास्ति रूप है, किन्तु अवक्तव्य है, क्योकि एक ही साथ अस्ति-नास्ति ये दो विरोधी धर्म नही कहे जा सकते । इसी तरह इस प्रभात कालमे न तो रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोका अनुभव–सद्भाव है और न सूर्यकी रश्मियाँ है, किन्तु प्रकाश और अन्धकारकी एक अवक्तव्य दशा है ।।६२।।

हे नरश्रेष्ठ ! यह सूर्य पूर्वाचलपर पर्यटन करता है, घूमता है, यह बात प्रसिद्ध है । पर्यटनके समय सूर्यके पदो–चरणो (पक्षमे किरणो) से उस पर्वतपर

जातस्य गैरिकस्याली परम्परा सैवेय रक्तप्रभा व्योम्नि नभसोक्ष्यते। अथ च तस्यैव गैरिकस्यैको भागोऽश. सूर्यपादसलग्न सन् जलरुहा कमलेन सह सगत्य सगतिमासाद्य तत्रस्थेन मधुना धवलवर्णेन पुनर्धवलवर्ण. परागो नाम पुष्परजो जातः ॥६३॥

निर्मूलतां व्रजति भो क्षणदाप्रणीति-
　　र्नास्ति प्रदीपभुवि कापिलसत्प्रतीतिः।
स्याद्वाव एव विभवः प्रतिपल्लवं स
　　भात्यर्हतो दिनकरस्य यथावदंशः ॥६४॥

निर्मूलतामित्यादि—भो महानुभाव ! शृणु। क्षणदाया रात्रे प्रणीतिश्चेष्टाथवा क्षणदा यासौ प्रणीति क्षणिकमननीति सुगतसूक्ता सा निर्मूलतां व्रजति प्रहाणिमाप्नोति। प्रदीपाना दीपकाना भुवि स्थाने लसन्ती शोभमाना या प्रतीति. सा कापि नास्ति, तथैव कपिलाना कपिलानुयायिना सती प्रतीतिर्नास्ति। प्रदीपभुवि ह्रस्वदीर्घप्लुतसज्ञकस्वराणा स्थाने, शब्दे इत्यर्थ। एव पल्लव पल्लव प्रति वृक्षस्य पत्र पत्र प्रति यद्वा पदो लव लव प्रति, प्रत्यक्षरदेशमित्यर्थ, विभव पक्षिसमुत्थो वाद स्यादेव। अथवा स्याद्वादे कथञ्चिद्वादे खलु विभव सत्यार्थप्रकाशक प्रभाव सोऽस्तीत्यर्हत. श्लाघनीयस्याथ च जिनवरस्यैव दिनकरस्य सूर्यस्य यथावदशो भाति ॥६४॥

उत्पन्न हुई गेरुकी धूलि उडी, वही धूलि आकाशमे कालप्रभाके रूपमे दिखाई देती है। उसी नलिका कुछ भाग सूर्यके पादो–चरणो (पक्षम किरणो) मे लग गया। जब सूर्यका पाद कमलपर पडा तब वह गेरुकी धूलि कमलकी मधुके साथ मिलकर सफेद रङ्गकी पराग बन गई ॥६३॥

अर्थ—भो महानुभाव ! सुनो, यह जो क्षणदाप्रणीति–रात्रिकी चेष्टा है, वह निर्मूलताको प्राप्त हो रही है, अर्थात् रात्रि समाप्त हो रही है (पक्षमे बौद्धोकी क्षणदाप्रणीति.-क्षणिक मतनीति निर्मूल हो रही है। प्रदीपभुवि–दीपकोके स्थानमे कुछ भी सुन्दर प्रतीति नही है, अर्थात् दीपकोकी प्रभा समाप्त हो गई है, अथवा प्रदीप–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सज्ञक स्वरोके स्थानभूत शब्दोमे कुछ भी सुन्दर प्रतीति नही है, अर्थात् इस समय शब्दोके उच्चारणमे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरका भेद नही जान पडता। (पक्षमे कापिल–कपिलानुयायी–साख्योकी कोई प्रणीति–नित्यवादकी स्थापना नही है)। वृक्षोके पल्लवपल्लव–पात-पातपर विभवो वाद', स्यात्–पक्षियोका कलरव हो रहा है, अथवा पद्लवपद्लव–अक्षर अक्षरमे अर्हन्त भगवान् का स्याद्वाद–कथचिद्–बाद ही दिनकरके अंशके समान विभव–वैभव–प्रभावको प्राप्त हो रहा है ॥६४॥

नैकान्तयुक् सपदि देहभृतोऽधिकारः
स्याद्वादतत्परतया नियतो विचारः ।
नैवाप्युलूकतनयप्रभृतेः प्रचारः
इत्यर्हतः समुदयस्तपनस्य सारः ॥६५॥

नैकान्तेत्यादि—सम्प्रति देहभृतो मानवस्याधिकार एकान्तेन युक्त इत्येकान्तयुग् रात्रेविरतत्वादेकान्तवासतत्परो न विद्यतेऽथवा देहभृतो देहपोषणतत्परस्य चार्वाकस्य एकान्तयुग् एकान्तवादासक्तोऽधिकारो मतप्रसारो न विद्यते । वीना पक्षिणा चारो गमन वादे कलकलकरण तत्परतया नियत स्याद अस्ति । पक्षिण कलकलरव कुर्वाणा एव समुत्पतन्तीत्यर्थ । अथ च विचार पदार्थस्वरूपविमर्श स्याद्वादे कथञ्चिद्वादे तत्परता तया नियतो निश्चित । दार्शनिका विद्वास स्याद्वादपद्धत्यैव तत्त्वविचार कुर्वन्तीत्यर्थं । उलूकतनयप्रभृते रात्रिचरघूकादिपक्षिणां प्रचार पर्यटन नास्ति, सर्वे तेऽन्तर्हितास्तिष्ठन्तीत्यर्थ । इतीत्थमर्हत श्लाघनीयस्य लोकयात्राकारणेन प्रशस्तस्य तपनस्य सूर्यस्य सार. श्रेष्ठसमुदय उद्गमो विद्यत इति शेष. । अथ च तपनस्य प्रताप-वतोऽर्हत. प्रक्षीणघातिकर्मणो जिनवरस्य सार श्रेष्ठसमुदय सम्यक्प्रभावो वर्तते ॥ ६५ ॥

नैर्मल्यमेति किल धौतमिवाम्बरतु
स्नाता इवात्र सकला हरितो भवन्तु ।
प्राग्भूभृतस्तिलकवद् रविराविभाति
चन्द्रस्तु चौरवदुदास इतः प्रयाति ॥६६॥

नैर्मल्यमित्यादि—अम्बरमाकाश वस्त्र वा धौतमिव किल नैर्मल्यमेति, क्षालनेन

अर्थ—इस समय देहधारी मानवकी प्रवृत्ति एकान्तवादसे युक्त नही है, पक्षियोका परिभ्रमण नियमसे कल-कल शब्दसे युक्त हो रहा है, उलूक आदि रात्रिचर पक्षियोका प्रचार नही है और प्रशस्त–लोकोपकारी सूर्यका श्रेष्ठ उदय हो रहा है ।

अर्थान्तर—इस समय एकान्तवादके पोषक चार्वाक मतका अधिकार नही है, जितना भी तत्त्वविचार होता है, वह स्याद्वाद–कथंचिद्वादके अनुरूप होता है । उलूकपाद ऋषिके मतका प्रचार नही है, किन्तु प्रतापयुक्त अर्हन्त देवका ही श्रेष्ठ अभ्युदय हो रहा है ॥ ६५ ॥

अर्थ—अम्बर–आकाश वस्त्रके समान निर्मलताको प्राप्त हो रहा है, समस्त

वस्त्रस्य निर्मलता यथा भवति तथाकाशस्य वैशद्यमिदानीमस्ति । सकला हरितो दिशा-स्तास्तु पुनरत्र स्नाता इव भवन्तु शुद्धिमवाप्ताः । रविश्च प्राग्भूभृत पूर्वपर्वतनामनरपते-स्तिलकवदाविभाति मूर्ध्नि वर्तते । चन्द्रस्तु चौरवदुदास्ते निष्प्रभस्सन्निव प्रयाति निर्गच्छति ।। ६६ ।।

सद्वारिशौक्तिकततिं स्वयमेव तेषु
सबिभ्रती कमलिनी कलपल्लवेषु ।
उद्घाटितस्वनयना निजवल्लभस्या-
सौ स्वागतार्थमभियाति हितैकवश्या ।।६७।।

सद्वारीत्यादि—असौ दृष्पथगता कमलिनी हितैकवश्या प्रेमपरायणा सती उद्घाटि-तानि स्वनयनानि नाम नयनस्थानीयानि कमलानि यया सा, निजवल्लभस्य सूर्यस्य स्वागतार्थं तेष्वात्मीयेषु कलपल्लवेषु मृदुलदलेषु यद्वा हस्तकिसलयेषु सद्वारि शौक्तिकततिं सन्ति प्रशसायोग्यानि वारीणि बिन्दुरूपत्वमाप्तानि यद्वा सत्प्रशस्त वारि नैर्मल्य येषा तानि च तानि शौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषा पङ्क्ति बिभ्रती सदधती स्वयमेव भाति शोभते ।। ६७ ।।

उच्चैस्तनं स्पृशति कुड्मलमर्कदेव-
स्तत्रत्यकेशरकृतोपशरीरमेव ।
अस्यापहृत्य जयिनः कललोहितत्वं
श्रीवारिजातविततेः समुदायसत्त्वम् ।।६८।।

उच्चैस्तनमित्यादि—अर्कदेवः सूर्यनामनरपतिः स श्रीवारिजातवितते' कमलिन्याः कुड्मल समुदायसत्त्वं सग्रहरूपतामापन्नमुत मुदः प्रसन्नताया आयस्य सत्त्वेन सहितं समुदायसत्त्वमत एवोच्चैस्तनमुन्नतिगत स्तन स्पृशति । तत एवास्य सूर्यस्य केशरेण

दिशाएं स्नान कियेके समान–शुद्ध हो रही है, सूर्य पूर्वाचल रूप राजाके मस्तक पर तिलकके समान सुशोभित हो रहा है और चन्द्रमा चौरके समान उदास (निष्प्रभ) हो यहाँसे जा रहा है ।। ६६ ।।

अर्थ—यह प्रेमपरायणा कमलिनी कमलरूप नेत्र खोलकर अपने पति–सूर्यके स्वागतके लिये कोमल पल्लव रूप हाथोमे जलबिन्दु रूप मोतियोकी पक्तिको धारण करती हुई स्वय सुशोभित हो रही है ।। ६७ ।।

अर्थ—यतश्च सूर्य नामक राजा कमलिनी रूप स्त्रीके स्थूल एव उन्नत

कृतमुपशरीर विलेपनं तत्रत्य स्तनगत च तत्केशरकृतोपशरीरं च तदपहृत्य जयिनोऽस्य सूर्यस्य कल स्पष्टतम लोहितत्वमुत च कलेषु (करेषु) किरणेष्वेव हस्तेषु लोहितत्वं सम्भवतीति यावत् ॥ ६८ ॥

भो भो प्रशस्तभविसम्भविसम्पदिभ्य !
प्राच्यम्बर लसति लोहितमब्जिनीभ्यः ।
सद्योऽलिमुद्धरति शल्यमिवांशुमाली
कारुण्यपूर्णमिव पूत्कुरुते द्विजाली ॥६९॥

भो भो इत्यादि—भो भो इति सम्बोधनवाचकाव्ययपदम् । प्रशस्तभवो विद्यते येषां ते प्रशस्तभविनस्तेषु सम्भविनी भवितुमर्हा या सम्पत् तया इभ्य आढ्यस्तत्सम्बुद्धौ हे लोकोत्तरविभवशालिन् ! प्राचि पूर्वदेशे लोहितमरुणवर्णमम्बर नभो लसति शोभते । अंशुमाली सूर्योऽब्जिनीभ्यः कमलिनीभ्यः शल्यमिव कण्टकमिवालि षट्पदमुद्धरति निष्कासयति । द्विजानां पक्षिणामाली पङ्क्ति· कारुण्येन दयाभावेन पूर्णमिव यथा स्यात्तथा पूत्कुरुते रोदिति, परदु·खकातरत्वादिति यावत् ॥ ६९ ॥

शीर्षे हिमांशुमुलुकं प्रतिलोमभागं
द्यौर्मूर्च्छिताप्यनिशि चिरवमिताप्यनागः ।
सिन्दूरपूररुचिरं सुचिरप्रभाव-
मेषाऽधुना झगिति कम्बलमेति तावत् ॥७०॥

शीर्ष इत्यादि—हे अनाग· ! आगोवर्जित ! निष्पाप ! निशि मूर्च्छिता सती या द्यौः शीर्षे हिमांशु चन्द्रमेव प्रालेयखण्डमाप्य लोमभागं लोमभागं प्रति भवतीति प्रतिलोम-

---

स्तनरूप कुड्मलका उसपर लगे हुए केशरके लेपको दूरकर स्पर्श करता है, अतः उस विजयी सूर्यके किरणरूप हाथोमे लेपकी लालिमा आ लगी है ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे लोकोत्तर सम्पत्तिसे युक्त राजन् ! पूर्व देशमें लाल आकाश सुशोभित हो रहा है । सूर्य अपनी प्रिया कमलिनियोंसे कांटेकी तरह भ्रमरको बाहर निकाल रहा है और उससे दु खी हो पक्षियोकी पंक्तिरूपी सहेली करुणा भावसे रो रही है ॥६९॥

अर्थ—जो दिव् (आकाश) रात्रिमे मूर्च्छित थी, वह अपने शिर पर चन्द्रमा रूपी हिमखण्ड और प्रत्येक रोमकूप पर नक्षत्ररूपी ओले रखकर चेतनताको

भागं सर्वत्र स्वशरीर एवोलुकं डलयोरभेदादुडुक नाम नक्षत्रमेव करकोपलमाप्यैवविध-प्रकारेण चिरस्य सचेतनावस्थामिता गताधुना शैत्यनिवारणाय सिन्दूरपूररुचिरमरुण-वर्णं सुचिरप्रभावं दीर्घकालं यावत्प्रभावकारक कम्बलमेति प्राप्नोति तावत् ॥ ७० ॥

आशा सिता सुरभि-तानव-कौतुकेन
वा शासिता सुरभिता नवकौतुकेन ।
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा ॥७१॥

आशेत्यादि—आशाखिलापि दिशा यद्वा लोकानां मनोवृत्तिस्ता सुरभीणां धेनूनां तानव तनुसम्बन्धि यन्नवं कौतुकं विनोदस्तेन शासिता समाक्रान्ता सिता श्वेता जाता । नवकौतुकेन प्रफुल्लनवकमलकुसुमेन सुरभिता सौगन्ध्यमितास्ति । अर्कस्य सूर्यस्य सार. प्रसरणं समुद् हर्षसहितोऽर्कसारो यत्र सा समुदर्कसारा । अत एव पुण्याहस्य पवित्रदिवसस्य वाचने कथने परा परायणा सती समुदर्कस्य भविष्यत. परिणामस्य सारो यत्र सोत्तरलोकसुधारणतत्परा, अत एव पुण्याहवाचने स्वस्तीत्यादिसमुच्चारणे नत्परास्ति ॥ ७१ ॥

सम्मुद्रणं सह समेत्य समेन राज्ञा
भास्वन्तमाप्य च मणिं हसतीह भाग्यात् ।
आमोदसम्भरभृदेव किलाब्जभूपः
संपश्य शस्यमनुजेष्ववतंसरूप ॥७२॥

सम्मुद्रणमित्यादि—हे शस्यमनुजेषु सत्पुरुषेषु अवतंसरूप ! सच्छिरोमणे ! अय-मब्जभूप एष कमलमहीपालः समेन राज्ञा श्रीमता चन्द्रेणोत समकक्षकेण सह सम्मुद्रणं

प्राप्त हुई थी, वह अब प्रात कालके समय मानो शीतकी बाधा दूर करनेके लिये दीर्घकाल तक प्रभाव रखने वाले लाल कम्बलको ओढ रही है ॥ ७० ॥

अर्थ—समस्त दिशाएँ गायोके शरीर सम्बन्धी विनोदसे व्याप्त हो सफेद हो गई है अथवा नवीन प्रफुल्ल कमल पुष्पोसे व्याप्त हो सुरभित-सुगन्धित हो रहे हैं, अथवा सूर्यके हर्ष पूर्ण संचारसे युक्त हो 'आज पवित्र दिन है' यह कहनेमे तत्पर हैं अथवा सुन्दर पारलौकिक भविष्यकी श्रेष्ठतासे युक्त हो पुण्याह वाचन-स्वस्तिपाठके उच्चारणमे तत्पर है ॥ ७१ ॥

अर्थ—हे सज्जनशिरोमणे ! यह कमलरूप राजा श्रीमान् चन्द्रमारूपी राजाके साथ संमुद्रण-संकोच अथवा हर्ष सहित युद्धको प्राप्त कर, अर्थात् रातभर

सकोचमुत प्रसन्नतायुक्त युद्ध समेत्य कृत्वा च पुनर्भाग्याद् भास्वन्त सूर्यमेव प्रकाशमानं मणिमाप्य हसति आमोदस्य सुगन्धस्य प्रमोदस्य च सम्भरभृत् किलैव ममस्ति ।। ७२ ।।

सूर्याख्यया प्रतिभटः स्फुटकेशरालो
पूर्वोक्त सानुमति सानुमतिः सुधालिन् ।
शब्दत्यनेन रणकर्माणि ताम्रचूलः
स्पर्द्धर्घङ्कुशत्वविषये भवतोऽनुकूलः ।।७३।।

सूर्याख्येत्यादि—हे सुधालिन् ! सुधारवादिन् ! पूर्वोक्तसानुमति उदयपर्वते सूर्याख्या प्रतिभट स्फुटकेशराली तिष्ठति । अनेन ताम्रचूल सानुमतिस्त्वदीयानुमतियुक्तः सन् स्पद्धर्घङ्कुशत्वविषये रणकर्मणि भवतोऽनुकूल सन् शब्दति स्पर्द्धाकारिणमाह्व-मन्निव किल शब्द करोति ।। ७३ ।।

वृत्रघ्नतामनुभवन् सुमनोऽनुशास्ता
हे देव ! देवपतिवत् सदृशस्तवास्ताम् ।
सम्यङ्निशान्तसमवायधरो दिनेश-
श्चित्रादिकोत्कलितसंग्रहवान् स एष ।।७४।।

वृत्रघ्नतामित्यादि—हे देव ! स्वामिन् ! एष दिनेशो देवपतिवत् सुरेश इव तव सदृश-श्चास्तामेव, 'वृत्रो दानवशक्रादिध्वान्तवारिववैरिषु' इति वचनात् वृत्रमन्धकार सुरेशपक्षे

चन्द्रमाके साथ जूझकर इस प्रातर्वेलामे सद्भाग्यसे सूर्यरूपी देदीप्यमान मणिको पाकर आमोद–हर्ष अथवा सुगन्धके भारको धारण कर हँस रहा है–आनन्दका अनुभव कर रहा है ।। ७२ ।।

अर्थ—हे सुधारवादिन् ! पूर्वोक्त उदयाचल पर स्पष्ट कलगीसे युक्त सूर्य नामका प्रतिद्वन्द्वी स्थित है, अतः रणकार्य–युद्धरूप कार्यमे कुशल मुर्गा आपकी अनुमतिमे युक्त हो युद्धकार्यमे स्पर्धा करता हुआ उसे ललकार रहा है ।

भावार्थ—प्रातर्वेलामे मुर्गा बोलता है। क्यो बोलता है ? इसमे कविकी कल्पना है कि कोई राजा मुर्गोको लडानेका खेल देख रहा है। पृथिवी तलका मुर्गा उदया-चल पर स्थित लाल कलगीसे युक्त सूर्यरूपी मुर्गाको देख कर राजाकी अनुमति पाकर उसे युद्धके लिये मानो ललकार रहा है ।। ७३।।

अर्थ—हे देव ! यह सूर्य सुरेश–इन्द्र और आपके समान है। श्लेषालकार होनेसे श्लोकगत सब विशेषण सूर्य, इन्द्र और जयकुमारके पक्षमे आयोजित

वृत्र नाम दानवं जयकुमारपक्षे वृत्रं शत्रुं हन्तीति तत्तामनुभवन् स्वीकुर्वन्, सुमनसा कुसुमाना देवानां मनस्विजनाना वानुशास्ता । निशाया अन्तोऽभावो निशान्तः प्रभातकालस्तस्य समवायधरः, सुरेशपक्षे नितरा शान्ता निशान्तास्तेषा शान्तप्रकृतिकलोकाना समवायधरः, जयकुमारपक्षे निशान्ताना भवनाना समवायधरः । चित्राविकैर्नक्षत्रैरुत्कलितो योऽसौ ग्रहश्चैत्राविमासरूपस्तद्वान्, सुरेशपक्षे चित्रानाम स्वर्गवेश्या सादियांसां ताभिरुत्कलितसंग्रहवान्, जयकुमारपक्षे चित्राणि नानाप्रकारकाणि प्रतिबिम्बान्यादौ येषां तैः शयनासनदर्पणपरिकरैरुत्कलितः सग्रहस्तद्वान् ॥७४॥

सत्संगमापकरणो द्विजराड्विरोधी
सर्वत्र विभ्रमपरो जडजानुरोधी ।
स्यूनोऽकुलीन इव गोलककुण्डपत्वाद्
भो भूमिपाल ! तिमिलक्षणभक्षकत्वात् ॥७५॥

सदित्यादि—भो भूमिपाल ! स्यूनो नाम सूर्यः, स सतां नक्षत्राणामुत प्रशस्तपुरुषाणां सङ्गमस्यापकरण निराकरण यत्र सः, द्विजराजश्चन्द्रमसो विप्रस्य वा विरोधी, जडजानां

है। यथा—**सूर्यके पक्षमे**–सूर्य वृत्र–अन्धकारके नाशका अनुभव करता है, सुमनस्–कमल आदि पुष्पोका अनुशासन करने वाला है, निशान्त–प्रात कालके साथ समवाय–सम्बन्धको धारण करने वाला है और चित्रा आदि नक्षत्रोसे प्रकट होनेवाले चैत्र आदि मासोका सग्रह करने वाला है। **सुरेशके पक्षमे**—सुरेश वृत्र नामक दैत्यका घात करने वाला है, सुमनस्–देवोका अनुशासन करने वाला है, निशान्त–अत्यन्त शान्त प्रकृति वाले मनुष्योके समूहका धारक–रक्षक है और चित्रा आदि स्वर्गकी अप्सराओके द्वारा निष्पादित सग्रहसे सहित है। **जयकुमारके पक्षमे**—जयकुमार वृत्रुओके घातकपनेका अनुभव करने वाला है, सुमनस–विचारवान् मनुष्य अथवा विद्वानोका अनुशासन करने वाला है, निशान्त–भवनोके समूहसे सहित है और चित्र–नाना प्रकारके शयनासन-दर्पण तथा प्रतिबिम्ब आदिके सग्रहसे युक्त है ॥७४॥

अर्थ—हे भूमिपाल ! यह स्यून[1]–सूर्य, अकुलीन–नीचकुलोत्पन्न मनुष्यके समान है। श्लेषालकार होनेसे सब विशेषण सूर्य और अकुलीनके पक्षमे आयो-

---

१. 'स्यूनोऽर्के किरणे' इति विश्वलोचनः ।

२. अमृते जारज. कुण्डो मृते भर्तरि गोलक.' इत्यमर. । पतिके जीवित रहते जारसे जो संतान होती है, उसे कुण्ड तथा पतिके मर जानेपर जारसे होने वाली संतान गोलक कहलाती है ।

कमलानामपि मूर्खाणामनुरोध आग्रहस्तद्वान्, सर्वत्र जगति विभ्रमपरो भ्रमणकारक सदिहानश्चैव पुन , तिमिलक्षणस्यान्धकारसमयस्य निशीथस्य भक्षकत्वात् तथा तिमिर्नाम मत्स्यजातिर्लक्षणं स्वरूप यस्यैवभूतस्य मासस्य भक्षकत्वात्, गोलकरूपकत्वाद् वर्तुलाकार-त्वाद्वुत द्विजनकत्वादकुलीन आकाशचारी निम्नकुलसञ्जातश्च भवति ॥७५॥

> यः पङ्कजातपरिकृच्च पुनः सुवृत्तो
> राजाध्वरोधि अपि सत्पथसंप्रवृत्तः ।
> एवं विरुद्धभवनोऽप्यविरोधकर्ता
> हे विश्वभूषण । विभाति दिनस्य भर्ता ॥७६॥

य इत्यादि—हे विश्वभूषण ! जगतामलङ्कार ! एष दिनभर्ता सूर्य, विभि. पक्षिभि रुद्ध भवन गृह यस्य सोऽपि अविरोधकर्ता भवतीति विरोधे विरुद्धमननुकूल भाना नक्षत्राणा वन निवसन यस्यैवभूत सन् वीना रोधस्य कर्ता न भवति पक्षिणा सचारोऽऽधुनास्ति यत । यो राजाध्वरोधी राजमार्गप्रतिकूलः सन्नपि सत्पथसप्रवृत्त.

जिन होते है। यथा—**सूर्यके पक्षमे**—सूर्य, सत्सगमापकरण -नक्षत्रोके सगमको दूर करने वाला है, द्विजराड्विरोधी–चन्द्रमासे विरोध करने वाला है, सर्वत्र विभ्रमपर–समस्त पृथिवीमे भ्रमण करने वाला है, जडजानुरोधी–कमलोका अनुरोध करने वाला है, आकृतिका गोल है, तिमिलक्षणभक्षक–अन्धकारको नष्ट करने वाला है तथा स्वय अकुलीन–पृथिवीमे लीन नही, अर्थात् आकाशमे चलने वाला है। **अकुलीनके पक्षमे**—अकुलीन मनुष्य, सत्सगमापकरण–सत्पुरुषोके सगमको दूर करने वाला है, द्विजराड्विरोधी–ब्राह्मणोसे विरोध करने वाला है, सर्वत्र विभ्रमपर —सब जगह सन्देह उत्पन्न करने वाला है, जडजानुरोधी–मूर्खोसे अनुरोध–आग्रह करने वाला है, गोलक–जारज होनेके कारण अकुलीन है और मत्स्य आदिके मासका भक्षक होनेसे निम्न कुलमे उत्पन्न है ॥७५॥

अर्थ—हे जगद्विभूषण ! इस पद्यमे विरोधाभासालकारसे सूर्यका वर्णन है अत सब विशेषण विरोध और परिहार पक्षमे आयोजित होते है यथा **विरोध पक्षमे**—यह दिनभर्ता–सूर्य, विरोधभवन–जिसका भवन पक्षियोके रोधसे सहित है, ऐसा होकर भी अविरोधकर्ता–पक्षियोके रोधका कर्ता नही है। **परिहार पक्षमे**—जिसे भ-नक्षत्रोका निवास विरुद्ध प्रतिकूल है, ऐसा होकर भी अविरोध-कर्ता–पक्षियोके रोधको करने वाला नही है, अर्थात् पक्षियोंके संचारको करने वाला है। **विरोध पक्षमें**—राजाध्वरोधी–राजमार्गका विरोधी होकर भी

सन्मार्गचर इति विरोधे राजाध्वरोधी चन्द्रसञ्चाररोधकः सन् सत्पथसंप्रवृत्त आकाशचारीति परिहारः । पङ्कजातः पापसमूहस्तस्य परिकृत्सपादकोऽपि सुवृत्तः सदाचारीति विरोधे पङ्कजानां कमलानां परिकृत् पुष्टिकारकस्सन् सुवृत्तो वर्तुलाकृतिर्विभाति ॥७६॥

य: कश्यपान्वयतया मधुलिड्हिताय
विक्षिप्तरूपतरुणाङ्कितसम्प्रदायः ।
पीत्वैष फुल्लदरविन्दजमात्महस्तै
सारं सहस्रकिरणोऽस्ति मदाश्रितस्तैः ॥७७॥

य इत्यादि—य· सहस्रकिरण सूर्य. कश्यपान्वयतया 'कश्यपस्य पुत्रो रविर्भवतीति' पौराणिकानां मान्यता, तामाश्रित्य कश्यपान्वयतया लसन् मधुलिहां भ्रमराणा हिताय भवति । तथा कश्य मदिरारसं पिबन्तीति कश्यपास्तदन्वयतयाऽथवा कश्य पाति रक्षति स कश्यप कलारस्तदन्वयतया मधुलिहां मद्यपाना हिताय भवति स एवैषोऽधुना फुल्लदरविन्दज विकसितकमलसम्भव सार तैरात्महस्तै. पीत्वा मदाश्रित उन्मत्तः खलु विक्षिप्तरूपतरुणाङ्कितसम्प्रदायोऽस्ति, विभि· पक्षिभि क्षिप्त परित्यक्त रूप यस्य स चासौ तरुस्तेनाङ्कित सम्प्रदाय प्रचारो यस्य सोऽथवा विक्षिप्तरूपैरुन्मत्तैस्तैस्तरुणैर्युवभिरङ्कित. सम्प्रदायो यस्य सोऽस्तीति ॥७७॥

सत्पथप्रवृत्त –समीचीन मार्गमे चलने वाला है । **परिहार पक्षमें**—राजा चन्द्रमाके मार्गको रोकने वाला होकर भी सत्पथसप्रवृत्त.-नक्षत्रोके मार्ग–आकाशमे अच्छी तरह प्रवृत्त है । **विरोध पक्षमें**—पङ्कजातपरिकृत्–पाप समूहका सम्पादक होकर भी सुवृत्त–समीचीन वृत्त–आचारसे सहित है। **परिहार पक्षमें**—पङ्कजात–कमलोका परिकृत् पोषक होकर भी सुवृत्त–गोल है ॥७६॥

अर्थ—यतश्च यह सहस्रकिरण–सूर्य कश्यपके वशमे उत्पन्न हुआ है, अतः मधुलिह्–भ्रमरोके हितके लिये है। अथवा कश्यप–मद्यपायीके कुलमे उत्पन्न हुआ है, अतः मधुलिह्–मद्यपायी मनुष्योंके हितके लिये है। ऐसा यह सूर्य विकसित कमलोमे उत्पन्न होनेवाले सार–मद्यको अपने किरणरूप हाथोसे पीकर मदाश्रित–नशामें विमग्न हो गया है, अत एव इसका सम्प्रदाय विक्षिप्तरूप–उन्मत्तप्राय तरुणों युवा जनासे अङ्कित है। इसके पीछे यही उन्मत्ततरुण लगे रहते हैं, अथवा विक्षिप्त–पक्षियोसे त्यक्त तरु–वृक्षोंसे अङ्कित है। प्रात.कालमे पक्षी वृक्षोको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, यह स्वाभाविक है ॥७७॥

भृष्टोडुमौक्तिकवदुच्चलरक्तरीति-
ध्वान्तेभकुम्भभिवितो रविकेशरीति।
दृष्ट्वा ततः प्रभवदुत्कलितां महीं ता-
मेषोऽस्ति पालितपृषद् द्विजराट् सचिन्तः ॥७८॥

भृष्टेत्यादि—भृष्टानि सम्पातितानि उडुमौक्तिकानि तद्वच्च पुनरुच्चलोद्गच्छन्ती रक्तरीतिररुणता यत्र यद्वोच्चलस्य नाम शरीरसारस्य रीतिर्यत्रैव यथा स्यात्तया ध्वान्त एवेभोऽन्धकाररूपो हस्ती तस्य कुम्भभिद् मस्तकभेदकरोऽसौ रविरेव केशरी सिंहो भवतीति किल दृष्ट्वा, तत एव प्रभवन्तो सवर्धमानोत्कलिता व्याकुलता प्रस्फुटत्कमलपत्रना यत्र तां महो दृष्ट्वा तत एवैष पालित. पृषद्धिरणोऽङ्कगातो येन स द्विजराट् चन्द्रो वा ब्राह्मणो वा सचिन्तश्चिन्तातुरोऽस्ति। तत एव निष्प्रभो जात इति प्रसङ्गध्वनि ॥७८॥

अश्नन्निवोडुकुवलैककुलं नमस्य!
हंसोऽयमेति तटमम्बरमानसस्य।
यत्पादपातनवशेन तमालनीलं
चैतस्य सन्तमसशैवलमस्तशीलम् ॥७९॥

अश्नन्नित्यादि—हे नमस्य! नमस्करणीय। अय हस. सूर्यो हसत्वादुडून्येव कुवलानि मौक्तिकानि तेषामेक मुख्य कुलं समूहमश्नन् कवलीकुर्वन् सन् अम्बरमानसस्याकाशमानसरोवरस्य तट तीरप्रदेशमाप्नोति, यस्य पादानां किरणानामेव चरणाना पातनवशेन

अर्थ—प्रात कालमे नक्षत्र नष्ट हो जाते हैं, आकाशमे लालिमा छा जाती है और चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है। ऐसा क्यो होता है, इस सन्दर्भमे कविको कल्पना है—नक्षत्ररूपी मोतियो को बिखेरता और अरुणतारूपी खूनके फुव्वारोको ऊपरकी ओर उडाता हुआ सूर्यरूपी बब्बर सिंह अन्धकाररूपी हाथीके मस्तक को भेदकर इस ओर आ रहा है। यह देख पृथिवीमे व्याकुलता छा गई—कमलकी कलियोके बहाने उसका हृदय फट गया। इस घटनासे अपने भीतर हरिणको रक्षा करनेवाला चन्द्रमा विचारता है कि सूर्यरूपी बब्बर शेरने जब हाथीको नही छोडा, तब हमारे हरिणको कैसे छोड़ेगा ? इस चिन्तासे ही मानो चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया है ॥७८॥

अश्नन्नित्यादि—हे नमस्य! हे नमस्करणीय! यह हस—सूयरूपी हंस—मराल नक्षत्ररूपी मोतियोके प्रमुख समूहको खाता हुआ आकाशरूपी मानसरोवरके तट

मवारेणास्य गगननदीकस्य तमालवन्नीलं सन्तमस तम एव शैवल तदेतवस्तशीलं नष्ट-प्रायमभवत्तत इति ॥७९॥

आकाशनीरनिकरे मकरः कुलीरो
मीनोऽब्ज इत्यनुमतानि पदानि धीर ।
यत्रानिमेषनिवहो विभवत्यपीति
तस्यैव विद्रुमकृतेयमुषः प्रतीतिः ॥८०॥

आकाशेत्यादि—हे धीर ! आकाशनाम नीरनिकरे समुद्रे मकरः कुलीरः, कर्कट मीन., अब्जश्चन्द्रमा इत्यनुमतानि [1]पदानि वस्तूनि सम्भवन्ति, मीनमकरकर्कटनामराशि-सद्भावात् । यत्र च निमेषाणां देवाना मत्स्याणां निवह समूहोऽपि विभवति शोभते, तस्यैव विद्रुमे प्रवाले कृता सम्पादितेयमुष.प्रतीतिः प्रातररुणिमास्ति खलु ॥८०॥

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदय सुभासा
स्थानं विनारि-मृदुवल्लभराट् तथा सः ।
याति प्रसन्नमुखतां खलु पद्मराजो
निर्याति साम्प्रतमितः सितरुक्समाजः ॥८१॥

सत्कीर्तिरित्यादि—हे विनारिमृदुवल्लभराट् ! विना अभाव गता अरयो यस्य स विनारिः, मृदूना कोमलप्रकृतीना वल्लभः प्रिय इति मृदुवल्लभ , विनारि. मृदुवल्लभश्च

पर आ रहा है । इसीके पाद-किरणरूप पाद-चरणोके पडनेसे तमालके समान काला अन्धकाररूपी शैवाल नष्ट हो गया है ॥७९॥

अर्थ—हे बुद्धिमन् ! आकाश रूपी समुद्रमे राशियोके रूपमे मकर, मीन और चन्द्रमा ये वस्तुएँ सर्वसमत है । उसी आकाश रूप समुद्रमे अनिमेष–देव अथवा मत्स्योका समूह भी सुशोभित है। उसी आकाश रूप समुद्रके मूगा–प्रवालोके द्वारा प्रात कालीन लालिमाकी गई है ॥८०॥

भावार्थ—आकाश एक समुद्र है, यह तो उसमे मीन, कुलीर तथा मकर आदि जलजन्तुओ (तन्नामक राशियो) के निवासमे सिद्ध है । उसी आकाशमे विद्रुम–प्रवाल भी रहता है । इसका समर्थन इस प्रातःकालीन लालिमासे होता है ॥८०॥

अर्थ—हे अजातशत्रु तथा कोमल प्रकृति वाले मनुष्योको प्रिय राजन् ! इस प्रातर्वेलामे सूर्यदीप्तिको समीचीन कीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है,

---

१. 'पद व्यवसितस्थानत्राणलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर ।

यो राट् तत्सम्बुद्धौ हे जयकुमार ! साम्प्रतमधुना प्रभात इव विक्रमस्य २००९ वर्षेऽपि किल सुभास सूर्यदीप्त्या सती चासौ कीर्तिरभ्युदयमञ्चति, यद्वा सती कीर्तिर्यस्य स सुभासमहोवयोऽभ्युदयमञ्चति प्राप्नोति। तथा विनारिरजातशत्रुः मृदुवल्लभः कोमलप्रकृतिकप्रियो राट् राजेन्द्रप्रसादः स्थानं प्रथमं राष्ट्रपतिस्थानमञ्चति। अथवा विगता विवगता नारि-स्त्री यस्य स विनारि, मृदु. कोमलप्रकृतिको वल्लभराट् 'वल्लभभाई पटेल' इति नाम्ना प्रसिद्धो राजनेता स्थानं प्रतिष्ठामञ्चति। पद्ममेव राजेति पद्मराज उत पद्मेषु राजेति पद्मराजः कमलं प्रसन्नं मुखमग्रभागो यस्य तद्भावस्तां प्रफुल्लतां याति। अथ च पद्मराज एतन्नामा राजनेता भारतदेशस्य स्वातन्त्र्यप्राप्ते. प्रसन्नमुखतां सस्मितवदनतां याति। सिना रुक् दीप्तिर्यस्य स सितरुक् चन्द्रस्तस्य समाजः परिवारो नक्षत्रसमूह इतोऽस्मात् स्थानाद् निर्याति निर्गच्छति। अथवा सितरुचो गौराङ्गा. 'अंग्रेज' इति नाम्ना प्रसिद्धास्तेषां समाजः समूह इतो भारतदेशान्निर्याति निर्गच्छति स्वदेशं गच्छति ॥८१॥

मञ्जुस्वराज्यपरिणामसमर्थिका ते सम्भावितक्रमहिता लसतु प्रभाते ।
सूत्रप्रचालनतयोचितदण्डनीतिः सम्यग्महोदधिषणासुघटप्रणीतिः॥८२॥

मञ्जुस्वरेत्यादि—अस्मिन् प्रभाते हे जयकुमार ! ते तव सम्यङ् महोदधिषणाया सुघटप्रणीति –सम्यङ् समीचीनं महस्तेजो ददातीति सम्यङ्महोदा, तथाभूता धिषणा बुद्धिर्यत्र तादृशी सुघटप्रणीतिर्मनस्कृतिरथवा सम्यङ् महः उत्सवो यस्मात्तच्च तद् दधि च तस्य

अथवा अभिगत-प्राप्त है उदय-उत्कर्ष जिसमे, ऐसे स्थानको प्राप्त हो रही है। पद्मराज-श्रेष्ठ कमल (शतदल-सहस्रदल) प्रसन्न मुखताको प्राप्त हो रहा है, अर्थात् विकसित है और सितरुक्समाज-चन्द्रमाका परिवार-नक्षत्रगण यहाँसे निकल रहा है, छिपकर अन्यत्र जा रहा है।

अर्थान्तर[१]—हे देव ! इस २००९ विक्रम सवत्मे सुभासबोसकी उज्ज्वलकीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है, अजातशत्रु तथा कोमल प्रकृति वालोको प्रियराट्-डॉ० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपतिके आसनको प्राप्त हो रहे हैं, पद्मराज प्रसन्नमुखताको प्राप्त है, अर्थात् देशके स्वतन्त्र होनेसे हर्षका अनुभव कर रहे है और गोराङ्ग-अंग्रेजोका परिवार अथवा समूह यहाँसे निकल रहा है-अपने देशको जा रहा है ॥८१॥

अर्थ—हे जयकुमार ! इस प्रभात वेलामे आपकी वह दण्डनीति अच्छी तरह सुशोभित हो जो **मञ्जुस्वराज्य-परिणामसमर्थिका**-अपने राज्यके सुन्दर

१ स्वतन्त्र भारतमे जयोदय काव्यकी रचना होनेसे कविने उस समयका दिग्दर्शन कराया है।

षण: श्रेष्ठ निर्णयो यत्र सा सुघटप्रणीति कुम्भव्यवस्था 'षकारस्तु मत. श्रेष्ठे णकारो ज्ञाननिर्णये' इति कोषसद्भावात् । सूत्रस्य प्रामाणिकन्यायसूक्तस्य पक्षे सूत्रस्य तूलतन्तु-समूहस्य प्रचालनं स्पष्टीकरणं तद्भावेनोचिता सम्भवप्राया दण्डनीतिः सामदामदण्डभेदा इत्येवं राज्यव्यवस्थाया स्तुतीयोक्तिरथवा दण्डस्य दधिमन्थस्य नीतिर्यत्र एतादृशी भवति, तथा सभावितेन क्रमेण हितं प्रजाकल्याणं यत्राथवा सम्भाविना भविष्यता तक्रेण महिता सती मञ्जोः प्रशस्तस्य स्वराज्यपरिणामस्य समर्थिका, यद्वा मञ्जुस्वरा सुशब्दवती सती आज्यस्य घृतस्य परिणामसमर्थिका लसतु । अथ च हे महोद ! तेजःप्रद ! ते तव धिषणा बुद्धिरेवंभूता भवतु । तथाहि मञ्जु मनोहर यत् स्वराज्य तस्य परिणामः साफल्यं तस्य समर्थिका । सम्यक्प्रकारेण भावितेन समितिषु चिन्तितेन क्रमेण कार्यप्रणाल्याऽहिता सहिता । सूत्रसंचालन राज्यतन्त्रपरिचालन तस्य भावस्तया उचिताऽभ्यस्ता योग्या वा दण्डनीतिर्यस्यां वा सुघटप्रतीतिः सुघटिता सुसंगता प्रतीतिर्यस्या तथाभूता ॥८२॥

परिणामका समर्थन करने वाली है, **सम्भावितक्रमा**–उत्तम क्रमसे सहित है, **हिता**–प्रजाका कल्याण करने वाली है, **महोदधिषणासुघटप्रणीतिः**–उत्सव अथवा तेजको देने वाली बुद्धिका जिसमे उत्तम प्रयोग किया गया है, तथा **सूत्र-प्रचालनतया**–राज्यशासन चलानेके कारण जो उचित है।

अर्थान्तर—हे जयकुमार ! इस प्रभात वेलामे आपकी वह **सुघटप्रणीति**–उत्तम कुम्भ व्यवस्था अच्छी तरह शोभायमान हो जो **मञ्जुस्वरा**–सुन्दर शब्द वाली है, अर्थात् मन्थनके समय जिसमे 'कलछल'का सुन्दर शब्द हो रहा है, जो **आज्यपरिणामसमर्थिका**–घृतरूप फलका समर्थन करने वाली है, **सम्भावित-क्रमहिता**–तैयार होने वाली छाँछसे जो उत्तम है, **सूत्रप्रचालनतयोचितदण्डनीति**–सलग्न सूत्र–रस्सीके सचालनसे जो योग्य मन्थन दण्डसे सहित है, अर्थात् संलग्न रस्सीके संचालनसे जिसमे मन्थन दण्ड–मथानी अच्छी तरह घूम रही है और जो **महोदधिषणा**-उत्सव अथवा तेजरूप दहीके ज्ञान और निर्णयसे युक्त है, अर्थात् जिसमे स्थित दहीका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त किया गया है।

भावार्थ—भारतवर्षमे प्रात काल दही विलोनेका कार्य होता है, अतः आप उठकर इस व्यवस्था को सचालित करे।

अथवा—हे महोद ! हे तेज या प्रतापको देनेवाले ! आपको ऐसी बुद्धि हो जो मनोहर गणतन्त्रकी सफलताका समर्थन करने वाली हो, जो असेम्बलीमे अच्छी तरह विचारित कार्यप्रणालीसे सहित हो, जो राज्यतन्त्रके संचालनकी दृष्टिसे उचित दण्डनीतिसे सहित हो और सुघटप्रतीति–सुसंगत प्रतीतिसे सहित हो–व्यवहार्य कार्योंको करने वाली हो ॥८२॥

यद्वा सुगां धियमिता विनतिस्तु राज-
गोपाल उत्सवधरस्तव धेनुरागात् ।
हृष्टा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना-
नुष्ठानमेति परमात्मविवेकभागात् ॥८३॥

यद्वेत्यादि—हे राजन् ! यद्वा तव विनतिर्विनीतता सुखेन गच्छतीति सुगां निर्बाध-गतिशालिनीं धियं बुद्धिमिता प्राप्ता। किञ्च, धेनुषु रागस्तस्माद् गोपालानां गोपानां राजेति राजगोपाल., राजवार्त्तिकवत्प्रयोग., उत्सवस्योल्लासस्य धर इत्युत्सवधरः, तव गोरक्षणप्रणाल्या सर्वे गोपालाः सोत्सवाः सन्ति। सरोजिनी कमलवल्ली हृष्टा विकसिता। अथो किञ्च विगमेषु कामस्त जयतीति विषमेषुजिन्मदनविजयी वा पुरुषः परमात्मविव परमात्मान वेत्तीति परमात्मवित् तस्यैकभागत्वात् तस्यैकांशरूपत्वादिह प्रातःसमयेऽनुष्ठान सामायिकजिनपूजनादिक प्रशस्तकार्यमेति प्राप्नोति। अथ च ते तव विनतिर्नम्रता शिक्षा वा सुगान्धिय गांधीति प्रसिद्धो राष्ट्रपुरुषस्तस्येद गाधिय शोभन गान्धिय सुगान्धिय गान्धीसम्बन्धिकार्यमिता प्राप्ता तदनुसारिणी वर्तत इति यावत्। धेनुरागाद् गोसंरक्षण-विचारात्, राजगोपालः राजगोपालाचार्येति प्रसिद्धो राजनेता उत्सवधरः प्रसन्नो वर्तते। एतस्मादेव सरोजिनि 'सरोजिनी नायडू' इति प्रसिद्धा राजनेत्री हृष्टा संप्राप्त-हर्षा वर्तते। किञ्च, जिन्ना एतन्नामा यवननेता विषमेषु हिन्दूयवनविरोधेषु अनुष्ठानं हिन्दुस्तान-पाकिस्तानविभजनरूपं कार्यमति। कथभूतोऽसौ ? पर परकीय भारतवर्ष-मात्मान स्वकीय वेत्ति मन्यत इति परमात्मवित्। एकश्चासौ भागश्चेत्येकभागस्तस्मात्। भारतवर्षस्यैको भागो मदीयो वर्तत इति बुद्धया ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! आपकी विनीतता उत्तम गतिशील बुद्धिको प्राप्त है। आपकी गोरक्षाकी प्रीतिसे राजके सब गोपाल आनन्द मना रहे हैं। इस प्रात-र्वेलामे कमलिनी हर्षित-विकसित है और मदनविजयी पुरुष अपने आपको परमात्मा-परब्रह्मका एक अश माननेसे सध्यावन्दनादि अनुष्ठान-प्रशस्त कार्य कर रहे है।

अर्थान्तर—हे राजन् ! आपकी विनम्रता या शिक्षा **गांधी जी** की विनम्रता या शिक्षाका अनुसरण कर रही है। आपके गोप्रेमसे **राजगोपालाचार्य** आनन्दका अनुभव कर रहे है तथा **सरोजिनी नायडू** प्रसन्न है। सिर्फ एक ओर **जिन्ना** नामक यवननेता परकीय भारतको अपना मानते हुए विषम-पारस्परिक विराधके कार्योमे हिन्दुस्तान-पाकिस्तानके विभाजनका अनुष्ठान कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

गान्धीरुषः प्रहर एत्यमृतक्रमाय
सत्सूत नेहरुचयो बृहदुत्सवाय ।
राजेन्द्रराष्ट्रपरिरक्षणकृत्सवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः ॥८४॥

गान्धीत्यादि—राज्ञां राजसु वेन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ हे राजेन्द्र ! जयकुमार ! उष प्रहरे प्रातर्यामे धीर्बुद्धि, पुसामिति शेषः, अमृतस्य मोक्षस्य क्रमः प्राप्तिस्तस्मै गां पुण्यपाठरूप वाणीमेति प्राप्नोति । प्रातर्वेलायां पुण्यपाठं कुर्वन्ति मोक्षाभिलाषिण इति भावः । उत पुनरिह प्रातःसमये सत्सु नक्षत्रेषु रुचयो दीप्तयो बृहदुत्सवाय महोत्सवाय न भवन्तीति शेषः । अत्रेह भारते राष्ट्रस्य परिरक्षण करोतीति राष्ट्रपरिरक्षणकृत् देशरक्षाकरस्तवा जयकुमारस्याय सम्प्रदाय सम्प्रददातीति सम्प्रद. स चासौ अयः शुभावहो विधिश्चेति । तथा हि निश्चयेन सहजेन सहजस्वभावतयाभ्युदेतु समृद्धि प्राप्नोतु । अथ च गान्धी एतन्नामा राष्ट्रपिता तस्य रुट् कोपस्तस्य प्रहरो निराकर्ता नेहरुचयो जवाहरलालनेहरुपरिवारः सत्सु सज्जनेषु बृहदुत्सवाय प्रधानमन्त्रित्वेन महोत्सवाय एति आगच्छति । गान्धी शान्ति-वादी नेहरुवयश्च उग्रवादी बभूव । तदुग्रतां दृष्ट्वा गान्धी कदाचिद्रोष प्रदर्शयति स्म । अन्ते नेहरुरपि शान्तिप्रियो बभूव । एतेन स तस्य रुषोऽपहर्ता जातः । राजेन्द्रश्चासौ राष्ट्र-परिरक्षणकृच्चेति तथा प्रथमराष्ट्रपती राजेन्द्रप्रसादः । अत्र देशे तवायं सम्प्रदायो राष्ट्रनेतृपरिकरः सहजेनाभ्युदेतु समृद्धि प्राप्नोतु ॥ ८४ ॥

श्रीवर्द्धमानकमलं भुवने लसन्तं
दृष्ट्वाञ्चति भ्रमरवोऽथ उपायनं तत् ।
तस्यामृतस्तुतिमयीं प्रतिपद्य हे गां
लोकस्य किन्न घट एवमुदेति वेगात् ॥८५॥

श्रीत्यादि—हे राजन् ! भुवने लोके अलमत्यन्तं लसन्तं शोभमान श्रीवर्द्धमान एव

अर्थ—हे राजाओंके इन्द्र ! प्रात कालके पहरमे उत्तम पुरुषोकी बुद्धि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये पुण्य पाठरूप वाणीको प्राप्त हाती है । इस समय सत्–नक्षत्रोमे दीप्ति महान् उत्सवके लिये नही होती, अर्थात् नक्षत्र निष्प्रभ हो जाते हैं । अतः राष्ट्रकी रक्षा करने वाला आपका यह समीचीन भाग्य सहज स्वभावसे वृद्धिको प्राप्त हो । गाधीजीके रोषको दूर करने वाला नेहरु परिवार सत्सु–सज्जनोमे महान् उत्सवके लिय तत्पर है और राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद, यह सब राष्ट्रनेताओंका परिकर अभ्युदयको प्राप्त हो ॥ ८४ ॥

अर्थ—ससारमे अतिशय शोभायमान श्रीमहावीर स्वामीके दर्शन करनेसे

श्रीवर्द्धमानकस्त पश्चिमतीर्थकरं दृष्ट्वा अयनस्य मोक्षमार्गस्य समीप इत्युपायनं मोक्ष-मार्गविषये भ्रमस्य सदेहस्य रव. शब्दोऽधो नीचैरञ्चति गच्छति, मोक्षमार्गविषये लोकस्य सन्देहो नश्यतीत्यर्थः। तत्तस्मात् कारणात्तस्य श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रस्य अमृतस्रुतिमयीं पीयूषप्रवाहरूपामुत मोक्षप्राप्तिरूपा गां वाणी प्रतिपद्य लब्ध्वा लोकस्य जनसाधारणस्य घटो हृदयमेव वेगात् किन्नोदेति मोक्ष प्रति किन्नोत्पतति ? जिनवाणीमाकर्ण्य भव्येन मोक्षप्राप्त्युपायः कर्तव्य इति भावः। अथ च भुवने जले लसन्तं शोभमान श्रिया शोभया वर्द्धमानमेधमान कमल कमलपुष्पं दृष्ट्वा भ्रमरस्य बोधो ज्ञान तत् कमलपुष्पमुपायन-मुपहारभूतमञ्चति गच्छति, जले विलसन्तं कमलमुपायन मत्वा भ्रमरस्तदुपरि गच्छतीत्यर्थः। तस्य भ्रमरस्यानन्दप्राविणीं झङ्कृतिं श्रुत्वा लोकस्य घटो हृदयमेव वेगात् किन्नोदेति किं नोत्पतति, अपि तूत्पतत्येव ॥ ८५ ॥

निर्दोषतामनुभवन्नुत केवलेन
प्राभातिकः समय एष नरेश तेन ।
सन्मार्गदर्शकतया विधृतोक्तिकत्वा-
दर्हन्निवोपकुरुताद् भुवने किल त्वाम् ॥८६॥

निर्दोषतामित्यादि—हे नरेश ! एष प्राभातिक प्रभातसम्बन्धी समयोऽर्हन्निव तीर्थंकरपरमदेववत् केवलेन के सूर्येऽभ्युदयात्मकबलसद्भावेनोत केवलनामकेनातीन्द्रिय-ज्ञानेन निर्दोषता रात्रिरहितता तथा रागादिदोषरहिततामनुभवन् विभिः पक्षिभिर्धृताऽभि-व्यञ्जितोक्तिः शब्दपरम्पराऽथवा जीवन्मुक्तदशाया विधृता दिव्यध्वनिरेतस्कत्वात् सन्मार्ग-स्याकाशस्योत मुक्तिवर्त्मनो दर्शकतया त्वामुपकुरुतात् ॥८६॥

मोक्षमार्गके विषयमे होने वाले सन्देहकारक शब्द नष्ट हो जाते हैं। फिर उनकी अमृतप्रवाहिणी वाणीको प्राप्तकर लोगोका हृदय मोक्षके प्रति वेगसे पुरुषार्थ क्यो नही करता ?

अर्थान्तर—भुवन-जलमे खिले हुए कमलको देखकर भ्रमरबोध-भ्रमरका ज्ञान उसे उपहार समझ प्राप्त करता है। उस भ्रमरकी आनन्ददायिनी झङ्कार सुनकर मनुष्यका हृदय वेगसे क्या नही उछलता ? अर्थात् उछलता ही है ॥८५॥

अर्थ—हे नरेश ! यह प्रात काल सम्बन्धी समय, अर्हन्त भगवान्‌के समान, **केवलेन**-सूर्यके उदयरूप अभ्युदयसे (पक्षमे केवलज्ञान नामक अतीन्द्रिय ज्ञानसे) **निर्दोषता**-रात्रिके अभावका (पक्षमे वीतरागताका) अनुभव करता हुआ, **विधृतोक्तिकत्वात्**-पक्षियोके शब्दोको धारण करनेसे (पक्षमे दिव्य ध्वनिसे युक्त

भानोर्दर्शनमवनिपशस्य ! सङ्क्रमनाय रथाङ्गयुगस्य ।
ज्ञानं मरुतश्चरणं चारु मुक्तिर्मुकुलस्यास्ति यथारुक् ॥८७॥

भानोरित्यादि—हे अवनिपशस्य ! नरपतिप्रधान ! संगमनाय संचारार्थमुत सन्मार्गप्रवृत्त्यर्थं भानोर्दर्शनमवलोकनं सन्मतोपलम्भन च । रथाङ्गयुगस्य चक्रवाकमिथुनस्य संगमनाय परस्परमालिङ्गनार्थं ज्ञान प्रति बोधसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थं च तथा मरुतो वातस्य चारुचरण प्रचार आचरणं च, मुकुलस्य कुड्मलबन्धनस्य पुनर्मुक्तिरुन्मोचनं संसाराभावो वा यथारुक् रुचमधिगम्य भवतीति यथारुक् ॥८७॥

कोकः शोकमपास्य याति दयितां लोकस्तु तां मुञ्चति
भो कल्याणनिधे ! विकासकलनामोकः श्रियामञ्चति ।
नो कस्मात्तव याति दोः कृतिविधिं साधो ! कलाकौशले-
ऽहो कर्तव्यकथोपदेशकृदथो सूर्योऽस्ति पूर्वाचले ॥८८॥

कोक इत्यादि—भो कल्याणनिधे ! हे श्रेयोभाण्डार ! कोकश्चक्रवाक शोक विरह-जनितं दु.खमपास्य दूरीकृत्य दयिता वल्लभा चक्रवाकी याति प्राप्नोति । तु किन्तु लोको जनो ता दयिता मुञ्चति । श्रिया लक्ष्मीणामोक. सदन कमलमित्यर्थ', विकासकलनां प्रफुल्लतामञ्चति गच्छति । हे साधो ! तव दोर्बाहुः कलाकौशले कलाचातुर्ये कृतिविधिं कार्य-करणप्रकार कस्मात्कारणात् नो याति । अहो ! कर्तव्यकथानामुपदेश करोतीति कर्तव्य-कथोपदेशकृत् सूर्य., अथोऽनन्तरमेव काले पूर्वाचलेऽस्ति विद्यते । सूर्य. पूर्वाचलमधिष्ठाय तव वैवसिककार्यकरणाय कथयतीति भाव' ॥८८॥

होनेके कारण) **सन्मार्गदर्शकतया**–आकाशके दिखानेसे (पक्षमे समीचीन मार्गके दिखानेसे) जगत्मे तुम्हारा उपकार करे ॥८६॥

अर्थ—हे नरपतिप्रधान ! सूर्यका दर्शन चकवा-चकवीके मिलनके लिये है । सूर्य दर्शनसे यथार्थ ज्ञान होता है, वायुका सुन्दर सचार होता है और कमल-कुड्मलकी बन्धमुक्ति भी होती है । यह सब कार्य रुचिके अनुसार होते है ॥८७॥

अर्थ—हे कल्याणके भाण्डार ! चकवा शोक छोडकर वल्लभाके पास जा रहा है, परन्तु जनसाधारण वल्लभाको छोड़ रहा है । कमल प्रफुल्लताको प्राप्त हो रहा है, फिर हे सत्पुरुष ! आपकी भुजा कलाकौशलके विषयमे कर्तव्य विधि-को क्यो नही प्राप्त हो रही है, यह आश्चर्यको बात है । कार्योकी कथाका उपदेश करने वाला सूर्य अभी हालमे उदयाचल पर अधिष्ठित हो चुका है ॥८८॥

तल्पं कल्पय केवलं संकल्पय कृतिकर्म ।
विचर विचारशिरोमणे ! जनताया अनुशर्म ॥८९॥

तल्पमित्यादि—तल्प शय्या कल्पय मुञ्च । केवल कृतिकर्म करणीयकार्यं संकल्पय निश्चितं कुरु । हे विचारे तत्त्वविमर्शे शिरोमणि श्रेष्ठस्तत्सम्बुद्धौ जनताया जनसमूहस्य अनुशर्म सुखमुद्दिश्य विचर विचरणं कुरु । जनसमूहस्य हितं यथा स्यात्तथा कार्यं कुरु । दोहकछन्दः ॥८९॥

एवं सम्प्रतिकविकृतवाचि मुदितप्रदीपदशायां काचित् ।
संवृत्ताब्जदलानुविकासिन्यपि यावद् भुवि परिणतिरासीत् ॥९०॥

एवमित्यादि—एवमुक्तप्रकारेण सम्प्रतिकविनाऽऽधुनिकेन काव्यकृता कृता यासौ वाग् वाणी तस्याम्, कीदृश्यामिति चेत् ? मुदिता प्रसन्ना प्रदीपाना ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञितानां स्वराणा दशावस्था यस्या तस्यामिति । यावत्कालं समीचीनानां वृत्ताना छन्दसामेवाब्जानां कमलाना दलस्य समुदायस्यानुविकासिनी परिणतिरप्यासीदभूत् । किंवा सम्प्रतिक-विभिः प्राभातिकमङ्गलोक्तिकरैश्चारणै. कृता यासौ वाक् तस्यामित्यप्यवधारणीयम् । तथा च सम्प्रतिका तत्कालभवा विभि पक्षिभि कृता या वाक् कलकलध्वनिस्तस्यां सत्या मुदितास्तमिता प्रदीपाना दीपकाना दशा वर्तिका तस्या सत्या संवृत्तानां कुड्मलभाव गतानामब्जदलानामनुविकासिनी या परिपाटी सामीप्यावत्तावदेव यदभूत्त-दुच्यते ॥९०॥

मृदुतमस्तुतकचोपसंग्रहा संकुचन्ति उत सूक्तविग्रहा ।
मन्दस्पन्दितारका शयनासनादगात् क्षणदा सुरोचना ॥९१॥

मृदुतमेत्यादि—मृदूनि कोमलानि तमानि तिमिराण्येव स्तुता. प्रख्याताः कचाः

अर्थ—हे विचार करने वालोमे श्रेष्ठ राजन् ! शय्या छोडिये, सिर्फ करने योग्य कार्यका सकल्प कीजिये तथा जनसमूहके सुखका ध्यान रखते हुए कार्य कीजिये ॥८९॥

अर्थ—इस प्रकार जब ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरोकी दशासे युक्त तथा समीचीन छन्दरूपी कमलोके विकाससे सहित आधुनिक कवि-चारणोकी वाणी प्रकट हो रही थी, अथवा प्रात.कालिक पक्षियोकी कलकल ध्वनि तथा दीपकोकी बत्तियाँ अस्तमित हो रही थी, तब पृथिवीपर कमल दलोको विकसित करने वाली परिणति हुई थी ॥९०॥

---

१ 'ध्वान्त संतमसं तमम्' इति धनञ्जय ।

केशास्तेषामुपसग्रहो यस्या. सा रात्रि.। उत मृदुतमा अतिशयकोमला इत्येव स्तुना। यद्वा मृदुना प्रशंसनीयेन तमेन तमसा स्तुताश्च ते ये कचाश्च तेषा मृदुलश्यामलकेशाना-मुपसग्रह. समुच्चयनभावो यस्यास्सा सुरोचना रात्रौ रतिवृत्तादितया विकीर्णनार्वमिनाना केशानामिदानीमुपसहारकर्त्रीति। मन्दस्पन्दिन्यस्तारका उडूनि यस्यास्सा रात्रि, मन्दस्पन्दिनी तारका नयनकनीनिका यस्यास्सा सुरोचना समुपभूतनिद्रामद्भावेनेष-दुन्मीलितनयनेति, सकुचन्ती संकोचमाश्रयन्ती रात्रि., सकुचन्ती सम्यक् कुचधारिणी सुलोचना, यद्वा लज्जानुभावेन च सकुचन्ती। क्षणमुत्सवं सुखलक्षणमानन्द गृहस्थाना परेषा च विश्रामलक्षण ददातीति क्षणदा रात्रि', सुलोचना चोत्सवदात्री सखीप्रभृतिभ्य. सुघटितैव। तथैव सुरोचना सुरुचिकर्मीति सूक्त. सम्यगुक्तो विग्रह शब्दव्युत्पत्तिर्यस्यास्सा रात्रि, सूक्त. प्रशसा प्राप्तो विग्रह शरीर यस्यास्सा सुरोचना शयनाशयाच्छयनस्थाना-दगान्निर्जगाम ॥९१॥

श्लथीकृताश्लेषरसे हृदीश्वरे विनिद्रनेत्रोदयमेति भास्करे।
सखीजने द्वारमुपागतेऽप्यहो चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सतो ॥९२॥

श्लथीकृतेत्यादि—हृदीश्वरे वल्लभे श्लथीकृत आश्लेषस्य रसो येन यथाभूते सति,

---

अर्थ—उस समय **सुरोचना**–सुलोचना ठीक रात्रिके समान जान पड़ती थी, क्योंकि जिस प्रकार सुलोचना **मृदुतमस्तुतकेशोपसग्रहा**–अत्यन्त कोमल और प्रशसनीय केशोके उपसग्रहसे सहित थी, उसी तरह रात्रि भी **मृदुतमस्तुतकेशोप-संग्रहा**–कोमल अन्धकार रूप केशोके उपसग्रहसे सहित थी। जिस प्रकार सुलो-चना **सकुचन्ती**–समीचीन कुचोसे सहित थी अथवा लज्जारूप अनुभावसे सकु-चित–लज्जावती हो रही थी, उसी प्रकार रात्रि भी **संकुचन्ती**–क्षीणताको प्राप्त हो रही थी। जिस प्रकार सुलोचना **सूक्तविग्रहा**–प्रशसित शरीरसे सहित थी, उसी प्रकार रात्रि भी **सूक्तविग्रहा**–अच्छी तरह कथित शब्दव्युत्पत्तिसे सहित थी। जिस प्रकार सुलोचना **मन्दस्पन्दितारका**–मन्द-मन्द चलने वाली कनीनि-काओसे सहित थी, उसी प्रकार रात्रि भी **मन्दस्पन्दितारका**–धीरे-धीरे लुप्त होनेवाली ताराओसे सहित थी। जिस प्रकार सुलोचना **क्षणदा**–रतिरूप उत्सव-को देनेवाली थी, उसी प्रकार रात्रि भी **क्षणदा**–गृहस्थोके लिये रतिरूप उत्सव और जनसाधारणके लिये विश्राम सुखको देनेवाली थी। सुलोचना जिस प्रकार **सुलोचना**–सुन्दर नेत्रोवाली थी, उसी प्रकार रात्रि भी **सुरोचना**–काम-रुचिको बढाने वाली थी। इस तरह रात्रिकी समानताको धारण करने वाली सुलोचना शयनागारसे बाहर चली गई और सुलोचनाकी समानताको धारण करने वाली रात्रि भी शयनागारसे बाहर चली गई–समाप्त हो गई ॥९१॥

भास्करे सूर्ये उदयं पूर्वाचलमंति गच्छति सति सखीजने वयस्यासमूहे द्वार शय्यागृह-प्रवेशमार्गमुपागते सप्राप्ते सति विनिद्रे नेत्रे यस्यास्सा जागृतापि सती वल्लभाक्लेशकारिणी अङ्गना सुलोचना आलिङ्गनतो वल्लभबाहुबन्धनाद् न चचाल चलिता नाभूत् ॥९२॥

स्मार स्मारं भुजबलमल श्रीमतः सोढमारा-
न्मुञ्चेदानी चटुलचटिकानिस्वनोऽस्तीत्युदारा ।
पश्चादेष्याम्यपि नरमणेऽथैवमुक्तिप्रदाना-
च्छय्यामूल हरिणनयना सम्बभूवोज्जिहाना ॥९३॥

स्मारमित्यादि—अथानन्तरम् आरान्निकटस्थकाले श्रीमतो वल्लभस्य सोढ कृतानुभव भुजबल बाहुवीर्यमलमत्यन्त स्मृत्वा स्मृत्वेति स्मार स्मार हे नरमणे ! नरश्रेष्ठ ! इदानी मुञ्च त्यज मा, चटुलानां चपलानां चटिकाना कलविङ्काना निस्वनोऽस्ति शब्दोऽस्ति, पश्चादपि एष्याम्यागमिष्यामीत्येवमुक्तिप्रदानात् सा हरिणनयना मृगाक्षी शय्यामूलमुज्जिहाना हातुमुद्यता सम्बभूव ॥९३॥

कल्ये बाला चिकुरनिकरं बध्नती सालसाक्षी
सम्पश्यन्ती नखपददलं सत्कुचाभोगमध्ये ।
नीवीमाकुञ्चितकरशिखं रुन्धती नाभिदेशे
निर्याता सा शयनसदनाच्चेतसो नैव यूनः ॥९४॥

कल्य इत्यादि—कल्ये प्रभाते चिकुराणा रतिकाले विकीर्णाना केशाना निकर समूह बध्नती, सालसे अक्षिणी यस्यास्तथाभूता कुचयो. प्रशस्तपयोधरयोराभोगो विस्तारस्तस्य

अर्थ—वल्लभका आलिङ्गनप्रेम शिथिल हो गया, सूर्य उदयाचलपर पहुँच गया और सहेलिया द्वारपर आ गईं, फिर भी जागृत सती सुलोचना आलिङ्गनमे चलायमान नही हुई। भाव यह है कि पतिकी निद्रा भग्न न हो जावे, इस भयसे उसने आलिङ्गन नही छोडा ॥९२॥

अर्थ—निकट कालमे अनुभूत पतिके बाहुबलका अत्यधिक स्मरण कर मृगाक्षी सुलोचना, हे नररत्न ! अभी छोडो, चचल चिड़ियोका शब्द होने लगा है, मै फिर भी आऊँगी। इस प्रकारके शब्दोसे शय्या स्थानको छोडनेके लिये उद्यत हुई थी ॥९३॥

अर्थ—बालोके समूहको सभालती, अलसाये नेत्रोसे सहित, स्तनोके मूलमे विद्यमान नखक्षतोको गौरसे देखती और नाभिके पास चचल अगुलियोसे

मूले सद्विद्यमान नखपदवलं नखक्षतनिकुरम्बं सम्पश्यन्ती समवलोकयन्ती नाभिदेशे तुम्बिकासमीपे आकुञ्चिताः करशाखा अङ्गुलयो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा नीवीमधोवस्त्रग्रन्थिं रुन्धती बाला सुलोचना चेद्यदि शयनसदनात् शय्यागृहात् निर्याता, किन्तु यूनो वल्लभस्य तरुणस्य चेतसो न निर्याता न निर्गता ॥९४॥

गच्छन्त्या धरणिधृतैकपादया यत्पाथेयं गुरुविरहाध्वलङ्घनाय ।
शय्यास्थस्य सपदि चुम्बनं प्रियस्य तन्वङ्ग्या विवलितवर्ष्मणाप्तमस्य९५

गच्छन्त्येत्यादि—गच्छन्त्या धरण्यां धृत एक पादो यया तया विवलितं व्यामोटित वर्ष्म शरीर यस्या तया तन्वङ्ग्या शय्यास्थस्य प्रियस्य धवस्य सपदि यच्चुम्बनमाप्त तद् गुरोर्विस्तृतस्य विरहाध्वनो लङ्घनाय पाथेय सम्बलमिवाभूत् ॥९५॥

सदहीनगुणस्थानमञ्चकादभिनिर्वृतः ।
सदानन्दलसद्भावपूर्तये कृतवान् बहु ॥९६॥

सदहीनेत्यादि—सतां प्रशस्ताना मृदुलतमतया श्लाघ्यानामहीनानां मध्ये त्रुटिरहिताना गुणाना तन्तूना स्थानात् मञ्चकात्पर्यङ्कात् अभिनिर्वृत उत्तरित सन् स जयकुमारो दलस्य स्वप्रजासमूहस्य सद्भावपूर्तये बहुदान कृतवान् । तथा सन्ति अहीनानि यानि गुणस्थानानि चतुर्दशसख्यकानि यान्यागमोक्तानि तेषा मञ्चकात्समुदायादभिनिर्वृतस्तेभ्यः पारमितामवस्था प्राप्तः सन् जनः सदानन्दस्य नित्यसुखस्य यो लसन् प्रशस्यो भावो मुक्तावस्थारूपस्तस्य पूर्तये बहु चेष्टितं कृतवान् ॥९६॥

अधरव्रणं तु बध्वा निरीक्ष्य मुदिता सखी प्रगे बहुधा ।
तच्छेषं हि समुद्रितमिव पीत्वा वल्लभेन सुधाम् ॥९७॥

अधोवस्त्रकी गाँठको रोके हुए सुलोचना यद्यपि शय्यागृहसे बाहर निकल गई थी, परन्तु वल्लभके हृदयसे नही निकली थी ॥९४॥

अर्थ—जिसका एक पैर पृथिवीपर रक्खा था, ऐसी सुलोचनाने जाते-जाते शय्यापर स्थित वल्लभका मुडकर जो चुम्बन प्राप्त किया था, वह लम्बे विरह मार्गको लाघनेके लिये मानो सम्बल था ॥९५॥

अर्थ—अत्यन्त कोमल तथा बीचमे त्रुटिरहित तन्तुओके स्थानभूत पर्यंकसे उतरे हुए उस जयकुमारने प्रजाके सद्भावकी पूर्तिके लिये बहुत दान किया। अथवा प्रशस्त-आगमोक्त चौदह गुणस्थान रूप मञ्चसे पार हुए उसने सदानन्द—शाश्वतिक आनन्दके प्रशस्त स्थानभूत मोक्षकी प्राप्तिके लिये बहुत प्रयत्न किया ॥९६॥

अधरेत्यादि—प्रगे प्रत्यूषे वध्वा सुलोचनाया अधरव्रणं निरीक्ष्य बहुधा मुदिता प्रसन्नचेताः सखी वल्लभेन सुधां पीत्वा यच्छेषमवशिष्टं समुद्रं कृतमिति मेने ॥९७॥

धवेनाधररागो यो वध्वा उद्वासितो निशि ।
संक्रान्त इव स प्रातः सपत्नीनेत्रयोरभूत् ॥९८॥

धवेनेत्यादि—निशि रजन्यां धवेन प्रियेण वध्वा योऽधररागो दन्तच्छन्दारुणिमा पानेन उद्वासितो दूरीकृतः, स प्रातः सपत्नीनेत्रयोः समानः पतिर्यस्याः सपत्नी तस्या नेत्रयोः संक्रान्तः स्थानान्तरित इवाभूत् । वध्वा अधरं रागरहितं दृष्ट्वा प्रियकृताधरपानमनुमाय सपत्नी क्रोधारुणनयना जातेति भावः ॥९८॥

कुङ्कुमं प्रतिनखक्षतं जनी यावकं प्रतिरदाङ्कमध्वनि ।
पातयन्त्यभितो दृशं भृशं दर्शनीयकतयान्वगाद्रसम् ॥९९॥

कुङ्कुममित्यादि—अध्वनि मार्गे जनी वधूः अभितः परितः दृशः दृष्टिं भृशमत्यन्तं यथा स्यात्तथा प्रति नखक्षतं कुङ्कुमं केशरं प्रतिरदाङ्कं प्रतिदन्तक्षतं यावकं लाक्षारसं पातयन्ती दर्शनीयकतया सौन्दर्येण रसं प्रीतिमन्वगात् प्राप ॥९९॥

कान्तं तदङ्कवलयाङ्कितकण्ठदेशं
दृष्ट्वाह नापि न च निश्वसिति स्म लेशम् ।
बाला जलेन वदनं परिमार्जयन्ती
प्रातर्दृगम्बु पुनरेवमभाज्जयन्ती ॥१००॥

कान्तमित्यादि—प्रातःकाले तदन्यस्या वलयेन कटकेन अङ्कितः कण्ठदेशो यस्य तथाभूतं कान्तं पतिं दृष्ट्वा काचिद् बाला नाह न किञ्चिदुवाच नापि च लेशं किञ्चित् निश्व-

---

अर्थ—प्रभातमे सुलोचना के अधरोष्ठ सम्बन्धी व्रणको देखकर अत्यधिक प्रसन्न सखीने ऐसा माना कि पतिने अमृत पीकर शेष अमृतको मानो शीलबद्ध कर दिया है ॥९७॥

अर्थ—रात्रिमे पतिने स्त्रीके अधरोष्ठको जो लालीरहित किया था, उससे ऐसा जान पडता था कि वधूके अधरकी लाली मानो सपत्नीके नेत्रोंमे चली गई हो ॥९८॥

अर्थ—कोई देख तो नही रहा है, इस भयसे सब ओर बार-बार देखती हुई वधू प्रत्येक नखक्षत पर केशर और दन्तव्रण पर लाक्षारङ्ग लगाती हुई सुन्दरता से रसका अनुभव कर रही थी ॥९९॥

अर्थ—प्रातः समयमे कोई स्त्री पतिके कण्ठमे अन्य स्त्रीके वलयका चिह्न देख न तो कुछ बोली और न उसने साँस ली, केवल रोने लगी। उसका वह नेत्र-

सिति स्म शोकनिश्वासं कृतवती केवल नेत्राम्बु मुमोच । तेन सा जयन्ती श्रेष्ठा जलेन वदन मुख परिमार्जयन्तो प्रक्षालयन्तीवाभात् भाति स्म ॥१००॥

जम्पत्योर्यन्निशि निगदतोऽचाश्रृणोद् गेहकीरः
श्रीपादानां तदनु वदतो लज्जिता सम्भवन्ती ।
कर्णान्दूकारुणमणिकण तस्य कृत्वोपहारं
सास्ते चञ्चौ करकफलकव्याजतो मूकयन्ती ॥१०१॥

जम्पत्योरित्यादि—गेहकीरो गृहशुको निशि रात्रौ निगदतोर्जाया च पतिश्चेति जम्पती तयोर्यदशृणोदश्रौषीत् तत् श्रीपादानां प्रशस्तपुरुषाणामग्रेऽनुवदत पुन पुनः कथयतो लज्जिता ह्रीणा सम्भवन्ती सा वधू कर्णान्दूकस्य कर्णालंकारारुणमणे रक्तमणेर्य. कणो लेशस्त तस्य गेहकीरस्योपहार प्राभृतं कृत्वा चञ्चौ चञ्चुमध्ये करकफलकस्य दाडिमफलस्य व्याजतो मूकयन्ती तूष्णी कुर्वन्ती आस्ते ॥१०१॥

दन्तावलीमधरशोणिमसभृदङ्कां
ताम्बूलरागपरिणामधियाप्यपङ्काम् ।
या स्म प्रमार्ष्टिमुहुराद्तदर्पणापि
लज्जा तयालिषु तु हास्यसमर्पणापि ॥१०२॥

दन्तावलीमित्यादि—अधरशोणिम्नो दन्तच्छदलौहित्यस्य सभृद् धृतोऽङ्कश्चिह्न यस्यां तां दन्तावली रदनराजिमपङ्कामपि मलरहितामपि ताम्बूलरागस्य नागवल्लीदलजन्य-लौहित्यस्य परिणामः परिपाकस्तस्य धिया या वधूरादृतो दर्पणो यया तथाभूता सती मुहुः

जल ऐसा जान पडता था, मानो वह जलसे मुह ही धो रही हो ॥१००॥

अर्थ—घरके पालतू तोतेने रातके समय बात करते हुए दम्पतीके जो शब्द सुने थे, उन्हे वह भले लोगोके सामने बार-बार कहने लगा। उससे लज्जित हो वधूने अपने कर्णालकारसे लालमणिका एक कण निकाल अनारदानेके बहाने उपहारके रूपमे उसकी चोचके भीतर रख दिया, जिससे वह चुप हो गया ॥१०१॥

अर्थ—जो अधरोष्ठकी लालिमासे चिह्नित दन्तपक्तिको पानकी लालीसे युक्त समझ दर्पण ले बार-बार साफ कर रही थी, इससे सखियोके बीच उसे लज्जित तथा हास्यका पात्र होना पडा ॥१०२॥

अर्थ—शोभनाङ्गी सुलोचनाने प्रातर्वेलामे सूर्यकी प्रभासे चिह्नित अपने चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखको अमृत-दूध या जलसे धोया। धोते समय उसके हाथमे केशोकी काली कान्ति पड़ी। जिससे उसे कोमल वस्त्रसे पोछा, देदीप्यमान

पुन पुन· परिमार्ष्टि स्म परिमार्जितां करोति स्म । तेन तया बव्वालिषु सखीषु लज्जा त्रपा अपि प्राप्ता । हास्यसमर्पणाऽप्यापिता तथा कुर्वन्तीं दृष्ट्वा सख्यो जहसुरिति भाव ॥१०३॥

विधुबन्धुरं मुखमात्मनस्त्वमृतैः समुक्ष्यार्काङ्कितं
कृत्वा करं मृदुनांशुकेन किलालकच्छविलाञ्छितम् ।
भासुरकपोलतलं पुनः प्रोञ्छ्यागुरुपत्राङ्कभा-
भावेन विस्मितकृत् स्वतोऽभादपि तदा नितरां शुभा ॥१०३॥
(विभातनामषडरचक्रबन्ध·)

विधुबन्धुरमित्यादि—तदा सा शुभा सुलोचना आत्मन. स्वस्य अर्काङ्कित सूर्यप्रभाभसितं विधुबन्धुरं शशाङ्कसुन्दर मुखममृतैः समुक्ष्य कर हस्तं किलालकैश्चूर्णकुन्तलैर्लाञ्छित कृत्वा मृदुना कोमलेनांशुकेन वस्त्रेण प्रोञ्छ्य पुनश्च भासुरकपोलतल देदीप्यमानगण्डप्रदेशमगुरुपत्राङ्कस्य भा दीप्तिस्तस्या भावेन सद्भावेन विस्मितकृत् विस्मयकारक प्रोञ्छ्य स्वत स्वय नितरामभाद् बभौ ॥१०३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
एषार्हद्दिवसं विकासितपदाम्भोजातशोभावती
यात्यष्टादशसंख्ययानुविदितं सर्गे तदीया कृतिः ॥१०४॥

कपोल तलमे जब केशोकी कान्ति पडी, तब उसने उसे अगुरु पत्रसे चिह्नित जैसा मान साफ किया । यह करते हुए उसे विस्मय हो रहा था कि बार-बार साफ करने पर भी काला दाग दूर नही हो रहा है। इस तरह यह सब करती हुई अत्यन्त सुशोभित हा रही थी ॥१०३॥

इति वाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयकाव्ये
प्रभातवर्णनो नामाष्टादशः सर्गः समाप्तः ॥

●

एकोनविंशः सर्गः

श्रीमाननुच्छिष्टभुजामिवाद्यः पूर्वं ग्रहाणामधिपोदयाद्यः ।
धरां समारब्धुमथ प्रबुद्धस्तदीयसंपर्क इतोऽस्त्वशुद्धः ॥१॥

श्रीमानित्यादि—अथ वन्दीजनकृतप्रभातस्तवानन्तर यः श्रीमान् जयकुमारः स ग्रहाणामधिपस्य सूर्यस्योदयात् पूर्वमेव धरां पृथ्वीं प्रियामिव समारब्धुं सम्भोक्तुमिव प्रबुद्धो जातोऽभूत् । यतः सोऽनुच्छिष्टभुजामनन्यभुक्तभोजिनामाद्य प्रथमगणनीयस्तत्र च तस्य सूर्यस्यासौ तदीयो यः सम्पर्कः करस्पर्शलक्षणः स इतोऽनन्तरमस्तु भवतु खलु । कथमिति चेत् ? सोऽशुद्ध· परस्त्रियाः परपुरुषकरेण स्पर्शो वर्जनीय इति हेतोः । 'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय' इत्यादिसूक्तमाश्रित्य सूर्योदयात् पूर्वमुत्थानं सदाचारः । सः एवोक्त्यन्तरेणोक्त इत्यत्र ॥१॥

समामिलद्धस्ततलद्वयेन लेखाकृतार्धेन्दुसमन्वयेन ।
समीक्षिता पाण्डुशिला जयेन तीर्थेशजन्माभिषवात्र तेन ॥२॥

समामिलदित्यादि—अत्राभ्युत्थानकाले सर्वप्रथममेव तेन जयेन नाम राज्ञा समामिलत्परस्पर समतलतया संयोग गच्छद्धस्ततलयोर्द्वय तेन, तस्य लेखाभ्यामङ्गुलिकाभ्योऽधःस्थिताभ्यां कृतो योऽर्धेन्दुसमन्वयोऽर्धचन्द्रस्याकारो यत्र तेन संस्मारकनिमित्तेन

अर्थ—श्रीमान् जयकुमार अनुच्छिष्ट भोजियोमे प्रथम गणनीय थे, अत. वे पृथिवीका उपभोग करनेके लिये सूर्योदयसे पूर्व ही जाग गये, क्योकि इनसे पहले सूर्यके कर–हाथो (पक्षमे किरणो) का पृथिवीसे स्पर्श होना अशुद्ध था, वह पश्चात् ही हो ।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम पुरुष उसी स्त्रीको स्वीकृत करते है, जिसका परपुरुषके हाथोंसे स्पर्श नही हुआ हो । जयकुमारने भी यही विचार किया कि मै जिस पृथिवी रूपी प्रियाका उपभोग करना चाहता हूँ वह सूर्यके कर स्पर्शसे मुक्त होकर उच्छिष्ट न हो जावे । इसीलिये वह सूर्योदयसे पहले ही जाग गया था । 'ब्राह्म मुहूर्तमे उठना चाहिये' इस सूक्तिके अनुसार सूर्योदयसे पहले उठना सदाचार है, इसी बातका आलङ्कारिक भाषा मे कथन किया गया है ॥१॥

अर्थ—परस्पर मिली हुई दोनो हथेलियोमें अंगुलियोके नीचे जो अर्ध चन्द्रमाका आकार बन गया था, उससे राजा जयकुमारने उस पाण्डुकशिलाका

हेतुना तीर्थेशानां वृषभादीनां जन्माभिषवा यत्र भवन्ति सा सुमेरुपर्वतस्था पाण्डुशिला समीश्रिता स्मृता, यत सार्धचन्द्रसमाकारेति ॥२॥

हृदीव शुद्धे मुकुरे मुखं स निजीयमात्मानमिवात्मशंसः ।
ददर्श संघर्षवशेन तत्रानुवृत्तिमासाद्यतमामसत्राम् ॥३॥

हृदीवेति—स्वहस्ततलरेखावर्शनानन्तरं पुनः स जयकुमार सहर्षस्य प्रमोदस्य वशेन हेतुना शुद्धे श्वेतरूपे पारदर्शकस्वभावे वा पक्षे मत्सरत्वाविरहिते मुकुरे दर्पणे हृदीव यथा हृदयेऽन्त· किलात्मशंसोऽध्यात्मप्रेमी आत्मानमुपयोगलक्षणमिवासत्रा कपटवर्जितामनुवृत्तिप्रतिमां पक्षे पुनः पुनरनुभूतिमासाद्य लब्ध्वा 'सत्र यज्ञे सदावाने कैतवे वचने वने' इति विश्व. । निजीय स्वकीय मुख ददर्श ॥३॥

एकाकि एवानुययौ प्रभूतां भुवं मलोत्सर्जनहेतुभूताम् ।
मौनीभवन् योनिरिव व्रतानां कमण्डलुं प्राप्य पुनर्जलानाम् ॥४॥

एकाकीत्यादि—पुनर्दर्पणदर्शनानन्तर शय्यात· समुत्थाय स जयकुमारो नाम राजा व्रतानामहिंसाविलक्षणाना योनिःस्थान मुनिरिव मौनी मौनग्रहणपूर्वक एकाकी स्वयमनन्यसहाय एव जलानां कमण्डलु नाम पात्रं प्राप्य करे कृत्वा मलस्य पुरोषस्य पक्षे पापस्योत्सर्जन परित्यजन तस्य हेतुभूता करणरूपा प्रभूतामसंकटा भुवं जन्त्वादिदोषवर्जिता भुव पृथ्वीमनुययौ जगाम ॥४॥

जवात् कृताशौचविधिः पवित्रीभूताशयत्वादधुना धरित्रीम् ।
पस्पर्श हस्तेन स कोमलेन निजप्रियां वारिभवोज्ज्वलेन ॥५॥

जवादित्यादि—अधुना साम्प्रतं कृत आशौचविधिर्येन स कृताशौचविधिर्जयकुमारः पवित्रीभूताशयत्वात् पवित्रीभूत आशयोऽभ्यन्तरपरिणामो यस्य तत्त्वात् जवात् त्वरितमेव

स्मरण किया, जिसपर तीर्थंकरोंके जन्माभिषेक होते हैं ॥२॥

अर्थ—हस्ततलकी रेखाओके द्वारा पाण्डुकशिलाका स्मरण कर हर्षके वशीभूत जयकुमारने शुद्ध–कलुषतारहित (पक्षमे मात्सर्यादिरहित) दर्पणमे बार बार अपना मुख देखा और हृदय मे आत्मानुभूतिको प्राप्त किया ॥३॥

अर्थ—दर्पण देखनेके बाद राजा जयकुमार मुनियोके समान व्रतोके स्थानभूत मौनको धारण करते हुए अकेले ही जलपात्र लेकर मल परित्यागमे कारणभूत मैदान वाली जमीनमे गये ॥४॥

अर्थ—तदनन्तर पवित्र होनेके अभिप्रायसे शीघ्र ही अशौचक्रियासे निर्वृत्त हो जयकुमारने कमलके समान कोमल अथवा वारि–जलके भाव–सद्भावसे उज्ज्वल

हस्तेन स्वकीयेन पाणिना निजप्रिया प्रेयसीं धरित्रीं भूमिं पस्पर्श । कीदृशेन हस्तेनेति चेत् ? वारिभवोज्ज्वलेन वारिभवं कमलं तद्वदुज्ज्वलेन । यद्वा वारिणो भवः सद्भावस्तेनोज्ज्वल पवित्रस्तेन । तथा च कीदृशेन ? सकोमलेनेति स । कोमलेन स कोर्मलेन वास जयकुमारः कोमलेन मृदुना यद्वा स एव सक., स्वार्थे कप्रत्यय, मलेन मलिनरूपेणेति यावत् । आशौचानन्तर समृत्तिकेन जलेन हस्तप्रक्षालनं चकारेति ॥५॥

समञ्चनक्षत्रपतेर्नृपस्य तदा सदाचारभृतः प्रशस्यः ।
गृहीतमूर्तिः शशिन. प्रसाद आसीच्च गण्डूषनिरुक्तिवादः ॥६॥

समञ्चेत्यादि—तदा तस्मिन् काले शशिनश्चन्द्रस्य गृहीता स्वीकृता मूर्तिः स्थूलाकृतिर्येन स गृहीतमूर्तिः । प्रसाद· प्रसन्नभाव इव नृपस्य राज्ञो जयकुमारस्य गण्डूषाणां कुरलकाना निरुक्ति प्रवृत्तिस्तस्या वाद आसीत् कथनमभूत्, प्रशस्य प्रशंसायोग्य., सदाचारत्वात । कीदृशस्य नृपस्य ? समञ्चनक्षत्रपते. सम्यगञ्चनमाचरण यस्य तस्य क्षत्रपतेः क्षत्रियशिरोमणेश्चन्द्रपक्षे च सम्यगञ्चनं येषां तानि समञ्चनानि, तानि च तानि नक्षत्राणि, तेषां पति. स्वामी तस्य । तथा सदाचारभृतः समीचीनाचारणशालिनश्चन्द्रपक्षे पुनः सदा सर्वदा चारभृतो गतिशीलस्येति यावत् ॥६॥

श्रीवज्रखण्डाभरदान्वितेन सद्वर्त्ममात्रैकहितेन तेन ।
समाश्रितं मज्जनमेवमाहुः सुधांशुना चर्चित एव राहुः ॥७॥

श्रीवज्रेत्यादि—श्रीवज्रस्य पवित्रहीरकस्य खण्डा अशास्तेषामाभेवाभा येषां ते च ते रदा दन्तास्तैरन्वितेन युक्तेन परमनिर्मलदन्तधारकेणापि तेन राज्ञा केवलमेतत् सद्वर्त्म

हाथसे अपनी प्रिय पृथिवीका स्पर्श किया, अर्थात् इच्छित पृथिवीसे मिट्टी लेकर हाथ धोये ॥५॥

अर्थ—उस समय **समञ्चनक्षत्रपतेः**–समीचीन आचरणसे युक्त क्षत्रियशिरोमणि एव **सदाचारभृत**·–सदाचारको धारण करनेवाले राजा जयकुमारकी कुरला करनेकी क्रिया सम्पन्न हुई । उनकी वह कुरला करनेकी विधि चन्द्रमाके मूर्तिधारी प्रसाद गुणके समान जान पडती थी । चन्द्रमाके पक्षमे **समञ्चनक्षत्रपतेः**–पदका अर्थ होता है समीचीन गतिसे युक्त नक्षत्रोके स्वामी और **सदाचारभृतः** का अर्थ होता है सदा–सर्वदा गतिशील–गमन करने वाला ॥६॥

अर्थ—जो हीरेके खण्डोके समान चमकीले दातोसे सहित थे तथा सत्पुरुषोके मार्गका निर्वाह करना ही जिनका लक्ष्य था, ऐसे जयकुमारने उस समय

सता मार्ग एवेति सद्धर्ममात्रम् तस्यैवैक मुख्य हित तेन सद्धर्ममात्रैकहितेन हेतुना समाश्रित स्वीकृतं मज्जनं बन्तोत्कर्षणपदार्थः। तत्रस्था जना एवमाहुः कथितवन्तो यत्किल सुधांशुना चन्द्रेण राहुरेव चर्वित इति, चन्द्रतुल्य जयस्यानन राहुसदृशञ्च मज्जनमत्रेत्येवम् ॥७॥

महीमहेन्द्रस्य तथा भवत्तत्प्रतिप्रतीकं मुहुरेव दत्तम् ।
स्नेहं स्वभावोत्थमिव प्रजाभिर्निसर्गसौहार्दवशंगताभिः ॥८॥

महीत्यादि—निसर्गस्य सौहार्दस्य सहजप्रेम्णो वशंगताभिः स्वाभाविकप्रीतिमतीभिः प्रजाभिर्महीमहेन्द्रस्य जयकुमारस्य तस्य प्रतीक प्रतीकं प्रति प्रतिप्रतीकं सर्वेष्वेवावयवेषु मुहुरेव दत्तं वारंवारमभ्यञ्जितं स्नेहं नाम तैलं तत्स्वभावान्मनस उत्थोत्पत्तिर्यस्य तत्स्वभावोत्थं स्नेहं प्रेमैवाभवत् । तथेति समुच्चये ॥८॥

निमज्जितं तेन जलैकपूरे श्रुतश्रियां वैभवतोऽप्यदूरे ।
श्रीसर्वतोभद्रतया मनोज्ञे मलापहेऽस्मिन् कविकल्पभोग्ये ॥९॥

निमज्जितमित्यादि—अपि पुनरभ्यङ्गानन्तरं तेन जयकुमारेण राज्ञा श्रुतश्रियां शास्त्रस्य शोभाना वैभवतोऽदूरे पृथग्भावे न भवति यस्तस्मिन् अदूरे शास्त्रज्ञानतुल्ये किलेत्यर्थः, जलैकपूरे पानीयस्य प्रधान प्रवाहे निमज्जित स्नान कृतमिति। कीदृशे तस्मिन्निति चेत् ? श्रीसर्वतोभद्रतया सर्वदिगामितया सुविशदतया वा मनोज्ञे चित्तहारिणि

(काला) मञ्जन लगाया। उस समयमे स्थित मनुष्य ऐसा कहने लगे मानो चन्द्रमाने राहुका चर्बण किया है।

भावार्थ—दातोके मजबूत और दीप्तियुक्त होनेके कारण यद्यपि मञ्जन लगानेकी आवश्यकता नही थी, तो भी मजन करना यह सत्पुरुषोकी क्रिया है यह सोचकर उन्होने मजन लगाया था। उस समय उनके गौर वर्ण मुखमे काला दन्तमंजन देखकर समीपवर्ती लोग कहने लगे कि क्या चन्द्रमा राहुको चबा रहा है ॥७॥

अर्थ—स्वाभाविक सौहार्दके वशीभूत प्रजाजनोने महीमहेन्द्र–राजा जयकुमारके प्रत्येक अवयवोमे जो स्नेह–तैल लगाया था, वह उनके स्वभावसे उत्पन्न स्नेह–प्रेमके समान था ॥८॥

अर्थ—तैलमर्दनके बाद जयकुमारने जलके उस प्रधान प्रवाहमे स्नान किया, जो वैभवकी अपेक्षा शास्त्रोकी शोभा–शास्त्रज्ञानके निकट था, अर्थात् उसके समान था, सर्वतोभद्रता–सब दिशाओमे विस्तृत होनेसे मनोज्ञ था, (पक्षमे सर्वतोभद्र नामक चित्रकाव्य अथवा उपलक्षणसे समस्त अलंकारोसे मनोहर था)

पक्षे सर्वतोभद्रतया किलासंकीर्णभावतया मनोज्ञे यद्वा सर्वतोभद्रं नाम चित्रकाव्यं तद्रूपेणोपलक्षणात् सालङ्कारतया मनोज्ञे तथा मलापहाराख्ये मलं किट्टादि अपहरतीति मलापहा आख्या संकथा यस्य तस्मिन्, किञ्च कविकल्पभोग्ये कस्य वय. कवयो जलपक्षिणस्तेषां कल्पस्तमूहस्तेन भोग्ये समादरणीये, पक्षे कवय काव्यकर्तारस्तेषां कल्पो मनोभावस्तेन भोग्ये ॥९॥

विपश्चितोऽप्यङ्गममुष्य भायाज्जलैः समालिङ्गितमित्युपायात् ।
बृहद्गुणाङ्केन बभूव तूर्णमार्वाजितं प्रोञ्छनकेन पूर्णम् ॥१०॥

विपश्चितोऽपीत्यादि—अमुष्य विपश्चित. पण्डितस्याङ्गं शरीर जलैर्वारिभिः समालिङ्गित स्पृष्ट भायादपीति शोभास्थानमपि भूयादिति । यद्वास्याङ्गं जलैरेव जडैर्मूर्खैः समालिङ्गित परिवारित भायादपि ? किन्तु नैव भायादिति किलोपायात्कारणात् बृहन्तो गुणास्तन्तवो यद्वा शीलादयोऽपि यस्मिन् तदङ्क शरीर यस्य तेन बृहद्गुणाङ्केन प्रोञ्छनकेन नाम वस्त्रखण्डेन तत्पूर्णमखिलमपि तूर्णमतिशीघ्रमेवार्वाजित प्रोञ्छितमिति ॥१०॥

श्रीराजहंसैरपि सेवनीया शरन्निशाऽभूच्च तनुस्तवीया ।
चन्द्रांशुभासा शुचिनाम्बरेण समर्थिता पूर्णतयाऽऽवरेण ॥११॥

श्रीराजहंसैरित्यादि—तस्य जयकुमारस्येय तवीया तनुः शरीरलता सा शरन्निभा शरदृतुसदृशी अभूज्जाता। यतः सा राजहंसैरपि सेवनीया राजहंसैर्नृपवरैः सेवनीया, शरत्पक्षे तु मरालैस्सेवनीया । किञ्च, चन्द्रांशुभासा शुचिनाम्बरेण चन्द्रस्यांशवो रश्मय-

---

मलापह—शारीरिक मलको दूर करनेवाला था (पक्षमे अज्ञान तथा रागद्वेषादि आभ्यन्तर मलको दूर करने वाला था) और कविकल्पभोग्य जलमे रहनेवाले पनडुब्बी आदि पक्षियोके समूहसे भोग्य था (पक्षमे कवियोके मनोभावो—विविध कल्पनाओसे भोग्य था) ॥९॥

अर्थ—इस विद्वान्का भी शरीर जलसे आलिङ्गित होकर सुशोभित हो सकता है, अथवा जड-मूर्खोंसे परिवारित होकर क्या शोभित हो सकता है ? अर्थात् नही । इस हेतुसे उसका समस्त शरीर शीघ्र ही रोयेंदार तोलियासे पोछ दिया गया ॥१०॥

अर्थ—राजा जयकुमारको शरीर लता शरद् ऋतुके समान थी, क्योकि जिस प्रकार शरद् ऋतु राजहंसो—श्रेष्ठ मरालोमे सेवनीय होती है, उसी तरह उनकी शरीरलता भी राजहंसो—श्रेष्ठ राजाओसे सेवनीय थी। जिस प्रकार शरद् ऋतु चन्द्राशुभासा शुचिनाम्बरेण—चन्द्रकिरणोकी कान्तिसे युक्त उज्ज्वल

स्तेषां सा इव भा यस्य तेन, पक्षे चन्द्रांशूनां भा यत्र तेन शुचिना पवित्रेण स्वच्छेन चाम्बरेण वस्त्रेण पक्षे गगनेन आदरेण पूर्णतया सर्वतोभावेन समर्थिनाभूविति ॥ ११ ।

दूर्वाङ्कुरान् कीरशरीरभावसुकोमलानाप्य पुनर्यथावत् ।
स पिप्रिये किन्न भुव प्रियायाः कचानिवात्मीयरुचा शुभायाः ॥१२॥

दूर्वाङ्कुरानित्यादि—पुनः स्नानभृङ्गारानन्तरं स जयकुमारः कीरस्य शुकस्य शरीर तस्य भावा इव सुकोमला भूवस्तान् दूर्वाङ्कुरान् आत्मीयया रुचा प्रीतिमय्या शुभाया भुवः पृथिव्याः प्रियायाः कचान् केशानिव यथावदाप्य लब्ध्वा किन्न पिप्रियेऽपि सु पिप्रिय एव॥ १२ ॥

प्राणा हि नो येन नियन्त्रिताश्चेत् किं प्राणिनोऽपि स्ववशान् समञ्चेत् ।
स तत्र यत्नं कृतवानितीव स्वदोर्द्वयाक्रान्तसमस्तजीवः ॥१३॥

प्राणाइत्यादि—येन हि जनेन प्राणा निजीयाः श्वसनवायवोऽपि न नियन्त्रिता वशीकृताः स्तम्भिताश्चेत् यदि, तदा पुनः स खलु प्राणिनोऽपरान्मनुष्यादीनपि स्वस्य वशान् आत्मसात्कृतान् किमिति समञ्चेत्कुर्यात् किन्तु नैव कर्तुमर्हेदिति विचार्येव किल स जयकुमारो स्वस्य दोर्द्वयेन बाहुभ्यामाक्रान्ता स्वाधिकारे कृता समस्तापि जीवा पृथ्वी यद्वा प्राणभृतो येन स, तत्र प्राणनियन्त्रणे यत्न. कृतवान् प्राणायाम चकारेति यावत् ॥ १३ ॥

आकाशसे सुशोभित होती है, उसी तरह उनकी शरीरलता भी चन्द्रकिरणोके समान कान्तिवाले पवित्र वस्त्रसे सुशोभित थी। यह बात सपूर्ण रूपसे सन्मानके साथ समर्थित है–कही जाती है ॥ ११ ॥

अर्थ—वह जयकुमार, तोतेकी शरीर परिणतिके समान अत्यन्त कोमल दूर्वाके उन अङ्कुरोको, जो कि अपनी कान्तिसे पृथिवी रूपी शुभप्रियाके केशोंके समान जान पडते थे, प्राप्त कर क्या प्रसन्न नही हुए थे ? अवश्य ही हुए थे।

भावार्थ—माङ्गलिक पदार्थ होनेसे राजा जयकुमारके लिये दूब भेट की गई ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसने अपने श्वासोच्छ्वास रूप प्राणोंको नियन्त्रित नही किया–नही रोका, वह क्या अन्य प्राणियोको अपने वशमे कर सकेगा ? अर्थात् नही कर सकेगा। ऐसा विचार करके ही अपने दोनो हाथोंसे जीव–पृथिवी अथवा अन्य प्राणियोको आक्रान्त करने वाले जयकुमारने श्वासोच्छ्वासरूप प्राणोको नियन्त्रित करनेका प्रयत्न किया था। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम किया ॥ १३ ॥

ध्यायन् सुचित्ते जिनराजमुद्रां विधूय मोहान्धमयीं स तन्द्राम् ।
जगाम मोदेन युतो जिनस्य महालयं वन्दितुमात्मवश्यः ॥१४॥

ध्यायन्नित्यादि—आत्मवश्यो जितेन्द्रियः स जयकुमार सुचित्ते शुद्धहृदये जिनराजस्य मुद्रा वीतरागदेवस्य सौम्याकृति ध्यायन् मोहान्धमयीमज्ञानान्धकाररूपां तन्द्रां प्रमाददशा विधूय दूरीकृत्य मोदेन हर्षेण युतः सहितो वन्दितुं वन्दनां कर्तुं जिनस्यार्हतो महालय विशालमन्दिर जगाम गतवान् ॥ १४ ॥

ननाम हे पाठक ! वच्मि तुभ्यं जगद्गुरुभ्यः प्रथमं पुरुभ्यः ।
विश्वैकविश्वासगुणाकरेभ्यः सोऽदूरवर्ती परमादरेभ्यः ॥१५॥

ननामेत्यादि—तत्र हे पाठक ! स्वाध्यायकारिन् ! तुभ्यमहं वच्मि यत् सर्वस्मात्कार्यक्रमात्प्रथममेव परमेभ्य आदरेभ्यो विनयभावेभ्यो न दूरे भवतीत्यदूरवर्ती भवन् विनयाचारपरायणो भवन् विश्वस्य जगतो यो विश्वासस्तस्यैक प्रधानो गुणो वृद्धिपरिणामस्तस्याकरेभ्य उत्पत्तिस्थानभूतेभ्य इत्येवं जगता प्राणिमात्राणामपि गुरुभ्य पुरुभ्यो नाम श्रीवृषभदेवेभ्यस्तीर्थकरेभ्यो ननाम नमश्चकारेति ॥१५॥

करद्वयी श्रीरिव सात्युदारा लिलिङ्ग राज्ञो हृदयं यदारात् ।
चुचुम्ब सेर्ष्येव मुखं तदानीं सद्वर्णवृत्ता धरणीव वाणी ॥१६॥

करद्वयीत्यादि—तत्र यदा वन्दनावसरे राज्ञ करयोर्द्वयी कुड्मलीभूयातिशयेनोदारा समुद्गम्य श्रीरिव यथा लक्ष्मीस्तथा राज्ञो हृदयमुरःस्थलं लिलिङ्गालिङ्गितवती यथा लक्ष्मीर्हृदि निवसति तथा सापि हृदयमुपजगाम । तदानीं तस्मिन्नेव समये ईर्ष्यया

अर्थ—वह जितेन्द्रिय राजा जयकुमार शुद्ध हृदयमे जिनराजकी सौम्यमुद्राका ध्यान करता हुआ मोहान्धरूप प्रमाद दशाको नष्ट कर वन्दना करनेके लिये विशाल जिनमन्दिर गया ॥ १४ ॥

अर्थ—हे पाठक ! मै तुम्हारे लिये कहता हूँ कि उत्कृष्ट विनयभावके निकटवर्ती–विनयशील राजा जयकुमारने सबसे पहले जगत्के श्रद्धागुणको उत्पन्न करनेके लिये खान स्वरूप जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको नमस्कार किया ॥१५॥

अर्थ—वन्दनाके समय लक्ष्मीके समान अत्यन्त उदार करद्वयी–कुड्मलाकार परिणत दोनो हाथोने राजाके हृदयका आलिङ्गन किया, अर्थात् राजा दोनो हाथ जोडकर वक्षःस्थलके निकट ले गये त। **सद्वर्णवृत्ता**–उत्तम अक्षरोसे युक्त छन्दोवाली (पक्षमे ब्राह्मणादि वर्णोके अनुरूप सदाचारसे युक्त) पृथिवीके समान

मत्सरतया सहिता सेर्ष्येव खलु भूत्वा समीचीना ये वर्णाः ककारादयो यत्र तानि वृत्तानि-च्छन्दांसि यस्यां यद्वा सन्ति समीचीनानि वर्णानां ब्राह्मणादीनां वृत्तान्याचरणानि यत्र सा वाणी भारती धरणीव शोभमाना नृपतेर्मुखं चुचुम्ब निम्नरीत्या स्तवन कर्तुमुपचक्रमे जयकुमार इति ॥१६॥

हे नाभिजातासि किलाभिजातस्सुरीतिकर्तासि सुवर्णतातः ।
न संविधातस्तव संविधातः स्मरामि नाना जगदेकतात ॥१७॥

हे नाभिजातेत्यादि—क. स स्तव इत्येव वर्णयति किल । हे नाभिजात अकुलीनत्वमभिजात कुलीन इत्येव विरोधे सति हे नाभिराजस्य जात सुपुत्र ! नामैकदेशेन नामग्रहणाद्विरोधपरिहार । सुवर्णस्य भाव सुवर्णता तस्या तसिलन्तप्रयोगः । हेमभावतोऽपि सुरीते पित्तलस्य कर्तासीति विरोधे सुवर्णतातः शोभनरूपत्वात् यद्वोत्तमवंशसम्भूतत्वात् सुरीतेः शोभनाया प्रथाया कर्तासीति यावत् । तथा हे सविधातः ! सम्यग्विधा नकारक ! किञ्च हे न सविधात इति विरोधे सति हे सम्यग्विधानकारक ! अत एव तव सविधा समीचीनोपमास्ति किलेति परिहारः । तथा हे जगतामेकतात ! अद्वितीयगुरो ! तव नाना स्मरामि बहुप्रकारा स्तुतिं करोमि किल । विरोधाभासो ऽलङ्कारः ॥१७॥

तवर्षभस्यापि नरोत्तमस्य मरुप्रभूतेः स्विदपांशुलस्य ।
सतोऽमलानां हरितोहितस्य यजेऽङ्घ्रिपद्मद्वितयं जिनस्य ॥१८॥

वाणी—सरस्वतीने ईर्ष्याभावसे ही मानो राजाके मुखका चुम्बनकर लिया, अर्थात् राजाने अपने मुखसे प्रशस्त वर्ण और छन्दो वाली स्तुतिका पढना प्रारम्भ किया ॥१६॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप **न अभिजात**–अकुलीन होकर भी **अभिजात**–कुलीन हो। यह विरोध है, परन्तु **हे नाभिजात** ! आप नाभि राजाके पुत्र हो तथा **अभिजात**–कुलीन हो, ऐसा अर्थ करनेसे विरोधका परिहार हो जाता है। आप **सुवर्णतात**–सुवर्णपनेसे युक्त होकर भी **सुरीति**–पीतलके कर्ता है, यह विरोध है, परन्तु हे भगवन् ! आप सुन्दर वर्ण रूप अथवा वशके सद्भावसे सहित होनेके कारण **सुरीति**–अच्छी प्रथाके कर्ता हैं। तथा हे **संविधातः** ! अच्छी विधिके कर्ता होकर भी **न संविधातः** ! अच्छी विधिके करने वाले नही है, यह विरोध है, परन्तु **हे संविधातः** ! अच्छी विधिके कर्ता होकर भी आपकी **संविधा**–उपमा नही है। तथा हे **जगदेकतात** ! जगत्के अद्वितीय गुरु होकर भी आप **नाना**–अनेक रूप है, यह विरोध है, परन्तु नाना–अनेक प्रकारसे मैं आपका स्मरण करता हूँ–ध्यान करता हूँ, ऐसा अर्थ करनेसे विरोधका परिहार हो जाता है ॥१७॥

तवर्षभस्येत्यादि—हे नाथ ! तवर्षभस्यापि बलीवर्दस्यापि नराणामुत्तमस्येति विरोधे तव ऋषभस्य श्रेष्ठस्येति तत्परिहारः । तथा मरौ रेणुप्राये प्रदेशे प्रभूतिरुत्पत्तिर्यस्येति तस्य स्थितवपि पुनरपाशुलस्य न पाशु धूलि लाति स्वीकरोतीति तस्यैवं विरोधे सति मरोरिति मरुदेव्याः प्रभूतिरुत्पत्तिर्यस्य तस्यापि चापाशुलस्याब्यभिचारिणः शीलव्रतधारिण इति परिहारः । तथा मलानां निर्मलानामुज्ज्वलानां मध्ये सतो बहुलमस्यापि हरितो हरिद्वर्ण इत्येवमूहितस्य तर्कितस्येति विरोधे सति अमलाना रलयोरभेदादमराणां देवानां हरित इन्द्रादपि सतो हितस्य कल्याणकर्तुरिति परिहारः । जिनस्य तवाङ्घ्रिपद्मयोश्चरणकमलयोर्द्वितय यजे पूजयामि ॥१८॥

तुल्यो न भानुर्भवतोऽखलस्य शशी कलङ्कादपि दूरगस्य ।
सिन्धुर्गभीरोऽप्यजडाशयस्य तुङ्गोऽपि मेरुर्हृदि कोमलस्य ॥१९॥

तुल्य इत्यादि—हे नाथ ! भवतो भास्वरस्य तव भानुर्भास्वरोऽपि सन् किलाखलस्य सतो हितकारिणस्तव तुल्यो भवितु नार्हति, यतः स खरस्तापकरो भवतीति हेतो । तथा कलङ्कात् पापपङ्कादतिदूर गच्छतीति तस्य भवतः शशी चन्द्रमा अपि तुल्यो न भवति, यत स कलङ्की भवति । तथा गभीरोऽपि सिन्धुः समुद्रो न जडाशयो मूर्खभावो वर्तते यस्य तस्याजडाशयस्य बुद्धिमतो भवतस्तुल्यो न भवति, यतः स जडाशयो जलसग्रहरूपो भवति । तथा तुङ्ग उच्छ्रायरूपोऽपि मेरुर्नाम पर्वतः स हृदि कोमलस्य मृदुलस्वभावस्य भवतस्तुल्यो न भवति, यतः सोऽन्त काठिन्यरूपो वर्तते ॥१९॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो ऋषभ–बैल होकर भी नरोत्तम–नरश्रेष्ठ है, (परिहार पक्षमे जो श्रेष्ठ होकर मनुष्योमे उत्तम है), जो मरुप्रभूति–रेणुबहुल मरुस्थलमे उत्पन्न होकर भी अपाशुल–धूलिके सम्बन्धसे रहित है, (परिहार पक्षमे मरुदेवीसे उत्पन्न होकर शीलव्रतसे सहित है), जो अमलाना सत–उज्ज्वल शुक्ल पदार्थोमे विद्यमान रहकर भी हरितोहितस्य–हरिद्वर्ण समझे गये है, (परिहार पक्षमे अमल–अमर–देवोके हरित –इन्द्रसे भी अधिक श्रेष्ठ हितकारी है), ऐसे आप जिनराजके चरण युगलकी मैं पूजा करता हूँ ॥१८॥

अर्थ—हे नाथ ! भास्वर–देदीप्यमान होनेपर भी भानु–सूर्य आपके तुल्य नही है, क्योकि आप अखल (अखर) हितकारी है—कोमल प्रकृतिवाले है और भानु खर–तीक्ष्ण प्रकृति वाला है । आप कलङ्क–पापसे दूरगामी है, अत चन्द्रमा भी आपके तुल्य नही है, क्योकि वह कलङ्कसे सहित है । समुद्र गम्भीर–गहरा होकर भी आपके तुल्य नही है, क्योकि आप गम्भीर धैर्यवान् होनेके साथ अजडाशय–प्रबुद्ध आशयसे सहित है और समुद्र जडाशय–जलके सग्रह रूप है । इसी प्रकार मेरु पर्वत तुङ्ग–ऊँचा होकर भी आपके तुल्य नही है, क्योकि आप

प्रजा प्रजागर्ति तवोदयेन निशा हि सा नाशमनायि येन ।
भानुः सदा नूतन एव भासि कोकस्य हर्षोऽपि भवेद्विकाशी ॥२०॥

प्रजेत्यादि—हे नाथ ! तवोदये प्रजा सम्पूर्णाऽपि जनता प्रजागर्ति **प्रतिबुद्धा भवति कर्तव्यपरायणा** प्रभवति । किञ्च, निशा रात्रिरज्ञानान्धकाररूपा हीति **निश्चयेन येन तवोदयेन** नाशमनायि नीता । तथा चाकस्य पापस्य हर्षं क किल विकाशि **विकशितो भवति न कोऽपि भवति** । यद्वा कोकस्य चक्रवाकस्य हर्षो विकाशी भवति । **एव त्व सदा नूतनो** नित्यनवीनो भानुर्भासि शोभसे । स सूर्यो रात्रावस्त याति त्व तु **सर्वदैव वर्तस इति** ॥२०॥

विपद्धतिः सा तव पद्धतिर्या न मानवीर्या बहुमानवीर्या ।
श्रीवर्द्धमानोऽसि न वर्द्धमानः समस्ति ते विस्मयकृद्विधानः ॥२१॥

विपद्धतिरित्यादि—हे नाथ ! या तव पद्धति पदवी सा विपद्धतिर्विकृता पद्धति- **रिति विरोधे सति सा** विपदामापत्तीना हतिर्विनाशो यया भवतीत्येव परिहार. । **तथा बहुमान वीर्यं सामर्थ्यं यस्या सा** बहुमानवीर्यापि न मान यस्या **वीर्यस्येति न मानवीर्येति विरोधे सति तवेर्यागतिर्बहुमानवीर्या सती मानवी न भवति** मनुष्यसम्भवा नास्ति, किन्तु **दिव्या भवतीति परिहार** । तथा त्व श्रीवर्द्धमानोऽपि सन् न वर्द्धमानोऽसीति **विरोधे**

तुङ्ग—उदार प्रकृति होनेके साथ हृदि कोमल-हृदयमे कोमल है, परन्तु मेरु पर्वत हृदयमे कोमल न होकर अन्त कठोर है ॥१९॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सदा नूतनतामे युक्त सूर्य ही है, क्योकि आपके **उदयसे** प्रजा प्रतिबुद्ध होती है, (वर्तमान सूर्यके उदयमे प्रजा जागृत होती है) **प्रतिबुद्ध**-ज्ञानी अज्ञानरूपी रात्रि नष्ट हो जाती है (वर्तमान सूर्यके **उदयसे मात्र** तमोमयी रात्रि नष्ट होती है, अज्ञानमयी नही) और आपके उदयसे **अक-पाप** अथवा दु खका कौन सा विकास रह जाता है, अर्थात् कोई भी नही (**वर्तमान** सूर्यके उदयसे पाप या दु खका नाश नही होता) । तात्पर्य यह है कि **आप नित्य** नया रूप धारण करने वाले अद्वितीय सूर्य है ॥२०॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपकी जो पद्धति-पदवी है, वह **विपद्धति**-विकृत **पद्धति** है (परिहार पक्षमे विपद्-आपत्तियोका नाश करने वाली है) । **बहुमानवीर्या**- अत्यधिक प्रमाण वाले वीर्य-सामर्थ्यसे सहित होकर भी **न बहुमानवीर्या**- अत्यधिक प्रमाण वाले वीर्यसे सहित नही है, (परिहार पक्षमे आपकी **जो ईर्या**- गति है, वह **मानवी**-मनुष्य सम्बन्धी नही है, अपितु दैवी-दिव्य है) तथा आप **श्रीवर्द्धमान**-लक्ष्मीसे वर्धमान होकर भी श्रीवर्धमान नही है (परिहारपक्षमे

सति नवो नवीनश्चर्द्धमानः समृद्धस्वभावश्च भवतीति परिहारः । इत्येवंरूपेण ते विधा प्रकारो नः खल्वस्माकं विस्मयकृद्भवत्याश्चर्यायास्तीति ॥२१॥

वृषध्वजायापि दिगम्बराय भवच्छिदे भूतहितंकराय ।
देवाधिदेवाय नमो जिनाय न किन्तु लब्धाजिनचर्मकाय ॥२२॥

वृषध्वजायेत्यादि—वृषो नाम बलीवर्दो ध्वजे यस्य स वृषध्वजो नाभेयस्तीर्थकरो महादेवोऽपि तस्मै । तथा दिश अम्बराणि भवन्ति यस्मै तस्मै । तथा भव नाम ससार छिनत्तीति तस्मै भवच्छिदे । तथा भूताना प्राणिमात्राणा पक्षे पिशाचाना हित करोतीति तस्मै । तथा देवानामिन्द्रादीना देवायाराध्याय जिनाय तीर्थंकरपरमदेवाय नमोऽस्तु, किन्तु पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायैव लब्ध परिधारितमजिन चर्मैवाजिनचर्मक येन, तस्मै लब्धाजिनचर्मकाय महादेवनामकाय नमस्कारो न भवतु खलु इति ॥२२॥

सरस्वति ! श्रीपतिदर्शनाय सुदक्षिणा त्व गुणलक्षणाय ।
विज्ञैरविज्ञैरपि सेव्यमाना पुनीतपुण्यैकवरप्रदाना ॥२३॥

सरस्वतीत्यादि—एव श्रीवृषभदेवाराधनानन्तर सरस्वती स्तोतुमारभते तावत् । हे सरस्वति ! त्व श्रीपतेर्भगवतो दर्शनाय, कीदृशाय ? गुणाना ज्ञानादीना धर्माचारादीना लक्षण यत्र भवति खलु तस्मै । सुदक्षिणातिशयचतुरा यद्वा शोभना दक्षिणा नाम दिशा यया सा सुदक्षिणा, यतो मध्ये श्रीपतेर्भगवतोऽवस्थितिर्भूत्वा तस्य दक्षिणदिग्भागे सरस्वत्या वामभागे च लक्ष्म्या. परिस्थितिर्भवतीति किलाम्नायोऽस्ति । ततस्त्व पुनर्विज्ञैर्ज्ञानिभिः

श्रीवर्द्धमान होकर नव + अर्धमान–नित्य नवीन समृद्ध स्वभाव वाले है) इस तरह आपकी यह विधा–पद्धति हम सबको आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है ॥२१ ।

अर्थ—हे भगवन् ! आप वृषध्वज है–वृषभ चिह्न वाली ध्वजासे सहित है, (पक्षमे वृषभवाहन है), दिगम्बर–दिशा रूप वस्त्रोसे सहित अर्थात् नग्नमुद्राके धारक है (पक्षमे नग्न हैं), भवच्छिद्–ससारका नाश करने वाले है (पक्षमे भव नामक असुरका सहार करने वाल हैं), भूतहितकर–प्राणीमात्रका हित करने वाले है (पक्षमे पिशाचोका हित करने वाले है और देवाधिदेव है–सब देवोमे प्रभुत्व सपन्न देव है (पक्षमे देवोके आराधनीय है) । इस प्रकार महादेवके साथ नामसादृश्य होनेपर भी मेरा जिनके लिये नमस्कार है, किन्तु जो अजिन–चर्मको धारण करने वाले है, उन महादेवको मेरा नमस्कार नही है ॥२२॥

अर्थ—अब भगवान् ऋषभदेवको स्तुतिके बाद सरस्वती–जिन वाणीकी स्तुति करते है । हे सरस्वति ! तुम श्रीपति–जिनेन्द्रदेवका वह दर्शन कराने वाली हो, जो कि सम्यग्ज्ञान तथा धर्माचरण आदि लक्षणासे सहित है । तुम अतिशय चतुर अथवा उदार हो, ज्ञानी तथा अज्ञानी–सभी जनोके द्वारा

कृतज्ञताप्रकाशनार्थमथाविज्ञैर्मूर्खैरपि ज्ञानसम्पादनार्थं सेव्यमानासि, यतः पुनीतस्य पुण्यस्यैक प्रधान वर यद्वा पुनीत पुण्य विद्यते यस्य तस्मै जनायैकं वर प्रददातीति सा ॥२३॥

कलापि नाथेन च वाह्यमाना करोति भद्राणि जनस्य नाना ।
दूरेचराः कश्मलकाद्रवेया भवन्ति यस्मादथहानुमेया ॥२४॥

कलापीत्यादि—तत्र मयूरस्योपरि विराजमाना चतुर्भुजावती किलैकस्मिन् करे वीणां द्वितीये माला तृतीये पुस्तक सन्दधाना चतुर्थं करमङ्के समारोपितवतीति सरस्वत्या आलङ्कारिका मूर्तिराम्नायेन प्रसिद्धास्ति । तामाश्रित्य स्तूयते तावत् । यत्किल या सरस्वती कलापिनां मयूराणा नाथेन शिखण्डिशिरोमणिना वाह्यमाना जनस्य सर्व-साधारणस्यापि नाना भद्राणि कल्याणानि करोति, कश्मलान्येव काद्रवेयाः सर्पास्ते पाप-रूपसर्पा दूरेचरा भवन्ति, यस्मात्खलु मयूरात् सर्पाणा भीतिरिति । अथ सन्देहार्थे त हन्ती-त्यथहा सन्देहहरा । अनुमेयानुमानकार्ययोग्या च भवति । किं वा या मेऽथहा सन्देहहरा भवति, नु इति चाव्ययमनुनयार्थे वर्तते खलु । अत्र तत्त्वार्थाश्रयणे तु कमात्मानं लपतीति कलापिनो योगिजनास्तेषा नाथेन गणधरदेवेन मयूरपिच्छधारकेण निर्वाह्यते वाणीति ॥२४॥

बिभर्ति वीणां प्रथमाभिधायां सतामुदन्तोदितसम्पदायाम् ।
समर्थितां पुण्यपरम्परायां सत्कीर्तिसंगीतपुनीतकायाम् ॥२५॥

सेवनीय-उपासनीय हो तथा पुण्यशाली लोगोको अद्वितीय वर देने वाली हो ॥२३॥

अर्थ—यहाँ सरस्वतीकी लोकप्रसिद्ध मूर्तिका वर्णन किया गया है। लोकमे प्रसिद्ध है कि सरस्वती मयूरवाहिनी है, उसके चार हाथ हैं। वह एक हाथमे वीणा, दूसरे हाथमे माला, तीसरे हाथमे पुस्तक लिये हुए है तथा चौथा हाथ गोदमे रक्खे हुए है। यह सरस्वती श्रेष्ठ मयूरके द्वारा वाह्यमान है, जनसमूह-का कल्याण करनेवाली है, पापरूपी साप इससे दूर रहते हैं। यह अथहा-सन्देहको नष्ट करने वाली है तथा अनुमेया-अनुमान करने योग्य है। अध्यात्म दृष्टिसे **कलापिनाथ** का अर्थ है आत्माकी चर्चा करनेवाले मुनियोके नाथ-गणधर देव अथवा कलाप-मयूर पिच्छके धारक मुनिराज। इनके द्वारा ही जिन वाणीकी परम्परा चलती है। यह जिनवाणी ही जनसाधारणका कल्याण करने-वाली है, इस जिनवाणीके अध्ययन-अध्यापनसे ही पापरूपी सर्प दूर भागते हैं, यह जिनवाणी ही सन्देहको नष्ट करने वाली है तथा सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थ इसीके द्वारा अनुमेय हैं—जाने जाते हैं ॥२४॥

बिभर्तीत्यादि—या सरस्वती प्रथमाभिधायां भुजायां वीणां बिभर्ति धारयति। कीदृशीं ताम्? सता सभ्यानामुदन्तेषु वृतान्तेषु उदिता या सम्पदा सा यस्यामस्ति तस्यां पुण्यस्य परम्परायां तेषां सती या कीर्तिस्तस्या. संगीतमेव पुनीत. कायो यस्या यद्वा सत्कीर्तिसगीतेन पुनीत. पवित्रीकृत. कायो यस्यास्तस्या समर्थितामर्थवतीमिति। अर्थात् प्रथमानुयोगो नामेतिवृत्तप्रसावो यस्मिन् महता चरितमुल्लिखित यस्योत्कीर्तन वीणोपलक्षितेन वाद्यप्रपञ्चेन सगीतद्वारा क्रियते तदभिव्यक्त्यर्थं सरस्वतीकरे प्रथमे वीणेति यावत् ॥२५॥

करे द्वितीयेऽञ्चति पुस्तकं च स्ववाहनीभूतशिखण्डिवंशा।
अङ्कानिवाध्येतुमपेतशङ्कानहेतुवादस्य किलाकलङ्कान् ॥२६॥

कर इत्यादि—सरस्वत्या. प्रसादस्य सारस्वतस्य श्रुतस्य तावद् द्वावेव विभागौ मुख्यतया हेतुवादाहेतुवादरूपौ भवत. खलु। तत्र हेतुवादो नाम युक्तिग्राह्यः, किन्त्वहेतुवादस्तु गुरुमुखादेवावगम्यते। न तत्र युक्तिः प्रवर्तते। तत एव तस्य सिद्धान्त इत्यपर नाम भवति। तत्सूचनार्थं सरस्वत्या द्वितीये करे पुस्तकमित्याम्नायस्तदेव वर्ण्यते। स्वस्य वाहनीभूतशिखण्डिना मयूराणा वशो यया सा सरस्वती किलाहेतुवादस्याकलङ्कान् निर्दोषानङ्कान् सकेतान्, अपेता विनष्टा शङ्का येभ्यस्तानध्येतु पठितु स्वस्य द्वितीये करे पुस्तकमञ्चति पूजयति ॥२६॥

अर्थ—जो सरस्वती अपनी पहली भुजामे उस वीणाको धारण करती है, जो सत्पुरुषोके वृत्तान्तो–इतिहासोंमे कथित सम्पदासे युक्त पुण्य परम्परामे समर्थित है, अर्थात् पुण्यशाली मनुष्योके जीवन वृत्तान्तका कथन करनेके कारण जो सार्थक है तथा समीचीन कीर्ति अथवा सत्पुरुषोके सगीत–गुणगानसे जिसका शरीर पवित्र है।

भावार्थ—यहाँ कविने वीणाको जिनवाणीके प्रथमानुयोगका प्रतीक माना है। जिसमे तीर्थंकर चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र तथा अन्य पुण्यशाली पुरुषोंका चरित–जीवनवृत्त कहा गया है, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। इसका संगीतमय कथन होता है, अत इस अनुयोगको वीणा कहा गया है ॥२५॥

अर्थ—जिसने मयूरवशको अपना वाहन बनाया है, ऐसी सरस्वती अपने द्वितीय हाथमे अहेतुवादके निःशङ्क एवं निष्कलङ्क–निर्देशोका अध्ययन करनेके लिये पुस्तक धारण करती है।

भावार्थ—जिनवाणीका द्वितीय अनुयोग करणानुयोग कहलाता है। इसमे अयुक्तिगम्य सिद्धान्त तथा लोक-अलोक आदिका वर्णन गुम्फित है। इस अनुयोगका प्रतीक पुस्तक है। अत. सरस्वती विशिष्ट अध्ययनके लिये अपने द्वितीय

तृतीयबाहावुपयुक्तदाम-सुमेषुमे विद्धिधया स्वधाम ।
चारित्रवार्धेस्तरलांस्तरङ्गानाख्यातुमेवानुकरोत्यभङ्गान् ॥२७॥

तृतीयबाहाविति—मे मम विदो बुद्धया विधया प्रकारेण सा सरस्वती स्वस्य तृतीयबाहौ किलोपयुक्तं यद्दाम कुसुममाल्य तस्य सुमेषु पुष्पेषु किल चारित्रवार्द्धे श्चरणानुयोगो नाम समुद्रस्याभङ्गान्निरन्तरायान् तरलान् मञ्जुप्रायास्तरङ्गानाख्यातुं परिगणयितुमेव तावत् स्वस्य धाम तेज.प्रभावमनुकरोतीति । चरणानुयोगवर्णितस्याचारस्य प्रभावेण मनुष्यस्य कीर्ति· कुसुमगन्धवत् प्रसरति किलेति व्यञ्जना ॥२७॥

उत्सङ्गमध्यप्रहितैकपाणिस्तत्त्वार्थसार्थानुभवे च वाणी ।
ध्यानैकतानं मनसो विधानं कर्तुं सदैवादिशतीव सा नः ॥२८॥

उत्सङ्गत्यादि—उत्सङ्गस्याङ्कस्य मध्ये प्रहित. स्थापित एकः पाणिर्यया सा सरस्वती तत्त्वार्थाना जीवादीना सार्थ· समुदायस्तस्यानुभवेऽनुमनने मनसश्चित्तस्य विधान प्रकार ध्यानैकतान निश्चलं कर्तुमेव नोऽस्मादृशान् सदा सर्वदैवोपदिशतीव खलु । पदार्थानां स्वरूप मनसा चिन्त्यते, तदर्थं च पद्मासनीभूयाङ्के करधारणमिति ध्यानमुद्रा ॥२८॥

हाथमे पुम्नक धारण करती है ॥२६॥

अर्थ—सरस्वती अपनी तृतीय भुजामे जो उपयुक्त–उपयोगमे आनेवाली मालाको धारणकर रही थी, उसके फूलोमे वह चरणानुयोगरूप समुद्रकी मनोहर तथा अभङ्ग–सन्ततिबद्ध तरङ्गो–चारित्रके विकल्पोको गिननेके लिये अपनी बुद्धिके अनुरूप अपने तेजको ही धारण कर रही हो, ऐसा जान पडता है ।

भावार्थ—सरस्वतीके तृतीय हाथमे जो माला थी, वह फूलोके बहाने चारित्रके विकल्पोको ही मानो प्रकट कर रही थी ।।२७।।

अर्थ—जिसने गोदके मध्यमे एक हाथ रखा है, ऐसी सरस्वती मानो हम सबको सदा यही आदेश देती है कि मनकी प्रवृत्तिको तत्त्वसमूहके चिन्तनमे ध्यानैकतान–एकाग्र करो ।

भावार्थ—गोदमे स्थापित चतुर्थ हाथसे सरस्वती मानो यह उपदेश दे रही है कि अपने मनको सदा तत्त्वचिन्तनमे निमग्न करो। यहाँ चतुर्थ हाथकी मुद्रासे तत्त्वार्थका वर्णन करनेवाले द्रव्यानुयोगका वर्णन किया है। इस सन्दर्भमे यहाँ जिनवाणी रूपी सरस्वतीके चार अनुयोग रूप हाथो तथा उनके कार्यकलापका निदर्शन किया गया है। यह प्रशस्त कल्पना है ॥२८॥

अनेकधान्यार्थकृतप्रवृत्तिर्जडाशयस्योद्धततां समत्ति ।
हे शारदे ! शारदवत्तवायः समस्तु मेघस्य विनाशनाय ॥२९॥

अनेकेत्यादि—हे शारदे ! सरस्वति ! तवायनमेवायो मार्ग. शरदोऽसौ शारदस्तद्वत् अस्ति य किलानेकधार, बहुप्रकारेणान्यस्यार्थं कृता प्रवृत्तिर्येन स त्वदाय', शरन्मार्गश्चाने-कानि च यानि धान्यानि शालिप्रभृतीनि तेभ्यस्तदर्थं कृता प्रवृत्तिर्येनेति, यश्च जडाशयस्य मूर्खलोकाभिप्रायस्योद्धततामुद्दण्डपरिणतिं ममत्ति भक्षयति निराकरोति, पक्षे जडाशयस्य तटाकादेरुद्धततामुद्वेलभाव समत्ति परिहरति, स त्वदायो हे सरस्वति ! मेऽघस्य पापस्य, पक्षे मेघस्य जलदस्य विनाशनाय परिहरणाय समस्तु तावत् ॥२९॥

त्वं कोविदानां हृदि दीपिकासि न को विदा नानुमतस्त्वदाशीः ।
नानुग्रहं ते भुवि विस्मरामि सस्नेहवर्तित्वमहं दधामि ॥३०॥

त्वमित्यादि—हे सरस्वति ! त्व तावत् कोविदाना बुद्धिमता हृदि चित्ते दीपिकासि समस्तवस्तुसार्थप्रकाशकर्त्री भवसि, तवाशीर्वादो यस्मै स त्वदाशीर्ना मनुष्य स क' खलु विदा परिज्ञानेनानुमन समर्थितो नास्ति, किन्तु सर्वोऽप्यस्ति । तस्मादहमिह भुवि पृथिव्या तेऽनुग्रह तव कृपापरिणाममनुसरण च न विस्मरामि, किन्तु स्नेहेन प्रेम्णा सहितो वर्तते स सस्नेहवर्ती तस्य भावम्, पक्षे स्नेहेन तैलादिना सहिता या वर्तिर्दशा सस्नेहवर्तिस्तस्या भावमिति । एव सरस्वतीस्तवन विधायेदानी लक्ष्मी स्तोतुमारभते ॥३०॥

अर्थ—हे सरस्वति ! तुम्हारा यह मार्ग–कार्यकलाप शरद् ऋतुके समान है, क्योकि जिम प्रकार शरद् ऋतु **अनेकधान्यार्थकृतप्रवृत्ति**–अनेक प्रकारके अनाजो के उत्पन्न करनेमे प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी **अनेकधा-अन्य-अर्थकृतिप्रवृत्ति**–अनेक प्रकारके अर्थ–अभिधेय, व्यङ्ग्य और ध्वन्य अथवा अनेक मनुष्योके प्रयोजन सिद्ध करनेमे प्रवृत्त है और जिस प्रकार शरद् ऋतु **जडाशय**–जलाशयोकी उद्धतता–उद्वेलावस्थाको नष्ट करती है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी जडाशयोद्धतता–मूर्ख मनुष्योके अभिप्राय सम्बन्धी उद्दण्डताको नष्ट करती है। इस तरह जिस प्रकार शरद् ऋतु मेघ–जलदका नाश करनेके लिये है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी मे अध–मेरे पापोका नाश करनेके लिये हो ॥२९॥

अर्थ—हे सरस्वति ! तुम विद्वानोके हृदयमे दीपिकारूप हो, अर्थात् तुम्हारे ही आलोकमे उन्हे हेयोपादेय पदार्थोका परिज्ञान होता है । तुम्हारे आशीर्वादसे सहित ऐसा कौन मनुष्य है, जो ज्ञानसे अनुमत–समर्थित न हो, अर्थात् कोई नही है । पृथिवीपर मै तुम्हारे उपकारको नही भूलता हूँ–कभी भी तुम्हारे उपकार-को विस्मृत नही कर सकता । तुम्हारे विषयमे मै स्नेहपूर्ण–प्रेमपूर्ण वृत्तिको

धर्मार्थकामामृतधामबाहुचतुष्टयं सन्दधतीं समाहुः ।
रमां समाराधयितुं प्रवृत्तः प्रसूनतुल्येन हृदानुवृत्तः ॥३१॥

धर्मार्थेत्यादि—धर्मश्चार्थश्च कामश्चामृतधाम मोक्षश्चेति धर्मार्थकामामृतधामानि, तान्येव बाहवस्तेषा चतुष्टय सन्दधती यां जना समाहुस्ता रमा नाम लक्ष्मी समाराधयितुं सस्तोतु प्रवृत्तोऽभूत् स जयकुमारो नाम राजा, य प्रसूनतुल्येन प्रफुल्लितेन हृदा चित्तेनानुवृत्तो युक्त आसीदिति । लक्ष्मी. कमलासना चतुर्भुजवती चेति किलालङ्कारिकमूर्तिमतीं लक्ष्मीमनुजानन्ति जना , किन्तु न जैनाम्नायविव इति केषाञ्चिदभिप्राय: । स न समीचीनो यत उपर्युक्ताकारा लक्ष्म्या मूर्ति सनातनी जैनानामपि सम्मतैवास्ति। सा किलाकृत्रिमचैत्यालयेष्वपि भगवतो वामपार्श्वेऽभिवर्तमानेत्येव श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिभिरप्यभिहित त्रैलोक्यसार शास्त्रे । किञ्च, तीर्थंकरजननीभिरपि स्वप्नषोडश्यामीक्ष्यते लक्ष्मीरनादिपरम्परयेति नि शङ्कमस्माक चेतस्तावत् ॥३१॥

वृद्धचै प्रभावेण सुबुद्धिदेन याङ्गीकृतर्द्धि किल सिद्धिदे ! नः ।
न कामितास्थामिति कामितान् तव तु प्रसादाज्जगदेकमातुः ॥३२॥

वृद्धयायित्यादि—हे नोऽस्माक सिद्धिदे ! सफलतादायिनि ! तव जगतामेकमातुः प्रसादात्कृपाकटाक्षवशात् जनस्य कामिता वाञ्छापि न कामितेति विरोधे, सा वाञ्छा कामित्यास्थां श्रद्धा पूर्ति वा नेता न सम्प्राप्ताभूत्, या त्व किल सुबुद्धिदेन सन्मतिदायकेन

धारण करता हूँ । अथवा यतश्च तुम दीपिकास्वरूप हो, अत मे उसकी तैल सहित बत्ती हूँ ॥३०॥

अर्थ—तदनन्तर पुष्पतुल्य-कोमल हृदयसे युक्त जयकुमार राजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार भुजाओको धारण करने वाली लक्ष्मीकी आराधना करनेके लिये उद्यत हुए ।

भावार्थ—लक्ष्मीकी मूर्ति लोककल्पित है। लक्ष्मी भवनवासिनी देवी है । वह परमार्थसे आराधनीय नही है । जिनागमके अनुसार तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके भेदसे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी ही आराधनीय-पूजनीय है । यहाँ कविने जो वर्णन किया है, वह लाकरीतिको लक्ष्यमे रखकर किया है ॥३१॥

अर्थ—हे हमारी सिद्धिको देनेवाली ! आप जगत्की अद्वितीय माता है, आपके प्रसादसे मनुष्यकी कामिता-वाञ्छा पूर्ण नहीं हुई यह विरुद्ध है, इसका परिहार ऐसा है कि आपके प्रसादसे मनुष्यकी **कामिता**-वाञ्छा, **काम्**-किस **आस्था**-श्रद्धा अथवा पूर्तिको **न इता**-प्राप्त नही हुई, अर्थात् सब प्रकारकी श्रद्धा

प्रभावेण वृद्धयै वृद्धिकरणार्थमङ्गीकृता स्वीकृता ऋद्धिर्योगशक्तिः सम्पत्तिर्वा यया सा सम्भवसि ॥३२॥

चेतोऽम्बुजाते भुवनाधिपस्य रमे ! विकासं गतवत्यवश्यम् ।
दिगन्तरव्यापिसुगन्धयुक्ते पद्मालयेत्यङ्कवती सदुक्तेः ॥३३॥

चेत इत्यादि—हे रमे ! त्वं दिगन्तेषु व्याप्नोतीति दिगन्तव्यापी तेन तादृशेन सुगन्धेन कीर्त्या यद्वा परिमलेन युक्ते भुवनानां लोकानामधिपस्य त्रिलोकनायकस्य चेतश्चित्तमेवाम्बुजातं कमलं तस्मिन्, यद्वा भुवनानां जलानामधिपस्य समुद्रस्य चेत इहाम्बुजाते वारिरुहे, कीदृशे तस्मिन्निति चेदवश्यमेव विकासं गतवति, अङ्कवती निवासशालिनीति सभ्यानामुक्तिः कथनवार्ता तस्या वशात् त्वं पद्मालया भवसि तावत् ॥३३॥

मातस्त्वमिष्टास्युपलस्वभावा कैः पूरुषैः कैर्जलराशिजा वा ।
विभासि विश्वप्रणयप्रदा वा वयं प्रतीमः खलु बुद्धिनावा ॥३४॥

मातस्त्वमित्यादि—हे मातस्त्वं कैश्चित्पुरुषैरुपलस्वभावा हीरकादिरूपा तावदिष्टासि सम्मानिता भवसि। तथैव कैश्चित्पूरुषैः पुनर्जलराशिजा समुद्रसमुद्भवा मौक्तिकादिस्वरूपाभीष्टासि। किन्तु त्वं वास्तविकतया विश्वस्य जगन्मात्रस्य यः खलु प्रणयः प्रेमभावस्तं प्रददातीति विश्वप्रणयप्रदा विभासीत्येव वयं खलु निश्चयेन बुद्धयेव नावा प्रतीमो जानीमहे। यतो ये विश्वप्रेमवन्तो जनास्सन्ति, तेऽभीष्टसम्प्राप्तितया सुखिनो भवन्ति, ये तु तद्विपरीतास्ते पुनः रत्नादिषु सम्भवत्स्वपि कलहादिवशेन दुःखिन एव सन्तीति दिक् ॥३४॥

या पूर्तिको प्राप्त हुई है। ऋद्धि-योगशक्ति अथवा सम्पदाको स्वीकृत करनेवाली आप अपने सन्मतिदायक प्रभावसे वृद्धि करनेके लिये अङ्गीकृत है, अर्थात् सबकी यह मान्यता है कि आप सब प्रकारकी वृद्धि करनेवाली है ॥३२॥

अर्थ—हे रमे ! हे लक्ष्मि ! आप दिशाओके अन्तरालमे व्याप्त होनेवाली सुगन्ध-कीर्ति अथवा परिमलसे युक्त एवं विकसित लोकनायकके चित्तरूपी कमलमे निवास करती है। अतः सत्पुरुषोके कथनानुसार आप 'पद्मालया' इस नामसे सहित है ॥३३॥

अर्थ—हे मातः ! तुम किन्ही पुरुषोके द्वारा हीरा आदि रूप होनेसे उपलस्वभाव वाली मानी गई हो और किन्ही पुरुषोके द्वारा रत्न-मोती आदि रूप होनेसे समुद्रजा कही जाती हो, परन्तु हम बुद्धिरूपी नौकाके द्वारा जानते है कि तुम प्राणिमात्रके लिये प्रणय-प्रेम प्रदान करनेवाली हो, अर्थात् तुम प्राणीमात्रके हृदयमे वास करती हो। भाव यह है कि सभी लोग आपको हृदयसे चाहते हैं।

निसर्ग एषोऽपि तवाथ भातु विसर्गलोपं सहसे न जातु ।
उद्दिश्यमाना त्रिजगद्धिता या हे लक्ष्मि! मां मातृवदाशु पायाः ॥३५॥

निसर्ग इत्यादि—हे लक्ष्मि ! तवैष निसर्गः स्वभाव एव भातु यत्किल त्व वैसर्गस्य स्वरूपापेक्षया त्यागलक्षणस्य दानस्य शब्दस्वरूपापेक्षया तु पुरोभागवर्तिनो बिन्दुद्वयाकारस्य लोपमभाव न सहसे, यतो व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या लक्ष्मीतिशब्दस्य प्रथमैकवचने सम्प्राप्तस्य विसर्गाभावस्य लोपो न भवति, यथा नद्यादिशब्दस्य भवति । तथा च ये लक्ष्मीवन्तो भवन्ति ते दानशीला अपि स्वभावत एव सम्भवन्तीति यावत् । हे मातस्त्वमुद्दिश्यमाना नाममात्रतोऽपि निर्दिष्टा सती त्रयाणामपि जगता हित पथ्य यत्र सा त्रिजगद्धिता । तस्मात्त्व मामपि मातृवदाशु शीघ्रमेव पाया· ॥३५॥

यस्याश्च कल्याणमहत्त्वलाभादिमेषु वर्णेष्वभिधाश्रिताभा ।
त्रिवर्गिभिः साम्प्रतमभ्युपास्या हे देवि। मे त्वं मनसि स्थिरा स्याः ॥३६॥

यस्या इत्यादि—कल्याण नाम मङ्गल महत्व नाम गौरव लाभो नाम वाञ्छितप्राप्तिस्तृप्तिभावस्तेषां त्रयाणामादिमेषु वर्णेषु यस्या अभिधयाऽऽख्ययाश्रिताऽऽभा वर्तते 'कमला' नामेत्येवरूपा, सा त्व हे देवि ! त्रिवर्गिभिर्धर्मार्थकामपुरुषार्थपक्षपातिभिर्गृहस्थैः साम्प्रतमधुनापि, अभ्युपास्याऽऽराधनीया सम्भवसि, सा त्वं मे मनसि चित्तेऽपि स्थिरा स्याः सम्भवेरिति ॥३६॥

भावार्थ—परमार्थसे न हीरा आदि लक्ष्मी है और न मोती आदि । अत आपका न पृथिवीके भीतर निवास है और न समुद्रके भीतर । ज्ञान-दर्शनादि अनन्तचतुष्टय ही वास्तविक लक्ष्मी है और उनका निवास प्राणिमात्रके हृदयमे है ॥३४॥

हिन्दी—हे लक्ष्मि ! आपका यह स्वभाव भी सुशोभित रहे–सदा विद्यमान रहे कि आप कभी विसर्गके लोपको सहन नही करती, अर्थात् परमार्थसे आपका जो दानस्वभाव है, उसे कभी नही छोडती और शब्द स्वरूपकी अपेक्षा आप लक्ष्मी शब्दके आगे रहनेवाली विसर्गोको नही छोडती । नामोच्चारण मात्रमे आप त्रिजगत्का हित करनेवाली है, अत. माताके समान आप शीघ्र ही मेरी रक्षा करे ॥३५॥

अर्थ—जिसके नामके अक्षर कल्याण, महत्त्व और लाभ इन तीन शब्दोके आद अक्षरोमे निहित है, अर्थात् जिसका 'कमला' नाम है तथा जो धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गके धारक गृहस्थोंके द्वारा इस समय भी सेवनीय है, ऐसी हे देवि ! आप मेरे हृदयमे स्थिर रहे ।

हितैषिणी त्वं जगतां विभासि मातेव यस्मा त्पृथुपुण्यराशि ।
सुचारु वृद्धैरपि मेति नाम तव प्रदत्तं सुतरां वदाम ॥३७॥

हितैषिणीत्यादि—हे लक्ष्मि ! त्व मातेव पृथुनः पुण्यस्य राशि. समूहो यस्या. सा सती जगता समस्तानामपि प्राणिनामपि हितैषिणी सुखकर्त्री विभासि यस्मात्तस्माद्वृद्धै: कविभिरपि प्रदत्त मेति तव नाम सुतरां स्वयमपि सुचारु सुन्दरमिति वयमपि वदाम. । मातरमपि त्वामपि च मामिति वदन्ति यतः ॥३७॥

कामप्रसूः सम्प्रति लोकमातस्त्वमर्हतः कामजितः प्रियाऽतः ।
वामा न वामानव संस्तुतस्य पुराणसंवादसमर्थितस्य ॥३८॥

कामप्रसूरित्यादि— हे लोकमातस्त्व सम्प्रति कामजित· कामहरणस्यार्हतो भगवतः प्रियापि कामप्रसू कामजन्मदात्रीति विरोधे त्व कामप्रसूर्वाञ्छितकर्त्रीति परिहार , अतोऽस्मात्कारणात्पुराण प्राचीनो योऽसौ सवादस्तेन समर्थितस्यापि नवो नूतन इत्येव सस्तुतस्य वामापि न वामासीत्येव विरोधे पुराणाना प्रथमानुयोगशास्त्राणा योऽसौ सवादः सम्यक्कथन तेन समर्थितस्य प्रशसितस्यात एव मानवै. सस्तुतस्य प्रशस्तस्य, यद्वा मानवेषु मध्ये सस्तुतस्य सर्वोत्तमभाव गततया प्रशस्तस्य नवा मनोहरा वामा वामभागवर्तिनीति ॥३८॥

भावार्थ—यतश्च आपका 'कमला' नाम कल्याण, माला और लाभके आदि अक्षरोंसे बना है, अत यदि आप मेरे हृदयमे स्थिर रहेगी तो मुझे भी कल्याण–मङ्गल, महत्त्व–बडप्पन और लाभ–वाञ्छित फल की प्राप्ति हानेसे उत्पन्न मनस्तोष प्राप्त होगे ॥३६॥

अर्थ—हे लक्ष्मि ! जिस कारण आप विशाल पुण्यकी राशि स्वरूप होनेसे माताके समान समस्त प्राणियोका हित चाहनेवाली है, इस कारण वृद्ध कविजनो ने भी आपको 'मा' यह सुन्दर नाम दिया है, यह हम अच्छी तरह कहते है ॥३७॥

अर्थ—हे लोकमात ! आप **कामजित**·–कामको जीतने वाले अर्हन्त की प्रिया होकर भी **कामप्रसूः**–कामको उत्पन्न करने वाली है, यह विरोध है । परिहार पक्षमे आप मदनविजेता अर्हन्तकी प्रिया–इष्ट होकर **कामप्रसूः**–वाञ्छित पदार्थको देनेवाली है । इसी प्रकार 'ये पुराण–प्राचीन है' इस प्रकारके सवादमे समर्थित होने पर भी 'ये नव-नवीन है' इस प्रकार सस्तुत अर्हन्त भगवान्की **वामा**–मनोहारिणी होकर भी वामा न–मनोहारिणी नही है, यह विरोध है । परिहार पक्षमे **पुराणसंवादसमर्थित** -प्रथमानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोके सम्यक् कथन से समर्थित और मानवसंस्तुत–मनुष्यमात्रके द्वारा प्रशसित अर्हन्त भगवान्की नवा–मनोहर होकर वामा–वाम भागवर्तिनी है, अर्थात् मूर्तिनिर्माणमे

विनायकं नाम जना यमाहुः स नायकं सम्मिलदात्मबाहुः ।
चकार तं तत्र पुनः समोऽपि तस्मै समन्तात् कृतवान्नमोऽपि ।।३९।।

विनायकमित्यादि—लक्ष्मीस्तवानन्तर पुनः स सम्मिलन्तावात्मबाहू यस्य तथाभूतो हस्तसयोगवानिति यावत् । य नाम जना लोका विनायकमनायकमाहुस्तमेव नायकं स्वस्य स्वामिन चकार, यद्वा विगतो नायको यस्य तथाभूतमपि नायकेन सहित सनायकं चकारेति विरोधे जना य विनायक विशिष्टं नायकमाहुस्तमेव नायकं स्वस्य स्वामिन चकारेति परिहार । किञ्च, पुनस्तत्र तद्विषये स्वय मया लक्ष्म्या सहितः समोऽपि सन् न विद्यते मा लक्ष्मीर्यस्य नमोऽपि लक्ष्मीरहितोऽपि भूत्वा इति विरोधे समोऽपि सलक्ष्मीकोऽपि सन् तस्मै नमो नमन चकार । नमस् इत्यव्ययपदम् ।।३९।।

योऽसौ गणानामधिपो मुनीनां समृद्धिरेतत् कृपया नवीना ।
सिद्धिर्यदानन्दविदामधीना स्मरेत् तदेतस्य भवाश्रमो ना ।।४०।।

योऽसादित्यादि—स पुनरेव स्तौति स्म विनायक यद्योऽसौ विनायकः स गणानां मुनीनामधिपः स्वामी भवति । सिद्धि· सफलता तावद्यस्यानन्दविदां प्रसादबुद्धीनामधीनास्ति, एतत्कृपयाऽमुष्यानुग्रहेण समृद्धि· सम्पत्तिर्नवीना नित्यनूत्ना भवति तत्तस्मात्कारणात् भवेऽस्मिन् ससारे आश्रमोऽवस्थान तद्वान् ना मनुष्यो यद्वा भवादश्रमो न परिश्रमस्तद्वान् वा ना नर एतस्य स्मरेत् स्मरण कुर्यादिति ।।४०।।

आपकी स्थापना जिन प्रतिमाके वाम भागमे है ॥ ३८॥

अर्थ—लक्ष्मीके स्तवनके बाद राजा जयकुमारने अपने दोनो हाथ जोडकर विनायक-गणधर देवका स्तवन किया। लोग जिन्हे विनायक-नायकरहित कहते है, उन्हे जयकुमारने सनायक-नायकसहित किया, यद्वा अपना नायक-स्वामी किया। उस सदर्भमे जयकुमार यद्यपि सम-लक्ष्मीसहित थे, तथापि उन्होने नम-लक्ष्मीरहित होकर विनायकको नायक बनाया था, यह विरोध है, परिहार पक्षमे सम-लक्ष्मीसहित होकर तस्मै नमश्चकार-उन विनायकके लिये नमस्कार किया था, ऐसा अर्थ है ॥३९॥

भावार्थ—लोकमे विनायक नाम गणेशका है, परन्तु जैन मान्यताके अनुसार गण + ईश-गणेश गणधर कहलाते है। उन्हीका यहाँ स्तवन समझना चाहिये॥३९॥

अर्थ—जो यह विनायक-गणधर है, वे मुनियोके अधिपति-स्वामी है। समृद्धि-सम्पत्ति इन्हीकी कृपासे नित्य नवीन होती है तथा सिद्धि-सफलता उन्हीकी प्रसन्न बुद्धिके अधीन है। अतः संसारी मनुष्यको उनका स्मरण करना चाहिये ॥४०॥

रागश्च रोषश्च हृदन्धकारोऽरिः स्पष्टमेतत्त्रिपुरोक्तकारोः ।
समस्ति यो विश्वजनस्य तातस्तस्याप्युमाचेष्टितमाप्य जातः ॥४१॥

रागश्चेत्यादि—रागः प्रीतिभावो रोषो वैरभावो हृदश्चेतसश्च योऽन्धकारोऽज्ञानभाव एतेषां त्रयाणां पुराणां स्थानानां मध्य उक्ता कथिता या कारुश्चेष्टा तस्या अरिर्वैरी। तथा यो विश्वजनस्य समस्तस्यापि लोकस्य तातः पितृरूपः समस्ति तस्य लोकपितामहस्योमाया. कीर्त्याश्चेष्टितमाप्य पुनर्जातः सम्भूतः, त्रिजगद्गुरोस्तीर्थंकरपरमदेवस्य कीर्ति श्रुत्वा शिष्यो बभूवेति यावत् । त्रिपुरारिर्नाम रुद्र उमा च तस्या स्त्री पार्वती विनोदवशाद्यात्ममलपरिकरभावाय गणेशमारचितवतीति लौकिकं वदन्तीमाश्रित्य तत्प्रतिवादरूपेणोपर्युक्तमुक्तवान् ॥४१॥

मुखं विशालं करिवद्विभाति तथोदरं तुन्दिलमेकजाति ।
विश्वस्य वार्ताप्यणुरेव यस्मिंस्तस्मै गणेशाय नतोऽहमस्मि ॥४२॥

मुखमित्यादि—यस्य किल गणेशस्य मुख करिवद्धस्तिसदृश विशाल विभाति तथा चोदरमपि यस्य तुन्दिलं पृथुलाकारमेकाद्वितीयानन्यसदृशी जातिराकृतिर्यस्य तदेकजाति विभाति । यस्मिन्मुखे चोदरे च विश्वस्य समस्तससारस्यापि च वार्ताणुरेव स्वल्प इव भवति, तस्मै सुबहुविशालमुखायातिबृहदुदराय विश्ववार्तावेदिने गणेशायाह नतो विनयशीलोऽस्मि भवामि खलु । अहो किलामुकस्य मस्तक किमुतास्त्यपि तु हस्तिन·,

---

अर्थ—राग, द्वेष और हृदयका अज्ञानान्धकार इन त्रिपुर–तीन स्थानो सम्बन्धी शिल्प–चेष्टाके जो अरि–शत्रु है, तथा समस्त लोकके जो पिता तुल्य है, ऐसे तीर्थकर परमदेवकी उमा–कीर्तिकी चेष्टाको प्राप्त कर जो उत्पन्न हुए थे, वे गणधर है, वे ही गणेश है ॥४१॥

अर्थ—जिनका मुख हाथीके मुखके समान विशाल है तथा उदर एक अद्वितीय जातिका इतना स्थूल है कि जिसमे समस्त ससारकी वार्ताएँ अणुरूप ही होती है, उन गणेशके प्रति मै विनत हूँ–उन्हे नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—लोकमे गणेशको गजानन–हाथीके समान मुखवाला तथा लम्बोदर–स्थूल उदर वाला कहा जाता है, परन्तु परमार्थसे मनुष्यकी आकृति ऐसी नही होती । यहाँ हाथी की सूड और विशाल वक्तृत्व से यह बताया गया है कि वे श्रेष्ठ वक्ता ही नही है, वक्तृत्वके साथ कर्तृत्व शक्तिसे भी सपन्न है, अर्थात् निर्भय होकर जैसा स्पष्ट कहते है वैसा करते भी है, तदनुरूप आचरण भी करते हैं। स्थूल उदरसे यह सिद्ध किया गया है कि उनके उदरमे

एतस्योदर किमुतास्त्यपि तु समुद्रस्य गह्वर यत्र सर्वमपि वृत्तान्तमवगाढमस्तीति लोकैः स्तुतिपथमानीयते पूज्यस्य तथात्रापीति समवगन्तव्य पाठकैः ॥४२॥

स मङ्गलं नाम जनोऽस्य वेद समं गलं तेन दधाम्यखेदः ।
मुदङ्गलग्ना मनसीव चेयमुदङ्गलं नाशमुपैति मे यत् ॥४३॥

स मङ्गलमित्यादि—स सर्वोऽपि जनोऽस्य गणेशस्य नाम मङ्गलमानन्दकर वेद ज्ञातवान्, इत्यस्मात् कारणादहमपि तेन सम समन्वितमात्मीय गलं कण्ठ दधामि तस्य नाम रटनमह करोमीत्यखेदः खेदरहितोऽपि भवामि । यतो मुद् हर्षपरिणतिर्मे ममाङ्गेन लग्नास्ति यथा तथा मनसि चित्ते चेयं मुद् वर्तते । तथा चोदङ्गलं मङ्गलाभावश्च मे नाशमुपैति तावत् ॥४३॥

पोलो ! कवित्वं खलु लोकवित्त्वं स्विदाशुचित्वं च सदा शुचित्वम् ।
ददद् हृदः स्फातिभृदेषकाथाधुना धरायां तव कीर्तिगाथा ॥४४॥

पोलो इत्यादि—हे पोलो ! परिपक्वस्वभावशालिन् ! त्वं कवित्वमात्मवेदित्वं लोकवित्त्व लोकाचारवेदित्वं स्विदथवा आशुचित्वं शीघ्रवेदित्व किञ्च सदा शुचित्व सततमेव पवित्रत्व खलु निश्चयेन ददत् समस्ताय ससारायापि यच्छन् हृदो हृदयस्य स्फातिभृद् त्वमसि, अधुना साम्प्रतमेषा सैवैषका तव कीर्तिगाथा स्तवनविषयिणी वार्ता तावद् धरातलेऽस्ति । अथ शुभसत् वादे । अर्थात्व हे गणाधिपते ! प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगानामुपदेष्टासीति ॥४४॥

समस्त ससारकी वार्ताएँ अणुरूप ही हैं, अथवा वे अत्यन्त गम्भीर हैं, अच्छी बुरी वार्ताओको सुनकर अपने उदरमे रख लेते हैं, कभी किसीकी निन्दा-स्तुति नही करते । तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त गुणोसे युक्त गणधर ही वन्दनीय हैं ॥४२॥

अर्थ—जिस कारण सभी लोग इन गणेशके नामको मङ्गल रूप जानते है, इसलिये मैं भी उनके नामके साथ स्वकीय कण्ठको प्राप्त हूँ, अर्थात् कण्ठके द्वारा उनका नाम रटता रहता हूँ और इसी कारण मै खेदरहित हूँ । जिस प्रकार मुद्–हर्षकी परिणति मेरे शरीरके साथ सलग्न है, उसी प्रकार मनके साथ भी सलग्न है । यही कारण है कि मेरा सब उदङ्गल–मङ्गलका अभाव नाशको प्राप्त हो रहा है ॥४३॥

अर्थ—हे परिपक्व स्वभावसे सुशोभित गणपते ! आत्मज्ञता, लोकज्ञता, शीघ्रविचारकता और सदाशुचिताको देने वाले आप हृदयकी विशालताको धारण करने वाले हैं । इस समय समस्त धरातलमे आपकी यही कीर्तिगाथा सर्वत्र प्रसरित है ॥४४॥

हरन्नलम्बोदरजां स्विदर्ति सद्भ्योऽवलम्बोऽयमदूरवर्ती ।
आत्मंस्त्वमस्मै नमनात्सुपात्रमिष्टश्रियोऽखिन्नमना भवात्र ।।४५।।

हरन्नित्यादि—हे आत्मन् ! वो युष्माकं दरजा भयसम्भवामर्ति पोडां हरन् निवारयन् सर्वान् भयवर्जितान् कुर्वन्, सद्भ्य. सभ्येभ्योऽवलम्ब· समाश्रय., यमाच्च मृत्योर्दूरवर्तीत्य-मरताश्रयो भवति तस्मै नमनान्नमस्कारकरणात् त्वमत्रास्मिन् ससारे न खिन्नमदुःखितं मनो यस्य सोऽखिन्नमना भवत् सन् त्वमिष्टश्रियां वाञ्छितसम्पदाना सुपात्रं सदाश्रयस्थानं भव ।।४५।।

इत्येवमाराध्यचतुष्टयस्य पुनीतपुण्यैकपदप्रदृश्यः ।
योऽसाविदानीं जगतां प्रवासी तेनादृता सम्बलसन्निभाशीः ।।४६।।

इत्येवमित्यादि—इत्येवमुपर्युक्तरीत्याराध्यानामाराधनयोग्यानां चतुष्टयस्य चतुर्णां समुदायस्य पुनीतेन पावनं च तत्पुण्यं प्रशसायोग्य चैकमद्वितीय यत्पद स्थानं तत्र ——— यद्वा तदेव प्रदृश्यं दर्शनयोग्य यस्य स तथैवमत्र पदशब्दस्य चरणार्थकतासमाश्रयसेया स्यादिति योऽसाविदानीं साम्प्रतं जगतां प्रवासी जगत्त्रयमध्ये वर्तमानो जयकुमारस्तेनानेन तेषामाशीः शुभाशसनवाक् किं वाशिका सा सम्बलेन मार्गव्ययलक्षणेन सन्निभा सदृशीत्या-दृता स्वीकृताभूत् ।।४६।।

भवाभियं प्राप्य धियं श्रियंच सतामियन्त सहकारिणं च ।
नोतिं स लेभे चतुरङ्गतानां रुचां स नाथश्चतुरङ्गतानाम् ।।४७।।

भवाभियमित्यादि—स चतुरं विज्ञ गतानां प्राप्तानां रुचा शोभानां नाथः स्वामी भवात्ससारान्नास्ति भीर्यस्य त भवाभिय लोकविजयिन जिननाथ, धियमित्यनेन बुद्धे-रधिष्ठात्रीं सरस्वतीं श्रिय च पुरुषार्थचतुष्टयसमर्थिका लक्ष्मी, सता सभ्यानां सहकारिणं

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तुम्हारी भयसे उत्पन्न पीडाको अतिशय रूपसे हरता है, जो सत्पुरुषोके लिये अवलम्बन है तथा यम–मृत्युसे दूरवर्ती है, अर्थात् अमरताको प्राप्त है, ऐसे गणेशके लिये नमन करनेसे तू इस ससारमे इष्टलक्ष्मियो–वाञ्छित सम्पदाओका सुपात्र हो जा ।।४५।।

अर्थ—इस प्रकार जो पवित्र पुण्यके अद्वितीय स्थानके समान दिखायी देते थे तथा जो जगत्के मध्यमे विद्यमान थे, ऐसे जयकुमारने इस समय आराधना करने योग्य भगवान् वृषभदेव, सरस्वती, लक्ष्मी और गणेश इन चारोके आशीष–आशीर्वादात्मक वचनोको सम्बल–पाथेयकी तरह स्वीकृत किया ।।४६।।

अर्थ—ज्ञानी जनोको प्राप्त शोभाओके स्वामी उन जयकुमारने ससारसे निर्भय जिनेन्द्रदेव, सरस्वती, लक्ष्मी और सत्पुरुषोंके सहकारी गणधरदेव—इन्हे

गणाधिप च प्राप्य सस्तुत्य चतुर्णामङ्गाना सामदामवण्डभेदभिन्नाना तान विस्तारो यस्या स्तां नीतिं लेभे लब्धवानिति ॥४७॥

प्राकारि भाले तिलकं च तेन जिनाङ्घ्रिपद्मोत्थितकेशरेण ।
योगोऽभवन्मङ्गलदीपकस्य सुधांशुनेवोदयिना प्रशस्यः ॥४८॥

प्राकारीत्यादि—तेन जयकुमारेण जिनानां भगवतामङ्घ्री एव पद्मे ताभ्यामुत्थितेन च तेन केशरेण भाले स्वकीये ललाटे तिलकं शिरोभूषण प्राकारि समुल्लेखित तावदय संयोगः सुधांशुना चन्द्रेणोदयिनाभ्युदयशीलेन सह मङ्गलदीपकस्य योग इव प्रशस्यः प्रशसनीयोऽभवत् । सुधांशुस्थाने भालं मङ्गलदीपकमत्र तिलकमिति जानीयात् पाठकः ॥४८॥

समस्तकर्तव्यशिरश्चरन्तीं निसर्गतः कालकलां व्रजन्तीम् ।
शिखामिवैनां प्रबबन्ध तावत् स्वमस्तकस्थां स महानुभावः ॥४९॥

समस्तेत्यादि—स महानुभावो जयकुमारः स्वस्य मस्तके शिरसि स्थितां स्वमस्तकस्यां शिखां चूडां प्रबबन्ध तावदेनामिव समस्तकर्तव्यानां शिरसि चरन्ती समस्तकर्तव्यशिरश्चरन्तीं तथा निसर्गत स्वभावत एव व्रजन्तीं गच्छन्तीं कालस्य कला घटिकामपि प्रबबन्ध एतावत्समयमिवं कर्तव्यमेतावत्समयमिवमित्येवमादिरूपेण स कल्पयामासेति तथा । मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धमित्यादि समन्तभद्राचार्यसदुक्ते सद्भावात् सन्ध्यावन्दनवेलायाः सदाचरणरूपत्वात् । इत्येव परिकर्म कृत्वा पुनर्महामन्त्रचिन्तनमधस्तान्निर्दिष्टरूपेण चकारेति ॥४९॥

प्राप्तकर—इनको स्तुतिकर साम, दाम दण्ड और भेद नामक चार अङ्गोंके विस्तारसे सहित नीतिको प्राप्त किया ॥४७॥

अर्थ—तदनन्तर राजा जयकुमारने जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोसे प्राप्त केशरके द्वारा अपने ललाटपर तिलक किया । ललाटपर लगा हुआ तिलक ऐसा जान पडता था, मानो उदित होते हुए चन्द्रमाके साथ मङ्गलदीपका सयोग हुआ हो । भाव यह है कि चन्द्राकार गौरवर्ण ललाटपर लाल केशरका तिलक मङ्गलदोपकके समान सुशोभित हो रहा था ॥४८॥

अर्थ—उन महानुभाव जयकुमारने अपने मस्तकपर स्थित चोटीके समान स्वभावसे व्यतीत होनेवाली एवं समस्त कार्योंमे अग्रसर समयकी घड़ीको 'यह कार्य इतने समय तक करना और यह कार्य इतने समय तक' इस प्रकारके नियमसे बाँध लिया ।

भावार्थ—सन्ध्यादि कार्य करनेके पहले चोटीमे गाठ लगा ली तथा करने योग्य कार्योंका समयविभाग निश्चित कर लिया ॥४९॥

ओंकार आदावशरीरिवर्ग उच्छिन्नदोषस्य पुनर्निसर्गः ।
ततो महद्भिः समवाप्तपूर्तिः स्तुतो बभूव प्रणवस्त्रिमूर्तिः ॥५०॥

ओंकार इत्यादि—ओकारे नामपदे आदौ तावत्सर्वप्रथममत एवाशरीरिणां शरीर-वर्जितानां सिद्धानां परमात्मनां निर्देशार्थं तदादिमस्याकारस्य परिग्रह कृतः पुनस्तदनन्तर-मुच्छिन्ना दोषा रागादयो यस्मात्स उच्छिन्नदोषः श्रीमदर्हत्परमदेवस्तस्य निर्देशार्थं तदादे-रुकारस्य निसर्गः कृतस्ततश्च पुनर्महद्भिराचार्यादिपरमेष्ठिभिर्मुनिनामधारिभिः स्वनाम्न आदिमेन मकारेण समवाप्ता पूर्तिर्यत्र स एव अकारश्च:, उकारश्च, मकारश्चेत्येव त्रिभि-र्मूर्तिनिर्माणविधिर्यस्य स त्रिमूर्तिः प्रणवो नाम मङ्गलशब्दः सस्तुतः स्तुतिपथं नीतस्तेन जयकुमारेणेति ॥५०॥

ह्रींकारकस्तत्त्वगुणप्रकारः रक्तो रकारो हरितो हकारः ।
इन्दुः सबिन्दुर्धवलश्च काल एवं तथोपेत इतस्त्रिकालम् ॥५१॥

ह्रींकारक इत्यादि—ह्रींकार एव ह्रींकारक स्वार्थे क. । स ह्रींकारक तत्त्व

आगे पञ्च नमस्कार मन्त्रके चिन्तनका प्रकार बतलाते है—

अर्थ—'ओम्' यह पञ्चमेष्ठीका वाचक मङ्गलपद है, इसीको प्रणव कहते है। ओम्की सिद्धि-अशरीर-शरीररहित सिद्ध परमेष्ठीके आदि अक्षर **अ**, उच्छिन्न-दोष-रागादि दोषोसे रहित अरहत परमेष्ठीके आदि अक्षर **उ** और मुनिनामधारी आचार्यादि परमेष्ठियोके आदि अक्षर **म** इन तीन अक्षरोके मेलसे होती है। इसीलिये इसे त्रिमूर्ति कहते है। राजा जयकुमारने इस ओकारकी अच्छी तरह स्तुतिकी।

भावार्थ—अन्य ग्रन्थोमे अशरीर सिद्ध परमेष्ठीके आदि अक्षर, **अ** अरहन्त परमेष्ठीके आदि अक्षर. अ आचार्य परमेष्ठीके आदि अक्षर आ, इन तीनो वर्णो-मे सवर्णदीर्घ करनेसे (अ + अ + आ = आ) **आ** रह गया। उसमे उपाध्याय परमेष्ठीके आदि अक्षर **उ** की गुणसन्धि करनेसे **ओ** हुआ। उसके अन्तमे मुनि परमेष्ठीका **म** लगा देनेसे **ओम्** सिद्ध होता है। इससे स्वार्थमे कार प्रत्यय लगा देनेसे **ओंकार** शब्द बनाया गया है। वैदिक सस्कृतिमे ब्रह्मा वाचक **अ**, विष्णु वाचक **उ** और महेश वाचक **म**–इन तीन वर्णोंसे **ओम्** शब्द सिद्ध किया गया है। ॐ यह बीजाक्षर भी पञ्चपरमेष्ठियोका वाचक है। **'प्रकृष्टो नवः प्रणवः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार ओंकार सबसे श्रेष्ठ स्तुति मानी जाती है, क्योंकि इसमे पाँचो परमेष्ठो गर्भित हो जाते हैं ॥५०॥

अर्थ—ह्रीकार बीजाक्षर अरहन्त परमेष्ठीके गुणोका वाचक माना गया

नामार्हत्परमेष्ठो तस्य गुणाना प्रकारो यत्र वर्तते स तत्स्वगुणप्रकारः । अर्हत्परमेष्ठिगुण-वाचक इत्यर्थः । ह्रीकारमध्ये यो रकारः स रक्तवर्णो यश्च हकारः स हरितवर्णो यश्च स बिन्दुसहित इन्दुरर्धचन्द्राकार स धवलो धवलवर्ण. इत्थ स यद्यपि रक्त-हरित-धवलभेदेन त्रिवर्णो वर्तते, तथापि स त्रिकाल त्रिकालमध्ये काल कृष्णवर्ण पीत. पीतवर्णश्चेति विरोधे परिहार उच्यते। इत्थ त्रिवर्णोऽपि ह्रींकारक इतोऽत्र काले सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्यय', सन्ध्यावन्दनसमय इत्यर्थ । त्रिकाल प्रातर्मध्याह्नसायभेदात् त्रिकालम्, अत्यन्तसयोगा द्वितीयाप्रयोग । इत. प्राप्त. सस्तुतो जयकुमारेणेति शेष. । जयकुमारो 'ह्रीम्' इत्येतस्य बीजाक्षरस्य स्तवन चकारेति यावत् ।।५१।।

अर्हं समर्हं विभवैकभूपे नमो न मोहाय परत्ररूपे ।
मन्त्रं पवित्रं स जयोऽप्यपापः स्वयं च विश्वस्मरणीयमाप ।।५२।।

अर्हमित्यादि—अर्हमित्येतत्पद विभव. सम्पत्तिसम्भवोऽथवा तु भवाभाव· स एव भूप. प्रधानस्वरूपस्तस्मिन् समर्हं योग्य तथा नम इत्येव पद परत्ररूपे स्वात्मनोऽन्यत्र नमोहाय निर्मोहपरिणामाय भवति । एव किल 'ॐ ह्रीं अर्हं नम ' इत्येव पवित्रं मन्त्र विश्वेनापि स्मरणीयमाराधनीय स्व शोभनीय सोऽपाप पापाचाररहितो जयो नाम भूपाल आप प्राप्तवान् त जजापेति ।।५२।।

मह्रीं षडङ्गां नवकोटिसिद्धा स्मृत्वाम्बुजेष्टि षडरैर्हृदोद्धाम् ।
अष्टाधिकं विंशतियुग्मकच सम्बिभ्रतोमाप दलप्रपञ्चम् ।।५३।।

महीमित्यादि—मही पृथ्वीमिमा नवकोटिभि सरम्भसमारम्भास्त्रय कृतकारिता-नुमननातीति त्रीणि मनोवचनकायाश्चेति त्रय इत्येव नवकोटिभि. सिद्धां सम्पादितां

है। ह्रीकार म जो र् है वह रक्त-लाल रगका वाचक है, ह् हरित रगका बोधक है ओर जो बिन्दु सहित अर्धचन्द्राकार है, वह धवल–श्वेत वर्णका वाचक है, इस तरह ह्री यद्यपि तोन व्यञ्जनो की अपेक्षा तीन वर्णका है, तथापि वह तीनो कालो मे काला और पोत–पीतवर्ण वाला है, इस प्रकार विरोध आता है। उसका परिहार इस प्रकार है कि इत काले–सन्ध्या वन्दनके समय जयकुमार ने इस ह्रीकारको इत प्राप्त किया, अर्थात् उसकी स्तुति की। काले + एव तथापि + इत', इस प्रकारकी सन्धि निकालना चाहिये ।।५१।।

अर्थ—'अर्ह' यह बीजाक्षर भव–ससारके अभावरूप प्रमुख कार्यके योग्य है तथा नमः पद स्वकीय आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोमे मोहके अभावका वाचक है। इस तरह पापाचारसे रहित जयकुमारने 'ॐ ह्रीं अर्हं नम.' इस मन्त्रको, जो कि सबके स्मरणके योग्य है, स्वय प्राप्त किया था–जपा था ।।५२।।

अर्थ—तदनन्तर राजा जयकुमारने अपने हृदयमे छह अरोसे देदीप्यमान

तत. षड्भिर्नवगुणितैरिति चतुःपञ्चाशद् भवन्ति किलेति हृदि स्वकीयमनसि प्रथमतः षडरैरिद्धां सम्पन्नां पुनश्च विंशतेर्युग्मकं चत्वारिंशत्संख्याकमष्टाधिकं दलानां पत्राणां प्रपञ्चं सम्बिभ्रतीं धारयन्तीमम्बुजस्येष्टिं पूजामाप चिन्तयामासेति ।।५३।।

अप्रतिचक्रे फडनुलोमतः विचक्राय झ्रौं झ्रौं विलोमतः ।
भुजद्वयं दधते नमः सते गणभृद्वलयाभिपश्यते ।।५४।।

अप्रतिचक्र इत्यादि—पूर्वोक्तप्रकारपरिवर्णिते चतुःपञ्चाशत्पत्रयुक्ते कमले कर्णिकायां तावद् 'ॐ ह्रीँ अर्हं नम.' इत्येवं सन्निवेशितं विचार्य पुनः प्रथमवलयस्थितेषु षट्सु दलेषु क्रमादेकैकं कृत्वा 'अप्रतिचक्रे फट्' इत्यनुलोमतः संचिन्त्य पुन. 'विचक्राय झ्रौं झ्रौं' इत्यक्षरषट्कं तेषामेव दलानां बहिर्भागे विलोमतो लिखितमित्यनुलोमविलोमतो भुजयोर्द्वयं दधते धारयते सते प्रशंसनीयाय पश्यतेऽवलोकनं कुर्वते गणधरवलयाय नाम यन्त्रराजायानम. स्यादिति ।।५४।।

समेत्य तावत्प्रणवं च पञ्चशून्याक्षरं स्वक्षरपञ्चकञ्च ।
सुलोमषट्कं च विलोमषट्कं होमाभिधं चेत्यजपन्महत्कम् ।।५५।।

समेत्येत्यादि—ततः पुन· प्रथमतः प्रणवमोंकार च पुन पञ्चानां शून्याक्षराणां समाहार पञ्चशून्याक्षरं 'ह्रां ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः' इत्येवंरूपं च । पुनः शोभनाना-मक्षराणां परमेष्ठिवाचकानां पञ्चकम् 'अ सि आ उ सा' इत्येवंरूपं ततः पुनः सुलोम-

---

एव नौ कोटियोसे साधित पृथ्वीका स्मरणकर अडतालीस दलो–पत्रोके समूहको धारण करने वाली कमलपूजाको प्राप्त किया, अर्थात् उसका मनमे स्मरण किया ।।५३।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे वर्णित चौवन पत्रोसे युक्त कमलमे कर्णिकापर 'ॐ ह्रीँ अर्हं नम.' यह लिखा है । फिर प्रथम वलयमे स्थित छह पत्रोपर क्रमसे एक-एक पर 'अप्रतिचक्रे फट्' यह अनुलोम विधिसे लिखा है। पश्चात् उन्ही पत्रोके बाह्य भागमें विलोम विधिसे 'विचक्राय झ्रौं झ्रौं' यह लिखा है। इस तरह अनुलोम और विलोम विधिरूप दो भुजाओको धारण करने वाले, प्रशसनीय तथा सामनेकी ओर देखते हुए के समान स्थित यन्त्रराज–गणधरवयलके लिये जयकुमारने नमस्कार किया ।।५४।।

अर्थ—प्रथम ॐ फिर **ह्रां ह्रीँ ह्रूँ ह्रौं ह्रः**' इन पाँच शून्याक्षरोको, उसके आगे पञ्चपरमेष्ठियोके वाचक '**अ सि आ उ सा**' इन पाँच शोभन–महत्त्वपूर्ण अक्षरोको, पश्चात् अनुलोम विधिसे लिखित '**अप्रतिचक्रे फट्**' इन छह अक्षरों-को, पश्चात् विलोम विधिसे लिखित '**विचक्राय झ्रौं झ्रौं**' इह छह अक्षरोंको

षट्क 'अप्रतिचक्रे फट्' इत्येवं, ततश्च विलोमषट्कं 'विचक्राय झ्रौं झ्रौं' एवरूप पुनरन्ते होमाभिध स्वाहा नामेत्येव लात्वा 'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा' एवरूपक महामन्त्रं तावदजपत् सः ॥५५॥

तत्पञ्चबाणार्तिनिवारणाय पञ्चप्रमाणप्रतिपूरणाय ।
षट्खण्डसम्पत्तिसमर्थनाय षड्वैरिवर्गस्य कदर्थनाय ॥५६॥
आदावथोमादरणाय दत्तं प्रान्तं पुनः सम्फलने प्रवृत्तम् ।
वर्णावली कल्पलतेव तेन साऽवापि संकल्पमहीरुहेण ॥५७॥

तदित्यादि—तत्र मूलमन्त्रे निहित तच्छून्याक्षरपञ्चक पञ्चबाणस्य कामस्यातः पीडाया निवारणाय भवति । शुभाक्षरपञ्चक पञ्चाना प्रमाणाना मत्यादीनां प्रतिपूरणाय पूर्तिकरणाय । अनुलोमषट्क षट्खण्डानामार्यावर्तादीना सम्पत्ते. समर्थनाय । विलोमषट्क षण्णां वैरिणा मदक्रोधादीना वर्गस्य कदर्थनाय परिहरणाय । अथादौ ओङ्कारमक्षर तदादरणाय विनयप्रकाशनाय दत्तम् । प्रान्त पुनरन्तगतमक्षरद्वितय सम्फलने फलितप्रदानार्थे प्रवृत्तमित्येव सा पूर्वोक्ता वर्णावली तेन सकल्पो नाम महीरुहोऽसौ कल्पपादपो यस्य तेन कल्पलतेवाऽवापि प्राप्ता । एव मूलमन्त्राराधन कृत्वा पुनरष्टचत्वारिंशत्सु दलेषु क्रमशो मन्त्रनिवेशन यत्तदेव निवेदयतीति यावत् ॥५६-५७॥

और अन्तमे **स्वाहा** शब्दको लिखकर जो मन्त्र बनता है, उसका राजा जयकुमार जप किया ।

मन्त्रका रूप इस प्रकार है—

ॐ **ह्रां ह्रीं** ह्रूं ह्रौं ह्रः **असि आ उसा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा** ॥५५॥

अर्थ—उस मूल मन्त्रमे निहित जो पाँच शून्याक्षर ('**ह्रां** ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः') है, वे कामबाधाकी पीडाका निवारण करनेके लिये हैं । पाँच शोभनाक्षर '**असि आउसा**' मतिज्ञान पाच प्रमाणोकी पूर्तिके लिये हैं । छह अनुलोमाक्षर '**अप्रतिचक्रे फट्**' आर्यावर्त आदि छह खण्डकी सम्पत्तिका समर्थन करनेके लिये हैं । छह विलोमाक्षर '**विचक्राय झ्रौं झ्रौं**' काम, क्रोध आदि शत्रुओको कदर्थित-नष्ट करनेके लिये है । आदिमे जो ॐ अक्षर दिया है । वह आदर-विनयभाव प्रकाशित करनेके लिये है और अन्तमे जो **स्वाहा** नामक दो अक्षर दिये गये है, वे सकल्पित पदार्थोको फलित करनेके लिये हैं । इस तरह पूर्वोक्त वर्णावली सकल्परूप वृक्षसे युक्त राजा जयकुमारके द्वारा प्राप्तकी गई । इस प्रकार मूलमन्त्रकी आराधना कर अड़तालीस दलो-पत्रोपर मन्त्रके विनिवेशका कथन करते हैं ॥५६-५७॥

ओं ह्रीं णमो जिणाणं जनुरेतद् यद्विना भवति काणम् ।
परिहरति स्मरबाणं यदेव परमात्मकल्याणम् ॥५८॥

ओं ह्रीं मित्यादि—तत्र प्रथम पत्रे 'ओ ह्रीं णमो जिणाणं' इति यद्भवति तत्पदं स्मरस्य बाण कामकृतोपद्रवं परिहरति, यदेव परमुत्कृष्टमात्मनः कल्याणं तद्रूपं भवति । यद्विना यस्य स्मरणरहितं चेदेतज्जनुर्जन्म तत्काण हीनं व्यर्थमेवेति । 'ओं ह्रीं अर्हं णमो अरहताण णमो जिणाण ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आउसा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौ स्वाहा' एवं जपित्वा यन्त्रप्रक्षालनोदकस्य शिरसि धारणेन ज्वरपरिहार स्यात् ॥५८॥

सदा णमो ओहि जिणाणमेव यतः प्रसन्न स्वयमात्मदेवः ।
प्रयाति पापं सहसा नुरेवमभावमाराधनसम्पदेव ॥५९॥

सदेत्यादि—सदा सर्वदा 'णमो ओहि जिणाण' यतः स्वयमात्मदेव. प्रसन्नो भवति । आत्मशब्दोऽत्र मनोवाचको वास्तु । मनःप्रसादेन नुर्मनुष्यस्य सहसा शीघ्रमेव पापं यत्तदभाव प्रयाति । आराधनस्य पूजनप्रकारस्य सम्पदा प्रभावेण । इवशब्द पादपूर्तौ, एवशब्दश्चापिशब्दार्थक· । 'ओ ह्रीं अर्हं णमो ओहि जिणाण' इत्यादिना मन्त्रेण शिरोर्तिहरण भवतीति ॥५९॥

भवतु णमो परमोहि जिणाणं जगतां जिनशासननिःशाणम् ।
समुद्धरति खलु बहुपरिमाणं धरातले दुर्मतप्रहाणम् ॥६०॥

भवत्विदादि—'णमो परमोहि जिणाण' भवतु तदेतत्पदं जगतां जिनशासनस्य-

---

अर्थ—प्रथम पत्रपर जो **'ओ ह्रीं णमो जिणाणं'** लिखा गया है, वह कामबाधाको नष्ट करता है । कामबाधाका परिहार किये बिना यह जन्म व्यर्थ होता है। कामबाधापर विजय प्राप्त करना उत्कृष्ट आत्मकल्याणरूप माना गया है। **'ओ ह्रीं अर्हं णमो अरहताणं णमो जिणाणं** ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं **ह्रः असि आउसा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा'** इस मन्त्रका जपकर यन्त्रप्रक्षालनका जल शिरपर धारण करनेसे ज्वरकी बाधा दूर हो जाती है ॥५८॥

अर्थ—द्वितीय दलपर **'णमो ओहि जिणाणं'** लिखा गया है । उसके जापसे आत्मा अथवा मनरूपीदेव प्रसन्न–विशुद्ध होता है और उससे जपनेवाले मनुष्यका पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । **'ओ ह्रीं अर्हं णमो ओहि जिणाणं**–आदि मन्त्रसे शिरकी पीडा दूर होती है ॥५९॥

अर्थ—तृतीय दलपर जो 'णमो परमोहि जिणाण' लिखा है, वह जगत् मे जिन शासनके उस ध्वजदण्डको उठाता है, जो धरातलपर कीर्तिका बहुत विस्तार

निःशाण ध्वजदण्ड समुद्धरति यत्खलु बहुपरिमाणं भवति । बहुरनल्पः परिमाणः कीर्ति-विस्तारो यस्य त । तथा दुर्मतानां प्रहारणं सौगतादिसंकलितानामुच्छेदनं येन तं निजध्वज धरातलेऽस्मिन् भूलोके समुद्धरतीति । 'ओं अर्हं णमो परमोहि जिणाणं' इत्यादिना जपितेनानुकूल्यं भवति प्रतिकूलस्येति ।।६०।।

पुनर्णमो सव्वोहि जिणाणं येऽनुभवन्तितमां निर्वाणम् ।
णमो अणतोहि जिणाण वानन्तसुखस्य किलाप्यवलम्बात् ।।६१।।

पुनरित्यादि—पुनस्तदनन्तरं 'णमो सव्वोहि जिणाणम्' इति ये सर्वावधिधारका जिना निर्वाण मुक्तिप्रापणमनुभवन्तितमा सर्वावधिज्ञानं नहि मिथ्यादृशां भवति, किन्तु चरमशरीरिणा मुनिवराणामेव भवति । 'ओ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहि जिणाण' इत्यादिना-नेन मन्त्रेणाक्षिरोगनाशन भवति । तथा 'णमो अणतोहि जिणाणं' ये जिना अनन्त-सुखस्यातीन्द्रियस्यानन्दस्यावलम्बात् पूज्याः सन्तिः तावत् । 'ओ ह्रीं अर्हं अणंतोहि जिणाण' इत्यादिना मन्त्रेण कर्णरोगोपहारो भवति ।।६१।।

णमो कुट्ठबुद्धीणं तावदित्यनेन भवतात् सद्भावः ।
णमो बीजबुद्धीणमिदानीं संसारोऽसौ यतोऽवसानी ।।६२।।

णमो इत्यादि—'णमो कुट्ठबुद्धीणं' इत्यनेन तावज्जपितेन सद्भावः समीचीनः

करने तथा मिथ्यामतोका खण्डन करने वाला है । **'ओं ह्रीं अर्हं णमो परमोहि-जिणाण'** इत्यादि मन्त्रके जपनेसे प्रतिकूल कार्यमे भी अनुकूलता होती है ।।६०।।

अर्थ—चतुर्थ दलपर जो **'णमो सव्वोहि जिणाणं'** लिखा है, उसका भाव यह है कि सर्वावधि ज्ञानके धारक मुनि नियमसे निर्वाण-मोक्षका अनुभव करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान चरमशरीरी मुनियोके ही होता है । **'ओं ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहि जिणाण'** इत्यादि मन्त्रके जापसे नेत्र सम्बन्धी रोग नष्ट होता है । पञ्चम दलपर जो **'णमो अणतोहिजिणाणं'** लिखा है, उससे सूचित किया गया है कि अनन्ता-वधि ज्ञानको धारण करने वाले जीव अनन्त सुखके आधार होते हैं । **ओं ह्रीं अर्हं णमो अणंतोहिजिणाण'** इत्यादि मन्त्रके जापसे कर्ण सम्बन्धी रोग नष्ट होता है ।।६१।।

अर्थ—षष्ठ दलपर जो 'णमो कुट्ठबुद्धीणं' लिखा है, उसके जपनेसे अच्छे भाव होते है । **ओ ह्रीं अर्हं णमो** कुट्ठबुद्धीण' इत्यादि मन्त्रके जापसे अच्छे भाव होते हैं तथा शूल और गुल्म (गलगण्ड) आदि रोग नष्ट होते हैं । तथा

परिणामो भवतात् शूलगुल्महरण चेति । तथा 'णमो बीजबुद्धीणं' यतोऽसौ ससारोऽव-सानी दानीमेव शीघ्रमेव भवतीति । तथानेन जपितेन कासहिक्काविप्रणाशो भवति ।।६२।।

णमो पावाणुसारीणं परमार्थविधानतः ।
संभिन्नसोवाराणां च श्रीभंवेदवधानतः ।।६३।।

णमो इत्यादि—'णमो पादाणुसारीणं' परमार्थस्य सदाचारलक्षणस्य विधानतो हेतु-भूतात् 'ओ ह्रीं अर्हं णमो पादाणुसारीणं' इत्यादिमन्त्रप्रयोगेण वैरहरणमित्यादि भवति । सम्भिन्नसोवारण च सम्भिन्न श्रोतृणा महर्षीणामवधानतो ध्यानात्पुन श्रीभंवेत्खलु । तस्मात् ओ ह्रीं अर्हं णमो सम्भिन्नसोवाराण' इत्यादिना मन्त्रेण श्वासादिहरण भवतीति ।। ६३ ।।

स्याणणमो सयंबुद्धीण नरो नान्योक्तिमानतः ।
णमो पत्तेयबुद्धीणमात्मैकपरिणामतः ।।६४।।

स्यादित्यादि—णमो सयबुद्धीण स्यावत कृतेन नरोऽन्यस्येतरस्योक्तिमान्न भवति । ओ ह्रीं अर्हं णमो सयबुद्धीणमित्यादिना मन्त्रेण कवित्वादिशक्तिर्भवतीति । तथात्मनः स्वस्य मनस एक एकाग्रो योऽसौ परिणामस्तत । 'णमो पत्तेयबुद्धीण', 'ओ ह्रीं अर्हं णमो 'पत्तेयबुद्धीण' इत्यादिना च परविद्याविनाशन भवति ।। ६४ ।।

सप्तम दल पर जा **'णमो बीजबुद्धीणं'** लिखा है, उससे जपने वालेका ससार शीघ्र ही समाप्त होता हे, अर्थात् वह मुक्तिका पात्र होता है। **ओ ह्री अर्हं णमो बीज-बुद्धीणं**–इत्यादि मन्त्रके जपनेसे खासी और हिचकीका रोग नष्ट होता है ।।६२।।

अर्थ—आगेके दल पर जो **णमो पादाणुसारीणं** लिखा है, उसके ध्यानसे परमार्थकी प्राप्ति होता है । इस मन्त्रके प्रयोगसे वैरका नाश होता है, अर्थात् शत्रु शत्रुताका व्यवहार छोड़ देते है । अग्रिम दल पर जो **'सभिन्नसोदाराण'** लिखा है, उसके ध्यानसे श्री—लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा श्वास–दमाका रोग नष्ट होता है ।। ६३ ।।

अर्थ—'णमो सयंबुद्धीण' इस मन्त्रसे मनुष्य दूसरेकी उक्तियो पर निर्भर नही रहता, वह स्वय अपनी प्रतिभासे नित्य नवीन रचनाएँ करनेमे समर्थ होता है । **'ओं ह्रीं अर्हं णमो सयंबुद्धीणं'** इस मन्त्रके जापमे मनुष्य कवित्व आदिकी शक्तिसे युक्त होता है । **'णमो पत्तेय बुद्धीण'** इस मन्त्रसे मनुष्य प्रत्येक बुद्धि होता है, अर्थात् किसी वस्तुके चिन्तनमे स्वय समर्थ होता है । **'ओ ह्रीं अर्हं णमो पत्तेयबुद्धीण'** इत्यादि मन्त्रसे अन्यकी विद्याका विनाश होता है, अर्थात् प्रतिपक्षीकी विद्याका अहकार नष्ट होता है ।। ६४ ।।

णमो बोहियबुद्धीणं परमार्थैकतानतः ।
णमो उजुमदीणं च प्रगुणप्रश्रयोऽस्वतः ॥६५॥

णमो इत्यादि—परमार्थः परोपकारविचारोऽथवा परमार्थो धर्माचारस्तत्रैकः प्रधानस्तानो मनोविकल्पस्ततः 'णमो बोहियबुद्धीण', 'ओ ह्रीँ अर्हं णमो बोहियबुद्धीण' इत्यादिना हस्तिमदादिहरण भवति । 'णमो उजुयदीणं' अतः प्रगुणानामुत्तमाना गुणानां प्रश्रयः समाश्रयो यद्वा प्रगुणेषु महापुरुषेषु प्रश्रय. प्रेमभावो भवति शान्तिकर ॥६५॥

सर्वत्र णमो विउलमदीणं मनः सम्भवेत्तरामरीणम् ।
येन श्रुतसंग्रहे प्रवीणं पापाचारादपि प्रहीणम् ॥६६॥

सर्वत्रेत्यादि—णमो विउलमदीण सर्वत्र विद्यमानेभ्यो विपुलमतिज्ञानिभ्यो नम । येन सर्वत्रापि मनश्चित्तमरीणमहीन सम्भवेत्तराम् । कीदृश मनः ! पापाचारात्प्रहीण रहितमपि पुन श्रुतस्य सग्रहे प्रवीण चतुरमिति यावत् ॥ ६६ ॥

ओं णमो दसपुव्वीणं सद्रुद्यो विद्यानुवादतः ।
णमो चोदसपुव्वीणं श्रुतज्ञानेन सम्भृतः ॥६७॥

ओमित्यादि—ओ णमो दसपुव्वीण दशपूर्विभ्योऽभिन्नज्ञानिभ्यो नम । कीदृग्भ्यस्तेभ्य इति चेत् ? विद्यानुवादतोऽपि विद्यानुवादस्य पूर्वस्य परिज्ञानाद्विद्याना रोहिण्या-

---

अर्थ—परमार्थ-परोपकार यद्वा धर्माचारमे प्रमुख रूपसे मन लगानेके कारण बोधित बुद्धि ऋद्धि प्राप्त होती है । इस ऋद्धिके धारी मुनियोको नमस्कार हो । **'ओ ह्रीँ अर्हं णमो बोहियबुद्धीण'** इत्यादि मन्त्रके जापसे हाथियो आदिका मद दूर होता है। **'णमो उजुमदीणं'** ऋजुमति मन पर्यय ज्ञानके धारक मुनिराजोको नमस्कार हो, इस मन्त्रके प्रभावसे मनुष्य प्रकृष्ट श्रेष्ठ गुणोका आश्रय होता है, अथवा प्रकृष्ट गुणोसे युक्त महापुरुषोसे शान्ति करने वाला प्रेमभाव होता है ॥६५॥

अर्थ—सर्वत्र विद्यमान विपुलमति मनपर्यय ज्ञानके धारक मुनियोको नमस्कार हो । इस मन्त्रके जापसे मन अत्यन्त उत्कृष्ट, श्रुतसग्रहमे निपुण तथा पापाचारसे रहित होता है ॥ ६६ ॥

अर्थ—दश पूर्वके पाठी उन मुनिराजोको नमस्कार हो, जो विद्यानुवादसे रुद्रके समान व्रतोसे च्युत न हो तथा चौदह पूर्वके ज्ञाता उन महामुनियोको नमस्कार हो, जो पूर्ण श्रुतज्ञानसे परिपूर्ण है ।

दीनामनुबावत' सम्पर्कादपि सङ्घचो व्रतेभ्योऽच्युतेभ्य इति यथा रुद्रः प्रच्युतोऽभूदिति तथा 'णमो चोदसपुव्वीणं' ये चतुर्दशपूर्वज्ञानिनः श्रुतज्ञानेन परिपूर्णेन सम्भृतो भवन्तीति ॥ ६७ ॥

सम्प्रति मे तु णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणमङ्ग ! ।
णमो विउव्वइड्ढिपत्ताणं ये व्रजन्ति वाञ्छितप्रमाणम् ॥६८॥

सम्प्रतीत्यादि—'णमो अट्ठगमहाणिमित्तकुसलाणं' एतत्पद निमित्तज्ञानार्थं पठ्यते । 'णमो विउव्वइड्ढिपत्ताण' इद पद वाञ्छितप्राप्त्यर्थमिति विक् ॥६८॥

णमो विज्जाहराणं चोच्चाटनादिहृतामिति ।
णमो चारणाण चैव नष्टोद्दिष्टार्थसम्मिति ॥६९॥

णमो इत्यादि—णमो विज्जाहराणमिति पदमुच्चाटनादिनिवारणार्थं तथा 'णमो चारणाण' पदमेतद् नष्टस्योद्दिष्टस्यार्थस्य सम्मिति प्रणष्टवस्तुनः परिज्ञानार्थम् ॥६९॥

णमो पण्णसमणाण ये वशीकृतचेतसः ।
दुर्ग्रहप्रतिकृद्भ्योऽपि णमो आगासगामिणं ॥७०॥

णमो पण्णेत्यादि—'णमो पण्णसमणाणं' पदमिद वशीकरणार्थं पठ्यते, यतस्ते वशी-

---

भावार्थ—तपस्वी मुनिराजोके श्रुतज्ञानावरण कर्मका विशिष्ट क्षयोपशम होता है। उससे प्रारम्भमे रोहिणी आदि लघु विद्याए सिद्ध होती है। उनके चमत्कारसे रुद्र सयमसे भ्रष्ट हो जाते है, परन्तु जो सयमसे भ्रष्ट नही होते है, वे मपूर्ण विद्याओके स्वामी बनते है। यहाँ **सङ्घचः** शब्दसे ऐसे ही तपस्वी मुनियोका ग्रहण किया गया है। इसी तरह चौदह पूर्वके पाठी मुनिराज होते है। ये पूर्ण श्रुतज्ञानसे सहित होते है। इन दोनो प्रकारके मुनियोकी आराधनासे विशिष्ट श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ६७ ॥

अर्थ—अष्टाङ्ग महानिमित्तमे कुशल मुनियोको मेरा नमस्कार हो। यह मन्त्र निमित्त ज्ञानकी प्राप्तिके लिये पढा जाता है। विगूर्व ऋद्धिको प्राप्त महामुनियोको नमस्कार हो। इस ऋद्धिके धारक मुनि इच्छित प्रमाण गमन करते है, अथवा वाञ्छित पदार्थ को प्राप्त करते हैं ॥ ६८ ॥

अर्थ—'णमो विज्जाहराणम्' यह पद उच्चाटनका निवारण करनेवाला है और णमो चारणाण यह पद नष्ट वस्तुका परिज्ञान करानेके लिये है ॥ ६९ ॥

अर्थ—**णमो पण्णसमणाणं** जिन्होने अपने चित्तको वशीभूत किया है, ऐसे प्रज्ञाश्रमणोको नमस्कार हो। यह पद वशीकरणके लिये पढा जाता है। इससे

कृतचेतसो भवन्ति तथा दुर्ग्रहान् भूतादिकान् प्रतिकुर्वन्ति निवारयन्ति यत्स्मरणाद् दुर्ग्रहबाधा विनश्यति तेभ्योऽपि 'णमो आगासगामिणं' गगनगामिताप्यनेन भवतीति ॥७०॥

णमो आसीविसाणं च ये विद्वेषणसहृतः।
णमो दिट्ठिविसाणं वा विषसंहरणार्थतः ॥७१॥

णमो इत्यादि—णमो आसीविसाण, इदं विद्वेषनाशनार्थम्। तथा णमो दिट्ठिविसाणं' इदं च स्थावरजङ्गमविषपरिहरणार्थं भवतीति ॥ ७१ ॥

णमो उग्गतवाणं तु वचः स्तम्भप्रतीतये।
णमो दित्ततवाणं यत् सेनास्तम्भनहेतवे ॥७२॥

णमो इत्यादि—णमो उग्गतवाण इति पदं वचःस्तम्भनकरणार्थम्। अथ णमो दित्तत-वाण पदमिदं सेनास्तम्भनार्थं पठ्यते। आदित्यवारे मध्याह्नसमये जपितव्यम् ॥ ७२ ॥

णमो तत्ततवाणं वे वह्निबाधानिवृत्तये।
णमो महातवाणं तु जलस्तम्भनवृत्तये ॥७३॥
णमो घोरतवाणं च यन्मुखरोगादिहृत् पदम्।
णमो घोरगुणाणं स्यात् सिंहादिभयवारणम् ॥७४॥

दुष्टग्रह-भूतादिकी बाधा नष्ट होती है। तथा **णमो आगासगामीणं**-आकाश-गामी मुनियोको नमस्कार हो। इस मन्त्रसे आकाशमे गमन होता है ॥ ७० ॥

अर्थ—णमो आसीविसाणं-जो विद्वेषको दूर करने वाले है, उन आशीविष ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो। यह मन्त्र विद्वेषको नष्ट करनेवाला है। तथा **णमो दिट्ठिविसाणं**-जो दृष्टिमात्रसे विषको नष्ट करने वाले हैं, उन मुनियोको मेरा नमस्कार हो। इस मन्त्रसे जगम तथा स्थावर जीवोके विषकी बाधा दूर होती है ॥ ७१ ॥

अर्थ—णमो उग्गतवाणं-उग्रतपके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र दूसरोके वचन कीलनेके लिये प्रयुक्त होता है। **णमो दित्ततवाणं**-दीप्त तपके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र शत्रुकी सेनाके कीलनेमे प्रयुक्त होता है ॥ ७२ ॥

अर्थ—णमो तत्ततवाणं-तप्ततप ऋद्धिके धारक मुनियोंको नमस्कार हो, यह मन्त्र अग्निबाधाकी निवृत्तिके लिये पढा जाता है। **णमो महातवाणं**-महा-तपके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र जलस्तम्भन करने वाला है,

णमो घोरगुणपरक्कमाणं कुष्ठादिनिवारणे प्रमाणम् ।
णमो घोरगुणबम्भचारिणं ब्रह्मराक्षसस्यापहारिणम् ।।७५।।

टीका—पद्यान्येतानि स्पष्टान्यतो न व्याख्यातानि ।।७३-७५।।

णमोत्थु खिल्लोसहिपत्ताण मपमृत्युविनाशनाय बाणः ।
णमोत्थु आमोसहिपत्ताणं रोगशोकहृ विदं कल्याणम् ।।७६।।

णमोत्थु इत्यादि—णमो खिल्लोसहिपत्ताणं, एव आणशब्दोऽपमृत्युविनाशनाय भवति । वेति निश्चयतो बाण इव ततोऽनेन शनिवासरे कुमारिकाकर्तितस्य कौसुम्भक-रञ्जितस्य सूत्रस्योपरि फूत्कृत्य गुग्गुलुधूपेन सन्धूपयित्वा च गर्भिण्या कटीप्रदेशे प्रबन्धनेन गर्भस्तम्भो भवति । णमो आमोसहिपत्ताणं—इदं पद रोगशोकापस्मारमारीदुर्भिक्षादि-हृदिति कल्याण मङ्गलकारक भवति । अत्थुशब्दः पादपूरणार्थ । पूर्वोक्तप्रकारेण गन्धो-दकमस्य विषमज्वरहरणाय स्यादिति ॥ ७६ ॥

अर्थात् इस मन्त्रके जापसे जलवृष्टि रोकी जाती है । **णमो घोरतवाणं**–घोरतपके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह पद मुख सम्बन्धी रोगोको दूर करने वाला है । **णमो घोरगुणाणं**-घोर गुणके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र सिंहादिकका भय दूर करने वाला है । **णमो घोरपरक्कमाणं**–घोरगुण पराक्रमके धारक मुनियोंको नमस्कार हो, यह पद कुष्ठादिके निवारण करनेमे प्रमाणभूत है । **णमो घोरबम्भचारिणं**–घोर कठिन ब्रह्मचर्यके धारकमुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र ब्रह्मराक्षसकी बाधाका निवारण करने वाला है ॥ ७३–७६ ॥

अर्थ—णमो खिल्लोसहिपत्ताणं—खिल्लौषधि ऋद्धिको प्राप्त मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र अपमृत्युको नष्ट करनेके लिये बाणके समान है । शनि-वारके दिन कुमारी कन्याके द्वारा काते तथा कुसुमानी रङ्गसे रगे हुए सूतपर इस मन्त्रसे फूंक देकर तथा गूगलकी धूपका धुआँ देकर उसे गर्भिणी स्त्रीकी कमरसे बाँध देनेपर असमयमे गर्भपात नही होता । **णमो आमोसहिपत्ताणं**–आमौषधि ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह पद रोग, शोक, अपस्मार, हैजा तथा दुर्भिक्ष आदिको हरने वाला है, अत. कल्याण-मङ्गल कारक है । श्लोकमे आया हुआ अत्थु शब्द पादपूर्तिके लिये है, मंत्रका अङ्ग नही है । गणधरवलय मन्त्रका गन्धोदक शिरपर लगानेसे विषम ज्वर भी दूर होता है ।।७६।।

जल्लोसहिपत्ताणं च णमो विष्टम्भाविनिवारणक्रमः ।
णमो विडोसहिपत्ताणंच गजमारीनाशनं समञ्चत् ।।७७।।

जल्लोसहीत्यादि—'णमो जल्लोसहिपत्ताण' इत्ययं मन्त्रो विष्टम्भो नाम निबन्ध आदिर्येषां वातशूलापस्माररराजभयदुर्भिक्षसदृशा उपद्रवास्तेषां निवारणस्य क्रमोऽस्ति । तथा 'णमो विडोसहिपत्ताणं' इद च गजाना मारी नामापमृत्युस्तस्य नाशनं समञ्चत् प्रवर्तते ।।७७।।

ओं सव्वोसहिपत्ताणं णमो स्यादुपसर्गहृत् ।
णमो मणवलीणं चापस्मारपरिहारभृत् ।।७८।।

ओमित्यादि—'णमो सव्वोसहिपत्ताण' एतत्पदमुपसर्गहृत् स्याद् दुर्जनादिकृताना-मुपद्रवाणां निवारणाय भवेत् । तथा 'णमो मणवलीण' इदं पदमपस्मारस्य नाम मृग्युन्मा-देर्मनोविकारस्य परिहारभृद् भवति ।।७८।।

णमो वचबलीणं यदजमारीनिवारणम् ।
णमो कायबलीणं च गोरोगस्यापकारणम् ।।७९।।
णमो खीरसवीणं तु गण्डमालादिदारणम् ।
णमो सप्पिसवीणं चैकाहिकादिरुगक्षणम् ।।८०।।
णमो महुरसवीणं सर्वाधिव्याधनाशनम् ।
णमो अमियसव्वीणमापत्तेरानबन्धनम् ।।८१।।
तथैव णमो अक्खीणमहाणासाणमित्यदः ।
श्रीसमाकर्षणार्थाय प्रयोक्तव्यं शरीरभिः ।।८२।।

अर्थ—णमो जल्लोसहिपत्ताणं-जल्लौषधि ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र वात, शूल, अपस्मार, राजभय तथा दुर्भिक्षके समान उपद्रवोका निवारण करने वाला है । तथा **णमो विडोसहिपत्ताणं**-विडौषधि ऋद्धिको प्राप्त मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र हाथियोकी अपमृत्युको नष्ट करने वाला है ।।७७।।

अर्थ—णमो सव्वोसहिपत्ताण-सर्वौषधि नामक ऋद्धिको प्राप्त मुनियोको नमस्कार हो, यह पद दुर्जनादिकृत उपद्रवोको नष्ट करनेवाला है । तथा **णमो मणवलीय**-मनोबल ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र अपस्मार, अर्थात् मिरगी तथा उन्माद आदि मनोविकारोको नष्ट करनेवाला है ।।७८।।

णमो वड्ढमाणाणं च सम्मानसुखदं तु नः।
णमो लोएसव्वसिद्धायदणाणमिदं पुनः ॥८३॥
णमो भयवदो महति महावीर वड्ढमाण-
बुद्धिरिसीणमित्येवं गणधरवलयं किल ॥८४॥

टीका—एते श्लोका नाति क्लिष्टा अतो नैव व्याख्याताः ॥

श्रीगणभृद्वलयं सतां हितं भक्तामरसमयेन सेवितम्।
कोविदग्रणीः को न पूजयेत् स्वस्य परस्य तथापदां जयेत् ॥८५॥

श्रीगणभृदित्यादि—श्रीगणभृता वलयमीदृश सतां सुजनानां हितं मङ्गलकर तत एव पुनर्भक्तानां भक्तिपरायणानां च तेषाममराणां देवानां समयेन समूहेन यद्वा समागमे-

---

अर्थ—**णमोवचबलीणं**-वचनबल ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह पद बकरा-बकरियोकी अपमृत्युको नष्ट करनेवाला है। **णमो कायबलीणं**-कायबल ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र गायो तथा बैलोके रोगको नष्ट करनेवाला है ॥७९॥ **णमो खीरसवीणं**-क्षीरस्रावी ऋद्धियोंके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह पद गण्डमाल-कण्ठमाल आदि रोगोको नष्ट करनेवाला है। **णमो सप्पिसवीणं**-घृतस्रावी मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र हिक्का--हिचकी आदि रोगोको नष्ट करनेवाला है ॥८०॥ **णमो महुरसवीणं**-मधुस्रावी ऋद्धिसे युक्त मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र समस्त मानसिक और शारीरिक पीडाओको नष्ट करने वाला है। **णमो अमियसवीणं**-अमृतस्रावी ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह पद समस्त आपत्तियोका निराकरण करनेवाला है ॥८१॥ **णमो अक्खीणमहाणसाणं**-अक्षीण महानस ऋद्धिके धारक मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र लक्ष्मीका आकर्षण करनेके लिये प्रयुक्त करने योग्य है ॥८२॥ **णमो वड्ढमाणाणं**-वर्धमान स्वामी अथवा निरन्तर वर्धमान चारित्रको धारण करने वाले मुनियोको नमस्कार हो, यह मन्त्र संमान तथा सुखको देनेवाला है। **णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं**-समस्त सिद्धायतनो-जिन मन्दिरोको नमस्कार हो, यह मन्त्र सब जगह सम्मान प्राप्त कराने वाला है ॥८३॥ **णमो भगवदो महति-महावीर-वड्ढमाण-बुद्धिरिसीणम्**-महति, महावीर और वर्धमान नामके धारक तथा बुद्धि ऋद्धिसे सहित भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार हो, यह मन्त्र विद्या तथा बुद्धिका वर्धक है[१] ॥८४॥

अर्थ—सत्पुरुषोके लिये हितकारी तथा भक्त देवोके समूहसे सेवित अथवा

नापि सेवित समानित। किञ्च, भक्तामरनामकेन समयेन सिद्धान्तेन स्तोत्ररूपेण श्रीमन्मानतुङ्गाचार्यवर्यनिर्मापितेन च सेवित समावेशित कः खलु कोविदा बुद्धिमतामग्रणीः प्रधान स न पूजयेदपि तु सर्व सर्वदापि पूजयेदेव। तथा कृत्वा स्वस्य परस्य चापदां विपत्ति जयेत्। किञ्च, श्रिया विकाशलक्षणाना गणभृन्ति समूहभाञ्जि कमलानि तेषां वलय समुदाय सतां हित भगवत्पूजादिसाधनत्वात्। तथा भक्तमोदन तद्वदमलेन स्वच्छेन समयेन प्रभाताख्येन सेवितमङ्गीकृत कः खलु विदा बुद्धिमतामिव भास्वतामग्रणी कः सूर्यो न पूजयेत् स्वीकुर्यात् स्वस्य निजस्य किरणलक्षण परस्य शरीरिणश्च व्यवसायलक्षण तथा तादृक् पद यस्या तामिमां पदां पृथ्वीं जयेत् स्वीकुर्यात् ? किमिति नेह ॥८५॥

सम्पदा सम्पदस्यापि विघ्नतो विघ्नसंग्रहम्।
श्रीविनायकराजस्याप्यर्हतामर्हतः स्थितिम् ॥८६॥

विभवी भविनामीशो निर्णयी नयवांस्तथा।
सदारोऽपि नरो भूयादादराद् दरदूरगः ॥८७॥

सम्पदामित्यादि, विभवीत्यादि च—सम्पदा सम्पत्तीनां सम्पदस्य शोभनस्थान-

---

'भक्तामर' स्तोत्ररूप सिद्धान्तके द्वारा अपने आपमे समावेशित गणधर वलयको बुद्धिमानोमे श्रेष्ठ कौन पुरुष नही पूजता और उसके द्वारा अपनी तथा अन्यकी आपत्तिको जीतता है—दूर करता है ? अर्थात् सभी पूजते हैं और सभी स्व-परकी आपत्तिको जीतते है।

अथवा—श्रीगणभृद्वलयं-विकास रूप श्री-लक्ष्मीके **गणभृत्**-समूहको धारण करनेवाले कमलोके उस समूहको जो कि पूजा आदिका साधन होनेसे सत्पुरुषोंके लिये हित-मङ्गलरूप है और **भक्तामरसमयेन-भक्त**-भातके समान **अमर** (**अमल**) **स्वच्छ-उज्ज्वल, समय**-प्रातःकालके द्वारा सेवित हैं, **विदग्रणी**-ज्ञानियोमे-प्रकाशकर्ताओमे प्रधान **कः**-कौन **क**'-सूर्य स्वीकृत नही करता और उसके द्वारा **स्वस्य**-अपनी किरणो और **परस्य**-अन्य प्राणधारियोंके व्यवसाय रूप तथा पदा-तथाभूत पद-स्थानसे सहित पृथिवीको नही पूजता है-स्वीकृत नही करता है, अर्थात् प्रतिदिन उदित होने वाले सभी सूर्य करते हैं ॥८५॥

अर्थ—जो सम्पदाओ-सम्पत्तियोके सम्पदसमीचीन स्थान होकर विघ्नोके सग्रह-समूहको नष्ट करनेवाला है तथा अरहन्त परमेष्ठियोकी स्थिति-सादृश्य

---

१. समस्त ऋद्धियोका श्लोकबद्ध स्पष्ट स्वरूप वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसीसे प्रकाशित तथा सम्पादक द्वारा लिखित सज्ज्ञानचन्द्रिकासे जानना चाहिये।

स्यापि विघ्नानामुपद्रवाणा सग्रहं विघ्नतो निवारयतस्तथार्हतां तीर्थकरपरमदेवानां स्थिर्ति निष्ठामर्हतः स्वीकुर्वतोऽपि पुनरन्येषां परमेष्ठिनां चेति समुक्तलक्षणस्य श्रीविनायक-राजस्यास्य आसमन्ताद् दर भय तस्मादिति हेतौ का (पञ्चमीविभक्तिः), तथा दराद् दर-दूरगो भयवर्जितोऽपि सन्निति विरोधे आदराद्विनयादिति परिहार., भविना ससारिणामीशः प्रधानोऽपि विभवो भववर्जित इति विरोधे विभवो सम्पत्तिमानिति परिहारः । नयवान्नीति-मानपि निर्णयो नयान्निर्गतो दूरवर्तीति विरोधे निर्णयो निश्चयकरोऽवधारक इति परिहारः । एवभूतो भूयात् सर्वदा रकारो यस्य सोऽपि नरो रकाररहित इति विरोधे दारै स्त्रीभिः सहित सदारो नरो गृहस्थ इति ॥८६–८७॥

वशकरोऽपि भूतानां भवेय न वशंकर ।
अहीनभूषित शेषविद्वेषणपरायणः ॥८८॥

वशंकर इत्यादि—अह पुनर्भूतानां शङ्करापेक्षया प्रेताना तत्त्वतस्तु समस्तानामेव प्राणिना वश स्वसात्करोति स वशकरोऽपि सन् वशकरो न भवेयमित्येव विरोधे भूतानां प्राणिना वशकर. प्रेयान् सन् नव नित्यनूतन शमानन्द करोत्येतादृक् स्यामिति परिहारश्च । तथा चाहीना सर्पाणामिनेन स्वामिना भूषितोऽलङ्कृतोऽपि शेषस्य तस्यैव नागराजस्य विद्वेषणे विरोधे परायण इति विरोधे सति, अहीनैरुच्चैर्महानुभावैर्नरैर्भूषित संयुक्तः सन् शेषाणां तदतिरिक्ताना हीनाचारिणां विद्वेषणे परायणस्तत्परः स्यामिति परिहारः ॥८८॥

अथवा निष्ठा के योग्य है, ऐसे इस गणधरवलय के आदर–विनयभावसे मनुष्य **विभवी**–भवरहित होकर भी भगवान् जीवोका–ससारी जीवोका स्वामी होता है, (परिहार–विभवी ऐश्वर्यवान् होता है), नयवान् होकर भी **निर्णय**–नयसे रहित होता है, (परिहार–निर्णयी–**निर्णयशील**) होता है । **सदार**–सदा र से महित होकर भी नर–र से रहित होता है (परिहार–**सदार**–स्त्रीसहित होता है) और **आदरात्**–सर्वत भयसे सहित होकर भी **दरदूरग**–भय मे दूर रहता है, (परिहार–**आदर**–विनयशोल होनेके कारण **दरदूरग**–भयसे दूर रहता है) ॥८६-८७॥

अर्थ—भावना है कि मै **भूतानां वंशकरोऽपि**–समस्त प्राणियोको वशमे करने वाला होकर **वशंकरो न**–वशमे करनेवाला न होउँ, यह **विरुद्ध** बात है। परिहारमे–मै प्राणिमात्रको वशमे करनेवाला होकर भी **नवशंकर**–नित्य नवीन श-सुख या शान्तिका करनेवाला होऊँ तथा **अहीनभूषित**–सापोके स्वामी नागराजसे भूषित होकर भी **शेषविद्वेषणपरायणः**–शेष नामक नागराजसे

अन्तरङ्गमिदं नान्तरं व्रजत् स्याच्छरीरिषु ।
न नीरसंगत नः स्यात् क्षेत्रं स्यान्नीरसंगतम् ॥८९॥

अन्तरङ्गमित्यादि—अन्तरमन्यरूपपरिणाम गच्छतीति तदन्तरङ्गमिद चित्तं शरीरिषु देहधारिष्वेतेषु अन्तरङ्ग न भवतीति नान्तरं व्रजत् गच्छत् स्यादिति विरोधेऽन्तरङ्गमबहिर्भूतमित्यर्थस्तत् सर्वप्राणिषु नान्तर व्रजत् स्यात्, स्निह्यतामिति यावत् । नीरेण जलेन सङ्गत समन्वितं न स्यादपि नीरसङ्गत स्यादिति विरोधे पुनर्नः किलास्माकं गतमिङ्गित नीरसं रसवर्जितं न स्यात्, किन्तु सर्वमपि क्षेत्रं धान्योत्पत्तिस्थानं तन्नीरेण सङ्गत सम्यक्तया सम्भावित स्यात्, सुवृष्टिर्जगति भूयादिति यावत् ॥८९॥

सुरभी राजतामत्रासुरभीश्च समन्ततः ।
वसुधा स्यान्नवसुधा नेतिवाक् सेतिवाक् कृतौ ॥९०॥

सुरभीत्यादि—अत्र लोके समन्ततः सर्वत्रापि सुरभीश्च स्यादसुरभीश्चेति विरोधे सुरभिर्नाम गौः सा राजता सुशोभताम् । तथा वायुः प्राणवायुश्चाभीर्भयवर्जितो राजतां सर्वेषा प्राणाः सुचारवः सन्तु । वसुधेयं धरणी सा वसुधा न स्यादिति विरोधे नवा नित्यमेव नूतना सुधा श्वेतपरिणतिर्यस्या सा स्यात् सर्वदैवानन्दोत्सवेन पूर्णा स्यादिति ।

विद्वेष करनेमे तत्पर रहूँ, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है–मै **अहीनभूषित**–उच्च महानुभावो से सुशोभित होता हुआ, **शेष**–उनसे अतिरिक्त हीनाचारियोसे विद्वेष करनेमे तत्पर रहूँ ॥८८॥

अर्थ—अन्तरङ्गं–भीतरकी ओर जाने वाला चित्त प्राणियोंमें **अन्तरं व्रजत्**–भीतरकी ओर जाने वाला न हो, यह विरोध है। परिहार पक्षमे मेरा यह **अन्तरङ्ग**–चित्त अन्य प्राणियोके विषयमे **अन्तर–व्यवधान** अथवा अन्य परिणतिको प्राप्त करने वाला न हो, अर्थात् समस्त प्राणियोपर स्नेहयुक्त रहे। तथा हमारा **खेत न नीरसंगतं**-जलसे रहित हाकर भी **नीरसगतं**-जलसे सहित हो, यह विरोध है। परिहार पक्षमे हमारा गत-गमन-प्रवृत्ति या चेष्टित **नीरस**–रसरहित न हो और हमारा खेत **नीरसगत**-जलसे सहित हो ॥ ८९ ॥

अर्थ—इस लोकमे सर्वत्र **सुरभी** (सुरभि) सुगन्ध सुशोभित हो और **असुरभि**–सुगन्धका अभाव भी सुशोभित हो, यह विरोध है। इसका परिहार इस प्रकार है–**सर्वत्र सुरभि** नामक गाय सुशोभित हो और **असुरभी**–प्राण वायु भयरहित सुशोभित हो। **वसुधा**–पृथिवी **नवसुधा**–पृथ्वी न हो यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है—**वसुधा**–पृथ्वी **नवसुधा**–नूतन चूनाके समान उज्ज्वल

तथा नेतिवागपि कृतौ कार्यक्रमे सेतिवाक् स्यादिति विरोधे न भवतीतेर्बाधाया वागपि यस्यां सा भवती, इति वाचा सहिता सेतिवाक् निर्विघ्नतया कार्यपूर्तिमती स्यात्, अथवा सेतिवागिति कर्तव्यतायुक्ता स्यात् किंकर्तव्यमूढा न स्यात् ॥ ९० ॥

न भवेदपराधीनः पराधीनश्च मानवः ।
गुरुक्तवासनोऽपि स्यादगुरूक्ताधिवासनः ॥९१॥

न भवेदित्यादि—मानवः समस्तोऽपि नरवर्गः स पराधीन परतन्त्रापराधीनश्च पुनर्नभवेदिति विरोधे सति अपराधिनां पापाचारिणामिनः स्वामी तथैव पराधीनः परतन्त्रश्च न भवेदिति परिहार. । तथा गुरुभि· पूज्यपुरुषैरुक्ते समुपदिष्टे मार्गे वासना मन परिणतिर्यस्य स सन्नपि न गुरूणामुक्तेऽधिवासना यस्य स इत्येव विरोधे सति अगुरुणा नाम चन्दनेनाधिवासना यस्येति परिहार ॥ ९१ ॥

अवर्णप्रथमस्यारादन्त्यजस्यानुभावकः ।
कुलीनतामुपालम्भ्य सुखगत्वमधिष्ठित ॥९२॥

अवर्णेत्यादि—वर्णेषु प्रथम आदिभवो वर्णप्रथमो ब्राह्मण इति स न भवतीत्यवर्ण-प्रथमस्तस्य प्रत्युतान्त्यजस्य वर्णाश्रमबहिर्भूतस्य चाण्डालादेरनुभावक सन्नपि कुलीनतामुच्चकुलतामुपालम्भ्यापि तु कौ पृथिव्या लीनतामुपालम्भ्य शोभनं खगत्व-माकाशगामित्वमधिष्ठित इति विरोधे पुनस्तावदवर्णोऽकार एव प्रथम आविभूतो यस्य

रहे। और नेतिनाक्-न-निषेधरूप वचन कार्यक्रममे सेतिवाक् इति सहित वचन हो, यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है—वाक्-वाणी नेति-ईति-बाधासे रहित होकर सेतिवाक् कार्यकी पूर्णतासे सहित हो ॥ ९० ॥

अर्थ—मनुष्य **अपराधीन**-स्वतन्त्र न होकर **पराधीन**-परतन्त्र हो, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—मनुष्य अपराधियो-पापाचारियोका इन-स्वामी न हो, तथा **पराधीन**-परतन्त्र न हो। इसी प्रकार **गुरूक्तवासन**-गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गमे मन लगाकर भी अगुरूक्त वासन—गुरुके उपदिष्ट मार्गमे मन लगाने वाला न हो, यह विरोध है, परिहार पक्षमे अगुरूक्ताधिवासन.-अगुरु चन्दनकी अधिवासनासे सहित हो, ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ ९१ ॥

अर्थ—भावना है कि जो मनुष्य, अवर्णप्रथम-वर्णोमे प्रथम, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण नही है, प्रत्युत अन्त्यज-चाण्डालादिका अनुभव करने वाला है तथा **कुलीनता**-पृथिवीमे लीनताको प्राप्तकर भी **सुखगत्व**-उत्तम आकाशगामित्वको प्राप्त है, अर्थात् पृथिवीपर रेगने वाला होकर भी अच्छी तरह आकाशमें चलता है, ये दोनो विरोध है। इनका परिहार इस प्रकार है—अकार नामका वर्ण-

तस्य पुनरन्ते भवोऽन्त्य प्रान्तभागे वर्तमानो जकारो यस्य तस्यान्त्यजस्यार्थादजस्य नाम परमात्मनोऽनुभावुको भवन् कुलीनतामुच्चाचारतयोच्चकुलतामुपालम्ब्य समवाप्य सुखं गच्छतीति सुखगस्तस्य भावः सुखगत्वं तदधिष्ठित सम्भवेदिति यावत ।। ९२ ।।

अपादानविहीनोऽपि भवेत् कामितवृत्तिमान् ।
उपसर्गानजानानो विप्रादिप्रतिपत्तिमान् ।।९३।।

अपादानेत्यादि—व्याकरणविहितादपदानकारकाद्विहीनो रहितोऽपि **कां नाम** पञ्चमीं विभक्तिमिता प्राप्ता या वृत्तिस्तद्वान् भवेदिति विरोधे सति, **अपादानं नाम** कुत्सितजीवनं तस्माद्विहीनो रहित सन् कामितेषु वाञ्छितेषु भोगोपभोगेषु **या वृत्तिः** प्रवृत्तिस्तद्वान् भवेदिति परिहार । तथा व्याकरणनिर्दिष्टानुपसर्गान् धातूपपदानजानानोऽननुकुर्वाणोऽपि विश्च प्रश्चेत्येवमादिर्येषा तेषा स्वयनिर्दुर्व्याडित्यादीना प्रतिपत्तिमान् ज्ञानवान् भवेदिति विरोधे सति, उपसर्गानुपद्रवानजानान. कदाचिदप्यलभमान. सन् **विप्रादिषु ब्राह्मणादिषु** वर्णेषु प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञा तद्वान् भवेदिति परिहार ।।९३।।

सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायणः ।
सञ्जायेतामिहेदानी रुजा हीनो नरः सरुक् ।।९४।।

सदाचारेत्यादि—इहेदानी नरो मनुष्य· सदाचारेण विहीनो रहितोऽपि **सदाचारे परायणस्तत्पर** इति विरोधे सति सदा सर्वदा चारेण परिभ्रमणेन विहीन. सन् **सदाचारे**

अक्षर प्रथम और जकार नामका वर्ण अन्तिम इस तरह अज शब्द निष्पन्न हुआ। यह **अज**-परमात्मा या परब्रह्मका वाचक है, इसका अनुभावुक होता हुआ **कुलीनता**-उच्चकुलताका आलम्बन प्राप्तकर मनुष्य शीघ्र ही **सुखगत्व**-सुखको प्राप्त करने वाला हो ।।९२।।

अर्थ—जो व्याकरण प्रसिद्ध अपादान कारकसे रहित होता हुआ भी पञ्चमी विभक्तिको प्राप्त वृत्तिसे सहित था तथा जो **उपसर्गों**–धातुके पूर्वमे लगने वाले उपपदोको न जानता हुआ भी वि, प्र आदि के ज्ञानसे युक्त था, ये दोनो विरोध है, इनका परिहार इस प्रकार है कि जो **अपादान**–कुत्सित आजीविकासे रहित होकर **कामित**-इच्छित भोगोपभोगकी प्रवृत्तिसे सहित था तथा **उपसर्गों**–उपद्रवोको न जानता हुआ ब्राह्मणादि वर्णोके विषयमे की गई प्रतिज्ञासे सहित था, अर्थात् सभी वर्णोंका यथायोग्य सरक्षण करता था ।।९३।।

अर्थ—इस भारत वर्षमे इस समय मनुष्य **सदाचार**–सम्यगाचरणसे रहित होकर भी **सदाचारपरायण**–सम्यगाचरणमे तत्पर हो, यह विरोध है। **सदाचार विहीन**–नित्य ही परिभ्रमणसे रहित होता हुआ **सदाचारपरायण**–समीचीन

किमपि शोचनीयं नास्ति। इन्दुनियोगिनीं चन्द्रस्यैव समागमनयोग्या निशा रात्रिं बुभुक्षोः रवे रात्रिसमभिमुख गन्तुमुद्यतस्य सूर्यस्य पतन किन्न भवति ? अहो मुमुक्षो ! भवत्येव किल ॥३४॥

विमृश्य कर्त्रेदमकम्पनेन संयोज्य नूनं किमकार्यनेनः ? ।
अर्केण बालामतिकर्कशेन किं मल्लिमालान्वयते कुशेन ॥३५॥

विमृश्येत्यादि—हे अनेनो निष्पाप ! महाशय जयकुमार ! विमृश्य कर्त्रा विचार्य-कारिणा तेनाकम्पनेन महाराजेन नूनमिह बालामक्षमालामर्केण नामार्ककीर्तिना सार्धं सयोज्य किमकारि ? अनुचितमेव कृत तेनेद तावत्। अतिकर्कशेनापि कुशेन दर्भेण किं मल्लिमाला जातिकुसुमस्रग् अन्वयते सम्बद्धयतेऽपि तु नैव ॥३५॥

जगदुद्योतनहेतोर्वंशान्नं[1] उदेत्ययं समरसेतो ।
दीपात् स्नेहाधारात्[2] कज्जलवन्मलिनतम आरात् ॥३६॥
जगदाह्लादनकारिणि कुले किलास्माकममरताधारिणि[3] ।
शशिनि कलङ्क इवायं प्रवर्तते षट्पदच्छायः ॥३७॥

इसमे कुछ भी शोचनीय नही है। हे मुमुक्षो ! चन्द्रमाकी नियोगिनी रात्रिका उपभोग करनेके इच्छुक सूर्यका क्या पतन नही होता ? अवश्य होता है।

भावार्थ—जब सूर्य सायकाल चन्द्रमाकी नियोगिनी रात्रिके सन्मुख होता है, तब उसका पतन जिस प्रकार नियमसे होता है, उसी प्रकार दूसरेकी उपभोग्य स्त्रीकी आकाक्षा करनेवाले मनुष्यका पतन नियमसे होता है ॥३४॥

अर्थ—हे निष्पाप ! विचार कर कार्य करने वाले अकम्पन महाराजने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमालाका अर्ककीर्तिके साथ विवाह कर क्या किया ? उचित नही किया। क्या अत्यन्त कठोर डाभके द्वारा मालतीकी माला गूथी जाती है ? अर्थात् नही ॥३५॥

अर्थ—हे युद्धकी मर्यादाके रक्षक जयकुमार ! जिस प्रकार जगत्को प्रकाशित करने वाले तथा स्नेह–तैलके आधारभूत दीपकसे कज्जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जगत्को प्रकाशित करने वाले एवं स्नेह–प्रीतिके आधारभूत हमारे वशसे यह अत्यन्त मलिन अर्ककीर्ति अभी उत्पन्न हुआ है ॥३६॥

---

१ नोऽस्माकम्। २. स्नेहस्तैल प्रीतिश्च।
३ रलयोरभेदादमलताधारिणि, अमरता स्थायिता तस्या धारिणि।

अथ श्रुतिप्रान्तकृताधिकारा समन्ततो रूपनिरुक्तिसारा ।
भूमण्डलेऽलंकृतिरक्षमाला मुखे तु दृग्वद्युदेति बाला ।।३८।।

भद्र ! वाराणसीशेन तस्यामेष नियोजित. ।
कज्जलवच्छ्यामलोऽपि दृश्यते सज्जनैरितः ।।३९।।

वीटिकया परिधृतः पलाश. केतक्याः कलितः किल काश' ।
आद्रियतां महतापि तथा स बालयानुकलितो नरपाशः ।।४०।।

(नातिक्लिष्टा एते श्लोका , अतो न व्याख्याता)

लोकत्रयात्त्रिगुणितादृबहुमूल्यमेतत्
स्वं जीवनं यदि ददीत महाशयेतः ।
दृग्वेशितेषु परिवृत्तियात सुवेश
संवेश एष खलु मुख्यतमोऽस्तु लेशः ।।४१।।

लोकत्रयादित्यादि—हे महाशय ! त्रिगुणितात् सत्त्वरजस्तमांसीति समितावुत त्रिगुणीकृतात् लोकत्रयात् अधोमध्योर्ध्वभेदविभक्तादेतस्मादृबहुमूल्यमेतत् स्व जीवन यदि ददीत तदा दृग्वेशितेषु दृष्टिपथमितेषु सम्यगवलोकितेषु परिवृत्तितया समाधानभावेनासूनां प्राणाना दशेतिसख्यातानां देशस्य स्थानस्य मनस्कारस्य सवेश सन्तर्पणमितो यत्र भवेत्तत्रैव ददीत । एष खलु मुख्यतमो लेशोऽस्तु ।।४१।।

अर्थ—जिस प्रकार जगत्को आह्लादित करने वाले एव अमलता-स्वच्छताके धारक चन्द्रमामे काला कलङ्क विद्यमान है, उसी प्रकार जगत्को प्रमुदित करनेवाले एव अमरता-स्थायित्व अथवा उज्ज्वलताको धारण करने वाले हमारे कुलमे यह अपयशका धारी अर्ककीर्ति विद्यमान है ।।३७।।

अर्थ—जिसका सुयश कानोमे सुना है, सब ओर जिसके सौन्दर्यकी चर्चा है, जो पृथिवीमण्डलका अलकार है तथा मुखमे नेत्रके समान जिसकी शोभा है, ऐसी यह अक्षमाला है ।।३८।।

अर्थ—हे भद्र ! अकम्पन महाराजने उसी अक्षमालाके साथ अर्ककीर्तिका सयोग कराया है । उसके साथ यह कज्जलकी तरह सज्जनो द्वारा देखा जाता है ।।३९।।

अर्थ—जिस प्रकार केतकीका पत्र काशसे बाँधा जाता है और इसके साथ वह काश भी प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकारका अक्षमालाकी सगतिसे अर्ककीर्ति भी प्रतिष्ठाको प्राप्त कर रहा है ।।४०।।

अर्थ—हे महाशय ! तीनो लोकोमे बहुमूल्य अपना यह जीवन यदि दिया जावे, तो दृष्टिके द्वारा अच्छी तरह देखे हुए पदार्थो मे विचार कर मन जहाँ

लोकज्ञताहेतुतया स्तुतिः पितुरादीयतामत्र किलात्र सापि तु ।
मत्सी सरस्याश्रयिणी यदृच्छया सा प्रेक्षते साम्प्रतमम्बुपृच्छया ॥४२॥

लोकज्ञतेत्यादि—अत्र विवाहविषये प्रकरणे कन्यकाया पितुः स्तुतिर्जनकस्यानुमतिर्नामादीयता सात्रापि तु पुनरस्त्येव किल। यथा मत्सी मरसि यदृच्छयाश्रयिणी स्वैरविचरणशीला भवति, सा साम्प्रतमम्बुपृच्छयैव भवति तदतिवर्त्य मनागपि गन्तु न शक्नोतु तथा हे पुत्रि ! एतेषु सत्सु यं कञ्चिदेक निजेच्छया वृणीष्वेति पितुराज्ञास्तीति ॥४२॥

विधिरेष विदेहभूर्जितः विधिराविर्भवतीत्यसावित ।
स्वयमस्तु सदेहपूजितः किमु नानन्दसमर्थकोऽभितः ॥४३॥

विधिरित्यादि—एष स्वयवरलक्षणो विधिर्विदेहभुव्यूर्जितोऽतिशयेन समाख्यातो विधिरसावित आविर्भवतीति इहापि सदैव पूजित स्वयमेवास्तु। अयमभित एवानन्दसमर्थक किमु नास्ति, अविसवादत्वादपि स्वस्त्येव तावत् ॥४३॥

वसुधामहितस्येति वारिपूरं जयदेवः
कन्दवृन्द इव सन्निपीय पीनः पुनरेव ।
परमध्वनिमानमन्नेवमाबभार शस्य-
समुदायविधानस्य सम्पदाश्रयः प्रहृष्यन् ॥४४॥

वसुधत्यादि—जयदेव कुमारो वसुधामहितस्य चक्रवर्तिनोऽथवा वसूना रत्नानां धाम्ने तेजसे हितस्य समुद्रस्य वारिपूर वाक्समूहमेव जलसमूह सन्निपीय श्रुत्वाहृत्य वा

सतुष्ट हो वहाँ देना चाहिये, यह सबसे प्रमुख बात है ॥४१॥

अर्थ—इस विवाहके प्रकरणमे पिताकी अनुमति ली जाती है, सो वह इस स्वयवरमे रहती ही है। मत्सी–मछली सरोवरमे स्वेच्छानुसार चलती अवश्य है, पर वह पानीकी आज्ञासे ही चलती है, उसका उल्लघन कर नही चलती।

भावार्थ—हे पुत्रि ! इनमेसे किसी एकका वरण करो, इस प्रकार पिताकी आज्ञा स्वयवरमे भी रहती है ॥४२॥

अर्थ—यह स्वयवरकी विधि विदेहभूमिमे अत्यधिक प्रसिद्ध है, अब यह यहाँ प्रकट हो रही है। यह यहा सदा ही पूजित रहे, चालू रहे तो क्या सब ओर आनन्दकी समर्थक नही होगी ? अवश्य होगी ॥४३॥

अर्थ—जिस प्रकार **वसुधामहित**–समुद्रके **वारिपूर**–जलसमूहको अच्छी तरह पीकर–ग्रहणकर कन्दवृन्द–मेघसमूह पीन–स्थूल होजाता है और **शस्यसमूह**–धान्य

कन्दवृन्दो मेघसमूह इव पीनः पुलकितो भूत्वा पुनरेवमानमन् नतिं सम्पादयन् शस्यानां सत्पुरुषाणं यवादीना वा समुदाय. समूहः समागमो वा, तस्य विवरणस्य सम्पदाश्रयः सम्पत्तिकरश्चरणचुम्बकोऽपि वा, एव प्रहृष्यन् सन् स एव निम्नरूप ध्वनिं बभार ॥४४॥

मातेव खेलितुमितं तनयं महीपते !
सा बन्धुता च जनता खलु मां प्रतीक्षते ।
गङ्गातटे विधुमतीतवती कुमुद्वती-
वोत्क्लिश्यते किल सुलोचनिका महासती ॥४५॥

मातेवेत्यादि—हे महीपते ! खेलितुमित क्वापि गत तनयं नामाङ्गज मातेव मां सा बन्धुता जनता च प्रतीक्षते खलु । अपि पुनर्गङ्गातटे तिष्ठन्ती महासती सुलोचनिकापि विधुमतीतवती चन्द्रविरहिता कुमुद्वतीवोत्क्लिश्यते, इत्येव विनिवेद्याज्ञामाप्तवान् प्रस्थानस्येति ॥४५॥

श्रीमत्तरङ्गिणी तीर्थाभिषिक्तां राजसंसदः ।
प्रस्तुतप्रसवायास्तु निवृत्य जय आययौ ॥४६॥

श्रीमत्तेत्यादि—जयकुमार प्रस्तुत. प्रसव· समुत्सवः सन्तानोत्पादन च यया तस्या राजसंसद सभातो निवृत्य तु पुनस्तीर्थमित्येवमभिषिक्ता प्रख्यातां यद्वा तीर्थस्थानेऽभि-

---

समूहकी **सम्पदा**-विभूतिका **आश्रय**-आधार हो हर्षित होता हुआ परमध्वनि-**जोरदार गर्जना** करता है, उसी प्रकार जयदेव **वसुधामहित**-चक्रवर्तीके **वारि-समूह**-वचनसमूहको अच्छी तरह पीकर-सुनकर **पीन**-हर्षसे स्थूल हो गया अथवा रोमाञ्चित हो गया और **शस्यसमूह**-सभ्यजनोंकी **सम्पदा**-सम्पत्तिका आश्रय हो अथवा चक्रवर्तीके चरणोंका आश्रय ले नम्रीभूत होता हुआ इस प्रकारके उत्कृष्ट शब्द कहने लगा ॥४४॥

अर्थ—हे महाराज ! जिस प्रकार खेलनेके लिये गये हुए पुत्रकी माता प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार **बन्धुता**-बन्धुपंक्ति और **जनता**-जनतति मेरी प्रतीक्षा कर रही है । साथ ही गङ्गातट पर विद्यमान महासती सुलोचना भी चन्द्रविरहित कुमुदिनीके समान क्लेशका अनुभव कर रही है । (यह कहकर जयकुमारने चक्रवर्तीसे जानेकी आज्ञा प्राप्त की) ॥४५॥

अर्थ—तदनन्तर जयकुमार उत्सवको प्रस्तुत करने वाली राजसभासे लौट कर शोभासम्पन्न उस गङ्गा नदी पर आये, जो तीर्थोंमें अभिषिक्त है, जिसकी तीर्थोंमें गणना की जाती है अथवा जिसके तीर्थ-घाट पर लोग अभिषिक्त होते है,

विक्ता स्नातामत एव सङ्गयोग्यां श्रीमती तां तरङ्गिणीं गङ्गामुत श्रीमत्तं रङ्ग सङ्गमस्थानं यस्या अस्तीति तां श्रीमत्तरङ्गिणीमाययौ प्राप्तवान् ।।४६।।

मत्तेभवत्यथैतस्मिन्नापगा सारसाधिका ।
मध्यं स्पृशति कल्लोलैः समभूत्परिवारिता ।।४७।।

मत्तेत्यादि—सा रसाधिका प्रभूतजलवती किं वा सारसपक्षिभिरधिका शोभनीया आपगा नाम नदी मत्तेभवति उन्मत्तहस्तिसमधिरूढे एतस्मिन् जयकुमारे मध्यं स्पृशति जलस्यान्तरागच्छति सति कल्लोलैस्तरङ्गैः परिवारिता समभूत् उज्जलावस्था गर्तेति तथा चैतस्मिन् मत्ते संसर्गाय तत्परे भवति सति सा काव्यापगा नाम स्त्री रसाधिका जाताभिलाषवत्तया सङ्गमयोग्याभूत् । ततः पुनर्मध्य नाम शरीरप्रदेश त प्रसिद्ध स्पृशति सति तु सा कल्लोलैरानन्दैरनिर्वचनीयैः परि समन्तात् वारिता जलसमूहो यस्यास्तादृशी जाता ।।४७।।

अन्तस्थया च तिमिलक्षणयोद्व्रजन्ती
वृत्यात्तया तिरयितुं समभूत् स्रवन्ती ।
पद्मेश्वरं च करिवाहनमेवमेनं
सन्ध्येव साम्प्रतिकबुद्बुदभावनेन ।।४८।।

अन्तस्थयेत्यादि—मा स्रवन्ती नदी सन्ध्येव दिनावसानवत् समभूत् । एन जयकुमार

स्नान करते है और जो सङ्गमके योग्य रङ्गभूमिसे महित है । ममामोक्तिसे कविने एक यह अर्थ भी प्रकट किया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रसवोन्मुख स्त्रीसे निवृत्त हो तीर्थमे कृतस्नान और श्रीमत्त–लक्ष्मीमे मत्त, अर्थात् उपभोग सामग्रीसे युक्त रङ्ग-क्रीडाभूमिसे सहित स्वकीय अन्य स्त्रीके पास जाता है, उस प्रकार जयकुमार राज्यससद्से निवृत्त होकर श्रीमत्तरङ्गिणीके पास आये ।।४६।।

अर्थ—मत्त हाथीपर सवार जयकुमारने ज्यो ही उस नदीके मध्यभागका स्पर्श किया, अर्थात् जलके भीतर प्रवेश किया, त्योही रसाधिका–अधिक जल वाली अथवा सारमाधिका–सारम पक्षियोसे सुशोभित वह नदो कल्लोलो–लहरोसे घिर गयी ।

अर्थान्तर—एतस्मिन् मत्ते भवति–मभोगके लिये आतुर जयकुमारने जब आपगा नामक स्त्रोके मध्य–कटिप्रदेशका स्पर्श किया, तब वह रमाधिका–मभोग सम्बन्धी इच्छासे परिपूर्ण हो कल्लोला-अनिर्वचनोय उमगोसे घिर गई ।।४७।।

अर्थ—उस समय वह नदी, **करिवाहन**–हाथीपर सवार **पद्मेश्वर**–मुलोचना-

पद्माया सुलोचनाया ईश्वर प्राणनाथ पक्षे पद्मानां कमलानामीश्वरं विकासकरत्वात् करिवाहन हस्तिसमारूढ पक्षे करिवाहन नाम सूर्यमेवभूत तिरयितुं न्यक्कर्तुमात्तया स्वीकृतया अन्तर्मध्ये तिष्ठति सान्तस्था तया अन्तस्थया पक्षे प्रान्तर्वातिन्या, तिमिरेव लक्षणं यस्यास्तया तिमिलक्षणया पक्षे रलयोरभेदात्तिमिरक्षणयाऽन्धकार एव क्षणो यस्यास्तया तादृश्या वृत्त्योद्व्रजन्तो ।।४८।।

सिन्धुरमिममित्यथोपकर्तुं द्युनदीत्वं किल पुनरुद्धर्तुम् ।
निम्नगात्ववुर्यशोऽपहर्तुमुच्चचाल साप्रतोऽस्य भर्तुः ।।४९।।

सिन्धुरमित्यादि—सिन्धुं समुद्रं स्वीकरोति स सिन्धुरस्तमिम जयकुमारस्य हस्तिन-मित्यथोपकर्तुं प्रेम्णालिङ्गितुमिव । द्युनदीत्वमाकाशगङ्गात्व तज्जगत्प्रसिद्धमात्मन पुन-रुद्धर्तुं किल । निम्नमवनतस्थान गच्छतीति निम्नगा तस्या भावस्तत्त्वमेव यद्वुर्यशोवाच्य-भावस्तदपहर्तुमिव सास्य भर्तुं स्वामिनोऽग्रत. सम्मुखे चचाल ।।४९।।

नभोभिधैकतां कृत्वा धृत्वा स्ववीचिबाहुभिः ।
याति स्मालिङ्गितुं यद्वा प्रजवादम्बु अम्बरम् ।।५०।।

नभ इत्यादि—'नभोऽम्बुनि वियत्यपि' इति तदभिधानमेवाभिधा तत एकतामनन्य-

---

के पति जयकुमारको तिरोहित करनेके लिये स्वीकृत अपनी उस वृत्तिसे, जो कि **अन्तस्था**–जलके भीतर स्थित थी तथा **तिमिक्षलणा**–ग्राहरूप थी, सन्ध्याके समान सामने आयी, क्योकि सन्ध्या भी **अन्तस्था**–समीपवर्तिनी और **तिमिलक्षणा**–(**तिमिरक्षणा**) अन्धकारको अवकाश देनेवाली होती है । साथ ही बबूलोके समान तारोसे युक्त होती है ।।४८।।

अर्थ—हाथीके आगे बडी-बडी लहरे उठने लगी । उनसे ऐसा जान पडता था कि नदीने विचार किया है कि यह सिन्धुर–हाथी हमारे पति सिन्धु-समुद्रके पास जाने वाला है, उनका स्नेही है, अत. इसका मुझे उपकार करना चाहिये, फिर मैं द्युनदी–स्वर्गकी नदी कहलाती हूँ, अत मुझे अपनी प्रतिष्ठाका उद्धार करना चाहिये, साथ ही लोग मुझे निम्नगा–अवनत स्थानपर जाने वाली कहते है, यह मेरी अपकीर्ति है, इसका भी मुझे निराकरण करना चाहिये । यह सब विचार कर ही मानो समुद्रकी स्त्री नदी उसके आगे ही हाथीका उपकार करनेके लिये चल पडी हो ।।४९।।

अर्थ—लहरे उठ-उठकर आकाशको छूने लगी, उससे ऐसा जान पडता था

रूपता कृत्वोपलभ्य सौहार्देनैव किलाम्बु जल स्ववीचिबाहुमिर्धृत्वा निजीयलहरिभुजाभि-रारभ्याम्बरमाकाशमालिङ्गितु प्रजवाद्वेगादेव याति स्म ॥५०॥

क्षालितेवाम्बुना वीरवरस्यासीत्तु धीरता ।
विपत्त्रभावमादातुमभ्यवाञ्छत्तु धीरता ॥५१॥

क्षालितेवेत्यादि—वीरवरस्यापि जयकुमारस्य धीरता सहिष्णुता सा त्वम्बुनाम्बुना क्षालितेवासीत् पिगलिता निर्जगाम तु पुनस्सा तस्यधीमंतिरेव लता वल्लरी सा विपदस्त्राण-भाव विपत्त्रभावमुत विगतानि पत्राणि यत्र तस्य भावमेवाभ्यवाञ्छत् सहायतावाञ्छकोत्स इति । स शुशोच किल ॥५१॥

जगतां जीवनेनापि किमित्यत्र नवारिता ।
समश्च विषमः सूक्तिरित्येषास्ति न वारिता ॥५२॥

जगतामित्यादि—जगतां सर्वेषां जीवाना जीवनेन सञ्जीवनदायकेनाम्बुनात्र नवो नूतनश्चासावरिश्च तत्ता किमिति कस्मात्कारणादपि प्राप्ता । समश्च विषम सुहृदपि शत्रुर्भवतीति सूक्ति' सतां वाणी सैषाधुना वारिता दूरीकृता नास्ति तावत् ॥५२॥

हृदालोचयतो मेऽदोऽमृतमेव विषं सत ।
वस्तुतां वस्तुतामङ्गीकरोति श्रीजिना अतः ॥५३॥

कि नामकी एकता मानकर जल अपनी लहररूप भुजाओके द्वारा मानो आकाश-का आलिङ्गन करनेके लिये वेगसे ऊपरकी ओर जा रहा था।

भावार्थ—'नभोऽम्बुनि वियत्यपि' इस कोशके अनुसार नभस् नाम आकाश और पानी–दोनोका है, अत नामकी अपेक्षा एकरूपता मान कर जल अपनी लहररूपी भुजाओके द्वारा अपने मित्रका आलिङ्गन करनेके लिये ही वेगसे उछल रहा था ॥५०॥

अर्थ—वीरवर जयकुमारकी धीरता–सहिष्णुता मानो पानीसे धुल गई थी, गल कर नष्ट हो गई, परन्तु उनकी धीरता–बुद्धिरूपी लताके विपत्त्रभाव–विपत्ति-से रक्षा करने वाले भावकी इच्छा की थी, अर्थात् उनके मनमे सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई ॥५१॥

अर्थ—उन्होने विचार किया कि जो जल जगत्के समस्त जीवोका जीवन है–प्राण रक्षक है, उसने यहाँ नवीन शत्रुता किस कारण प्राप्त कर ली। इस सदर्भ-मे सत्पुरुषोकी जो यह वाणी है कि कभी सम–मित्र भी विषम–शत्रु हो जाता है इसका निषेध नही किया जा सकता ॥५२॥

हृदित्यादि—अद इवममृत जल तदेव विषमिति नामामृत्युदमपि मृत्युदायकमेवे-त्यालोचयत सम्पश्यतो मे हृत् चित्तमेतत् तत्किल हे जिना.। भगवन्तोऽतोऽस्मात्कारणादेव वस्तुतां भवतां तु प्रख्याता स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिरूपा सतो वस्तुतां वास्तवरूपता-मङ्गीकरोति ।।५३।।

वाराणसीभूमिभृतः किशोरी यथोदयन्तं शशिनं चकोरी ।
धृतं समारब्धतमश्चयेन प्रतीक्षते स्माथ जयं रयेण ।।५४।।

वाराणसीत्यादि—समारब्धेन तमसो राहुग्रहस्य चयेनाडम्बरेण धृत समाक्रान्तमुद-यन्तमेव शशिन यथा चकोरी, तथा वाराणसीभूमिभृतोऽकम्पनस्य किशोरी सुलोचना रयेण जलप्रवाहकृतोपद्रवभूतेन प्रणाशरूपेण धृत जय प्रतीक्षते स्म ददर्श ।।५४।।

छायेवानुवर्तिनी भर्तुर्यतमाना मनोषितं कर्तुम् ।
विपदं गते सुखगता नासीत्तस्मिन् सेति कुतस्तु सुभाषी ।।५५।।

छायेवेत्यादि—भर्तु. स्वामिनो जयकुमारस्य मनोषितं यथाभिलषित कर्तुं यतमाना प्रयत्नशीला छायेव स्वशरीरप्रतिमेवानुवर्तिनी सा सुलोचनापि तस्मिन् विपद गते पक्षि-स्वरूप प्राप्ते सति शोभनीया खगता पक्षिता यस्मा. साऽसौ सुखगता नासीन्न बभूवेति भाष-

---

अर्थ—यह अमृत-जल ही विष है, अर्थात् जो अमृत्युका कारण है, वही मृत्युका कारण हो रहा है, इस प्रकार विचार करनेवाले मुझ जयकुमारका हृदय हे भगवन्त जिनेन्द्र ! आपके मतमे प्रख्यात सत् को जो वस्तुता–अस्ति नास्ति रूपता है उसे स्वीकृत करती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार सत्–द्रव्य अस्ति–नास्ति, नित्य-अनित्य आदि रूप है, उसी प्रकार जल भी मृत्युद–मृत्युको देने वाला और अमृत्युद–मृत्युको नही देने वाला, दोनो रूप है ।।५३।।

अर्थ—तदनन्तर जिस प्रकार चकोरी राहु ग्रहके आडम्बरसे ग्रस्त उदित होते हुए चन्द्रमाको देखती है, उसी प्रकार काशीनरेशकी पुत्री सुलोचनाने विनाशकारी जलप्रवाहसे आक्रान्त आते हुए जयकुमारको देखा ।।५४।।

अर्थ—जबकि सुलोचना पतिके वाछित कार्यको करनेके लिये छायाकी तरह उनकी अनुगामिनी रहती थी, तब पतिके **विपदं गते सति**–पक्षिरूपताको प्राप्त होनेपर वह **सुखगता**–उत्तम पक्षिरूपताको क्यो नही प्राप्त हुई ? ऐसा कहने वाला मनुष्य **सुभाषी**–सत्यवादी कैसे हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता ।

माणो जनः सुभाषी समुचितवाक्कुतः कस्माद्ब्रुवितुमर्हतीति चेत् ? विपद गते आपन्ने सति तस्मिन् सा सुखेन गतं यस्याः सा सुखगता सुखिता नासीदिति यावत् ॥५५॥

सुदृशो दृशा विरसताऽपूरि जयस्यान्तरम्बुजाय भूरि ।
अविरलजलयाथ यो हि बन्धुर्विपत्क्षणे स च भवतादन्धुः ॥५६॥

सुदृश इत्यादि—सुदृशः सुलोचनाया दृशा दृष्ट्या कथभूतया ? अविरल बहुतरं रोदनजनित जलं यस्यां सा तया किलाविरलजलया जयस्य नामकुमारस्यान्तरम्बुजाय हृदयकमलाय भूरि भूरि विरसता दुःखप्रायताऽपूरि । ता रुदन्तीमवलोक्य जयकुमारो नितरामेव दुःखभागभूत् । यो हि बन्धुर्हितैषी भवति, सोऽपि विपत्क्षणे आपत्तिकालेऽन्धुः कूप इव सम्पतनायैव भवतादिति ॥५६॥

यदलिगणं हिमकरास्य एष उत्ततार महिमास्य विशेषः ।
पदजलजे उत्तरतामस्माज्जलजातादुपद्रवात् कस्मात् ॥५७॥

यदलीत्यादि—एष महानुभावो हिमकरश्चन्द्र इवास्य मुख यस्य स प्रसन्नवदनः, हिमं शरदुत्तराख्यमृतु करोतीति तदास्य यस्येति च हिमकरास्यः यत्किलालिगण वैरिवर्गं भ्रमरकुल चोत्ततार सोऽस्य महिमा विशेषोऽभूत् । हिमर्तुमवाप्य भ्रमरा विनश्यन्तीति युक्तमेव, किन्तु अस्य पदजलजे चरणकमले द्वे ते च जलजातादस्मादुपद्रवात्कस्मादुत्तरताम्,

---

परिहार यह है कि पतिके **विपद गते सति**–विपत्तिको प्राप्त होनेपर वह **सुखगता**–सुखको प्राप्त करनेवाली नही थी, अर्थात् अत्यन्त दु.खी हो रही थी ॥५५॥

अर्थ—अविरल जलप्रवाहसे युक्त सुलोचनाको दृष्टिने जयकुमारके हृदय-कमलको अत्यधिक विरसता–निर्जलता (पक्षमे नोरसता–दुःखसे पूर्ण कर दिया सो ठीक ही है, क्योकि जिसका जो बन्धु–हितैषी होता है, वह विपत्ति कालमे उसके लिये अन्धु–कूप होता है, पतनका साधन बनता है ॥५६॥

अर्थ—हिमकरास्य–चन्द्रमाके समान मुखवाले (पक्षमे हिम[1] ऋतुको करने वाले मुखसे सहित) जयकुमारने अलिगण–शत्रुओके समूहको (पक्षमे भ्रमरोके समूहको) नष्ट किया था, यह इनकी विशेष महिमा थी किन्तु इनके **चरण-जलज**–चरणकमल जलसे उत्पन्न हुए इस उपद्रवसे क्यो नहीं पार हो सके ? जो शत्रुओके झुण्डके झुण्ड नष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता हो उसके चरण कमल जो कि गणनामे एक नहीं दो हैं, एक जलसे उत्पन्न हुए इस उपद्रवसे पार न हो सकें, इसका प्रतिकार न कर सकें यह आश्चर्य है अथवा चरणजलज

---

१. हिमर्तौ भ्रमरास्वयमेव नश्यातीति प्रसिद्धिः ।

जलजलजानयोरेकजनकत्वाद् भ्रातृभावतयेवास्य चरणौ जलजातमुपद्रव न प्रतिकुरुता-मिति ।।५७।।

अभावमत्रानुभवामि आतुरा न तेऽनुगृह्णन्तु किमीश्वराः सुराः ।
शयालवश्चेन्मम दृष्टिवृष्टितः स्फुटं सहायाः स्युरथासुराः सुराः ।।५८।।

अभावमित्यादि—अहमातुरा कष्टमापन्नाऽत्राभाव निस्सहायत्वमनुभवामि न कोऽपि सहायोऽस्मिन् विषय इति किलाहमभाव तुल्यत्वमस्य महानुभावस्य, तावदनुभवामि, या दशास्य सैव मेऽपि भवेदिति 'अस्तुल्यस्त्वेऽप्यभावेऽपि' इति वचनात् । ते प्रसिद्धा ईश्वरा अनाथाना सहायकारकास्सुरा इन्द्रादयस्तेऽपि किन्नानुगृह्णन्तु । किन्तेऽपि मम दृष्टि-वृष्टित शयालवा जाता , वर्षाकाले देवाना शयनसम्भवादेवमेव चेत्तदाथ पुनरित एवा-सुरा स्फुटं स्पष्टमेव सहाया. स्युरिदानीं तेषामुत्थानकालत्वादिति । अथवाहमत्राभाव-मकारत्वमनुभवामि, शोभनो रकारो यत्र ते सुरास्तत्पुनः ते तकारा अप्यनु गृह्णन्तु, यदि चेत्ते पुनः शयालवस्तदा पुनरकारस्य सुरा असुरास्तेऽनुगृह्णन्तु ।।५८।।

विपदम्बुनिधाविहाधुना घृतलेखेवदृढीभवन्मनाः ।
शुचिवर्णनयाश्रितापि नो महनीयामलमानसैः पुनः ।।५९।।

विपदित्यादि—विपदम्बुनिधौ इहास्मिन् प्राणपतिसम्बुडनलक्षणेऽधुना पुन॰ सा सुलोचना स्त्री घृतस्य लेखेवामलमानसै. सज्जनैर्देवाना मनोभिश्च महनीया श्लाघनीया दृढीभवन्मना. सुदृढतामासादितवती मती नोऽस्माक शुचिवर्णनयाश्रिता शुचि पवित्रो

जलसे उत्पन्न थे और उपद्रव भी जलसे उत्पन्न था अतः एक जनक–जलसे उत्पन्न होनेके कारण दोनोमे भ्रातृभाव स्थापित हो गया। इसलिये चरणजलजने जलजात उपद्रवका प्रतिकार नही किया ।।५७।।

अर्थ—कष्टमे पडी हुई मै यहाँ अभाव–नि.सहाय दशाका अनुभव कर रही हूँ अथवा अभाव–तुल्यावस्थाका अनुभव कर रही हूँ, अर्थात् जिस प्रकार उनका कोई सहायक नही है, उसी प्रकार मेरा भी कोई सहायक नही है । अनाथोकी सहायता करनेकी सामर्थ्य रखने वाले वे इन्द्रादिदेव क्यो नही अनुग्रह करते है ? यदि वे मेरी नयनवृष्टि–लगातार आसुओकी वर्षासे शयन कर रहे है, तो वे असुर ही क्यो नही सहायक होते, क्योकि वर्षाकाल तो उनके उठनेका समय है ।।५८।।

अर्थ—इस विपत्तिरूप सागरमे जिसका मन घृत की रेखाके समान दृढ़ था तथा जो अमलमानसै.–निर्मल हृदय वाले सज्जनो अथवा अमर-

वर्णस्य स्तवनस्य यो नयः प्रणयनं तेनाश्रितापि प्राप्ता—परमेष्ठिस्तवनं कर्तु लग्नेति भावः ॥५९॥

अर्हंदुक्तिसन्नद्धहृद्वारात् प्रतिकर्तुं प्रबभूव च वारा।
आत्मनैव भाव्यं शबरेण धन्वियतापि यथा शबरेण ॥६०॥

अर्हदित्यादि—रलयोरभेदाद् वारा सा सुलोचना 'अर्हन् अर्हन्' इत्यादिभिरुक्तिभिः सन्नद्ध हृद् मनो यस्यास्सा प्रतिकर्तुं तदुपद्रवं प्रबभूव तावदारात्। यतः खलु आत्मनैवात्मनः शबरेण शंकरेण भाव्य न पुनरन्येन केनचिद्यथा शबरेण नाम तेनभिल्लेन स्वयमेव द्रोणाचार्यप्रतिमामारोप्य स्वसहायेन धन्वियतापि प्राप्ता किल ॥६०॥

सुरतरङ्गिणीं तां बहुमानामनुकूलोचितविटपविधानाम्।
वारस्त्रीमुदयन्तीमार्यमापातयितुं हठाद् विचार्य ॥६१॥
तिरस्कुर्वती सती निकाममित्येषा सहसा निजगाम।
शमुद्दीपितं साहसमस्या या विकटा खलु साह समस्या ॥६२॥

सुरेत्यादि—एषा सती सुलोचना तां सुरतरङ्गिणी देवनदी तथैव सङ्गरङ्गरङ्गवतीं कीदृशीम्? बहुमाना सविस्तरामतिशयमानवती च सौरूप्यादिविषये मां कापि स्त्री वानुकर्तुं मर्हतीति। कूल तटमनुवर्तन्ते तेऽनुकूलास्तेषामुचितानां विटपानां वृक्षाणां विधान यत्र ता तथानुकूलाना सम्मुखीकृतानामुचितानां विटपानां कामिनां विधान यत्र तामेतां वारस्त्रीं

मानमैः—देवोके हृदयसे भी प्रशसनीय थी, ऐसी वह सुलोचना परमेष्ठियोके स्तवन मे निमग्न हो गई ॥५९॥

अर्थ—'अर्हन् अर्हन्'—'अरहन्त अरहन्त' इस प्रकारके उच्चारणमे जिसका मन लग रहा था, ऐसी सुलोचना शीघ्र ही प्रतिकार करनेके लिये समर्थ हुई सो ठीक है, क्योकि आत्मा स्वय ही उस तरह शबर—शान्तिको करने वाला होता है, जिस तरहकी एक शबर—भीलने द्रोणाचार्यकी प्रतिमा स्थापित कर अपने आप श्रेष्ठ धनुष विद्या प्राप्त की थी ॥६०॥

अर्थ—यह नदी एक वेश्याको समान थी, क्योकि वेश्या जिस प्रकार **सुरतरङ्गिणी**—सभोगसम्बन्धी रङ्गसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **सुर-तरङ्गिणी**—देवकृत तरङ्गोसे सहित थी। जिस प्रकार वेश्या **बहुमाना**—सौन्दर्य आदिके गर्वसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **बहुमाना**—विस्तृत प्रमाणवाली थी और जिस प्रकार वेश्या **अनुकूलोचितविटपविधाना**—सम्मुखागत परिचित कामीजनोके विधान—कार्यसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **अनुकूलोचित-**

वेश्यां हसन् आर्यं सदाचारिण त जयकुमार हठादापातयितु पतित कर्तुमुद्यन्तीं तत्परां विचार्य ता सहसा तिरस्कुर्वती इतस्ततो हस्तसयोगात्प्रतिकुर्वती न्यक्कुर्वती च निजगाम चचाल, नद्यां प्रविष्टाभूदिति यावत् । एवमस्याः सुलोचनाया श सुखं साहस चोद्दीपितं प्रकटित या च खलु विकटा विशाला समस्यासीत्, साह आक्षेपयुक्ता बभूवेति शेषः । 'आह क्षेपनियोगार्थे' इति विश्व. ।।६१-६२।।

शीलसहस्रांशुतेजसेव शुष्यत्सलिला सा सरिदेव ।
जानुलग्नतामवाप तस्याः सम्प्रति लघुतरभावममस्या ।।६३।।

शीलेत्यादि—शील सतीत्वमेव सहस्रांशुतेजः सूर्यप्रभावस्तेन शुष्यत्सलिला सा सरिन्नदी सम्प्रति लघोरपि लघुर्लघुतरा तस्या भावस्य समस्या यत्र सा यथोत्तर लाघवमासादितवती तस्या सुलोचनाया जानुलग्नतां जङ्घापर्यन्तभावमवाप । लघुवयस्का च पदयोर्लगतीति रीति ।।६३।।

कार्तज्ञतः प्रत्युपकारपूर्तिराविर्बभौ विघ्नितविघ्नमूर्तिः ।
रङ्गेऽत्र गङ्गेत्यभिरामनाम देवीमुदे विस्मयिनो निकामम् ।।६४।।
समस्तनारीनिकरैकभूजिदपूर्ववस्त्राभरणैरपूजि ।
वाराधिकारादिह स्नापयित्वाऽनया नयानयातगुणाश्रयित्वात् ।।६५।।

कार्तज्ञत इत्यादि—अत्र रङ्गे गङ्गातटे कार्तज्ञत कृतज्ञतावशात् प्रत्युपकारस्य पूर्तिर्यया सा प्रत्युपकारपूर्ति, विघ्निता विघ्नं प्रापिता विघ्नमूर्तिः प्रचण्डजलबाधा यया सा, गङ्गेत्यभिराम मनोहर नाम यस्यास्सा देवी विस्मयिनो विस्मययुक्तस्य जयकुमारो निकाममत्यन्त मुदे हर्षायाविर्बभौ प्रकटीभूय शुशुभे । ६३।।

समस्तेत्यादि—अनया गङ्गादेव्या, इह गङ्गातटे नयेन नीत्या आयाताः प्राप्ता ये

विटपविधाना–तटपर स्थित योग्य वृक्षोके समूहसे युक्त थी । ऐसी वेश्यातुल्य नदीको हठपूर्वक **आर्य**–सदाचारी पति जयकुमारको **पतित**–भ्रष्ट (पक्षमे निमग्न) करनेको उद्यत देख कर यह सती-पतिव्रता सुलोचना उसका तिरस्कार करती (पक्षमे हाथोके सयोगसे जलको इधर-उधर करती हुई) शीघ्र ही नदीमे प्रविष्ट हुई । इस तरह सतीका आन्तरिक सुख या,प्रशमभाव और साहस प्रकट हुआ तथा जो विकट समस्या थी, वह **साह**–आक्षेप या समाधानसे सहित हो गई ।।६१-६२।।

अर्थ—सतीत्वरूपी सूर्य तेजसे ही मानो शुष्यत्सलिला होती हुई वह नदी इतनी लघुताका प्राप्त हो गई कि सुलोचनाके घुटनो तक आ गई ।।६३।।

अर्थ—तदनन्तर जा प्रत्युपकारकी पूर्ति करनेवाली थी, जिसने उस जल-बाधारूप विघ्नमूर्तिको नष्ट कर दिया था तथा जिसका 'गङ्गा' यह सुन्दर नाम

गुणास्तेषामाश्रयित्वादाधारत्वात् समस्त नारीणा निखिलस्त्रीणां निकरः समूहः स एवैका-द्वितीया भूर्भूमिस्तां जयति स्म तथाभूता वारा बाला सुलोचना अथ च वारा जलेन स्नप-यित्वाभिषिच्य अपूर्वाणि यानि वस्त्राभरणानि तै अधिकारात्स्वप्रभावात् अपूजि पूजिता। गङ्गादेवी ता सुलोचना जलेनाभिषिच्यानुपमैर्वस्त्रालङ्कारैः सत्कृतवतीत्यर्थः ॥६५॥

सुमनसि मनसि च जयस्य जातं किमिदमभूदिति कण्टकपातम् ।
नखचुण्टिकयेव नूत्नया चाभेदि तया निम्नाङ्कितवाचा ॥६६॥

सुमनसीत्यादि—इदमेतत्किं तावदभूदिति जयस्य नाम कुमारस्य मनसि एव सुम-नसि कुसुमे जात कण्टकपातमिव सन्देह निम्नाङ्कितवाचा नूत्नया नखचुण्टिकयेव संकल्पि-तयाऽभेदि समुच्छिन्नमभूत् ॥६६॥

विपिनविहारे पन्नगदष्टाभ्यतीत्य नारीरूपमकष्टात् ।
सुदृशा घोषितमनुप्रसङ्गाज्जाताहमहो देवी गङ्गा ॥६७॥
भुजगीचरा चण्डिका देवी दुष्टा त्वयि रुष्टा गुणसेविन् ।
स्मोपद्रवकर्त्रीहायाति समयमाप्य विकरोति विजातिः ॥६८॥
ऋद्धिमुपेत्य भवत्या वृद्धिमात्रमेतदेवात्र सद्धि ।
अपितवत्यहमेषा दासीह तु सम्यग्दर्शनाभ्युपासिन् ॥६९॥

विपिनेत्यादि—हे सम्यग्दर्शनाभ्युपासिन् ! अह तावद् विपिनविहारे वनविहरण-काले किलकदा पन्नगेन दृष्टा पुन सुदृशानया घोषितस्य मनोमन्त्रस्य नमस्काराख्यस्य प्रसङ्गादकष्टादेव नारीरूपमभ्यतीत्य गङ्गादेवी जाता। भुजगीचरा सा चण्डिका नामदेवी,

---

था, ऐसी एक देवी उस तटपर आश्चर्यचकित जयकुमारके अत्यन्त हर्षके लिये प्रकट हुई। प्रकट होकर उसने अपने अधिकारसे, न्यायोपात्त गुणोका आधार होनेके कारण समस्त स्त्रीसमूहरूपी भूमिको जीतनेवाली **बाला**–सुलोचनाका **वारा**–जलसे अभिषेककर अपूर्व वस्त्राभरणोके द्वारा उसकी पूजा की ॥६४-६५॥

अर्थ—यह क्या है ? इस प्रकार जयकुमारके मनरूपी पुष्पमे उत्पन्न हुए सन्देहरूपी काटेका उस देवीने निम्नाकित वचनोके द्वारा सरलतासे ऐसा नष्टकर दिया, मानो नखकी चिऊँटीसे खुटक दिया हो ॥६६॥

अर्थ—हे सम्यग्दर्शनके उपासक ! एक बार वनविहारके समय मुझे सापने डस लिया, तब इस सुलोचनाके द्वारा उच्चरित नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे मै अनायास ही स्त्रीरूपको छोडकर यहाँ गङ्गादेवी हो गई और सर्पिणी मरकर

सा च त्वयि रुष्टा, हे गुणसेविन् ! अधुनेहोपद्रवकर्त्री किलायाति स्म। अहतु भवत्याः सुलोचनया ऋद्धिमुपेत्यात्र प्रसङ्गेन तद्वृद्धिमात्रमेतत् तदुपद्रवदूरीकरणरूप किलार्पित- वतीति जानाहि ॥६७-६९॥

ऋणीकृताहं च कदानृणत्व भजेयमाजेतुमिति व्रणित्वम् ।
तद्वृद्धिमात्रैकविशुद्धिहेतुभूतेऽत्र चायामि विभो क्षणे तु ॥७०॥

ऋणीकृतेत्यादि—ऋणीकृताहमनृणत्व कदा भजेयमित्येव व्रणित्व केवल तस्य- वृद्धिमात्रैकविशुद्धिहेतुभूते क्षणे त्वत्रायामि आव्रजामीदानीं तावत् ॥७०॥

इयं गुरुत्वान्महिमानमेति निरुत्तर त्वां वरमाश्रितेति ।
विश्वं त्वरं कर्तुमुपैमि देव ! गुणोदयं तेऽथ विमानमेव ॥७१॥

इयमित्यादि—इय सुलोचना गुरुत्वादुपकारिरूपत्वान्महिमान श्लाघ्यतमत्वमेति, या निरुत्तरमद्वितीय त्वा वर वल्लभमाश्रिता। यतोऽह विश्वमलकर्तुं ते गुणोदय विमानं मानवर्जितमपरिमितपरिणाममुपैमि। इय गुरुत्वाद् गौरवरूपतया महेर्धरिण्या मान महिमानमेति त्वामेव त्वा पुनरम्बरमाकाशवदाश्रितास्ति। अथ हे देव ! विश्व त्वर कर्तुं गतिशील विधातु ते गुणोदय विमान व्योमयानमस्ति ॥७१॥

चण्डिका देवी हुई। वह दुष्टा आपपर रुष्ट है। हे गुणसेवक ! वही उपद्रव करने वाला समय पाकर यहाँ आ रही थी। उसीसे यह विक्रिया थी। मै सुलोचनासे ही इस सिद्धिको प्राप्त हुई हू, मेरी यह वृद्धि इन्हीकी देन है, अत कृतज्ञतावश मुझ दासीने इन्हे यह सब अर्पित किया है ॥६७-६९॥

अर्थ—हे विभो ! मै इस सुलोचनाके द्वारा ऋणीको गई हूं। अब ऋणरहित अवस्थाको कब प्राप्त होऊँगी, यही एक घाव हमारे हृदयमे विद्यमान है। मै इसकी वृद्धि-प्रत्युपकार कब कर सकूँगी, इस प्रकारकी बुद्धिके कारण समयपर मे आई हूं।

भावार्थ—अपने अवधिज्ञानसे मुझे विदित हुआ कि हमारा उपकार करने वाली सुलोचना कष्टमे है, अत उसके निवारणार्थ मै इस अवसर पर आयी हूँ ॥७०॥

अर्थ—यह सुलोचना **गुरुत्वात्**–उपकारी होनेसे महिमाको प्राप्त है और साथ ही आप जैसे अद्वितीय वरको प्राप्त हुई है, अत. मै विश्वको **अरं कर्तुं**–अलकृत करनेके लिये आपके **विमान**–अपरिमित गुणोदयको प्राप्त हो रही हूँ।

अर्थान्तर—यह सुलोचना **गुरुत्वाद्**–भारी होनेसे **महिमानं**–पृथिवीकी महिमाको प्राप्त है और **त्वा अम्बर**–आप रूपी आकाशको प्राप्त है, अर्थात् आप

तया रसोद्वेलनकेलिमेतयोः स्रजाक्षराणामिति कर्णकूपयोः ।
समुद्ययौ स्पर्द्धितया तरामिदं जगज्जयः पूरयितुं तु वारिदः ॥७२॥

तयेत्यादि—तया पूर्वोक्तयाक्षराणा स्रजा मालया रसोद्वेलनकेलिमेतयोर्मर्यादा-क्रान्तसरसभावमाप्तयो कर्णकूपयो स्पर्द्धितयेव किलेद जगद् विश्व पूरयितु तु पुनः जयकुमारो वारिदो वाचालो मेघो वा समुद्ययौतराम् ॥७२॥

न दासि अस्माकमिहासुदासि समासिमध्याप्युत देवतासि ।
जगत्त्रयेऽस्मिन् परमुत्तमापि सूक्तिर्भवत्या सुतरामवापि ॥७३॥

न दासीत्यादि—जय उक्तवानिद यत्किल हे मातस्त्व तावदस्माक दासी नासि प्रत्युते-हासुदा प्राणदात्री असि भवसि, या त्व समासि सक्षिप्त मध्य यस्यास्सा देवतासि । भक्त्या च पुनरस्मिन् जगता पातालभूतलस्वर्गाणा त्रयेऽयवाहमेषा त्व चेति त्रये परमतिशयेनोत्तमा-निर्दूषणा सूक्ति सुतरामवापि किमिति किन्तु नैव । त्वयोक्त दासीभवामीति तन्न युक्तम् । अपि काकुविषयक एवात्र सम्प्रधार्य । अथवा तु भवत्या परस्मै सम्मुखस्थिताय मुत्प्रसन्नता सर्वोत्तमा यत्र सा परमुत्तमा सूक्तिरवापि । त्वद्वागतिमधुरतमेति यावत् ॥७२॥

तत्र प्रणोऽक्षरशोऽनुगत्य वृद्धि सदाजीवनकृत्तु सत्यः ।
वाचो न वा किंकरता भवत्याः कर्णं त्वर कर्तु महोजगत्याः ॥७४॥

दोनो पृथिवी और आकाश रूप हो, अत **विश्व**-ससारको अर कर्तु—गतिशील करनेके लिये आपका गुणोदय **विमान**—व्योमयान रूप है ॥७१॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त अक्षरोकी मालासे रस-हर्ष अथवा जलकी मर्यादातीत क्रीडाको प्राप्त हुए कर्णकूपोकी स्पर्धा-ईर्ष्याके कारण ही मानो जयकुमार रूपी, मेघ (पक्षमे वाचाल) इस जगत्को पूर्ण करनेके लिये अत्यन्त उद्यत हुए ।

भावार्थ—गङ्गा देवीकी अक्षरमालाने कानोको रसाप्लावित किया है, तो मै समस्त जगत्को रसाप्लावित करूँगा, इस ईर्ष्याभावसे जयकुमार वारिद-मेघ अथवा वाचाल हो गये थे, अर्थात् विस्तारसे उत्तर देने लगे ॥७२॥

अर्थ—जयकुमारने कहा-हे मात ! तुम हमारी दासी नही हो, किन्तु असुदा-प्राणदात्री हो अथवा पतली कमर वाली देवता हो। तीनो जगत्मे अथवा तुम और हम दोनोके बीच आपने **उत्तम**-सर्वथा निर्दोष सूक्ति क्या प्राप्त की है ? अर्थात् नही । आपने जो अपने आपको दासी कहा है यह क्या योग्य है ? नही । **परमुत्तमा**-का एक अर्थ यह भी होता है **परस्मै—मुद् यस्यां सा परमुत्, अतिशयेन परमुदिति परमुत्तमा**-दूसरेके लिये अत्यन्त आनन्द देने वाली सूक्ति ॥७३॥

तवेत्यादि—हे देवि ! तवायं प्रण. परोपकारकरणलक्षणः स वृद्धि पाणिनीय-व्याकरणसमुक्तामक्षरशोऽनुगत्य लब्ध्वा सदा सततमेवास्माकं जीवनकृत् प्राण इति भवितुमर्हति। अथवा वृद्धिमधिकतामनुगत्य सम्यगाजीवनकृत् सत्य एव। एव कृत्वा भवत्या वाचोऽधुना सत्य प्रशसनीया, जगत्या कर्णमरकर्तु भूषयितु भवत्या कलताऽतिशय-मधुरता न वा किम् ? अपि तु भवत्येव, कुत्सितमृण कर्णस्वर कर्तुं दूरीकर्तुं पुनर्भवत्याः किंकरता कर्मकरभावस्तु न वा स्यान्नैव सम्भवेत् ॥७४॥

लेखीभवत्यत्र सदाक्षलानां समाश्रयायैवमथाखलानाम् ।
यामो वयं ते खलु पत्रभावमहो दयास्मासु महोदया वः ॥७५॥

लेखीत्यादि—अहो अस्मासु महोदया वो युष्माक या दया साथाखलानां सज्जनाना-मक्षलाना चक्षुरादिमता मानवाना समाश्रयाय लेखीभवति देवतारूपास्ति। ततः खलु वय ते मानवरूपत्वादधुना पत्त्रभाव पदत्राणता यामश्चरणलग्नतामाश्रयाम। अथ चाक्षराणा समाश्रयाय ते दया लेखीभवति लेखरूपतामाप्नोति। तत्र वय पत्रभाव दलरूपता याम.। अस्मासु कृता भवतीना दया सास्मिन् जगतीतले ताम्रपत्रायिता स्वर्णाक्षरा भवति किलेति ॥७५॥

अर्थ—हे देवि ! पराकार रूप आपका प्रण, **वृद्धि**–पाणिनीय व्याकरणमें प्रसिद्ध स्वर विकृतिविशेषको अक्षरश प्राप्तकर **सदाजीवनकृत्**-हमारे जीवन-को अथवा सत्-आजीव–सत् पुरुषोके आजीवनको अथवा वृद्धि-अधिकताको प्राप्तकर समीचीन–आजीवनको करनेवाला सचमुच ही प्राण है। इस तरह आपके वचन सत्य–प्रशसनीय है। अथवा जगती–पृथिवीनिवासी मानवोके **कर्णमरंकर्तुं**–कानोको अलकृत करनेके लिये आपकी **करता (कलता)**–मधुरता क्या नहीं है ? अर्थात् है। अथवा **कर्ण**–कुत्सित ऋणको दूर करनेके लिये आपकी किंकरता–कर्तव्यशीलता क्या नही है, अर्थात् है।

भावार्थ—पाणिनीय व्याकरणमे आ ऐ औ इन तीन स्वरोकी वृद्धि संज्ञा है, अत प्रतिज्ञावाची प्रण शब्दके आदि स्वरको आ वृद्धि करनेसे प्राण शब्द बनता है। इस प्रकार आदि अच्की वृद्धिको प्राप्त हुआ प्रण शब्द हमारे प्राण है। आपके इस प्रणसे ही हमारे जीवनकी रक्षा हुई है ॥७४॥

अर्थ—अहो ! हम लोगोके बीच आप महोदया है, आपकी जो दया है वह **अखल**–सज्जन मानवोके लिये देवता रूप है। इसलिये हम आपकी **पदत्राणता**–को प्राप्त है, आपके चरणोमे सलग्न है। **अथ च**–अक्षरोके आश्रयके लिये आपकी दया लेखरूपताको और हम पत्ररूपताको प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि हम लोगोपर आपकी जो दया है, वह ताम्रपत्रपर अङ्कित स्वर्णाक्षरोंके

श्रीदेवतानां मिलनाय यासां सतां मतिर्यत्नवती स्थिरा सा ।
दृक् चञ्चलाप्नोति तदेव भाग्यं परं समाश्रित्य न याति वाग्यत् ॥७६॥

श्रीदेवतानामित्यादि—यासां श्रीदेवतानां मिलनाय समागमाय सा सतां मतिः स्थिरा यत्नवती च भवति, तदेव देवतानां सम्मेलनमधुना परं भाग्यं समाश्रित्यास्माकं चञ्चला दृगपि आप्नोति, यत्पुनर्वाग् वाणी न याति प्राप्नोति भवतीदर्शनं जातमित्येतदुल्लपाय, किन्तु वाणी वक्तुं न शक्नोतीति किं कुर्म. ॥७६॥

तृणं ममात्मैव तवासनाय समञ्जलित्वं चलनोदकाय ।
मद्बुद्धिवीरुद् विदधातु कानि सम्माननार्थं नहि कौतुकानि ॥७७॥

तृणमित्यादि—अतिथिसत्करणार्थमधुना पुनर्हे देवि ! तवासनायोपस्थापनार्थं ममात्मैव तावत्तृणं भवति लाघवमाप्नोति, तत एवमासनोपादानरूपतृणभाव लभते । चलनोदकाय च सम्यगञ्जलित्व हस्तसंयोजनरूप तदेव मम परममनोहर जलित्व जलधारित्व स्यात् । मद्बुद्धिरेव वीरुत् वल्लरी, सा तव सम्माननार्थं कानि कौतुकानि विनोदचेष्टितानि कुसुमानि च नहि विदधातु तावद् विदधात्वेव ॥७७॥

यशसा श्रुतिः साक्षरा यासां दीव्यति दृक्पुनरस्य सुभासा ।
जयति प्रणोऽपरश्च सकाशात्किन्नु पवित्रा पाशकला सा ॥७८॥

समान है ॥७५॥

अर्थ—जिन श्रीदेवताओके मिलन–समागमके लिये सत्पुरुषोकी स्थिर बुद्धि सदा प्रयत्नशील रहती है, उन्ही देवताओके उस मिलनको, उत्कृष्ट भाग्यका आश्रय ले हमारी चञ्चल दृष्टि प्राप्त हो रही है, परन्तु हमारी वाणी प्राप्त नही हो रही है ।

भावार्थ—जिन देवताओंके मिलनको सज्जन पुरुष सदा इच्छा रखते है, उस मिलनको हमारी चञ्चल दृष्टि अनायास प्राप्त हो रही है, परन्तु हमारी वाणी उस मिलनको प्राप्त नहीं हो रही है, अर्थात् कुछ कहनेके लिये समर्थ नही है ॥७६॥

अर्थ—हे देवि ! आपके बैठनेके लिये मेरी आत्मा ही है और चरणोदकके लिये मेरी अञ्जलि ही जलित्व–जलधारक पात्र है । फिर मेरी बुद्धिरूपी लता आपके सम्मानके लिये किन विनोदचेष्टाओ अथवा पुष्पोको न करे अर्थात् सभीको करे ॥७७॥

यशसेत्यादि—श्रुतिर्नाम शास्त्रप्रणीति, सा यासां यशसा साक्षरा तत्र देवतानां यशोगानसद्भावात्। यद्वा श्रुतिरस्मवादे. कर्णशष्कुली यासां यशसा साक्षरा कर्णपुटेन देवतानां यशः श्रुतमस्ति ततश्च साक्षला पाशकवती। अद्य पुनः सुभासावलोकनेन दृक् दृष्टिरसौ दीव्यति तासामेव देवतानां दर्शनात् दीव्यभावमाप्नोति द्यूतक्रीडां पाशक्षेपण-क्रियां करोति। प्रणश्चापर एव कृतज्ञतालक्षणो जयति। इत्येवं सकाशात्पवित्रा पाशकला सा पाशस्य कला क्रिया किन्नु ? ॥७७॥

सुरोचिता नाम समस्ति यत्क्रिया धरातरेऽस्मिन् समभावि मत्प्रिया।
त्वया मरुत्संविदिते प्रमाणिता विमानिनीयं न च मानवीक्षिता ॥७९॥

सुरोचितेत्यादि—यस्याः क्रिया चेष्टा नाम सुरोचिता देवानां योग्याऽत एव सुष्ठु-रोचिता सुरोचिता रमणीया च समस्ति, यस्मिन् धरातरे मरुद्भिर्देवैरुत समीरणैः संवि-विते यद्वा मरुदिति संविदिते सञ्जाते त्वया प्रमाणीकृता सम्मानितेय विमानिनी मानरहिता देवतैवास्ति न च पुनर्मानेन वीक्षिता वृथा गर्विणी। यद्वा मानवी मनुष्यिणी नेक्षिता न दृष्टा। इयमपि देवतैव नास्याश्चेष्टित मानवतुल्यं किन्तु परम श्लाघनीयम् ॥७९॥

यदस्ति भक्ताय समक्षताप्तिस्तव स्तवः स्वर्गिणि ! सूपकार.।
व्यधायि अस्माभि रहो ललामाशुभक्षणायाञ्जलिरेव सारः ॥८०॥

यदस्तीत्यादि—हे स्वर्गिणि ! देवते ! यद् यस्मात् कारणाद् भक्ताय नाम सेव-कायास्मादृशाय समक्षताया साक्षात्कारिताया आप्ति समुपलब्धिर्यत्र सोऽसौ तव स्तव.

अर्थ—श्रुति-शास्त्रोकी रचना जिनके यशसे साक्षर है, सार्थकताको प्राप्त है अथवा हम लोगोके कान जिनके यश.श्रवणसे साक्षर हैं, अथवा साक्षल-पासेसे सहित है। आज आपके दर्शनसे हमारी दृष्टि क्रोडाको प्राप्त हो रही है, अथ च द्यूतक्रीडा-पासा फेकनेकी क्रीडा कर रही है और आपका प्रण जीवरक्षा रूप जसवत है, अत आपका दर्शन क्या पवित्र पाशकला-द्यूतकीडा है ? ॥७८॥

अर्थ—जिसकी क्रिया सुरोचिता-देवोके योग्य अथवा सु-रोचिता-अत्यन्त मनोहर है, ऐसा मेरी यह प्रिया-सुलोचना मरुत्सविदित-देवोके द्वारा ज्ञात अथवा प्रशस्त वायुसे प्रसिद्ध इस धरातल पर आपके द्वारा प्रमाणित-अत्यन्त सम्मानित हुई है, अत विमानिनी-विमानवती देवी है, मानवी-मनुष्यिणीरूपसे नही देखी गई है, अथवा विमानिनी-मानरहित होकर भी मानवीक्षिता-मानसे देखी गई है, यह विरोध है। परिहार ऊपर किया जा चुका है ॥७९॥

अर्थ—अहो देवते ! जिस कारण मुझ जैसे भक्तके लिये साक्षात्कारकी प्राप्ति रूप आपका प्रसङ्ग प्राप्त हुआ, यह एक बडा उपकार है। इसीलिये हमने

प्रस्ताव: सूपकारोऽतिशयेनोपकारकरणलक्षणस्ततः पुनरस्माभिः, अस्मै शुभक्षणाय पुण्यसमयाय ललामाञ्जलिरेव सारः कृतः चरणबन्धनार्थं तेऽधुना । अथवा भक्ताय नामोदनाय सम्यगक्षतानां तण्डुलानामाप्तिर्यतस्तव स्तवः सूपकारो रसवतीकरो वर्ततेऽत एव च पुनरस्माभिर्भक्षणायाशनकरणायाञ्जलिरेव कृतः । अहो इति प्रसक्तिः ॥८०॥

पत्युक्तिमर्थातिशयेन गुर्वीं धृत्वा कराग्रेण मुदां सदुर्वी ।
स्वयं लघुत्वाच्चलनैकवृक्का बभूव सौभाग्यसुमैकसृक्का ॥८१॥

पत्युक्तिमित्यादि—सौभाग्यसुमैकसृक्का सौभाग्यकुसुमनिर्माणकरी सुलोचना मुदां सदुर्वी प्रसन्नताभूमिः सती, अर्थातिशयेन गुर्वीं गभीरार्थवतीं तत एव वयोवृद्धां च पत्युक्तिं जयकुमारगिरं कराग्रेण धृत्वा हस्तसयोजनपुरस्सरं श्रुत्वा संबाह्य च पुनः स्वयं लघुत्वाद्विनीतत्वाबल्पवयस्कतया च चलनैकवृक्का चरणमन्नीतदृष्टिरभूत् ॥८१॥

ह्रीविस्मितिस्फातियुजिन्त्रिनद्यां स्नात्वैव वृत्तोत्तमपुष्पभासा ।
चक्रे सुनेत्रा पतिदेवतार्चां रदालिक्लृप्ताभिनवांशुका सा ॥८२॥

ह्रीत्यादि—ह्रीश्च विस्मितिश्च स्फातिश्च ता युनक्तीति तस्यां त्रिनद्यां नदीत्रयधारायां स्नात्वा रदानां दन्तानामाल्या पङ्क्त्या क्लृप्तं सम्पादितमभिनवमंशुकं रश्मिजालो वस्त्रं च यया सा सुनेत्रा काशीराजपुत्री वृत्तस्य छन्दस एवोत्तमपुष्पस्य यद्वा वृत्तस्य स्वीकृतस्योत्तमपुष्पस्य भासा शोभया पतिश्च देवता च तयोर्द्वयोरर्चां चक्रे कृतवती ॥८२॥

इस शुभ क्षणके लिये सारभूत सुन्दर अञ्जलि बांधी है, अर्थात् आपने अपने साक्षात्कारका जो अवसर प्रदान किया, उसके लिये मैं हाथ जोडकर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

अर्थान्तर—भक्ताय-भातके लिये समक्षत-अच्छे चावलोकी प्राप्ति हुई है । इसलिये सूपकार-रसोइया आपकी स्तुति प्रशंसा करता है और इसीलिये मैंने उसे खानेके लिये शीघ्र ही अञ्जलि बाँध रक्खी है ॥८०॥

अर्थ—सौभाग्यरूप पुष्पका निर्माण करने वाली सुलोचनाने प्रसन्नताकी भूमि बन अर्थके अतिशयसे श्रेष्ठ पतिकी वाणीको हाथ जोडकर सुना और वह स्वयं लघु-नम्र अथवा अल्पवयस्क होनेसे पतिके चरणोमे सलग्नदृष्टि हो गई ॥८१॥

अर्थ—लज्जा, विस्मिति और उदारताके संगम रूप नदीत्रय (त्रिवेणी) मे स्नान कर सुलोचनाने छन्दरूपी उत्तम पुष्पोकी कान्ति और दन्तपंक्तिसे निर्मित नूतन वस्त्रके द्वारा पति और देवताकी पूजा की ॥८२॥

आमन्त्रदाना किमु देवताहमहो मदिष्टा किमु देवताह ।
मच्चित्तभानामसुदेवतापि त्वं येन लोकेष्विन देवतापि ॥८३॥

आमन्त्रदानेत्यादि—हे इन ! स्वामिन् ! मदिष्टा देवता किमु तावदाह, आमन्त्रदाना नमस्कारमन्त्रदानतयाऽमन्त्रणकर्त्री अहं किमु देवतास्मि ? अहो इत्याश्चर्योच्चारणे । लोकेषु त्रिषु जगत्स्वपि त्वं मच्चित्तभानां मम मनोवृत्तीनाम् असुदेवता प्राणसम्पादनकर्त्री, अपि च पुनरियं देवतापि मम चित्तभा मम चेतसि प्रकाशकर्त्री सुदेवता सूर्यकान्तिसदृशी विद्यते ॥८३॥

देवीति यासौ नवनीतसम्पत्तयोदियायाभ्युदितानुकम्प ।
दुग्धस्य धारेव किलाल्पमूल्यस्तत्रानुयोगो मम तक्रतुल्यः ॥८४॥

देवीत्यादि—हे अभ्युदितानुकम्प ! दयाधारिन् स्वामिन् ! यासौ देवी सा दुग्धस्य धारेव किल नवा च तथा नीता समुपलब्धा सम्पत् तस्या भावस्तयाऽथवा नवनीतस्य म्रक्षणलक्षणस्य सम्पद् यत्र तत्तया वोदियाय । तत्र ममानुयोगः सम्बन्धस्तक्रतुल्योऽल्पमूल्य एव, यथा तक्रसयोगेन दुग्धस्य दधिपरिणतिर्भूत्वा नवनीतसम्पत्तिकर्त्री स्वयमेव भवति, तथासौ मम निमित्तमात्रेण नमस्कारमन्त्रोपादानेन देवीभावमवाप ॥८४॥

अर्थ—हे इन ! हे स्वामिन् ! मेरी इष्टदेवता क्या कह रही है, नमस्कार मन्त्र देनेसे क्या मै आमन्त्रण करने वाली देवी हो गई ? बडे आश्चर्यकी बात है ? यह देवता तो मेरी मनोवृत्तियोके लिये **आसुदेवता**–प्राणसरक्षण करने वाली देवी है, साथ ही **मम चित्तभा नाम सुदेवता**–मेरे चित्तकी दीप्तिरूपी श्रेठ देवता है, अथवा **चित्तमानामिनदेवता**–चित्तके प्रकाशके लिये इनदेवता–सूर्यदेव है (इनश्चासौ देवश्चेति इनदेव , इनदेव एव इनदेवता, स्वार्थे तल्) ॥८२॥

अर्थ—हे दयाधारी स्वामिन् ! यह जो देवी है, वह दूधकी धाराके ममान नवीन रूपसे प्राप्त सम्पत्तिके रूपमे उदित हुई है, अथवा मक्खनरूप सम्पत्तिके रूपमे उत्पन्न हुई है । इस विषयसे मेरा सयोग तो तक्रके समान अल्पमूल्य है, अर्थात् कोई मूल्य नही रखता ।

भावार्थ—जिस प्रकार तक्रके मयोगसे दूध दहीरूप होता हुआ स्वयं नवनीत–मक्खन बन जाता है, उसी प्रकार मेरे निमित्तमात्रसे प्राप्त नमस्कार मन्त्रके ग्रहण करनेसे यह देवीपर्यायको प्राप्त हो गई । इसके देवी बननेमे मेरा कुछ मूल्य नहीं है ॥८४॥

त्वां मदनमनोहरं व्रजामि यथा तथा कुवलये न यामि ।
किमुपवनश्रियमेनां स्वामिन् परमञ्जरीङ्कितं विदधामि ॥८५॥

त्वामित्यादि—हे स्वामिन् ! कुवलयेऽस्मिन् धरातले यथा त्वा मदन इव कामदेव-अथवाम्रवृक्षवत्सरसतासम्पादकतया मनोहरं व्रजामि जानामि, तथा पुनरेनां देवतामपि पवना पुनीता श्री. शोभा चेष्टा च यस्यास्तां किम् न यामि, यद्वा पुनरुपवनश्रियमेनां किं न यामीति तावत् । अहमपि परं केवलमञ्जलीङ्कितं स्वकीयकरयुगसम्पुटं विदधामि, यद्वा परया समुचिताया मञ्जर्या इङ्कितं विदधामि तव सेवाकरी भवामि । पुनरियं तु सदाधार-भूतैवावयोरिति ॥८५॥

त्वदंघ्रियुग्माय ममासनं न कलाब्जयुग्मं भुवि दीयते पुनः ।
न्यगाद्ययुक्तं खलु देव ते क्वचिद्विना ममोरः परमासनं च सत् ॥८६॥

त्वदघ्रीत्यादि—हे देव ! स्वामिन् ! ते तुभ्यमिति यावत्, तथा हे देवते ! इति च देवतासम्बोधनमपि सम्प्रधार्यम् । त्वदंघ्रियुग्माय तव चरणद्वितयायैव ममासनं विद्यतेऽमुष्मिन् तिष्ठ तावदिति । न नेत्येवं पुनस्त्रुटिस्मृत्य कलाब्जयुग्म करकमलद्वितयमेव भुवि दीयते पुनस्त्ववासनायेति तदेव युक्तम् । पुनरपि त्रुटिस्मरणं कृत्वा वदति, यदुक्त तदयुक्तं न्यगादि खलु, यतस्तावन्ममोरःस्थलं विना परमन्यदासनं सत्प्रशंसायोग्यं न भवति तदेव तावद्योग्यमस्ति ॥८६॥

सत्सुरतेयं तव सुमनस्त्व कृत्वा मधुरक्षणैकतत्त्वम् ।
अभ्रमरीतिकरी निगदामि मानवलोकमिमं शिवगामिन् ॥८७॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! इस धरातल पर मै जिस प्रकार आपको मदन—कामदेव अथवा आम्रवृक्षके समान मनोहर जान कर प्राप्त हुई हूँ, उसी प्रकार इसे पवनश्री—पवित्र लक्ष्मी अथवा उपवनश्री—उद्यानकी शोभा जानकर क्या प्राप्त नही हूँ ? इसोलिये मै **अञ्जलीङ्कितं विदधामि**—हाथ जोडकर नमन करती हूँ । अथवा आप आम्रवृक्ष है, यह उपवनकी शोभा है, तो मै आप दोनोके आश्रयसे विकसित होनेवाली मञ्जरी हूँ ॥८५॥

अर्थ—हे देव ! हे स्वामिन् ! हे देवते ! प्राणरक्षिके ! आपके चरण-युगलके लिये मेरा आसन ही आसन है, अर्थात् आप मेरे आसन पर पदार्पण कीजिये, अथवा नहीं नही, मेरा करकमलयुगल रूप आसन ही पृथिवी पर दिया गया है । अथवा नही, गलत कह दिया गया, मेरे वक्षःस्थल (हृदय) के सिवाय दूसरा अच्छा आसन कहा है ? अर्थात् कही नही ॥८६॥

सत्सुरतेत्यादि—हे शिवगामिन् ! इयं देवता तावत् सत्सुरता सती प्रशसायोग्या सुरता देवभावो यत्र सा सत्सुरतास्ति । तव च सुमनस्त्व शोभनमनस्कत्वं देवत्वं च समस्त्येव । अह पुनरभ्रमरीतिकरी नि·सन्देहचेष्टाकारिणीमं मानवलोकं मर्त्यलोकं मधुरक्षणैकतत्त्वं मधुरस्य क्षणस्यैक तत्त्व सुखसम्पत्तिर्यत्र तत्स्वर्गं निगदामि । तथा पुनरियं सत्सु सज्जनेषु मध्ये रता बल्लरीरूपा भवति, तव सुमनस्त्व कुसुमत्व प्रफुल्लवदनत्वान्निगदामि । भ्रम-रीणामलिनीनामीतिकरी बाधाकर्त्री न भवामीति सा पुनरभ्रमरीतिकरीम भूतल मधु-लक्षणस्य वसन्तस्वरूपस्यैक तत्त्व यत्र तदेव वदामि ॥८७॥

सत्करोमि यत्पदयुगं सन्निधिरयमिह नाम ।
मम कर्मासन्निर्वृतं सममधिगतं ललाम ॥८८॥

सत्करोमीत्यादि—अहं यस्य पदयुग चरणयुगल सत्करोमि सेवयामि स सन्निधि-रस्माक निकटवर्ती नामेह सा सन्निधिर्निधानोत्तम इव वर्तते नाम, यतो ममासत्कर्म दुरित निवृत्त भवति । ललाम प्रशस्त कर्म सुकृताख्य तदिदानीं सममेव सहसैवाधिगतमस्ति, पुण्योदय विना सत्समागमो न भवतीति । दोहकछन्द. । इव वृत्त चतुरात्मक लिखित्वा 'सत्मङ्गम' इति सर्गनामनिर्देशश्चाराक्षरैर्भवति ॥८८॥

अर्थ—हे शिवगामिन् ! यह देवी **सत्सुरता**–प्रशसनीय देवत्वसे सहित है और आपका **सुमनस्त्व**–देवत्व (पक्षमे प्रसन्नमनस्त्व) प्रसिद्ध है ही, ऐसा मान कर सन्देहरहित चेष्टाको करनेवाली मै इस मानवलोक–मर्त्यलोकको **मधुरक्षणैक-तत्त्व**–मनोहर समयरूप अद्वितीय तत्त्वसे युक्त–स्वर्ग कहती हूँ, अर्थात् यह मर्त्य-लोक मुझे देव-देवियोमे युक्त स्वर्ग जैसा लग रहा है ।

अर्थान्तर—हे शिवगामिन् ! यह देवी **सत्सुरता**—सत्पुरुषोके बीचमे सुन्दर लता है, आपका **सुमनस्त्व**—पुष्पत्व प्रसिद्ध है हो और मे **अभ्रमरीतिकरी**–भ्रमरियोको बाधा न करनेवाली भ्रमरी हूँ, अतः इस **मानवलोक–मर्त्यलोक** अथवा मा लक्ष्मीसे युक्त नव-नवीन लोकको **मधुरक्षणैकतत्त्व**–मधु-पुष्परसकी रक्षा करना ही जिसका प्रमुख तत्त्व है, अथवा मधुलक्षण–मधु नामसे जो सहित है, ऐसा वसन्त कहती हूँ । लता लहलहा रही है, फूल खिल रहा है, उन पर भ्रमरी मँडरा रही है और लोक–पृथिवी तल शोभासे नित्य नवीन रूप धारण कर रहा है । इसलिये यह ऋतुराज वसन्त ही है, ऐसा मैं कहती हूँ ॥८७॥

अर्थ—मै जिनके चरणयुगलकी सेवा कर रही हूँ, वह यहाँ मेरे लिये समी-चीन निधिरूप है । मेरा पाप कर्म दूर हो गया है और पुण्य कर्म शीघ्र ही उदित हुआ है ॥८८॥

भक्तानामनुकूलसाधनकरं वीक्ष्यार्हतां संस्तवं
रङ्गत्तुङ्गतरङ्गभृद्घनवने पोतोपमं प्रीतिदम् ।
तस्मिंस्तिग्मकरोदये च न इहास्त्वन्तस्तमोनाशनं
नर्मारम्भकसारमद्भुतगुणं वन्दे सदङ्कं पुनः ॥८९॥

भक्तानामित्यादि—तस्मिन् पूर्वोक्ते तिग्मकरोदये सूर्योदये प्रभातवेलायामर्हतां जिनेन्द्राणां संस्तवं स्तवनरूपमर्चनं वीक्ष्यावलोक्य, कथभूतं संस्तवम् ? भक्तानां भक्तिकराणामनुकूलसाधनकरमुचितसाधनसयोजकम्, पुनश्च रङ्गतस्तुङ्गान् तरङ्गान् बिभर्ति तथाभूतं यद्घन गभीरं वनं जलं तत्र पोतोपम जलयानतुल्यम, किञ्च प्रीतिद हर्षप्रदं त वीक्ष्येह लोके नोऽस्माकमन्तस्तमसो मानसाज्ञानतिमिरस्य नाशनमस्तु भवतु । पुनः नर्मारम्भकसारम् अद्भुता विस्मयकरा अनन्तज्ञानादयो गुणा यस्य तम्, सता सत्पुरुषाणामङ्कमाभूषणस्वरूपमर्हन्त वन्दे । अथ च यस्मिन् प्रभातवर्णनानन्तर जयकुमारकृतगणधरवलयार्चनवर्णन वर्तते, यस्मिश्च जयकुमारोपरि सघनजलोपद्रवस्तत्प्रतिकारश्च वर्णित , यस्मिन् वनक्रीडाजलक्रीडादीनां नर्मणा सुन्दरवर्णन विद्यते, यस्मिश्च माधुर्यौजःप्रसादादिगुणा प्रस्फुटिता. सन्ति, यस्मिश्च प्रशस्ताः कोमलकान्तपदावलीभूषिता अङ्काः सर्गा सन्ति, त जयोदय वन्दे प्रस्तौमि ॥८९॥

(भरतवन्दनश्चक्रबन्धः)

अर्थ—जो भक्तजनोके लिये अनुकूल साधन जुटाने वाला है, उछलती हुई ऊँची लहरोसे युक्त अगाध जलमे जलयानके समान है तथा प्रीतिको उत्पन्न करने वाला है, ऐसे अर्हन्त भगवान्के स्तवनको देखकर सूर्योदयके तुल्य उस अर्हत्स्तवनके रहते हुए मेरे अन्तस्तिमिर—मानसिक अन्धकारका नाश हो। अद्भुत गुणोसे युक्त तथा सत्पुरुषोके आभूषण स्वरूप उन अर्हन्त भगवान्को पुनः नमस्कार करता हूँ। यहाँ शब्दविन्यासकी महिमासे एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि जिसमे प्रभात तथा सूर्योदय वर्णनके प्रसङ्गमे जयकुमारके द्वारा गणधरवलयके रूपमे अर्हन्त भगवान्का स्तवन किया गया है, जिसमे गजारूढ हो गङ्गामे विहार करते समय जयकुमार पर चण्डिका देवीके द्वारा भयकर जलोपद्रव और गङ्गा देवीके द्वारा किये हुए प्रतोकारका वर्णन है, जिसमे सूर्योदय और उपलक्षणसे चन्द्रोदय तथा रात्रि आदिका सुन्दर निरूपण है, जिसमे वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा तथा अन्य क्रीड़ाओका प्रसङ्गोपात्त वर्णन है, जो श्लेष, प्रसाद तथा माधुर्य आदि गुणोंसे विभूषित है, एवं समीचीन अङ्को–सर्गोसे सहित है, ऐसे जयोदय काव्यको मैं प्रस्तुत करता हूँ ॥८९॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
सर्गः सम्प्रति याति विंशतितमस्तन्निर्मितेऽस्मिन्नयं
स्फूर्जद्वारितरङ्गिताखिलजगच्चित्तः प्रतीतः स्वयम् ॥९०॥

श्रीमानिति—स्फूर्जती या वारि: सरस्वती वाक्चातुरी तया तरङ्गितमान्दोलित-मखिलजगतश्चित्तं येन तथाभूत इति सर्गविशेषणम् । शेषं पूर्ववत् ॥९०॥

इति वाणीभूषण-ब्रह्मचारीभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयमहाकाव्ये
विंशतितमः सर्गः ।

●

एकविंशतितमः सर्गः

शासनं समुपगम्य भूपतेः पत्तनं प्रति पुनर्विनिर्गतेः ।
इत्थमाह समनीकिनीश्वरो गत्वरत्वसमयातिसत्वरः ॥१॥

शासनमित्यादि—गत्वरस्य गमनशीलस्य य समयः सिद्धान्तोग मनकरणं तस्मिन्न-तिसत्वर शीघ्रताकर. सन् समनीकिनीश्वरः सेनानायकः स भूपतेर्जयकुमारस्य शासन-माज्ञां समुपगम्य लब्ध्वा, किं तच्छासनम् ? पत्तनं गजपुरं प्रति विनिर्गतेर्गमनकरणस्य स पुनः सेनापतिरित्थं निम्नोक्तमाह। अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥१॥

सज्जिताः सपदि हस्तिसंचयाः स्युश्च कश्यकुथसंयुता हयाः ।
युग्यसंयुतयुगा अथो रथा गन्तुमाग्रहधराः सता पथा ॥२॥

सज्जिता इत्यादि—सता पथा समीचीनमार्गेण गन्तुमाग्रहधराः सपदि हस्ति-संचयाः सज्जिता घण्टादिभिरलंकृताः स्युः, कश्यकुथेन पृष्ठासनेन संयुता हयाः स्युः, युग्याभ्यां युग धतुं योग्याभ्यां हयाभ्यां संयुतानि युगानि येषां ते रथाः स्युर्भवेयुः । अथो सुभगसवावसूचने । आद्यक्रिया दीपकालंकारः ॥२॥

सर्व एव कटिबद्धतामति सद्य एव निजपत्तनं प्रति ।
यान्तु सम्प्रति हि गम्यते विभोर्जायते समववाद एव भोः ॥३॥

सर्व इत्यादि—सर्वे जना एवातिसद्यः शीघ्रमेव निजपत्तनं हास्तिनागपुरं प्रति कटि-बद्धतां यान्तु गमनायोद्यताः सन्तु । भो लोकाः शृणुत, सम्प्रति हि गम्यते । विभोः स्वामिन एष एव समवाद समाचारो जायते ॥३॥

अर्थ—गतिशील मनुष्यके गमनरूप सिद्धान्तमे शीघ्रता करनेवाले सेनापति-ने 'हस्तिनापुरकी ओर चलो' इस प्रकार राजा जयकुमारकी आज्ञा पाकर उनसे इस प्रकार कहा ॥१॥

अर्थ—समीचीन मार्गसे चलनेके लिये उतावली करनेवाले हाथियोके समूह शीघ्र ही सजाये जावें, घोडे पलानसे सहित किये जावें और रथ समर्थ-शक्ति-शाली घोडोसे युक्त किये जावें ॥२॥

अर्थ—अरे लोगो ! सुनो, अपने नगर हस्तिनागपुरकी ओर चलनेके लिये सभी लोग बहुत शीघ्र कटिबद्धताको प्राप्त होओ, कमर कसकर तैयार होओ । अभी चलना है, यह स्वामीका आदेश है ॥३॥

प्रस्फुरत्तरमुदङ्कुरश्रिय वर्मितुं वपुरनल्पसत्क्रियम् ।
अद्भुता ननु जनेष्वभूत् त्वरा निर्गमक्षणसवेशतत्परा ।।४।।

प्रस्फुरत्तरमित्यादि—ननु तदा जनेषु प्रस्फुरत्तराणा समुद्भवता मुदङ्कुराणां हर्षसंजातरोमाञ्चानां श्री शोभा यत्र तत् यद् निजीय वपु. शरीरम्, कीदृशं तच्छरीरम् ? अनल्पा बहुप्रकारा सत्क्रिया सज्जीकरणवृत्तिर्यत्र तत्, वर्मितुं कवचितं कर्तुं निर्गमक्षणः प्रयाणसमयस्तस्य सवेशस्समीपभावस्तत्र तत्परा तल्लीनाऽद्भुताऽभूतपूर्वा त्वरा शीघ्रताऽभूत् ।।४।।

आव्रजत्यतिजवेन पत्तनं मा विचारमिह यान्तु किञ्चन ।
ग्रीवया लुलितया मुदं वहन्निर्ययावपि महाङ्गसंग्रहः ।।५।।

आव्रजतीत्यादि—हे लोका. ! पत्तन नगरमतिजवेन सद्य एवाव्रजति किलेह किञ्चन विचारं मा यान्तु कुर्वन्त्विति किल सवदन् निजया लुलितया मुहुश्चलया ग्रीवयाऽथ च मुदं वहन् महाङ्गानामुष्ट्राणा सग्रहः समूहो निर्ययौ ।।५।।

स्यन्दनं समधिरुह्य नायकः कौतुकाशुगसुरूपकायकः ।
प्रीतिसूः सुमृदुरूपिणी प्रिया स प्रतस्थ उचितादरस्तया ।। ६ ।।

स्यन्दनमित्यादि—नायको जयकुमार स कौतुकाशुगेन कामदेवेन पुष्पबाणेन सुरूपस्तुल्यः कायो यस्य सः, तस्य प्रिया सुलोचना च प्रीतिसूः प्रेमसमुत्पादिका रतिर्वा सुमृदुरूपिणी कोमलरूपधारिणी । तया सह स्यन्दन रथ समधिरुह्योचितादरः समुपलब्धादरभावः सन् प्रतस्थे प्रस्थान चकारेत्युपमा ।।६।।

अर्थ—जिसमे अत्यधिक मात्रामे प्रकट होनेवाले रोमाञ्चोकी शोभा विद्यमान् है तथा जिसे अनेक प्रकारसे सुसज्जित किया गया है, ऐसे अपने शरीरको कवचयुक्त करनेके लिये मनुष्योमे प्रस्थानकाल पूर्व ही अभूतपूर्व उतावली हुई थी ।।४।।

अर्थ—हे लोगो ! हस्तिनापुर नगर शीघ्र ही आ रहा है, इसमे आप कुछ भी विचार न करे, इस तरह चञ्चल ग्रीवासे कहता और हर्षको धारण करता हुआ ऊँटोका समूह निकला ।।५।।

अर्थ—नायक जयकुमार कामदेवके समान शरीरसे सहित थे और कोमलागी प्रिया-सुलोचना प्रीतिको उत्पन्न करने वाली रति थी । इस प्रकार जयकुमारने सुलोचनाके साथ रथपर आरूढ होकर आदर भावसे प्रस्थान किया ।।६।।

स्पर्द्धितापि पुनरग्रगामिता-सन्नियोगविषये मिथो रसात् ।
तद्रथस्य च मनोरथस्य चानन्यवेगिन इहाविराप सा ॥७॥

स्पर्द्धितापीत्यादि—इहानन्यवेगिनोऽन्यातिशायिवेगवतस्तद्रथस्य जयकुमाराख्ढ-रथस्य मनोरथस्य च मिथः परस्परं पुनरग्रगामितासन्नियोगविषये किलावयोः कोऽग्रे गन्तुं समर्थ इत्येवंरूपा सा स्पर्द्धितापि रसात् स्वस्वबलवशादाविराप समुद्बभूव ॥७॥

मत्स्यकैरपि वराशयः समाः सत्तरङ्गतरलास्तुरङ्गमाः ।
सामजा हि मकरानुकारिणः सैन्यसागर इहाभिसारिणः ॥८॥

मत्स्यकैरित्यादि—इह सैन्यसागरे सेनारूपसमुद्रेऽभिसारिणो गमनशीला. वराशयः खड्गास्तेऽपि तु मत्स्यकैर्मीनैः समास्तथा ये तुरङ्गमा घोटकास्ते समीचीनास्तरङ्गा इव तरलाश्चञ्चलास्तथा सामजा हस्तिनस्ते हि मकरानुकारिणो नक्रसदृशा बभूवुरिति रूपकालङ्कारः ॥८॥

राजते हि जगती रजस्वलाऽमी ततोऽथ तुरगाः सुपेशलाः ।
स्मास्पृशन्त इति यान्ति कश्मलाद्भीतिमन्त इव तावदुत्कलाः ॥९॥

राजत इत्यादि—तावदियं जगती भूमिः स्त्रीलिङ्गात् काचित् स्त्री वा होति निश्चयेन रजस्वला रेणुबहुला मासिकधर्मवती च राजतेऽत्र, ततो हेतुनोऽमी स्वमनीषागम्याः सुपेशलाः सुन्दररूपधारिणस्तुरगा घोटकाः कश्मलात्पापाद् भीतिमन्त इव किलोत्कला व्याकुला भवन्त इति तामस्पृशन्तो यान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥९॥

मार्गमस्तमयितुं तुरङ्गमाः शीघ्रमेव मरुतो द्रुतंगमाः ।
उद्गिरन्त इव तुण्डतः क्षुरांश्चेलुरत्र तु परास्तमुर्मुराः ॥१०॥

अर्थ—अतिशय वेगशाली जयकुमारका रथ और मनोरथ इन दोनोंके बीच, देखें कौन आगे जाता है, इस विषयको लेकर अपने अपने बलके अनुसार स्पर्धा प्रकट हुई थी। भाव यह है कि जिस प्रकार रथ शीघ्रतासे आगे जा रहा था, उसी प्रकार शीघ्र पहुँचनेका मनोरथ भी आगे बढ रहा था ॥७॥

अर्थ—इस सेनारूपी समुद्रमे चलने वाले जो गेंडे थे, वे मच्छोंके समान थे, जो घोड़े थे वे चंचल तरंगोंके समान और जो हाथी थे वे मगरोके समान थे ॥८॥

अर्थ—घाडे उछलते हुए जा रहे थे, उससे ऐसा जान पड़ता था मानो ये रजस्वला-धूलिसे युक्त (पक्षमे मासिक धर्मसे सहित) जगती-पृथिवी (पक्षमें किसी स्त्री) को पापके भयसे न छूते हुए व्याकुल भावसे जा रहे थे ॥९॥

मार्गमित्यादि—मरुतो द्रुतगमा वातादपि शीघ्रगामिनस्तुरङ्गमा हयास्ते शीघ्रमेव मार्गमस्तमयितुं समाप्तिं नेतुं किलात्र परास्ता पराभवं नीता मुर्मुराः सूर्याश्वा यैस्ते तुण्डतो मुखात् क्षुरान् शफानुद्गिरन्त समुद्वमन्त इव चेलुः प्रजग्मुः। 'मुर्मुर सूर्यतुरगे तुषवह्नौ च मन्मथे' इति विश्वलोचने। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१०॥

कुर्वतीव हि खलीनकर्षणं सोढुमक्षमतया निधर्षणम्।
सत्तुरङ्गमगणः स्म धावति स्वामिनि स्वयमयं लसद्गतिः ॥११॥

कुर्वतीवेत्यादि—स्वयमेव सहजेनैव लसन्ती शोभना गतिर्यस्य स सत्तुरङ्गमानां हयानां गण स्वामिन्यश्वारोहे खलीनस्य कविकायाः कर्षणं कुर्वतीव हि निघर्षणं स्वावज्ञा सोढुमक्षमतयाऽसमर्थभावेन किल तत्कालमेव धावति स्म धावेत्युत्प्रेक्षा-लङ्कारः ॥११॥

पादिनामतिजवेन गच्छतां तेच्छदा इव तदा गरुत्मताम्।
रेजिरे भुवि भुजा निरन्तरं संचलन्त उचिता इतादरम् ॥१२॥

पादिनामित्यादि—तदातिजवेन गच्छतां पादिनां पदगानां भुजा बाहव उचिताः प्रस्पष्टाकारा इत. प्राप्त आदरो रुचिभावो यत्र तद् यथा स्यात्तथा निरन्तरमेव सञ्च-लन्तस्ते भुवि पृथिव्यां गरुत्मतां पक्षिणां छदा पक्षा इव रेजिरे चेत्युत्प्रेक्षा ॥१२॥

अध्वकर्तनविवर्तविग्रहास्तेऽपि वर्द्धितपरस्परस्पृहाः।
शीघ्रमेव गमनश्रमंसहाः पत्तयो ययुरमी समुन्महाः ॥१३॥

अध्वेत्यादि—अध्वनो मार्गस्य कर्तनं व्यत्ययनं तस्य विवर्तं पर्याय एव विग्रहो येषां

अर्थ—जो वायुसे भी अधिक शीघ्रगामी थे तथा शीघ्र ही मार्गको समाप्त करनेके लिये जिन्होने सूर्यके घोडोको परास्त कर दिया था, ऐसे घोडे यहाँ मुखसे खुरोको उगलते हुएके समान चल रहे थे ॥१०॥

अर्थ—स्वय ही-विना प्रेरणा ही अच्छी गतिसे चलने वाला घोड़ोंका समूह स्वामीके लगाम खीचते ही दौडने लगा था, इससे ऐसा जान पडता था मानो वह लगाम खीचने रूप तिरस्कारको सहन करनेके लिये समर्थ न होनेके कारण ही शीघ्र दौड रहा था ॥११॥

अर्थ—उस समय तीव्र वेगसे चलने वाले पैदल सैनिकोको आदर-रुचिपूर्वक निरन्तर चलती हुई भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थी, मानों पृथिवी पर चलने वाले पक्षियोके पर ही हो ॥१२॥

अर्थ—जिनके शरीर मार्ग काटनेके पर्याय स्वरूप थे, जो मार्गकी थकावट

ते तथा गमनस्य श्रमं सहन्ते ते गमनश्रमंसहास्तथा वर्द्धिता परस्परं स्पृहा स्पर्द्धा येषां ते, तथा समुद् हर्षसहितो मह समुत्साहो येषां तेऽमी पत्तयः पदातयः शीघ्रमेव ययुर्गमनं चक्रुः। 'महउत्सव तेजसोः' इति विश्वलोचने ॥१३॥

सच्चमूक्रमसमुच्चलद्रजोव्याजतो व्रजति सा स्म भूभुजः।
नीरुजोऽस्य विरहासहा सती पृष्ठतो वसुमतीव सम्प्रति ॥१४॥

सच्चमूक्रमेत्यादि—सम्प्रत्यधुनाऽस्य नीरुजो रोगरहितस्य भूभुजो विरहासहा वियोगमसहमाना सती साऽसौ वसुमती धरणीव किल सती या चमू सेना तस्याः क्रमाश्चरणास्तैः समुच्चल दुद्गच्छद् यद्रजस्तस्य व्याजतो मिषात् पृष्ठतो व्रजति स्म। अपह्नुतिरुत्प्रेक्षा चालङ्कारः ॥१४॥

वायुवर्त्मनि चलन्त्यसौ बलात् केतुपंक्तिरुडुपांशुनिर्मला।
तस्य कीर्तिलतिका स्म राजते वर्द्धमानकतया महीपतेः ॥१५॥

वायुवर्त्मनीत्यादि—वायुवर्त्मनि गगने बलाद्वायुप्रभावाच्चलन्ती या किलोडुपस्य चन्द्रमसोऽशुवत्किरणसमूहवन्निर्मला स्वच्छा केतुपंक्तिः पताकाततिः, सा तस्य महीपतेर्जयकुमारस्य वर्द्धमानकतयोत्तरोत्तरप्रसरणरूपेण कीर्तिलतेव कीर्तिलतिका सैव राजते इत्यपह्नुत्यलंकारः ॥१५॥

भूरिशोऽगुरुविलेपनश्रियं सन्दिशन्किल दिशामतिप्रियम्।
खातमर्वचरणैर्नभस्यदः संजगाम जगतीरजः पदम् ॥१६॥

भूरिश इत्यादि—अर्वतां हयानां चरणैः खातमुत्कोचितं यज्जगतीरजस्तत् किल दिशां पूर्वादीनां भूरिशोऽगुरुविलेपनस्य श्रियं शोभां सन्दिशत् सद् अदोऽमुके नभसि गगनेऽतिप्रिय पदं संजगाम ॥१६॥

सहन करनेमे समर्थ थे, जिन्होने आगे बढनेको परस्पर शर्त बाध रक्खी थी तथा जो हर्ष और उत्साहसे सहित थे, ऐसे ये पैदल सैनिक शीघ्र चल रहे थे ॥१३॥

अर्थ—इस समय सेनाके पदाघातसे जो धूलि उड रही थी, उससे ऐसा जान पड़ता था मानो नीरोग राजाके विरहको सहन करनेमे असमर्थ होती हुई पृथिवी ही धूलिके बहाने पीछे चल रही हो ॥१४॥

अर्थ—आकाशमें वायुके प्रभावसे फहराती चन्द्रमाकी कान्तिके समान निर्मल ध्वजाओंकी जो पङ्क्ति सुशोभित हो रही थी, वह राजा जयकुमारकी दिन-प्रतिदिन बढती हुई कीर्तिलता ही थी ॥१५॥

अर्थ—घोड़ोकी टापोसे खुदी हुई जो पृथिवीकी धूलि थी, वह पूर्वादि दिशाओंके अगुरु चन्दनसे निर्मित गाढ विलेपनकी शोभाको प्रकट करती हुई आकाशमे

साङ्कुशं स च तिरो वहन् शिरः संप्रसारितकरो वशां पुरः ।
संगतां प्रतिनिवेवितुं गजः शीघ्रमर्वितसृणिग्रहोऽव्रजत् ।।१७।।

साङ्कुशमित्यादि—गजो हस्ती स पुरः संमुखमेव संगतां वशां हस्तिनीं प्रतिनिवेवितुं संभालयितु सम्प्रसारितकर समुत्स्फालितशुण्डावण्ड शीघ्रमेवाहितो निरादरीकृतः सृणेरङ्कुशस्य ग्रहोऽभिप्रायो येन स साङ्कुशं शिरस्तिरोवहन् सन्नव्रजत् चचाल ।।१७।।

खादति स्म सरसं समीहया केनचिन्निजजनप्रतीक्षया ।
सादिनैव सरणौ मुहुर्धृतः सान्द्रमुष्ट्रकयुवैवमग्रतः ।।१८।।

खादतीत्यादि—कोऽप्युष्ट्रकयुवा केनचित्सादिनैव निजजनस्य प्रतीक्षया हेतुना सरणौ मार्गमध्य एव मुहुर्धृत उपस्थापितस्सन् समीहया सम्यगिच्छयाऽग्रतः सम्प्राप्तं सान्द्रं सरसं वस्तु खादति स्म चखाद । जात्यलङ्कारः ।।१८।।

लाघवप्रतिमितक्रियाजपिन् स्फालनानुकृतलालनानपि ।
अश्विनोऽधिरुरुहुर्हयान् स्वयं वङ्कुशोऽङ्कितसवल्गपाणयः ।।१९।।

लाघवेत्यादि—हे लाघवेन सौन्दर्येण प्रतिमितौ सयुतौ क्रियाजपौ यस्य तस्य सम्बोधनम् । तत्राश्विनोऽश्वारोहा जनाः स्वयमात्मनेव वङ्कुशः पर्याणस्योपरि अङ्कितः स्थापितः सवल्गः खलीनसहित पाणिर्हस्तो यैस्ते स्फालनेनाश्वासदानेनानुकृतं लालनं सम्भालनं येषां तान् हयानधिरुरुहुः ।।१९।।

प्रिय स्थानको प्राप्त हुई थी ।।१६।।

अर्थ—सामने आयी हुई हस्तिनीको सँभालने–उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करनेके लिये जिसने अपनी सूंडको फैलाया है तथा जिसने अकुशके प्रहारकी शीघ्र ही उपेक्षा कर दी है, ऐसा हाथी अङ्कुश लगे शिरको तिरछा करता हुआ जा रहा था ।।१७।।

अर्थ—अपने माथीकी प्रतीक्षामे किसी सवारके द्वारा मार्गमे बार बार रोका गया, खडा किया गया तरुण ऊँट सामने आयी सरस वस्तुको रुचिपूर्वक खा रहा था ।।१८।।

अर्थ—जिसकी क्रिया और जप–एकाग्रता सौन्दर्यसे सहित है, ऐसे हे प्रिय पाठक ! पीठ तथा मुख आदि पर हाथ फेरनेसे जिनके साथ प्यार प्रकट किया गया है, ऐसे घोडो पर सवारी करने वाले लोग, पलान पर लगाम सहित हाथ रखते हुए स्वय ही–दूसरोकी सहायताके बिना ही आरूढ हुए थे ।

भावार्थ—घोडो पर आरूढ होने वाले लोगोने पहले उनके शरीर पर हाथ फेर कर प्रेम प्रदर्शित किया, लगाम हाथमे ली और लगाम सहित हाथको उनके

एक आप नवयोदरश्रिया शोभनाममलनाभिचक्रया ।
गन्तुमेव सुखतो रथस्थितिमात्मवाननविधुरां वधूमिति ॥२०॥

एक इत्यादि—एकः कश्चिदात्मवान् विचारचतुरः सुखतो गन्तुमेव वधूमिति रथस्थितिमाप । यतोऽमला निर्दोषा नाभिश्चक्रमध्यवृत्तियेषां तानि चक्राणि यस्यास्तथा अमलं नाभिचक्रं तुण्डीमण्डलं यत्र तया नवया नवीनया, उदितिसमुदितानामराणां श्रीर्यस्याः, तथोदरस्य श्रिया शोभनां तथाऽविधुरां धुराया दोषेण रहितां पक्षे सौभाग्यवतीमिति क्लिष्टोपमालङ्कारः ॥२०॥

सादिनो नहि वधुर्दवीयसे यावदासनकमध्वविप्रुषे ।
व्युत्थिता द्रुतमसह्यरंहसश्चेलुराशु करभाः सहस्रशः ॥२१॥

सादिन इति—सादिन आरोहणकारिणो जना दवीयसे सुदीर्घायाध्वविप्रुषे मार्गलेशाय यावदासनकमपि नहि वधुस्तावदेवासह्यरंहसः समधिकवेगशालिनः सहस्रशो बहुसंख्याकाः करभा उष्ट्रा द्रुतमेव व्युत्थिताः सन्त आशु चेलुरभिजग्मु ॥२१॥

चापलात् समुदधूलयन् दिशः सैन्धवास्तु चरणैः सदा स्तुताः ।
भद्रभाववशतः स्म कारणात् स्नापयन्ति मदनिर्झरैस्तु ताः ॥२२॥

चापलादित्यादि—सदा चरणैः स्तुताः प्रशंसनीया अपि सैन्धवाहयास्ते तु चापलाच्चपलतावशात् किल दिशः समुदधूलयन्, किन्तु वारणा गजास्ते भद्रभाववशात एव किल ता मदनिर्झरैः स्नपयन्ति स्म । स्नापयन्ति, स्नपयन्तीति द्विविधाः प्रयोगा दृश्यन्ते ॥२२॥

पलान पर रख उछल कर सवारी की ॥१९॥

अर्थ—कोई एक कुशल सुभट सुखसे गमन करनेके लिये स्त्रीके समान रथकी सवारीको प्राप्त हुआ । यहाँ रथस्थिति और स्त्रीका श्लिष्ट विशेषणोंसे सादृश्य प्रकट किया गया है । स्त्री निर्मल नाभिमण्डलसे युक्त नवीन उदरश्री–पेटकी शोभासे सहित थी और रथस्थिति निर्मल छिद्र वाले पहियोसे युक्त नवीन अरों–चक्रदण्डों की शोभा से सहित थी । स्त्री अविधुरा–सौभाग्यवती थी और रथस्थिति धुराके दोषसे रहित थी ॥२०॥

अर्थ—सवार होने वाले लोग जब तक दूरवर्ती पड़ावके लिये आसन नहीं दे पाये कि शीघ्रगामी हजारो ऊँट उठकर शीघ्र ही चलने लगे ॥२१॥

अर्थ—उस समय चरणोंसे प्रशंसनीय घोड़े चपलतावश दिशाओंको धूलि युक्त कर रहे थे और हाथी भद्रभाव–सज्जनताके वश उन्हे मदके निर्झरनोंसे नहला रहे थे ॥२२॥

आगतोपकृतये विचारिभिर्जन्मनश्च सफलत्वकारिभिः ।
शाखिभिः स सुखमाप तत्त्वतः श्रीजयो मृदुलपल्लवत्वतः ।।२३।।

आगतेत्यादि—अथ स श्रीजयो नाम राजाऽऽगतस्यातिथेरुपकृतये विचारिभिः पक्षि-प्रचारयुतैराचारधारिभिर्वा मृदुपल्लवत्वतः कोमलपत्रयुतत्वतो मृदुभाषित्वतश्च जन्मनः सफलकारिभिः शाखिभिर्वृक्षैः सम्बन्धिजनैर्वा तत्त्वतः सद्भावतः सुखमाप प्राप्तवानिति समासोक्तिः ।।२३।।

स्यन्दनैरपि हरिद्भिरङ्कितं धन्विभिर्यदुत खड्गिभिर्मितम् ।
कक्षमात्मपरिणामवत्सलं दारुणोदितमवाप सद्बलम् ।।२४।।

स्यन्दनैरित्यादि—सतो जयकुमारस्य बलं सैन्यं तदात्मपरिणामेन तुल्यभावेन वत्सलं प्रियं कक्षं वनमवाप, यतः कक्षमपि स्यन्दनैस्तिनिशवृक्षैर्बलं स्यन्दनैः कक्षं स्यन्दनैः रथैः कक्षं हरिद्भिस्तृणैः बलं हरिद्भिरश्वैः, कक्षं धन्विभिरर्जुनवृक्षैः बलं धनुर्धारिभिः अङ्कितं सहितं कक्षं खड्गिभिः 'गेंडा' इति प्रसिद्धवन्यप्राणिभिः, बलं खड्गिभिः कृपाणधारिभिः मितं प्राप्तं युक्तमिति यावत् । किञ्च, कक्षं दारुणा काष्ठेनोचितं परिपूर्णम्, जातित्वादेकवचनम्, बलं दारुणे कठिनकार्ये उचितमभ्यस्तमित्युपमा ।।२४।।

अर्थ—श्री राजा जयकुमारने अभ्यागत-अतिथिके उपकारके लिये तत्पर, विचारिभि-पक्षियोंके सचारसे युक्त तथा जन्मको सफल-फलसहित करने वाले शाखिभि-वृक्षोंके द्वारा उनके मृदुपल्लवत्वत-कोमल पत्तोंसे युक्त होनेके कारण सचमुच ही सुख प्राप्त किया था, अर्थात् मार्गमें आनेवाले हरे भरे फले-फूले छायादार वृक्षोंसे जयकुमारने हर्षका अनुभव किया था।

अर्थान्तर—अतिथि सत्कारका अभिप्राय रखने वाले एव जन्मकी सार्थकता करने वाले शाखिभि-सम्बन्धी जनोंसे राजा जयकुमारने उनके कोमल वार्तालाप-के कारण वास्तविक सुखको प्राप्त किया था। भाव यह है कि सदा परोपकारमें तत्पर रहने वाले महभागी सम्बन्धियोंके मधुर वार्तालापसे जयकुमारने सुखका अनुभव किया था ।।२३।।

अर्थ—जयकुमारकी सेना जिस वनको प्राप्त हुई थी, वह अपनी समानताके कारण उसे बहुत प्रिय था। दोनोंमें समानता इस प्रकार है— वन **स्यन्दन**-तिनिश वृक्षोंसे सहित था और सेना **स्यन्दन**-रथोंसे सहित थी। वह **हरित्**-तृणोंसे सहित था और सेना **हरित्**-घोडोंसे सहित थी। वन **धन्वि**-अर्जुन (कौहा)के वृक्षोंसे सहित था और सेना **धन्वि**-धनुर्धारियोंसे सहित थी। वन **खड्गि**-गेंडा हाथियोंसे सहित था और सेना **खड्गि**-कृपाणधारी सैनिकोंसे सहित

दृष्टिमेष परितः प्रसारयन्नित्युदीर्य गुणितां च धारयन् ।
वाचमाचरितचापलो व्यभाद् भूपतिश्च रमयन् स्ववल्लभाम् ॥२५॥

दृष्टिमित्यादि—एष भूपतिर्जयकुमारः स परितो दृष्टि प्रसारयन् गुणितां गुणयुक्ततां धारयन् सन् आचरितं चापलं विनोदार्थं चाञ्चल्यं येन तथाभूतः सन् वाचं वाणीमिति निम्नाङ्कितामुदीर्य स्ववल्लभां सुलोचनां रमयन्नानन्दितां कुर्वन् व्यभात् सम्बभौ ॥२५॥

हे सुकेशि करहाटसंयुतं सर्वतोऽलिपकपूरपूरितम् ।
त्रोटिमत्सर इवेदमञ्चितं सेचनादिभिरपेक्षिणां हितम् ॥२६॥

हे सुकेशीत्यादि—हे सुकेशि ! इदं वनं सरो जलस्थानमिवापेक्षिणा जनाना हितं सुखदमस्ति यत्तद् इदं करहाटैः[1] शल्यद्रुमैः पक्षे कमलकन्दैः संयुतमस्ति । तथाऽलिपका[2] पिकाः पक्षे भ्रमरास्तेषां पूरेण समूहेन पूरितमस्ति । तथा त्रोटिमच्च[3] कट्फलैर्युक्तमपि क्षुद्रमीनभरितम् । तथा सर्वतः रोचनः[4] कूटशाल्मलिवृक्षः पक्षे रक्तकमल तदादिभि-रप्यन्वितमित्युपमालकार ॥२६॥

थी । वन **दारुणोचित**–काष्ठसे परिपूर्ण था और सेना **दारुणोचित**–कठिन कार्योंमे अभ्यस्त थी ॥२४॥

अर्थ—यह राजा जयकुमार सब ओर दृष्टि फैलाते गुणसहिततताको धारण करते, चञ्चलताको स्वीकार करते और निम्नाङ्कित वचन कहकर अपनो प्रिया–सुलोचनाको प्रसन्न करते हुए अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२५॥

अर्थ—हे सुन्दर केशोवाली प्रिये ! यह वन अपेक्षा करनेवाले मनुष्योंके लिये सरोवरके समान हितकारक है, क्योकि जिस प्रकार सरोवर **करहाट**–कमलकी जडोसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **करहाट**–शल्य वृक्षोसे सहित है । जिस प्रकार सरोवर **अलिपक**–भ्रमरोंके समूहसे पूरित रहता है, उसी प्रकार यह वन **अलिपक**–कोयलोंके समूहसे पूरित है । जिस प्रकार सरोवर **त्रोटिमत्**–क्षुद्र मछलियोसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **त्रोटिमत्**–कट्फल (कायफल)से सहित है और जिस प्रकार सरोवर **रोचन**–लाल कमल आदिसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **रोचन**–कूटशाल्मलि आदि वृक्षोसे सहित है ॥२६॥

१ करहाटोऽब्जकन्देऽपि शल्यद्रौ कुसुमान्तरे । इति विश्वलोचन ।
२ पिकेऽलिपकस्तु स्यात्पिकालिरतहिण्डके । ,,
३. त्रोटिः स्त्रीचञ्चुमीनकट्फले । ,,
४ रोचनो रक्तकह्लारे कूटशाल्मलिशाखिनि । ,,

राजते यदतिमुक्तमन्मथासार उद्यदनुबन्धमोचकः ।
प्राणकप्रतिहितो यतीन्द्रवत् कक्षबन्ध इह तन्वि ! रोचक ॥२७॥

राजत इत्यादि—हे तन्वि ! कक्षबन्धोऽय वनप्रदेश', इह यतीन्द्रवद्राजते । यद्यस्मात्कारणादसौ [1]अतिमुक्तस्तिनिशवृक्षो वासन्तीलता वा, [2]मन्मथः कपित्थ इत्येवमादीनामासार समाहारो यत्र, पक्षेऽतिमुक्त. परित्यक्तो मन्मथस्य कामस्यासार. प्रभावो येन सः । तथोद्यन्स्फुरणशीलोऽनुबन्धो मूलभागो यस्यैतादृशो [3]मोचकः शिग्रुवृक्षो यत्र स, पक्षेऽनुबन्धो दोषाणामुत्पादन तस्य मोचकस्त्यजनशील । [4]प्राणको जीवकद्रुमस्तस्य पक्षे प्राणकस्य जीवमात्रस्य प्रतिहितो हितकर. । रोचको रुचिकर इत्युपमा ॥२७॥

देववृन्दमहितो विराजते राजते च मुनिसंघसेवितः ।
नव्यभव्यनिवहैरुपासितो दृश्यते ऽजिन इवेष्टिमानितः ॥२८॥

देववृन्देत्यादि—तथासौ कक्षबन्ध इतो जिनो भगवानिवेष्टिमान् समीहाविषयोऽस्ति । यतो देवाना देवदारुणा पक्षे शक्रादीना वृन्देन महितो मानितो विराजते । तथा

अर्थ—हे तन्वि ! यह **कक्षबन्ध**–वन प्रदेश, **यतीन्द्रवत्**–मुनिराजके समान सुशोभित हो रहा है, क्योकि जिस प्रकार यह वनप्रदेश **अतिमुक्तमन्मथासार**–तिनिशवृक्ष अथवा वासन्तो लता और कैथा आदिके समूहसे सहित है, उसी प्रकार मुनिराज भी **अतिमुक्तमन्मथासार**–कामदेवके प्रभावसे रहित होते हैं। जिस प्रकार यह वनप्रदेश **उद्यदनुबन्धमोचक**–अकुर उत्पन्न करनेवाले शिग्रुवृक्षसे सहित है, उसी प्रकार मुनिराज भी **उद्यदनुबन्धमोचक**–दोषोत्पत्तिको छोड़ने वाले है। जिस प्रकार यह वन प्रदेश **प्राणकप्रतिहित**–जीवक वृक्षसे हितकारी है, उसी प्रकार मुनिराज भी **प्राणकप्रतिहित**–प्राणीमात्रका हित करनेवाले हैं और जिस प्रकार वनप्रदेश **रोचक**–रुचिकर–सुन्दर है, उसी प्रकार मुनिराज भी **रोचक**–मोक्षमार्गमे रुचि बढाने वाले है ॥२७॥

अर्थ—इस ओर यह वनप्रदेश जिनेन्द्र भगवान्के समान **इष्टिमान्**–इच्छाका विषय है, क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **देववृन्दवन्दित**–इन्द्रादि देवाके समूहसे नमस्कृत है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **देववृन्दवन्दित**–देवदारु

---

१ अतिमुक्तस्तु वामन्त्या तिनिशे निष्फले त्रिषु ।
२. मन्मथ कामचिन्ताया कामदेवकपित्थयोः ।
३ मोचक' कदलीतरौ । तत्प्रसूनेऽपि शिग्रौ च निर्मोचकविरागिणो' ।
४. प्राणक सत्त्वजातीये बोलके जीवकद्रुमे । सर्वत्र विश्वलोचनः ।

मुनीनां प्रियालागस्त्यादिवृक्षाणां पक्षे वाचंयमानां संघेन सेवितः। नव्याना भव्यानां कर्मरङ्गतरूणां पक्षे मुमुक्षूणां निवहैः समूहैरुपासितोऽपि दृश्यते। 'मुनिर्वाचंयमे बुद्धे प्रियालागस्त्यकिंशुके', 'कर्मरङ्गतरौ भव्यः' इति च विश्वलोचने। उपमालङ्कार ॥२८॥

विक्रमातिशयसंयुतो धनुर्बाणसंहतिसमन्वितः स्वयम् ।
गौरि ! सज्जकवचप्रसाधनः प्रौढशूर इव राजतेऽव्ययम् ॥२९॥

विक्रमेत्यादि—हे गौरि ! अव्यय प्रौढशूर इव राजते। यतोऽसौ स्वयं वीनां पक्षिणां क्रमस्य परिपाट्याः, पक्षे विक्रमस्य सहजपराक्रमस्यातिशयेन संयुतः। धनुर्वा प्रियालानां बाणाना च वृक्षाणां, पक्षे धनुषा चापानां शराणा संहत्या गणेन समन्वितो युक्त[१]। सज्जानां सुन्दराणा कवचाना हरीतकीवृक्षाणां, पक्षे वर्मणां प्रसाधन स इत्येवमुपमालंकारः ॥२९॥

कर्णपूरपरिणामसंयुतः श्रोणिबद्धसुरसा समन्वितः ।
सर्वतश्च मकटाक्षदर्शन कामिनीजन इवानुमानितः ॥३०॥

आदि वृक्षोसे सुशोभित है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव **मुनिसंघसेवित**–मुनियोके समूहसे सेवित है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **मुनिसंघसेवित**–प्रियाल तथा अगस्त्य आदि वृक्षोके समूहमे सेवित है। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **नव्यभव्यनिवह**–नवीन नवदीक्षत भव्य जोवोके समूहसे सेवित है, उसी प्रकार वनप्रदेश **नव्यभव्यनिवह**–कर्मरङ्ग वृक्षोसे सेवित–सहित है और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **इष्टिमान्** (यजनमिष्टिस्तद्वान्) पूजासे सहित है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **इष्टिमान्**–(एषणमिष्टिस्तद्वान्) इच्छा–अभिरुचिसे सहित है, अर्थात् दर्शकोकी सुरुचिको बढानेवाला है ॥२८॥

अर्थ—हे गौरि ! यह वनप्रदेश सहज ही प्रौढ शूरवीरके समान सुशोभित हो रहा है, क्योकि जिस प्रकार प्रौढ शूरवीर **विक्रमातिशयसयुत**–पराक्रमके आधिक्यसे सहित होता है, उसो प्रकार यह वनप्रदेश भी **विक्रमातिशयसंयुत**–पक्षियोकी परिपाटीसे महित है। जिस प्रकार प्रौढ शूरवीर **धनुर्बाणसंहतिसमन्वित**–धनुष और बाणोके समूहसे सहित होता है, उसो प्रकार वनप्रदेश भी **धनुर्बाणसंहतिसमन्वित**–प्रियाल और कटसरैयाके समूहसे सहित है और जिस प्रकार प्रौढ शूरवोर **सज्जकवचप्रसाधन**–सुसज्जित कवच–बख्तरको धारण करनेवाला होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **सज्जकवचप्रसाधन**–सुन्दर

१ 'कवचो वारबाणे स्यात्पटहे गर्दभाण्डके' इति विश्व०।

कर्णपूरेत्यादि—अथवासौ कामिनीजन इवानुमानितो विद्वद्भिः। यतः कर्णपूराणां शिरीषाणां पक्षे कर्णभूषणानां परिणामेन संयुतः। श्रोणिश्च वृक्षविशेषस्तेन बद्धा सम्बद्धा या सुरसा नामौषधिस्तयाथवा सकटी समीचीना भागश्री तयेष्टाभियुक्ता सुरसा पक्षे श्रोणौ वा संकटीप्रदेशे वा बद्धा या सुरमा मेखला तया समन्वितः। कटेन किलिञ्जेन वंशजालेन सहितः सकटश्चासावक्षो बिभीतकस्तस्य यत्र स, यद्वा सकटाक्ष धवस्तस्य दर्शनं यत्र पक्षे कटाक्षेणापाङ्गेन सहित दर्शनमवलोकनं यस्य स.। 'कटः श्रोणौ शयेऽस्वल्पे किलिञ्जगजगण्डयो.' इति, 'कटी स्यात्कटिमागध्यो' इति विश्वलोचने ॥३०॥

वातकेलिपरिवारितोऽप्यथालोक्यते कुहरिताश्रयस्तथा।
सद्रसालसहितोऽमुना पथा राजते च सुरताश्रमो यथा ॥३१॥

वातकेल्यादि—अथासौ वनखण्ड स वातकेलिर्वातस्य क्रीडा तया परिवारितस्तथा कुहरितस्य कोकिलरवस्याश्रयस्तथा सद्रसालेनाम्रवृक्षेण सहितोऽवलोक्यतेऽमुना पथा मार्गेण पद्धत्या वा यथा सुरताश्रमो राजते तथा राजते। सुरताश्रमोऽपि वातकेल्या कामि-

---

हरीतकी–हर्डके वृक्षोको धारण करनेवाला है ॥२९॥

अर्थ—अथवा इस वनप्रदेशको विद्वानोने स्त्रीसमूहके समान माना है, क्योकि जिस प्रकार स्त्रीसमूह **कर्णपूरपरिणामसंयुत**–कर्णाभूषणोके विविध प्रकारोंसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **कर्णपूरपरिणामसंयुत**–शिरोष वृक्षोके प्रकारोसे सहित है। जिस प्रकार स्त्रीसमूह **श्रोणिबद्धसुरसासमन्वित**–नितम्बपर बद्ध मेखलासे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **श्रोणिबद्धसुरसासमन्वित**–श्रोणि नामक वृक्षविशेषसे बद्ध सुरसा नामक औषधिसे सहित है और जिस प्रकार स्त्रीसमूह सब ओर **सकटाक्षदर्शन**–कटाक्ष-तिरछी चितवनसे सहित अवलोकनसे युक्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **सकटाक्षदर्शन**–कलिंजर नामक वृक्षसहित बहेड़ोके दर्शनसे युक्त है ॥३०॥

अर्थ—अब इस ओर यह वनखण्ड **सुरताश्रम**–संभोग स्थानके समान सुशोभित हो रहा है, क्योकि जिस प्रकार सभोगका स्थान **वातकेलिपरिवारित**–कामिजनोके दन्तखण्डन अथवा मधुर-आलापसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी **वातकेलिपरिवारित**–वायुकी क्रीडासे सहित है। जिस प्रकार सभोगका स्थान [२]**कुहरिताश्रय**–सभोगकालीन शब्दसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन-

---

१ वातकेलि कलालापे षिड्गानां दन्तखण्डने।
२ क्लीब कुहरित ध्वाने पिकालापे रतस्वनं' इति विश्वलोचनः।

जनानां वनखण्डेन परिवारित कुहरितस्य रतकूजितस्याश्रयस्तथा सद्रसेन शृङ्गारेणालसस्य व्याप्तस्य हित यत्र भवति स इति ॥३१॥

भूरिभूतकरुणान्वितः पुनः सत्कुशासनविराजितस्तु नः ।
सानुरिच्छितसुखाशसंहतिर्वर्णिवत्तरलकर्णिकावति ! ॥३२॥

भूरिभूतेत्यादि – हे तरलकर्णिकावति ! सुन्दरकर्णाभरणधारिणि ! सानुरयं वनखण्डः पुनर्नोऽस्माकमग्रे वर्णिवद् ब्रह्मचारिवद्भवति, यतोऽसौ नानाविधैः करुणैर्वृक्षैरन्वितः, वर्णी च भूरिभूतानां विश्वप्राणिनां करुणयान्वितो भवति । अथ समीचीनैः कुशैर्दर्भैरासनैर्जीवकद्रुमैश्च विराजितो वर्णी च समीचीने कुशासने विराजितो भवति । अथ सुखाशेन वरुणनाम वृक्षेण संहतिः समागमो यस्याथवा सुखाशानां वरुणानां संहतिर्गणो यत्र सः, वर्णी च सुखस्याशा येषां तेषां संहतिः समागमो यस्य स भवति । 'करुणस्तु रसे वृक्षे' । आसनो जीवकद्रुमे' 'सुखाशो राजतिनिशे वरुणे सुमनोरथे' इति च विश्वलोचने । उपमालंकारः ॥३२॥

भासतेऽखिलजलाशयाधिप कर्बुरौघमपि यः किलाक्षिपत् ।
सिन्धुवद् वरुणवल्लभोऽभितः सम्भवत्तरणिचारवारितः ॥३३॥

खण्ड भी कुहरिताश्रय–कोयलोंके शब्दसे सहित है तथा जिस प्रकार सभोगका स्थान सद्रसालसहित–शृङ्गार रससे अलसाये मनुष्योंके हितसे युक्त होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी सद्रसालसहित–समीचीन आम्र वृक्षोंसे सहित है । साथ ही यह वन सुरताश्रय–सुलताश्रय–उत्तम लताओंके आश्रय–निकुञ्जोंसे सहित है ॥३१॥

अर्थ—हे चञ्चलकर्णालङ्कारधारिणि ! यह वनखण्ड हमारे सामने **वर्णी**–ब्रह्मचारीके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार वर्णी **भूरिभूतकरुणान्वित**–समस्त प्राणियोंकी दयासे सहित होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी **भूरिभूतकरुणान्वितः**–नाना प्रकारके वृक्षोंसे सहित है । जिस प्रकार वर्णी **सत्कुशासनविराजित**–समीचीन कुशके आसनपर विराजित होता है, उसी प्रकार वनखण्ड भी **सत्कुशासनविराजित**–समीचीन दर्भ और जीवक वृक्षोंसे विराजित है और जिस प्रकार वर्णी **इच्छितसुखाशसंहति**–सुखकी आशा रखनेवाले मनुष्योंके समागमकी इच्छासे सहित होता है, उसी प्रकार वनखण्ड भी **इच्छितसुखाशसंहति**–वरुणनामक वृक्षसमूहकी इच्छासे सहित है ॥३२॥

---

१ 'सानु: शृङ्गे बुधेऽरण्ये वात्याया पल्लवे पथि' इति विश्व० ।

भासत इत्यादि—अथवासावखिलजलाशयानामधिप· खशानामाधारो यः किल कर्बुराणां कृष्णवृन्तानामोघमाक्षिपत् स्वीकृतवान्, यश्च वरुणानां नामवृक्षाणां वल्लभस्तथा सम्भवन्ती या तरणिः कुमारी तस्याश्चारेण प्रचारेण वारितोऽलङ्कृत परिवारितोऽतः सिन्धुवद्भासते, सिन्धुरपि किलाखिलाना जलाशयाना तटाकादीनामधिप. सन् कर्बुरस्य जलस्यौघमूरीकरोति, वरुणस्य देवस्य वल्लभो भवति, तरणिर्नौकापि तत्र चरतीति । 'कर्बुरा कृष्णवृन्ताया जले हेम्नि च कर्बुरम्' । 'जलाशयो जलाधारे जलदे तु जलाशयम्' इति च विश्वलोचने ॥३३॥

वेणुवारसहितश्च तन्त्रिकापूरित. सघन दृश्यते च यः ।
नर्तकप्रतिगुणः शुभाननेऽमुष्य पश्य किल नर्तनालयः ॥३४॥

वेणुवारेत्यादि—हे शुभानने ! पश्यामुष्यान्वयोऽयं समागमो नर्तनालय. किलेष्यते, यतोऽसौ वेणुर्वंशोवारश्च कुब्जवृक्षस्ताभ्या सहित, पक्षे वेणुवाद्यस्य वारेणावसरेण सहित. । तन्त्रिकया वीणया पक्षेऽमृतया नामौषध्या पूरितः । घनेन वाद्येन मुस्तया वा महित सघनः । नर्तक कदलीवृक्षो नटश्च तस्य प्रतिगुणः प्रभावो यत्र स. ॥३४॥

अर्थ—यह वनप्रदेश समुद्रके समान सुशोभित हो रहा है, क्योकि जिस प्रकार समुद्र **अखिलजलाशयाधिप**–समस्त जलाशयोका स्वामी है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **अखिलजलाशयाधिप**–समस्त खशोका आधार है। जिस प्रकार समुद्र **कर्बुरौघ**–जल समूहको स्वीकृत करता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **कर्बुरौघ**–कृष्णवृन्त नामक औषध वृक्षोको स्वीकृत करता है। जिस प्रकार समुद्र **वरुण-वल्लभ**–वरुणदेवको प्रिय है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **वरुणवल्लभ**–वृक्षोको प्रिय है और जिस प्रकार समुद्र **संभवत्तरणिप्रचारवारित**–उपलब्ध नौकाओके सचार-से सुशोभित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **संभवत्तरणिचारवारित**–सब ओर उत्पन्न होनेवाले घीगुँवारके प्रसारसे सुशोभित है ॥३३॥

अर्थ—हे सुमुखि ! देखो, वनका यह प्रदेश एक नर्तनालय–नृत्यशाला है, क्योकि जिस प्रकार नर्तनालय **वेणुवारसहित**–बासुरीके अवसरसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **वेणुवारसहित**–बांस और कुब्ज नामक वृक्षोसे सहित है। जिस प्रकार नर्तनालय **तन्त्रिकापूरित**–वीणाके स्वरसे पूरित रहता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **तन्त्रिकापूरित**–अमृता नामक औषधिसे परिपूर्ण है। जिस प्रकार नर्तनालय **सघन**–घण्टा आदि घन वाद्योंसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी सघन–मोथासे सहित है और जिस प्रकार नर्तनालय **नर्तकप्रतिगुण**–नृत्यकारके प्रभावसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **नर्तकप्रगुण**–कदली वृक्षके प्रभावसे महित है ॥३४॥

रोमहर्षणसमन्वितस्त्वतः पश्यताच्छिखरिणीश्रितः स्वत ।
उल्लसन्मदनमारकारणादभ्युपैति सविलासधारणाम् ॥३५॥

रोमहर्षणेत्यादि—अपि च पश्यतावलोकय । अयं वनखण्ड सविलासस्य मनुष्यस्य धारणामवस्थामुपैति, यतोऽयमुल्लसतो विकासं गच्छतो मदनस्याम्रवृक्षस्य पक्षे कामस्य सार स्पष्टभागस्तस्य कारणाद्धेतो रोमहर्षणेन विभीतकतरुणा रोमाञ्चनेन समन्वितत्वतो युक्तत्वतः स्वत एव शिखरिण्या[2] मल्लिकया, पक्षे युवतिरत्नेन श्रित इति ॥३५॥

वायुरित्यभिवदन्ति कौविदा आयुरेव पदवादसम्भिदा ।
अङ्गिनामनुवदाम्यहं महाभूतमेतदपि तन्वि रेकहा ॥३६॥

वायुरित्यादि—हे तन्वि ! कोविदा एव कौविदा बुद्धिमन्तो मनुष्या यदेतन्महाभूतं वायुरित्येवमभिवदन्ति तदेवाहं पदवादस्य सम्भिदा पदच्छेदन्यायेनाङ्गिनां प्राणभृतामायुरेवेत्यनुवदामि, वा-आयुरिति वाव्ययस्य निर्णयार्थसद्भावात् । यतोऽहं रेकहा शङ्काहरो नीचवृत्तेश्च परिहारकः ॥३६॥

हे प्रिये ! परमपावनोऽसको गन्धबन्धुपवनो वनस्य कौ ।
अत्र नः खलु पथः परिश्रमं दूरतो हरति वै ससम्भ्रमम् ॥३७॥

हे प्रिये ! इत्यादि—हे प्रिये ! वनस्यास्य कौ भूम्या परमपावन पुनीततम सुगन्ध-

---

अर्थ—देखो यह वनप्रदेश विलासी मनुष्यकी अवस्थाको प्राप्त हो रहा है क्योकि जिस प्रकार विलासी मनुष्य **रोमहर्षण**—सुखद स्पर्शसे उत्पन्न रोमाञ्चोसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **रोमहर्षण**—रोमाञ्चन नामक बहेडेके वृक्षसे सहित है। जिस प्रकार विलासी मनुष्य **उल्लसन्मदनसार**—बढते हुए कामदेवके स्पष्ट प्रभावसे युक्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **उल्लसन्मदनसार**—विकसित होते हुए आम्रवृक्षके सारसे सहित है और विलासी मनुष्य जिस प्रकार **शिखरिणी**—श्रेष्ठ युवतिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **शिखरिणी**—मल्लिका—मालतीसे सहित है ॥३५॥

अर्थ—जिस महाभूतको विद्वान् लोग वायु कहते हैं, उसे हम पदच्छेदकी पद्धतिसे प्राणियोंकी आयु कहते हैं। '**वा + आयुः=वायु**.' यहाँ वा अव्यय सन्देहका निराकरण करने वाला है ॥३६॥

---

१. मदन. स्मरधत्तूरवसन्तद्रुमसिक्थके ।
२ स्त्रियां शिखरिणी वृत्तभेदे तक्रप्रभेदयोः ।
स्त्रीरत्ने मल्लिकाया च रोमावल्यामपि स्मृता ॥ इति च विश्व० ।

बन्धुपावन समीचीनगन्धयुक्तो वायुरत्र नोऽस्माकं पथः परिश्रमं मार्गसम्भूतखेदं खलु दूरत एव वै ससम्भ्रममादरपूर्वकं हरति खलु वाक्यालङ्कारे ।।३७।।

श्रीधनुःस्थितिमितः समुद्धरत् संगराश्रयतया वनं वरम् ।
हे सुकेशि दमनैः समन्वितं सैन्यवल्लसति विक्रमाङ्कितम् ।।३८।।

श्रीधनुरित्यादि—हे सुकेशि ! वरमेतद्वनमितः सैन्यवल्लसति भासते यतः सगरस्य शम्या फलस्य पक्षे युद्धस्याश्रयतया श्रीधनुष प्रियालस्य पक्षे चापस्य स्थितिं दमनैर्नमपुष्पै-स्तथा वीरैः समन्वितं समुद्धरत् सद् विक्रमाङ्कितं वीनां पक्षिणां क्रमाङ्कितं साहससयुतं च लसति । उपमालंकारः ।।३८।।

तन्वि ! बालतनयाञ्चिता हितादग्रतः सहचरी समाश्रिता ।
नेत्रभागकलिताञ्जना वनी राजते कुलवधूः किलाध्वनि ।।३९।।

तन्वीत्यादि—हे तन्वि ! हितात्प्रेमवशात् किलाग्रतः सहचर्या झिण्टचा समाश्रिता स्वीकृता पक्षे सखीसहिता । बालस्य ह्रीबेरस्य तनयेन प्रसारेण पक्षे बालश्चासौ तनयः सुतस्तेनाञ्चिता । नेत्रभागेन मूलेन कलितोऽञ्जननामवृक्षो यस्या तथा नेत्रभागे चक्षु.-

---

अर्थ—हे प्रिये ! इस वनभूमिमे यह परम पवित्र सुगन्धित वायु दूरसे ही हम लोगोके मार्गसम्बन्धी खेदको सचमुच आदरपूर्वक हर रही है ।। ३७।।

अर्थ—हे सुकेशि ! यह वन इधर सेनाके समान सुशोभित हो रहा है, क्योकि जिस प्रकार सेना **धनुःस्थिति समुद्धरत्**—धनुषकी स्थितिको धारण करती है, उसी प्रकार यह वन भी [1]**धनुःस्थिति समुद्धरत्**—प्रियाल (अचार) वृक्षोकी स्थितिको धारण करता है । जिस प्रकार सेना **संगराश्रय**—युद्धका आधार होती है, उसी प्रकार वन भी [2]**संगराश्रय**—शमीफलका आधार है । जिस प्रकार सेना [3]**दमन**—वीरभटोसे सहित होती है, उसी तरह वन भी **दमन**—पुष्पोसे सहित है और जिस प्रकार सेना **विक्रमाङ्कित**—पराक्रमसे सहित होती है, उसी प्रकार वन भी **विक्रमाङ्कित**—पक्षियोके सचारसे सहित है ।।३८।।

अर्थ—हे तन्वि ! मार्गमे आगे चलकर यह वनी कुलवधूके समान सुशोभित हो रही है, क्योकि जिस प्रकार कुलवधू **बालतनयान्विता**—छोटे पुत्रसे सहित होती है, उसी प्रकार वनी भी **बालतनयान्विता**—ह्रीबेरके विस्तारसे सहित है । जिस प्रकार कुलवधू प्रेमवश **सहचरीसमाश्रिता**—सखीसे सहित होती है, उसी प्रकार वनी भी **सहचरीसमाश्रिता**—झिण्टी नामक वृक्षसे सहित है और जिस प्रकार

१ धनु शरासने राशौ धनुर्धन्विपियालयो. । २. सगर स्यात् फले शम्याः ।
३. पुष्पे वीरेऽपि दमन । सर्वत्र विश्वलोचनः ।

प्रदेशे कलित लग्नमञ्जन कज्जल यस्या. सा वनी साध्वनि मार्गे कुलवधू: किलेव राजते ॥३९॥

हे सुकेशि । तव केशपाशतो ध्वस्तपिच्छ इव पश्यतादित: ।
सालशालिविपिनं विशत्यथासावपत्रपतया शिखावल: ॥४०॥

हे सुकेशीत्यादि—हे सुकेशि ! अथेत पश्यतात् तव केशपाशत श्लक्ष्णताविषये ध्वस्त. पराजित पिच्छ. पिच्छभागो यस्य स शिखावल· केकी किलासापत्रपतयोन्मुक्तपिच्छतया सलज्जतया वा सालैर्नाम वृक्षै शालि शोभन यद्विपिन वन विशति विगाहत इत्युत्प्रेक्षा ॥४०॥

मन्दगामिनि ! तवालसां गति शिक्षतेऽथ कलभोऽसकावित: ।
वीक्षते दृशि पराजितो मृगोऽङ्कं पलायितुमयं द्रुतं व्रजन् ॥४१॥

मन्देत्यादि—हे मन्दगामिनि ! असावेवासकौ कलभो हस्तिशावक इतस्तवालसा मनोहरा गति शिक्षते । अथ मृगश्च दृशि चक्षुषि विषये पराजित. सन् द्रुत शीघ्रमेव व्रजन् पलायितु तिरोभवितुमङ्क स्थानं वीक्षते । पूर्वोक्त एवालकार: ॥४१॥

काननावनिमतीत्य वेगत: स्वात्मवान् समवलम्बते तत: ।
काञ्चनस्थितिमतीं वसुन्धरामुत्कतामनुभवन्नथो नृराट् ॥४२॥

काननेत्यादि—अथो नृराट् जयकुमारो य: किलात्मवान् विचारशील· स वेगतोऽविलम्बभावेन काननस्यावनि भूमि तथा च कुत्सिताननामवनिनाम स्त्रियमतीत्य त्यक्त्वा

कुलवधू **नेत्रभागकलिताञ्जना**–चक्षु·प्रदेशमे कज्जल लगाये होती है, उसी प्रकार वनी भी **नेत्रभागकलिताञ्जना**–जडसे युक्त अञ्जन नामक वृक्षोसे सहित है ॥३९॥

अर्थ—हे सुकेशि ! इधर देखो, तुम्हारे केशपाशसे जिसकी पिच्छ पराजित हो गई है, ऐसा यह मयूर लज्जासे ही मानो सागौनके वृक्षोसे सुशोभित वनमे प्रवेश कर रहा है ॥४०॥

अर्थ—हे धीरे धीरे चलने वाली प्रिये ! इधर यह हाथीका बच्चा तुम्हारी अलसायी चालको सीख रहा है और इधर शीघ्र चलने वाला मृग तुम्हारी दृष्टिसे पराजित हो मानो भागने अथवा छिपनेके लिये स्थान देख रहा है ॥४१॥

अर्थ—तदनन्तर विचारशील राजा जयकुमार वेगसे वनभूमिको लाँघकर उत्कण्ठाका अनुभव करते हुए अच्छी स्थितिका धारण करने वाली भूमिको प्राप्त हुए ।

काञ्चनस्थितिमतीं वसुन्धरां साधारणवसतियुक्तां भुव तथा सुवर्णरूपिणीं युवतिमवलम्बते स्म स्वीचकार। उत्कता सोत्कण्ठतामनुभवन् सन्निति समासोक्तिः ॥४२॥

नैककल्पतरुतर्पितस्थितीन् स्वप्सरोवरसमर्थितानिति ।
नाकनाम दधतो जनाश्रयान् संजगाम पथि शक्रवद्रयात् ॥४३॥

नैकेत्यादि—स नराट् पथि मार्गे शक्रवदिन्द्रो यथा स रयाच्छीघ्रमेव नाकनाम दधतो निर्दोषनामयुक्तान् निष्पापान् पक्षे स्वर्गनामकान् जनाश्रयान् देशान् संजगाम, यतो नैककल्पैर्बहुविधैस्तरुभिः पक्षे नैकैर्बहुभिः कल्पनामतरुभिस्तर्पिता अलंकृता स्थितिर्येषां तान्; तथा सुन्दरा आपो जलानि येषु तैः सरोवरैरथवा सुन्दरैरप्सरसा नीलाब्जनादीनां वरैः रलयोरभेदाद् बले रूपे समर्थितान् युक्तानिति। 'बल गन्धरसे सैन्ये स्थामनि स्थौल्यरूपयोः' इति विश्वलोचनकोषे। श्लेषोपमालंकारः ॥४३॥

तत्र स प्रभवविधेनुगत्वतः स्नेहमाप वृषवत्सलत्वतः ।
शस्यतोयजनसंश्रयत्वतस्तुल्यतामनुभवन् महत्वतः ॥४४॥

तत्रेत्यादि—स नरराट् तत्र देशे तुल्यतामनुभवन् स्नेहमाप, यतः प्रभवः श्रेष्ठोत्पाद- स यासामस्ति ताः प्रभविन्य , ताश्च ता धेनवश्चेति प्रभविधेनवस्ता गच्छति यस्तद्भावतः। पक्षे प्रभासहिता सप्रभा, तथाभूता विधा प्रकारो यस्य तस्मिन् सदाचारिणि जनेऽनुगत्वतो विनयभावत । तथा वृषान् बलीवर्दान् वत्सांस्तर्णकांश्च लाति स्वीकरोति

अर्थान्तर—जिस प्रकार कोई पुरुष कुत्सित मुखवाली स्त्रीको छोड़कर सुन्दरमुख वाली स्त्रीको बडी उत्कण्ठासे प्राप्त होता है, उसी प्रकार जयकुमार ऊबड-खाबड़ वनभूमिको व्यतीत कर अन्य सुन्दर भूमिको बडी उत्कण्ठासे प्राप्त हुए थे ॥४२॥

अर्थ—राजा जयकुमार मार्गमे इन्द्रके समान शीघ्र ही उन जनाश्रयो—देशोको प्राप्त हुए जो अनेक प्रकारके वृक्षोंसे सन्तोषकारक स्थिति वाले थे (पक्षमे अनेक कल्पवृक्षोसे सन्तोष कारक स्थिति वाले थे), सुन्दर जलके सरोवरोसे सहित थे (पक्षमे सुन्दर अप्सराओसे सहित थे) और निर्दोष नामको धारण करने वाले थे (पक्षमे स्वर्ग नामको धारण कर रहे थे) ॥४३॥

अर्थ—राजा जयकुमार उस देशमे तुल्यताका अनुभव करते हुए स्नेहको प्राप्त हुए। तुल्यता निम्न प्रकार थी-जिस प्रकार जयकुमार **सप्रभविधेनुग**—सदाचारी जनोमे विनयशील थे, उसी प्रकार वह देश भी **सप्रभविधेनुग**—अच्छी नस्लकी गायोको प्राप्त था। जिस प्रकार जयकुमार **वृषवत्सल**—धर्मस्नेहसे सहित थे, उसी प्रकार वह देश, भी **वृषवत्सल**—बैल तथा बछडोको स्वीकृत करने वाला

तद्भावतः पक्षे वृषे धर्मे वत्सलत्वतः प्रीतिसद्भावात् । तथा शस्यं धान्यं तोयं जलं जनश्च तेषां त्रयाणां संश्रयत्वतः समाश्रयत्वतः पक्षे शस्यतः प्रशंसायोग्यात् तस्माद् यजनस्य परमात्माराधनस्य संश्रयत्वतः स्वभावत इत्येवं महत्त्वतः स्नेहमाप । श्लेषोपमालंकार ॥४४॥

सालकाननतया मनोहरामभ्युपेत्य नरनायको धराम् ।
प्राप शं सुरतरूपसम्पदा सन्निकृष्टविकसत्पयोधराम् ॥४५॥

सालेत्यादि—नरनायको राजा स धरां भूमिं कांचित् स्त्रियं वाभ्युपेत्य शं सुखं प्राप लब्धवान् । कीदृशीं धराम् ? सालानां नाम वृक्षाणां काननं वनं तत्तया पक्षेऽलकैः केशैः सहितं सालकं च तदाननं च तत्तया मनोहराम् । सुरतरूणां कल्पवृक्षाणामुपसंपदा तुल्यश्रिया सुन्दरवृक्षकतया सन्निकृष्टा समालिङ्गिता विकसन्त पयोधरा मेघा यया तां पक्षे सुरतरूपा या सम्पत् तया सुरतं च रूपं च तयोर्द्वयोर्या सम्पत्तया सन्निकृष्टौ परस्परं सम्मिलितौ विकसन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तामिति यावत् । समासोक्तिरलंकार. ।.४५॥

सौष्ठवेन तु सदिक्षुमानितां भूरिधान्यहितकृद्गुणाङ्किताम् ।
मेदिनीं प्रमुमुदेऽवलोकयन् किन्न भद्रपरिणामभृज्जयः ॥४६॥

सौष्ठवेनेत्यादि—स भद्रपरिणामभृज्जयकुमारस्तां मेदिनीं भूमिमवलोकयन् किन्न मुमुदेऽपि तु मुमुद एव सौष्ठवेन सौहार्दभावेनेति । कीदृशी तामिति चेत् ? समीचीनैरिक्षुभिः पौण्ड्रैर्मानितां युक्ता तथा भूरिधान्येन विपुलगोधूमादिना हितकृता गुणेनाङ्किता

था। तथा जिस प्रकार जयकुमार **शस्यतोयजनसंश्रय**–प्रशस्सा योग्य देशसे परमात्माकी आराधनाके आधार थे, उसी प्रकार वह देश भी **शस्यतोयजनसश्रय**–धान्य, जल और मनुष्योका आधार था ॥४४॥

अर्थ—नरपति-राजा जयकुमार स्त्रीके सादृश्यको प्राप्त उस वनभूमिको पाकर बहुत सुखी हुए। वनभूमि और स्त्रोके पक्षमे विशेषणोका आयोजन इस प्रकार है—वनभूमि **सालकानन**–सागौन वृक्षोके वनसे मनोहर थी और स्त्री **सालकानन**–केशसहित मुखसे मनोहर थी। वनभूमि **सुरतरूपसम्पदा**–कल्पवृक्षरूप सम्पत्तिके द्वारा **सन्निकृष्टविकसत्पयोधरा**–बिखरे हुए मेघोंका स्पर्श करने वाली थी और स्त्री **सुरतरूपसम्पदा सन्निकृष्टपयोधरा**–सभोग तथा सौन्दर्यरूप सम्पत्तिके द्वारा स्पर्श किये गये स्थूल स्तनोंसे सहित थी ॥४५॥

अर्थ—भद्र परिणामोको धारण करने वाले राजा जयकुमार सौहार्द भावसे समीचीन पौंडोसे संयुक्त अथवा सभी दिशाओमे आदरको प्राप्त और अनेक

यद्वा भूरिधान्यस्य हितकृद् यो गुणस्तेनाङ्किताम् युक्ताम् । तथा स विक्षु सर्वासु दिशासु मानितामादरयोग्या भूरिधानेकप्रकारेणान्यस्यातिथे, हितकृद् यो गुणस्तेनाङ्किताम् । समासोक्तियुक्तवक्रोक्तिरलंकार ॥४६॥

हस्तिमौक्तिकफलादिकं मुदा भूपतेः शबरनायकास्तदा ।
दर्शनार्थमभितः समागताः स्रागुपायनमुपेत्य सन्नताः ॥४७॥

हस्तीत्यादि—तदा शबराणा म्लेच्छजातीयाना नायका हस्तिमौक्तिकफलादिकमुपायन परितोषकारक वस्तुजातमुपेत्य सगृह्याभित सर्वाभ्यो दिशाभ्यो भूपतेर्दर्शनार्थमुपागता स्राक् शीघ्रमेवमायाता मुदा प्रसन्नतया सन्नताश्च ॥४७॥

श्यामसुन्दरशरीरसम्पदोऽस्पष्टदृश्यमृदुरोममञ्जरीः ।
कृष्णलारचितकण्ठभूषणाः सचलद्वलदुकूलमञ्जुलाः ॥४८॥
मण्डनार्थमथ चैणनाभिकाश्चिन्वतीस्तनुतरावलग्नकाः ।
तत्र भिल्लतनया विलोकयँल्लोकराट् स मुमुदे वनस्थले ॥४९॥

श्यामेत्यादि—तत्र वनस्थले स लोकराट् प्रजापतिर्जयकुमारो भिल्लानां तनया. कन्या विलोकयन् मुमुदे मुदमवाप । कृष्णला गुञ्जा, अवलग्नमेवावलग्नकं मध्यम्, एणस्य मृगस्य नाभिका कस्तूरीत्यर्थ । शेष स्पष्टम् ॥४८–४९॥

मोदमाप महिषीमनोहरान् मातृमारखचितक्रियापरान् ।
स स्फुरद्धवलधाममण्डितान् वीक्ष्य गोपनिलयान् स्वसंहितान् ॥५०॥

धान्योंके हितकारी गुणोंसे सहित अथवा अनेक प्रकारसे अन्य मनुष्योंका हित करने वाले गुणोंसे युक्त उस भूमिको देखते हुए क्या प्रमोदको प्राप्त नही हुए थे ? अवश्य ही हुए थे ॥४६॥

अर्थ—उस समय म्लेच्छ राजा गजमोती आदि की भेंट लेकर सभी दिशाओंसे राजाके दर्शनके लिये आये और हर्षपूर्वक उपहार देकर नम्रीभूत हुए—सभीने नमस्कार किया ॥४७॥

अर्थ—जिनकी शरीरसम्पदा श्याम होने पर भी सुन्दर थी, जिनकी कोमल रोमपंक्ति अस्पष्ट रूपमें दिख रही थी, जिनके कण्ठहार गुमचियों से निर्मित थे, जो हिलते हुए वल्कलोंके वस्त्रोंसे मनोहर थी, जो सजावटके लिये कस्तूरीको धारण कर रही थी तथा जिनकी कमर पतली थी, ऐसी भिल्ल-कन्याओंको देखते हुए राजा जयकुमार वनभूमिमें अत्यधिक प्रसन्न हुए थे ॥४८–४९॥

मोदमित्यादि—स राजा गोपाना निलयान् गृहान् स्वेनात्मना सहितान् समानान् वीक्ष्य मोदमाप । कीदृशांस्तानिति चेत् ? महिषोभिर्नाम रक्ताक्षाभि· पट्टराज्ञीभिर्वा मनोहरान्, मातृणा धेनूना पक्षे मातुर्भुव· सारेण खचिता संरब्धा या क्रिया तत्र परान् सलग्नान्, स्फुरतां स्फूर्तिमाप्तानां धवलाना वृषभाणा धामभि. स्थानैर्मण्डितान् युक्तान् पक्षे स्फुरद्भिर्धवलैर्धामभिर्मण्डितान् ॥५०॥

भूरिशोभिनवनीतिचेष्टिताद् गोकुलाद्धितमधात् प्रजापिता ।
आत्मवत् सदधिकारवाञ्छितादेवमेव गुणितक्रमाञ्चितात् ॥५१॥

भूरीत्यादि—स प्रजापिताऽऽत्मनो यथाऽऽत्मवदेव गोकुलाद्धितमधात् स्वीचकार । कीदृशात्तस्माच्चेत् ? भूरिशोभा यस्य तन्नवनीतं नवोद्धृत तद्वच्चेष्टित यत्र तस्मात्, पक्षे भूरिशोऽनेकप्रकारतोऽभिनवा नूतना स्तुतियोग्या वा नीतिस्तस्याश्चेष्टित यत्र तस्मात् । दध्ना सहित कारो यत्न सदधिकारस्तस्य पक्षे समीचीनोऽधिकारस्तस्य वाञ्छितं यत्र तस्मात् । गुणिनो गुणयुक्तस्य तक्रस्योदश्वितो भया शोभयाऽथवा गुणितेन क्रमेण नीतिपथे-नाञ्चितादयुक्तादित्युपमा । 'कारश्च यतियत्नयो.' इति विश्वलोचने ॥५१॥

घोषकोलपलसत्कुटीरकप्रान्तमेवमवलम्ब्य बाहुना ।
वल्लवा नृपवरं सविस्मयं लीलयाथ ददृशुर्दृशाऽधुना ॥५२॥

अर्थ—राजा जयकुमार अपने घरोकी समानता रखने वाले ग्वालोके घरोको देखकर हर्षको प्राप्त हुए थे। दोनो पक्षोमे विशेषणोकी अर्थयोजना इस प्रकार है—गोपनिलय-अहीरोके घर **महिषियो**-भैसोसे मनोहर थे और राजभवन **महिषियो**-पट्टरानियोसे मनोहर थे। गोपनिलय-गायोकी सारभूत क्रियाओ-लिम्पन-दोहन आदि क्रियाओमे तत्पर थे और राजभवन पृथिवी सम्बन्धी श्रेष्ठ क्रियाओकी सँभालमे तत्पर थे। गोपनिलय-सुशोभित बैलोके स्थानसे मण्डित थे और राजभवन देदीप्यमान सफेद मकानोसे मण्डित थे ॥५०॥

अर्थ—राजा जयकुमारने अपनी समानतासे युक्त गोकुलसे हितको स्वीकृत किया था। गोकुल और राजाके पक्षमे विशेषणोकी अर्थयोजना इस प्रकार है—**भूरिशोभिनवनीतिचेष्टितात्**-गोकुलकी क्रियाएँ अत्यन्त शोभायमान मक्खनसे युक्त थी, अर्थात् ताजा-ताजा मक्खन निकाला जा रहा था और राजा **भूरिशोभि-नवनीतिचेष्टितात्**-अनेक प्रकारको नई नीतियोकी चेष्टाओसे युक्त था, अर्थात् वहाँ नवीन-नवीन नीतियो पर विचार होता था। गोकुल **सदधिकारवाञ्छितात्**-दहीविषयक प्रयत्नोकी इच्छासे सहित था, अर्थात् वहाँ दही विषयकचर्चा होती थी और राजा **सदधिकारवाञ्छितात्**-समीचीन अधिकारोकी वाञ्छासे सहित था ॥५१॥

घोषकेत्यादि—अथाधुनाऽऽभीरस्त्रियस्ता घोषकस्योलपेन घोषवल्ल्या युक्तस्य कुटीरकस्य प्रान्तं बाहुनाऽवलम्ब्य धृत्वा लोलया चपलया दृशा चक्षुषैवंप्रकारेण सविस्मयमाश्चर्यपूर्वक नृपवर ददृशुरिति जाति. ।।५२।।

तेषु सन्निधिमुपाश्रितेषु चानेकधान्यगणकृष्टिमद्रुचा ।
ग्रामकेषु स मुदा रतां श्रियं वीक्षमाण उदगादपि ह्रियम् ।।५३।।

तेष्वित्यादि—स राजा जयकुमार सन्निधिं नैकट्य यद्वा समीचीनं निधिं धनराशिमुपाश्रितेषु ग्रामकेषु चानेकधान्यान गोधूमादीना गणस्य कृष्टिर्यद्वाऽनेकधाऽन्येषां बहुप्रकारेण परेषा गणस्य या कृष्टिराह्वाननं तद्वती या रुक् रुचिस्तया हेतुभूतया मुदा प्रसन्नतापूर्वकं रता तल्लीनां श्रिय सम्पत्ति तन्नामस्त्रियमपि वीक्षमाणोऽवलोकयन् ह्रिय त्रपामुदगाज्जगामेति समासोक्तिरलकारः ।।५३।।

मन्थनश्रमवशात् परिस्फुरत्सिप्रबिन्दुवदनं महीभृता ।
प्रस्फुटामृतकणं सुधारुचो बिम्बमैक्षि खलु गोपयोषिताम् ।।५४।।

मन्थनेत्यादि—तत्र महीभृतानेन मन्थने दधिविलोडने श्रमवशात् परिस्फुरन्ति सिप्रस्य प्रस्वेदस्य बिन्दवो यत्र तद् गोपयोषिता गोपीना वदन मुख तत्खलु प्रस्फुटाः प्रकटीभूता अमृतस्य कणा यत्र तत्सुधारुचश्चन्द्रस्य बिम्बमैक्षि समवलोकितमित्युत्प्रेक्षा ।।५४।।

अर्थ—इस समय अहीरोकी स्त्रियाँ घोषवल्ली–कुमडा आदि को लताओसे सुशोभित कुटियाके प्रान्त भागको भुजासे पकड कर चञ्चल दृष्टिसे राजाको देख रही थी ।।५२।।

अर्थ—वह राजा जयकुमार सन्निधि–निकटता अथवा समीचीन धनराशिको प्राप्त हुए ग्रामोमे लीन लक्ष्मीको अनेक प्रकारके धान्यसमूह अथवा विविध प्रकारके अन्य लोगो सम्बन्धी आह्वाननकी रुचिसे हर्षपूर्वक देखते हुए लज्जाको भी प्राप्त हुए थे ।

भावार्थ—अन्य पुरुषमे प्रीति करने वाली स्त्रीको देखता हुआ मनुष्य जिस प्रकार लज्जाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जयकुमार ग्रामोमे रत–तल्लीन लक्ष्मीको देखकर लज्जाको प्राप्त हुए थे ।।५३।।

अर्थ—वहाँ राजाने मन्थन क्रियाके श्रमसे उत्पन्न पसीनेकी बूदोसे सहित गोपाङ्गनाओके मुखको क्या देखा था, मानो छलकते हुए अमृत कणोसे युक्त चन्द्रमाका बिम्ब ही देखा था ।।५४।।

मन्थनातिशयतः समुच्चलत्तक्रबिन्दुनिकरोऽकरोद्धियः ।
पीवनस्तनतटेऽथ संसजन् यत्र मौक्तिकसुमण्डलश्रियः ॥५५॥

मन्थनातिशयत इत्यादि—अथ यत्र गोपयोषितां मध्ये मन्थनस्यातिशयतो वेगत समुच्चलता तक्रस्य बिन्दूनां निकर. समूहः स च पीवरे सुपुष्टे तासां स्तनतटे संसजन् विलगन् सन् मौक्तिकानां सुमण्डनस्याभूषणस्य श्रियः शोभाया धियो बुद्धीरकरोत् ॥५५॥

मन्थकर्मणि जुषः कुचद्वयं गर्गरीमतुलयद्यतः स्वयम् ।
व्युत्थमस्तुलवयोगतो हसद् घूर्णते स्म किल विस्फुरद्दृशः ॥५६॥

मन्थेत्यादि—मन्थकर्मणि जुषो दधिविलोडनतत्पराया विस्फुरती दृशौ चक्षुषी यस्यास्तस्याः कुचद्वय स्तनयोर्युगल यत· स्वय गर्गरी ता किलातुलयत् तुलारूढा चकार, तदा व्युत्था अर्थाद्वुत्थाय लग्ना ये मस्तुलवा दधिबिन्दवस्तेषा योगत. सम्बन्धतो हसत् मद् घूर्णते स्म । एषाप्युत्प्रेक्षेव ॥५६॥

मन्थिनीमुदधिसन्निभामहीशानसुन्दरगुणेन यत्र ता· ।
लोडयन्ति ललनाः स्म मन्दरप्रायमन्थकलिनाऽमृताय ताम् ॥५७॥

मन्थिनीत्यादि—यत्र ता ललना गोप्योऽहीना सर्पाणामीशानः शेषस्तद्वत् सुन्दरो यो गुणो मन्थनरज्जुस्तेन मन्दरप्राय पर्वततुल्यश्चासौ मन्थो मन्थानदण्डस्तस्य कलिर्यत्र तेना-मृताय घृताय पीयूषायेव लोडयन्ति स्म तामित्युपमा । 'मन्थो मन्थानदण्डे स्यादिति', 'अमृतन्तु घृते दुग्धे' इति च विश्वलोचने ॥५७॥

अर्थ—जहाँ मन्थनकी अधिकतासे उछल-उछल कर छाछकी बूंदोका जो समूह गोपाङ्गनाओके स्थूल स्तनोंपर लग रहा था, वह मोतियोसे निर्मित आभूषण-की शोभा सम्बन्धी बुद्धिको उत्पन्न कर रहा था ॥५५॥

अर्थ—मन्थन क्रियामे सलग्न चञ्चल नेत्रों वाली गोपीके स्तनयुगलने स्वयं गर्गरीको तोला था, अर्थात् परिमाणमे गर्गरीसे अधिक विस्तारको प्राप्त किया था, इसलिये वह उछल कर लगे हुए दहीके कणोसे मानो हसता हुआ हिल रहा था, अर्थात् विजयके कारण हँसता हुआ झूम रहा था ॥५६॥

अर्थ—जिस प्रकार देवोने शेष नागको मन्थन रज्जु और मन्दरगिरिको मथानी बनाकर अमृत प्राप्तिके लिये समुद्रका मथन किया था, उसी प्रकार वे गोपियाँ समुद्रके समान विस्तृत मटकीको शेषनागके समान श्वेत वर्णवाली मन्थन-रज्जु और पर्वतके समान विशाल मन्थान दण्डको लेकर कल-कल करती हुई अमृत-घृतके लिये विलोडित कर रही थी ॥५७॥

आगताश्च दधिभाजनादिभिर्घोषकान् नृपसुदृष्टये कृती ।
प्रीतितः कुशलपृच्छनादिभिर्न्यायवान् स विससर्ज भूपतिः ॥५८॥

आगताश्चेत्यादि—घोषका आभीरा नृपस्य सुदृष्टये दर्शनार्थं दधिभाजनमादिर्येषां तैर्घृतपात्रैर्दुग्धपात्रैश्च समवेता भवन्त इति शेष । आगता ये केऽपि तान् स न्यायवान् भूपतिः कुशलपृच्छनमादि येषां तैर्दन्नोपहारग्रहणं तदुक्तश्रवणमाश्वासनदानमित्येतैर्विसर्ज विदा कृतवान् प्रीतितो यतः स कृती विचारवानतः ॥५८॥

दामनाम दधतो दुधुक्षतोऽभ्याजतोऽतियतिनों सहुकृति ।
धेनुमैक्षत जयस्तदा स्तनाभ्याससंकलिततूर्णतर्णकाम् ॥५९॥

दामनामेत्यादि—तदा जयः स्तनानामभ्यासे सचूषणे सकलितस्तूर्णः शीघ्रभावो येन स तादृशस्तर्णको वत्सो यस्यास्ता धेनुं गां दुधुक्षतो दोग्धुमिच्छतो दामनाम पदनियन्त्रणरज्जू दधतस्तथातियतिनो पुनरप्यन्यथागन्तुमुद्यता सहुकृति यथा स्यात्तथाऽभ्याजतः सतर्जयतो गोपानैक्षत । स्वभावाख्यातिरलंकृतिः ॥५९॥

प्रेयसीप्रणयपूर्णमानसः शीघ्रमेव निजमण्डलावधिम् ।
सच्चिदेकहृदयो मुनीश्वरः प्राप मुक्तिनगरीप्रघाणवत् ॥६०॥

प्रेयसीत्यादि—प्रेयस्यां सुलोचनाया यः प्रणयः प्रीतिभावस्तेन पूर्णं भरितं मानसं चित्तं यस्य स जयकुमारः सच्चिदा शुद्धात्मबुद्ध्या सहैकमभिन्नं हृदयं यस्य स मुनीश्वरो मुक्तिरेव नगरी सर्वदा निवासयोग्यत्वात् तस्याः प्रघाणवत् देहलीमिव शीघ्रमेव निजमण्डलस्य स्वदेशस्यावधिं सीमानं प्राप लब्धवान् । इत्युपमालंकारः ॥६०॥

अर्थ—जो अहीर राजाके दर्शनके लिये दही आदिके पात्रोंसे युक्त होते हुए आये थे, उन सबको न्यायवान् कुशल राजाने कुशल प्रश्न आदिसे सतुष्ट कर प्रेमपूर्वक विदा किया था ॥५८॥

अर्थ—स्तन चूसनेकी शीघ्रतासे युक्त बछडा जिसके समीप है, ऐसी मरकनी गायको दोहनेके इच्छुक तथा हुंकारपूर्वक पैर बाधनेके लिये रस्सी लिये हुए सामने आनेवाले गोपोंको जयकुमारने देखा था ॥५९॥

अर्थ—जिस प्रकार शुद्धात्माके साथ हृदयका एकत्व स्थापित करने वाले मुनिराज मुक्तिरूपी नगरीकी देहलीको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सुलोचनाके प्रेमसे परिपूर्ण हृदयवाले जयकुमार शीघ्र ही अपने देशकी सीमाको प्राप्त हो गये ॥६०॥

आतपत्रसितफेनरङ्गिणी　　सञ्चलद्ध्वजबृहत्तरङ्गिणी ।
चन्द्रहासझषलासवाहिनी　निस्ससार विभवेन वाहिनी ॥६१॥

आतपत्रेत्यादि—तस्य वाहिनी नाम सेना सैव नदी याऽऽतपत्राण्येव सिताः समुचिताः फेनास्तेषां रङ्गवती रङ्गिणी तथा सञ्चलन्तो ये ध्वजास्त एव बृहत्तरङ्गास्तद्वती तथा चन्द्रहासा असयस्त एव झषा मीनास्तेषां लासस्य नृत्यस्य वाहः सम्बन्धस्तद्वतीति विभवेन समारोहेण निस्ससार ॥६१॥

अवलम्बितमस्तवारणस्रजमत्यादरतो　　महीपतिः ।
विरहादिव लम्बितालकां नगरीमेव ददर्श सम्प्रति ॥६२॥

अवलम्बितेत्यादि—एष महीपतिर्जयकुमार सम्प्रति कालेऽवलम्बिता मस्तवारणस्रक् किल वन्दनवारमाला यस्यास्तां स्वीयां नगरीं विरहाच्चिरवियोगादिव किल लम्बिता अलका. केशा यस्यास्तामत्यादरतोऽतिशयप्रीतिभावतो ददर्शेत्युत्प्रेक्षालकार· ॥६२॥

गगनंकषमन्दिरध्वजा　मरुता सत्तरलाञ्चला　सती ।
प्रथमं खलु वीक्षिता जनैर्यदि वा स्वागतमेव तन्वती ॥६३॥

गगनकषेत्यादि—तत्र सर्वप्रथम जनैर्मरुता वायुना सत्तरलमञ्चलं यस्यास्सा सती गगनकषस्य व्योमचुम्बिनो मन्दिरस्य जिनस्थानस्य ध्वजा यदि वा खलु स्वागतमेव तन्वतीति वीक्षिता दृष्टाभूदित्युत्प्रेक्षालकारः ॥६३॥

पुरसीम्नि पुनः पदातयोऽथ पदाब्जौ विनियम्य चक्रिरे ।
परिशोध्य हि पादरक्षिके उपसंव्यानकविस्तरं तराम् ॥६४॥

अर्थ—जो छत्ररूपी योग्य फेनके रङ्गसे सहित थी, हिलती हुई बडी-बड़ी ध्वजारूप तरङ्गोसे युक्त थी तथा तलवाररूपी मछलियोके नृत्यसे सम्बद्ध थी, ऐसी वह सेना रूपीनदी समारोहसे निकल रही थी, आगे बढ रही थी ॥६१॥

अर्थ—जिसमे वन्दनवार मालाएँ लटक रही थी और उनसे जो विरहके कारण केशोको मानो खुले रखे हुई थी, ऐसी उस नगरीको प्रवेशके समय राजा जयकुमारने बडे आदरसे देखा ॥६२॥

अर्थ—सबसे पहले लोगोने गगनचुम्बी मन्दिरकी ध्वजा देखी । उस ध्वजाका अञ्चल वायुसे चञ्चल हो रहा था । इससे ऐसो जान पड़ती थी, मानो स्वागत ही कर रही हो ॥६३॥

पुरसीम्नीत्यादि—पुनरच पदातयः पादचारिणो जनास्ते पदाञ्चौ स्वस्याधोवस्त्रस्योत्कोचितौ प्रान्तभागौ विनियम्योन्मुक्तौ कृत्वा पादरक्षिके उपानहौ परिशोध्योपसंव्यानकस्योत्तरीयवस्त्रस्य विस्तर प्रसार चाक्रिरेतराम् । 'ईदूदेद्द्विव' इत्यनेन प्रकृतिभावः ।।६४।।

तुरगा अपि ते रजस्वलावनिसंपर्कत आत्तकल्मषाः ।
श्रमवारिभिरेवमाप्लुताः प्रबभूवुः खलु तत्र विश्रुताः ।।६५।।

तुरगा इत्यादि—ते विश्रुताः सुप्रसिद्धास्तुरगा अपि रजस्वलायाः पांसुलाया रजोधर्मवत्याश्चावनेः पृथिव्याः सपर्कतः संसर्गादात्त कल्मष मलिनत्व यैस्ते तत्रेत्येव खलु श्रमवारिभि प्रस्वेदजलैराप्लुताः प्रबभूवुः । उत्प्रेक्षालकार ।।६५।।

गमनातिशयाज्जनीजनः शिथिलं साम्प्रतमन्तरीयकम् ।
दृढयन्नथवा प्रसाधयन् स्म मुहुः पश्यति लोलया दृशा ।।६६।।

गमनेत्यादि—दृढयन्नीविनिबन्धं सत्कुर्वन् प्रसाधयन् सुसज्जयन् । शेषं स्पष्टम् ।।६६।।

पवनप्रतिभाविनोऽप्ययात् परिधूसरिताङ्कशङ्कया ।
रथराजवितानकं पथीत्यधुना शोधयति स्म सारथिः ।।६७।।

अर्थ—तदनन्तर नगरकी सीमापर पहुँचते ही पैदल चलने वाले सैनिकोने अधोवस्त्रके ऊपर चढे हुए अचलको खोलकर तथा जूतोको साफकर उत्तरीय वस्त्रको अच्छी तरह विस्तृतकर लिया ।।६४।।

भावार्थ—मार्गमे चलते समय बाधक समझकर अधोवस्त्रके जिन अंशोको ऊँचाकर लिया था, उन्हे नीचाकर लिया, धूलिधूसरित जूतोको साफकर लिया और उत्तरीय वस्त्रको फैलाकर ठीककर लिया । नगरमे प्रवेश करते समय लोग मार्गकी अस्तव्यस्त वेषभूषाको ठीक करते ही हैं ।।६४।।

अर्थ—वे प्रसिद्ध घोडे भी रजस्वला-धूलिसे भरी हुई (पक्षमे रजोधर्मसे युक्त) पृथिवी (पक्षमे स्त्री) के ससर्गसे आत्तकल्मष-मलिनताको प्राप्त (पक्षमे पापको प्राप्त) हो गये थे, इसलिये पसीनेके द्वारा मानो उन्होने स्नान किया था ।।६५।।

अर्थ—दूर तक चलनेके कारण ढीली हुई अधोवस्त्रकी गाठको मजबूत बनाती तथा अधोवस्त्रको सुसज्जित करती हुई स्त्रियाँ चञ्चल दृष्टिसे उसे बार-बार देख रही थी ।।६६।।

पवनेत्यादि—सारथी रथवाहकः स इवं रथराजस्य वितानक समावरणवस्त्र तत् पवनस्य वायोः प्रतिभावः प्रभावो यत्र स पवनप्रतिभावी ततोऽयात् प्रसङ्गात् पथि मार्ग-परितः सर्वत एव धूसरितोऽङ्कः स्थल यस्येति शङ्कया मनस्तर्कयाऽधुना परिशोधयति स्म ॥६७॥

मनुजास्तनुजायनश्रमं किमपीमं नहि मेनिरे तदा ।
निजपत्तनवत्तनर्मणां परिवारैः परिवारिसम्पदाम् ॥६८॥

मनुजा इत्यादि—मनुजा गमनादायातास्ते तदा निजपत्तनस्य नगरस्य दत्त समुक्त नर्म समाचारो यैस्तेषाम्, परिवारिणा पितृपुत्रादीना सम्पत् सपर्क. परिचयो वा येषा तेषां परिवारै. समूहैस्तदा तनौ जायते योऽयनस्य गमनस्य श्रमस्तमिम किमपि नहि मेनिरे । प्रासङ्गिकलोकै· कुटुम्बस्य कुशलसमाचार श्रुत्वा मार्गस्य श्रमो दूर गतोऽभूदिति ॥६८॥

चरणद्वितयेन पत्तिभिः पदवी संसृतिवद् दवीयसी ।
स्वरमाभिगमाभिलाषिभिः सहजेनाप्यतिवर्तिता रसिन् ॥६९॥

चरणेत्यादि—हे रसिन् पाठक ! शृणु, ससृतिवद् दवीयसी दीर्घतमापि पदवी पद्धति सा स्वस्वरमया स्वस्त्रिया सहाभिगम. समागमस्तस्याभिलाषो येषां तैः पत्तिभिः पदचारिभिरपि जनै. सहजेनानायासेन चरणद्वितयेन पादद्वयेनैवातिवर्तिता व्यतीता ॥६९॥

हृदयस्थितकामपावकं कलयन्नञ्चलकैः किलावृतम् ।
वनिताजन एकतस्तरां तनुते वाततति स्म साम्प्रतम् ॥७०॥

अर्थ—नगरमे प्रवेश करते समय सारथिने वायुके प्रभावसे युक्त प्रसङ्गसे रथराजके आवरण वस्त्रको धूलिधूसरित होनेकी शङ्कासे साफकर लिया, अर्थात् उसकी धूलि झटकार दी ॥६७॥

अर्थ—उस समय, जिन्होने अपने नगरका समाचार सुनाया है, ऐसे पारिवारिक लोगोके सपर्कमे रहनेवाले लोगोके समूहसे, यात्राकर आये हुए मनुष्योने शरीरसम्बन्धी इस श्रमको कुछ भी नही माना था ।

भावार्थ—स्वागतके लिये आये हुए लोगोंसे अपने-अपने कुटुम्बी जनोका कुशल समाचार जानकर प्रवाससे आये हुए लोग मार्गके सब श्रमको भूल गये ॥६८॥

अर्थ—हे रसिक पाठक ! सुनो, अपनी स्त्रीके समागमकी अभिलाषा रखने वाले पैदल सैनिकोने ससारके समान अत्यन्त दीर्घ मार्गको अनायास हो दो पैरोसे व्यतीतकर दिया ॥६९॥

हृदयेत्यादि—साम्प्रत वनिताजनः स्त्रीसमाजः स एकत एकपार्श्ववर्तीभूयाञ्चलकै-रुत्तरीयवस्त्रैर्हृदयेऽन्तरङ्गे स्थितो यः कामपावकः स्मरवह्निस्तमावृत सुगुप्तमपि कलयन् जानन् वाततति वायुवृत्ति तनुते स्मेति मौग्ध्यम् ॥७०॥

अतिवर्त्य नदीवनादिकं पुरमात्मीयमवापि सेनया ।
नरपस्य यथा यतिस्थितिर्लभते संसृतितः शिवं रयात् ॥७१॥

अतिवर्त्येत्यादि—यथा येन प्रकारेण यतिस्थितिर्मुन्याचारपालको जनो रयाद्वेगाच्चिरेणैव कालेनेति यावत् ससृतितः चतुर्गतिरूपससारात् तमतीत्येति यावत्, शिवमपवर्गं लभते तथा नरपस्य जयकुमारस्य राज्ञः सेनया नदीवनादिकं विषमस्थलमतिवर्त्य समुल्लङ्घ्य आत्मीय स्वकीयं पुर हस्तिनागपुरपत्तनमवापि प्राप्तम् ॥७१॥

समियाय स जाययावृतो नगरस्थापितमन्त्रिभिर्धनी ।
सहितः कुसुमश्रिया मधुः कुतुकोत्कैर्भ्रमरैरिवाध्वनि ॥७२॥

समियायेत्यादि—जायया सुलोचनया सहितः स धनी जयकुमारोऽध्वनि मार्गे, नगरे स्थापिता ये मन्त्रिणस्तैरागत्यावृत आदरभाव नीत. सन् कुसुमश्रिया पुष्पसम्पदा सहितो मधुर्वसन्त कुतुकोत्कैर्विनोदभरितै पुष्पोत्कण्ठितैर्वा भ्रमरै षट्पदैरावृत इव समियायाप्रे गमन चकार । उपमालंकार ॥७२॥

नगरं प्रविवेश वैभवान्निजवृत्तं कियदेषु संवदन् ।
अथ कर्णपथं नयन्नयं स्वयमेभ्यो निजदेशवृत्तकम् ॥७३॥

अर्थ—एक ओर स्थित स्त्रीसमूह हृदयमे स्थित कामाग्निको उत्तरीय वस्त्रके अचलसे आवृत-सुगुप्त जानता हुआ इस समय अत्यधिक हवा कर रहा था। स्त्रियाँ भोलेपनसे यह नही समझ सकी कि हवा करनेसे छिपी अग्नि प्रज्वलित ही होगी, न कि शान्त ॥७०॥

अर्थ—जिस प्रकार मुनियोके आचारका पालन करने वाला मनुष्य शीघ्र ही ससारसे मोक्षको प्राप्तकर लेता है, उसी प्रकार राजाका सेनाने नदी, वन आदि विषम मार्गको उल्लघनकर अपना नगर प्राप्तकर लिया ॥७१॥

अर्थ—जिस प्रकार फूलोमे उत्कण्ठित भ्रमरोसे आदर भावको प्राप्त हुआ वसन्त पुष्पलक्ष्मीके साथ वनमे प्रवेश करता है, उसी प्रकार नगरमे स्थापित मन्त्रियोके द्वारा मार्गमे आदर भावको प्राप्त हुए राजा जयकुमारने सुलोचनाके साथ नगरमे प्रवेश किया ॥७२॥

नगरमित्यादि—अथायं नृप एवु मन्त्रिमुख्येषु निजवृत्तं प्रवासावसरे यदभूत्तत्किय-दपि यत्किञ्चित् सवदन् सस्तथा निजदेशस्य वृत्तक पृष्ठतो यत्किञ्चिदभूत् तदेभ्यः स्वय कर्णपथ नयन् नगर वैभवाद्यथा समारोह प्रविवेश । अनुप्रासोऽलकार ॥७३॥

नरनाथमनन्यचेतसोभयतस्तावदुपस्थिता　नराः ।
प्रणमन्ति तथा स्म ते　किलानरपद्वारमुदारगोपुरात् ॥७४॥

नरनाथमित्यादि—नरा दर्शकलोका उदार च तद् गोपुर नगरद्वार तस्मादारभ्यान-रपद्वार राजद्वारपर्यन्त नरनाथमुभयतोऽनन्यचेतसा तदेकचित्तीभूयोपस्थितास्ते त पुन. प्रणमन्ति स्म । अनुप्रासोऽलकार ॥७४॥

सरतो बलवारिधेः स्थितो द्वयतः पौरगणः क्रमागतः ।
समतिक्रमरोधमादरादनुचक्रे स　हि　तीरमन्तरा ॥७५॥

सरत इत्यादि—सरत प्रसार गच्छतो बलं सैन्यमेव वारिधिस्तस्य द्वयतो द्वयोर्भागयोः क्रमश आगतः क्रमागतः पौरगण पुरवासिना समूहः स तीरमन्तरा तटमनुलग्नो भूत्वा स्थित. सन्नादराद्विनयभावेन समतिक्रमस्य रोधं सीमातिक्रमणनिवारणमनुचक्रे । हीति निश्चयेन । रूपकोऽलंकार. ॥७५॥

वणिजो मणिजोषमादरादुपहारं ह्यनणौ वणिक्पथे ।
ददुरेव　चिरादुपेयुषे　सुयशःश्रीसहिताय　सुप्रथे ॥७६॥

वणिज इत्यादि—अनणौ विपुलविस्तारे वणिक्पथे हाटस्थाने, कीदृशे तस्मिन् ? सुप्रथे शोभना नीतिपूर्णा प्रथा यत्र तस्मिन्, यशश्च श्रीश्च यश.श्रियौ शोभने यशःश्रियौ ताभ्यां

अर्थ—अपने प्रवासका कुछ वृत्तान्त मन्त्रियोसे कहते हुए और अपने देशका कुछ वृत्तान्त मन्त्रियोसे सुनते हुए राजाने समारोहपूर्वक नगरमे प्रवेश किया ॥७३॥

अर्थ—विशाल गोपुरसे लेकर राजद्वार तक अनन्यचित्त हो दोनो ओर खडे हुए मनुष्योने राजाको प्रणाम किया ॥७४॥

अर्थ—आगे चलते हुए सेनारूपी समुद्रके दोनो ओर क्रमसे आकर खड़े हुए नगरवासियोके समूहने तटके बिना ही आदरभावसे सीमातिक्रमणके निषेधका अनुकरण किया था ।

भावार्थ—सब लोग विनयभावसे यथास्थान खडे थे अर्थात् सीमाका उल्लं-घन नही हुआ था ॥७५॥

अर्थ—अच्छी प्रथासे युक्त सुविस्तृत बाजारमे व्यापारियोंने चिरकालबाद

सहितायैवं चिरादुपेयुषे बहुकालादुपागताय तस्मै वणिजो नैगमा आदरात्प्रसन्नभावान्मणिओघं रत्नानां समूहरूपमुपहार ददु ।।७६।।

तदा वधूकान्तिसुधां निपातुमभ्यागतानां पुरसुन्दरीणाम् ।
मुखेन्दुसन्तानवशाद् बभूवुरन्वर्थसंज्ञाः खलु चन्द्रशालाः ।।७७।।

तदेत्यादि—चन्द्रशाला नाम वलभ्यस्तास्तदा वध्वा सुलोचनायाः कान्तिरेव सुधाऽमृतधारा तां निपातुमास्वादयितुमभ्यागतानां पुरस्य सुन्दरीणां ये मुखेन्दवस्तेषा सन्तानस्य वशादन्वर्थसंज्ञा यथार्थनामवत्यो बभूवु खलु । रूपकोऽलकार. ।।७७।।

विलोक्य कान्तं सुरभिस्वरूपं प्रफुल्लिता गात्रलता लताङ्ग्याः ।
तदाननेन्दुं मधुरस्मितान्तं दृष्ट्वा समुद्रोमलतोऽयमिष्टः ।।७८।।

विलोक्येत्यादि—तदा किलैकस्या लताङ्ग्या स्त्रिया गात्रलता सुरभि सुन्दरतरस्वरूपं भावो यस्य त तथा सुरभिर्मधुऋतुस्तत्स्वरूप कान्तं बिलोक्य प्रफुल्लिता विकसिताभूत् । तथा सोऽयमिष्टपुरुषो मधुरो मनोहर स्मितस्यान्तो यस्मिस्त तस्या प्रियाया आननमेवेन्दु त दृष्ट्वा समुद्रोमलतो मुद्रोम्णां हर्षाङ्कुराणां लतापरम्परा तया सहितोऽभूत् । किं वाऽमलेन तोयेन मिष्टोऽसौ समुद्रो मुद्रायुक्तो वा वारिधिर्वाऽभूत् । मधुरैरमृतरूपै रश्मिभिस्तान्त व्याप्त वा मुखेन्दुम् । श्लेष एवालकारोऽत्र ।।७८।।

प्रियां समुद्दिश्य नरः स्वमास्यं समस्पृशच्छ्रान्ततयेव चास्य ।
विलोकनात् संघृणयेव वामाऽधरं परावृत्य तरां रराज ।।७९।।

आये एवं सुयश और सुलक्ष्मीसे युक्त राजाके लिये आदरभावसे मणियोका उपहार दिया ।।७६।।

अर्थ—उस समय सुलोचनाकी कान्तिरूपी सुधाका पान करनेके लिये आई हुई नगरवासिनी स्त्रियोके मुखरूपी चन्द्रमाओके समूहसे चन्द्रशालाएँ—अट्टालिकाएँ सार्थक नामवाली हो गई थी ।।७७।।

अर्थ—किसी स्त्रीकी शरीररूपी लता **सुरभिस्वरूप**—अत्यन्त मनोहर रूपवाले अथवा वसन्त ऋतुरूप **कान्त**—पतिको देखकर प्रफुल्लित—विकसित हो गई और यह इष्ट पति—पुरुष भी **मधुरश्मितान्त**—मनोहर किरणोंसे व्याप्त अथवा **मधुरस्मितान्त**—मनोहर मुसक्यानसे युक्त उसके मुखरूपी चन्द्रमाको देखकर **समुद्रोमलतः**—उठते हुए रोमाञ्चोकी परम्परासे युक्त हो गया, अथवा **अमलतोयमिष्ट समुद्र**—स्वच्छ जलसे मिष्ट समुद्र हो गया, अथवा **अमलतोयमिष्ट**—निर्मल आभासे मनोहर **समुद्र**—मुद्रा सहित हो गया ।।७८।।

प्रियामित्यादि—एको नर प्रियां स्वेष्टां समुद्दिश्य लक्षीकृत्य आन्ततयेव समालस्यभावेनेव स्वमास्यमात्मीयमुखं तन्मुखचुम्बनरूपस्वाभिप्रायाभिव्यक्त्यर्थं समस्पृशत् । तदा सा वामा सुन्दरी चास्य विलोकनात् सघृणयेव निरादरभावेनेवाधरं स्वकीयमोष्ठं परावृत्य स्वकीयाया सानुरागताया. सन्ध्याया सूचनावती रराज ॥७९॥

वनिताजनिता तरला गीतिः स तु तूर्यरवः समुदात्तः ।
सुविकाशि नृपाङ्गणमासीद्धर्षमितः सकलश्च निशान्तः ॥८०॥

वनितेत्यादि—तदानीं तत्र वनिताभि स्त्रीभिर्जनिता सकलिता माधुर्ययुताऽवसरोचिता गीतिरासीत् तु पुनः समुदात्त. प्रस्पष्टरूपमुदा हर्षेण सहितः समुत्, समुच्चासावात्तः समारब्धस्तूर्यरवो भेरीनादोऽप्यासीत् । सकलोऽपि निशान्तोऽन्त पुरप्रदेशः स हर्षमितः प्रसन्नभाव गत आसीत् । तथा नृपाङ्गणमपि सुविकाशि आसीत् । यत्र तत्र सर्वत्र प्रसन्नभावोऽभूदिति ॥८०॥

विशद्भिर्जनैर्निःसरद्भिश्च शश्वन्नृपद्वारमाभून्नियोगिप्रसिद्धैः ।
अतिव्याकुलं शब्दविस्तारयुक्तं तरङ्गैरिवानीभिवाम्भोधितीरम् ॥८१॥

विशद्भिरित्यादि—इदानीं नियोगिषु कार्यार्थं नियुक्तेषु ये प्रसिद्धास्तैर्जनै कैश्चिद्विशद्भि कैश्चिच्च नि सरद्भि. शश्वत् पुनः पुनरित्यतिव्याकुल सव्याप्त तथा शब्दस्य कलकलस्य विस्तारेण युक्तमतस्तरङ्गैर्व्याप्तमम्भोधितीरमिवाभूत् सम्बभूवेत्युपमालकारः ॥८१॥

अर्थ—किसी एक पुरुषने अपनी स्त्रीको लक्ष्यकर–उसे देखकर अलसाये भावसे अपने मुखका स्पर्श किया, अर्थात् चुम्बनका अभिप्राय प्रकट किया और स्त्रीने भी इसे देखा अनादरभाव अथवा समीचीन दयाभावसे अपने ओठको परावृत्त किया, अर्थात् लाल ओठ दिखाकर उसने सध्या समयकी सूचना दी । ऐसा करती हुई वह स्त्री अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥७९॥

अर्थ—उस समय स्त्रीजनोके द्वारा सकलित अवसरोचित मनोहर गान हो रहा था, हर्षसहित प्रारम्भ किया भेरीका जोरदार शब्द हो रहा था, राजाका आगन विकसित–चहल पहलसे युक्त था और समस्त अन्तःपुर हर्षको प्राप्त हो रहा था, जहाँ तहाँ सभी जगह हर्ष छाया हुआ था ॥८०॥

अर्थ—इस समय निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते हुए अधिकारी पुरुषोंसे अत्यन्त व्याकुल तथा कलकल शब्दसे युक्त राजद्वार तरङ्गोंसे व्याप्त समुद्र तटके समान हो रहा था ॥८१॥

हेमाङ्गदादिष्वधुना स्थितेषु बबन्ध पट्टं पटुरेण तस्याः ।
भाले विशाले दुरितान्तकाले भवन्ति भावा रमिणां रमासु ॥८२॥

हेमाङ्गदादिष्वित्यादि—एष पटुश्चतुरो जयकुमार , स तस्या. सुलोचनाया विशाले भाले ललाटे हेमाङ्गदादिषु सर्वपरिजनेषु पुरजनेषु च स्थितेषु पट्ट बबन्ध तां पट्टमहिषीं कृतवानिति । हि सुलोचनायाः पुण्योदयो यत किल रम कामस्तद्वतामपि नराणामनुकूल-भावास्ते रमासु स्त्रीषु दुरितस्य पापस्यान्तकाले हि भवन्ति किल । अर्थान्तरन्यासोऽलंकार ॥८२॥

अथ कम्पनाधिनाथो भवेद् भवानेव देव भूमितले ।
भववपरः कश्च नरोऽकम्पनसुततां व्रजेद् बन्धो ! ॥८३॥

अथेत्यादि—अथात्र श्यालैर्हेमाङ्गदादिभिः समं जयकुमारस्य परिहासगोष्ठी सा यथा-कोऽपि जयकुमार जगाद हे देव ! अस्मिन् भूमितले भवानेव कम्पनस्य कम्प्रस्याधिनाथः संरक्षकस्तदुद्भूत्य कम्पनं नाम कम्प स एवाधिस्तस्यभवानेव नाथो भवेन्न तु वयमिति । एतदुत्तरं जयकुमार आह—भो बन्धो ! सोऽत्र नरो भववपरः कः स्याद्योऽकम्पनस्य महाराजस्य सुततां व्रजेदेतदेव परावृत्त्या कम्पनस्य यमस्य सुतता व्रजेदिति ॥८३॥

अन्यदर्शकतया जगौ परः श्रूयते भुवि भवानहो करी ।
प्रत्युवाच पुनरेव साहसी त्वं च वाञ्छसितरां करेऽणुताम् ॥८४॥

अर्थ—इस समय चतुर जयकुमारने हेमाङ्गद आदिके विद्यमान रहते हुए सुलोचनाके विशाल ललाटपर पट्टराज्ञी पदका पट्ट बाधा, सो ठीक ही किया, क्योकि पाप कर्मका अन्त, अर्थात् पुण्य कर्मका उदय होनेपर स्त्रियोके विषयमे पुरुषोके अनुकूल-इष्टभाव होते ही है ॥८२॥

अर्थ—हेमाङ्गद आदि सालोके साथ जयकुमारकी विनोदगोष्ठी चल रही है । किसीने जयकुमारसे कहा कि हे देव ! इस भूतल पर आप ही कम्पन-भीरुताके अधिनाथ स्वामी हैं, अथवा कम्पनरूप आधिमानसिक व्यथाके नाथ हैं । जयकुमारने कहा हे बन्धो ! आपके सिवाय दूसरा कौन मनुष्य अकम्पन सुतता-यमराजके पुत्रपनेको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् मै तो कम्पन का ही अधिनायक हूँ, पर आप तो अकम्पन-यमके पुत्र होकर उसके उत्तराधिकारी बन रहे हैं । परिहार पक्षमे आपके सिवाय अकम्पन-काशीनरेशकी पुत्रताको कौन प्राप्त हो सकता है ? ॥८३॥

अन्येत्यादि—पुन: परः कश्चिदन्यस्य दर्शकतया जगौ यदहो भुवि पृथिव्यां भवान् जयकुमारः करी पृथिव्या करग्रहणकरस्ततोऽसौ करी हस्तीति । तदुत्तरं पुनरेव साहसी जयकुमारः प्रत्युवाच यत्किल त्वं च करेऽणुतां किञ्चित्करतां यद्वा हस्तिनीभाव वाञ्छसि-तरामिति ।।८४।।

गोपतिर्जनतयासि भाषितोऽस्माकमाशु गुणवद्वृषस्त्वकम् ।
आह सोऽथ वदतीतरे जयः किन्न गोत्रिगुण एव भो भवान् ।।८५।।

गोपतिरित्यादि—अथ हे जयकुमारत्वकं जनतया गोपतिभूपोऽत एव बलीवर्द इति भाषितोऽसि तावदतोऽस्माकमप्याशु निस्संकोच गुणवद्वृषो गुणयुक्तो धर्मयुक्तस्तथा रज्जूयुक्तो वृषभ एव इतीतरे (इत्थमितरस्मिन्) वदति सति स जयकुमार आह—भो भवानपि गोत्रिगुण. किं नास्ति, अपि त्वस्येव गोत्रिणां कुलवतां गुणो लाभकर इत्यस्य स्थाने गवां पशूनां त्रिगुण ।।८५।।

अस्मदत्र तु भवान्मृगनेत्रीं प्राप्य गच्छतु परम्परभावम् ।
प्राह सोऽपि गदतीत्यपरस्मिन्नास्मि किन्तु भवतः सुहृदेव ।।८६।।

अस्मदित्यादि—अत्र तु भवान् अस्मन्मृगनेत्रीमेणाक्षीमित्यस्य स्थाने हरिणानां नायिका प्राप्य परम्परभावं पुत्रपौत्रादिकुलवृद्धिमस्य स्थाने किलैणरूपता गच्छतु किलेत्य-परस्मिन् गदति सति स जयकुमार प्राह यत्किल पुनरपि भवतः सुहृदेवास्मि ।।८६।।

अर्थ—दूसरे के दर्शक रहते हुए किसीने कहा कि पृथिवी पर आप करी–हाथी (पक्षमे कर वसूल करने वाले) सुने जाते हैं। साहसी जयकुमारने उत्तर दिया कि हाँ मै करी हूँ और आप करेणुता–हस्तिनीके भावको प्राप्त होना चाहते है (पक्षमे कर वसूल करनेमे अणुता–अल्पताकी इच्छा करते हैं) ।।८४।।

अर्थ—किसीने कहा कि आप जनताके द्वारा **गोपति**–गायोंके पति (पक्षमे पृथिवीपति) कहे जाते है, इसलिये हम लोगोके लिये भी आप शीघ्र ही **गुण-वद्वृषः**–रस्सी सहित बैल है (पक्षमे गुणसहित धर्म हैं)। इस प्रकार किसी अन्यके कहने पर जयकुमारने कहा कि अरे! आप क्या **गोत्रिगुण**–बैलके तीन गुणोसे सहित नही हैं, अर्थात् मै तो एक ही गुणसे सहित हूँ, पर आप तीन गुणोमे सहित है (पक्षमे गोत्री–कुलीन मनुष्योके गुणोंसे सहित है।) ।।८५।।

अर्थ—यहाँ आप हमसे मृगनेत्री–मृगोकी नायिका–हरिणी (पक्षमे मृगनयनी–सुलोचना) को प्राप्त कर परम्परभाव–पुत्रपौत्रादिकी वृद्धिको प्राप्त होओ। इस प्रकार किसी अन्यके कहने पर जयकुमारने कहा कि फिर भी मै आपका सुहृद् मित्र हूँ अर्थात् आपने मृगनेत्री–मृगनयनी न देकर मृगनेत्री–हरिणी दी,

इत्युक्तिभिर्वक्रतराभिराभिर्बभूव भव्या परिहासगोष्ठी ।
गूढार्थपूर्वार्धपरार्धभाग्भिः श्यालैः समं हस्तिपुराधिपस्य ॥८७॥

इतीत्यादि—इत्येवमादिभिर्वक्रतराभिरुक्तिभिरेकतो गूढार्थपूर्वार्द्धभाग्भिरन्यतश्च गूढार्थपरार्द्ध भाग्भि श्यालैर्जायाभ्रातृभिः सम हस्तिपुराधिपस्य भव्या परिहासगोष्ठी बभूव ॥८७॥

वापीतटाकतटिनीतटनिष्कुटेषु
हेमाङ्गदप्रभृतिबन्धुसमाजराजम् ।
चिक्षेप सोऽथ रमयन् समयं नरेन्द्रः
केन्द्रेऽरिवृद्धिकनिदानभिदामधीशः ॥८८॥

वापीत्यादि—अथ सोऽरीणा वैरिणां वृद्धिकमुन्नतिकर निदानं भिन्दन्ति दूरीकुर्वन्ति ये तेषामधीशः स्वामी नरेन्द्रो जयकुमारो वापी च तटाकश्च तटिनी चेत्येवमादीनां तटेषु ये निष्कुटाः गृहोद्यानानि तेषु हेमाङ्गदप्रभृतिबन्धूनां समाजराज रमयन् केन्द्रे स्वराजधान्यां समय चिक्षेप । अनुप्रासोऽलंकारः ॥८८॥

पुनरमून् बहुमानपुरस्सरं प्रतिविसर्जितवान् विहितादरः ।
विविधरत्नसुवर्णविभूषणैरतिथिसत्कृतिकृन्मतिमान्नरः ॥८९॥

पुनरित्यादि—अतिथीनां प्राघूर्णिकानां सत्कृतिमादर करोति यः स मतिमान् नरो

इससे मुझे रोष नही है—शत्रुताका भाव नही है, किन्तु आप लोगोके प्रति सुहृद् भाव ही है ॥८६॥

अर्थ—इस प्रकार इन [1]गूढार्थ पूर्वार्द्ध और गूढार्थ परार्द्धसे युक्त कुटिल (द्वयर्थक) उक्तियोके द्वारा हस्तिनापुरके राजा जयकुमारकी हेमाङ्गद आदि सालोके साथ परिहास-गोष्ठी हुई ॥८७॥

अर्थ—तदनन्तर शत्रुओकी उन्नतिके कारणोको खण्डित करने वालोंके स्वामी राजा जयकुमार हेमाङ्गद आदि इष्टजनोंके समूहको वापिका, तालाब, नदीतट और गृहोद्यानोमे रमण कराते हुए राजधानीमे समय व्यतीत करने लगे ॥८८॥

अर्थ—तदनन्तर अतिथियोका सत्कार करने वाले बुद्धिमान् जयकुमारने

---

१ जहाँ श्लोकके एक पादके अक्षर अन्य पदोमें अन्तर्हित रहते हैं, उसे गूढपाद, जहाँ पूर्वार्धके अक्षर उत्तरार्धमें गूढ रहते हैं, उसे गूढार्थ पूर्वार्ध और जहाँ उत्तरार्धके अक्षर पूर्वार्धमे गूढ रहते हैं, उसे गुणार्ध परार्ध कहते हैं ।

जयकुमार. स पुनर्विहितः कृत आदरो येन स भवन्नमून् हेमाङ्गदादीन् जनान् विविधै-रनेकप्रकारकै रत्नसुवर्णानां विभूषणैर्बहुमानपुरस्सरमादरपूर्वकं यथा स्यात्तथा प्रति-विसर्जितवान् ॥८९॥

आशास्य चारुवचसां चयैः स्वसारं नयैकचित्तास्ते ।
प्रीत्याभिवाद्य च जयं विनिर्ययुः पत्तनात्तस्मात् ॥९०॥

आशास्येति—नये नीतिपथे एकं प्रधानं चित्तं येषां ते नयैकचित्ता नीतिमार्गविदो हेमाङ्गदादयो जनास्ते चारुवचसां हृदयहारिवाक्यानां चयैः समूहैः स्वसारं भगिनीमाशास्य समुचितरीत्या तां संविश्य तथा च प्रीत्या साहजिकस्नेहेन जयं नाम गजपत्तनाधीशमभिवाद्य सम्प्रार्थ्य तस्मात् पत्तनान्नगराद्विनिर्ययुः ॥९०॥

गत्वान्तिकं तावदकम्पनस्य नत्वा तकं तयोर्वदित्वा ।
क्षेमं वदित्वा च मिथोऽनुरक्ति ते नीतवन्तोऽप्यमुकं प्रसत्ति ॥९१॥

गत्वेत्यादि—ते पुनर्हेमाङ्गदादयस्तावदकम्पनस्य स्वपितुरन्तिकं निकटं गत्वा तमेव तकं नत्वा नमस्कृत्य तत्र तयोः स्वसृद्दम्पतिनोः क्षेमं गदित्वा मिथस्तयोरनुरक्तिं च वदित्वा पट्टप्रदानादिरूपां कथयित्वाऽमुकं चाकम्पनमपि प्रसत्तिं प्रसन्नभावं नीतवन्त. । अनुप्रासोऽलंकारः ॥९१॥

पुत्रीं तु सूत्रितसद्गुणां विबुधों स काशीराडुडुप-
रम्याननां परिणाय्य सद्विधिनाऽधुना निपुणात्मप्रजः ।
मानवशिरोमणिरात्मविन्निबबन्ध शर्मण्याशयं
यशसां पुनस्तरसां समागमपण्डितो जल्पन्नयम् ॥९२॥

पुत्रीमित्यादि—स यशसां कीर्तिवृत्तानां पुनस्तरसां तेजसां च समागमे सम्भावने

नाना प्रकारके रत्न और सुवर्णमय आभूषणोमे आदर कर बहुत सम्मानपूर्वक इन सबको विदा किया ॥८९॥

अर्थ—तदनन्तर नीति मार्गके जानने वाले वे हेमाङ्गद आदि मनोहारी वचनोंके समूहसे छोटी बहिन सुलोचनाको आशीर्वाद या संदेश देकर तथा प्रीति-पूर्वक जयकुमारको नमस्कार कर उस नगरसे निकले ॥९०॥

अर्थ—हेमाङ्गद आदि ने अकम्पन महाराजके निकट जाकर उन्हें नमस्कार किया और सुलोचना तथा जयकुमारकी कुशल-क्षेम तथा परस्परका प्रेमभाव कहकर उन्हें प्रसन्नता प्राप्त कराई ॥९१॥

अर्थ—तदनन्तर यश और प्रतापके समागममे चतुर, मनुष्यशिरोमणि और

पण्डितश्चतुरस्तथा मानवानां प्रजाजनानामन्येषां च शिरोमणिरादरणीयस्तथा निपुणाः प्रौढतामवाप्ता आत्मजाः पुत्रा यस्य स काशीराड् अकम्पनस्स सुमिता सूक्ष्येणात्मनि निःस्यूताः सद्गुणाः शीलसौभाग्यादयो यया ता तथोडुपश्चन्द्रमा इव रम्यं मनोहरमाननं मुखं यस्यास्तां पुत्रीं विदुषीं बुद्धिमतीं सुलोचनां समीचीनेनार्षोक्तेन विधिना परिणाय्य तु पुनरथ शुभावहविधिं जल्पन् मनसा वाचा चानुचिन्वन् सन्नात्मचिद्रूपम् शर्मणि स्वकल्याणेऽर्थाज्जिनदीक्षायामाशय बबन्ध नियमेन सः। षडरचक्रबन्धं कृत्वेदं वृत्तं तस्यारास्यक्षरैः 'पुरमाप जय' इति सर्गविषयनिर्देशो भवति ॥९२॥

> श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
> वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
> द्वाविंशप्रथमो जयोदयमहाकाव्येऽतिनव्येऽसकौ
> सर्गस्तेन महोदयेन रचिते यत्काव्यमल्पं हि कौ ॥९३॥

श्रीमानित्यादि—द्वाविंशाद् द्वाविंशतितमात् प्रथमः पूर्ववर्ती, एकविंशतितम इत्यर्थः। शेषं सुगमम् ॥९३॥

निपुण पुत्रोंसे सहित आत्मज्ञ काशीराट्-अकम्पन महाराजने चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली समीचीन गुणोंको आत्मसात् करने वाली तथा विदुषी पुत्री सुलोचनाका आर्ष विधिसे विवाह कर शाश्वत सुख प्राप्त करनेमे मन लगाया, अर्थात् जिनदीक्षा धारण करनेका विचार किया ॥९२॥

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिपण्डितभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयापरनाम-सुलोचनास्वयवरमहाकाव्ये एकविंशतितम. सर्ग समाप्त.॥

■

द्वाविंशः सर्गः

अथ भो भव्या भवेन्मुदे वः सारसबन्धुरयं जयदेवः ।
सा रजनी रामा बहुमानं तमनुबभूव च धामनिधानम् ॥१॥

अथेत्यादि—अथ प्रकरणारम्भे, भो भव्याः ! सज्जनलोकाः ! सारेणोत्तमभागेन सबन्धुर्हितैषी योऽयं जयदेवो वो युष्माकं प्रसन्नतार्थं भवेत् । यद्वा सारसस्य कमलस्य बन्धुः सूर्य इव भवेत्, भव्यानां कमलसदृशकोमलहृदयानां वो युष्माकम् । सारात्पवित्रभागाज्जनिरुत्पत्तिर्यस्यास्सा सारजनिः, सासौ रामा सुलोचना धामनिधानं तेजस्विनं जयकुमारं बहुमानं यथा स्यात्तथानुबभूव भुक्तवती । यद्वा सा रामा रजनीव बहुमानं सम्माननीयं धाम्नो निधानं सूर्यमिवानुबभूवानुजगाम । यथा रात्रिः सूर्यमनुसरति, तदनन्तरगामिनी भवति, तथा सुलोचना जयानुगामिनी जाता ॥१॥

मधुरं वचो ह्यमुत रङ्गं सातपमत्राखिलमप्यङ्गम् ।
शरदमुपेत्य निगरमबलायाः सर्वर्तुमयामोदमथायात् ॥२॥
घनोदयं कुचमत्युत्तुङ्गमदुशशिशिरमितिभारमभङ्गम् ।
यया सुविधया सम्पदाश्रयं समयमन्वयं नयन्नपि जयः ॥३॥

अर्थ—हे भव्य जनो ! जो **सार-सबन्धुः**—उत्कृष्ट भागसे सबका हितैषी है अथवा **सारस-बन्धुः**—कमलोका बन्धु-सूर्य रूप है, ऐसा यह जयकुमारदेव तुम सबके आनन्दके लिये हो और **सारजनिः रामा**—सार-पवित्रभागसे जिसका जन्म है, अथवा सारभूत-श्रेष्ठतम जिसका जन्म है, ऐसी **रामा**—सुलोचनाने तेजके निधानभूत जयकुमारका उपभोग किया अथवा **रजनी सा रामा**—रात्रि रूप वह सुलोचना सूर्यके समान जयकुमारकी अनुगामिनी हुई अर्थात् जिस प्रकार रात्रि सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार सुलोचना जयकुमारका अनुगमन करती थी, उनकी आज्ञानुसार आचरण करती थी। अथवा जयकुमार **सारसबन्धु**—सूर्य थे और सुलोचना **रजनी—रात्रि थी** । रात्रिने सूर्यका उपभोग किया यह विरुद्ध है, अतः परिहार पक्षमे ऊपर लिखे अनुसार **सार-सबन्धु**—का अर्थ है उत्तम भागसे बन्धुसदृश—हितैषी और **सारजनीका** अर्थ है **सारजनिः रामा**-सारभूत-जन्मवाली स्त्री । यहाँ रेफका लोप होनेपर पूर्व स्वरके दीर्घ हो जानेसे **सारजनी रामा**—रूप हो जाता है ॥१॥

मधुरमित्यादि, घनोदयमित्यादि—अबलायाः स्त्रियाः सुलोचनाया वचो वचनं मधुरं मिष्टमुत मधु वसन्त राति ददातीति मधुरं भवति। तस्या अखिलमप्यङ्ग सातं सुकृतं सुखं वा पाति रक्षतीति सातपम् यद्वाऽऽतपेन सहितं सातप ग्रीष्मर्तुरूपम्। अत्युत्तुङ्ग मतिशयेनोन्नतं कुचं स्तनप्रदेश घनोऽतिशयरूप उदयो यस्य त यद्वा घनानामुदयो यत्र तं वर्षाकालमिति। निगरं (निगलं) कण्ठं तं शरं ददातीति शरदं मुक्तावलीसहितं यद्वा शरदं नामर्तुम्। रङ्गं रूपं हैम हेम्नो भवं सुवर्णसमानं यद्वा हिमात् तुषाराज्जातं हैमं शीतर्तुमिति यावत्। मृद्वी कोमला शशिनश्चन्द्रमसः शिरा यत्र तं भारं (भालं) चन्द्रार्द्ध-तुल्यं यद्वा मृदु कोमल श सुख यत्र स चासौ शिशिरो हिमानन्तरभावी ऋतुस्तं तावृश-मुपेत्य यया सुविधया शोभनेन प्रकारेण सम्पदानामाश्रयो भवन् समयं सम्यगयनं गमनं यस्य स समयस्तमन्वयं सार्थभावं नयन् प्रापयन् सर्वर्तुमयश्चामोदः प्रमोदश्च तमयात् जगाम। अत्र श्लोकेऽथ शुभसम्भाषणे।

उक्तमेवार्थं पृथक् पृथग् वर्णयितुं प्रारभ्यते—

कापि मधुरता जगत्प्रसिद्धान्वभूद् यया सहकारमियद्वा।
सोऽनुत्तरसुखवर्त्मसाक्षिकः विभवमयो रवसम्पदा पिकः ॥४॥

कापीत्यादि—तस्यां सुलोचनायां कापि जगत्प्रसिद्धा मधुरता कोमलतासीत्, यया सुलोचनया सह इयद्वा कालमेतावन्मात्रं कालमनुत्तरं सर्वोत्कृष्टं च तत्सुखं च तस्य

अर्थ—यतश्च अबला-सुलोचनाका वचन **मधुर**-मिष्ठ अथवा **मधुर**-वसन्त रूप था, समस्त अङ्ग-शरीर **सातप**-पुण्य अथवा सुखकी रक्षा करने वाला था यद्वा **सातप**-ग्रीष्म ऋतु रूप था, **उन्नत कुच**-स्तनप्रदेश **घनोदय**-अतिशय रूप अथवा **घनोदय**-वर्षा ऋतु रूप था, कण्ठ **शरद**-हारको देने वाला था, अर्थात् मुक्तावलीसे सहित था यद्वा **शरद**-ऋतु रूप था, रङ्ग वर्ण **हैम**-सुवर्ण रूप था, अथवा **हैम**-हेमन्तु ऋतु रूप था और संपूर्ण **भार** (भाल) **मृदुशशिशिर**-चन्द्रमाके समान कोमल शिराओसे सहित था अथवा मृदुश-शिशिर कोमल सुखको देने वाली शिशिर ऋतु रूप था। इसलिये इन सब अङ्गोको प्राप्त कर सम्पदाओके आश्रयभूत **समय**-कालको सार्थकता **(समीचीन भागसे सहितपना)** प्राप्त कराते हुए जयकुमार उस सुलोचनाके साथ समस्त ऋतुओके आनन्दको प्राप्त हुए थे ॥ २-३॥

अर्थ—यतश्च सुलोचनामे कोई अनिर्वचनीय जगत्प्रसिद्ध मधुरता-मनोहरता अथवा कोमलता थी, इसीलिये तो लोकोत्तर सुखके मार्गका साक्षात् करने वाले जयकुमारने उसके साथ इयत्कार इयत्काल-इतने समय तक सुखका उपभोग

धर्मणो मार्गस्य साक्षिकोऽनुभवकर्ता जयोऽप्यभूद् हि खलु रव(लव)सम्पदांशिकसम्पत्यापि को विभवमयः सम्पत्तिशाली न कोऽपीत्यर्थः। यद्वा मधुलता वसन्तयुक्तता यया सहकारं नामाम्रतरुमियद्वाप्यभूत् रवसम्पदा शब्दश्रिया विभवमयः पक्षिजन्मवान् पिकः कोकिल इत्यादि ।।४।।

अविकलिताम्बरमणिमयभूषालम्बितापि खलतापतनुः सा ।
पायं पायमधररसमस्य तृषमुदपायदाशु जयस्य ।।५।।

अविकलितेत्यादि—अम्बरं वस्त्रं च मणिमयभूषा चाम्बरमणिमयभूषे, अविकलिते सर्वाङ्गसुन्दरे अम्बरमणिमयभूषे ताभ्यामालम्बितालङ्कृता, खलता दुष्टमनुष्यता तस्या अपगता दूरवर्तिनी तनुः शरीरं यस्यास्सा सुलोचनाऽस्य जयस्य नाम स्वामिनोऽधररसमोष्ठरसं पायं पायं मुहुः पीत्वापि आशु शीघ्रमेव तृषमुदपादयद् वाञ्छाकर्त्री बभूव। तथा अविकलिताऽम्बरमणिमयी सूर्यरूपा या भूषा तयालम्बिता तथैव खरश्चासौ तापश्च खरतापः, स एव तनुर्यस्यास्सा खरतापतनुः, रलयोरभेदः। अधररसं पायं पायमपि तृषमुदपादयत् पिपासामुपाजनयदिति ग्रीष्मर्तुरिवेत्यर्थः ।।५।।

विलसद्धारपयोधरभावात् सारसातिशायिपदा वा ।
नवधान्यस्य मुदं सौभाग्यमाजुहाव सहजेन हि राज्ञः ।।६।।

किया था सो ठीक ही है, क्योकि रवसम्पदा–लवसम्पदा–आंशिक सम्पदासे कौन मनुष्य विभवमय–वैभवशाली होता है ? अर्थात् कोई नही।

अर्थान्तर—यतश्च सुलोचना कोई जगत्प्रसिद्ध **मधुलता**–वासन्ती लता थी, इसीलिये तो उसने **सहकार**–आम्रवृक्षका अनुभव किया था और **वि-भवमय**–पक्षियोमें जन्म लेनेवाला **पिक**–कोयल **रवसम्पदा**–मधुर शब्दश्री से युक्त हुई थी। तात्पर्य यह है कि सुलोचना वसन्त ऋतु रूप थी ।।४।।

अर्थ—जो सर्वाङ्गसुन्दर वस्त्र और मणिमय आभूषणोंसे सहित थी तथा जिसका शरीर खलता–दुष्टमनुष्यतासे दूर था, ऐसी सुलोचना इस जयकुमारके अधररसका बार-बार पानकर शीघ्र ही तृषाको उत्पन्न करती थी पुनः पुनः पान करनेकी इच्छा करती थी।

अर्थान्तर—सुलोचना अखण्ड सूर्यरूपी आभूषणोसे सहित थी तथा खरताप–तीक्ष्ण तापरूप शरीरसे युक्त थी, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु रूप थी, इसीलिये तो अधर-रसका बार-बार पान करनेपर भी जयकुमारको तृषा–प्यासको शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न करती थी। ग्रीष्म ऋतुमे बार-बार प्यास लगती ही है ।।५।।

विलसद्धारेत्यादि—सा सुलोचना विलसन् हारो यत्र स विलसद्धारः, विलसद्धारौ च तौ पयोधरौ स्तनौ तयोर्भावात्, सारसं कमलं तदतिशेते यत्तत् सारसातिशायि तथाभूतं च तत् सम्यग् यत् पदं च तेन कमलोपमचरणेन वा कृत्वा न्यस्य संकल्प्य दर्शकस्य राज्ञो जयकुमारस्य च नवधा मनोवचःकायैः कृतकारितानुमननैश्च परस्परं कृत्वा मुदं प्रशस्तिं सौभाग्यं च सहजेन हि आजुहाव मन्त्रयति स्म। तथा विलसन्ती धारा यस्य तादृक् पयोधरो मेघस्तस्य भावात्, रसातिशायिन्या जलातिशायिन्या वा सम्पदा सम्पत्त्या कृत्वा नवधान्यस्य नूतनस्य वार्जरादेः मुदं सौभाग्यं वा सहजेन हि आजुहाव राज्ञः स्वामिन इत्यर्थः। सा सुलोचना वर्षर्तुरभूदिति यावत् ॥६॥

शस्यवृत्तिमभिवीक्ष्य सदा वा चातक इव चकितस्तृष्णावान् ।
स च शरदमिवैनां भुवने तु सदपघनत्वममुष्या हेतुः ॥७॥

शस्यवृत्तिमित्यादि—स च जयकुमारो राजा शस्या प्रशंसनीया वृत्तिश्चेष्टा यस्यास्तामेतां सुलोचनामभिवीक्ष्य सदा वा सर्वदैव तृष्णावानभिलाषवान् भुवनेऽस्मिल्लोकेऽभूत्तत्रामुष्यास्सन्तश्च तेऽपघना अवयवा यस्यास्तस्या भावस्तत्त्वं सुन्दरावयवत्वमेव हेतु। यथा शस्यानां धान्यानां वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्र तामेनां शरदं वर्षानन्तरभाविनीं दृष्ट्वा

अर्थ—विलसद्धारपयोधरभावात्—हारसे सुशोभित स्तनोंके सद्भावसे तथा **सारसातिशायिसम्पदा**—कमलोको पराजित करने वाले सुन्दर चरणोके द्वारा संकल्पकर सुलोचनासे मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना रूप नौ कोटियोंसे सहज ही राजा जयकुमारके हर्ष और सौभाग्यको आमन्त्रित किया था अथवा प्रकट किया था।

अर्थान्तर—सुलोचनाने, जिससे धारा पड रही है, ऐसे पयोधर मेघका सद्भाव होने तथा जलकी अधिकता रूप सम्पदा—सम्पत्तिके द्वारा बाजरा आदि नवीन धान्यका हर्ष—सौभाग्य राजा जयकुमारके लिये सूचित किया था, अर्थात् वह वर्षा ऋतुके समान थी ॥६॥

अर्थ—शस्यवृत्ति—प्रशसनीय चेष्टासे युक्त (पक्षमे धान्योके सद्भावसे सहित) शरद् ऋतुके समान इस सुलोचनाको देखकर राजा जयकुमार लोकमे आश्चर्य चकित हो सदा चातककी तरह **तृष्णावान्**—पुनः पुनः देखनेकी इच्छासे सहित रहते थे। इस विषयमे सुलोचनाका **सदपघनत्व**—सुन्दर अवयवोका होना ही कारण था, अर्थात् उसके सुन्दर अवयव या शरीरको देखकर कभी तृप्त नही होते थे।

अर्थान्तर—सुलोचना क्या थी एक शरद् ऋतु थी, क्योकि जिस प्रकार शरद् ऋतु **शस्यवृत्ति**—धान्योकी प्रवृत्तिसे सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी

चकित आश्चर्यान्वितश्चातको नाम पक्षी भुवने जलविषये तृष्णावान् पिपासासहितो-ऽभूत्तत्रामुष्याः शरदो घनानामभावोऽपघनत्वं सत् प्रशंसनीय तदेव हेतुः ॥७॥

सुप्रसन्नभावेन हसन्ती सदुरोजातोष्मणा लसन्ती ।
पार्श्वे यस्य पवित्रा वारा सदा स्थितिस्तस्यापतुषारा ॥८॥

सुप्रसन्नेत्यादि—सदुरोजातयोः कुचयोरूष्मणा तेजसा लसन्ती शोभमाना, सुप्रसन्न-भावेन प्रमोदेन हसन्ती स्मितयुतात एव पवित्रा वारा (बाला) नवयौवना यस्य पार्श्वे समीपे तस्य जयस्यापगतस्तुषारो हिमो यस्यास्सापतुषारा स्थितिः परिस्थितिः सदा । अथवा सता विद्यमानेन उरोजातेनाभ्यन्तःस्थेनोष्मणोष्णपरिणामेन लसन्ती या हसन्ती अङ्गारिका पवित्र आवारं आवरणं च यत्र सा पवित्रावारा यस्य पार्श्वे तस्यापतुषारा हिमरहिता स्थितिः सदैव ॥८॥

सापत्रपता यत्र तदेनां जगतां कल्पतरुश्च निरेनाः ।
नवप्रवालोपादानाय शिशिरश्रियमनुबभूव चायम् ॥९॥

सापत्रपतेत्यादि—निरेना पापहीनो जगतां कल्पतरुर्दानशीलत्वात् सोऽयं जयदेवो यत्र आपदस्त्रायत इति आपत्त्रा तत्र मुख्या पत्त्रपा तस्या भाव आपत्त्रपता, तामेनां सुलोचनां

शस्यवृत्ति–प्रशसनीय चेष्टासे सहित थी । इस शरद् ऋतुको देखकर चातक पक्षी सदा चकित रहता हुआ भुवन–जलके विषयमे जो सदा तृष्णावान्–पिपासासे युक्त रहता है, इसमे कारण शरद् ऋतुका सदपघनत्व–समीचीन मेघोंका अभाव ही है, अर्थात् शरद् ऋतुमे वर्षा योग्य मेघोका अभाव होनेसे चातक तृषातुर रहता है । तात्पर्य यह है कि सुलोचना शरद् ऋतु रूप थी ॥७॥

अर्थ—प्रमोद भावसे हँसती तथा समीचीन स्तनोकी गर्मीसे सुशोभित पवित्र वारा (बाला) सुलोचना जिसके पास थी, ऐसे राजा जयकुमारकी स्थिति तुषार–शीतकी बाधासे रहित थी ।

अर्थान्तर—सुप्रसन्नभाव–प्रज्वलित दशासे युक्त, भीतरकी विद्यमान गर्मीसे सुशोभित और पवित्र आवरणमे युक्त हसन्ती–अँगीठी जिसके पास रहती है, उसकी स्थिति सदा हिमकी बाधासे रहित होती है । भाव यह है कि सुलोचना हेमन्त–शीत ऋतु रूप थी । जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमे लोग शीतसे बचनेके लिये भीतर स्थित गर्मीसे सुशोभित प्रज्ज्वलित हसन्ती–अँगीठीका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार जयकुमार शीत निवारणके लिये सुलोचनाका उपयोग करते थे ॥८॥

अर्थ—पापरहित तथा दानशील होनेसे जगत्‌के जीवोके लिये कल्पवृक्ष-स्वरूप राजा जयकुमारने नवीन सुन्दर बालक प्राप्त करनेके लिये उस समय

नवश्चासौ प्रवाल. सद्योजातशिशुस्तस्मै अनुबभूव । यथा शिशिरस्य श्रिय शिशिरर्ताविपि अपत्रपता पत्ररहितता नवस्य प्रवालस्य किसलयस्योपादानाय भवति ॥९॥

पुनरपि षड्ऋतुत्वमेव कथयति क्रमेण—

कौमारं खलु लङ्घितवत्या नखाच्छिखान्तं जयः सुदत्याः ।
आलम्बितो हितोक्तसमाधावथ का कुसुमशरस्य च बाधा ॥१०॥

कौमारमित्यादि—जयो नाम नृपो नखाच्छिखान्तं नखतः समारभ्य शिखापर्यन्तं कौमार बालत्व लङ्घितवत्या अतिक्रामन्त्या., यद्वा कौ पृथिव्यां मारं स्मरं लङ्घितवत्याः सुदत्या· सुलोचनाया हितोक्तसमाधौ आलम्बितो विलग्नोऽभूत् । अथ पुनः कुसुमशरस्य कामस्य बाधा कास्ति खलु ? वक्रोक्तिः श्लेषश्च ॥१०॥

समुद्रसद्रसनादरतायामस्तु सज्जनाभिनर्मदायाम् ।
का निमज्ज्य हा निदाघभीतिर्या विलग्नके बलिप्रणीतिः ॥११॥

समुद्रेत्यादि—या विलग्नके बलिप्रणीतिः विलग्नके मध्यदेशे बलीनां त्रिवलीनां प्रणीतिर्यस्याः सा, सज्जा शोभना नाभिरेव नर्मदा नाम यस्या स्तस्याम्, समुल्लसन्ती या रसना करधनी तस्या आदरता विनयभावो यस्यास्तस्यां निमज्ज्य निदाघस्य ग्रीष्मकालस्य भीतिर्भयपरिणति· का ? न काचिदपि । यद्वा या विलग्नं च तत् कं जल च तस्मिन् बलि-

---

उस लोचनाका उपभोग किया, जिसमे आपत्तिसे रक्षा करनेकी शक्ति विद्यमान थी और शिशिर ऋतुके समान जिसकी शोभा थी।

अर्थान्तर—सुलोचना मानो शिशिर ऋतु रूप थी, क्योकि जिस प्रकार शिशिरऋतुमे नवप्रवालोपादानाय–नवीन किसलयोकी प्राप्तिके लिये [1]अपत्रपता–पत्ररहितता होती है, अर्थात् पतझड आ जाती है, उसी प्रकार सुलोचनामे भी वह आपत्रपता–आपत्तिसे रक्षा करनेकी शक्ति विद्यमान थी ॥९॥

अर्थ—जबकि राजा जयकुमार नखसे लेकर शिखा पर्यन्त कुमारावस्थाका उल्लङ्घन करनेवाली सुलोचनाकी हित साधनामे संलग्न थे, तब कामकी बाधा क्या थी ? कुछ नही। पूर्ण यौवनसम्पन्न सुलोचनाको प्राप्त कर उनकी काम-विषयक समस्त आकाङ्क्षाएँ पूर्ण हुई थी ॥१०॥

अर्थ—जिसके मध्यदेशमे त्रिवलि रूप त्रिवेणीको रचना है, जिसकी सुन्दर नाभि ही नर्मदा नदी है और जो समुद्रके समीचीन आस्वादनमे आदरभावसे सहित है, अथ च जो हर्षसहित शब्द करती मेखलाके विनय भावसे सहित है, उस

---

१. पत्राणि दलानि पाति रक्षतीति पत्रपा, तस्या भाव पत्रपता, सा न भवतीति अपत्रपता ।

प्रणीतिर्यस्यां तस्याम्, समुल्लसंश्चासौ रसस्य जलस्य नादो ध्वनिस्तस्मिन् रता, तस्यां निमज्ज्येत्यादि पूर्ववत्। किञ्च, या विलग्ननामकस्य केवलिन. प्रणीतिः, तस्यां सज्जनेभ्योऽभितः समन्तान्नर्म सुखं ददाति तस्यां सज्जनाभिनर्मदायां समुल्लसति रसो यत्र तस्मिन्नादे ध्वनौ रता, तस्यां निमज्ज्य का पुनरघस्य भीतिर्हानिदास्तु न कापि। वक्रोक्तिः श्लेषालङ्कारश्च ॥११॥

स जयो महोदयोऽप्यपश्रमं प्रावृषि नाभिदरीमरीरमत्।
मदनभुवो भववनेऽपि लब्ध्वा पृथुनितम्बभाजो नववध्वाः ॥१२॥

स जय इत्यादि—महानुदयः सम्पद्भावो यस्य स जयो नववध्वाः सुलोचनायाः कीदृश्या? अस्मिन् भववने संसारकान्तारे मदनस्य कामस्य भुवः स्थानभूतायाः पृथु विस्तृतं नितम्बं कटिपश्चाद्भागं तथा पर्वत भजत इति तस्या नाभिमेव दरीं गुहां लब्ध्वा प्रावृषि वर्षायामपि अपश्रममनायास यथा स्यात्तथारीरमत्। यथा वनस्थस्यापि पर्वतगुहामासाद्य वर्षाक्लेशो न भवति, तथा जयस्यापि सुलोचनाया नाभिस्थान गच्छतः। श्लेषो रूपक चालङ्कारः ॥१२॥

सुलोचनामे अवगाहन कर निदाघकाल–ग्रीष्मऋतुका क्या भय रह जाता है? अर्थात् कुछ नही। अथवा **विलग्नके वलिप्रणीति**–जिसके मध्य भाग रूपी जलमे वलियोकी रचना है, तरङ्गें उठ रही है और जो **समुद्रसद्–समुल्लसद्, रसनादरता**–शोभायमान जलकी कलकल ध्वनिसे सहित है, उस सुलोचनामे अवगाहन कर ग्रीष्म ऋतुका कौन सा भय रह जाता है? अर्थात् कोई भी नही। अथवा जो **सज्जनाभिनर्मदायां**–सज्जनोको सब ओरसे सुख देने वाली, विलग्न केवलीकी खिरती हुई दिव्य ध्वनिमे **रत**–लोन रहती है, ऐसी सुलोचनामे अवगाहन कर–उसका सपर्क प्राप्त कर हानि देने वाले भयका कौनसा भय रह जाता है? अर्थात् कोई भी नही ॥११॥

अर्थ—महान् अभ्युदयसे सहित राजा जयकुमार संसाररूपी वनमे कामके स्थानभूत विस्तृत नितम्ब वाली नववधू–सुलोचनाकी नाभिरूपी गुहाको प्राप्त कर वर्षा ऋतुके समय अनायास ही रमण करते थे।

भावार्थ—जिस प्रकार वनमे रहने वाला कोई पुरुष वर्षा ऋतुमे किसी पर्वतकी गुहाको पाकर क्लेशके बिना ही क्रीड़ा करता है, समय व्यतीत करता है, उसी प्रकार जयकुमार भी पर्वततुल्य नितम्ब वाली सुलोचनाकी नाभिरूप गुहाको पाकर किसी क्लेशके बिना ही समययापन करते थे ॥१२॥

पद्मिनीं शरदि सोऽन्वभूद्वशी सकुचद्द्विगुणकुड्मलां निशि ।
सुप्रसन्नमुखवारिजां जयः सौरभावगतवृत्तिमप्ययम् ॥१३॥

पद्मिनीमित्यादि—स जयो नाम नरपतिरय प्रसङ्गप्राप्त. शरदि वर्षानन्तरकाले वशी स्वाधीनः सन् प्रसन्न मुखमेव वारिजं कमल यस्यास्तां निशि रात्रौ संकुचौ प्रशस्त-स्तनावेव द्विगुणे द्विसख्याके कुड्मले यस्यास्तथा सकुचती अत एव विगुणे अल्पगुणे कुड्मले यस्यास्ता पद्मिनीं गुणशालिनीं स्त्रियं वारिजलतामिव सुरभेर्भावोऽसौ सौरभं सौगन्ध्यं तेनावगता वृत्तिर्यस्यास्तामिति सरोजिनीपक्षे, स्त्रीपक्षे सुराणामसौ सौरः स चासौ भाव-स्तत्र गता वृत्तिर्यस्याः, स्वर्गीयचेष्टावतीमिति तामन्वभूत् भुक्तवान् ॥१३॥

उच्चैस्तनमोदकायसिद्धा निःस्वेदया रुचा जगतीद्धा ।
हेमन्तश्रीरिवाभिरामा महीपतेः सा बभूव रामा ॥१४॥

उच्चैरित्यादि—सा महीपतेर्जयकुमारस्य रामा सुलोचना, सा हेमन्तश्रीरिव शीतकालशोभासदृशी अभिरामा रमणीया बभूव। या किल स्त्री सोच्चैरुत्तुङ्गयो-श्चूचुकयोरेव मोदकयोर्लड्डुकयोरयेन शुभविधिना सिद्धा प्रसिद्धा, शीतर्तुपक्षे उच्चैस्तनानां मोदकानामायेन प्राप्त्या सिद्धा। निःस्वे धनरहिते जने दया यस्यास्तया [1]रुचा कान्तिश्च

अर्थ—उस स्वाधीन राजा जयकुमारने शरद् ऋतुमे रात्रिके समय पद्मिनी–श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त (पद्मिनी नामक नायिका-भेदसे सहित) उस सुलोचनाका उपभोग किया था, जो संकुचद्द्विगुणकुड्मला–दो कुड्मलोंके समान प्रशस्त स्तनोंसे सहित थी, प्रसन्नमुखवारिजा–कमलके समान प्रसन्न मुख वाली थी तथा सौरभावगतवृत्ति–देवभावसे युक्त चेष्टा वाली थी।

अर्थान्तर—राजा जयकुमारने शरद् ऋतुमे उस पद्मिनी–कमललताका सेवन किया था, जिसमे रात्रिके समय निमीलित दशाको प्राप्त दो गुणहीन कुड्मल लगे हुए थे, जिसका कमल किसी नायिकाके मुखके समान खिला हुआ था और जिसका अस्तित्व सौरभ–सुगन्धसे माना जाता था ॥१३॥

अर्थ—वह सुलोचना राजा जयकुमारके लिये हेमन्त ऋतुकी शोभाके समान प्रिय थी, क्योकि जिस प्रकार हेमन्त ऋतुकी शोभा **उच्चैस्तनमोदकाय सिद्धा**–उच्चकोटिके गरिष्ठ लड्डुओकी प्राप्तिसे प्रसिद्ध है, उसी प्रकार सुलोचना भी **उच्चै-स्तनामोदकाय सिद्धा**–लड्डुओके समान उन्नत स्तनोके अय–शुभावह विधिसे प्रसिद्ध थी। जिस प्रकार हेमन्त ऋतुकी शोभा **निस्वेदया रुचा जगति इद्धा**–

---

१. 'आपं चैव हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा' इत्युक्ते रुच्शब्दादापप्रत्ययः।

जगतीद्धा सर्वोत्कृष्टा, शीतभीपक्षे पुनर्न वर्तते स्वेदो यत्र सा निस्वेदा तया रुचा शोभया जगतीद्धा। एवं हेमन्तश्रीरिव सा ।।१४।।

उच्चैस्तनसानुनानुमातुं मरुतां विस्मयकरी प्रिया तु ।
किमस्तु माघस्याप्यवसानं यदि तस्य विपत्रताभिमानम् ।।१५।।

उच्चैस्तनसानुनेत्यादि—या प्रिया युवतिरुच्चैस्तनेन समुन्नतकुचरूपेण सानुना पर्वतेन, यद्वोच्चैस्तनेन तेन सानुना कृत्वानुमातु ज्ञातु मरुतां देवानामपि यद्वा वायूनां विस्मयकरी यस्य जयस्य तस्य विपत्रताया आपद्रहिततायाः पत्रशून्यतायाश्चाभिमानं तदा तत्राघस्य पापस्यावसानं नाशोऽपि मास्तु किम् ? किन्तु सोऽस्त्येव पुण्यवान् यद्वा तस्य माघस्यावसानमपि किमस्तु नैवास्तु तादृशस्य माघस्याभाव इति । वक्रोक्ति श्लेषो रूपकं चालङ्कारोऽत्र ।।१५।।

प्राप कौतुकातिशयधरं स चित्राख्यातभासि धृतशंसः ।
अनुमदनविकासं विलसन्तं दारसारमवनौ च वसन्तम् ।।१६।।

प्रापेत्यादि—चित्रो विचित्र इति ख्यातो यो भा. किरणस्तस्मिन् धृता शंसा प्रशंसा येन स चित्राख्यातभासि धृतशंसोऽतिशयशोभावानिति यावत् । यद्वा चित्रया ख्याते भासि चैत्रे धृताशंसा येनेति वा स । कौतुकस्य प्रमोदस्यातिशयं यद्वा कौतुकानां कुसुमानामतिशयं धरति

पसीनारहित कान्ति से जगत्मे सुशोभित है, उसी प्रकार **निःस्वे दया रुचा जगति इद्धा**—निर्धन मनुष्य पर सुलोचनाकी दया और अपनी कान्ति जगत्मे सुशोभित थी ।।१४।।

अर्थ—जिस जयकुमारकी प्रिया—सुलोचना **उच्चैस्तनसानुना**—उन्नत स्तनरूप पर्वतके द्वारा अनुमान करनेके लिये देवो अथवा वायुको विस्मय करनेवाली है, उस जयकुमारके उस **अघ**—पापका अवसान—अभाव क्या न हो ? जिससे विपत्रता—आपत्तिरहितताका अभिमान होता है, अर्थात् अवश्य हो—वे पुण्यवान् ही रहे, अघवान् नही । अथवा उस **माघ**के महीनेका क्या अवसान अभाव हो, जिसे विपत्रता—पत्ररहितताका अभिमान है ? अर्थात् नही, क्योकि प्रकृतिके क्रमका कभी नाश नही होता ।।१५।।

अर्थ—चित्रविचित्ररूपसे प्रसिद्ध किरणोके विषयमे प्रशंसाको धारण करने वाले, अर्थात् अतिशय शोभाशाली जयकुमारने उस **दाररत्न**—स्त्रीरत्नको प्राप्त किया, जो पृथिवीपर निवास करनेवाले वसन्तके समान था, क्योकि जिस प्रकार वसन्त **कौतुकातिशयधर**—पुष्पोके अतिशय—आधिक्यको धारण करनेवाला होता

तम्, मदनस्य कामस्याप्रादवस्य च विकासमनु समीपं विलसन्तमवनौ पृथिव्यां वसन्तं निवसन्तं वसन्तमृतुमिव सारसार स्त्रीरत्न प्राप ॥१६॥

शर्वरीति मृदुचलना सालंचक्रे विस्तृतकरं नृपालम् ।
भास्वन्तं भुवि वेशश्चायं ज्येष्ठो जडतापकरणाय ॥१७॥

शर्वरीत्यादि—[1]शर्वरी युवतिः, सुलोचनेति यावत् । सा मृदू कोमलौ चलनौ चरणौ यस्यास्सा तथा शर्वरी रात्रि सा च मृदु स्वल्पं चलनं यस्यास्सा, नृपालं जयकुमारं भास्वन्तं शोभनीयं सूर्यं च, विस्तृतौ करौ हस्तौ यस्य तं पक्षे विस्तृता. करा. किरणा यस्य

है, उसी प्रकार स्त्रीरत्न भी **कौतुकातिशयधर**–प्रमोदके अतिशयको धारण करनेवाला था और जिस प्रकार वसन्त **अनुमदनविकास**–आम्रवृक्षके विकाससे सहित होता है, उसी प्रकार स्त्रीरत्न भी **अनुमदनविकास**–कामदेवके विकाससे सहित था ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार मृदुचलना–कोमल चरणोवाली शर्वरी–सुलोचना युवतिने विस्तृतकर–दीर्घबाहु और भास्वन्त दीप्तियुक्त राजा जयकुमारको विभूषित किया। पृथिवीपर यह प्रकार जडता–मूर्खताके अपकरण–दूर करनेके लिये ज्येष्ठ–श्रेष्ठ प्रकार माना जाता है, अर्थात् स्त्री पतिके अनुकूल रहे इससे जड़ता–धृष्टता नष्ट होती ही है।

अर्थान्तर—**मृदुचलना**–मन्द चालवाली, स्वल्प परिमाणवाली **शर्वरी**–रात्रिने **विस्तृत कर**–दीर्घ किरणो वाले **भास्वन्त**–सूर्यको **अलंकृत**–विभूषित किया, यह प्रकार पृथिवीपर **जडतापकरणाय**–मूर्खता प्रकट करनेके लिये **ज्येष्ठ–सबसे बड़ा** प्रकार है, क्योकि 'रात्रि सूर्यको अलकृत करे' यह कहना अत्यन्त **विरुद्ध है**। अथवा ड और ल मे अभेद होनेसे **जलतापकरणाय**–पानीको सतप्त करनेके लिये ज्येष्ठका महीना है, अथवा **जलता**–जलस्वभावको नष्ट करनेके लिये ज्येष्ठमास है, अथवा **जड–अत्यधिक ताप**–गर्मी उत्पन्न करनेके लिये ज्येष्ठका महीना है, अथवा शर्वरी–रात्रिने सूर्यको अलकृत–समाप्त किया, ऐसा अर्थ करनेसे विरोधका परिहार हो जाता है।

भावार्थ—सुलोचना ग्रीष्म ऋतुके समान थी, क्योकि जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमे **रात्रि मृदुचला**–स्वल्प परिमाण होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **मृदुचलना**–कोमल पैरवाली थी। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु **विस्तृतकर**–विस्तृत किरणो वाले **भास्वन्तं**–सूर्यको अलकृत करती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **विस्तृतकरं भास्वन्त नृपालं**–दीर्घबाहु एवं देदीप्यमान राजाको अलंकृत करती थी और

---

१. 'शर्वरी तु त्रियामाया हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्व० ।

तं चालंचक्रे भूषयामास । अयः वेशः प्रकारो भुवि जडताया मूर्खभावस्य यद्वा जलभावापकरणाय विनाशनाय यद्वा जड प्रखरश्चासौ तापश्च जडतापस्तस्य करणाय ज्येष्ठो गुरु ज्येष्ठमासश्चास्ति जडतापकरणायेति ॥१७॥

मनोमयूरमुदे　साऽपापा　सरसेङ्गितापहृतसन्तापा ।
चपलापाङ्गकृतचमत्कारा　सज्जघनोदयमुपेत्य　वारा ॥१८॥

मन इत्यादि—साऽपापा पापरहिता वारा (बाला) सती जघनस्य कटिपुरोभागस्योदयस्तमुपेत्य रससहितेन भृङ्गारमयेन पक्षे जलमयेनेङ्गितेन चेष्टितेनापहृतः सन्तापो यस्यास्सा चपलेनापाङ्गेन कटाक्षेण पक्षे चपला विद्युत् तस्या अपाङ्गेन कटाक्षेण कृतश्चमत्कारो यया सा मन एव मयूरस्तस्य मुदे प्रसन्नतायै समभूत् । श्लेषोऽलंकार ॥१८॥

विशदाम्बरा च मञ्जुलतारा कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा ।
पातालंगतमृद्वराराच्छरदिवान्वमानि　तेन　वारा ॥१९॥

विशदाम्बरेत्यादि—विशद निर्मल स्पष्टं चाम्बर वस्त्रं गगन वा यत्र सा, मञ्जुला तरला तारा नयनेक्षणिका पक्षे नक्षत्राणि यत्र सा, कमलेन सन्तोषेणान्वयी

ग्रीष्म ऋतुमे जेठका महीना जिस प्रकार **जडतापकारण**—जलके गर्म होनेका कारण है, अथवा जलस्वभावको नष्ट करनेवाला है, उसी प्रकार सुलोचना भी **जडतापकरणाय**—मूर्खताको दूर करनेवाली थी ।

'ज्येष्ठो जडतापकारणाय' इसके स्थानमे 'ज्येष्ठोऽस्ति जडतापकारणाय' यह पाठ भी संगत है ॥१७॥

अर्थ—जो पापसे रहित है, अपनी सरस–शृंगारमय चेष्टाओसे जिसने सताप दूर कर दिया है और चचल कटाक्षोसे जिसने चमत्कार उत्पन्न किया है, ऐसी वह वारा–बाला सुलोचना प्रशस्त जघनके उदयको प्राप्तकर राजा जयकुमारके मनरूपी मयूरकी प्रसन्नताके लिये हुई थी ।

अर्थान्तर—पापरहित वह सुलोचना, जिसने कि **सरस**—सजल चेष्टाओसे सन्तापको दूर कर दिया था और बिजलीके कटाक्षसे–वार-वार कोदनेसे जिसने चमत्कार उत्पन्न किया था, **सज्ज—सजल घन**—मेघके उदयको पाकर **वारा**—जलके द्वारा जयकुमारके मनरूपी मयूरके प्रमोदके लिये हुई थी । तात्पर्य यह है कि सुलोचना वर्षा ऋतुरूप थी ॥१८॥

अर्थ—राजा जयकुमारने उस बाला–सुलोचनाको शीघ्र ही शरद् ऋतुके समान माना था, क्योंकि जिस प्रकार शरद् ऋतु **विशदाम्बरा**—स्वच्छ आकाशसे

संयुक्तो [1]भ्रमरस्य वल्लभस्य विस्तारो यत्र सा पक्षे कमलानां वारिजानामन्वयी अनुयायी भ्रमराणां षट्पदानां विस्तारो यत्र सा, पातालं गत नीचैर्मृदु कोमलमुदरं जठरं यस्यास्सा पक्षे पाताल गत मृदूदक जलं राति ददातीति सा, आराच्छीघ्रं तेन जयकुमारेण शरदिवान्वमानि अनुमानिता । 'कमल जलजे तोरे क्लोम्नि तोये च भेषजे' इति विश्वलोचनः । श्लेषोपमालंकारः ॥१९॥

मकरकेतु संक्रमोदिता या शीतश्रीरिव साभूज्जाया ।
कमलस्याभावार्थमवश्यं सरसमानसस्यावनिपस्य ॥२०॥

मकरकेत्वित्यादि—या जाया स्त्री मकरकेतोः कामस्य सक्रमेण प्रसारेणोदिता कीर्तिता, सरसं मानस चित्त यस्य तस्यावनिपस्य राज्ञः कस्यात्मनो मलं पाप तस्याभावार्थं त्रिवर्गसम्पाया पुण्यपूर्तयेऽवश्यमेवाभूत् । शीतश्रीरिव यथा शीतश्रीः मकरके मकरनामराशौ तु य सक्रमो रविसमागमस्तेनोदिता, सरसस्य मानसनामसरोवरस्यापि कमलस्य जलजातस्याभावार्थं स्यात् । शीततौ कमलविनाशवद्यस्याः सम्बन्धेन पापहानिर्जयस्य । उपमालंकारः ॥२०॥

सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **विशदाम्बरा**—उज्ज्वल वस्त्रोसे सहित थी । जिस प्रकार शरद् ऋतु **मञ्जुलतारा**—मनोहर नक्षत्रोसे मुक्त होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **मञ्जुलतारा**—चञ्चल कनीनिकासे सहित थी । जिस प्रकार शरद् ऋतु **कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा**—कमलोंपर मडराने वाले भौंरोके विस्तारसे सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा**—सतोषसे सयुक्त वल्लभके विस्तारमे सहित थी तथा शरद् ऋतु जिस प्रकार **पातालंगतमृदूवरा**—नीचे गये हुए कोमल जलको देने वाली होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **पातालंगतमृदूवरा**—नीचे की ओर झुके हुए कृश उदरसे सहित थी ॥१९॥

अर्थ—जो जाया-सुलोचना **मकरकेतुसंक्रमोदिता**—कामदेवके प्रसारसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी, वह **शीतश्री**—शीत ऋतुके समान **सरसमानसस्य**—सरस चित्त वाले राजा जयकुमारके **कमलस्य**—आत्मसम्बन्धी पापका **अभाव**—नाश करनेके लिये हुई थी, अर्थात् त्रिवर्गकी पूर्तिके द्वारा पुण्य वृद्धिका कारण हुई थी । भाव यह है कि जिस प्रकार **मकरके संक्रमोदिता**—मकर राशिमे सूर्यके संक्रमणसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई शीतश्री **सरसमानसस्य**—मानसरोवरके भी **कमलस्या-**

---

१. 'भ्रमर. कामुके भृङ्गे' इति विश्व० ।

स्पर्शनेन रोमाञ्चनभावाच्छिशिरश्रीरिव कम्पनदा वा ।
विषमाशुगसाधितसीत्कारपुरस्सरं धृतरदच्छदारम् ॥२१॥

स्पर्शनेनेत्यादि—स्पर्शनेनालिङ्गनेन कृत्वा सात्त्विकभावेन रोमाञ्चनभावात् पुलकिताङ्गतया कम्पनं ददाति सा कम्पनदा, विषमाशुगेन पञ्चबाणेन कामेन साधितः सम्पादितो यः सीत्कारस्तत्पुरस्सरं धृतो रदच्छद ओष्ठो यया ऽरं शीघ्रमेव शिशिरश्रीरिव यथा शिशिरसम्पत्तिः स्पर्शनेन शीतसद्भावेन रोमाञ्चनभावात् कम्पनकर्त्री विषमेण वायुना सीत्कारपूर्वकं संवृतौष्ठवती भवति तथैव । उपमालङ्कारः ॥२१॥

ललितालकां मूर्धभुवमस्या मुक्ताश्रितामुरोजसमस्याम् ।
अमृतमयं वदनच्छदबिम्बं लब्ध्वा चाम्बरचुम्बि नितम्बम् ॥२२॥
रामां च द्यामिव च निगद्यासौ सर्वेऽवङ्कुणवद्याम् ।
नाकिजनानामपि समृद्धिमुक्तिरियं न तु विस्मयकृद्धि ॥२३॥

भावार्थ—कमलका विनाश करनेके लिये होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी सरस-मानस—सरस चित्त वाले राजा जयकुमारके कमलस्याभावार्थं—आत्ममलका नाश करनेके लिये नियमसे हुई थी। शीत ऋतुमे कमलोका अभाव होता ही है ॥२०॥

अर्थ—जो स्पर्शन—आलिङ्गनके कारण समुत्पन्न रोमाञ्चसे सहित थी तथा कम्पनरूप सत्त्विक भावको दे रही थी, साथ ही कामसे सपादित सीत्कारसे सहित ओठको धारण कर रही थी, वह सुलोचना शीत ऋतुके समान जान पड़ती थी, क्योंकि जिस प्रकार शीत ऋतु शीतल स्पर्शसे रोमाञ्च उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी अपने स्पर्शसे वल्लभके शरीरमे रोमाञ्च उत्पन्न कर रही थी तथा स्वयं भी वल्लभके स्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही थी। जिस प्रकार शीत ऋतु शीतलताके आधिक्यसे लोगोंके शरीरमे कम्पन उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी वल्लभके शरीरमे वेपथु नामक सात्त्विक भावसे कम्पन उत्पन्न कर रही थी तथा स्वयं भी वल्लभके स्पर्शसे कम्पनका अनुभव कर रही थी और जिस प्रकार शीत ऋतु विषम—आशुग तीक्ष्ण वायुके द्वारा लोगोंके अधरोष्ठमे सीत्कार उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी कामातिरेकके कारण नायकके द्वारा दष्ट होने पर सीत्कार करने वाले अधरोष्ठको धारण कर रही थी ॥ २१॥

ललितालकामित्यादि—असौ जयकुमारो महाराजोऽस्याः सुलोचननाया मूर्धभुवं मस्तकस्थलीं ललिता सुन्दरा अलका केशा यस्यास्ता ललिता अलका नाम कुबेरपुरी यस्यां ताम् उरोजयो स्तनयो. समस्यां मुक्ताभिर्हारमणिभिराश्रिता पक्षे मुक्तैः सिद्धपुरुषैराश्रिताम्, रदनच्छदमधरबिम्बममृतमय सुधास्वादु, नितम्ब कटिपृष्ठभागमम्बर वस्त्रमाकाशं च चुम्बतीत्यम्बरचुम्बि, अत एव स्वय रामां च द्यामिव स्वर्गस्थलीतुल्यां सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु प्रदेशेषु चानवद्या निर्दोषा निगद्य न विद्यतेऽक दु.ख पाप वा येषा ते नाकिनश्च ते जनाश्च नाकिजनास्तेषा स्वर्गिणा पुण्यात्मना वा समृद्धिमाप प्राप्तवान् । इतीयमुक्तिविवेचना विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकृन्न भवति, किन्तु युक्तियुक्तैवास्ति । होति निश्चयेन । श्लेषश्चोपमा च ।।२२-२३।।

नाकमवापानुष्ठानेन सुदृशमाप्य किमु चित्रमनेन ।
निर्वाणिभवं शर्म तथापाद्वैततयालिङ्ग्य तामपापाम् ।।२४।।

नाकमित्यादि—सुदृशं सुलोचनानामस्त्रियं यद्वा सम्यग्दृष्टिं नाम मुक्तिहेतुगतामाविभूतामाप्य लब्ध्वा नाकमवाप दु.ख न प्राप्तवानुत नाक स्वर्गमाप्तवान् अनुष्ठानेन अनु समीपे स्थाननिवास स्तेनाविरहेणाथवानुष्ठानेन सदाचारेण च कृत्वा तदत्र किमु चित्रमाश्चर्यं न किञ्चिदपि, यतस्तामपापा निर्दोषामद्वैततया रहस्यभावेनाभेदरूपेण चालिङ्ग्य स्पृष्ट्वा वाण्या वर्जितो निवाणीभवो यस्य तदवागगोचरं शर्म सुखं तथैव निर्वाणिषु निर्वाण-

---

अर्थ—सुलोचनाकी मस्तकस्थली ललितालका-सुन्दर केशोसे युक्त थी (पक्षमे अलका नामकी कुबेरपुरीसे सहित थी), स्तनोकी समस्या **मुक्ताश्रिता**-मोतियोसे सहित थी (पक्षमे सिद्ध पुरुषोमे सहित थी), अधरोष्ठ **अमृतमय**-अमृतके समान मधुर था (पक्षमे देवोके द्वारा भोग्य सुधारूप था और नितम्ब **अम्बरचुम्बि**-उत्तम वस्त्रमे सहित था (पक्षमे आकाशका स्पर्श करने वाला था) । इस प्रकार समस्त अवयवोमे निर्दोष सुलोचना स्वर्गके समान जान पडती थी । उसे प्राप्त कर जयकुमारने देवोकी ही सम्पत्ति-वैभव प्राप्त कर किया था, यदि ऐसा कहा जाय तो वह आश्चर्यकारी नही होगा ।।२२-२३।।

अर्थ—**सुदृशम्**-सुलोचनाको पाकर तथा **अनुष्ठान**-उसके साथ रहकर जयकुमारने **अकं न प्राप्तवान्**-दु ख नही प्राप्त किया, इसमे क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नही । (**अर्थान्तर**-जयकुमारने **सुदृश**-सम्यग्दृष्टिको प्राप्त कर **अनुष्ठान**-सदाचारके द्वारा **नाक**-स्वर्ग प्राप्त किया, इसमे क्या आश्चर्य है, क्योंकि सदाचार युक्त सम्यग्दृष्टि-सम्यग्दर्शनसे स्वर्ग प्राप्त होता ही है । **अपापां**-निर्दोष सुलोचनाका **अद्वैतभावसे**-एकान्तमे आलिङ्गन कर जयकुमारने **निर्वाणिभवं**-

शालिषु मुक्तपुरुषेषु भवं संजातं शमपि प्राप्तवान् । आगमे ह्युक्तं यत्सम्यग्दर्शनं लब्ध्वानुष्ठानेन स्वर्गं प्राप्यते, तथा तदेव सम्यग्दर्शनमभेदभावेन शुक्लध्यानरूपेण कृत्वा पुनर्मुक्तिसौख्य लभ्यते, तथात्रापि सुदृशः सहवासेन निष्पापतां तां रहसि समालिङ्ग्य वाचनगोचर सुखमभूज्जयस्येति यावत् ॥२४॥

सम्मिलदुच्चैस्तनकोकवतीमुषमिवाप जयस्त्विषां पतिः ।
सम्प्रति कवरीकृतान्धकारामुत्फुल्लाम्बुजमुखां च वाराम् ॥२५॥

सम्मिलदित्यादि—त्विषां कान्तीनां किरणानां वा पतिर्जयो नाम राजा सूर्य इव वारां सुलोचना तामुषमिव प्रातःप्रभामिवापानुभूतवान् यत सम्मिलन्तौ संयुज्यमानौ तावुच्चैस्तनौ पीनरूपौ कुचौ तावेव कोकौ तद्वतीं सम्प्रत्यधुना कवरीकृतः कवरीभाव नीतो वेणीरूपतामवाप्तः पक्षे रलयोरभेदात्कवलीकृतो ग्रासीभूतोऽन्धकारो यया ता, उत्फुल्लं यदम्बुज तद्वत् तदेव वा मुखं यस्यास्तामिति यावत् । 'उषा बाणसुतायां स्यात्प्रभातेऽपि विभावरौ' इति विश्वलोचने ॥२५॥

सदसि यदपि भूभुजां च मान्यः सेवक इव खलु भुवो भवान्यः ।
आत्मानं पश्यतोऽपि तस्य नान्यः कोऽपि बभूव दृशि ज्ञस्य ॥२६॥

सदसीत्यादि—यो भवान् जयकुमारो भुवः पृथिव्या चतुर्वर्णात्मकप्रजाधारायाः सेवकोऽनुचर इव खलु निश्चयेन भवन् यदपि भूभुजां राज्ञां सदसि सभायां मान्यः सम्मान-

---

वचनागोचर सुख प्राप्त किया ।

अर्थान्तर—अपापा–अतिचार अथवा हिंसादि पापोसे रहित उस **सुदृशं**–सम्यग्दृष्टिका **अद्वैतरूप अभेददृष्टि**–द्वितीय शुक्ल पूर्वक प्राप्त कर **निर्वाणिभवं**–मुक्त जीवोका सुख प्राप्त किया ।

भावार्थ—जिससे निर्वाण प्राप्त हो सकता है, उससे स्वर्ग प्राप्त कर लेना आश्चर्यकी बात नही है ॥२४॥

अर्थ—जो परस्पर मिलते हुए चकवा-चकवीके समान उन्नत स्तनोसे युक्त थी, जिसकी वेणी अन्धकारके समान काली थी तथा जिसका मुख कमलके समान विकसित था, ऐसी सुलोचनाको कान्तिके अधिपति जयकुमारने उस प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार कि **कान्ति**–किरणोका स्वामी सूर्य **उषा**–प्रभात वेलाको प्राप्त होता है। प्रभात वेलाके पक्षमे विशेषणोकी योजना निम्न प्रकार है—प्रभात वेला अत्यन्त ऊँचे मिलते हुए कोकयुगलसे सहित होती है, अन्धकारको कवलीकृत–नष्ट करने वाली होती है और विकसित कमल ही उसका मुख होता है ॥२५॥

अर्थ—जो राजा जयकुमार निश्चयसे पृथिवीके सेवकके समान थे, अर्थात्

नीयोऽभूत्, आत्मानं पश्यतः स्वात्मानुभवं कुर्वतः सन्ध्यावन्दनसमये स्वात्मचिन्तन-तत्परस्यापि ज्ञस्य तस्य दृशि विचारे कोऽप्यन्यो न बभूव 'आत्मवत्सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डितः' इति सूक्ते । काव्यलिङ्गमलंकारः ॥२६॥

मदनधरा च धरा च जयस्य द्वे प्रिये श्रियेऽभूतां तस्य ।
भूभुजो भुजे इवानुवृत्ते तुल्ये सन्निदधत्यौ हृत्ते ॥२७॥

मदनधरेत्यादि—तस्य भूभुजो जयस्य हृद् हृदय सन्निदधत्यौ धृतवत्यौ मदनधरा कामजनिका सुलोचना च पुनर्धरा च वसुधा च द्वे प्रिये श्रिये वैभवाभूताम् । ते चानुवृत्ते अनुकूलाचरणकारिण्यौ 'यथा राजा तथा प्रजा' इत्यादिसूक्ते, अनुवृत्ते वर्तुलाकारे भुजे इव तुल्ये भवतः । यथा स पृथ्वीमनुबभूव तथैव सुलोचनां, यथा वा सुलोचनाप्रेमपरोऽभूत्तथैव पृथ्वीपालनपरायणश्च । उपमालंकारः ॥२७॥

वेणूदितसम्पदोऽबलाया गुणमाप्त्वाभूच्चापलतायाः ।
सरलं तरलं मनोवरस्य यदानङ्गमदहानिकरस्य ॥२८॥

वेणूदितेत्यादि—यदा यस्मिन्समयेऽनङ्गमदहानिकरस्य सौन्दर्येण जित्वा काम-देवतोऽपि श्रेष्ठस्य वरस्य प्रवरस्य तस्य जयकुमारस्य मनो यत्सरलं तदपि तरलं जातं तलं लक्ष्यवेधस्थान लातीति तललमिति । यदा खलु वेणुना वंशेनोदिता उक्तास्सम्पदः समीचीनाः

सब लोगोके सुख-दु खमे सम्मिलित हो उनका दु ख दूर करते थे, वे राजाओकी सभामे सम्माननीय थे और जब वे सन्ध्यावन्दनादिके समय आत्मावलोकन करते थे तब उस ज्ञानी राजाकी दृष्टिमे कोई दूसरा नही रहता था, सबको वे अपने समान ही देखते थे। प्रसिद्ध भी है जो सबको अपने समान देखता है वही पण्डित कहलाता है—ज्ञानी कहा जाता है ॥२६॥

अर्थ—मदनधरा-कामकी आधारभूत सुलोचना और पृथिवी ये दो प्रिया ही राजा जयकुमारके वैभवके लिये हुई थी। वे भुजाके समान अनुकूल आचरण करती थी तथा सदा ही उनके हृदयको धारण करती थी।

भावार्थ—राजा गार्हस्थ्य धर्मका पालन करते हुए प्रजाका पालन करते थे। वे जिस प्रकार अपने मनमे सुलोचनाका ध्यान रखते थे, उसी प्रकार पृथिवी-का भी ध्यान रखते थे ॥२७॥

अर्थ—स्वकीय सौन्दर्यसे कामदेवके अहकारको नष्ट करने वाले राजा जयकुमारका मरल मन मुरलीके समान मधुर स्वर वाली अथवा वंश परम्परासे प्राप्त सम्पदासे युक्त सुलोचनाके सौन्दर्यादि गुणरूप डोरीको प्राप्तकर जो

शब्दा इव शब्दा यस्यास्तस्या मुरलीतुल्यसुस्वराया यद्वा वेणोर्वंशाद्रुदिता सम्पादिता सम्पत् सम्पदा यस्यास्तस्या अबलायाः सुलोचनाया गुणं सौन्दर्यादि पक्षे रज्जूमाप्त्वा लब्ध्वा या खलु चापलताऽचपलभाव चापलता धनुर्यष्टिरभूत् तदा। अर्थात् सुलोचना यदा हावभावादिपरायणाभूत्तदा जयकुमारस्य चित्त लक्ष्यवेधस्थानतामाप खलु। श्लेषः ॥२८॥

रोमाञ्चनमालिङ्गनेऽन्तरं योजनवदमानीत्यतः परम्।
दृशि निमिषः संवत्सरतुल्यो लब्धा ताभ्यां प्रेमामूल्यम् ॥२९॥

रोमाञ्चनमित्यादि—ताभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याममूल्यं बहुमूल्यं प्रेम लब्ध्वाङ्गिने परस्परपरिरम्भणे यद्रोमाञ्चनमभूत्तदन्तरं व्यवधानमपि योजनवदमानि योजनतुल्यं मतं यच्च दृशि दृष्टौ निमिषः पलकपातस्स च संवत्सरतुल्योऽब्दप्रमाणो यद्वा वर्षाकाल इवाशक्यनिर्वाहोऽमानि। तौ परस्परस्य वियोगसहनेऽसमर्थाविति ॥२९॥

हारमिवाह हृदः पतिमेषा सगुणवृत्तकुवलं मृदुवेशा।
तस्य दृशस्तारेव सदेशा जगदानन्दसमुद्भूतये सा ॥३०॥

हारमित्यादि—एषा सुलोचना मृदुवेशा कोमलवेशवती सती सगुण यद्वृत्त सदाचारस्तस्यकुर्भूमिस्तस्या बलं यस्य तं पतिं हृदो हृदयस्य हारमिव मौक्तिकदामेवाह निगदितवती। कथभूत हारमिति चेत्? सगुणानि सूत्रप्रोतानि वृत्तानि वर्तुलानि यानि कुवलानि मौक्तिकानि यस्य त तादृशं। तस्य जयकुमारस्य सा अकारो वासुदेवस्तेन

चपलता–चञ्चलता रूप चापलता–धनुर्यष्टि निर्मित हुई थी, उसका तरल–लक्ष्यस्थान बन गया था।

भावार्थ—वश–कुलरूपी बाससे धनुर्यष्टिका निर्माण हुआ था, उसमे सुलोचनाके गुणोने गुण अर्थात् प्रत्यञ्चाका काम किया था और इसका निशाना जयकुमारका मरल मन हुआ था ॥२८॥

अर्थ—अमूल्य प्रेमभाव प्राप्तकर उन स्त्री-पुरुषोने परस्परके आलिङ्गनमे जो रोमाञ्चन हुआ था, उसके अन्तरको योजनके समान माना था और दृष्टिमे जो पलकपात होता था उसके अन्तरको वर्षके समान अथवा वर्षा कालके समान अनिवार्य माना था। तात्पर्य यह है कि उन दोनोमे अत्यधिक प्रेम था ॥२९॥

अर्थ—कोमल वेषवाली यह सुलोचना **सगुणवृत्तकुवलं**–गुणसहित सदाचारकी भूमि–सम्यग्दर्शनके बलसे सहित पतिको हृदयका हार कहती थी जो

सहिता लक्ष्मीर्वा रतिर्वा सुलोचना दृशश्चक्षुषस्तारेव कनीनिकातुल्या जगतो च आनन्दः प्रमोदस्तस्य समुद्धृतयेऽभ्युद्धरणाय सदेशा समानदेशा सदा सर्वदा ईशा समर्था वाभूत् । यथा जगदालोकनेनानन्ददात्री नयनस्य तारैव, तया विनावलोकयितुमशक्यत्वात्तथा सुलोचना जयस्यानन्ददात्री । 'कुवलं तूत्पले मुक्ताफलेऽपि बदरीफले' इति विश्वलोचने ॥३०॥

अजवपुषा गोपिता तथा या महिषो कामधेनुता साऽयात् ।
अविकालहृदामुना यदापि अविनीता सा कुतः कदापि ॥३१॥

अजवपुषेत्यादि—अजवं पुष्णातीत्यजवपुस्तेनाजवपुषा अथवाजस्य छागस्य वपु· शरीरं यस्य तेनाजवपुषा जयकुमारेण गोपिताङ्गीकृता या महिषी पट्टराज्ञी सुलोचना महिषी रक्ताक्षिकापि कामधेनुतामयात् वाञ्छितकर्त्री बभूव गोरूपतां चागात् । तथाविर्नाम मेषस्य काल इव हृद् यस्य तेनाविकालहृदा, अथ रलयोरभेदाविकारं विकारवर्जितं हृद् यस्य तेन शुद्धमनसेति यावत् । अमुना जयेन यदा पुनरापि प्राप्त सा पुनरविनीता विनय-वर्जिता, अविना नीता प्राप्ता कुतः कदापि भवेत् खलु ? नैव भवेत् । वक्रोक्तिविरोधा-भास श्लेषश्च ॥३१॥

सगुणवृत्तकुवलं—सूतमे पिराये हुए गोल-गोल मुक्ताफलोंसे सहित था और सुलाचना जयकुमारके लिये लक्ष्मी, रति, तथा जगत्‌का आनन्द देनेके लिये समान देश अथवा सदा समर्थ आँखकी पुतलीके समान थी ॥३०॥

अर्थ—अजवपुषा—बकराके शरीरको धारण करने वाले जयकुमारके द्वारा सुरक्षित अथवा स्वीकृत वह महिषी–भैंस **कामधेनुता**–गोरूपताको प्राप्त हो गई यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है—**अजवपुषा**–श्रीकृष्णके समान शरीर वाले जयकुमारके द्वारा स्वीकृत सुलोचना **कामधेनुताको** प्राप्त हो गई इच्छित फल देने वाली हो गई । तथा **अविकालहृदा**–जिसका हृदय मेष–मेड़ाके लिये कालरूप–यमके समान है, ऐसे जयकुमारने जिसे प्राप्त किया था वह **अविनीता**–मेषके द्वारा क्या कभी ले जायी जा सकती है ? अर्थात् जो मेषको नष्ट करने वाला है उसके पास **अविनीता**–मेषके द्वारा ले जायी गई सुलोचना कैसे पहुँच सकती है ? यह विरोध है, इसका परिहार इस प्रकार है—जो सुलोचना **अविकारहृदा**–विकाररहित हृदय वाले जयकुमारके द्वारा प्राप्त की गई थी वह **अविनीता**–विनयसे रहित कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ—राजा जयकुमारकी पट्टराज्ञी सुलोचना मनोरथको पूर्ण करने वाली तथा अत्यन्त विनम्र थी ॥३१॥

अभ्यन्तररुचाऽभवत् स पुषः स्थानमिहा[1]स्मत्कवचनवपुषः ।
अङ्गमाप्य नान्तलक्षणं सा रेजे गुणगुम्फितप्रशंसा ॥३२॥

अभ्यन्तररुचेत्यादि—स जयकुमार इहास्मिल्लोकेऽस्मत्क यद्वचन तदेव वपुः शरीरं यस्य तस्य पुष पोषणार्थकस्य धातोरभ्यन्तरस्य मनसो या रुक् रुचिस्तया कृत्वा स्थानमभवत् । यद्वाभ्यन्तरे मध्ये रुकारो यस्य पुष इति धातोः शब्दस्य तत्तादृक् स्थानमभूत् पुरुषः सोऽभूदित्यर्थस्तदा सा गुणैर्गुम्फिता प्रशसा यस्यास्तादृशी सती न विद्यतेऽन्तो यस्यैतादृशं लक्षण स्वरूप यस्य तदङ्ग सर्वमनोहरमाप्य रेजे । यद्वा नाकारो विद्यतेऽन्ते यस्य तन्नान्तं लक्षणं यस्यैतादृशमङ्गमिति शब्दमाप्य साङ्गना नाम रेजे शुशुभे ॥३२॥

क्षत्रपोऽभवन्नादिमतेन खररुचिरिपुरिति सम्प्रति तेन ।
परिवारिता सुमध्या वारा संकुचतः कुड्मलादुदारा ॥३३॥

क्षत्रप इत्यादि—यो जयकुमारो ना पुरुष स आदिमतेन श्रीपुरुदेवस्याभिप्रायेण कृत्वा क्षत्रपोऽभवत् क्षत्रियाणा शिरोमणिरभूत् । किं वा नकार आदौ प्रथममिति मतेन कृत्वा नक्षत्रप. शशी समभूत्, यत खररुचिरिपु खलस्य रुचि प्रीतिः खररुचिस्तस्या

अर्थ—वह जयकुमार इस लोकमे अपनी हार्दिक रुचिसे पोषणार्थक पुष धातुका पञ्चम्यन्त स्थान अथवा जिसके बीच मे 'रु' है ऐसा पुष अर्थात् पुरुष हुआ था और सुलोचना अनन्त लक्षणोंसे युक्त अङ्ग–शरीरको पाकर सुशोभित हो रही थी अथवा जिसके अन्तमे 'ना' है ऐसे अङ्गको प्राप्त कर अङ्गना–स्त्रीरूपमे सुशोभित हो रही थी ॥३२॥

भावार्थ—पोषण अर्थमे **पुष्**–धातु आती है उससे **क**–पञ्चमी विभक्तिका **ङस्**–प्रत्यय लाने पर एकवचनमे **पुषः** बनता है । इस पुषः के बीचमे यदि '**रु**' का संयोजन कर दिया जाय तो **पुरुष** शब्द बन जाता है और अङ्ग शब्दसे प्रशस्त अर्थमे मत्वर्थक **ना** प्रत्यय कर दिया जाय तो अङ्गना शब्द बन जाता है । इस तरह जयकुमार धातु-क्रिया रूप थे और सुलोचना शब्दरूप थी । क्रिया और शब्द जिस तरह परस्पर सापेक्ष रहते हैं, अर्थात् क्रियाके बिना शब्दका उपयोग नही होता और शब्दके बिना क्रियाका उपयोग नही होता, उसी तरह जयकुमार और सुलोचना दोनो सापेक्ष थे ।

अर्थ—जो **ना**–पुरुष जयकुमार आदिनाथ भगवानके द्वारा स्थापित वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार **क्षत्रप**–क्षत्रियशिरोमणि थे, वे ही इस समय आदिमे '**न**' लगा देनेसे **नक्षत्रप**–चन्द्रमा भी थे, क्योंकि वे **खलरुचिरिपु**–दुष्ट मनुष्योकी

---

१. 'मिह स्म कवचनवपुष.' इति पाठो भवितुमर्हः. 'स्म' पादपूर्त्यर्थः ।

रिपुः पक्षे खरा तीक्ष्णा रुचिः कान्तिर्यस्य तस्य सूर्यस्य रिपुरित्ति सम्प्रति वर्तमानकाले तेन सता परिवारिताङ्गीकृता वारा सुलोचना सा सुष्ठु मध्यो यस्याः सा सुमध्याऽथ च शब्दा-पेक्षया सुकारो मध्ये यस्यास्सा सुमध्या वाराऽर्थात् वासुरा नाम रात्रिर्बभूव या सकुचतः सुस्तनेन कृत्वा कुड्मलादुदाराऽभूत्, पक्षे पुनः सकुचत सकोचमनुभवत कुड्मला-दुदाराभूत् ॥३३॥

मदनप्रेमसदनयोः साम्यात् सभोक्तुं न शशाक भिदां वा ।
सन्दधार साध्वी द्वयमेषा कुचयुगपदिहृदि सा परिशेषात् ॥३४॥

मदनेत्यादि—एषा सुलोचना या मदनश्च प्रेमसदन प्रियश्च तयोर्मदनप्रेमसदनयोः परस्पर साम्यात् समानभावात् भिदां सभोक्तु न शशाक भेद कर्तुमनर्हाभूत् । सा साध्वी परिशेषादर्थापत्त्या कुचयुगमेव पद स्थानं यत्र तत् कुचयुगपदि कुचयुगपदि यद्हृदय तस्मिन् द्वयं द्वितयमेव मदन स्वप्रिय चेति युगलमपि सन्दधार ॥४३॥

यद्यपि सासीन्महिषी शस्ता नावश्यककर्मणि परहस्ता ।
देवीत्युदितापि निजे हृदये स्वां राज्ञीं नान्वभूद् गुणमये ॥३५॥

यद्यपीत्यादि—यद्यपि सा शस्ता प्रशसनीया महिषी पट्टराज्ञी आसीत् सजाता

प्रीतिसे विरुद्ध थे (पक्षमे **खररुचिरिपु**–सूर्यके विरोधी थे) इस समय उन जयकुमारके द्वारा स्वीकृत **सुमध्यमा**–सुन्दर मध्यभागवाली **वारा**–सुलोचना मध्यमे सु लगा देनेसे [1]**वासुरा**–रात्रि हो गई थी और तब **संकुचतः**–अपने समीचीन स्तनोकी अपेक्षा वह **कुड्मल**–कमलकी बोडीसे उत्तम थी (रात्रि पक्षमे **सकुचतः**–निमीलित होते हुए कुड्मलसे उत्तम था, अर्थात् रात्रिके कुड्मल सकुचित हो रहे थे, जब कि सुलोचनाके स्तनरूप कुड्मल सकुचित नही थे । भाव यह है कि यदि जयकुमार चन्द्रमा हुए थे तो सुलोचना रात्रि हुई थी ॥३३॥

अर्थ—यह सुलोचना काम और जयकुमारमे समानताके कारण भेद करनेमे समर्थ नही हो सकी थी, इसीलिये वह पतिव्रता स्तनयुगलके स्थानसे सहित हृदयमे अर्थापत्तिसे दोनोको धारण करती थी ॥३४॥

भावार्थ—जयकुमार और कामदेव दोनो एक समान सुन्दर थे, इसलिये सुलोचना दोनोमे यह भेद नही कर सकी कि इनमे काम कौन है और पति–जयकुमार कौन है ? अत. वह एक समान रूपको धारण करने वाले स्तन युगलके स्थानभूत हृदय–वक्ष स्थलमे स्तनयुगलके व्याजसे दोनोको धारण करती थी ॥३४॥

अर्थ—यद्यपि वह पट्टरानी थी, तथापि भगवत्पूजा आदि कार्योंमे पराधीन

---

१ वासुरा वासिताया स्यान्निशाभूम्योश्च वासुरा' इति विश्व० ।

तथापि आवश्यककर्मणि भगवत्पूजादिकार्ये परहस्ता पराधीना नाभूत्, किन्तु तत्स्वहस्तेनैव चकार। तथा देवीत्युदिता कथितापि गुणमये निजहृदये स्वां राज्ञी नान्वभूत्, किन्तु सर्वसाधारणस्त्रीजातिवद् मन्यमाना समवर्तत सा ॥३५॥

तस्मिन् साधुसपर्याधीने तमनुचकार पथीहाहीने।
देवाराधनसमये बारा ददती तस्मै सोपस्कारान् ॥३६॥

तस्मिन्नित्यादि—साधूनां सपर्या पर्युपासना तदधीने तस्मिन् जयकुमारे भवति किलाहीने पवित्रे पथीह मार्गे बारातमनुचकार तथैव सपर्यां सापि कृतवती या बाला देवाराधनसमये तस्मै जयकुमारायोपस्कारान् तदुपकरणानि ददती दत्तवती साऽसीत् ॥३६॥

सेशमतिं सायंविधिमग्नामाप्याभूद् गृहकार्यनिमग्ना।
स यदा प्रजाहितायनयात्री सापि तदोचितसम्मतिदात्री ॥३७॥

सेशमतिमित्यादि—सा सुलोचनाधीशस्य स्वामिनो मतिं सायंविधौ मग्नामाप्य स्वयं गृहकार्ये रन्धनक्षोटनादौ निमग्नासीत् खलु। स जयकुमारो यदा प्रजाया हितस्यायनं वर्त्म तस्य यात्री प्रजाहितचिन्तकोऽभूत् तदा तस्मिन् काले सा सुलोचनापि उचिता सम्मतिं ददातीत्युचितसम्मतिदात्री समभूत् ॥३७॥

तेजस्विनः करेणापन्ना मृक्षणतनुरासीत् सा स्विन्ना।
समुचिताय तस्या यदपाङ्गश्चित्रं सोऽभूत्कण्टकिताङ्गः ॥३८॥

तेजस्विन इत्यादि—तेजस्विनो वह्नेरिव जयकुमारस्य करेणापन्ना समाक्रान्ता सा म्रक्षणस्य नवनीतस्य तनुरिव तनुर्यस्यास्सा स्विन्ना स्वेदनशीलासीत्, युक्तैव तावन्मृक्षणस्य

नही थी, सब कार्य स्वय करती थी तथा वह देवी कही जाती थी फिर भी सर्वसाधारण स्त्रीके समान अपने आपको मानती हुई रहती थी ॥३५॥

अर्थ—यदि जयकुमार साधुओंकी उपासनामे लीन होते थे तो यह सुलोचना भी उनका अनुकरण करती थी और जयकुमार यदि देवपूजा करते थे तो उस समय यह उन्हे उपकरणादि देती थी ॥३६॥

अर्थ—वह सुलोचना पतिकी बुद्धिको सन्ध्यावन्दनादि विधिमे निमग्न पाकर गृहकार्यमें निमग्न हो जाती थी और जब वे प्रजाके हितसम्बन्धी मार्गके यात्री होते थे तब उन्हे उचित सम्मति देने वाली होती थी ॥३७॥

अर्थ—मक्खनके समान कोमल शरीरवाली सुलोचनाका जब अग्निके समान तेजस्वी जयकुमार हाथसे स्पर्श करते थे, तब वह स्वेदसे युक्त हो जाती

वह्निना स्वेदेन किन्तु तस्याः सुलोचनाया यदपाङ्ग कटाक्षोऽङ्गहीनश्च समुदियायाभ्युदयं प्राप तदा स कण्टकितं रोमाञ्चयुक्त कण्टकपूर्णं चाङ्ग यस्य स तादृशोऽभूत् तदत्र चित्र-माश्चर्यविषयोऽपाङ्गेन हेतुना कण्टकसम्पत्तेरभावात् ॥३८॥

स विटपभावमवाप यदा तु लताभूयमालिलिङ्ग सा तु ।
मोदमन्दिरे तस्मिन् बाला दीपशिखेवाह्लादरसाला ॥३९॥

स विटपभावमित्यादि—स जयकुमारो यदा तु पुनर्विटपभावं कामिशिरोमणितां यद्वा वृक्षशाखासमूहतामवाप तदा सा लताभूय यथा स्यात्तथालिलिङ्ग लतावदालिङ्गन-परायणाभूत् । तस्मिन् जयकुमारे मोदस्य मन्दिरे शर्मनिवासस्थाने सा दीपशिखेवाह्लादने रसाला परिपूर्णा जाता ॥३९॥

खगतामाप यदा सुलक्षणो सहसैवासीत् सापि पक्षिणी ।
तडिल्लतालङ्करणायेव सा यदि मुदिरोऽभूज्जयदेवः ॥४०॥

खगतामित्यादि—यदा स सुलक्षणो शोभनलक्षणसयुक्तः खगतामाकाशगामिता-मापायदा तु खगता पक्षिभावत्व प्राप तदा सापि पक्षिणी तत्पक्षवती वा सहसैवासीत्, यदि च पुनर्जयदेवो मुदः स्थान मेघो वाभूत्तदा सालङ्करणाय तडिल्लताभूदिति ॥४०॥

थी, इसमे आश्चर्य नही था, क्योकि अग्निके सम्बन्धसे मक्खनका पिघल जाना उचित ही है, परन्तु जब सुलोचनाका अपाङ्ग–कटाक्ष (पक्षमे अङ्गहीन) उदित होता था तब कुमारका शरीर कण्टकित–रोमाञ्चित अथ च काँटोंसे युक्त हो जाता था, यह आश्चर्यकी बात थी। क्योंकि अङ्गहीन व्यक्तिके द्वारा काटोका विस्तार करना सम्भव नही है ॥३८॥

अथ—जब राजा जयकुमार विटपभाव–श्रेष्ठ कामोपनको अथवा वृक्ष-शाखासमूहपनको प्राप्त होते थे तब सुलोचना लताके समान उनका आलिङ्गन करती थी और जब वे हर्षमन्दिर बनते थे तब वह दीपशीखाके समान आनन्ददायिनी होती थी।

भावार्थ—यदि जयकुमार वृक्षकी शाखा थे तो सुलोचना लता थी और हर्षके मन्दिर थे तो यह उसे प्रकाशित करनेके लिये दीपशिखा थी ॥३९॥

अर्थ—जब उत्तम लक्षणोसे युक्त जयकुमार **खगता**–आकाशगामिता अथवा पक्षिताको प्राप्त होते थे तो सुलोचना भी **पक्षिणी**–उनके पक्षसे सहित अथवा पक्षिणी हो जाती थी और यदि जयकुमार मेघ होते थे तो यह उसे अलंकृत करनेके लिये बिजली जैसी हो जाती थी ॥४०॥

**जगदुद्योतनाय सति दीपे सा भासा भाति समीपे ।
नरशिरोमणिर्भुवि निष्पापः सापि सदाचरणे गुणमाप ॥४१॥**

जगदुद्योतनायेत्यादि—जगतो विश्वमात्रस्योद्योतनाय तस्मिन् दीपे सति सा समीपे तत्पाइर्वे भासा दीप्तिर्भाति स्म खलु । यदा भुवि निष्पापः पापरहितः स नराणां शिरोमणिर्बभूव तदा सापि सदाचरणे सतामाचरणेऽथवा सर्वदा चरणे पदस्थाने गुण प्रशसामाप ॥४१॥

**अमरहृदो मृदुहारमणी या भवति स्म श्रमहा रमणीया ।
समय इवागाद्वारमणीयान् शरदोऽस्य सुधा वा रमणीया ॥४२॥**

अमरहृद इत्यादि—या रमणोया मनोहरा सुलोचना मृदव. सुकोमला हारस्य मणयो यस्यास्सा मृदुहारमणी सती श्रमहा श्रमहर्त्री भवति स्मामरहृदो जयकुमारस्य, अमर निर्मल हृद् हृदय यस्य यद्वामराणा हृदिव हृद्यस्य तस्य नरश्रेष्ठस्यास्य सुधा वा रमणीया रन्तु योग्या· शरदो वर्षाणि वाणोयान् समय इवारमगाद् जगाम खलु ॥४२॥

**परमा परागवतोऽपि जयन्तं समधिगम्य समदृशा जयं तं ।
कुसुमलवाससमाश्रयमेषा परिवधतीह स्मरसविशेषा ॥४३॥**

परमेत्यादि—एषा सुलोचना परा मा लक्ष्मीर्यस्यास्सा परमा परागतः पुष्परजसो जयन्त त जय यद्वा परस्य मा परमा तस्यामपरागो रागराहित्य ततो जयन्तं तं जय किं वा रागतोऽपि जयन्तं त जयं समदृशा समानेक्षणेन समधिगम्य परं यथा स्यात्तथाप जगाम ।

अर्थ—मानवोत्तम जयकुमार यदि जगत्को प्रकाशित करनेके लिये दीपक थे तो यह उनके समीप रहने वाली प्रभा थी और पृथिवीमे यदि वे निष्पाप-निष्कलक थे तो वह भी सदाचरण–समीचीन आचरण करने मे प्रशंसाको प्राप्त थी ॥४ ॥

अर्थ—जिसके हारके मणि अत्यन्त कोमल थे ऐसी वह मनोहर स्त्री सुलोचना निर्मल अथवा देवतुल्य हृदय वाले जयकुमारके श्रम–खेदको नष्ट करने वाली थी, तथा सुधा–अमृत के समान रमणीय–आनन्ददायिनी थी । इस प्रकार उन दोनोके अनेक वर्ष अतिशय अल्प समयके समान निकल गये–व्यतीत हो गये ॥४२॥

अर्थ—**परमा**–उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सहित इस सुलोचनाने **तं जयं**–उस जयकुमारको प्राप्त किया था जो **परागतो जयन्तं**–पराग–पुष्पमकरन्दसे श्रेष्ठ थे अथवा **अपरागतो जयन्तं**–विराग भावसे श्रेष्ठ थे अथवा **रागतो जयन्तं**–राग

कीदृशी सती सा, कुसुमल वासो यत्र तं कुसुमलवासमम्माश्रयं रक्तवस्त्रमयमाश्रयमित्यर्थः। यद्वा कुसुमं लातीति कुसुमलः स चासौ वासो निवासस्तत्समाश्रयं परिदधती सा स्मरः सविशेषो यस्यां स्मरसविशेषा कामोत्पत्तिकर्त्रीति ॥४३॥

मध्यमवृत्तितया करमाप भुवनादधुनासकावपापः ।
कौतुकेन महता मुहुरध्याश्रिता सता समभूच्च विमध्या ॥४४॥

मध्यमेत्यादि—असकौ जयकुमारोऽपापः पापवर्जितोऽधुना भुवनाद् लोकमध्यात्, यद्वा जलाद् मध्यमवृत्तितया करमाप नाविकभावेन षष्ठांश जग्राह। यद्वा मध्ये मकारो यस्य त कर कमरं (कमल)मिति यावत्। तदा महता कौतुकेन मुहुरध्याश्रिता वारंवार-मुपढौकिता सता सा विमध्या मध्यवर्जिता कृशावलग्नाऽथवा विकारो मध्ये यस्या सा विमध्यार्थात् किल सविताभूत् कमलेन सह सवितुः सम्बन्धात् तथा सव उत्सवस्तद्वत्ता सवितेति यावत् ॥४४॥

मदनद्रुतत्वमभवच्च यतः सदापि कान्तामनुगम्य सतः ।
न कामधुरता बभावुदारात्र कामधुरतामवाप साऽरात् ॥४५॥

मदनद्रुतत्वमित्यादि—सदापि सर्वदैव कान्तामनुगम्य यतो हेतुत. सतो जय-कुमारस्य मदनद्रुतत्व कामेन कृत्वा द्रुतत्व द्रवोभूतत्वमभवत् तदा पुनरत्र सुलोचनाया का

भावसे इन्द्रपुत्र जयन्तके तुल्य थे। यह सुलोचना जब कुसुमानी रङ्गके रगीन वस्त्रको धारण करती अथवा पुष्पावलीसे विभूषित आश्रय निकुञ्ज आदिको प्राप्त करती तब जयकुमारकी कामस्फूर्तिका विशेष कारण होती थी ॥४३॥

अर्थ—इस समय पापरहित जयकुमारने **भुवनतः**–लोगोसे मध्यम वृत्तिका राजस्व ग्रहण किया था अथवा **भुवनतः**–जलसे जिसके बीच मे '**म**' है ऐसा **कर** अर्थात् कमर, र और ल मे अभेदके सिद्धान्तसे **कमल**–ग्रहण किया था। **सता**–सज्जन जयकुमारके द्वारा पुन· पुन. प्राप्तकी हुई **विमध्या**–पतली कमर वाली सुलोचना वि है मध्यमे जिसके ऐसी **सता** अर्थात् **सविता** हो गई थी, कमलके साथ सूर्यका मैत्रीभाव होनेसे कमल पुष्पको धारण करने वाली सुलोचना **भी** सविता कहलाने लगी थी अथवा (सब उत्सवो विद्यते यस्य स सवी सविनी **वा**, तस्य तस्या वा भाव· सविता, स्त्रीपक्षे पुवद्भावः) सविता–उत्सव रूप हुई थी ॥४४॥

अर्थ—यतश्च सदा ही **कान्ता**–सुलोचनाको प्राप्त कर **सतः**–जयकुमारमें मदनद्रुतत्व कामसे द्रवीभाव होता था, अत. सुलोचनामे **का मधुरता**–कौन सी

मधुरता माधुर्यं न बभौ यत उदारा सा कामधुरतां स्मरस्य प्रधानभावतामाराद्वेवावाप। तथा च सदा तां पिकां कोकिलामनुगम्य सतो मदनद्रुतत्वं सहकारतरुभावोऽभवद् यतस्तस्मादत्र पुनः का नाम मधुरता वसन्तयुक्तता न बभौ या मधुरतोदारा सती कामधुरतामवापेत्येवम्। यद्वा कोऽग्निरन्ते समीपे यस्याः सा कान्ता ता सदाप्यनुगम्य सतो मदननामकपदार्थवद् द्रुतत्व पिगलनमभवत् यतो भश्चन्द्रो न भवतीत्यभ सूर्यस्तस्य धुरता प्रधानभावत्व सूर्यवच्चमत्कारित्व कथमिति नाभूत् ॥४५॥

स्वादितैव मनसोऽनुभवेन तस्य रतेः कान्ततात्र तेन।
सुलोचनायामभूद्विचारः परं ममाथ सफलगुणकारः ॥४६॥

स्वादितैवेत्यादि—सुलोचनायां स्त्रियां तेन जयकुमारेणात्र तस्य मनस इति शब्दस्यान्वनन्तर भवेन, मनोभवेनेति यावत्, रते. कान्तता स्वरूपता स्वादिता यथा रतये कामस्तथास्यै जयदेवोऽभूदिति। किं वाऽनुभवेन कृत्वा तस्य जयकुमारस्य विषये मनस इति शब्दस्य स्वादिता सुकारपूर्वकताभूत्तेनैव कारणेन पुना रते कान्तता ककारोऽन्ते यस्यास्सा कान्ता तस्या भाव कान्तता जाता। अर्थाद् जयकुमारस्य सुमनसः सुलोचना रतिका, रलयोरभेदाच्च लतिका बभूव। यतो मम पर केवलं सफल गुण करोतीति सफलगुणकारो विचारो मनस्कारोऽथ च वे. पक्षिणश्चारो विचारोऽभूत् ॥४६॥

मोदसमुद्रसमृद्ध्यै तस्यामृतगुत्वं विदधत्यै न स्यात्।
किमुदयाङ्कुरः परं पवित्रः कामधनवे तस्यै मित्र! ॥४७॥

मोदसमुद्रेत्यादि—मोदस्य हर्षस्य य समुद्रो राशिस्तस्य समृद्ध्यै वृद्धिकरणार्थ-

---

उत्कृष्ट मधुरता सुशोभित नही हो रही थी? अर्थात् सभी मधुरता सुशोभित हो रही थी। इस सदर्भमे वह सुलोचना शीघ्र ही कामधुरता–कामकी प्रधानताको प्राप्त हुई थी (कविने श्लेषालकारसे इस श्लोकके अनेक अर्थ प्रकट किये है, जो सस्कृत टीकासे जाने जा सकते है) ॥४५॥

अर्थ—जयकुमार रूप **मनोभव**–कामदेवने सुलोचनामे **रति**की स्वरूपताका अनुभव किया था और सुलोचनाके मनमे भी सफल–सार्थक गुणको करने वाला ऐसा विचार हुआ था कि ये जयकुमार जिसके आदिमे 'सु' है, ऐसे मनस् अर्थात् **सुमनस्**–फूल हैं और मै '**क**' है अन्तमे जिसके ऐसी **रति** अर्थात् **रतिका** हूँ तथा **र** और **ल** मे अभेद होनेसे लतिका हूँ। भाव यह है कि वे फूल हैं तो मै लता हूँ, दोनोका संयोग ही फल उत्पन्न करता है और उस पर वि–पक्षियो का चार–सचार होता है ॥४६॥

अर्थ—जो मोदसमुद्रवृद्ध्यै हर्षरूपी समुद्रकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**–चन्द्र-

ममृतस्य गौ रश्मिर्यस्य तस्य भावम् । तथा चामृतवन्मधुरा गौर्वाणी यस्यास्तस्या भावं बिदधत्यै धृतवत्यै । किं वामृतस्य दुग्धस्य गौर्भूमिर्यत्र तस्य भाव धृतवत्यै कामधेनवे सुलोचनायै तस्यै हे मित्र ! परं पवित्रो दयाङ्कुर. करुणापरिणाम किमु न स्यात् ! किञ्चोदयाङ्कुरो वृद्धिभाव· किन्न स्यात् ! तथा च किमिति कीदृगुदयः प्रादुर्भावो यस्यैतादृशोऽङ्कुरो हरिताशो न स्यादपि तु स्यादेव । किमु दयाङ्कुरः कुत्सितोदय-शाल्यङ्कुरो न स्यात् किन्तु प्रशस्तोऽङ्कुर. स्यात् । श्लेषो वक्रोक्तिश्चालंकार. ॥४७॥

कोमलपल्लववती सतीतः सच्छायः स च जयः प्रतीतः ।
अश्रुतपूर्वमुत्सवं व्रजत स्म लता तरुणक्रान्ता स्मरतः ॥४८॥

कोमलेत्यादि—इतः सती सुलोचना कोमला. श्रवणप्रिया. पदां सुबन्ताना लवाः ककारादयस्तद्वती, किञ्च कोमलाश्च ते पल्लवाः पत्राणि तद्वतीति, स जयश्च नाम राजा सती छाया कान्तिर्धर्माभावो वा यस्य स प्रतीतः प्रतिज्ञात एवंव स्मरत स्मृति-शक्तिवशाद्वा कामदेवस्य प्रभावाद्वा लता तरुणा वृक्षेणाक्रान्तास्तीति तादृग् न श्रुत पूर्वं खलु सोऽश्रुतपूर्वस्तमुत्सव समारोह व्रजत स्म तौ लता तरुमाक्रामति लोके किन्तु लता सुलोचना जयो नाम पादप आक्रामति स्मेति यावत् ॥४८॥

स महानसत्वमाप न यावत् साहारसम्पदमधात्तावत् ।
बीजन दधारैवमुदारं रसति तस्मिन्ननेकवारम् ॥४९॥

स महानसत्वमित्यादि—स जयकुमारो यावन्महानसत्व रसवतीस्थानत्व नाप

रूपताको धारण करती है अथवा **मोदसमुद्रवृद्ध्यै**–हर्षसमूहकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**–मधुरवाणीको धारण करती है अथवा **मोदसमुद्रसवृद्ध्यै**–सुगन्धसे युक्त समीचीन उत्कट **रस**–गोरसकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**–गायपनेको धारण करती है, ऐसी अनेक मनोरथो को पूर्ण करनेके लिये कामधेनुरूप सुलोचनाके लिये क्या परम पवित्र **उदयाङ्कुर**–उदयका प्रादुर्भाव न हो ? क्या **दयाका परिणाम** न हो और क्या हरित अङ्कुरोका प्रादुर्भाव न हो ? अवश्य हो ॥४७॥

अर्थ—इधर सती सुलोचना कोमल पल्लववती–कोमल अक्षरोसे सहित, कोमल पत्तोसे युक्त अथवा कोमल चरण प्रदेश (पद्–लव) से शोभित थी और जयकुमार सच्छाय उत्तम कान्ति अथवा अनातपसे सहित थे। तात्पर्य यह है कि सुलोचना लतारूप और जयकुमार वृक्षरूप थे। वे दोनो स्मरतः–स्मृतिवश अथवा कामाभिनिवेशसे 'लता वृक्षके द्वारा आक्रान्त हुई' इस अश्रुतपूर्व उत्सवको प्राप्त हुए थे ॥४८॥

अर्थ—वह जयकुमार जब तक रसोईघरमे नही पहुँच पाते थे कि उसके

न लब्धवान् तावत्तत्पूर्वमेव सा सती आहारस्य सम्भवं भोजनसामग्रीमधात् कृतवती। तु पुनस्तस्मिन् जयकुमारे रसति भोजनं भुञ्जाने सति सा वीजनं वायुसम्पत्कर तालवृन्त-मुदारमनेकवार पुनर्दधार धृतवती। एवमेव स महान् महापुरुषो यावद् असत्त्व सत्त्वा-भावं नाप तावत् सा सती हारस्य मुक्तावल्याः सम्पदमधात्। यावद् स श्रम न प्राप' तावत् सापि प्रसन्नमुखतयाऽवर्तत किन्तु तस्मिन् रसति सति सा तत्पूर्वमेवानेकवारं वीजनं स्खलनं रजःसद्भावं दधार ततोऽनन्तरं वनितातः पश्चात् पुरुषपरिस्खलन सामुद्रिकसुलक्षणम् ॥४९॥

कौतुकतोऽपि करं सन्दधता कण्टकितापि ततो नु मृदुलताम्।
तथाऽऽशयश्चेत् स्पृष्टुमदर्शि स्मितकुसुमं विटपेनाऽवर्षि ॥५०॥

कौतुक्तोऽपीत्यादि—कौतुकतोऽपि विनोदवशेनैव करं हस्तं सन्दधता स्पर्शकर्त्रा तेन जयेन सा सुलोचना कण्टकिता रोमाञ्चपूर्णाऽपि प्राप्ता यावत्स स्पृष्टवान् तत्पूर्व-मेव सा प्रसन्नतया रोमाञ्चिताभूदिति ततः कारणात् किन्तु मृदुलता कोमलत्वं अपि तु न सा मृदुलता मृदुवल्लरीति। किञ्च कौतुकतः कौतुकं कुसुमं ततस्तत्समीपेऽपि करं दधता जयेन कुसुमावचयमये तेन कण्टकितेवापि न तु पुष्पाणि स्वय रोमाञ्चितत्वात्। यद्वानु-मृदुलतामिति द्वितीयात्मक पाठस्तदा मृदुलतामनु कोमलतां प्रति कोमलां लतां प्रतीति च व्याख्येयम्। किञ्च तथा कोमलाङ्गया स्पृष्टुमालिङ्गितु कुसुमग्रहणार्थं वा शयो हस्तो-ऽदर्शि यावदेव तया करो व्यापारितश्चेद्यदि तावदेव विटपेन कामिशिरोमणिना तेन वृक्ष-लम्बेन च स्मितमेव कुसुम स्मितवत्कुसुमं वाऽवर्षि परिपूरित प्रसन्नभावेनेति ॥५०॥

तमस्युद्धतरत्नेन खण्डितौ नखलेन कलेनेशितुर्हितौ।
दोषोज्झितौ कुचावापतुर्ह्रियेवावृति सुतनोरिह तौ ॥५१॥

पहले ही वह आहार सामग्रीको तैयार कर लेती थी और जब वह आहार करते थे तब वह अनेक बार उत्तम पंखा झलती रहती थी ॥४९॥

अर्थ—यदि **कौतुकतोऽपि**—विनोदवश भी जयकुमारने सुलोचना पर हाथ रक्खा तो वह **कण्टकिता**—रोमाञ्चित हो गई। क्या इसका कारण उसकी **मृदुलता**—कोमलता थी? नही, वह स्वय **मृदु-लता**—कोमल वल्लरी थी। यदि सुलोचनाने भी कौतुकवश जयकुमारका स्पर्श-आलिङ्गन करनेका अपना **आशय**-भाव दिखाया तो **विटप**—कामिशिरोमणि जयकुमारने कुसुमके समान स्मित-मन्द मुसकानको प्रकट किया, प्रसन्नता व्यक्त की। यदि सुलोचनाने पुष्पावचयके समय **कौतुक**—पुष्पके समीप अपना **शय**—हाथ बढाया तो **विटप**—वृक्ष शाखाने भी स्मितके समान—मन्द मुसकानके समान पुष्पवर्षा कर दी ॥५०॥

तमसीत्यादि—ईशिनुः स्वामिनो नखं लातीति नखलस्तेन यद्वा न खल इति नखलोऽदुर्जनस्तेन कलेन रलयोरभेदात्करेण हस्तेन तमसि शार्वरे सति यद्वा तमोनामके गुणे सति उद्धतत्वेन समुन्नतभावेन यद्वाभिमानितया खण्डितौ मर्दनमाप्तौ पराजितौ दोषोज्झितौ दोषेण रहितौ यद्वा दोषया रात्र्या रहितौ भूत्वा पुनरिह ह्रिया लज्जयेव खलु सुतनोः शोभनशरीरायास्तस्या हितौ ।हितरूपौ तौ कुचौ स्तनावावृतिमवापतुरिहास्मिन् जगद् जगति । अर्थात् प्रमत्तभावेनोद्धतो जनः केनापि यदा विजितो भवति तदा लज्जितः सन् मुखावृतिं करोति तथैव कुचावपीति ॥५१॥

नावान्ता सा नदी जयेन सम्मानिता सुवर्षभयेन ।
सागरमेनमवापामध्यं सा तु वृत्तमिदमभूदवध्यम् ॥५२॥

नावान्तेत्यादि—जयेन सा नावा जलयानेन कृत्वान्तः प्रान्तो यस्यास्सा नावान्ता यद्वा न विद्यतेऽवान्तो यस्यास्सा नावान्ता नदी सम्मानिता सा सुलोचना सुवर्षमयेन वर्षणमेव वर्षः शोभनो वर्षः सुवर्षस्तन्मयेन मुहुर्वर्षणशीलेनेति । किञ्च शोभनो वर्षोऽष्टादशसंख्याकः संवत्सरस्तन्मयेन नवयौवनसम्पन्नेन तेन सा नाकारो वान्ते प्रान्ते यस्यास्सा नावान्ता र्थान्नदीना दीनतारहिता सम्मानिता सा सुलोचना पुनरेनं जयकुमारं सागरमवाप मध्यमाक्षरं विना कृत्वा सारमित्यत्राप तेनैवानुरागिणी बभूव नदी च सागरमत्रापेति युक्तमेव तावत् ॥५२॥

अर्थ—सुन्दर शरीरवाली सुलोचनाके हितकारी स्तन उद्धतता--अभिमान अथवा ऊँचाईके कारण रात्रिसम्बन्धी अन्धकार अथवा तमोगुणके सद्भावमे नखल--नखयुक्त (पक्षमे सज्जन) जयकुमारके हाथके द्वारा खण्डित किये गये पश्चात् दोषा--रात्रि अथवा अभिमानरूप दोषसे रहित होनेपर लज्जासे ही मानो उन्होने इस जगत्मे आवरणको प्राप्त किया था—अपना मुँह छिपा लिया था ॥५१॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई अहंकारी पुरुष किसीसे पराजित हो लज्जावश अपने आपको छिपा लेता है, उसी प्रकार सुलोचनाके स्तनोंने भी जयकुमारके हाथोसे पराजित हो अपने आपको लज्जावश छिपा लिया था ॥५१॥

अर्थ—नावके द्वारा जिसका (आ + अन्त = आन्त) सब ओरसे अन्त किया जाता है, ऐसी गहरी नदी स्वरूप वह सुलोचना **सुवर्षमय**-अच्छी वर्षा करने वाले मेघस्वरूप जयकुमारके द्वारा सन्मानित हुई थी, अर्थात् जलसे परिपूर्णकी गई थी, इसीलिये वह **अमध्य**-श्रेष्ठ सागरको प्राप्त हुई थी यह उचित ही है, क्योंकि नदी समुद्रको प्राप्त होती ही है ।

सुधालसत्कृतिमान् जयदेवः भो सुमनसोऽस्ति किन्न मुदे वः ।
सौवर्णेन हरिद्रा बारा द्वयोपयोगेऽनुराग आरात् ॥५३॥

सुधालसदित्यादि—जयदेवः सोमसूनुः, हे सुमनसो मनस्विनो जना ! देवा ! वा सुधारस्य सदाचारस्य सतो समीचीना या कृतिस्तद्वान्, यद्वा सुधा 'कलई' इति देशभाषायां तद्वल्लसन्ती या कृतिः परमपुनीता क्रिया तद्वान्, देवानां पक्षे तु अमृतं सुधा । एतादृशो जयकुमारो वो युष्माकं मुदे प्रीत्यर्थं किं नास्ति ? किन्त्वस्त्येव । एव पुनर्बारा (बाला) सुलोचना सा सुवर्णस्य हेम्नः शोभनवर्णस्य च भाव सौवर्णं तेन कृत्वा हरिद्रा हरितो दिशा रातीति हरिद्रा समन्तत प्रख्यातिमती, अथ च 'हलदी' इति देशभाषायां तस्माद् द्वयोपयोगे सुलोचनाजयकुमारयोः परस्पर योगे सम्बन्धे आरात शीघ्रमेवानुरागो बभूव । यथा सुधाहरिद्रयोः सयोगेऽनु अनन्तरमेव रागो रक्तपरिणामो भवति । वक्रोक्तिः श्लेषश्च ॥५३॥

नागदलक्षणमाप्स्वोदार सुधावाक्तु सा स खदिरसारः ।
द्वयोरित्यसौ समुदितप्रमाणा मुखमण्डनाथ सत्पुरुषाणाम् ॥५४॥

नागदलक्षणमित्यादि— सा सुधावाग् मधुरभाषिणी सुलोचना, स जयकुमारश्च

अर्थान्तर—नावान्ता–जिसके अन्त प्रदेशमे 'ना' है, ऐसी नदी अर्थात् **नदीना**–दीनतासे रहित सुलोचना **सुवर्षमय**–उदार मनोवृत्ति वाले जयकुमारके द्वारा अच्छी तरह सन्मानको प्राप्त हुई थी । भाव यह है कि बिना मागे ही जयकुमार उसे सब कुछ देकर सतुष्ट रखते थे, इसीलिये वह **अमध्य**–मध्याक्षरसे रहित **सागर**–अर्थात् **सार**–अतिशय श्रेष्ठ इन जयकुमारको प्राप्त हुई थी, यह उचित ही था ॥५२॥

अर्थ—हे सुमनस् ! हे विचारवान् मनुष्यो ! अथवा देवो ! यह जयदेव **सुधालसत्कृतिमान्–सुधार**–सदाचारके अच्छे कार्योंसे सहित है, अथवा **सुधा**–'कलई' के समान सुशोभित उज्ज्वल कार्योंसे सहित है अथवा देवरूप होनेसे **सुधा**–अमृतके उत्तम कार्योंसे सहित है, अतः किं वः मुदे न ? आप लोगोके हर्षके लिये नही है अर्थात् अवश्य है । और यह **बारा (बाला)** सुलोचना **सौवर्ण–स्वर्ण** जैसे वर्णसे **हरिद्रा**–दिशाओमे ख्यातिको प्राप्त है अथवा सुवर्ण जैसे पीले वर्णसे **हरिद्रा**–हलदी रूप है, अतः दोनोंका सम्बन्ध होनेपर शीघ्र ही **अनुराग–स्नेह** उत्पन्न हुआ इसमे आश्चर्य क्या है ? अथवा कलई और हलदीके मिलनेसे शीघ्र ही राग–लाल रङ्ग उत्पन्न हो जाता है, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? ॥५३॥

अर्थ—सुलोचना सुधावाक्–अमृतके समान मधुर भाषिणी थी और

खदिरस्य नाम वृक्षविशेषस्य सार इव सारो यस्मिन् स खदिरसारस्सुदृढावयवीत्यर्थः । द्वयो. समाहारो द्वयी सा गदरहितमगद नैरोग्यमेव लक्षणं स्वरूपमुदार महत् तदाप्त्वा समुचितप्रमाणा प्रस्फुटप्रशसावती सती सत्पुरुषाणां मुखमण्डनायाभूत् । सन्तस्तयोः प्रशसा-मेव चक्रुरिति न किमिति काक्वर्थसप्रत्ययः । तथा सुधावाक् चूर्णस्थानीया 'कलई'ति नाम, स च खदिरसार कत्थेति नाम तद्द्वयी योग्यप्रमाणोपेता नागदल नागवल्लीपत्रं तस्योदार क्षणमाप्त्वा ताम्बूलभावेन सत्पुरुषाणां मुखमण्डनाय भवत्येव ॥५४॥

श्रीर्हरेरुरसि शर्मापश्यत् सार्द्धभाव उमयापि मृडस्य ।
सातमाप सरिदम्बुधितुल्यं तत्त्वमत्र खलु जीवनमूल्यम् ॥५५॥

श्रीरित्यादि—श्रीर्लक्ष्मीः सा हरे कृष्णस्योरसि केवल हृदय एव वास कृत्वा शर्म सुखमपश्यत्, तथोमया पार्वत्या मृडस्य महादेवस्यार्द्धेन सहितः सार्द्धः स चासौ भावश्चापि प्राप्तः । सा तमर्द्धपरिणामेनैवाङ्गीकृतवती न पुनः सर्वात्मना । किन्तु सा सुलोचना त जयकुमार तन्मयत्वेनातिशयस्नेहवती भूत्वाप भेजे । यथा सरित् नदी अम्बुधिमनन्य-भावेनावाप्नोति । अत्र खलु जीवन प्राणार्पणमेव मूल्य नदीपक्षे जीवन जलम् । परस्पर-मद्वितोयप्रेमभावस्तयोरिति ॥५५॥

जयकुमार खदिर वृक्षके सारभागके समान सुदृढ शरीर वाले थे। समुदित प्रमाण—स्पष्ट प्रशसासे युक्त यह दोनो नारोगता रूप उदार लक्षणको प्राप्तकर सत्पुरुषोके मुखके आभूषण क्या नही हुए थे क्या सब लोग उनकी प्रशसा नही करते थे ? अवश्य करते थे।

अर्थान्तर—सुलोचना **सुधा**—कलई रूप था और जयकुमार कत्था रूप थे, अत. दोनो ही उचित मात्रामे नागदलक्षण—ताम्बूलके उदार क्षणको पाकर क्या सत्पुरुषोके मुखकी शोभा बढाने वाले नही हुए थे ? अवश्य हुए थे। कत्था और चूनाके उचित संयोगसे निर्मित ताम्बूल—पान मुखकी शोभा बढाता ही है ॥५४॥

अर्थ—लक्ष्मीने श्रीकृष्णके वक्ष.स्थल पर निवासकर सुखका अनुभव किया था और पार्वतीने शङ्करके अर्द्धाङ्गभावको प्राप्त किया था। सुलोचनाने जयकुमारको उस तरह प्राप्त किया था जिस प्रकार कि नदी समुद्रको प्राप्त करती है। भाव यह है कि जिस प्रकार नदी अपने जीवन—जलको समुद्रमे तन्मयीभावसे अर्पित कर देती है, उसी प्रकार सुलोचनाने अपना जीवन उसके साथ एकरूप कर दिया था ॥५५॥

सुरवरवंशमपूर्वख्याति वनमपि नवनन्दनं स्म भाति ।
पुण्यसदनमिव तयोः सदा वा दम्पत्योः सत्कृतैकभावात् ॥५६॥

सुरवरेत्यादि—तयोर्दम्पत्योर्वरवध्वोः सदा सर्वदैव खलु वनमपि किं पुनरुद्यानं सुकृतैकभावात् एकान्ततः पुण्यचेष्टितत्वात् पुण्यसदनं स्वर्गः, किञ्च पुण्यं पुनीतं च तत्सदनं च पुण्यसदनं तद्वत् सुरवरवश स्वर्गपक्षे सुरवराणां देवश्रेष्ठाना वंशो जाति-समूहो यत्र सवनपक्षे शोभनो रवः सुरवस्तं राति स्वीकरोतीति सुरवरः स चासौ वंशो यत्र तत् नवनन्दनं नवं मनोहरं नन्दनं नाम वनं यत्रेति स्वर्गपक्षे, गृहपक्षे पुनर्नवो नूतनः सद्यो जातो नन्दनः पुत्रो यस्मिंस्तत्, एव कृत्वापूर्वा ख्याति प्रशसा यस्यैवभूतं भाति स्म ॥५६॥

मीनमञ्जुचक्षुषे सुवस्तु जीवनमेव सदा वधतस्तु ।
भूमिपतेः सा चासीन्नवला लोचनखञ्जनाय चन्द्रकला ॥५७॥

मीनेत्यादि—मीनवन्मञ्जुमनोहर चक्षुर्यस्यास्तस्यै सुलोचनायै एव खलु जीवनं प्राणं त समादधत. सन्दधानस्य मीनस्य जीवनं जलमेव सर्वस्व यत भूमिपतेर्जयकुमारस्य लोचनमेव खञ्जनश्चकोरो यद्वा लोचनेन कृत्वा खञ्जनो भवति तस्मै सा नवला नवयौवना बाला किञ्च नूतनसजाता चन्द्रस्य कला बभूव, खञ्जनस्य चन्द्रकलाप्रेमित्वात् ॥५७॥

अर्थ—उन दोनो वर वधूके सदा पुण्यशाली होनेसे वन भी पुण्यसदन–स्वर्गके समान अथवा उत्तम भवनके समान जान पडता था, क्योकि जिस प्रकार पुण्यसदन–स्वर्ग सुरवर वंश–श्रेष्ठ देवोके समूहसे सहित होता है, उसी प्रकार उत्तम भवन भी सुरवरवश-सु-र व-वंश–उत्तम शब्दसे युक्त मुरलियोसे सहित होता है, जिस प्रकार स्वर्ग–अपूर्व ख्याति–अनुपम प्रसिद्धिसे सहित होता है उसी प्रकार भव्य भवन भी अपूर्व ख्याति–अभूतपूर्व प्रसिद्धिसे सहित होता है और जिस प्रकार स्वर्ग नवनन्दन–मनोहर नन्दन वनसे सहित होता है, उसी प्रकार भव्य भवन भी नव नन्दन–सद्योजात–नवीन पुत्रोसे सहित होता है ।

भावार्थ—इष्टके संयोगमे वन भी सुखकारी मालूम होता है ॥५६॥

अर्थ—मीनके समान सुन्दर नेत्रो वाली सुलोचनाके लिये जयकुमार जीवन रूप सारभूत वस्तु थे, अर्थात् जिस प्रकार मीनके लिये जीवन–जल सार वस्तु है उसी प्रकार जयकुमारके लिये सुलोचना जीवन प्राण स्वरूप थी और वह सुलोचना जयकुमारके नेत्ररूपी चकोर पक्षीके लिये चन्द्रकला रूप थी ।

भावार्थ—वर-वधू दोनो ही एक दूसरेके लिये प्राणतुल्य प्रिय थे ॥५७॥

न स्वप्नेऽपि हृदौज्झि कदाचिन्नतभ्रुवः कथमस्तु स वाचि ।
कर्मणा तु विनयैकभुजापि व्यत्ययेन यज इत्यथवापि ॥५८॥

न स्वप्नेऽपीत्यादि—यो जयकुमारो नते नम्रे भ्रुवौ यस्यास्तस्या नतभ्रुवो लज्जाशीलाया सुलोचनाया हृदा मनसा स्वप्नेऽपि शयनविकल्पेऽपि नौज्झि न विस्मृतः, स एव तस्मा वाचि कथमस्तु, अर्थात् सा जयदेव मनसि सर्वदैवाचिन्तयत् किन्तु वाचा तस्य नामोच्चारण न कदाप्यकरोत्, विनयमादरं भुनक्ति स्वीकरोति तेन विनयभुजा कर्मणा कार्येण तु पुनः यज इति व्यत्ययेन विपर्ययेणाथवा कृत्वापि स जय इत्येतस्य विलोमतायां यज इत्येव भवति, तस्मात्सा यजने तत्पराभूदिति । वक्रोक्तिरलंकारोऽत्र ॥५८॥

चलनमिहानुभूय गुणधामासनमाप सती राज्ञो वामा ।
अपि मुकुलितकलकमलललामा पद्मिनीव विनतयेऽभिरामा ॥५९॥

चलनमित्यादि—सा गुणानां धाम स्थानं यत्र सा गुणधामा सती राज्ञो जयकुमारस्येह भूतले चलनमनुभूय पश्चाद्भूत्वाप तस्य पृष्ठतो गमनकर्त्री बभूव तदीयाभिलाषानुसारेण चरणकारिणीवासीत् । तत एव तस्या वामा स्त्री भूत्वासन स्थानमाप । किञ्च वामभाग एवासनमाप, अपि पुनर्मुकुलिते करावेव कमले ताभ्यां ललामा मनोहरा सती विनतये प्रार्थनार्थमभिरामा शोभनीया पद्मिनीव कमलिनीसदृशा बभूव ॥५९॥

विस्तृतचरितेऽम्बर इव तस्मिन् सद्गुणगणिनीव स्मितराशिः ।
जल इव तृडपहारिणीशे तु स्वादुतेव सासीद्रुचिहेतुः ॥६०॥

अर्थ—लज्जाशील सुलोचनाने जयकुमारको स्वप्नमे भी नही छोडा था इसलिये वह उसके वचनोमे कैसे आये ? अर्थात् वह हृदयमे जयकुमारका चिन्तन करती थी परन्तु वह उसके नामका उच्चारण कभी नही करती थी। लोकमे स्त्री पतिका नाम लेती भी नही है। परन्तु विनयशील सुलोचनाने यज इस क्रियाको विपरीत रूपसे जयके रूपमे ग्रहण किया था। यजका उलटा जय होता ही है ॥५८॥

अर्थ—वह सुलोचना इस जगत्मे दया-दाक्षिण्य आदि गुणोका स्थान होती हुई राजा जयकुमारकी पदानुगामिनी हुई थी, अर्थात् उनकी इच्छानुसार आचरण करती थी। इसीलिये उनकी अवामा—अनुकूल हो अथवा उनकी स्त्री हो अथवा वामभागस्थ हो आसनको प्राप्त हुई थी। यही नही किसी बातकी प्रार्थना करनेके लिये जब वह अपने दोनो हाथ कमलकी बोंडीके समान करती थी, तब कुड्मलोसे सहित कमलिनीके समान मनोहर दिखती थी ॥५९॥

विस्तृतेत्यादि—तस्मिन् जयदेवेऽम्बर इव वस्त्रवद् विस्तृतं सुपरिणाहं चरितं यस्य तस्मिन् भवति सति सा स्मितस्य मृदुहास्यस्य रश्मिर्यस्यास्सा स्मितरश्मिः सुलोचना सतां गुणानां धैर्यादीनां तन्तूनां गणिनी गणनाकर्त्री अधिकारिणी चासीत् । ईशे तु पुनर्जल इव पानीयवत् तृषोऽपहारी तस्मिन् पिपासापहारके समस्तप्रकाराभिलाषापरिपूरके भवति सा स्वादुतेव रुचिहेतुरासीत् ॥६०॥

समालोचकत्वं दधतीवामुष्मिन्साभूद् रूपजीवा ।
मृदुवादित्रपरायणे सदाप्युच्चैस्तनढक्कासुसम्पदा ॥६१॥

समालोचकत्वमित्यादि—तस्मिन् जयकुमारे समालोचकत्वं सम्यक्प्रकारेण दर्शकत्व दधति अनुरागपूर्वक पश्यति सति सा रूपमेवाजीवा जीविका यस्यास्सा रूपाजीवा विलासिन्यभूत् । तथैव तस्मिन् मृदु च तद् वादित्रं च मृदङ्गादिक तत्र परायणस्तत्परो वादनार्थमुद्युक्तस्तस्मिन् सति अपि पुनस्सा चोच्चैरुन्नतशीलौ स्तनावेव ढक्का नक्कार इति नाम वाद्य तस्या. शोभना या सम्पत्तया सदालंकृताभूत्तस्यानुकूला ॥६१॥

भुवमनुमातुममुष्मिन् लम्बे साह हेमसूत्रं स्वनितम्बे ।
यदि गुणिनि स्वर्गेऽस्य विचारो निजमम्बरमियमहोद्दधार ॥६२॥

भुवमित्यादि—अमुष्मिन् जयकुमारे भुव धरामनुमातु लम्बे सति विचारतो विस्तृते सति सा सुलोचना स्वनितम्बे कटीप्रदेशे हेमसूत्र काञ्चीगुणमाह नातोऽधिकविस्तृतं धरातलं यादृश मूल्य मम कक्षाया न तादृक् पृथिव्या भाव्यमिति । यदि चैवस्य जयकुमारस्य विचारो गुणिनि गुणशालिनि स्वर्गेऽभूत्तदेह प्रसङ्गे चेयं सुलोचना निजमम्बरं वस्त्र-

---

अर्थ—मन्दहास्यरूप किरणोसे युक्त वह सुलोचना अम्बर-वस्त्रके समान विस्तृत चरितके धारक जयकुमारके सद्गुण-उत्तम गुणरूपी तन्तुओकी गणना करने वाली थी और ईश-पति जयकुमारके विषयमे जलकी तरह तृषा-भोगाकाक्षा अथवा पिपासाको हरने वाली थी और स्वादुता-स्वादिष्ठताके समान उनकी रुचिका कारण थी ॥६०॥

अर्थ--जब जयकुमार उसे रागभावसे देखते थे तब वह रूपाजीवा-विलासिनी हो जाती थी, अर्थात् विलासिनीको तरह उनके रागभावको बढाती थी और जब वे मृदङ्ग आदि कोमलवादित्र बजानेमे तत्पर होते थे तब वह ढक्का-नक्कार नामक वादित्रको सुन्दर शोभा बढाती थी ॥६१॥

अर्थ—यदि कदाचित् जयकुमार पृथिवीका प्रमाण करनेके लिये विचार करते थे तो वह सुलोचना अपने नितम्बपर स्थित करधनीका उल्लेख कर देती

मुद्‌धारोद्‌धृतवती ममास्मिन् दुकूले बहुला गुणास्तन्तव सन्ति, किमतोऽप्यधिकगुणवत्स्वर्ग-मिति ॥६२॥

बलिसद्मनि तस्य यदा ध्यानं बभारोदरे सा सन्मानम् ।
मुक्तालयमीक्षितुमुत्कस्यास्य मुदे स्तनमण्डलं तु तस्याः ॥६३॥

बलिसद्मनीत्यादि—यदा तस्य जयकुमारस्य ध्यान बले राज्ञः सद्मनि पाताले बभूव तदा साप्युदरे सन्मानं बभार यतस्तस्या उदरं बलीनां सद्म। तथा मुक्तानां निर्वृतानामालयमीक्षितु दृष्टुमुत्कस्याभिलाषिणोऽस्य जयस्य मुदे प्रसन्नतायै तु पुनस्तस्याः स्तनमण्डलमभूद्यतस्तन्मुक्तानां हारगताना मौक्तिकानामालयो बभूव खलु ॥६३॥

स्वमयं विश्वमवर्दादहोन्नेतुं विश्वप्रेमपरे नृवरे तु ।
सदाशावती सदा शर्मणि तस्य शर्मभाक् किल सधर्मणि ॥६४॥

स्वमयमित्यादि—नृवरे मनुष्यशिरोमणौ तु पुनर्विश्वस्य प्रेम्णि परे परायणे विश्वप्रेमपरे सति इह सा विश्व समस्तमपि जगद् उन्नेतुमुन्नत कर्तुं स्वमयमात्मरूप निजगाद यत. सदा सर्वदैव शर्मणि हितकर्तव्ये समीचीना या आशाभिलाषा तद्वती सती, अत एव शर्मभाक् सुकृतभोक्त्री भूत्वा किल तस्य सधर्मिणी तुल्यविचारवती बभूव। अनुप्रासः ॥६४॥

थी कि इससे बडी पृथिवी नही है और कदाचित् गुणयुक्त स्वर्गके विषयमे विचार करते थे तो वह अपना अम्बर–वस्त्र उठाकर कह देती थी कि जितने गुण–तन्तु इसमे हैं उतने गुण–लाभ स्वर्गमे नही है ॥६२॥

अर्थ—जब जयकुमारका ध्यान बलिके स्थान–पातालमे जाता था तब सुलोचना अपने उदरमे सन्मानको प्राप्त होती थी, क्योकि पाताल तो एक ही बलिका स्थान है पर मेरा उदर अनेक वलियो–त्वक्सकोचोका स्थान है और जब जयकुमार मुक्तालय-सिद्धालयको देखनेके लिये उत्कण्ठित होते थे तब उनके हर्षके लिये सुलोचनाका स्तनमण्डल पर्याप्त होता था, क्योकि जिस प्रकार सिद्धालय मुक्तो–सिद्धोका आलय है उसी प्रकार स्तनमण्डल भी मुक्तालय–हारमे अनुगुम्फित मुक्ताफलोका स्थान था ॥६३॥

अर्थ—जब नरशिरोमणि जयकुमार विश्वप्रेममे तत्पर होते थे तब वह सुलोचना विश्व–समस्त जगत्को समुन्नत करनेके लिये आत्मरूप–अपने समान कहती थी, अर्थात् समस्त जगत्को आत्मतुल्य मानती थी और सदा ही उसके सुखकी उत्तम आशा रखती हुई सुखी होती थी । इस प्रकार वह जयकुमारकी सधर्मिणी–सदृश आचरण करने वाली थी ॥६४॥

उरीकृतापि भुवमलंचक्रे वक्रभ्रूः किल विधाववक्रे ।
सर्वाशाभासामीशेन साशातीतमधुरिमा तेन ॥६५॥

उरीकृतेत्यादि—सा आशामत्येतीति आशातीत. पराकाष्ठां गतो मधुरिमा माधुर्यं यत्र साशातीतमधुरिमा सुलोचना सर्वाश्च ता आशा अभिलाषाः सद्वाञ्छा स्तासां भासो विकाशास्तेषामीशेन यद्वा सर्वासां भासामीशेनेति पाठमाश्रित्यात्यन्तदीप्तिमता तेन जयकुमारेणोरीकृता स्वीकृतापि भुवं पृथिवीमलंचक्रे भूषयामास । इत्यत्र तेनोरीकृतोरसि-न्यस्तापि भुवमलचक्र इति विरोधाभासः । सा वावक्रः सरलो यो विधिराचारस्तस्मिन् प्रशसनीयाचारे वक्रे भ्रुवौ यस्यास्सा वक्रभ्रूरिति विपरीतार्थः । तत्रावक्रः प्रशस्तश्चासौ विधिरदृष्टश्च तस्मिन् भाग्योदये सतीत्यर्थः । सा वक्त्रभ्रूः शोभनभ्रकुटीमती किलेति निश्चयेन । अनुप्रासो विरोधाभासश्चालङ्कारः ॥६५॥

जडलोकसुधारणे प्रचेता धनदो दीनजनाय विजेता ।
दण्डधरोऽपराधिवर्गे तु तत्परोऽथ शतशः क्रतुमेतुम् ॥६६॥

जडलोकेत्यादि—स विजेता जयनशीलो जयकुमारो जडाश्च ते लोका मूर्खजनाश्च तेषा सुधारणे मूर्खादमूर्खीकरणे प्रशंसनीय चेतो यस्य सः, यद्वा जलस्य लोकः पानीयप्रदेश-स्तस्य सुधारणे सुविधाकरणे च प्रचेता नाम पश्चिमदिक्पालो वरुणः, दीनजनाय निःस्व-लोकायाभ्यागताय धनं ददातीति धनदो धनदो नाम कुबेरश्चोत्तरदिक्पालकः, अपराधिवर्गे

अर्थ—अत्यधिक मधुरतासे सहित वह सुलोचना समस्त अभिलाषाओके विकासके स्वामी अथवा समस्त दीप्तियोके स्वामी राजा जयकुमारके द्वारा **उरीकृता**–अपने वक्षःस्थल पर स्थापित होकर भी पृथिवीको अलंकृत करती थी, यह विरोध है, क्योकि जो जहाँ रहता है उसीको अलकृत कर सकता है अन्यको नहीं । परिहार पक्षमे **उरीकृता**–का अर्थ स्वीकृता करने पर कोई विरोध नही होता । इसी प्रकार **अवक्रविधि**–अनुकूल शुभ आचारके रहते हुए भी वह **वक्रभ्रू**–कुटिल भौहो वाली बनती थी यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है—वह **अवक्र विधि**–भाग्यके सरल अनुकूल होने पर भी स्वभावत. कुटिल भौहो वाली थी ॥६५॥

अर्थ—विजयशील जयकुमार **जडलोकसुधारणे**–मूर्ख जनोका सुधार करनेमें **प्रचेता**–प्रशंसनीय चित्तका धारक था (पक्षमे **जललोक**–जलप्रदेशका सुधार करनेमे **प्रचेता**–वरुण नामक पश्चिम दिशाका दिक्पाल था), दीन–निर्धन जनों-को धनद–धन देने वाला था (पक्षमे धनद नामक उत्तर दिशाका दिक्पाल था) ।

दुराचारिसमूहे तु पुनर्दण्डधरो दण्डनीतिपरायणो यथोचितदण्ड दत्त्वा सुविधाकरो दण्डधरश्च यमो नाम दक्षिणदिक्पालः, एवमेवाथ पुनः शतशोऽनेकधा क्रतु यज्ञमेतु कर्तुं तत्परो भगवदुपासनापरायणोऽसौ शतक्रतुर्नामेन्द्रः पूर्वदिक्पालश्च बभूव । समुद्देशः श्लेषश्च ॥६६॥

वीणावती स्वरेण सतोरीकृता तथा सा स्मितेन गौरी ।
हरिणीदृशेत्यादृताप्सरसां चयेनाधरीकृतामृतरसा ॥६७॥

वीणावतीत्यादि—सा सुलोचना सता श्रीमता जयकुमारेणोरीकृता स्वीकृता या स्वरेण कण्ठरागेण कृत्वा वीणावती वीणातुल्यस्वरत्वात् वीणावती नामाप्सरा वा बभूव, तथा स्मितेन मन्दहास्यप्रसादेन कृत्वा गौरी गौरपरिणामा गौरीनामाप्सराश्च, दृशानन्यसदृशा दृक्परिणामेन कृत्वा च हरिणी मृगी हरिणीनामाप्सराश्चेति अप्सरसा चयेन समूहेनादृतादर्शता नीता । अथ चाप्सरसां सजलसरोवराणा चयेनादृतापि अधरीकृतो निरादरतां नीतोऽमृतस्य रसो यया किञ्चाधरीकृत औष्ठभाव नीतोऽमृतरसो यया साधरीकृतामृतरसाभूत् । पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥६७॥

सकलसन्निधिर्नृपो यदाऽराद्ग्सरोमयीक्रुतेन वारा ।
सुधारान्वयेऽस्मिस्तु सुधाराधरे वाप्यभूत् प्रमोदसारा ॥६८॥

सकलेत्यादि—यदा नृपो जयकुमार. सकलाना सता सभ्याना मध्ये निधि शिरो-

---

अपराधियो–दुराचारियोके समूह पर **दण्डधरा**–दण्डनीतिको प्रचलित करनेवाला था (**पक्षमे दण्डधर–यम** नामका दक्षिण दिशाका दिक्पाल था) और शतशः **क्रतुमेतु** सैकडो यज्ञ करनेके लिये तत्पर होनेसे **शतक्रतु**–कहलाता था (पक्षमे शतक्रतु–इन्द्र नामक पूर्वदिशाका दिक्पालक था । इस तरह वह अपने कार्य-कलापसे चारो दिशाओमे विजय प्राप्त करनेसे विजेता कहलाता था ॥६६॥

अर्थ—श्रीमान् जयकुमारने उस सुलोचनाको स्वीकृत किया था, जो स्वर–कण्ठ सम्बन्धी रागसे **वीणावती**–वीणाके समान स्वर वाली थी (पक्षमे वीणावती नामकी अप्सरा थी), मन्द–हास्यसे **गौरी**–गौरवर्ण थी (पक्षमे गौरी नामकी अप्सरा थी) और दृष्टिसे **हरिणी**–मृगी थी (पक्षमे हरिणी नामकी अप्सरा थी) । इस तरह अप्सराओके समूहके द्वारा आदर्शताको प्राप्त हुई थी । अथवा **अप्सरसां चयेन**–सजल सरोवरोके समूहसे आदृत होने पर भी उसने अमृतरस–सुधाके स्वादको **अधरीकृत**–निरादर भावसे युक्त किया था अथवा अमृत रसको उसने अधरौष्ठरूपमे परिणत किया था ॥६७॥

अर्थ—राजा जयकुमार जब समस्त सभ्य जनोमे शिरोमणि रूप हुए थे, तब

मणिः किञ्च स केन जलेन कस्य वा लसन शोभनो निधिः समुद्र इवाभूत् तदा सा बारा स्वकीयेनेङ्गितेनाप्सरोमयी स्वर्गीयवेश्यासदृशापां सरोमयी वाराच्छीद्रमेवाभूत् । अस्मिन् राज्ञि सुधारस्यान्वयोऽविनाभावो यत्र तस्मिन् सुधारान्वये भवति तु पुन. प्रमोदो हर्ष एव तस्य सारो यस्यां सा प्रमोदसारा सुधां रातीति सुधारोऽधरो यस्यास्सा सुधाराधरा यद्वा प्रकृष्टा मा मानं यस्य तत्प्रमं प्रमं च तदुदकं च तस्य सारो यस्यामेवंभूतां सुधारां धरतीति सुधाराधरा नदीवाभूदिति ॥६८॥

स तु निजपाणिपङ्कजाताभ्यां परिमातुमिव सुगभीरनाभ्याः ।
मीलनकेलौ लोचनोत्पले सन्दधार परिणामकोमले ॥६९॥

स इत्यादि—मीलनकेलौ दृङ्मीलनक्रीडावसरे सुगभीरा नाभिर्यस्यास्तस्याः सुगभीर-नाभ्याः सुलोचनाया परिणामेन स्वभावेनैव कोमले लोचने एवोत्पले परिमातुमिव किल स जयकुमारो निजस्य पाणी हस्तावेव पङ्कजाते कमले ताभ्यां सन्दधार संवृतवा-निति ॥६९॥

सा तूत्तुङ्गकुचतयापि तयात्र निषिद्धा विद्धायोत्थितया ।
भुजयोर्नवनवकण्टकिततया मुद्रयतु किमीशदृशौ च रयात् ॥७०॥

सा त्वित्यादि—सा तु सुलोचना पुनस्तया सुप्रसिद्धया उत्तुङ्गौ च तौ कुचौ तयोर्भाव उत्तुङ्गकुचता तया कृत्वा निषिद्धाथ च भुजयोरुत्थितया प्रियस्यालिङ्गनेन कृत्वा

बाला–सुलोचना अपनी चेष्टाओंसे **अप्सरोमयी**–स्वर्गकी अप्सरा रूप हुई थी। अथवा जब राजा जयकुमार **कलसन्निधि**–जलके सुशोभित भाण्डार–समुद्र रूप हुए थे तब वह **अप्सरोमयी**–जलके सरोवर रूप हुई थी। जब वह राजा **सुधार**–सुन्दर व्यवस्था अथवा सदाचारके अनुगामी हुए तब प्रमोद–हर्षसे परिपूर्ण सुलो-चना भी **सुधाराधरा**–सुधारको सब ओरसे धारण करने वाली अथवा **सुधारा-धरा**–अमृतको देने वाला है अधर जिसका, ऐसी हुई थी। अथवा जब राजा **सुधारान्वय**–अच्छी धारा वाली नदियोंके सगमसे युक्त समुद्ररूप हुए थे तब वह **प्रमोदसारा**–अगाध जलसे परिपूर्ण **सुधाराधरी**–उत्तम धाराप्रवाहको धारण करने वाली–नदीके समान हुई थी ॥६८॥

अर्थ—आँखमिचौनीके खेलमे जयकुमार गहरी नाभिवाली सुलोचनाके स्व-भावतः कोमल नयनोत्पलोको अपने हस्तरूप कमलोसे बन्द करते थे ॥६९॥

अर्थ—सुलोचना जब पतिकी आँखोंको बन्द करनेके लिये उद्यत हुई तब उसके स्तनोकी प्रसिद्ध ऊँचाई तथा हाथोंमे उठी नई नई कण्टकिता–रोमा-

सञ्जातया नवनवकण्टकिततया च निषिद्धा सती ईशस्य स्वामिनो दृशौ चक्षुषी किमिति स्यात् वेगेन मुद्रयतु, किन्तु नैव मुद्रयतु । वक्रोक्तिरलंकारः ॥७०॥

सारसकेलिरापि मिथुनेन नदीपुलिनदेशेषु च तेन ।
यवङ्गभासु दिने सति कोकलोकः प्रापाप्यशोकमोकः ॥७१॥

सारसकेलिरित्यादि—तेन मिथुनेन सुलोचना-जयकुमारयोर्द्वयेन नदीनां पुलिनदेशेषु सारसयो केलिरापि प्रसारिता यद्वा सा प्रसिद्धा रसस्य केलिरापि । दिने सति यवङ्गभासु यदीयशरीरकान्तिषु यद्वा यवङ्गभाभि सुदिने सति कोकलोकश्चक्रवाकयुगलमपि अशोकं शोकवर्जितमोक स्थानं प्राप किमु तावत् ॥७१॥

उच्चलदविरलकलकान्तिकले वनितायाः कोमले तनुतले ।
पातितमिति जलमपि नाज्ञासीज्जलकेलौ निरतश्च विलासी ॥७२॥

उच्चलदित्यादि—उच्चलन् समुद्गच्छंश्चासावविरलो बहुल कलो मनोहरः कान्ते कलः प्रवाहो यत्र तस्मिन् वनिताया भार्याया· कोमले मृदुस्पर्शे तनुतले पातितं जलमपि जलकेलौ निरतो विलासी नाज्ञासीदिति, यत कान्तिमति शरीरे जलस्य विवेकाभावोऽभूत् ॥७२॥

ह्रीनताननाया अतिपीनस्तनतया नापि करो दीनः ।
अभिषेक्तुं तावदितः स्नात आनन्दाश्रुभिरीशो जातः ॥७३॥

ह्रीनतेत्यादि—ह्रिया नतमानन यस्यास्तस्या अतिपीनस्तनतया यावद्दीनः करोऽ-

ञ्चनने उसे मना कर दिया, इस स्थितिमे वह क्या पतिकी आँखें बन्द कर सकी थी, अर्थात् नही ॥७०॥

अर्थ—सुलोचना और जयकुमारके युगलने नदी तटके प्रदेशोमे सारसकेलि—सारस पक्षियोकी क्रीडा प्राप्त की अथवा सा रसकेलि–वह प्रसिद्ध रसक्रीड़ा प्राप्त की, जिसमे कि उनके शरीरको कान्तिसे उत्तम दिवसके रहते हुए चकवा-चकवियोने शोकरहित स्थान प्राप्त किया था ।

भावार्थ—उनके शरीरकी दीप्तिसे नदी तट पर दिन जैसा प्रकाश विद्यमान रहा, इसलिये चकवा-चकवी वियोगके भयसे दु.खी नही हुए॥७१॥

अर्थ—जलक्रीडामे तल्लीन जयकुमार बढती हुई कान्तिके सुन्दर प्रवाहसे युक्त सुलोचनाके शरीर तलपर उछाले हुए जलको नहीं जान सके थे ।

भावार्थ—जलक्रीडाके समय सुलोचनाके शरीर पर उछाला हुआ जल शरीरकी कान्तिमे छिप जाता था, अत पृथक्से उसका बोध नही होता था ॥७२॥

अर्थ—लज्जासे नम्रमुखी सुलोचनाने भी जयकुमारको नहलानेके लिये–उन

भिषेक्तुं नाप तावदेवेत ईशः स्वामी प्राणप्रियः स आनन्दाश्रुभि. स्नातो जातोऽभवत्खलु ॥७३॥

मध्यस्थोऽसिर्वा शय आसीत् सम्प्रति सत्कृतयशसां राशिः ।
भुवो भाविते सुगुणादर्शे हितमनुचिन्तयतो राजर्षेः ॥७४॥

मध्यस्थ इत्यादि—भुवः पृथिव्या भाविते सम्मानिते सुगुणनामादर्शे दर्पणरूपे श्रीपरमेष्ठिनि हितमनुचिन्तयतो राजर्षेः श्रीजयकुमारस्य सम्प्रत्यधुना सत्कृते पुण्यकर्मणि यानि यशांसि तेषां राशिः शयो हस्तोऽसिरिव मध्यस्थः शत्रुसद्भावाभावात्, अधुना यया-सिरपि मध्यस्थस्तया हस्तोऽपि मध्यस्थ एव, परमात्मचिन्तननिमग्नत्वात् ॥७४॥

सुगुरुतरोरोजयोर्भरेण मा त्रुटयतु मध्यः स्विदनेन ।
सुगुरूरुकसन्धृतानुबन्धं सास्य कक्षया व्यधात् प्रबन्धम् ॥७५॥

सुगुर्वित्यादि—अनेन सुगुरुतरयोरुरोजयोः स्तनयोर्भरेण कृत्वायं मध्यो यः स्वभावत एव कृशीयान् स मा त्रुटयतु स्विदित्यभिप्रायवतीव सा सुलोचना सुगुरुभ्यामूरुकाभ्यां सन्धृतोऽनुबन्धो यत्रैतादृश प्रबन्ध कक्षया काञ्च्या कृत्वाऽस्य मध्यस्य व्यधात् कृतवती ॥७५॥

रात्रौ राज्ञि तु कैरविणी या सस्मिता मधुरसा रमणीया ।
सालिजने किमु मुद्रणमगात् पद्मिनीति च दिनेऽह्नो सुभगा ॥७६॥

पर पानी उछालनेके लिये अपना दीन-शक्तिहीन हाथ उठाया, परन्तु स्तनोकी अत्यन्त स्थूलताके कारण वह उन तक नही पहुँच सका, फिर भी वे हर्षके आँसुओसे स्वय नहा लिये ॥७३॥

अर्थ—पृथिवीसे सन्मानित उत्तम गुणरूप दर्पणमे हितका चिन्तन करनेवाले राजर्षि जयकुमारका वह शय-हाथ, जो कि पुण्य कार्योंसे उत्पन्न यशकी राशिके समान जान पडता था, तलवारके समान मध्यस्थ हो गया था, अर्थात् शत्रुओके न होनेसे जिस प्रकार तलवार मध्यस्थ हो गई थी, उसी प्रकार उनका हाथ भी मध्यस्थ हो गया था। यद्वा 'वाशय' का वा-आशय ऐसा पदच्छेद करनेपर यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि आत्महितका चिन्तन करनेवाले जयकुमारका आशय-अभिप्राय मध्यस्थ हो गया था ॥७४॥

अर्थ—इन अतिशय स्थूल स्तनोके भारसे कही मध्यभाग टूट न जावे इसलिये सुलोचनाने मेखलाके द्वारा उसका अतिशय भारी जाघोके साथ मजबूत बन्धन कर दिया था, अर्थात् मेखलारूप रस्सीके द्वारा मध्यभागको स्थूल जाघोके साथ बद्ध कर दिया था ॥७५॥

रात्राविस्यादि—या सुलोचना रात्रौ राशि नृपतौ चन्द्रमसि च सति स्मितेन सहिता सस्मिता स्मेरमुखा या मधुरसा या च रमणीया, यद्वा मधुरसो रणमार्दवं तेन रमणीया सासौ दिने च शोभनं भगमैश्वर्यं यस्या , यद्वा शोभनो भगः सूर्यो यस्यास्सा सुभगा, इत्यतः पद्मिनी नाम सुलक्षणा स्त्री कमलिनी च भूत्वा साऽऽलिजने सखीसमूहे, किञ्च भ्रमर-वृन्दे सति मुद्रणामौदासीन्यं मुकुलभावं वागात् प्राप्तवती किमु किन्तु सर्वदेव प्रसन्नासीत् । सा निशि कुमुदिनीवद् राशि कैरानन्दैः कृत्वा रविणी मृदुभाषिणी रात्रिविकासिकमल-वल्ली च भवित्री दिने च सा कमलिनीति कृत्वा । अहो इत्याश्चर्यम् । वक्रोक्तिः श्लेषश्च ।।७६।।

विप्ललववधूस्वरेण सासन्नाविप्रभावमाप यदा सः ।
कर्णधारकत्वं साऽऽप परं स यदा चारित्राख्यानपरः ।।७७।।

विप्लेवस्यादि—यदा स जयकुमारो ना पुरुषो विप्रभावं ब्राह्मणत्वमाप तदा सा सुलोचना स्वरेण निजीयेन रवेणापि कृत्वा विप्रवरस्य वधूः सधर्मिणीत्यासन्नानुकूला ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी सेति यावत्, रलयोरभेदाद् बभूव । यदा च स चारित्रस्याख्याने पर-स्तत्परः सदाचारविवेचनपरायणोऽभूत् तदा सा कर्णौ धरतीति कर्णधरस्तस्य भावं कर्णधारत्वं दत्तावधानत्वं परमाप । किञ्च यदा स सन् सत्पुरुषो नावि नौकाया विषये

अर्थ—जो सुलोचना **रात्रिमे** राजा-जयकुमार (पक्षमे चन्द्रमा) के रहते हुए **कैरविणी**-हर्षसे मधुर शब्द करने वाली (पक्षमे कुमुदिनी) हुई थी, मन्द-मुस्कान (पक्षमे विकास) से सहित थी, मधुरस वाली एव रमणीय थी, वह **आलिजन**-सखीसमूहके समीप (पक्षमे भ्रमरसमूहके समीप) क्या **मुद्रण**-निमी-लनको प्राप्त हुई थी ? अर्थात् नही । वह सुलोचना यदि रात्रिमे कुमुदिनो **थी** तो दिनमे पद्मिनी-उत्तम लक्षणोसे युक्त **पद्मिनी**-नामक स्त्री थी (पक्षमे कमलिनी थो), क्योकि जिस प्रकार **कमलिनी** सुभगा-उत्तम सूर्यसे सहित होती है उसी प्रकार सुलोचना भी **सुभगा**-अच्छे ऐश्वर्यसे सहित थी। आश्चर्यकी बात है कि एक हो सुलोचना रात्रिमे कुमुदिनी और दिनमे पद्मिनी-कमलिनी हो जाती थी ।।७६।।

अर्थ—जब वह राजा जयकुमार **विप्रभाव**-ब्राह्मणत्वको प्राप्त होते थे तब वह स्वरकी अपेक्षा **आसन्ना**-निकटवर्तिनी-अनुकूल आचरण करने वाली **विप्रलववधू**-ब्राह्मणी हो जाती थी और जबवह **चारित्राख्यानपरः**-चारित्रका व्याख्यान करनेमे तत्पर होते थे तब वह **कर्णधारकत्व**-कान लगाकर श्रवण करनेकी अवस्थाको प्राप्त होती थी । जब वह **सन्ना**-सत्पुरुष **नावि**-नौकाके

प्रभावमाप तदा सा विशिष्टो यः प्लवस्तस्य वधू स्वरेण सहजेनैवाभूत् । एवं च पुनर्यदा सोऽरित्रस्य नौनिर्वहणकाठस्याख्यानपरोऽभूत्तदा सापि कर्णधारकत्वं नौसञ्चालकत्वमेवोररीकृतवती ॥७७॥

तरणिर्नवप्रभावत्वेन स सा भुवनमानिनी गुणेन ।
जडधीतिविधाकरः स सुमना अपि सा सुसज्जनौकास्तवना ॥७८॥

तरणिरित्यादि—स जयदेवो नवो नवीनोऽद्भुतप्रभावस्तेजो यस्य तस्य भावेन तथैव नवा तरुणा पूर्णा या प्रभा तद्वत्त्वेन वा कृत्वा तरणि. सूर्य एवाभवत्तदा सा सुलोचना भुवनस्य विश्वमात्रस्य मानिनी सम्माननीया गुणेन शीलादिना कृत्वाभूत् । यदा स सुमना. शोभनमानसो जडधीभ्यो मूर्खजनेभ्य ईतेर्विधा करोतीत्येव शीलोऽभवत्खलु मूर्खलोकनिवारकोऽभूत्तदा सापि सुसज्जनाना साधुपुरुषाणामोकस. स्थानस्य स्तवन यस्यास्सा प्रशस्तस्थानप्रशसाकरी बभूव । किञ्च यदा स तरणिर्जलयानमभूत् तदा सा भुवनस्य जलस्य मानिनी मानवती भूत्वाथ यदा स जलधिरित्येवविधाकरोऽभूत्समुद्रभावमाप तदा सा सुसज्जा प्रशस्ता नौका यस्यैवंभूतं स्तवनं यस्या ईदृशी जातेति ॥७८॥

तामुच्चैस्तनकुम्भां च धरन् स चतुं वारिषु धीवरः ।
कलाधरे रुचिमाप सुवासाः कौमुदाश्रिताभूद्रुचिरा सा ॥७९॥

विषयमे प्रभावको प्राप्त होते थे तब वह **विप्लववधू**–विप्लव–उपद्रवको दूर करने वाली विशिष्ट आपत्कालीन लघु नौकाकी परिणतिको प्राप्त होती थी, और जब वह **अरित्र**–पतवार सज्ञाको प्राप्त होते थे तो **कर्णधारकत्व**–दिशा-निर्देशक यन्त्रकी परिणतिको प्राप्त होती थी । तात्पर्य यह है कि वह सदा पति-के अनुकूल रहती थी ॥७७॥

अर्थ—जब वह जयकुमार **नवप्रभावत्वेन**–नूतन प्रभावसे युक्त होने अथवा **नूतनप्रभा**से सहित होनेके कारण **तरणि**–सूर्य होते थे तब वह सुलोचना अपने शीलादि गुणोके द्वारा **भुवनमानिनी**–समस्त ससारमे सम्मान प्राप्त करने वाली होती थी । जब जयकुमार मूर्खजनोसे पृथक्करण करनेवाले **सुमन**–अच्छे विचारक विद्वान् होते थे तब वह **सुसज्जनौकस्तवना**–उत्तम सज्जन पुरुषोके स्थानमे स्तवन–प्रशंसासे सहित होती थी । जब जयकुमार **तरणि**–जलयान–जहाज रूप होते थे तब वह **गुणेन**–शीलादि गुणरूपी गुण–रस्सीके द्वारा **भुवनमानिनी**–जलके प्रमाणको जानने वाली होती थी और जब वह **जडधि**– **जलधि**–समुद्रभावको प्राप्त होते थे तब वह **सुसज्जनौकास्तवना**–सुव्यवस्थित नौकाकी कीर्तिको प्राप्त होती थी ॥७८॥

तामित्यादि—वाथ वारिषु वैरिषु सचतुं स्वैरतया विहर्तुं तां सुलोचनां मुच्चैस्तनौ कुचावेव कुम्भौ यस्यास्तां धरन् धीवरो मतिमानभूत् । यद्वा स तामुच्चैस्तनावत्युन्नतौ कुम्भौ यस्यास्तां धरन् अङ्गीकुर्वन् वारिषु जलप्रदेशेषु संचर्तुं धीवरो दाशपुत्र इवाभूत् कुम्भाभ्यां जले ततुं सुशकत्वात् । तथा सुवासा. शोभनवस्त्रवान् स कलाधरे बुद्धिमति पुरुषे रुचिमाप, यद्वा तु चन्द्रमसि प्रेमपरोऽभून् तदा सा कौ पृथिव्यां मुदा मोदेनाश्रिता रुचिरा रुचिमती एवं कौमुदै· कुमुदसमूहैराश्रिता रुचिरा शोभनाभूत्, चन्द्रमसः कुमुदैः सह प्रबन्धत्वात् ।।७९।।

तं खलु विशेषकायानुमतं केशरमाहुः सुमनस्सु हितम् ।
नाभिभवां च मरुद्भिः शस्तां कस्तूरिकां विवेद जनस्ताम् ।।८०।।

तमित्यादि—विशेषेण सामुद्रिकशुभलक्षणलक्षितेन कायेनानुमतमत एव सुमनस्सु मनस्विलोकेषु हित कल्याणकारिण यद्वा विशेषकाय तिलकाय नामानुमत मानित सुमनस्सु कुसुमेषु हित प्रशस्त तं जना. केशरमित्याहुः खलु के मस्तके शर वधिसारमित्याहुमङ्गल-करं केशर कुङ्कुमं वाहुर्मनुष्या जयकुमार तथा तां सुलोचनां च न विद्यते कथमप्यभिभव पराभव. सौन्दर्यादिगुणेषु यस्यास्तामेवं मरुद्भिर्देवैरपि शस्ता प्रशंसनीया जन. सर्व-

---

अर्थ—अथवा **अरिषु**–शत्रुओके बीच अच्छी तरह विचरण करनेके लिये उन्नत स्तनरूप कलशसे युक्त सुलोचनाको स्वीकृत करने वाले जयकुमार **धीवर** थे–बुद्धिमान् थे अथवा **वारिषु**–जलमय प्रदेशोमे अच्छी तरह गमन करनेके लिये बडे बडे कलशोसे युक्त सुलोचनाको स्वीकृत करने वाले जयकुमार **धीवर**-ढीमर थे, क्योकि ढीमर लोग नदी पार करनेके लिए बडे कलशोका उपयोग करते हैं । अथवा **सुवासाः**-उत्तम वस्त्रोसे युक्त जयकुमार जब **कलाधर**–बुद्धिमान् मनुष्यमें रुचिको प्राप्त होते थे तब वह सुलोचना **कौमुदाश्रिता**–पृथिवीमे हर्षका आधार हो **रुचिरा**–उनकी रुचिको बढाने वाली होती थी अथवा जब जयकुमार **कलाधर**–चन्द्रमामे रुचिको प्राप्त होते थे तब वह **कौमुदाश्रिता**–कुमुदसमूहसे आश्रित हो **रुचिरा**–कान्ति प्रदान करने वाली–चाँदनी हो जाती थी।।७९।।

अर्थ—**विशेषकायानुमतं**-विशिष्ट शरीरसे सहित अत एव **सुमनस्सु हितं** मनस्वी लोगोमे कल्याणकारी उस जयकुमारको लोग उस **केशर**–कुङ्कुमस्वरूप कहते हैं जो **विशेषकायानुमतं**–तिलकके लिये स्वीकृत है तथा **सुमनस्सु हितं**–समस्त पुष्पोमे हित–श्रेष्ठ है । इसी प्रकार सब लोग **नाभिभवां**–पराभवसे रहित और **मरुद्भिः शस्तां**–देवोके द्वारा प्रशंसित सुलोचनाको उस कस्तूरी रूप कहते

साधारणोऽपि लोकः कस्तूरिकां विवेव नाभितो भव उत्पत्तिर्यस्यास्तां मरुद्भिर्वायुभिरेव च कृत्वा परिमलबहुलतया शस्ताम् ॥८०॥

जात्या वृत्तेनापि लसन्तौ सालंकारतया खलु सन्तौ ।
सार्द्धविरामावथच जम्पती श्रीछन्दसी गुणेन सम्प्रति ॥८१॥

जात्येत्यादि—अत्रास्मिन् लोके सम्प्रति अधुना तौ जम्पती सुलोचनाजयकुमारौ सन्तौ शुभरूपौ गुणेन धैर्यादिना कृत्वा श्रीछन्दसी स्वतन्त्रौ यद्वा पूर्वोक्तरीत्या परस्परानुकूलस्वभावौ च भूत्वा छन्दसी वृत्ते इव यतस्तौ अलंकारैः सहितौ केयूरादिभिर्यमकाविकालकारैर्यथा श्रीछन्दसी शोभेते तथा तौ जात्या जन्मना वृत्तेन स्वाचरणेन च लसन्तौ यथा छन्दसी जात्या वृत्तेनेति, मात्रिकछन्दो जातिर्वर्णिकछन्दश्च वृत्तमिति। तथा तौ सार्द्धं सममेव विरामो विश्रामो ययोस्तौ, छन्दसोऽपि सार्द्धभागे विरामवत्ता भवत्येवेति ॥८१॥

जयः स्तम्भः सुवृत्तत्वाद् गार्हस्थ्यसद्मनोऽघृणी ।
अभ्यागतस्य विश्रान्त्यै सा छायेवोपकारिणी ॥८२॥

जय इत्यादि—जयो नाम नृपो गार्हस्थ्यमेव सद्म गृहं तस्य गार्हस्थ्यसद्मनो घृणारहितोऽघृणी पवित्रोऽपवित्रे घृणासद्भावाद् अविकलो वा स्तम्भ इव सुवृत्तत्वात् शोभनं वृत्तमाचरणं यस्य तत्त्वात् तथा स्तम्भोऽपि सुवृत्तो वर्तुलाकारो भवति। सा सुलोचना च

है जो नाभिभवा—मृगकी नाभिसे उत्पन्न है तथा मरुद्भिः—वायुके द्वारा प्रशसित है, अर्थात् जिसकी गन्धको वायु दूर-दूर तक प्रसारित करती है ॥८०॥

अर्थ—इस समय जम्पती—सुलोचना और जयकुमार गुणोकी अपेक्षा श्रीछन्द-रूप थे—स्वतन्त्र थे अथवा युगल छन्दके समान थे, जिस प्रकार छन्द जाति—मात्रिक छन्द और वृत्त—वर्णिक छन्दोंसे सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वह जम्पती—दम्पती भी जात्या—जन्मसे तथा वृत्तेन—सदाचारसे सुशोभित थे। जिस प्रकार छन्दयुगल सालंकारतया लसन्तौ—उपमारूपकादि तथा यमकादि अलंकारोंसे सहित होते हैं, उसी प्रकार उक्त जम्पती भी कटककुण्डलादि अलंकारोंसे सहित थे और जिस प्रकार छन्द युगल सार्द्धविराम—अर्धभागमे विराम—विश्रामसे सहित होते हैं, उसी प्रकार जम्पती भी सार्द्धविराम—साथ-साथ होने वाले विश्रामसे सहित थे ॥८१॥

अर्थ—पवित्र जयकुमार गृहस्थ धर्मरूपी घरके सुदृढ़ स्तम्भ थे, क्योंकि जिस प्रकार स्तम्भ सुवृत्त—गोल होता है, उसी प्रकार जयकुमार भी सुवृत्त—सदाचारसे

तत्र च्छाया छविवद् अभ्यागतस्य लोकस्य विश्रान्त्यै सदासनदानादिना सत्कारेण कृत्वा सन्तुष्ट्यै भूत्वोपकारिणी ॥८२॥

माणिक्यनन्दितामाप स प्रमाणिपदेष्विति ।
सम्मानिता शुभार्याणां साप्रभाचन्द्रसंस्कृतिः ॥८३॥

माणिक्येत्यादि—स जयकुमारः प्रमाणिना सत्यवादिनां पदेषु स्थानेषु माणिक्यवद् नन्दितामानन्दन बहुमूल्यत्वमापेति । किञ्च, प्रमाण न्यायशास्त्र तस्य पदानि प्रमाणिपदानि तेषु माणिक्यनन्दितामाप, माणिक्यनन्दी परीक्षामुखनामकन्यायशास्त्रप्रणेताचार्यवर्य । सा सुलोचना चाशु शीघ्रमेव निःशङ्कतया भार्याणां गृहिणीना मध्ये सम्मानिता यत प्रभायुक्तस्य चन्द्रस्य सस्कृति. सस्कारो यस्याः सा । यद्वा तथा सम्मानिताशु यथा भासु प्रभासु या आर्या. श्रेष्ठास्तासा मध्ये चन्द्रस्य संस्कृतिर्यस्या एवभूता प्रभा चान्द्रमसीत्यर्थः । तथा च सा प्रभाचन्द्रस्य नामाचार्यस्य सती या कृति सा प्रभाचन्द्रसंस्कृति परीक्षामुखस्योपरि कृता प्रमेयकमलमार्तण्डाभिधाना सा चार्याणा सभ्यानां मध्ये शुभा प्रशस्तेत्येवभूता सम्मानिताभूत् ॥८३॥

स देवागमसंख्याता सा विद्यानन्दसत्कृतिः ।
अकलङ्कस्य यशसः प्रतिष्ठानाय यन्मतिः ॥८४॥

स देवागमेत्यादि—स जयकुमारो देवस्य श्रीपुरोर्योऽसावागमो द्वादशाङ्गाभिधानस्तस्य सख्याता व्याख्यानकर्ता बभूव । सा च सुलोचना विद्याया य आनन्दस्तस्य सत्कृति. समादरण यस्यास्सा । यद्वा विद्यानन्दस्य सत्कृतिर्यस्या इत्येव यस्या मतिर्यन्मतिरकलङ्कस्य

युक्त थे और सुलोचना उस गृहस्थधर्मरूपी घर की **छाया**–छप्परके समान अभ्यागत–अतिथिके विश्रामके लिये उपकारिणी थी ॥८२॥

अर्थ—वह जयकुमार **प्रमाणिपदेषु**–सत्यवादियोके स्थानमे माणिक्यके समान नन्दिता–समृद्धिताको प्राप्त हुए थे। यद्वा **प्रमाणिपदेषु**–न्यायशास्त्रके पदोमे माणिक्यनन्दी नामक आचार्यकी रूपताको प्राप्त हुए थे और **प्रभाचन्द्रसंस्कृति**–प्रभायुक्त चन्द्रमाकी सस्कृति–संस्कारसे युक्त वह सुलोचना भी **भार्याणां**–स्त्रियोके बीच शीघ्र ही **सम्मानिता**–प्रतिष्ठाको प्राप्त हुई थी अथवा **प्रभाचन्द्र संस्कृति**–प्रभाचन्दाचार्यकी उस समीचीन कृति–प्रमेयकमलमार्तण्ड रूप हुई थी, जो **आर्य**–ज्ञानी जनोमे शुभ तथा **सम्मानिता**–सन्मानको प्राप्त है ॥८३॥

अर्थ—वह जयकुमार श्री आदिनाथ भगवान्‌के द्वादशाङ्ग रूप आगमके व्याख्याता थे अथवा देवागमस्तोत्रके रचयिता समन्तभद्राचार्य थे और वह सुलोचना **विद्यानन्दसत्कृति**–विद्यासे प्राप्त होने वाले आनन्दका सन्मान करने

कलङ्करहितस्य यशसः प्रतिष्ठानाय स्थापनार्थं भवति। किञ्च, स देवागमस्य नाम स्तवनस्य सख्याता श्रीसमन्तभद्राचार्य सा च विद्यानन्दस्य नामाचार्यस्य सत्कृतिरष्टसहस्री नामटीका किलाकलङ्कस्य नामाचार्यस्य यशसः प्रतिष्ठानाय भवति यतो देवागमस्योपरि कृताया अष्टशतीनामटीकाया प्रस्फुटीकरणार्थत्वादष्टसहस्र्या इति ॥८४॥

गद्यचिन्तामणिर्बाला धर्मशर्माधिराट् परम्।
यशस्तिलकभावेनालङ्करोतु भुवस्तलम् ॥८५॥

गद्येत्यादि—बाला सुलोचना सा गद्यस्य वचनीयस्य चिन्तामणिरभीष्टवचनत्वात् तथा च गद्यचिन्तामणिर्नाम वादीभसिंहकृत काव्यशास्त्रम्। अधिराट् राजा जयकुमारश्च धर्मतो धर्मे वा शर्म सुखं यस्य स धर्मशर्माभूत् परं केवलं न त्वन्यत्र दुराचारादौ तस्य शर्मेति। किञ्च धर्मशर्मापि हरिचन्द्रकविप्रणीत काव्यशास्त्रम्। तयोर्द्वयोर्यशः सुलोचनाजयकुमारयो कीर्तिस्तिलकभावेन भुवस्तलमलङ्करोतु भूषयतु। यशस्तिलकं च चम्पूकाव्यं सोमदेवाचार्यकृत वर्तते ॥८५॥

कलापकं जयस्वान्तं रूपमालां सुलोचनाम्।
संवदामि यतः शोभां जगतः संस्कृतस्य हि ॥८६॥

कलापकमित्यादि—जयस्य नाम कुमारस्य स्वान्तं चित्त तत् कस्य सहजानन्दस्यालापकमाह्वानकर सवदामि सुलोचना च रूपस्य सौन्दर्यस्य माला परम्परां संवदामि

वाली थी अथवा विद्यानन्द आचार्यकी समीचीन रचना अष्टसहस्रीरूप थी। वह अष्टसहस्री जिसका कि ज्ञान अकलङ्कस्य-निर्दोष यशकी प्रतिष्ठाके लिये होता है अथवा जिसका ज्ञान अकलङ्क नामक आचार्यके अष्टशती नामक ग्रन्थकी प्रतिष्ठा—स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक है ॥८४॥

अर्थ—वह बाला सुलोचना **गद्यचिन्तामणि**-शब्दोके लिये चिन्तामणिस्वरूप थी, अर्थात् अभीष्ट शब्दोके उच्चारणमे निपुण थी अथवा **गद्यचिन्तामणि** नामक काव्यशास्त्र थी और राजा जयकुमार **धर्मशर्मा**-धर्मसे अथवा धर्ममे सुखका अनुभव करने वाले थे यद्वा **धर्मशर्माभ्युदय**-नामक काव्यशास्त्र थे। उन सुलोचना और जयकुमारका यश, तिलक रूपसे-श्रेष्ठ रूपसे पृथिवी तलको अलकृत करता रहे यद्वा उनका युगल यशस्तिलकचम्पूके रूपमे पृथिवी तलको विभूषित करता रहे ॥८५॥

अर्थ—मै जयकुमारके चित्तको **कलापक**-सहजानन्दका आह्वानकर्ता और सुलोचनाको **रूपमाला**-सौन्दर्यकी परम्परा कहता हूँ। और उनसे सुसज्जित संसारकी शोभा कहता हूँ। अथवा जयकुमारका चित्त **कलापक**-कलाप नामक

यतः संस्कृतस्यालङ्कृतस्य जगतो विश्वस्य शोभां संवदामि। यद्वा जयस्वान्तं हि कलापकं नाम व्याकरणं जये विजयकरणे शास्त्रार्थविषये स्वान्तं चित्तं भवति येन तत्संवदामि ! सुलोचनां च रूपमालां नाम तस्य प्रक्रियां शोभनं लोचन निरीक्षण पठनं पाठनं वा यस्यास्तां संवदामि यतो हि कृत्वा संस्कृतस्य जगतो देववाणी नाम संसारस्य शोभां सवदामि। दीपकः श्लेषश्चालंकारः ॥८६॥

सुमनस्सु वसन्तं च पवित्रं प्रतिजानेऽत्र जयं गुणिमित्रम्।
सा रम्भाप्सरस्सु सदपघना सम्बभूव परमब्जलोचना ॥८७॥

सुमनस्स्वित्यादि—अत्राहं गुणिनां गुणवतां मित्रं सुहृदमत एव पवित्रं निर्मलहृदयं जयं नाम नरनाथं सुमनस्सु पुनीतचित्तेषु जनेषु वसन्तं निवसन्तं यद्वा सुमनस्सु कुसुमेषु विषमे वसन्तं नामर्तुं प्रतिजानेऽथवा सुमनस्सु देवेषु चेति। अप्सरस्सु स्वर्गवेश्यासु सा रम्भा नाम यद्वाप्सरस्सु जलपूर्णसरस्सु आरम्भेण सहिता सारम्भा, सन्तः समीचीना अपघना अवयवा यस्यास्सा, यद्वा घनवर्जिता मेघरहिता, अब्जवल्लोचने यस्याः, यद्वाब्जान्येव लोचनानि यस्या एवभूता शरदिव बभूव। स वसन्तसमः सा च शरत्समेति यावत् ॥८७॥

तत्पादपद्माग्रलगत्परागिणी सासीत्तु सन्ध्येव सहानुरागिणी।
विश्वैकभानोरुत सुप्तशायिनो पूर्वं प्रबुद्धेति किन्नानुयायिनी ॥८८॥

व्याकरण है और सुलोचना उसकी **रूपमाला** नामक प्रक्रिया है तथा ये दोनों ग्रन्थ सस्कृत समारकी शोभारूप हैं, अर्थात् संस्कृत साहित्यकी शोभा बढाने वाले है। यतश्च **जयस्वान्तं**-शास्त्रार्थमे विजयी होनेके लिये जिसका मन होता है, वह कलाप व्याकरणको पढता है तथा रूपमाला प्रक्रियाका सुलोचन-अच्छी तरह लोचन-पठन पाठन होता है, अत. दोनो ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं ॥८६॥

अर्थ—गुणी जनोके मित्र अत एव पवित्र जयकुमारको मैं **सुमनस्सु**-अच्छे हृदय वाले मनुष्यो अथवा देवोमे **वसन्त**-निवास करने वाला मानता हूँ अथवा सुमनस्सु-पुष्पोके विषयमे **वसन्तं**-वसन्त ऋतुरूप मानता हूँ और वह सुलोचना **अप्सरस्सु**-अप्सराओंमे रम्भा नामक अप्सरा थी अथवा जलपूर्ण सरोवरोंके आरम्भ-निर्माणसे सहित थी, **सदपघना**-समीचीन अवयवोंसे सहित थी और **अब्जलोचना**-कमलके समान नेत्रो वाली थी अथवा **अपघना**-मेघरहित और **अब्जलोचना**-कमलरूपी नेत्रोसे सहित शरद् ऋतु रूप थी। ऐसा मैं जानता हूँ ॥८७॥

तत्पादेत्यादि—विश्वस्मिन्नेको भानुः सूर्य इव यस्तस्य विश्वैकभानोर्जयकुमारस्य सन्ध्येव सदानुरागिणी यथा सन्ध्या रागवती भवति तथा सा प्रीतिमती। तस्य जयस्य पादावेव पद्मे तयोरग्रे लगन् यः पराग स यस्या अस्तीति भूत्वा तस्मिन् सुप्ते सति शायिनी शयनकर्त्री तस्मात् पूर्वं पुन प्रबुद्धा सती किल तस्यानुयायिनी अनुसरणकर्त्री बभूव किल ॥८८॥

जयः समुद्रः समुदायिभावार्दियं घटोघ्नी गुणसम्पदा वा ।
मयान्वयाचारितया च वारिप्रचारिताप्यत्र रयादधारि ॥८९॥

जय इत्यादि—समुदायो यस्मास्तीति समुदायी तस्य भावात् जयो मुद्रया सहितः समुद्रो यद्वा शोभनस्योदकस्यायो यस्यास्तीति तस्य भावात् समुद्रो वारिधिः। इयं सुलोचना घटवत्पृथुलाकारौ ऊधसौ स्तनौ यस्याः सा घटोघ्नी गुणानां शीलादीनां च सम्पदा च यस्याः सा, अत्रापि पुनर्मया कविना भूरामलेनान्वयाचारितयानुकूलाचरणकारितया कृत्वा वारिप्रचारिता तयोश्चरित्रसंघटनरूपप्रचारकारिताऽधारि स्वीकृता। अथवा समुद्रं घटसद्भावं गुणं चेति समवायिकारणमासाद्य वारिप्रचारिता वा स्वीकृता ॥८९॥

जयः कराशी राजितो वारोचितात्र सापि ।
कविताश्रयदोहानयेऽघस्य श्रमो ममापि ॥९०॥

जय इत्यादि—जयो नाम चरितनायको राजा, स करस्य नाम पृथिव्याः षष्ठांशस्याशीर्यस्य स कराशी राजित शोभितोऽभूत्। अत्र पुन. सापि सुलोचना नाम वारा नवयौवने-

---

अर्थ—जयकुमार समस्त संसारके अद्वितीय सूर्य रूप थे और सुलोचना **सदानुरागिणी**–सदा लालिमासे सहित (पक्षमे सदा प्रेमसे सहित) सन्ध्या थी अथवा उनके चरण कमलोके अग्रभागमे लगी पराग रूप थी। वह जयकुमारके सोनेके पश्चात् सोती थी और उठनेके पूर्व जागती थी, इस तरह वह सदा अनुगामिनी रहती थी ॥८८॥

अर्थ—समुदायिभावात्–समुदायसे युक्त होनेके कारण अथवा समीचीन उदक–जलकी आयरूप होनेसे जयकुमार समुद्र थे और घटके समान उन्नत स्तनोको धारण करनेवाली सुलोचना शीलादि गुणोकी सम्पदा थी, अतः अनुकूल आचरण करने वाले इन दोनोका मैने चरित्र चित्रण किया है। अथवा जयकुमार समुद्र थे और सुलोचना स्तनरूप घटो तथा शीलादि गुणरूपी गुण रज्जुसे सहित थी, अत. मैने वारिप्रचारिता–पानीमे संचार करना स्वीकृत किया ॥८९॥

अर्थ—इस जगत्मे जयकुमार कराशीः–टेक्सकी आशा रखते हुए सुशोभित थे और वह बाला सुलोचना भी उचित थी अथवा नवयौवनवती होनेसे

त्युचितैव वा रोचिता रुचिकर्त्री यद्वा जय. कस्य जलस्य राशिः सा च वारोचिता जलोचितेति सम्बध्यते। ममापि पुन. कस्य विः पक्षी तस्य भावो कविता तस्याश्रयदो मम श्रमोऽघस्य हानये। किञ्च, कवितायाः आश्रयो दोहा नामच्छन्दसो नयो नीतिस्तस्मिन् यस्य शाब्दस्य श्रमो ममापि। श्लेषो मुद्रालङ्कारश्च ॥९०॥

मिथुनमिति भवत्प्रणयमुत्सवस्थले घृतसितावदवगतहितम् ।
प्रतिपद्य विभवममुकस्य पुनर्नयामि कथने प्रणवमुत च नः ॥९१॥

मिथुनमित्यादि—मिथुनं स्त्रीपुरुषयोर्युगलमित्येव पूर्वोक्तरीत्या भवति प्रणयो यस्य तदिति भवत्प्रणय तदेतदुत्सवस्य स्थले घृतं च सिता च घृतसिते तद्वदवगत हितं परस्परस्य सम्बन्धन यत्र तत् प्रतिपद्य ज्ञात्वा पुनरमुकस्य मिथुनस्य विभवं सम्पद्भावमथ च नोऽस्माकं कथने कथामुखे प्रणवमोंकारमिव नयामि। एतद्वृत्त चक्रबन्धे लिखित्वा पुनः प्रत्यराग्राक्षरैर्मिथ. प्रवतनमिति सम्भवति ॥९१॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
निर्याति द्वयधिकोऽपि विंशतितमः सर्गोऽत्र भो सज्जन !
श्रीवीरोदयसोदरे शुभतमः शर्मैकसंसाधनः ॥९२॥

रोचिता—रुचिको उत्पन्न करने वाली थी। कविताश्रयदः—कविताके आश्रयको देने वाला मेरा श्रम—परिश्रम भी अघस्य हानये—पापकी हानिके लिये हो। अथवा जयकुमार कराशि—जलकी राशि समुद्रके और वह सुलोचना वारोचिता—जलसमूहमे अभ्यस्त थी तथा मेरा श्रम भी कविताश्रयद.—जलपक्षीको आश्रय देने वाला है। अथवा कविताके आधारभूत दोहा छन्दको लानेमे मेरा भी शाब्दिक श्रम हुआ है ॥९०॥

अर्थ—इस प्रकार यह सुलोचना और जयकुमारका युगल परस्पर होने वाले प्रणय—स्नेहसे सहित था तथा उत्सव स्थल पर उसका मिलन घी और शक्करके मिलनके समान हितकारी था। यह ज्ञात कर अपने कथामुखमे उनके वैभवको मैं ओकार पद प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् उसके वैभवका वर्णन किया जाता है ॥९१॥

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते
जयोदयमहाकाव्ये द्वाविंशतितमः सर्गः ॥

●

त्रयोविंशतितमः सर्गः

समर्प्य राज्यं विजयाय नाकुलोऽनुजाय चामुत्र हितान्वितान्तरः ।
प्रजाप्रियोपायपरः प्रियाश्रयानुतर्षहर्षेण सुखी व्यराजत ॥१॥

समर्प्येत्यादि—स जयकुमारोऽमुत्र परलोकार्थं हितेनान्वितमन्तर्भवमान्तरमिङ्गितं यस्य स तथा प्रजायाः प्रियो हितकरो यः कोऽप्युपायस्तस्मिन् परः संलग्नो विजयाय नामानुजाय लघुभ्रात्रे राज्यं समर्प्य नाकुलो व्याकुलतारहितो भवन् केवलं प्रिया सुलोचनेवाश्रयो यस्यैतादृशोऽनुतर्षोऽभिलाषो यत्रेदृशेन हर्षेण व्यराजत सुखी ॥१॥

भयापहारिण्यमुकस्य शासने बभावपीयं प्रभयान्विता प्रजा ।
अनारतं नीतिबलप्रचारकेऽप्यनीतिभावः प्रसृतोऽभवत्क्षितौ ॥२॥

भयेत्यादि—अमुकस्य जयकुमारस्य शासने भयस्यापहारिणि नाशकेऽपि प्रजा प्रभयेन घोरातङ्केनान्विता युक्ता बभाविति विरोधस्तस्य परिहारः प्रभया शोभयान्विता बभाविति । तथानारत निरन्तर नीतिबलस्य प्रचारकेऽमुकस्य शासने क्षितौ भुवि किलानीतेरन्यायस्य भाव. प्रसृत प्रचलितोऽभवदिति विरोधस्तस्य परिहारोऽतिवृष्ट्यादिभावस्याभावोऽभूदिति । विरोधाभासोऽलंकारः ॥२॥

अर्थ—तदनन्तर जिनका अन्तरङ्ग पारलौकिक हितसे सहित है, जो प्रजाके हितकारी उपायो–कार्योमे सलग्न है तथा विजय नामक छोटे भाईके लिये राज्य सौंपकर निराकुल हुए है, ऐसे जयकुमार मात्र प्रिया–सुलोचना सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त हर्षसे सुखो होते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥१॥

अर्थ—राजा जयकुमारका शासन यद्यपि **भयापहारी**–भयको नष्ट करनेवाला था फिर भी उसमे प्रजा **प्रभयान्विता**–प्रकृष्ट बहुत भारीसे सहित थी यह विरोध है परिहार पक्षमे **प्रभयान्विता**–प्रकृष्ट–भा–कान्तिसे सहित थी। इसी प्रकार उनका शासन यद्यपि निरन्तर नीतिबलका प्रचारका था तथापि उसमे पृथिवीपर **अनीतिभाव**–फैला हुआ था। यह विरोध है परिहार पक्षमें **अनीतिभाव**–अतिवृष्टि आदि [1]ईतियोंका अभाव विद्यमान था ॥२॥

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिमूषका. शलभा शुका. ।
प्रत्यासन्नाश्च राजान षडेता ईतयः स्मृता ॥

अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा भृशं विचारदृग् चारदृगप्यवर्तत ।
न सन्निधौ मग्नमनाश्च सन्निधिप्रियश्च सवेगधरोऽपि वेगजित् ॥३॥

अमित्रजिदित्यादि—स ओजसा स्वतेजसाऽमित्रजित् शत्रुपरिहारको.सावेव.मित्रजिद-पीति विरोधस्तस्य परिहारो मित्रं[1] सूर्यमपि जितवानिति । चारा गुप्तचरा एव दृग्दृष्टि-रवलोकनकर्त्री यस्य सोऽपि विचारदृक् चारदृशा विहीन इति विरोधस्तस्य परिहारो विचारः पूर्वापरपरामर्शोऽपि दृग्यस्य सः । सन्निधौ समीचीनेऽपि निधौ कौस्तुभादौ न मग्नं मनो यस्य सोऽपि सन्निधिप्रियो निधिषु प्रीतिकर इति विरोधस्तस्य परिहार सन् साधुपुरुष एव निधिः स एव प्रियो यस्येति । वेगान् मानसिकशारीरिकोपद्रवान् जयतीति वेगजिदपि सवेगधरः सुष्ठु वेगयुक्त इति विरोधस्तस्य परिहारः संवेगं धर्मानुराग धरतीति स । विरोधाभासोऽ-लंकारः ॥३॥

गिरं विचारेण गिरा श्रियं श्रिया सुलोचनामात्मवशं नयन्नयम् ।
मिथः प्रतिष्ठाप्रदया दयाश्रयस्त्रिवर्गशक्त्या स रराज राजघः ॥४॥

गिरमित्यादि—राज्ञ एव समर्थानेवानीतिवर्तिनो हन्तीति राजघ , स गिर वाणीं विचारेणात्मवशं नयन् विचारपूर्वक वदन्, गिरा वाचा श्रिय श्रिया शोभया च सुलोचना-मात्मवश नयन्नयं दयाया आश्रयो भवन् मिथः परस्पर प्रतिष्ठाप्रदया अन्योन्यान् वीक्षा-

---

अर्थ—राजा जयकुमार अपने तेजसे **मित्रजित्**–सूर्यको जीतने वाले होकर भी **अमित्रजित्**–सूर्यको जीतनेवाले नही थे (परिहार पक्षमे **अमित्रजित्**–शत्रुओ-को जीतने वाले थे) । **चारदृक्**-गुप्तचर रूप दृष्टिसे सहित होकर भी **विचारदृक्**–चाररूप दृष्टिसे रहित थे (परिहार पक्षमे **विचारदृक्**–पूर्वापर विचाररूप दृष्टिसे सहित थे) **सन्निधौ न मग्नमनाः**–समीचीन निधियोमे यद्यपि मग्नहृदय नही थे तथापि **सन्निधिप्रिय**–समीचीन निधियोसे प्रीति करनेवाले थे । (परिहार पक्षमे **सन्निधिप्रियः**–सज्जनरूप निधिसे प्रीति करनेवाले थे) और **वेगजित्**–शारीरिक एव मानसिक उपद्रवोको जीतनेवाले होकर भी **सवेगधर**–अच्छी तरह वेगको धारण करने वाले थे (परिहार पक्षमे **सवेग**–धर्मानुरागको धारण करने वाले थे) ॥३॥

अर्थ—राजघ–अनीतिकारक शक्तिसंपन्न राजाओको नष्ट करनेवाले (अथवा राजाधिराज) तथा दयाके आधारभूत जयकुमार विचारसे वाणीको,

---

१ 'मित्र सख्यौ रवौ पुमान्' इति विश्वलोचन ।

कारिण्या त्रिवर्गशक्त्या धर्मार्थकामविभूत्या रराजेत्यनुप्रासोऽलंकार । अथवा राजध इत्यस्य स्थाने राजराडिति पाठः, राजाधिराज इति तदर्थः ॥४॥

मुखारविन्दे शुचिहासकेशरेऽलिवत् स मुग्धो मधुरे मृगीदृशः ।
प्रसन्नयोः पादसरोजयोर्दृशं निधाय पद्मापि जयस्य सम्बभौ ॥५॥

मुखारविन्द इत्यादि—स जयकुमारो मृगीदृशः सुलोचनायाः शुचिहास एव केशरो यत्र तस्मिन् मधुरे सुन्दरे मधुयुक्ते च मुखारविन्दे वक्त्रपद्मेऽलिवद् भ्रमर इव मुग्धः संलीन सम्बभौ । पद्मा सुलोचनापि जयस्य स्व-स्वामिन पादसरोजयो प्रसन्नयोर्दृशं स्वां दृष्टि निधाय बभौ रराज ॥५॥

साकल्यभाजा हविषा नतभ्रुवो रतीशयज्ञे सुरतीर्थनायकः ।
निजानि पञ्चायतनानि तर्पयन्नवाप पापं न मनागनाकुलः ॥६॥

साकल्येत्यादि—सुरतीर्थस्य हस्ति पुरस्य नायको जयकुमारः स नतभ्रुव सुलोचनाया सकलस्य कलापूर्णस्य भाव. साकल्यं तद्भजतीसि साकल्यभाक् तेन साकल्यभाजा हविषा सौन्दर्येण साकल्य च हव्यवस्तु तद्भाजा हविषा घृतेन सपन्ने रतीशयज्ञे काममखे निजानि पञ्चायतनानि देवापरनामानोन्द्रियाणि तर्पयन्नपि किलानाकुलो व्यग्रताविहीनः सन् मनागपि पाप नावापेति । अत्र छन्दसः प्रथमचरणे किलादौ दीर्घस्वरता ज्ञात्वैव कृता श्लेषनिर्वाहार्थम् ॥६॥

वाणीसे लक्ष्मीको और श्री–शोभासे सुलोचनाको अपने वश करते हुए परस्पर सापेक्ष त्रिवर्ग शक्तिसे सुशोभित हो रहे थे ॥४॥

अर्थ—वह जयकुमार मृगनयनी सुलोचनाके उज्ज्वल हासरूपी केशरसे युक्त सुन्दर मुखकमल पर भ्रमरके समान मुग्ध–अनुरागी होते हुए सुशोभित हो रहे थे और सुलोचना उनके प्रसन्न चरण कमलोमे अपनी दृष्टि लगा कर शोभायमान हो रही थी ॥५॥

अर्थ—हस्तिनागपुरके राजा जयकुमार सुलोचनाके **साकल्यभाजा हविषा**–पूर्णताको प्राप्त सौन्दर्यके द्वारा (अथवा हव्य सामग्रीसे युक्त घीके द्वारा) सम्पन्न काम यज्ञमे अपनी पाँच इन्द्रिय रूप देवोंको सतृप्त करते हुए **अनाकुलः**–अनासक्तिके कारण कुछ भी पापको प्राप्त नही हुए थे ॥६॥

---

१. 'नतभ्रुव ' इत्यपि पाठ ।

सुलोचना कान्तिसुधासरोवरी रसैरमुष्याःपरिणामकोमलैः ।
वहन् बभावङ्कुरितां वपुर्लतां सदैव मुक्ताफलतान्वितां जयः ॥७॥

सुलोचनेत्यादि—या किल सुलोचना सा कान्तिरूपसुधाया सरोवरीत्यमुष्याः परिणामकोमलैः सहजतरलैः रसैः सौन्दर्याविभिर्हेतुभूतैरङ्कुरिता रोमाञ्चितां पक्षे प्रभवयुक्तां तथा मुक्ता त्यक्ताऽफलता निष्फलता तयान्विता युक्ताऽथवा सात्त्विकप्रस्वेदैर्मुक्ताफलतयापि मौक्तिकभावेनाप्यन्विता वपुर्लता शरीरवल्लीं वहन् सदैव बभौ रराज जयो नाम नृपः ॥७॥

वधूमुखेन्दोः स्मितचन्द्रिकाचयैर्जयस्य नक्तं च दिवा च भूपतेः ।
स्वयं प्रजायाः कुशलानुचिन्तनैर्बभूव तावत् समयः समन्वयः ॥८॥

वधूमुखेत्यादि—जयस्य भूपतेः समयस्तावद् वध्वाः सुलोचनाया मुखमेवेन्दुस्तस्य स्मितानि हसितान्येव चन्द्रिकाचयास्तैस्तथा नक्तं च दिवा च स्वयं प्रजाया कुशलस्यानुचिन्तने समन्वय सार्थक एव बभूव ॥८॥

महामनाः सौधशिरोऽधिरोहितो हितोऽभितो यौवतसेवितः स्वतः ।
प्रजाजनानां स जयो दयोज्ज्वलः सुखेन तत्राथ रराज राजघः ॥९॥

महामना इत्यादि—अथ राजघो राजसु श्रेष्ठो महामना विचारशीलो दयया प्राणिमात्रस्योपरि करुणयोज्ज्वलः प्रजाजनानां हितः सुखसम्पादकः स सौधशिरोधिरोहितः प्रासा-

---

अर्थ—सुलोचना कान्तिरूपी अमृतकी सरोवरी थी। उसके सहज कोमल रससे अङ्कुरित–पुलकित अथवा स्वेदबिन्दुओंसे सहित होनेके कारण मुक्ताफलोंसे सहितके समान दिखनेवाली शरीरलताको धारण करते हुए जयकुमार सुशोभित हो रहे थे।

भावार्थ—सुलोचनाका सौन्दर्य देखकर जयकुमारके शरीरमे सात्त्विक भावके कारण रोमाञ्च अथवा स्वेद बिन्दुएँ झलकने लगती थी। उनसे वह ऐसा जान पडता था कि उसने असफलता–निष्फलताको छोड़कर सार्थकता प्राप्त की है अथवा मुक्ताफल–मोती ही धारण किये हैं ॥७॥

अर्थ—राजा जयकुमारका समय सुलोचनाके मुखरूपी चन्द्रमाकी मुसकान रूपी चाँदनीके समूहसे तथा रात-दिन स्वयं प्रजा का हित चिन्तन करनेसे सार्थक हुआ था ॥८॥

अर्थ—तदनन्तर किसी समय महामनस्वी, प्रजाजनोंके हितमे संलग्न, दया-

तस्योपरि सम्प्रापितस्तत्र स्वत एव यौवतेन युवतीनां समूहेन सेवितोऽभित परिवारितस्सन् सुखेन रराज जयो नाम जयकुमार. ॥९॥

नभःसदां तं विचरन्तमुज्ज्वलं विहायसा व्योमरथं विलोकयन् ।
प्रभावतीत्युक्तवचा विचक्षणो मुमूर्च्छ जातिस्मरणं जयो व्रजन् ॥१०॥

नभःसदामित्यादि—जयस्तत्र विहायसा गमनमार्गेण विचरन्तं नभःसदां खेचराणां व्योमरथं विमानं विलोकयन् स विचक्षणो विचारशील: प्रभावतीत्युक्त वचो वचन येन स जातिस्मरण पूर्वजन्मनः स्मरणं व्रजन् सन् मुमूर्च्छ मूर्च्छामिवाप ॥१०॥

जयोऽथ जातिस्मृतिमेव तां प्रियामलब्धपूर्वामिव सुन्दरीं श्रिया ।
उपेत्य रन्तुं परदाभिदां ह्रिया बभार मूर्च्छामपि चावृतिक्रियाम् ॥११॥

जय इत्यादि—अथ जयस्स राजाऽलब्धपूर्वा प्राक्कदाप्यनुपलब्धां श्रिया चालौकिकानन्दरूपया सुन्दरी मनोहरामत एव प्रियां तां जातिस्मृतिमेवोपेत्य सम्प्राप्य रन्तुमिव च रमणेच्छुरिव किल ह्रिया त्रपया परदाभिदां यवनिकारूपां मूर्च्छां नामावृतिक्रियामपि बभार स्वीचकारेत्युत्प्रेक्षालंकार ॥११॥

सुदृक्सदृक्षीं युवतिं ह्युपेयुषः क्व मादृशी वृद्धतरेत्यहो रुषः ।
स्थलं न वा स्यादिति वासनावशास्त्वनन्यचेता भुवमालिलिङ्ग सः ॥१२॥

सुदृगित्यादि—स जयकुमारः सुदृशः सुलोचनाया सदृक्षीं तुल्यां युवतिमुपेयुषो लब्धवतो नृपस्य मादृशी वृद्धतरा विशालभावं प्राप्ता सैव स्थविरता मिता क्व गणनाया-

---

से उज्ज्वल और स्त्रीसमूहसे घिरे हुए श्रेष्ठ राजा जयकुमार महलकी छत पर बैठे हुए सुखसे शोभायमान हो रहे थे ॥९॥

अर्थ—विचारशील जयकुमार वहाँ आकाश मार्गसे जाते हुए विद्याधरोके विमानको देखकर जातिस्मरणको प्राप्त हुए तथा 'प्रभावती' यह वचन कह कर मूर्च्छित हो गये ॥१०॥

अर्थ—जयकुमारने जाति-स्मृतिको क्या प्राप्त किया था, मानो अलब्धपूर्व सुन्दरी ही प्राप्त की थी। उसे पाकर रमण करनेके लिये मानो लज्जावश परदा रूप मूर्च्छाको स्वीकृत किया था।

भावार्थ—यहाँ कविने जाति-स्मृतिमे सुन्दरीकी तथा मूर्च्छामे पर्दाकी उत्प्रेक्षाकी है ॥११॥

अर्थ—जयकुमार मूर्च्छित होकर पृथिवी पर जा पड़े, इस सदर्भमे कविने उत्प्रेक्षाकी है कि जयकुमारने विचार किया कि मेरी दो स्त्रियाँ है—एक

मित्यहो रुचःस्थल बोधाधारो न स्याद्भुवेविति वासनाया वश एव तु किलानन्यचेतास्तदेक-मनस्को भवन् भुवमालिलिङ्गेत्युत्प्रेक्षालकारः ॥१२॥

स्रवद्द्रवेण स्थपुटेन चोरसः कृतेन लोकैर्मलयोद्भवैधसः ।
नृपस्य सन्तापमिवासहिष्णुना विभिन्नमाराच्छतशोऽमुनाधुना ॥१३॥

स्रवद्द्रवेणेत्यादि—तत्र लोकैः परिचारकैर्मलयोद्भवैधसश्चन्दनकाष्ठस्य स्रवता प्रसरता द्रवेण स्थपुटेन सघननेन नृपस्योरसो हृदयस्य मध्ये कृतेनामुनाधुना तत्रत्यसताप-मसहिष्णुनेव किलाराच्छीघ्रमेव शतशो विभिन्न विच्छिन्नत्वमङ्गीकृतमभूदित्युत्प्रेक्षा-लंकारः ॥१३॥

किमेतदेतत्प्रतिबोधनत्वरा सुयष्टिवत्सम्पततोऽस्य सन्धरा ।
बभूव चित्तस्य गरुत्मतो जवे जनेषु सैवोद्गमनैकहेतवे ॥१४॥

किमेतदित्यादि—तत्र जनेषु परिचारकलोकेषु किलैतत्किं जातमेतत्किं जातमिति यास्य प्रतिबोधनाय त्वरा शीघ्रता सास्य सम्पततो निपात गच्छत सुयष्टिवत् सन्धराऽव-धारणकारिणी बभूव । सैवास्य चित्तस्य गरुत्मतः पक्षिणो जवे वेगे गमनैकहेतवे प्रत्युत शीघ्रगमनकारणाय बभूव ॥१४॥

सुलोचना और दूसरी पृथिवी । मै सदा सुलोचनाके साथ रहता हूँ, अत पृथिवीके मनमे क्रोध उत्पन्न हो गया कि सुलोचना जैसी युवतीको पाकर मुझ जैसी वृद्धा–विशाल (पक्षमे वृद्धावस्थाको प्राप्त) को भूल ही गये है, उसके सामने मेरी क्या गिनती है ? इस तरह सान्त्वना देनेके लिये उन्होने कुपित पृथिवी रूप स्त्रीका अनन्य मन होकर मानो आलिङ्गन किया था ॥१२॥

अर्थ—वहाँ परिचारक लोगोके द्वारा राजाके हृदय स्थल पर चन्दनकी लकडीका पतला एव गाढा-गाढा जो लेप लगाया था वह उनके सतापको मानों सहन नही कर सकता था, इसलिये उसने शीघ्र ही उस समय सतापको शतशः छिन्न भिन्न कर दिया था ॥१३॥

अर्थ—परिचारक लोगोमे 'यह क्या है ? यह क्या है ?' इस तरह जाननेकी जो त्वरा–शीघ्रता थी वह पडते हुए राजाको अवलम्बन देने वाली लाठीके समान थी, अर्थात् परिचारक लोगोकी तत्परताने राजाको नीचे नही पडने दिया परन्तु परिचारक लोगोको त्वरारूप लाठीसे इस राजाके चित्तरूपी पक्षीको वेगसे उडानेमे कारण हो गई, अर्थात् राजाको नीचे पडनेसे तो रोका जा सका पर उनके चित्तकी चेतनाको नही रोका जा सका ।

शरीरमेतत्तमसो दरी पुनरगाच्च गां व्युत्थितवर्तिवेश्मनः ।
ततस्य धूमा इव कुन्तलाश्चला विरेजुरेतस्य विभोर्मरुद्बलात् ॥१५॥

शरीरमित्यादि—तदा किलैतस्य विभोर्जयकुमारस्यैतच्छरीरं पुनस्तमसोऽन्धकारस्य दरी गुहा भूत्वा व्युत्थितानन्विता वर्तिर्दशा यत्र तस्य वेश्मनो गां वाचमगाज्जगाम । पुनरेतस्य मरुद्बलाद्वायुवेगाद्येतोश्चला. चञ्चला. कुन्तलाः केशास्ते ततो वर्तिनन्वनावुत्था प्रादुर्भूतिर्येषां ते च ते धूमाश्च विरेजु । उत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

करं क्व यासीति तु कोऽप्यधावरं स्वरौ व्रजत्प्राणरुरुत्सया परः ।
किमागसा रुष्टमियत्पदौ पुनरिति स्म सम्मर्दयतीतरो जनः ॥१६॥

करमित्यादि–तत्र तेषु परिचारकेषु जनेषु कोऽप्येकस्त्वं क्व यासीति किलारं शीघ्रं तस्य जयस्य कर हस्तमधाद्धार । परः पुनरस्य व्रजतो निर्गच्छत प्राणान् रोद्धुमिच्छा रुरुत्सा तया स्वरौ नासाविवरद्वयमधात् । पुनरितरो जन. किमागसा केनापराधेनेयत्किलैतावृग् रुष्ट रोष कृत , इतीव तस्य नृपस्य पदौ चरणौ सम्मर्दयति स्म चरणसंवाहनं चकारेत्युत्प्रेक्षालकार ॥१६॥

मदेकनाम्नोऽपि विधो रुचानिधेर्दशा सुशोच्येयमहो ह्यशाद्विधेः ।
द्रवीभवंस्तत्परिचेतुमागतः किलाब्दसारः परिवारितावृतः ॥१७॥

मदेकेत्यादि—अब्दसारः कर्पूर. स किल मदेकनाम्ने मम तुल्यसंज्ञस्य विधोश्चन्द्रमसस्तस्य रुचां कान्तीनां निधेरस्य भूपस्याहो विधेर्वशाद्वियं सुशोच्या दशाऽभूदिति विचार्यैव

भावार्थ—गिरते हुए मनुष्यको लाठी गिरने नही देती, परन्तु पक्षी उसे देखकर भयसे शीघ्र उड जाते है ॥१४॥

अर्थ—उस समय राजा जयकुमारका शरीर अन्धकार की गुफा होकर बुझते हुए दीपककी अवस्थाको प्राप्त हो रहा था और वायुके जोरसे इनके जो केश चञ्चल हो रहे थे वे मानो उस दीपकके धूम ही थे ॥१५॥

अर्थ—उन परिचारक जनोमे किसीने 'कहाँ जाते है ?' यह कहकर शीघ्र ही राजाका हाथ पकडा, किसीने जाते हुए प्राणोंको रोकनेकी इच्छासे नासिकाके दोनो स्वरोको—नासाविवरोको पकडा और किसीने किस अपराधसे इतना रोष कर रहे हैं यह कह कर पादमर्दन किया ॥१६॥

अर्थ—मेरे समान नाम वाले चन्द्रमा और कान्तिके निधिभूत इस राजाकी भी भाग्यके वशमे यह शोचनीय अवस्था हुई है, इस प्रकार करुणासे द्रवीभूत होता हुआ अब्दसार—कर्पूर अपने चन्दन आदि परिवारसे युक्त हो परिचय प्राप्त

द्रवीभवन् सन् आर्द्रतां गच्छन् अपि च दयालुतामूरीकुर्वन्नपि च परिवारितया चन्दनादि-कुटुम्बवत्तया वृतो युक्तोभवन् परिचेतुमागतस्तस्य शरीरे लग्नो बभूवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१७॥

इहैव जातिस्मृतिमाश्रिता मतिपरावृति प्राप सुलोचना सती ।
विलोक्य पारावतजम्पती रतीत्युपांशु लात्वा वरनाम सम्प्रति ॥१८॥

इहैवेत्यादि—इहैवावसरे सती सुलोचनापि पारावतजम्पती कपोतयोर्मिथुन विलोक्य रतीत्येवनुपांशु विशेषण यस्य तद्वरनाम लात्वा जातिस्मृति पूर्वजन्मनः स्मरणमाश्रिता । सती मतिपरावृति प्राप सम्मूर्च्छिता बभूव सम्प्रति तत्कालम् ॥१८॥

अभूत् सभाया मनसोऽतिकम्पकृत्तदत्र कष्टेऽप्यतिकष्टमिष्टहृत् ।
यथैव कुष्ठे खलु पामयाऽजनि अहो दुरन्ता भवसभवावनिः ॥१९॥

अभूदित्यादि—तदेतद् वृत्तं यदिष्टहृत् किलाभीष्टस्य विनाशकृदत्र कष्टेऽप्यतिकष्ट-मत एव सभायास्तत्रस्थप्रजाया मनसोऽतिकम्पकृदत्यन्तविच्छेदकारि अभूद्यथा खलु कुष्ठे रोगे पामयाऽजनि जातम् । अहो भवसम्भवाऽसाववनिर्दुरन्ता दु खेनावाप्तु योग्यास्ति । अर्थान्तरन्यास ॥१९॥

अभूत् सतामेवमधीरता ह्रिया विचार्यतामेव पुनः प्रतिक्रिया ।
कुतो विपत्तेस्तरणं भवेद्ध्रियाऽत्र तन्नियुक्ता जनताऽगदश्रियाम् ॥२०॥

अभूदित्यादि—ह्रिया विवशताजम्ययाऽथ पुन. प्रतिक्रिया विचार्यतामेव कुत उपा-

---

करनेके लिये आया था।

भावार्थ—मूर्च्छा दूर करनेके लिये कर्पूरमिश्रित चन्दनका लेप लगाया गया था ॥१७॥

अर्थ—इसी अवमर पर सती सुलोचना भी कबूतर-कबूतरीका युगल देख कर 'हा रतिवर' ! यह शब्द कह जातिस्मरणको प्राप्त हो मूर्च्छित हो गई ॥१८॥

अर्थ—अभीष्टका हरण करने वाला यह प्रकरण प्रजाजनके मनको कम्पित करता हुआ कष्टमे भारी कष्टके समान हुआ । ऐसा लगा जैसे कोढमे खाज हो गई हो। वास्तवमे जन्मसे सहित यह पृथिवी दुरन्त है—दु.खरूप परिणामसे सहित है, अर्थात् जिसका जन्म होता है उसका वियोग भी होता है ॥१९॥

अर्थ—इस तरह वहाँ विद्यमान मनुष्योमे लज्जाके कारण यद्यपि अधीरता—अव्यवस्थित चित्तता हो रही थी, फिर भी इस विपत्तिसे सतरण किस

स्यादेतस्या विपरीतस्तरणं भवेदित्येवं सतां तत्र विद्यमानानां मध्येऽधीरताऽव्यवस्थितचित्तता-ऽऽसीत्, ततस्तावत्र भिया भयपूर्वकमगदश्रियां भेषजशोभायां जनता नियुक्ता ॥२०॥

अभूत् त्वरा संवरितस्वरायाः प्राणानिवोद्गच्छत उज्ज्वरायाः।
तदाप्तचेतुं परितः प्रवृत्तिः सखीषु सख्यं व्यसनेऽनुवृत्तिः ॥२१॥

अभूत् त्वरेत्यादि—तदोज्ज्वरायाः (उज्ज्वलायाः) निर्मलचारित्राया उद्गतज्वर-रोगायाश्च तस्याः सुलोचनायाः संवरितौ स्वरौ नासाविवरभागौ यस्यास्तस्या अवरुद्ध-निःश्वासाया उद्गच्छतो विनिर्गच्छतः प्राणानवचेतुं संगृहीतुमिव परितः प्रवृत्तिश्चेष्टा यत्र सा त्वरा शीघ्रता सखीषु अभूत्किल, यतो व्यसने निपत्तौ सत्यां तस्यामनुवृत्तिः सहभाव एव सख्यं गीयते। अर्थान्तरन्यासः ॥२१॥

अथात्र तस्यै व्यजनं विनीतं कयाऽप्यसूनर्पयितुं प्रणीतम्।
सन्तापमेका त्वपनेतुमाराद् ददाविदानीं हिमसारधाराम् ॥२२॥

अथेत्यादि—अथात्रेदानीं तस्यै सुलोचनायायसून् प्राणानर्पयितुं विनीतं नम्रता-युतं यथा स्यात्तथा व्यजनं तालवृन्तं प्रणीतं समादत्तमाशु शीघ्रमेव, तथा त्वेकान्या सखी तस्याः सन्तापमपनेतुं दूरीकर्तुमारादेव हिमसारस्य कर्पूरद्रवस्य धारां ददौ। 'व्यजनं तालवृन्तं स्यात्' इत्यमरकोषे ॥२२॥

कयैकिका राजरमेतितन्तुमनोऽनयाऽकारि समन्तु गन्तुम्।
रेभे पुनः प्राणकणानिवान्याऽवचेतुमस्याश्च कचान् वदान्या ॥२३॥

कयैकिकेत्यादि—इयं राजरमा नृपस्य महिषी गच्छति किलैकिका तदयुक्तमिति

उपायसे हो सकता है, इसका क्या प्रतिकार है ? ऐसा विचार करना हो चाहिये। यही विचार कर डरते-डरते औषधोपचारमे जनसमूहको नियुक्त किया गया था ॥२०॥

अर्थ—उस समय उज्ज्वरा-उज्ज्वल अथवा ज्वरसे युक्त सुलोचनाकी परिचर्याके लिये सखियोमे शीघ्रता प्रकट हुई थी। किसीने उसके नासिकाके छिद्रोको रोक लिया था मानो वह निकलते हुए प्राणोको पकडना ही चाहती थी। ठीक है विपत्तिमे साथ रहना ही मित्रता कहलाती है ॥२१॥

अर्थ—तदनन्तर यहाँ उस सुलोचनाको प्राण-वायु देनेके लिये किसी सखीने विनम्र भावसे शीघ्र ही पंखा उठाया और किसीने सताप दूर करनेके लिये कर्पूर रसकी धारा दी ॥२२॥

अर्थ—यह राजलक्ष्मी-पट्टरानी अकेली जा रही है जो अच्छा नही है, ऐसा

तस्तुविचारप्रकारो यस्य तत् तादृग् मनश्चित्तं कयान्ययाऽनया सुलोचनया समं सार्द्धं गमनकारि कृतम्, पुनरन्या वदान्या विचारशीला सखी सास्याः प्राणकणान् विकीर्णान् प्राणानिव कचान् केशानवचेतु सकलयितु रेभे। अनुप्रासोऽलंकार ॥२३॥

त्वया स्मृतः सोऽयमिह प्रशस्तौ येनार्पितौ कुड्मलतोऽत्र हस्तौ।
उरोजयोर्न्यस्तपयोजयोगः स्वचेष्टया निर्वचनोपयोगः ॥२४॥

त्वयेत्यादि—तस्या उरोजयो स्तनयोर्न्यस्तानामर्पितानां पयोजानां पद्मानां योगः समागमः स स्वचेष्टया सकोचात्मिकया निर्वचनेऽभिप्रायस्पष्टीकरणे किलोपयोगो यस्य स आसीत् तद्यत्किल हे भद्रे ! त्वया योऽधुना स्मृतः सोऽय जय एव न कश्चिदन्य इह येनार्पितौ रागरीत्या दत्तौ प्रशस्तौ शोभनौ हस्तौ कुड्मलतो मुकुलतां गच्छत इति ॥२४॥

पयोरुहाली परिपूरिताऽऽली कुलैस्तमालीभवदङ्कपाली।
म्लानं तदीयास्य कुशेशयं सा मुमूर्च्छ मत्वेव समानवंशा ॥२५॥

पयोरुहालीत्यादि—तत्र सुलोचनायाः स्तनयोर्मुखे चाऽऽलीना सखीना कुलै परिपूरिता समर्पिता या पयोरुहाणा पद्मानामाली पङ्क्ति सा तमालीभवति तमाल इवा चरति म्लानता याति अङ्कपाली रेखापरम्परा यस्यास्सा तदीय सुलोचनासम्बन्धि यदास्य मुखमेव कुशेशय कमल म्लान मत्वा दृष्ट्वेव किल समानवंशा तुल्यकुला यतस्तत सा मुमूर्च्छ शीघ्रमेव शुष्कतामवापेत्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥२५॥

स्फुटेऽपि तत्त्वे तु विमुह्यते मतिर्न दुर्विधानां किमितीष्टसम्मतिः।
मयाऽऽप्यतेऽत्रैव पुनः प्रसज्जनमहोज्वरी क्षीरमियाद्विषं जनः ॥२६॥

विचारकर किसी सखीने इसके साथ जानेके लिये मन किया और किसी विचार-शील सखीने बिखरे हुए प्राणकणोंके समान इसके केशोंको सकलित करना प्रारम्भ किया ॥२३॥

अर्थ—किसी सखीने सुलोचनाके स्तनोंपर विकसित कमल रखे, पर वे सिकुडते हुए अपनी चेष्टासे चुपचाप यह कहने लगे कि हे भद्रे ! तुमने जिसका स्मरण किया है यह वही जयकुमार है। इन स्तनोंपर रखे हुए जिसके प्रशस्त हाथ कुड्मलके समान आचरण कर रहे हैं ॥२४॥

अर्थ—सखियोंने सुलोचनाके स्तनों और मुखपर जो कमलोंकी पङ्क्ति रखी थी उसका मध्य भाग मुरझाकर तमाल पुष्पके समान काला पड़ गया। उससे ऐसा जान पडता था मानो वह कमलपङ्क्ति सुलोचनाके मुखको म्लान देख तुल्यजातीय होनेसे स्वयं भी मूर्च्छित हो गई थी ॥२५॥

स्फुटेऽपीत्यादि—दुर्विधानां दुरभिमानिनां दुर्भाग्यानां वा मतिः स्फुटे प्रस्पष्टे तत्त्वे विषयेऽपि किमिति न विमुह्यतेऽपि तु यात्येव मोहम्। यथा ज्वरी ज्वरयुक्तो जनः क्षीरं दुग्धमपि विषं कटुकमितीयाद् गच्छेदेवाहो किलाश्चर्यकारीदं वृत्तम्। तत्रैव मयापि च प्रसञ्जनं प्रसङ्ग आप्यते तादृगेवेति ॥२६॥

तदन्यनारीनिकरः करोत्यसौ सहाथ पत्या विनिपातकैतवम्।
परस्पर प्रेमपरावृतीहया हयायमानेति मनस्यतर्कयत् ॥२७॥

तदन्येत्यादि—तस्या सुलोचनाया अन्या या नार्यस्तासां निकरः समूह सपत्नीगणः स किलासौ सुलोचना हयायमाना विपुलकामवासनावती परस्पर पतिपत्न्योः यत्प्रेम तस्य परावृति पुनरावर्तन तस्येहया वाञ्छया प्रेमभङ्गो न स्यादिति विचारेण पत्या सह विनिपातस्य मूर्च्छणरूपस्य कैतवं छद्म करोतीति मनसि स्वचेतस्यतर्कयद् विचारयामास। अनुप्रासोऽत्रापि ॥२७॥

बाल्ये लौल्यवशाच्च यत्सहकृतं केनापि संवेशिना
तन्नामस्खलनैकधाम दुरितं संगाढसंदेशिना।
तस्यैवा छदिरेवमापविगतिर्धौर्त्येन क्लृप्ता रयात्
सच्छद्मन एव यौवतमिदं संघोषयन्त्यानया ॥२८॥

बाल्य इत्यादि—किंवा केनापि संगाढसंदेशिना सुदृढसंदेशकारिणा सवेशिना सुन्दराकारधारिणा सह बाल्ये कौमारे लौल्यं चापल्यं तस्य वशाद्यत्कृतमनया चेष्टितं तस्य नामस्खलनमनिच्छया नामनिरुक्तिस्तदेकं धाम यस्य तद्दुरितं दुराचरणं यत्तस्यैव-

---

अर्थ—दुरभिमानी अथवा जिनको भवितव्यता अच्छी नहीं है ऐसे मनुष्योंकी बुद्धि स्पष्ट तत्त्वके विषयमे भी क्या विमोहको प्राप्त नहीं होती? जिस प्रकार पित्तज्वर वाला मनुष्य दूधको भी विषके समान कटुक मानता है उसी प्रकार इष्ट जनोंकी समीचीन बुद्धि भी सुभाग्यसे विपरीत अर्थको ग्रहण करती है। आश्चर्य है कि मै भी इसी विमोहमे आसक्तिको प्राप्त हो रहा हूँ ॥२६॥

अर्थ—सुलोचनाके अतिरिक्त जो अन्य स्त्रियों (सपत्नियो) का समूह था उसने मनमें ऐसा विचार किया कि यह सुलोचना तीव्र काम वासनासे सहित है, अतः पारस्परिक प्रेम परिवर्तनकी इच्छासे पतिके साथ मूर्च्छित होनेका छल कर रही है ॥२७॥

अर्थ—सपत्नियोंका समूह मनमे विचार करता है कि इस सुलोचनाने कुमारावस्थामे चपलतावश सुदृढ सन्देश देने वाले किसी सुन्दर पड़ोसीके साथ

षेषा छविः सञ्छादनवृत्तिः, आपदि विपत्तौ सत्यां गतिरुपायो धौर्त्येन धूर्तभावेन रयाच्छो-प्रमेव क्लृप्ता संरचिता। यौवत युवतिवृत्तमिवं छद्मन एव सद्मस्थानमितीदं संघोष-यन्त्या सुलोचनयेति ॥२८॥

बभूव तस्या मनसो रसो धवं प्रतीह यावत्सुभगं पुराभवम् ।
विनिर्ययौ चित्तदनन्यसेविकापि वा तमन्वेष्टुमिवाधिदेविका ॥२९॥

बभूवेत्यादि—एव तस्या सुलोचनाया मनसो रसो विचार इह पुराभव पूर्वजन्म-सम्बन्धिन सुभगं सर्वाङ्गसुन्दरं धव स्वामिनं प्रति बभूव यावत्तावदेव तस्या अनन्यसेविका चिद् बुद्धि. साधिदेविकाधिकारिणीव भूत्वा त स्वामिनमन्वेष्टु विनिर्ययौ। वापीति पादपूरणार्थम् ॥२९॥

चिदुभयोः शुभयोगवशान्नृणां समुदियाय निमज्ज्य समुत्तृणा ।
निभृतमेवमयोनिपयोनिधावथ च कौतुकि कौ तु कियद्विधा ॥३०॥

चिदित्यादि—अथ च निभृतं यथेष्टसमयपर्यन्तमुभयोः पतिपत्न्यो. जयसुलोचन-योश्चिच्चेतनैवमयोनिरभावस्तानिस्तस्या. पयोनिधौ समुद्रे निमज्ज्य ब्रुडित्वा नृणा प्रजाजनाना शुभयोगवशाद् भाग्योदयात् तु पुन कौतुकिनां विनोदवता कौ भूम्या कियद्विधा कतिपयप्रकारा मुदो हर्षस्य तृणेनांशेन सहिना सती सा समुदियाय चेतनतां जग्मतुर्जम्पती किलेति भावः। अनुप्रासोऽलकारः ॥३०॥

जो दुराचार किया था और संस्कारवश विना इच्छाके ही उसका जिसमे नामोच्चारण हो जाता था, उसी दुराचरणको छिपानेके लिये विपत्ति कालमे इसने धृर्ततावश यह मूर्च्छा रूप उपाय रचा है सो ठीक ही है, क्योकि युवतियो की यह चेष्टा मायाचारका घर है, इस बातको आज इसने घोषित किया है ॥२८॥

अर्थ—इस तरह सुलोचनाके मनका विचार जब तक पूर्वभव सम्बन्धी सर्वाङ्ग सुन्दर पतिके प्रति हुआ, तबतक उसकी अनन्यसेविका बुद्धि अधिकारिणी जैसी होकर उसे खोजनेके लिये मानो निकल पडी ॥२९॥

अर्थ—जयकुमार और सुलोचनाकी चेतना इस तरह यथेष्ट समय पर्यन्त अभावरूप समुद्रमे डूबकर प्रजाजनोके पुण्योदयसे हर्षरूप तृणोको लेकर ऊपर आ गई। विनोदी जीवोकी भूमिमे वह चेतना कितने ही प्रकारकी थी, अर्थात् सब लोग विविध प्रकारसे हर्षका अनुभव कर रहे थे ॥३०॥

निजां तनुं स्त्रागभितः सभामनु स तां तमेषा च गुणोल्लसज्जनुः ।
दृशेति तौ साचि गतौ निरीक्षणं न वाचि साचिव्यमवापतुः क्षणम् ।।३१।।

निजामित्यादि—प्रथमं तु तावभितः समन्ततो निजां तनुमनु तत सभामनु ततः स जयस्तामनु एषा सुलोचना च तमनु गुणेनायुर्बलेनोल्लसति प्रभवति जन्म यत्र तद्यथा स्यात्तथा दृशा चक्षुषा साचिनिरीक्षणं तिर्यगवलोकनं गतौ पुनरपि क्षणं वाचि वचनोच्चारणे साचिव्य कौशल नावापतुः ।।३१।।

तदाप विस्वं स तदात्मशुद्धितः श्रुतं च दृष्टं क्व कटाक्षबुद्धित ।
तथा न शास्त्रेष्वपि लभ्यते मनागहो महो भातु सदा सदात्मनाम् ।।३२।।

तदापेत्यादि—तदा स जयकुमारस्तत्सुप्रसिद्धं विस्व बुद्धिमत्त्वमाप, कस्मात्कारणादापेति चेत् ? आत्मनो मनसः शुद्धित एवाप यद्विस्वमक्षबुद्धित इन्द्रियज्ञानेन क्वापि कदापि वा न तु दृष्टं न श्रुतं तथा शास्त्रेष्वपि मनागपि न लभ्यते, तदपूर्वं महः सदात्मनां सम्यङ्मनोवतां सदा भातु अहो स विस्मयः कौ ।।३२।।

स्वभूतजन्मोत्थकथा यथा वरा बभूव चित्रोल्लिखितेव गोचरा ।
यतो बभौ स स्विदगर्भसंभवं भवान्तरं प्राप्त इवाधुना नवम् ।।३३।।

स्वभूतेत्यादि—यतो विस्वतस्तस्य स्वभूतजन्मोत्थकथा निजीयपूर्वजन्मवार्ता सा चित्रोल्लिखितेव गोचरा स्पष्टा बभूव सविस्तरा शुभा च । स्विदथवा यतः सोऽधुनाऽगर्भसम्भव नव नवीन भवान्तरमन्यज्जन्म प्राप्त इव बभौ रराज ।।३३।।

अर्थ—पहले तो उन्होने शीघ्र ही अपने-अपने शरीरको देखा, पश्चात् सभा-उपस्थित जनसमूहको देखा, फिर गुणोसे शोभायमान जन्म वाले जयकुमारने सुलोचनाको देखा और सुलोचनाने जयकुमारको देखा । इस तरह वे दोनो दृष्टिके द्वारा तो एक दूसरेको तिरछी चितवनसे देखते रहे, परन्तु क्षणभर–कुछ समय तक बोलनेको कुशलताको प्राप्त नही हो सके ।।३१।।

अर्थ—उस समय जयकुमारने मनकी विशुद्धतासे वह ज्ञान प्राप्त किया था जो इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञानसे न कभी कही सुना गया और न देखा गया तथा शास्त्रोमे भी वह ज्ञान कुछ नही प्राप्त होता है । आत्मज्ञ मनुष्योका वह आश्चर्यकारी आत्मतेज सदा प्रकाशमान रहे ।।३२।।

अर्थ—जिस ज्ञानसे उन्हे अपने पूर्वजन्म सम्बन्धी कथा चित्रलिखितके समान स्पष्ट हो गयी अथवा वे इस समय गर्भवासके बिना ही मानो नवीन जन्मको प्राप्त हो गये ।।३३।।

क्व सा प्रियाऽथावृतमञ्जुसत्क्रियापुनर्मनोऽस्येत्यनुभावितं ह्रिया।
महात्मनामप्यनुशिष्यते धृतिरहो न यावद् विनिरेति संसृतिः ॥३४॥

क्वेत्यादि—अथास्य जयकुमारस्य मनः पुनरपि आवृताऽऽदरभावं नीता मञ्जुर्मनोहरा सत्क्रिया यया सा प्रिया प्रभावतीत्येवरूपया ह्रियाऽनुभावितमभूत्। तदेतदुक्तमेव, यतो महात्मनामपि धृतिर्यावत् ससृतिनं विनिरेति निवर्तते तावदनुशिष्यतेऽनुशासनमूरीकरोति। अहो समाश्चर्यवृत्तौ ॥३४॥

तदेकसन्देशमुपाहरत् परमुपेत्य बोधोऽवधिनामकश्चरः।
अहो जगत्यां सुकृतैकसन्ततेरभीष्टसिद्धिः स्वयमेव जायते॥३५॥

तदेकेत्यादि—स चासावेकः सन्देशो ज्ञातव्यलेशस्तमवधिनामको बोध एव चरो दूत परं केवलमुपेत्योपाहरत् पूरयामास। अहो किलास्यां जगत्यां भूमौ सुकृतस्य पुण्यस्यैका सन्ततिः सम्भूतिर्यस्य तस्याभीष्टसिद्धिर्वाञ्छितस्य निष्पत्ति. स्वयमेवानायासेनैव जायत इति किलार्थान्तिरन्यास ॥३५॥

अतानि तेनावधिना स संक्रमस्त्वनन्य एवाथ यतोऽव्रजद्भ्रमः।
यथाङ्कुरोत्पादनकृद् घनागमः फलत्यहो किन्तु शरत्समागमः॥३६॥

अतानीत्यादि—तेनावधिना तु पुनरनन्योऽपूर्व एव स सम्माननीय संक्रमः समीचीनशक्तिरूपोऽतानि विस्तारितो यतोऽथ भ्रमोऽव्रजद् निर्जगाम। यथा घनागमो वर्षर्तुसोऽङ्कुराणामुत्पादनकृद्भवति किन्तु फलति शरद ऋतो. समागमस्तथा। अहो विचारविशेषे। 'क्रम. शक्तौ परीपाट्याम्' इति विश्वलोचने ॥३६॥

अर्थ—अब जयकुमारका मन लज्जापूर्वक यह जाननेके लिये उत्सुक हुआ कि मनोहर शुभ क्रियाओंको आदर देने वाली प्रिया-प्रभावती कहाँ है ? आश्चर्य है कि जबतक ससार निवृत्त नही होता है, तबतक महापुरुषोकी भी आकाक्षा अवशिष्ट रहती है ॥३४॥

अर्थ—राजा जयकुमार ऐसा विचार कर ही रहे थे कि अवधि-ज्ञान रूपी दूतने आकर उनका आकाक्षाको अच्छी तरह पूर्ण कर दिया सो ठीक ही है, क्योकि पृथिवी पर पुण्यकी अद्वितीय परम्परासे वाञ्छित अर्थकी सिद्धि स्वयमेव हो जाती है ॥३५॥

अर्थ—उस अवधि-ज्ञानने वह शक्ति विस्तृतकी-प्रकट की कि जिससे सब भ्रम दूर हो गया। जैसे वर्षा ऋतु अंकुर उत्पन्न करती है, परन्तु फल देता है शरद् ऋतुका आगमन।

वपुषास्तु च भिन्नता सदा न हृदा किन्तु कदापि सम्पदा ।
निरुवाच समं समुद्भवन्नवधिस्तेन सुचक्षुषो नवः ॥३७॥

वपुषेत्यादि—जयसुलोचनयोश्च वपुषा शरीरेण सदा भिन्नतास्तु पृथक्ता भवेत् किन्तु हृदा मनसा सम्पदा गुणोत्कर्षेण च कदापि भिन्नता नास्त्विति किल तेन जयकुमारेण समं सार्द्धमेव सुचक्षुषः सुलोचनाया अपि समुद्भवन्नवधिर्यत्र किल नवस्तत्कालजातः स निरुवाच कथितवान् । 'स्त्रियां सम्पद्गुणोत्कर्षः' इति विश्वलोचने ॥३८॥

यदसिञ्चदहो भवस्मृतिः सुदृशस्तत्र सदाशिकावति ।
हृदि सम्पदिवाथ दीपकः समभात् सोऽवधिरप्यहीनकः ॥३८॥

यदित्यादि—सुदृश. सुलोचनायास्तत सदाशिकावति समीचीनाभिलाषायुक्ते हृदि मनसि यत्किञ्चिदहो चिन्तनं भवस्मृतिर्जातिस्मरणवृत्तिरसिञ्चदुत्पादयामासाथ तत्र सम्पदिव गुणकारक इवाहीनकः समुत्कृष्ट सोऽवधिरपि दीपकः समुद्योतनकरः समभात् ॥३८॥

ममापि मे मण्डनकस्य शस्यते मनोऽन्यजन्मादि यतः समस्यते ।
अहो रहोऽस्तु महोत्सवाय नस्तयोरभूदित्यनुशासनं मनः ॥३९॥

ममापीत्यादि—अहो ममापि मे मण्डनकस्य स्वामिनोऽपि मनो हृदयं शस्यते नैर्मल्यमधिगच्छति यतः किलान्यजन्मादि समस्यते ज्ञायतेऽद इदं रहो रहस्य नोऽस्माक महोत्सवाय प्रसादायास्ति किलेत्यनुशासन विचारयुक्तं तयोर्मनोऽभूत् ॥३९॥

भावार्थ—जातिस्मृतिने पूर्वभवका स्मरण कराया, परन्तु समस्त भ्रमोका निवारण अवधिज्ञानने किया ॥३६॥

अर्थ—जयकुमार और सुलोचनामे शरीरसे भिन्नता भले ही हो पर हृदय और गुणोकी अधिकतासे भिन्नता नही थी। यही कारण था कि सुलोचनाको भी जयकुमारके साथ ही नवीन अवधिज्ञान उत्पन्न होता हुआ सब वृत्तान्त कहने लगा ॥३७॥

अर्थ—समीचीन अभिप्रायसे सहित सुलोचनाके जिस हृदयमे जातिस्मरण उत्पन्न हुआ था उसीमें उत्कृष्ट अवधिज्ञान दीपकके समान सुशोभित होने लगा ॥३८॥

अर्थ—आश्चर्य है कि मेरा और मेरे स्वामीका भी मन निर्मलताको प्राप्त हो रहा है जिससे अन्य जन्म सम्बन्धी यह रहस्य स्पष्ट ज्ञात हो रहा है। हमारे लिये यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है, इस प्रकारका विचार दोनोके मनमे

सुदृग्घृदन्तः प्रतिवेदको भवन् सुधीः सुधीरो वसुधावधूधवः ।
निजीयजन्मान्तरवृत्तपूरणे प्रियां स्म संप्रेरतीष्टभूरणे ॥४०॥

सुदृगित्यादि—इष्टेऽभिलषिते भुवो रणे कोणे तस्मिन् स्थले सुधीरः सुष्ठु धियं बुद्धि-मीरयति प्रेरयति स सुधीर्बुद्धिमान् वसुधा भूरेव वधूः स्त्री तस्या धवः स्वामी जयः स सुदृशः सुलोचनाया हृदन्तर्मनोमध्यं तस्य वेदकोऽनुज्ञाता भवन् संस्तां प्रियां निजीय-जन्मान्तरस्य यत्किञ्चिद्वृत्तं विवरणं तस्य पूर्णे परिवर्णने विषये सम्प्रेरयति स्म समुत्साह-युक्तां चकार । अनुप्रासोऽलंकारः । 'रणः कोणे क्वणे युद्धे' इति विश्वलोचने । अथवा सुदृग्घृदोऽन्तोऽङ्गीकारो यत्र तत्प्रतिवेदको भवन्निति ॥४०॥

वचोऽपि तस्या गुणभद्रभाषितं सितं तु सापत्न्यमनोगतं द्रुतम् ।
चकर्ष मालिन्यमलिन्यपेक्षितं तदाह्ययस्कान्त इवायसोंऽशकम् ॥४१॥

वचोऽपीत्यादि—तदा तस्मिन् समये तस्याः सुलोचनाया वचो वचनं यदस्मात्पूर्वं गुणभद्राचार्येण भाषितं यथा कथितं तथैव गुणेन मधुरत्वेन भद्रं मङ्गलं भाषितं तत एव सितं निर्मलं यत्तत् सपत्नीनामिव सापत्न्यं यन्मनस्तत्र गतं स्थितं मालिन्यं मलिनत्वं यदलिनि भ्रमरे वा वृश्चिके वाऽपेक्षितं तद्द्रुतं शीघ्रमेव चकर्ष कर्षति स्म, अयस्कान्त. अयसोंऽशकं तथेति विक् । तदेव नीचैः कथ्यते ॥४१॥

अहो सज्जनसमायोगो हि जगतामापदुद्धर्ता ।
इतः शुश्रूषवः सभ्याः प्रश्नकर्ता स्वयं भर्ता ॥४२॥ (स्थायी)

अहो इत्यादि—जगतां सर्वेषां जीवानामापदो विपत्तेरुद्धर्ता निवारकः सज्जनानां

आया ॥३९॥

अर्थ—उस इष्ट भूमिके कोणमे उत्तम बुद्धिको प्रेरित करने वाले बुद्धिमान् राजा जयकुमारने सुलोचनाके अन्तर्हृदयकी बात जानते हुए उसे अपने जन्मान्तरका वृत्तान्त कहनेके लिये प्रेरित किया—उत्साहयुक्त किया ॥४०॥

अर्थ—उस समय गुणभद्रभाषित–गुणभद्राचार्यके कथनानुसार माधुर्य गुणसे सहित एव मङ्गलरूप सुलोचनाके निर्मल वचनने सपत्नियोके मनमे स्थित भ्रमरके समान मलिन अथवा विच्छूके समान क्रूरतापूर्ण मलिनताको उस प्रकार खीच लिया, जिस प्रकार चुम्बक लोहेके टुकड़को खीच लेता है ।

भावार्थ—सुलोचनाके निम्नलिखित कथनसे उसकी मूर्च्छाके संदर्भको लेकर सपत्नियोके मनमे कलुषित विचार उत्पन्न हुए थे, वे दूर हो गये ॥४१॥

अर्थ—आश्चर्य है कि सत्पुरुषोका समागम समस्त जीवोंकी आपत्तिको दूर

समायोग: सम्प्रयोग एव हि भवति सोऽत्रास्तीतः शुश्रुषवः श्रोतुमिच्छावन्तस्तेऽमी सभ्याः सभायोग्याः सन्ति, प्रश्नकर्ता च स्वयं भर्ता स्वामीति प्रसन्नताविषयः ॥४२॥

विदेहे पुण्डरीकिण्यामिहैव वृषानुरागिण्याम् ।
एनसः संमिरागिण्यां बभूव विभो शुभा वार्ता ॥४३॥

विदेह इत्यादि—इहैव जम्बूद्वीपे विदेहक्षेत्रे या पुण्डरीकिणी नाम नगरी तस्यां कीदृश्याम् ? एनस· पापात् संविरागिणी सम्यग्विरक्ता तस्यामेषा शुभा वार्ता विभो ! बभूव ॥४३॥

कुबेरस्य प्रियो नाम्ना धनी यतिवत्तिकृद् धाम्नाम् ।
पतिः प्रतिसम्मतिः साम्नां सवारो धर्मसंधर्ता ॥४४॥

कुबेरस्येत्यादि—तत्र कुबेरप्रियो नाम धनी यो यति वत्तिकृत् पात्रदानकर्ता धाम्नां गृहाणां पतिर्गृहस्थ साम्नां गृहस्थोचितकार्याणां प्रति सम्मतिः समर्थनकरो धर्मस्य च संधर्ता धारकोऽभूत् ॥४४॥

रतिवरः किंच रतिषेणा कपोतवरद्वयीमेनाम् ।
ररक्ष सुरक्षणोऽनेनास्तवापच्छापपरिहर्ता ॥४५॥

रतिवरेत्यादि—रतिवर कपोतो रतिषेणा च कपोतीति कपोतद्वयीमेतन्नामवर्ती ररक्ष पालितवान् । यः सुरक्षणः सुष्ठुतया रक्षाकरः सुन्दरलक्षणवरश्चात एवानेनाः पाप-परिवर्जकस्तयोरापदां संभवस्य शापस्य दुराशिष· परिहर्ता च ॥४५॥

करने वाला होता है । इधर समस्त सभासद् श्रोता थे और स्वामी–जयकुमार स्वयं प्रश्न करने वाले थे ॥४२॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! इसी जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र सम्बन्धी, धर्मानुरागसे सहित एवं पापसे विरक्त पुण्डरीकिणी नगरीमे यह शुभ बात हुई थी, अर्थात् कथाका प्रारम्भ पुण्डरीकिणी नगरीसे शुरू होता है ॥४३॥

अर्थ—पुण्डरीकिणी नगरीमे एक कुबेरप्रिय नामका धनी गृहस्थ रहता था जो मुनियोको आहार आदि दान देता था, गृहस्थ धर्मका समर्थक था और गृहस्थोचित धर्मको धारण करता था ॥४४॥

अर्थ—रतिवर कबूतर और रतिषेणा नामक कबूतरी इन दोनोकी वह रक्षा करता था । वह कुबेरप्रिय सुरक्षण–अच्छी तरह रक्षा करने वाला **र** और **ल** मे अभेद होनेसे सुलक्षण–अच्छे लक्षणो वाला था, पाप रहित था और उन दोनोंको आपत्तिरूप शापका परिहार करने वाला था ॥४५॥

एकदा भ्रामरीं दृष्ट्वात्रागतौ तावृषी हृष्ट्वा ।
भवस्मृतिमित्यतः सृष्ट्वा तयोः समयो दुरितहर्ता ॥४६॥

एकदेत्यादि—एकदात्र भ्रामरीं चर्यामागतावृषी द्वौ मुनी दृष्ट्वाऽतो हृष्ट्वा चेत्यतो भवस्मृतिं जातिस्मरणदशां सृष्ट्वा लब्ध्वा पुनस्तयोऽशेषसमयः कालक्षेपो दुरितहर्ता पापवर्जितोऽभूत् ॥४६॥

पुरा जनुरागता प्रीतिः प्रबुद्धतया पुनः स्फीतिः ।
प्रसन्नतया तथाधीतिर्गणोऽयं सर्वशुभभर्ता ॥४७॥

पुरेत्यादि—तयोर्द्वयोः पुराजनुरागता जन्मान्तरादायाता प्रीतिरासीत् पुनरधुना प्रबुद्धतया जातिस्मरणभावेन कर्तव्याकर्तव्यज्ञानेन च स्फीतिर्मनस. स्फूर्तिस्तथा प्रसन्नतया निराकुलभावेनाधीतिः समध्ययनमित्यय गणः सर्वप्रकारेण शुभस्य परिपाकस्य भर्ता बभूव ॥४७॥

ब्रह्मचर्यं समालब्धमितो भवतो भयं लब्धम् ।
नृभवयोग्यो विधिर्दृब्धः समन्ताच्छान्तिपरिकर्ता ॥४८॥

ब्रह्मचर्यमित्यादि—तस्मात्ताभ्यां द्वाभ्यामित आरभ्य ब्रह्मचर्यं कामचेष्टावर्जनं समारब्ध स्वीकृतं, भवतो जन्ममरणात्मकादस्मात् भय लब्धमेव समन्तादभितः शान्तेः परिकर्ता समुत्पादको नृभवयोग्यो विधिर्नरजन्मनि यत्कर्तुं पार्यते स प्रक्रमो दृब्धः समारब्धस्ताभ्यामिति ॥४८॥

धर्मः खलु शर्महेतुरोच्यते जनानाम् ।
किरिरेव समस्तु हरिर्यस्य संविधानात् ॥४९॥ (स्थायीदं)

अर्थ—एक समय कुबेरप्रियके घर चर्याके लिये दो मुनिराज आये, उन्हे देखकर कबूतर-कबूतरी हर्षको प्राप्त हो जातिस्मरणको प्राप्त हो गये, जिससे उनका शेष समय पापसे रहित हो गया । अर्थात् दोनो ब्रह्मचर्यसे रहने लगे ॥४६॥

अर्थ—उन दोनोकी प्रीति पूर्व जन्मसे चली आ रही थी पर अब जातिस्मरण होनेसे और भी अधिक विस्तृत हो गई तथा प्रसन्नता–निराकुलतापूर्वक अध्ययन होने लगा । यह सब कार्य उनके पुण्यके पूरक हो गये ॥४७॥

अर्थ—अब यहाँसे उन्होने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, ससारसे भय प्राप्त किया और सब ओरसे शान्ति प्राप्त कराने वाली मनुष्य पर्यायके योग्य विधि प्राप्त कर ली–मनुष्योके योग्य आचरण करने लगे ॥४८॥

धर्म इत्यादि—धर्म एव खलु जनानां शर्महेतुः कल्याणकर इष्यते, यस्य सविधाना-त्करणात् किरिरेव ग्रामसूकरोऽपि हरिरिन्द्रः समस्तु ॥४९॥

प्राप्तोऽथ हिरण्यवर्म नाम रतिवरः सशर्म ।
प्रभावती सा च धर्मकर्मसंविधानात् ॥५०॥

प्राप्त इत्यादि—अथ सशर्म शान्तिसहितं धर्मकर्मणो धर्मानुष्ठानस्य सविधानात् स रतिवरः कपोतो नरजन्म लब्ध्वा हिरण्यवर्मनाम प्राप्तः । सा रतिषेणा कपोती च नारीजन्म लब्ध्वा प्रभावती नाम बभूव ॥५०॥

तद्गतखगसानुमति ह्यादित्यगतिर्नृपतिः ।
शशिभा युवतिश्च सती तयोस्तुक् स वा ना ॥५१॥

तद्गतेत्यादि—स रतिवरस्तद्देशगतखगसानुमति विद्याधरपर्वते विजयार्द्धे नाम्ना आदित्यगतिनरपतिस्तस्य युवति स्त्री सती शशिप्रभा तयोर्द्वयोः स तुक् पुत्रो बभूव, यस्य हिरण्यवर्माऽभूदिति ज्ञेयम् ॥५१॥

अपरोऽत्र नृपः समभाद्वायुरथः स्वयंप्रभा ।
राज्ञी चैतयोः प्रभावती जायमाना ॥५२॥

अपर इत्यादि—अत्रैव पर्वतेऽपरो वायुरथो नाम नृपः, स्वयंप्रभा नाम राज्ञी च । तयोर्द्वयोस्सा रतिषेणाऽऽगत्य जायमाना सती प्रभावती समभात् ॥५२॥

अर्थ—यथार्थमे धर्म ही मनुष्योंके सुखका हेतु माना जाता है, क्योंकि उसके करनेसे ग्राम सूकर भी इन्द्र हो सकता है ॥४९॥

अर्थ—धर्मानुष्ठानके करनेसे रतिवर कबूतर सुखसहित हिरण्यवर्म नामको प्राप्त हुआ और रतिषेणा कबूतरी प्रभावती नामको प्राप्त हुई ।

भावार्थ—धर्मके प्रभावसे दोनोंने मनुष्य जन्म प्राप्त किया । वहाँ रतिवरका जीव **हिरण्यवर्मा** और रतिषेणाका जीव **प्रभावती** हुआ ॥५०॥

अर्थ—उसी देशके विजयार्ध पर्वत पर आदित्यगति राजा रहता था, उसकी स्त्रीका नाम शशिप्रभा था । उस दोनोंके रतिवर–कबूतरका जीव हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥५१॥

अर्थ—इसी पर्वतपर वायुरथ नामका दूसरा राजा रहता था, उसकी रानीका नाम स्वयंप्रभा था । उन दोनोके यहाँ रतिषेणाका जीव प्रभावती नामकी पुत्री हुई ॥५२॥

सम्भुक्तमनुष्यभवे याविह तौ सुभटरवे ! ।
पितराबितरौ तु नवे तोक्ष्यते स्वमानात् ॥५३॥

सम्भुक्तेत्यादि—हे सुभटरवे ! सुभटानां रवे ! मार्गदर्शक ! सम्भुक्ते मनुष्यभवे रतिवरभवादपि पूर्वभवे सुकान्तभवे यौ तव पितरौ तावेवेह हिरण्यवर्मजन्मनि जाता-वितरौ तु न वेति स्वमानात् सज्ञानादीक्ष्यते ॥५३॥

दाम्पत्यमुपेत्यतरां विभवाधिगतिं प्रवराम् ।
लब्धा गुणततिः परा शान्तिसंविताना ॥५४॥

दाम्पत्यमिति—दाम्पत्यं गृहस्थभावं तथा प्रवरां महतीं विभवस्याधिगतिं सम्पदुप-लब्धि चोपेत्यतरामत. पुनस्त्वया परा महती शान्तेः संवितानं यत्र सा शान्तिदायिनी गुणततिर्लब्धा वैराग्यपरिणतिरुपलब्धा ॥५४॥

एतावन्तकदेशिताविव गतौ सम्पादितुं सम्बलं
जम्बूनामपुरे परेद्युरिह तौ व्यापाद्यमानावलम् ।
प्राग्जन्मप्रतिवैरिणा मृतिमितौ तत्रागतेनौतुना
प्रारब्धं ह्युपलभ्यते ननु जनैर्भो भो जवेनाधुना ॥५५॥

एताविश्यादि—एतौ कपोतदम्पती किलान्तकेन यमेन देशितौ संकेतिताविव सम्बलं भोजनं सम्पादितु गतौ परेद्युरिह जम्बूनामपुरे तत्रागतेन प्राग्जन्मप्रतिवैरिणौतुना बिडालेनालं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा व्यापाद्यमानौ मृतिं मरणमितौ सम्प्राप्तौ । भो भो प्रभो ! जनैरधुना प्रारब्धं स्वोपार्जितं हि किलोपलभ्यते जवेनानायासेनेति विचारणीयं ननु ॥५५॥

अर्थ—हे सुभटसूर्य ! सुभटोके मार्गदर्शक ! अतीत मनुष्यभव अर्थात् रतिवरसे पूर्व सुकान्तके भवमे जो तुम्हारे माता-पिता थे, वे ही हिरण्यवर्माके जन्ममे हुए हैं दूसरे नही, ऐसा हम अपने ज्ञानसे जानते है ॥५३॥

अर्थ—गृहस्थभाव तथा बहुत भारी सम्पत्तिको अच्छी तरह प्राप्त कर आपने शान्तिके विस्तारसे सहित गुणोकी सन्तति–वैराग्य परिणतिको प्राप्त किया ॥५४

अर्थ—एक दिन कबूतर और कबूतरी भोजन प्राप्त करनेके लिये जम्बूपुर गये। वहाँ उनके पूर्वभवके वैरी बिलावने आकर उन्हे अत्यधिक घायल कर दिया जिससे मृत्युको प्राप्त हो गये। ठीक ही है मनुष्योका जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह इस भवमे वेगसे–अनायास ही प्राप्त होता है ॥५५॥

तव मम तव मम लपननियुक्तयाऽखिलमायुर्विगतम् ।
हे मन आत्महितं न कृतं हा हे मन आत्महितं न कृतम् ।।५६।। स्वाधी

तव ममेत्यादि—स्पष्टम् ।

नवमासा वासाय वसाभिर्मातृशकृति सहितम् ।
शैशवमपि शबलं किल खेलैः कृतोचितानुचितम् ।।५७।।

नवमासा इत्यादि—नवमासा यावत् मातृशकृति जनन्या वर्चसि वसाभिर्मज्जादिभिः सहितं तव विगतं तत. पुनः शैशवमपि किल खेलैः क्रीडनैः शबल मिश्रितमिति कृतमुचितं वानुचितं वा यत्र तत्तथा विगतम् ।।५७।।

तारुण्ये कारुण्येन विनौद्धत्यमिहाचरितम् ।
मदमत्तस्य तवाहर्निशमपि चित्तं युवतिरतम् ।।५८।।

तारुण्य इत्यादि—तारुण्ये सति यौवनकाले कारुण्येन बिना निर्दयतयेहौद्धत्यमुच्छृङ्खलत्वमाचरित त्वया तथा मदेन यौवनोन्मादेन मत्तस्य तवाहर्निशमपि सदैव चित्तं युवतिरतमासीदिति ।।५८।।

प्रौढिं गतस्य परिजनपुष्ट्यै शश्वत् कर्ममितम् ।
एकैकया कपर्दिकया खलु वित्तं बहु निचितम् ।।५९।।

प्रौढिमित्यादि—प्रौढिं प्रौढतां गतस्य विगतयौवनस्य तव परिजनस्य पुष्ट्यै सम्पोषणाय शश्वदेवानारतं कर्म शिल्पादि यत्कुलपरम्परया गतं मितं कृत तत एकैकया कपर्दिकया काकिण्या बहुवित्तं निचितं खलु ।।५९।।

अर्थ—तेरा मेरा तेरा मेरा कहते-कहते समस्त आयु बीत गई । हे मन ! तूने अपना हित नहीं किया दुःखकी बात है ।।५६।।

अर्थ—नौ मास तक माताके मलमे चर्बी आदि धातुओके साथ निवास किया, पश्चात् उसमें उचित अनुचित करनेका विचार नही ऐसा बाल्यकाल खेलोंसे मिश्रित कर व्यतीत किया ।।५७।।

अर्थ—हे मन ! यौवन अवस्थामे तूने करुणाभावके बिना अत्यन्त उद्दण्ड चेष्टा की और मदसे मत्त रहनेवाला तेरा चित्त रातदिन स्त्रियोमे रत रहा—लीन रहा ।।५८।।

अर्थ—हे मन ! जब तू प्रौढताको प्राप्त हुआ तब तूने परिवारका पोषण करनेके लिये निरन्तर शिल्पादि कार्य किये और एक-एक कौडीको एकत्रित कर बहुत भारी धनका संचय किया ।।५९।।

स्मृतमपि किं जिननाम कदाचिद् वार्द्धक्येऽपि गतम् ।
विकलतया सम्प्रति हे मूढ ! स्मरात्मनोऽनुकृतम् ॥६०॥

स्मृतमपीत्यादि—हे मूढ ! मोहाच्छन्न ! सम्प्रति वार्द्धक्येऽपि गते वृद्धत्वेऽपि सम्प्राप्ते किं कदाचिदपि जिननाम स्मृतमपि तु नैवातो विकलतया विच्छिन्नेन्द्रियमनस्तया केवलं कृतमन्वात्मन स्मर यथा कृतं तथा स्वयं चिन्तय ॥६०॥

रट झटिति मनो जिननाम गतमायुर्नु दुर्गुणधाम ।
आशापाशविलासतो द्रुतमधिकर्तुं धनधाम ॥
निद्रापि क्षुद्राऽभवद् भुवि नक्तंदिवमविराम ॥६१॥ स्थायी

रटेत्यादि—हे दुर्गुणधाम ! दुर्गुणानां ग्राम स्थान ! हे मन ! आशा तृष्णैव पाशो बन्धनरज्जुस्तस्य विलासतः प्रभावाद् धन च धाम चानयो समाहारस्तद्द्रुत शीघ्रमधिकर्तुमात्मायत्त कर्तुमायुर्जीवितं गतं व्यतीतं न्विति वितर्केऽतो झटिति शीघ्रं जिननाम रट पुनःपुनरुच्चारणं कुरु तस्य । नक्तदिवमहर्निशमविराम ! विश्रान्तिशून्य हे मनः ! भुवि पृथिव्यां तव निद्रापि क्षुद्रा नष्टाभवत् । जिननामस्मरणमन्तरेण नास्ति तव श्रेय इति यावत् ॥६१॥

पुत्रमित्रपरिकरकृते बहु परिणमतोऽतिललाम !
रामाणामारामरसतो हसतो वाश्रितकाम ! गतमायुः ॥६२॥

पुत्रेत्यादि—हे आश्रितकाम ! कामवासनातुर ! पुत्रमित्राणां तत्सम्बन्धिनां परिकरः समूहस्तस्य कृते प्रसन्नताकार्येऽतिललाम सुन्दरतरं बहु बारं बारं परिणमतः कुर्वतस्तथा रामाणां स्त्रीणां च आरामो हावभावविलासादिपरिणामस्तस्य रसत समास्वादनतो वा हसतस्तव गतमायुः सर्वमपि व्यतीतं जन्म ॥६२॥

अर्थ—हे मूर्ख ! बुढापा आनेपर भी क्या तूने जिनदेवके नामका स्मरण किया है ? अर्थात् नही किया । अब विकलताके कारण–इन्द्रिय और मनकी शक्ति क्षीण हो जानेसे केवल अपने कार्यकलापका विचारकर ॥६०॥

अर्थ—हे दुर्गुणोके स्थान मन ! आशारूपी पाशके प्रभावसे शीघ्र ही धन-धामको अधिकृत करनेके लिये आयु व्यतीत कर दी, रातदिन तूने विश्राम नहीं लिया । अब शीघ्र ही जिनराजके नामका पुन-पुनः उच्चारण कर । इसके बिना तेरा कल्याण नही होगा ॥६१॥

अर्थ—हे कामवासनासे आतुर मन ! पुत्रमित्रादि समूहके प्रति बार-बार तूने अत्यन्त मुन्दर परिणमन किया है और स्त्री नामक आराम–स्त्रियोंके हावभाव आदि चेष्टाओके रसास्वादनसे तूने हर्षका अनुभव किया है । यह सब

परहरणे भरणे स्वयं पुनरनुभवता दुर्नाम ।
अयशः परिहरणाय दत्तं त्वया तु नैकविदाम ॥गतमायुः० ॥६३॥

परहरण इत्यादि—परेषां जीवानां हरणे संहारकरणे स्वयं भरणे स्वस्य सम्पोषणे 'पुनर्वारं वारं दुर्नामापयशोऽनुभवता समर्जयता त्वयाऽप्ययश परिहरणायात्र तु नैकविदामपि दत्तम् ॥६३॥

बहु वलितं गलितं वयो रे सम्प्रति पलितं नाम ।
अलमालस्येनास्तु शठ ! ते स्वीकुरु शान्तिसुधाम ॥गतमायुः०॥६४॥

बहु वलितमित्यादि—रे शठ ! सम्प्रति बहु वलितं शरीरं वलिभिर्व्याप्तमभूत् तथा वय आयुरपि गलितं निर्गतं प्रायः पलितं नाम शिरसि श्वेतकेशत्वमभूत् तदत्र ते किलालस्येनालमस्तु, तावदधुना तु शान्तेः सुधाम निराकुलतैकान्तं स्वीकुरु ॥६४॥

माया महतीयं मोहिनी जनतायां भो ! माया (स्थायी)
भूरामाधामादिधरायामिह सातङ्कजरायाम् ।
काशा परमर्मच्छिदिरायां करपत्रप्रसरायाम् ॥ इह जनतायां० ॥६५॥

मायेत्यादि—भो पाठकजन ! शृणु जनतायामियं मोहिनी माया मोहसम्बन्धिनी परिणति सा महती दुर्निवारास्ति यस्यां भूरामाधामादिधरायां भूः पृथिवी रामा स्त्री धाम गृहमित्येवमादिधरायां तत्प्रपञ्चयुक्तायां तथातङ्केन सहिता जरा यस्यां तस्यां सातङ्कजरायां तथा परेषां मर्मणां छिदिं छेदनं राति स्वीकरोति तस्याः करपत्रस्य प्रसरो यस्यास्तस्यामिह मायायां का किलाशा समाश्वासनावस्था, किन्तु न कियत्यपि ॥६५॥

करते हुए तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई है ॥६२॥

अर्थ—दूसरे जीवोका संहार करने और अपने आपके सपोषण करनेमे भारी अपकीर्तिका अनुभव करते हुए तूने अनेक प्रकार दान भी दिया है ॥६३॥

अर्थ—रे मूर्ख ! इस समय तेरा शरीर झुर्रियोसे व्याप्त हो गया है, आयु प्राय. बीत चुकी है और शिर पर सफेदी आ गई है, अतः आलस्यसे विरत हो और शान्तिका सुन्दर स्थान प्राप्त कर ॥६४॥

अर्थ—हे पाठक जन ! सुनो, जनता–जन समूहमे जो मोहिनी माया है वह अत्यन्त दुर्निवार है, यह पृथिवी स्त्री तथा मकान आदिकी आकुलतासे सहित है, आतङ्क युक्त वृद्धावस्थासे युक्त है, दूसरेके मर्मको छेदने वाली है और करपत्र–करोतके प्रसारसे सहित है, इसमे तुझे क्या आशा है, अर्थात् सुख–सन्तोष प्राप्त करनेकी क्या संभावनी है ? कुछ भी नही ॥६५॥

विषयरसाय दशा सकषाया शोच्या स्याद् विवशा या ।
गजस्येव कपटाभ्रमुकायां मनसो बहुलापाया ।।इह०।।६६।।

विषयरसायेत्यादि—इहास्यां मायायां मनसो दशा विषयाणां रसायास्वादनाय सकषायाऽभिलाषवती ततश्च विवशा विषयाधीनाऽतश्च शोच्या चिन्ताया विषयोऽपि स्यात् किल या मनसो दशा कपटेन कृता याऽभ्रमुका हस्तिनी तस्यां गजस्येव गजवत् सा बहुलापाया दु:खपूर्णा स्यात् ।।६६।।

मित्रकलत्रपुत्रविसरायां चित्तं परम्परायाम् ।
जरद्गवः कर्दमितधरायामिव सीदति विधुरायाम् ।।इह०।।६७।।

मित्रेत्यादि—इह चित्तं विधुरायां भयदायिन्या मित्र च कलत्र स्त्री च पुत्र चैतेषां विसरो विस्तारो यत्र तस्या परम्परायां कर्दमितधरायां जरद्गवो वृद्धबलीवर्द इव किल सीदति कष्टमनुभवति ।।६७।।

रताद् विरक्ताप्यनुरतिमायात्यरते जगतश्छाया ।
ततो विरज्य नरोऽस्मात्कायात्किमिव न शान्तिमथायात् ।।इह०।।६८।।

रतादित्यादि—यत्र जगतः शरीरधारिण प्राणिनश्छाया प्रतिमूर्तिस्सापि रतादनुरक्तात्तदनुग्राहकाद्विरक्ता विरुद्धगामिनी भूत्वाथाऽरते तदनपेक्षिणि जनेऽनुरतिं सानुकूलवृत्तिमायाति किलेति दृश्यते तत पुनर्नरोऽस्मात्कायाच्छरीराद्विरज्य समुदासीनो भूत्वा किमिव शान्तिं निद्वन्द्वतामयाद् गच्छेदिति चिन्त्यमस्ति ।।६८।।

अर्थ—इस मायामे मनकी दशा विषयोकी अभिलाषा रखती हुई विवश और शोचनीय हो जाती है। जिस प्रकार कपटसे निर्मित कृत्रिम हस्तिनीमें आसक्त हस्तीकी दशा अनेक कष्टोसे युक्त होती है, उसी प्रकार आपातरमणीय विषयोमे आसक्त रहने वाले मनुष्यकी दशा अनेक कष्टोंसे सहित होती है ।।६६।।

अर्थ—मित्र, स्त्री तथा पुत्रके विस्तारसे सहित इस दु:खदायिनी परम्परामें यह मानव उस प्रकार दु:खका अनुभव करता है, जिस प्रकार कि कर्दमयुक्त भूमिमे बूढा बैल ।।६७।।

अर्थ—ससारकी प्रणाली है-प्रवृत्ति है कि वह रत-चिरपरिचितसे विरक्त होकर अरत-अपरिचित-नई वस्तुमे प्रीतिको प्राप्त होती है, फिर यह मनुष्य चिरपरिचित शरीरसे विरक्त हो अद्यावधि अप्राप्त शान्तिको क्यो नहीं प्राप्त होता ? ।।६८।।

सौभाग्यशाली सुतरां यशस्वी वर्मा च शर्मार्थमभूत्तपस्वी ।
एवं जगत्तत्त्वमहो विचार्याप्यासीत् प्रभावत्यधुनाऽमलार्या ॥६९॥

सौभाग्यशालीत्यादि—एवं जगतस्तत्त्वमहो किलाश्चर्यकारि विचार्यापि सुतरां यशस्वी सहजकीर्तिमान् सौभाग्यशाली स हिरण्यवर्मा शर्मार्थं शान्तिलाभार्थं तपस्वी तपः-कर्ता साधुरभूदधुना प्रभावती चामला निष्पापाऽऽर्याभूत् ॥६९॥

एतौ तपन्तौ समवाप्य विद्युच्चौरो रुषा प्लोषितवान् परेद्युः ।
भवान्तरारिः स्वरितौ च किन्तु महो जनाः सत्तपसा व्रजन्तु ॥७०॥

एतावित्यादि—विद्युच्चरो नाम चौरो यो भवान्तरारि पूर्वभवत एवानुबद्धवैरवान् स परेद्यु कस्मिंश्चिद्दिनेऽप्येतौ तपन्तौ समवाप्य रुषा प्रकोपेण प्लोषितवान् भस्मी-चकार, किन्तु समता गतौ तौ दग्धावपि स्वरितौ स्वर्गं गतौ । यतः किल जनाः सत्तपस मह प्रभाव व्रजन्तु सत्यमेवेति अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥

अथान्यदा स्वैरितया चरन्तौ संजग्मतुः सर्पसरोवरं तौ ।
प्रबुद्धय यत्रात्महिते विभूतिमेतं तमेताविह शर्मसूतिम् ॥७१॥

अथेत्यादि—अथान्यदा कदापि स्वैरितया स्वेच्छया चरन्तौ पर्यटन्तौ तौ सर्पसरोवरं नाम कासारं सजग्मतुर्यत्रात्महिते प्रबुद्धय लगित्वा विभूतिं भवाभावात्मिका श्रियमेतं तं शर्मणः कल्याणस्य सूतिरुत्पत्तिर्यस्य तं केवलिनमेतौ प्राप्तौ ॥७१॥

अर्थ—इसप्रकार जगत्के आश्चर्यकारी स्वरूपका विचार कर सौभाग्य-शाली एवं यशस्वी हिरण्यवर्मा शान्ति-सुख प्राप्त करनेके लिये तपस्वी हो गये—दीक्षा लेकर मुनि हो गये । इसी समय प्रभावती भी निर्मल आचारका पालन करने वाली आर्यिका हो गई ॥६९॥

अर्थ—किसी दिन पूर्वभवके वैरी विद्युच्चर चौरने तप करते हुए इन मुनि और आर्यिकाको पाकर क्रोधसे जला दिया, परन्तु वे समताभावसे शरीरका त्यागकर स्वर्ग गये सो ठीक ही है, समीचीन तपसे मनुष्य उत्तम प्रभावको प्राप्त होते ही है ॥७०॥

अर्थ—तदनन्तर स्वेच्छासे घूमते हुए वे दोनो किसी समय सर्पसरोवर पर गये । वहाँ आत्महितमे संलग्न हो सुखदायक केवलज्ञानरूप विभूतिको प्राप्त हुए केवली उन्हे मिले ॥७१॥

भूत्या जगच्चित्रमथाश्रयन्तं विभूतितः केवलमाह्वयन्तम् ।
मुदं गतौ वीक्ष्य ततस्तपन्तं स्वमूर्तितः शान्तिमुदाहरन्तम् ॥७२॥

भूत्येत्यादि—अथ भूत्या स्वपरिणत्या जगदिव विश्वं तच्चित्रं विलक्षणमाश्रयन्तं जानन्त विभूतितः स्वचेष्टया केवलं ज्ञानमाह्वयन्तं निरूपयन्तं स्वमूर्तितः शरीरेण शान्ति समतामुदाहरन्त ततस्तपन्तं तपोयुक्तं त वीक्ष्य तौ मुद गतौ देवदम्पती ॥७२॥

दुरिङ्गितान्मैव समस्ति भीतिस्तदन्यतः सैव मलं तु नीतिः ।
पराक्रमो यस्य तपस्य सीमस्त्रिरुच्चरन्तं स्वमतोऽत्र भीमम् ॥७३॥

दुरिङ्गितादित्यादि—यस्य महात्मनो दुरिङ्गिताद्भीतिरेव मा शोभा यस्य सः, अथवा तदन्यतः सदाचारात्सा भीतिरेव मं मल यस्य सः, तथा तपसि यस्यासीमः पराक्रमः स भीम इत्यतोऽत्रिप्रकारमपि स्वमात्मानं भीममित्युच्चरन्त भीमनाम केवलिनं वीक्ष्य तौ द्वौ देवजम्पती मुद गतौ किलेति पूर्ववृत्तोक्तक्रिययान्वय कार्य इति युग्मम् ॥७३॥

त्वत्ता च मत्ता पुनरत्र ताभ्यामागत्य हे देव सुदेवताभ्याम् ।
स्वर्गान्निसर्गात् सुकृतैकवर्गादवाप्यते किन्न पुनीतसर्गा ॥७४॥

त्वत्तेत्यादि—हे देव ! ताभ्यामेव सुदेवताभ्यां निसर्गात्सहजभावादेव सुकृतस्य पुण्यस्यैको वर्गः समूहो यत्र तस्मात् स्वर्गात् पुनरत्रागत्य पुनीतः पावनः सर्गो रचना वा स्वभावो यस्यास्सा त्वत्ता त्वद्रूपता मत्ता वा मद्रूपता वा किन्नाप्यते ? । स्वर्गस्थितो जीवो न कैवल्यं लभते न च पुनर्देवत्वमित्यत्र किं कारणमिति जिज्ञासा प्रदर्शिता ताभ्याम् ॥७४॥

भावार्थ—जो स्वात्मपरिणतिसे इस विलक्षण ससारको जान रहे थे, अष्टप्रातिहार्यरूप विभूतिसे केवलज्ञानको प्रकट कर रहे थे तथा अपने शरीरसे शान्ति का उपदेश दे रहे थे, ऐसे स्वात्मनिष्ठ केवलीको देखकर वे देवदम्पती हर्षको प्राप्त हुए ॥७२॥

अर्थ—दुराचारसे भी-भयका होना ही जिनकी मा-शोभा थी, अथवा सदाचारसे होनेवाले भयको जो म-पाप समझते थे, अथवा तपश्चरणमे जिनका असीम पराक्रम था, इस प्रकार त्रिविध निरुक्तिसे जो भीम कहलाते थे, उन भीम केवलीको पाकर वे देवदम्पती हर्षको प्राप्त हुए ॥७३॥

अर्थ—उस देवदम्पतीने जिज्ञासा प्रकट की कि हे देव ! जहाँ स्वभावसे ही एक पुण्यका समूह है, उस स्वर्गसे पुनीत कार्यकी रचनासे सहित त्वत्ता-आपके समान कैवल्य और मत्ता-मेरे समान पुनः देवत्व क्यों नही प्राप्त होता है ? ॥७४॥

सौकान्ते भवदेव एव च पुनः कापोतकेऽप्योतुकः
हारिण्ये च भवे तवेश समभूद्विद्युच्चरः कौतुकः ।
स्वर्गीये त्वयि भीमनाम मुनिराड् योऽसौ भवोच्छेदकः
सत्त्वानामिह संसृतौ परिणतेर्वैचित्र्यसंदेशकः ।।७५।।

सौकान्त इत्यादि—हे ईश ! स्वामिन् ! तव सौकान्ते सुकान्तस्य जन्मनि यो भवदेवः समभूत्, कापोतके कपोतजन्मनि य ओतुको विडाल. समभूत्, तव हारिण्ये हिरण्यवर्मनामविद्याधरजन्मनि तु को पृथिव्या यो यम इव विद्युच्चरश्चौरः समभूत्, त्वयि स्वर्गिये देवे सति स एव भीमनामा मुनिराडभूत्, यो भवोच्छेदको जन्ममरणनाशकः केवली समभूत्, यः किलेह संसृतौ संसारपद्धतौ सत्त्वानां जीवानां परिणतेः कस्य कदा कीदृक् परिणमनं स्यादित्यनिश्चितत्वस्य वैचित्र्यस्य सन्देशकः समभूत् । तुकार इहेवार्थक ।।७५।।

सदा हे साधो ! प्रभवति असुमति कर्म (स्थायी)
कः खलु हर्ता को भुवि भर्ता कस्य विना निजकर्म । सदा हे०
उप्तमिवोक्तमस्य फलतीह तु यो विलसत्यपशर्म । सदा हे०
दुरिताद् दुर्गतिमेति जनोऽसौ शुभतो विलसति नर्म ।
भूरामल यदि नैव रोचते संवरमुपसर वर्म ।। सदा हे० ।।७६।।

सदेत्यादि—हे साधो ! शृणु असुमति शरीरधारिणि कर्म तस्य चेष्टितमेव प्रभवति शुभाशुभफलदायकं भवति । अस्यां निजकर्म विनाऽन्यः कः कस्य हर्ता विनाशकः कश्च भर्ता रक्षकः स्यान्न कश्चिदपि । इह तु पुनरुप्तं भूमौ प्रक्षिप्तमिवोक्तमुपरि निर्दिष्टं

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपके सुकान्त भवमे जो भवदेव था, कबूतरके भवमे बिलाव हुआ था, हिरण्यवर्मा नामक विद्याधरके भवमे पृथिवी पर जो यमके समान विद्युच्चर चौर था और आपके स्वर्ग सम्बन्धी देव होने पर जो जन्ममरणका नाश करनेवाला भीम नामका केवली हुआ, इसप्रकार ससारमें जीवोकी परिणतिसे किसका कब कैसा परिणमन होता है, इस विचित्रताका सन्देश देनेवाले वह केवली थे ।।७५।।

अर्थ—हे साधो ! इस जगत्‌मे प्राणीपर कर्म ही अपना प्रभाव दिखाता है । पृथिवी पर स्वकृत कर्मके बिना कौन हर्ता है और कौन भर्ता है ? इसने जैसा बोया है उसीके अनुसार फल देता है भले ही दुःख हो यह जीव पापसे दुर्गतिको

यस्तस्यकृतमेवास्य संसारिणः फलति य संसारो जनोऽपशर्म विलसति किलोच्छृङ्खल यथा स्यात्तथा परिणमते तस्य । यतोऽसंसारी दुरितात् स्वस्य दुष्कृताद् दुर्गतिमेति गच्छति किन्तु शुभतः सुकृतान्नर्म ससारसुखं विलसति यदि हे आत्मन् ' यदीयं भूर्जन्ममरण-हेतुर्नैव रोचते तदा पुन संवर पुण्यात्पापाच्चौदासीन्य तदेव वर्म कवचमुपसर स्वी-कुरु ॥७६॥

दैवज्ञान्यजनीषु च तासु सन्देहोऽभ्युदियाय यदाशु ।
भर्तु रिष्टमुपलभ्य ससारं भावस्पष्टिमिति प्रचकार ॥७७॥

दैवज्ञेत्यादि—यदा तासु प्रसिद्धासु चान्यजनीषु सपत्नीषु सन्देहोऽभ्युदियाय समुद्बभूव सदाशु शीघ्रमेव सा दैवज्ञा स्वस्य परस्य च दैव भूत भविष्यच्च जानाति सा सुलोचना भर्तु. स्वामिनः ससारं सारभूतमिष्ट प्रश्नमुपलभ्येति पूर्वोक्तप्रकार भावस्पष्टि प्रचकार ॥७७॥

मिथोऽभिवर्द्धमानतः स्नेहादेवमुदारमुदाऽरमनेहाः ।
चन्द्रकलार्णवयोरिव याति तावदिहास्ति वचोऽप्यनुपाति ॥७८॥

मिथ इत्यादि—एव रीतित उदारमुदा परमप्रसन्नतया चन्द्रकला चार्णवश्च समुद्रश्च तयोरिव जयसुलोचनयोर्दम्पत्योर्मिथ परस्परमभिवर्द्धमानत स्नेहान्नित्यं नवीनादनुरागादनेहा. कालोऽरं यावद्याति शीघ्र निर्गच्छति तावदिहैव वचोऽनुपाति प्रसङ्गप्राप्तमस्ति तदपि कथ्यते । अनुप्रासोऽलंकार ॥७८॥

स्वीयनभोगजनुष्वनुनीता विद्या अद्यागत्य विनीताः ।
सुकृतवशाः कृतिनो प्रणिपत्य दास्यमेतयोः स्वीकृतवत्यः ॥७९॥

प्राप्त होता है और शुभ–पुण्यसे सुखका अनुभव करता है । हे आत्मन् ! यदि तुझे यह जन्म-मरणका हेतु अच्छा नही लगता है तो दोनोके त्यागरूप संवरको स्वीकृत कर । वह संवर कवचरूप है ॥७६॥

अर्थ—इस प्रकार जब उन सपत्नीजनोमे सन्देह उत्पन्न हुआ था तब शीघ्र ही भूत भविष्यत्की बातको जानने वाली सुलोचनाने भर्ताके सारभूत प्रश्नको पाकर पूर्वोक्त प्रकारसे भावको स्पष्ट किया ॥७७॥

अर्थ—इस प्रकार चन्द्रकला और समुद्रके समान जयकुमार तथा सुलोचना-का काल जब परस्पर बढते हुए स्नेहसे बडी प्रसन्नताके साथ शीघ्र व्यतीत हो रहा था, तब प्रसङ्गोपात्त जो बात हुई वह कही जाती है ॥७८॥

स्वीयेत्यादि—एतयोर्जम्पत्योः स्वीयेन भोगभुवि खगेन्द्रजीवनेऽनुनीता साधिता या विद्यास्ता एवानयोः सुकृतस्य शुभोदयस्य वशा अधीनाः सत्यो विनीता विनयभावमाप्ता अद्याधुनाऽगत्य कृतिनौ कृत्याकृत्यवेदिनावेतौ प्रणिपत्यैतयोर्दास्यमाज्ञाकारित्वं स्वीकृतवत्यः। अनुप्रासोऽलंकारः ॥७९॥

वियोगदूना दयिता इवोररीकृता नृता तीर्थभृता महीभृता।
सनाथतां प्राप्य गताः कृतार्थतामसुष्य वश्या अपि कामसिद्धये ॥८०॥

वियोगदूना इत्यादि—नृता मानवतैव तीर्थं तद् बिभर्ति यस्तेन महीभृता जयकुमारेण वियोगेनाद्य यावद्विरहेण दूना दुःखिता दयिता वल्लभा इवोररीकृताः स्वीकृताः सनाथतां प्राप्य कृतार्थतां सफलजीवनतां गता याः किलामुष्य वश्या वशंगता अप्यमुष्य कामसिद्धये वाञ्छितसम्पत्तये बभूवुस्ताः। उपमानुप्रासालंकार. ॥८०॥

सत्कार्यसाधिकाश्चापि पथभ्रष्टा इवालिकाः।
सुदृशा सुदृशादृत्य ता विद्याः सफलीकृताः ॥८१॥

सत्कार्येत्यादि—सुदृशा सुलोचनयापि सत्कार्यस्य साधिका वाञ्छितस्य कर्त्र्यस्ता विद्या आलिका वयस्या इवाद्यावधि पथभ्रष्टास्ताः सुदृशा समीचीनया दृष्टयाङ्गीकृत्य सफलीकृताः। इहाप्युपमालंकारः ॥८१॥

हृदि प्रसेदुरासाद्य विस्मृताविव तावुभौ।
ललाटलतिकाचूडामणी ताः सुतरां शुभौ ॥८२॥

अर्थ—अपने विद्याधर जन्ममे इन्होने जिन विद्याओंको सिद्ध किया था, वे विद्यायें इस समय इनके वशीभूत हो तथा विनीत भावसे आकर कृत्य-अकृत्यके जानने वाले इन दोनोकी दास्यवृत्तिको प्राप्त हुईं ॥७९॥

अर्थ—मानवतारूप तीर्थको धारण करने वाले राजा जयकुमारके द्वारा स्वीकृत वे विद्याएँ, जो कि आज तक विरहसे पीड़ित वल्लभाके समान दुःखी थी, सनाथताको प्राप्त कर कृतकृत्य होती हुई उनके अभिलषितकी सिद्धिके लिये संलग्न हो गईं ॥८०॥

अर्थ—सुलोचनाने भी समीचीन कार्यको सिद्ध करने वाली उन विद्याओंको पथभ्रष्ट-मार्ग भूली हुई सखियोके समान समीचीन दृष्टिसे आदृत कर सफल किया ॥८१॥

हृदीत्यादि—ता विद्या अपि सुतरां शुभौ निसर्गपावनौ तावुभौ विस्मृतौ ललाटलतिका च स्त्रिया भाले ध्रियमाणालङ्कृतिविशेषश्च चूडामणिश्च पुरुषेण शिरसि ध्रियमाणो मणिविशेषश्च ताविवासाद्य हृदि स्वान्तरङ्गे प्रसेदु प्रसन्नतामनुबभूवुः। उपमालंकारः ॥८२॥

यदीयविद्या मुकुरायतेतरां परा पुराजन्मचरित्रवेदने।
निवेद्य चोद्यं चतुरा तु राज्ञिका मनोविनोदं नयति स्म भूभुजः ॥८३॥

यदीयविद्येत्यादि—यदीया सुलोचनाया बुद्धिः परा संप्रशंसायोग्या या पुराजन्मचरितस्य वेदनेऽपि विषये मुकुरायतेतरां दर्पण इवाचरति सा चतुरा राज्ञिका सुलोचना भूभुजो जयकुमारस्य चोद्यं प्रश्नं निवेद्य सम्यग् व्यावर्ण्य भुभुजो मनोविनोदं प्रसन्नतां नयति स्म। अनुप्रासालंकार ॥८३॥

एतादृगिद्धविभवेऽपि भवेऽध्रुवत्व
मत्वाऽऽपतुर्न च मनाङ् मनसा ममत्वम्।
धर्मे दृढावुत सुतत्त्वमवाप्य सत्त्वं
स्थाने मनःप्रणयनं हि भवेन्महत्त्वम् ॥८४॥

एतादृगित्यादि—एतादृगुपर्युक्तप्रकार इद्धः 'प्रसिद्धो विभवोऽनुभावो यस्य तस्मिन्नपि नरनाथभवेऽपि किलाध्रुवत्वमनित्यत्वं मत्वा मनसा तौ जम्पती मनाङ् जातुचिदपि ममत्वं नापतुरुत सुतत्त्वं वास्तविकत्वमेव सत्त्वं सम्यग्दृष्टित्वं चावाप्य धर्मे दृढौ बभूवतुर्यतोऽत्र स्थाने समुचिते देशे मनसः प्रणयनं प्रापणमेव महत्त्वं भवेत्। अर्थान्तरन्यास. ॥८४॥

अर्थ—वे विद्याएँ भी विस्मृत ललाटलतिका और चूडामणिके समान अत्यन्त शुभ जयकुमार और सुलोचनाको प्राप्त कर हृदयमे अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥८२॥

अर्थ—जिसकी प्रशसनीय विद्या पूर्वजन्म सम्बन्धी चरित्रके जाननेमें दर्पणके समान आचरण करती थी, उस चतुर रानी सुलोचनाने प्रश्नका वर्णन कर राजा जयकुमारके मनको प्रसन्नता प्राप्त करायी ॥८३॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसिद्ध वैभवशाली भव-राजपर्यायमे भी अनित्यता मान कर वे दोनो कुछ भी ममत्वभावको प्राप्त नही हुए, किन्तु वास्तविक तत्त्व—सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर धर्ममे दृढ हो गये। यह ठीक ही है, क्योंकि समुचित स्थानमे मनका जाना ही महत्त्वपूर्ण होता है ॥८४॥

हे नर ! निजशुद्धिमेव विद्धि सिद्धिहेतुं
परथा जलसंविलोडनास्तु सर्पिषे तु ॥ स्थायी ॥८५॥

हे नरेत्यादि—हे नर ! सिद्धेः सफलताया हेतुं कारणं निजस्य शुद्धिं मनःसम्यग्भावनामेव विद्धि जानीहि। परथा किलैतस्मादन्यथाकरणं तु सर्पिषे घृताय जलस्य संविलोडना निर्मथनवृत्तिरस्तु व्यर्थकष्टाय भवेदिति ॥८५॥

सात्यकिरतपत्तुतरां दैवी सम्पच्च परा।
लब्धा खलु मुग्धतरा चित्तवागमे तु ॥ हे नर० ॥८६॥

सात्यकिरित्यादि—सात्यकिर्नाम रुद्रस्तु यद्यप्यतपत्तरां बहु तपश्चकार तेन पुनर्दैवी विद्यर्द्धिप्राया सम्पच्च परा समुल्लेखनीया लब्धा, किन्तु तदागमे सति तस्याश्चिद् बुद्धिः प्रत्युत पूर्वापेक्षयापि खलु मुग्धतराभूत् ॥८६॥

मसकपूरणोऽपि यतिः समभूच्च तथाङ्गमतिः।
उद्धतामथापगतिं भगवदागमे तु ॥ हे नर० ॥८७॥

मसकेत्यादि—मसकपूरणो यतिरपि तपस्याया प्रभावात्तथाङ्गमतिरेकादशाङ्गवेत्ता समभूदथ च पुनर्भगवदागमे जिनशासने तु लिखितमस्ति यत्किल स उद्धतामविनीतां गतिमवस्थानमापेति ॥८७॥

तुषमाषवदङ्गविदोः शिवघोमुवनिः सभिदोः।
न किमाप रहस्यमहो भवसमुद्रसेतुम् ॥ हे नर० ॥८८॥

तुषमाषवदित्यादि—शिवघोषनाम मुनिरङ्गं शरीरं विच्च बुद्धिस्तयोस्तुषमाषवत् सभिदोर्भेदसहितयोर्यद्रहस्यं गूढतत्त्वमवस्तद्भवसमुद्रसेतुं संसारसागरात्तरणोपायमत्यल्पज्ञानवानपि किन्नाप? अपि तु प्राप्तवानेवेति वक्रोक्तिः ॥८८॥

अर्थ—हे मानव ! तू स्वकीय शुद्धि–अपने मनकी पवित्रताको ही सिद्धिका कारण जान, अन्य प्रवृत्ति करना तो घीके लिये जलका विलोलना ही है ॥८५॥

अर्थ—सात्यकि नामक रुद्रने अत्यधिक तप किया और उसके फलस्वरूप देवोपनीत सम्पत्–विद्या ऋद्धि भी प्राप्त की, परन्तु उसके प्राप्त होने पर भी उसकी बुद्धि पूर्वकी अपेक्षा अत्यन्त मूढ़ हो गयी ॥८६॥

अर्थ—मसकपूरण यति भी तपस्याके प्रभावसे ग्यारह अङ्गका वेत्ता हुआ था, परन्तु जिनागममे तो लिखा है कि वह अविनीत–अशोभन गतिको प्राप्त हुआ है ॥८७॥

अर्थ—शिवघोष मुनि तुषमाषके समान भेदसे सहित शरीर और आत्माके उस रहस्य–गूढ तत्त्वको क्या प्राप्त नही हुए जो संसार सागरसे पार होनेके

भरतो जगदीशसुतोऽखिलभूराडेष गतोः ।
निजतत्त्वपथे निरतोऽन्ते शिवं क्षणे तु ।।हे नर० ।।८९।।

भरत इत्यादि—जगदीशस्यादीश्वरस्य सुतो भरतश्चक्रवर्ती सोऽन्त्ये क्षणे निजतत्त्वपथे निरतस्सन् शिवमाप शेष स्पष्टम् । भूरेति कवेर्नाम पूर्वार्द्धे ।।८९।।

दम्भातीतं कृत्वा मनो विशदभावि पथि
वै पथा सोमसुतौ सत्यारम्भम् ।
तिष्ठतः स्म सद्धर्मभावनासद्भावावाराद्
दर्पापकृति ताविमौ भव्यौ वा ।।९०।।

(षडरचक्रबन्धः)

दम्भातीतमित्यादि—पथा सुलोचना च सोमसुतो जयश्च ताविमौ भव्यावत. स्वमनो दम्भातीतं छलरहितं दर्पस्य मदस्यापकृतिरभावो यत्र तन्निर्मदं सत्यारम्भ समीचीनारम्भवत् तथा निष्पापो विचारो यत्र तत्तथाकृत्वा सद्धर्मभावनायाः सद्भावो ययोस्तौ सन्तौ पथि नीतिमार्गे तिष्ठतः स्मेति षडरचक्रबन्धात्मकमिद वृत्त यतो दम्पतिविभवा इति सर्गनिर्देश ।।९०।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
विंशत्यग्निसमर्थनो जनमनोहारिण्यसौ निर्गतो
दिव्यज्ञानविभूतिभर्तरि समुत्सर्गो निरुक्ते ततः ।।९१।।

श्रीमानित्यादि—विंशत्यग्निसमर्थनस्त्रयोविंशतितमः, दिव्यज्ञानविभूतिभर्तरि—अवधिज्ञानसम्पदा सहिते । शेषं स्पष्टम् ।।

लिये सेतु–पुलके समान है ? ।।८८।।

अर्थ—आदि जिनेन्द्रके पुत्र भरत चक्रवर्ती अन्तिम समय आत्मतत्त्वमे लीन हो मोक्षको प्राप्त हुए ।।८९।।

अर्थ—ये समीचीन धर्मकी भावनासे सहित भव्य जयकुमार और सुलोचना अपने मनको छलरहित, निर्मल भावसे सहित, सत्य आरम्भसे युक्त एवं मदसे रहित कर नीतिमार्गमे स्थित रहे ।।९०।।

अर्थ—पूर्ववत् ।।९१।।

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिप०भूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयापरनाम सुलोचनास्वयवरे दम्पतिवैभववर्णनोनाम त्रयोविंशः सर्गः समाप्तः ।।

●

चतुर्विंशः सर्गः

अथात्र विद्या विशदा नियोगिनीः क्रियां प्रशस्तां सुरतोपयोगिनीम् ।
प्रभावितुं भावितमानसोऽभवन्नवा इवासाद्य स वा भुवां धवः ॥१॥

अथात्रेत्यादि—अथात्र स वा भुवां धव श्रीजयकुमारो नियोगिनीस्तेन सह नियोगो यासां ता, विशदा निर्दोषचरित्रा विद्या नवा इवासाद्य समुपलभ्य सुरताया देवभावस्याकाशे गमनादेरुपयोगो यस्यां ता तथा सुरतस्य रतिक्रीडाया उपयोगो यस्यां तां प्रशस्तां कामिभिर्विद्याधरैश्च श्लाघ्यां क्रिया प्रभावितुं समुद्योतयितुं यद्वा प्रवेवितुमिति पाठस्तपेक्षयानुभवितु भावितं परिणतं मानसं यस्य सोऽभवत् । समासोक्तिरलकारः ॥१॥

अमूः समासाद्य चमूपतिः किलाधरप्रदेशे रमते स्म नित्यशः ।
सलीलमुच्चैस्तनपर्वतेष्वसौ यदृच्छया सज्जघनस्थलीष्वपि ॥२॥

अमूरित्यादि—चमूपतिर्दिग्विजयकाले भरतचक्रिण सेनापतिर्जयकुमारोऽमूर्नियोगिनीर्विद्या समासाद्याङ्गीकृत्य नित्यशः प्रतिदिनमसौ सलील लीलासहितं यथा स्यात्तथाऽधरप्रदेशे गगनेऽधरोष्ठस्थाने तथोच्चस्तनेषु परमोच्चरूपेषु पर्वतेषु यद्वोच्चैरूपेषु स्तनेषु कुचेष्वेव पर्वतेषु तथा सज्जो निर्दोषो घनो विस्तारो यासा तास्ताः स्थल्यस्तासु यद्वा समीचीनाश्च ता जघनस्थल्यः श्रोणयस्तास्वपि रमते स्म सुखमनुबभूवेति समासोक्तिरलकारः । 'घनो मेघेऽथ विस्तारे' इति विश्वलोचनः ॥२॥

अर्थ—तदनन्तर इस जगत्मे भूपति–राजा जयकुमार अपनेसे सम्बन्ध रखने वाली निर्मल (पक्षमे निर्दोष आचरण वाली) विद्याओको (पक्षमे स्त्रियोको) नवीनकी तरह प्राप्त कर प्रशस्त एवं सुरतोपयोगिनी–देवत्वके योग्य (पक्षमें सुरत–रतिक्रीडाके योग्य) उपयोगसे सहित क्रियाको समुद्योतित करनेके लिये उत्कण्ठित चित्त हुए ।

भावार्थ—विद्याओको प्राप्त कर गगनविहार करनेकी इच्छासे सहित हुए ॥१॥

अर्थ—**सेनापति**–दिग्विजय कालमे भरत चक्रवर्तीके सेनापतिके पद पर अधिष्ठित जयकुमार उन विद्याओको प्राप्त कर **अधरप्रदेश**–आकाशमे (पक्षमे अधरोष्ठमे) **उच्चैस्तनपर्वत**–अत्यन्त ऊँचे पर्वतो पर (पक्षमे उन्नत स्तनरूप पर्वतों पर) और **सज्जघनस्थली**–निर्दोष विस्तारसे युक्त वनभूमियोंमे (पक्षमे

जयोऽर्द्धयुक्ते कृतवान् गमं समं समन्तरीपद्वितये तयेहितः ।
हितस्य वेत्ता प्रियया नयानतिर्नतिं स तीर्थेषु निजां समर्जयन् ॥३॥

जय इत्यादि—जयो नाम नृपः स हितस्य वेत्ता स्वशुभसवेदकस्तथा नयस्य नीते-रानतिः स्वीकृतिर्यस्य स नीतिमान् तया प्रियया सुलोचनयेहितो वाञ्छितोऽतस्तया समं सार्द्धमेवार्द्धयुक्ते समन्तरीपद्वितये द्वीपद्वये तीर्थेषु समादरणीयस्थानेषु निजां नतिं सम-र्जयन्नमस्कारं कुर्वन् गमं पर्यटनं कृतवान् । सिंहावलोकनो नामानुप्रासोऽलंकारः ॥३॥

विहायसाऽसौ विहरन् महाशयः शयद्वयं संकलयँश्च साबलः ।
बलप्रभुश्चैत्यनिकेतनं प्रति प्रतिस्थितो मेरुगिरिं विभाविहा ॥४॥

विहायसेत्यादि—विभाविनोऽरीन् हन्ति स विभाविहा, अबलया स्त्रिया सहित-स्साबलो बलप्रभुः सेनापतिर्जयकुमारो महाशयो विहायसा गमनेन विहरन् विहारं कुर्वश्चै-त्यानामर्हद्बिम्बानां निकेतनं स्थानं प्रतिशययोर्हस्तयोर्द्वयं संकलयन् मुकुलीकुर्वन् मेरुगिरिं देवाचलं प्रति प्रतिष्ठितस्तमुद्दिश्य प्रचचाल । पूर्वोक्त एवानुप्रासोऽलंकार ॥४॥

परीतपीताम्बरलुप्तदेहरुक् करद्वयीप्रापितचक्रकम्बुकः ।
विराजते विष्णुरिवाजतेजसा गिरौ रवीन्दू द्वयतः स उद्वहन् ॥५॥

परीतेत्यादि—स गिरिर्न जायते समुत्पद्यत इत्यज इति स्वकीयेन तेजसा द्वयत इतश्च ततश्च रविश्चेन्दुश्च तौ स उद्वहन् सधारयन् सन् परीतं परि समन्तादितं वेष्टितं यत् पीताम्बरं तत्तो लुप्ता संगुप्ता देहस्य रुक् कान्तिर्यस्य स तथा च करद्वय्या प्रापितौ चक्र-

---

समीचीन जघनस्थली-नितम्बादि प्रदेशोमे) इच्छानुसार लीलापूर्वक रमण करते थे-सुखानुभव करते थे ॥२॥

अर्थ—जो सुलोचनाके द्वारा वाञ्छित थे, अर्थात् जिन्हे सुलोचना चाहती थी, जो हितके वेत्ता थे, जिन्होने नय-नीतिको स्वीकृत किया था तथा जो तीर्थस्थानों मे नमस्कार करते थे, ऐसे जयकुमारने सुलोचनाके साथ अढ़ाई द्वीपमे भ्रमण किया था ॥३॥

अर्थ—विभाविहा-शत्रुओको नष्ट करने वाले, स्त्री सहित, आकाश मार्गसे विहार करने वाले, सेनापति जयकुमार महानुभाव चैत्यालयोके प्रति दोनो हाथ जोडते हुए मेरुपर्वतकी ओर प्रस्थित हुए ॥४॥

अर्थ—जो स्वकीय स्वाभाविक तेजसे दोनों ओर सूर्य तथा चन्द्रमाको धारण कर रहा था, ऐसा वह मेरुपर्वत उन विष्णु-कृष्ण नारायणके समान सुशोभित हो रहा था, जिनके शरीरकी कान्ति धारण किये हुए पीताम्बरसे लुप्त-तिरोहित

कम्बुकौ येन स गृहीतसुदर्शनपाञ्चजन्य इति विष्णुरिव विराजते कृष्णनारायणवद् दृश्यते । उपमालंकार. ॥५॥

पयोधराभोगसुयोगमञ्जुलां तटीं समन्ताद्धरिचन्दनाञ्चिताम् ।
गिरीश्वरः सेवत एव सत्तमां निजार्द्धदेहानुमितां तु पार्वतीम् ॥६॥

पयोधरेत्यादि—अथ गिरीश्वरः पर्वतमुख्यो महादेवश्च यत. पयोधराणां मेघानां पक्षे पयोधरयोः स्तनयोराभोगस्य सद्भावस्य सुयोगेन समागमनेन मञ्जुलां समन्ताद्धरिचन्दनेनाञ्चिता तन्नामवृक्षेण तद्द्रवेण वा समलकृतां निजस्यार्द्धेन देहेनानुमितामङ्गीकृतां पार्वतीं पर्वतसम्बन्धिनीं तटीं तामेव वा पार्वतीं नाम वामां सत्तमां मनोहारिणीं सेवत एवेति किलोपमा श्लेषश्च ॥६॥

अथास्ति जम्बूपपदेऽन्तरोपके स एव सम्यक् खलु कर्णिकायते ।
विदेहदेवोत्तरदेशपत्रकैः पयोधिमध्ये श्रिय आसनायते ॥७॥

अथास्तीत्यादि—अथापि पुन स एव सुमेरुरस्मिन् जम्बूपदेऽन्तरोपके द्वीपे सम्यक्-कर्णिका कमलमध्यावयव इवाचरतीति कर्णिकायते । यद्वा यो द्वीपः पूर्वापरविदेहदेशदेव-कुरूत्तरकुरुदेशरूपै. पत्रकैः सुमेरुरूपकर्णिकासहित· पयोधेर्लवणसमुद्रस्य मध्ये श्रियो लक्ष्म्या आसन कमलमिवाचरतीत्यासनायते । रूपकोऽलंकारः ॥७॥

हो गयी और जो दो हाथोसे सुदर्शन चक्र तथा पाञ्चजन्य शङ्खको धारण कर रहे थे ॥५॥

अर्थ—**गिरीश्वर**-पर्वतोमे मुख्य सुमेरु पर्वत (पक्षमे महादेव) **पयोधराभोग-सुयोगमञ्जुलां**-मेघोके सद्भावरूप सुयोगसे मनोहर (पक्षमे स्तनोके विस्तार सम्बन्धी सुयोगसे मनोहर) सब ओर **हरिचन्दनाञ्चितां**-हरिचन्दनके वृक्षोंसे सुशोभित (पक्षमें लालचन्दनके द्रवसे सुन्दर) सत्तमा-अत्यन्त श्रेष्ठ, **निजार्द्ध-देहानुमितां**-अपने अर्ध देहके द्वारा स्वीकृत (पक्षमे अर्द्धाङ्गिनी रूपसे परिणत) **पार्वतीं तटीं**-पर्वत सम्बन्धी तटी (पक्षमे पार्वती नामक स्त्री) का सेवन नियमसे करता है ॥६॥

भावार्थ—तटीके स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसमे स्त्रीका श्लेष किया गया है। पार्वतीकी व्युत्पत्ति मेरुपक्षमे पर्वतस्येय पार्वती होगी और महादेव पक्षमे पर्वत-स्यापत्यं स्त्री पार्वती होगी ॥६॥

अर्थ—फिर वही सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीपमे निश्चयसे कर्णिका–मध्यम अवयवके समान आचरण करता है अथवा वह जम्बूद्वीप भी पूर्वापर विदेह तथा देवकुरु उत्तरकुरुरूप पत्रो और मेरुपर्वतरूपी कर्णिकासे सहित होकर लवण–समुद्रके

चतुर्गुणीकृत्य जिनालयानसौ सदातनान् दिक्षु महाजनाञ्चितान् ।
जिनश्रियः षोडशकारणानि वै बिभर्ति भव्यानि च तानि सर्वदा ॥८॥

चतुर्गुणीकृत्येत्यादि—असौ गिरिश्चतसृषु दिक्षु महाजनैः पूज्यपुरुषैरप्यञ्चितान् पूजितान् जिनालयान् चतुर्गुणीकृत्य सदातनान् शश्वद्वर्तमानांस्तान् वै निश्चयेन सर्वदा तानि सिद्धान्ते प्रसिद्धानि भव्यानि मङ्गलकराणि जिनस्य तीर्थंकरस्य श्रियः शोभायाः षोडशकारणानि दर्शनविशुद्धयादीनि बिभर्ति स्वीकरोतीत्यपह्नुतिरलंकार ॥८॥

यदन्तिके द्वौ द्विरदौ विमुञ्चतो जलारुधारामपि नीलनैषधौ ।
रवीन्दुबिम्बे द्वयतोऽब्जदर्पणे वहन्नसौ संलभते रमाकृतिम् ॥९॥

यदन्तिक इत्यादि—निषध एव नैषधो नीलश्च नैषधश्च नीलनैषधौ द्वौ गजदन्त-सहितौ तावेव द्विरदौ हस्तिनौ जलस्योरुधारा सरिदाख्यया विमुञ्चतो यदन्तिके यस्य पार्श्वे त्यजत. । तथा द्वयत इतस्ततो रवीन्दुबिम्बे सूर्यबिम्बं चन्द्रबिम्बं च ते अब्जदर्पणे अब्जं कमल दर्पणमादर्शस्ते वहन् असौ सुमेरु रमाया लक्ष्म्या आकृतिं सलभते ॥९॥

तथैव सव्येतरनीलनैषधः सटायमानोडुपरम्परः परम् ।
गिरिः सनीलाम्बरपीतवाससो विरञ्चिपुत्रस्य बिभर्ति सच्छविम् ॥१०॥

तथैवेत्यादि—सव्यो वामश्च तदितरो दक्षिणश्च सव्येतरौ नीलश्च नैषधश्च तौ, सव्येतरौ नीलनैषधौ यस्य सोऽय गिरिस्तथा सटायमाना सटा जटा इव दृश्यमानोडूनां नक्षत्राणां परम्परा यस्य स , नीलाम्बरो बलभद्रः पीतवासा श्रीकृष्णस्ताभ्यां सहितस्य विरञ्चिपुत्रस्य नारदस्य सच्छविं बिभर्ति स्वीकरोतीत्युपमालंकार ॥१०॥

बीच लक्ष्मीके आसन–कमलके समान आचरण करता है–जान पडता है ॥७॥

अर्थ—वह मेरुपर्वत चारो दिशाओमे पूज्य पुरुषोसे भी पूजित सोलह शाश्वतिक जिनालयोको क्या धारण करता है, तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकी कारणभूत प्रसिद्ध एव मङ्गलकारी सोलह भावनाओको ही निश्चयसे सदा धारण करता है ॥८॥

अर्थ—नील और निषध पर्वतरूपी दो हाथी जिसके समीप नदियोके बहाने जलकी मोटी धारा छोड रहे है तथा जो दोनो ओर सूर्य और चन्द्र बिम्बरूपी कमल एव दर्पणको धारण कर रहा है, ऐसा वह सुमेरु लक्ष्मीकी आकृतिको प्राप्त हो रहा था ॥९॥

अर्थ—जिसके वाम और दक्षिण भागकी ओर नील तथा निषध पर्वत विद्यमान है एव सटा–जटाओके समान जिसके समीप नक्षत्रोकी परम्परा बिखर रही है, ऐसा वह सुमेरु पर्वत नीलाम्बर–नीलवस्त्रधारी बलभद्र और पीताम्बर–

भियेव भव्यो भवभावितच्छलात् स्वयं महोद्यानचतुष्टयच्छलात् ।
सुवृत्त एताः परिवर्तिताकृतीर्बिभर्ति धर्मार्थनिकामनिर्वृतीः ॥११॥

भियेवेत्यादि—एष गिरिः सुवृत्तो वर्तुलाकृतिरतः सुचरित्रोऽत एव भव्यो दर्शनीयो भद्रश्च स भवः ससार एव भवः संहारकारको रुद्रस्तेन भावितं समुत्पादितं यच्छलं प्रपञ्चस्तस्माद्भिया भयेनेव हेतुना परिवर्तिता रूपान्तरं नीता आकृतयो यासां ता धर्मश्चार्थश्च निकामश्च निर्वृतिर्मुक्तिश्च ता एता महोद्यानानां सान्द्राणां चतुष्टयस्यच्छलाद्बिभर्तीत्युपह्नुत्यलंकारः ॥११॥

सुकीर्तिगङ्गाजननाधिकारिणोऽथ वर्षभाधीननिजस्थितीनपि ।
कुलस्य कल्पानिव तान् कुलानवाप निष्पापतया कुलाग्रणीः ॥१२॥

सुकीर्तीत्यादि—अपि कुलाग्रणीः कुलीनशिरोमणिः स जयकुमारः निष्पापतया पुनीतपरिणामेन शोभना कीर्तिर्यस्यास्सा गङ्गायवा सुकीर्तिरेव गङ्गानदी तस्या जनने जन्मदानेऽधिकारिणोऽथ च वर्षस्य क्षेत्रस्य भा नाम स्थितिस्तस्या अधीना निजस्थितिर्येषां पक्षे तु ऋषभस्य नाभेयस्याधीना निजस्थितिर्येषां तान् कुलाचलान् नाम वर्षधरपर्वतांस्तान् कुलस्य कल्पान् विधीनिवावाप । 'दीप्तौ च स्यानमात्रे भा' इति विश्वलोचने ॥१२॥

स्म राजते राजतपर्वतान् यजन् सुरासुराराध्यपदाननापदो ।
स्वनामवृत्त्यर्थतयातिवल्लभान् धरावधूहासविलासभासुरान् ॥१३॥

पीत वस्त्रधारी श्रीकृष्णसे सहित विरञ्चिपुत्र–नारदजीकी उत्तम शोभाको धारण कर रहा था ॥१०॥

अर्थ—सुवृत्त–गोल (पक्षमे सदाचारसे युक्त) अत एव भव्य–दर्शनीय (पक्षमे रत्नत्रयका पात्र) यह पर्वत भव–ससाररूपी भव–संहारकारक रुद्रके द्वारा समुत्पादित छलसे भयभीत होनेके कारण ही मानो जिन्होंने अपना रूप परिवर्तित कर लिया है ऐसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार पुरुषार्थोंको चार महान् उद्यानोके छलसे धारण करता है ॥११॥

अर्थ—निष्पाप–पापरहित होनेके कारण कुलीन मनुष्योमे शिरोमणि स्वरूप जयकुमार उन कुलाचलोको भी प्राप्त हुए जो उत्तम कीर्तिसे युक्त गङ्गा नदीको अथवा सुकीर्ति रूप गङ्गाको जन्म देनेके अधिकारी हैं अथ च वर्ष–क्षेत्रोकी भा–स्थितिके अधीन जिनकी स्थिति है, अर्थात् जो क्षेत्रोका विभाग करने वाले हैं (पक्षमे भगवान् ऋषभदेवके अधीन जिनकी स्थिति है, अर्थात् इनके पूर्व जिनकी उत्पत्ति हुई है) और जो कुलकरोंके समान जान पड़ते हैं ॥१२॥

स्म राजत इत्यादि—अनापदी किलापत्तिविवर्जितः स जयकुमारः स राजत-पर्वतान् रजताचलान् यजन् पूजयन् राजते स्म। कीदृशांस्तानिति चेत्? सुरा देवा असुरा-स्तदन्ये नरादयस्तैः सर्वैराराध्यं पद स्थानं येषांस्तान्, स्वस्य नाम्नो या वृत्तिः प्रवर्तनं तदर्द्धतया विजयार्द्धापरनामतयाऽतिवल्लभान्, धरैव वधूस्तस्या हासस्य विलासा इव विलासास्तैर्भासुरान् परमशुक्लवर्णानिति। अनुप्रासोऽलंकारः ॥१३॥

द्विदन्तदन्तान् स्म स वन्दते मुदामुदारवक्षारगिरीनुताश्रयः।
श्रयन्निषूर्वीधरणान् दयापरः परत्र तीर्थेऽपि च सन्दधद्विदम् ॥१४॥

द्विदन्तेत्यादि—स दयापरोऽहिंसाधर्मरतो जयकुमारो द्विदन्तदन्तान् गजदन्त-पर्वतान् वन्दते स्म, पुनर्मुदामाश्रयो हर्षसंयुतस्सन् उदारान् वक्षारगिरीन् श्रमन् वन्दना-श्रयान् कुर्वन् पुनरिषूर्वीधरणानिष्वाकारपर्वतानपि श्रयन् सन् परत्रापि तीर्थे विद स्वबुद्धि सन्दधत् वन्दते स्म। एवं सार्द्धद्वयद्वीपमध्ये सर्वानपि तीर्थाननुजग्राहेति तात्पर्यार्थः। सिंहावलोकनानुप्रासः ॥१४॥

धराधवोऽवन्दत मानुषोत्तरं जगत्प्रसिद्धाखिलमानुषोत्तरः।
महीभृतं सत्कटकानुकारिणं सधर्मभावादिव वल्लभं विदन् ॥१५॥

धराधव इत्यादि—जगत्प्रसिद्धेष्वखिलेषु मानुषेषूत्तरः श्रेष्ठः स धराया धवः स्वामी जयकुमारो मानुषोत्तर नाम महीभृत पर्वत समीचीनस्य कटकस्य नाम कङ्कणस्योत सैन्यबल-स्यानुकारिणमाकारधारिणं पक्षेऽनुग्रहकारिणं नायक तावदेवरीत्या सधर्मभावात्तुल्यत्वादिव वल्लभ विदन् जानन् तथा श्रयन्निति वा पाठः सोऽवन्दत तम्। उत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

अर्थ—अनापदी–आपदाओसे रहित जयकुमार उन रजताचलोकी पूजा करते हुए सुशोभित हो रहे थे जिनके कि स्थान सुर–असुरोंके द्वारा पूजनीय हैं, जो विजयार्द्ध नामसे लोकप्रिय हैं तथा पृथिवीरूपी स्त्रीके हासके समान अत्यन्त शुक्ल वर्ण हैं ॥१३॥

अर्थ—हर्षके आधारभूत दयालु जयकुमारने गजदन्त पर्वतों, विशाल वक्षार-गिरियो, इष्वाकार पर्वतों तथा अढाई द्वीपमे विद्यमान अन्य जिन-चैत्यालयोंकी वन्दना की ॥१४॥

अर्थ—जगत्प्रसिद्ध समस्त मनुष्योमें श्रेष्ठ राजा जयकुमारने उस मानुषोत्तर पर्वतको वन्दना की जो सत्कटकानुकारी–उत्तम सैन्य दलका अनुकरण करने वाला था (पक्षमे समीचीन शिखरोको स्वीकृत करने वाला था)। जयकुमार उस पर्वतको अपनी तुल्यताके कारण मानो प्रिय जानते थे ॥१५॥

विहृत्य चान्या अपि तीर्थभूमिकाः सुसंकुचद्दुष्कृतकर्मकूर्मिकाः ।
मनः पुनस्तस्य बभूव भूपतेर्महामतेः श्रीपुरुपर्वतार्चने ॥१६॥

विहृत्येत्यादि—सुसंकुचन्ति अतिशयसंकोचमभ्यन्ति दुष्कृतानि यानि कर्माणि तान्येव कूर्माः कमठा यत्र ता अन्या अपि च तीर्थभूमिका विहृत्य गत्वा पुनस्तस्य महीपतेर्भूपतेर्मनः श्रीपुरुपर्वतस्य कैलासनामगिरेरर्चने समाराधने बभूव ॥१६॥

प्रतिच्छविं हन्ति तिरो निजाङ्कजां गजाधिपोऽद्रेः प्रतिदन्तिधिस्तया ।
तया रिरंसुः सुशिलासु संवशाद्वशाशयाभुग्नरदः स सम्प्रति ॥१७॥

प्रतिच्छविमित्यादि—गजाधिपोऽस्याद्रेः पर्वतस्य सुशिलासु स्वच्छासु शिलासु तिरःपतितां प्रतिच्छविं स्वप्रतिबिम्बमेव प्रतिदन्तिधिस्तया गजबुद्ध्या हन्ति, स एव पुनर्भुग्नरदस्त्रुटितदन्तो भूत्वा संवशात् स्वेच्छावशाद् वशाशयासौ वशा हस्तिनीति बुद्ध्याभिलाषया वा सम्प्रति तया सह रिरंसुः किल रन्तुमिच्छुः स्यादिति । स एव सिंहावलोकनरूपोऽनुप्रासोऽलंकारः ॥१७॥

भ्रमन्ति ये यं परितो मदोत्कटाः कटाः श्रयन्ते ननु चेतनात्मनाम् ।
मनांसि सेवार्थममुष्य पर्वतावतार उर्वीध्रपतेरिति भ्रमम् ॥१८॥

भ्रमन्तीत्यादि—यं कैलासपर्वतं परितो ये मदोत्कटा मदप्रचुरा हस्तिनो भ्रमन्ति । कीदृशास्ते ? कटाद्भुता कटाशब्दोऽव्ययोऽद्भुतवाचकः, 'अद्भुतेऽपि कटाव्ययम्' इति विश्वलोचने । ननु सोऽयममुष्योर्वीध्रपतेर्गिरीश्वरस्य सेवार्थं पर्वतावतारः पर्वतानामवतारः समागम एवेति भ्रमं चेतनात्मनां विचारभृतां मनांसि चित्तानि श्रयन्ते गच्छन्ति । पूर्वोक्त एव शब्दालंकारो भ्रान्तिमदलंकारश्च ॥१८॥

अर्थ—जिनमे पाप कर्मरूपी कछुए अत्यन्त संकोचको प्राप्त हो जाते हैं, ऐसी अन्य तीर्थभूमियोमें भी गमन करनेके बाद महा बुद्धिमान् राजा जयकुमारका मन कैलास पर्वतकी पूजा करनेमे तत्पर हुआ ॥१६॥

अर्थ—एक गजराज इस पर्वतकी स्वच्छ शिलाओं से प्रतिबिम्बित अपने प्रतिबिम्बको विरोधी हाथी जानकर उस पर प्रहार करता है। प्रहार करनेसे उसका दाँत टूट गया, पश्चात् वही गजराज उस प्रतिबिम्बको हस्तिनी समझ उसके साथ रमण करने की इच्छा करता है ॥१७॥

अर्थ—जिस कैलास पर्वतके चारों ओर जो मदोन्मत्त एव आश्चर्यकारी हाथी घूमते हैं, वे इस पर्वतराजकी सेवाके लिये क्या पर्वतके अवतार ही हैं ? विचारवान् मनुष्योके मन इस प्रकारके भ्रमको प्राप्त होते हैं ? ॥१८॥

निवारिता तापतया घनाघना घना वनान्ते सुरतश्रमोद्भिदः ।
भिदस्तु किं वा निशि संगतात्मनां मनागपि प्रेमवतामुताह्नि वा ॥१९॥

निवारितेत्यादि—यस्य गिरेर्वनान्ते काननप्रान्ते घना निबिडा ये घनाघना मेघास्ते निवारितो दूरीकृत आतपः सूर्यस्य प्रभावो यैस्तत्तया सुरतोश्रमोद्भिद. सुरतश्रमस्य रतिक्रीडाजन्यपरिश्रमस्योच्छेदका भवन्ति । ततः सगतात्मना सश्लिष्टानां प्रेमवतां मिथुनानां यत्र निशि वाप्युताह्नि दिनसे वा मनागपि किं भिदस्तु भेदो भवेत्किन्तु नैव भवेदिति काकूक्तिरलकार ॥१९॥

समस्ति शिल्पं यदयं स्वयंभुवो भुवोऽर्द्धमर्द्धं नभसोऽपि सचयात् ।
चयाश्रयो भूरिदरीमयोऽसकौ स कौ पुनः कोऽस्य गिरेस्तु यः समः ॥ २०॥

समस्तीत्यादि—यद्यस्मात्कारणादय गिरिरर्द्धं भुव पृथिव्या अर्द्धं च नभसो गगनस्य संचयात्समाश्रयात् स्वयभुव प्रकृतेरेव शिल्प समस्ति, यतोऽसकौ चयस्य समुच्चयस्याश्रयः सन्नपि भूरिदरीमयो नानागुहात्मकोऽप्यस्ति । कौ भूम्या स पुन को योऽस्य गिरः समस्तुल्योऽस्तु, नास्ति कश्चिदपि । स एवानुप्रासोऽलकार ॥२०॥

निजीयनानामणिमण्डलांशुभिर्दिवौकसामीशधनुःश्रियं प्रियाम् ।
समातनोति प्रभुरेष भूभृतां स्वयंसमापन्नपयोदमण्डले ॥२१॥

निजीयेत्यादि—एष भूभृतां प्रभुर्निजीया. स्वस्मिन् सजाता ये नानामणयस्तेषां मण्डलस्यांशुभिः किरणैः स्वयमेव समापन्नानामाप्राप्तानां पयोदानां मेघानां मण्डले दिवौकसामीशस्येन्द्रस्य यद्धनुस्तस्य श्रिय शोभा कीदृशी तां प्रियां मनोहरां समातनोति ॥२१॥

अर्थ—जिस पर्वतके वन प्रान्तमे सघन मेघ सूर्यके प्रभावको दूर करनेके कारण रतिक्रीडा सम्बन्धी श्रमको नष्ट करते रहते है, अत. परस्पर मिलित प्रेमी जनोके लिये रात और दिनमे क्या थोडा भी भेद है ? अर्थात् नही है ?

भावार्थ—सघन मेघोके विद्यमान रहनेसे जहाँ दिनकी गर्मी प्रेमी मनुष्योंके उपभोगमे बाधक नही है ॥१९॥

अर्थ—यतश्च यह पर्वत अर्धभाग पृथिवीका और अर्धभाग आकाशका लेकर निर्मित है, अत स्वयंभू-प्रकृतिकी कलारूप है। सचयका आश्रय लेनेके कारण यह बहुत भारी गुहाओसे तन्मय है। पृथिवी पर वह कौन पर्वत है, जो इस पर्वतके समान हो सके ? अर्थात् कोई नही है ॥२०॥

अर्थ—यह पर्वतोका प्रभु-कैलाश पर्वत अपने विविध मणिसमूहकी किरणों-

क्वचिन्महानीलमणिप्रभाभरे जलाकुलाम्भोदसमूहशङ्कया ।
अकाण्ड एवाथ शिखण्डिमण्डलस्तनोति नृत्यं मुदमोदमेदुरः ॥२२॥

क्वचिदित्यादि—अकाण्ड एवावसराभावेऽपि मोदमेदुरः पुलकितः । शेष स्पष्टम् ॥२२॥

स्फुरन्ति नित्यं सुमणीमरीचयोऽमरीचयोऽपत्रपतां श्रयत्यतः ।
निजप्रसङ्गेऽपि निजासुपर्वणां सुपर्वणां यस्य गुहासु निष्ठितः ॥२३॥

स्फुरन्तीत्यादि—यत्र नित्यं सुमणीनां रत्नानां मरीचयः किरणाः स्फुरन्ति, अतस्तत्र यस्य गुहासु सहजमणिमयप्रकाशयुक्तासु गुहासु निष्ठितः स्थितोऽमरीणां देवीना चयः समूहो निजासुपर्वणा निजेभ्योऽसुभ्यः प्राणेभ्य पर्व महोत्सवो येस्तेषा सुपर्वणां देवानां निजप्रसङ्गे समुचितससर्गेऽपि किलापत्रपता लज्जालुभावं श्रयन्ति । यमकालकार ॥२३॥

इतस्ततः सच्चमरीचयच्छलात् सुचारुनीहारविहारभासुरम् ।
परिभ्रमन्मूर्तिमदुत्तमं यशो बिभर्ति नित्यं धरणीधरेश्वरः ॥२४॥

इतस्तत इत्यादि—इतस्ततः सतीनां चमरीणां वनगवा चयस्य समूहस्य च्छलात् नीहारस्य तुषारस्य विहार· प्रसरणं तदिव भासुरं रमणीयं सुचारु मनोहर परिभ्रमत् सर्वतो गच्छत् सन्मूर्तिमदुत्तम निर्दोषं यशो नित्य बिभर्ति धरणीधरेश्वरोऽयमिति । अपह्नुत्यलकार. ॥२४॥

के द्वारा स्वय समागत मेघमण्डलमे इन्द्रधनुष की मनोहर शोभाको विस्तृत करता रहता है ॥२१॥

अर्थ—कही महानील मणियोंकी प्रभाके समूहमे सजल मेघसमूहकी शङ्कासे मयूरोंका समूह आनन्दसे पुलकित होता हुआ असमयमे ही कोमल नृत्य करता है ॥२२॥

अर्थ—जिस कैलास पर्वतकी गुफाओंमे निरन्तर उत्तम रत्नोकी किरणे देदीप्यमान रहती हैं, अत· उनमे स्थित देवियोंका समूह स्वकीय प्राणोसे प्रिय देवोंके स्वसमागममें भी लज्जाका अनुभव करता है ॥२३॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ पर्वत इधर-उधर विद्यमान सुरा गायोंके छलसे सुन्दर बर्फके प्रसारके समान शोभासे युक्त चलते-फिरते मूर्तिमान् यशको निरन्तर धारण करता है ॥२४॥

सुनिर्मलेऽमुष्य तटे क्वचित् क्वचिन्निपत्य गुञ्जा भृशमुत्पतन्ति याः ।
विभान्ति भव्यस्य किलान्तरात्मनि समुद्गता रागरुषोरिवांशकाः ॥२५॥

सुनिर्मल इत्यादि—अमुष्य धरणीधरस्य सुनिर्मले तटे क्वचिद् क्वचिद् या गुञ्जा निपत्योत्पतन्ति भृशं मुहुर्मुहुस्ता पुनर्भव्यस्य भगवद्भक्तस्यान्तरात्मनि चित्ते समुद्गता उच्चलिता रागश्च रुट् च तयो रागरुषोः प्रणयविद्वेषयोरंशका इव विभान्ति किलेत्युपमालंकारः ॥२५॥

परिस्फुरच्छ्यामलताभिरन्वितः सुवर्णवर्णोऽपि च पाटलाञ्चितः ।
सुलोहितः सद्धवलोऽपि पर्वतः परिस्थितिर्मेचकितास्य सर्वतः ॥२६॥

परिस्फुरदित्यादि—एष पर्वतः परिस्फुरन्त्यो याः श्यामा हरिद्वर्णा लता वल्लर्यस्ताभिरथ च परिस्फुरन्तीभिः श्यामलताभिः कृष्णलताभिरञ्चितो युक्तस्तथा सुवर्णस्यागुरुवृक्षस्य वर्णः शोभा यस्याथवा सुवर्णस्य हेम्नो वर्ण इव वर्णो यस्य सोऽपि च पाटलया नामौषध्याऽथवा पाटलेन श्वेतमिश्रितरक्तवर्णेनाञ्चितोऽनुभावितः सुन्दरो लोहितवृक्षो यत्राथवा रक्तवर्णः सद्धवल समीचीनधववृक्षयुक्तस्तथा श्वेत इत्येवमस्य पर्वतस्य परिस्थितिरवस्था सा मेचकिता बहुवर्णा सर्वत । 'सुवर्णस्तु सुवर्णालो कृष्णागुरुमतान्तरे' इति विश्वलोचने ॥२६॥

अर्थ—इस पर्वतके अत्यन्त निर्मल तटपर कहीं-कहीं जो गुमचियाँ बार-बार उछलती हैं, वे भव्यजीवकी अन्तरात्मासे उछटे हुए रागद्वेषके अंशोंके समान सुशोभित होती हैं।

भावार्थ—गुमची लाल रङ्गकी होती है और उसका मुख काला होता है। यहाँ कविने उसके लाल भागमें रागका और कृष्ण मुखमें द्वेषका आरोप किया है। निर्मल तटमें भव्य जनके अन्तरात्माका आरोप हुआ है ॥२५॥

अर्थ—यह पर्वत कहीं **श्याम-लता**–हरी हरी दूर्वाकी लताओंसे अथवा **श्यामलता**–कृष्णतासे सहित है, कहीं **सुवर्णवर्ण**–अगुरु वृक्षकी शोभासे सहित है अथवा **सुवर्णके** समान पीला है, कहीं **पाटल** नामक औषधिसे सहित है अथवा गुलाबी वर्णका है, कहीं **सुलोहित**–सुन्दर लोहित वृक्षोंसे सहित है अथवा कहीं लालरङ्गका है और कहीं **धव-ल**–धवनामक वृक्षोंको ग्रहण करनेवाला है अथवा **धवल**–सफेद रङ्गका है, इस प्रकार इस पर्वतकी अवस्था मेचकित–अनेक रङ्गों वाली है ॥२६॥

विनात्यये प्रावृषि वारि वर्षति सति स्वसानावनुपातिभव्रजम् ।
व्रजन्ति विद्याधरकन्यकाः पुनः पुनश्च यस्मिन् करकेति नन्दिना ॥२७॥

विनात्यय इत्यादि—यस्मिन् पर्वते प्रावृषि वर्षतौ दिवात्यये समये सायंकाले वारि-वर्षति सति स्वसानौ निजाङ्किते भृङ्गेऽनुपातिनां भानां नक्षत्राणां व्रजं समूहं करकेति नन्दिनाऽमी घनोपला एवेति किलानन्देन तं लातुं व्रजन्ति विद्याधरकन्यकाः 'नन्दिः शिव-प्रतीहारे द्यूतभाण्डभिदोर्मुदि' इति विश्वलोचनेसंदेहालंकारः ॥२७॥

रुषाङ्कितह्रादिनिकोऽपि सोऽप्यसौ शिरस्स्वमुष्यामृतपूरमर्पयन् ।
पुनः सदभ्रोत्समतूलकल्पनो बिभर्ति कारुण्यकमेव देवराट् ॥२८॥

रुषेत्यादि—देवराट् शक्रोऽर्थान्मेघः स प्रथमं तु रुषा रोषेणामुष्य गिरेः शिरःसु अङ्किता ह्रादिनिका विद्युदेवाशनिर्येन सोऽपि पुनरनन्तरमथामृतस्य जलस्यौषधेर्वा पूर-मर्पयन् सन् सदभ्रमेव तूलः पिचुस्तस्य कल्पना निर्माणं यस्य स सम्भवन् कारुण्यकं करुणाभावं बिभर्ति ॥२८॥

स्मरद्विडद्रिः खलु जेतुमुत्तटस्तटान्तसंलग्नबलाहकावलिः ।
बलिद्विषः पत्तनमात्तपक्षतिः क्षतिं निजां तेन कृतामनुस्मरन् ॥२९॥

स्मरद्विडद्रिरित्यादि—अयं स्मरद्विडद्रिः कैलासगिरिः स तटान्ते स्वप्रान्ते संलग्ना बलाहकानां निर्जलमेघानामावलिः पङ्क्तिर्यस्य सः, उन्नत उर्ध्वंगतस्तटो यस्य स उत्तटः

अर्थ—जिस पर्वत पर वर्षा ऋतुमे सायकालके समय पानी बरसने पर अपने द्वारा अधिष्ठित शिखर पर क्रमसे उदित होनेवाले नक्षत्रोंके समूहको ओले समझ कर विद्याधर कन्याएँ हर्षपूर्वक बार-बार लेनेके लिये जाती हैं ॥२७॥

अर्थ—मेघ प्रथम तो इस पर्वतके शिखरों पर बिजली रूपी वज्र गिराता है फिर अमृत-जल अथवा औषध अर्पित करता है और उसके बाद सफेद मेघ रूप रुईकी पल्ली उड़ाता है। इस तरह वह करुणा भावको धारण करता हुआ सा जान पड़ता है।

भावार्थ—वर्षा होनेके पहले बिजली कौंदती है फिर जलवृष्टि होती है पश्चात् जलरहित सफेद सफेद मेघ शिखरों पर छा जाते हैं। इसी प्राकृतिक दृश्यका यहाँ आलंकारिक भाषामें वर्णन है ॥२८॥

अर्थ—जिसके तटके समीप मेघमाला लग रही है, ऐसा ऊँचे तटोंका धारक यह कैलास पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्रके द्वारा की हुई पक्षाघात रूपी

स बलिद्विषः शक्रस्य पत्तनं स्वर्गं तेन कृतां निजां क्षतिं हानिं तामनुस्मरन् खलु तज्जेतु-मात्तपक्षतिः समुपलब्धपिच्छोऽस्ति तावदित्युत्प्रेक्षालंकार ॥२९॥

सुरापगापूरमदूरवर्ति यत् समन्ततः कुण्डलवत् प्रमण्डनम् ।
गिरिं निरीक्ष्यापि सुधाकरोपमं रसोदयाकाङ्क्षि मनो मनस्विनाम् ॥३०॥

सुरापगेत्यादि—यस्य समन्ततः सर्वतोऽदूरवर्ति सन्निकृष्टमेव कुण्डलवत् कर्ण-भूषणवत् चन्द्रस्य परिवेषवद्वा प्रमण्डनं यस्य तत् सुरापगाया गङ्गाया पूरमस्ति, तं गिरिं सुधाकरोपम चन्द्रतुल्यं निरीक्ष्यापि पुनर्मनस्विना विचारवता मनो रसोदय शृङ्गार-परिणाममाकाङ्क्षति तद्रसोदयाकाङ्क्षि भवति ॥३०॥

तमप्यधिष्ठानमहीधरं पुरोः पुरोगतं योऽथ यशोऽङ्कमस्पृशत् ।
स्पृशत्सुरावासममन्दभन्ददं ददर्श पद्मापतिरुत्तमोत्तमम् ॥३१॥

तमपीत्यादि—अथ यो गिरिर्यशोऽङ्कं यशसोऽङ्कं लक्षण स्वच्छत्वमस्पृशत् स्वीचकार तमपि पुरोः श्रीनाभेयस्याधिष्ठानमहीधरं परिनिर्वाणस्थल स्पृशति समालिङ्गति उच्चैस्त्वात्सुराणामावासं स्वर्गं यस्त तथाऽमन्द भन्द सुख ददातीति त किलोत्तमेष्वप्युत्तम ददर्श दृष्टवान् पद्मापति स जयकुमार. पुरोगतं सम्मुखमायातम ॥३१॥

अपनी हानिका स्मरण करता हुआ उसके नगर–स्वर्गको जीतनेके लिये मानो पङ्ख ही धारण कर रहा है।

भावार्थ—लोकमे प्रसिद्ध है कि इन्द्रने पर्वतोके पङ्ख काट दिये थे। उसका बदला लेनेके लिये ही मानो कैलास पर्वत मेघरूपी पङ्ख लगाकर वलारि–इन्द्रकी पुरो–स्वर्गको जीतनेके लिये तैयार हो रहा हो ॥२९॥

अर्थ—जिसके चारो ओर निकटवर्ती तथा कुण्डल–कर्णभूषण अथवा चन्द्र-परिवेषके समान आभूषण रूप गङ्गाका प्रवाह है, चन्द्रतुल्य उस कैलास पर्वतको देखकर भी विचारवान् मनुष्योंका मन रसोदय–शृङ्गार रसरूप परिणामको आकाक्षा करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार परिवेषयुक्त चन्द्रमण्डलको देख कर रागी मनुष्योका मन शृङ्गार भावको प्राप्त होता है, उसी प्रकार गङ्गाप्रवाहसे वेष्टित श्वेतवर्ण कैलास पर्वतको देखकर भी विचारवान् मनुष्योका मन शृङ्गार भावकी इच्छा करने लगता है ॥३०॥

अर्थ—जो यशके लक्षण स्वरूप–स्वच्छताको स्वीकृत कर रहा है, भगवान् वृषभदेवका निर्वाण स्थान है, अत्यन्त ऊँचाईके कारण मानो स्वर्गका स्पर्श कर

निभाल्य शीतांशुमिवेममुज्ज्वलं बलप्रभोराविरभूद् गिरा तदा।
तदाननात् संव्रजतोऽधिकां मुदमुदन्वतः श्रीमत ऊर्मिसन्निभा ॥३२॥

निभाल्येत्यादि—इमं गिरिं शीतांशु चन्द्रमसमिवोज्ज्वलं निर्मलं निभाल्य दृष्ट्वा तदा काले बलप्रभोर्जयकुमारस्याधिकां मुदं प्रसन्नतां संव्रजतोऽनुभवतस्तस्मात् प्रसिद्धा-दाननात्तदाननात् श्रीमत उदन्वत. समुद्रादूर्मि सन्निभातरङ्गतुल्या गिरा वाणी किलाविरभू-दुद्गात् । उपमालंकारोऽनुप्रासश्च ॥३२॥

बिभर्ति रीतिं महतीं मृगेक्षणे क्षणे नियुक्तो बहुलोहगोचरः।
चरन्नितोऽष्टापदसम्पदं धरो धरोदये राजतभालसंविभः ॥३३॥

विभर्तीत्यादि—हे मृगेक्षणे हरिणाक्षि ! गिरिरयं क्षणे नियुक्त उत्सवस्य विषयो यतोऽसौ महती रीतिं प्रवृत्तिं पित्तलधातुं वा बिभर्ति तथा बहुलस्योहस्य वितर्कस्य गोचरोऽथवा बहुलोहस्यानल्पस्यायसो गोचरो विषयोऽसौ धरः पर्वत इतश्चाष्टापद इति सम्पद समीचीनं नामाथवाऽष्टापदस्य स्वर्णस्य सम्पदं विभूतिं चरन्ननुभवन् धरोदये राजतभालसंविभो रजतस्येदं राजतं भाल तेजोऽथवा राजतं स्वच्छं भालं ललाटं तस्य संविभा शोभा यस्य स समस्ति ॥३३॥

असौ हिमारातिविवस्वतो गतिं हिमालयो वारयितुं समुद्धरन्।
उपर्युपर्यम्बुमुचो वृषद्रुचः समुन्नतोऽभ्युन्नमतीति सुन्दरि ॥३४॥

असावित्यादि—हे सुन्दरि ! असौ हिमालयो हिमस्यालयः स्थानमस्येति

रहा है, बहुत भारी सुखको देने वाला है और उत्तमोमे भी उत्तम है, ऐसे सामने आये हुए कैलास पर्वतके जयकुमारने दर्शन किये ॥३१॥

अर्थ—चन्द्रमाके समान उज्ज्वल इस पर्वतको देखकर अत्यधिक प्रसन्नताको प्राप्त हुए जयकुमारके प्रसिद्ध मुखसे उस प्रकार वाणी प्रकट हुई, जिस प्रकार कि श्रीमान्–शोभासम्पन्न समुद्रसे लहरें उत्पन्न होती हैं ॥३२॥

अर्थ—हे मृगनयने प्रिये ! उत्सवमे नियुक्त उत्सव–आनन्दको करने वाला यह पर्वत महती रीति–बहुत भारी प्रवृत्तिको धारण करता है (पक्षमे पीतलको धारण करता है), बहुलोहगोचर–नाना प्रकारके वितर्कोंका विषय है (पक्षमें बहुत भारी लोहका विषय है), इस ओर अष्टापदसम्पदं–अष्टापद इस द्वितीय नामको (पक्षमे स्वर्णरूप सम्पदाको) प्राप्त हुआ पृथिवीके अभ्युदयमें राजतभाल-संविभः–चाँदीके तेजके समान (पक्षमे स्वच्छ ललाटके समान) है ॥३३॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! बर्फका घरस्वरूप यह पर्वत बर्फके शत्रु सूर्यकी गतिको

निरस्तितो हिमारातेर्हिमनाशकस्य विवस्वतः सूर्यस्य गतिं वारयितुमुन्नत सन्नपि पृषदो पाषाणानां रुच इव रुचो येषां तानम्बुमुचो मेघानुपर्युपरि समुद्धरन् सन्नभ्युन्नमति मुहुरप्युन्नतो भवति । उत्प्रेक्षालकारः॥३४॥

परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता बिभर्ति या सम्प्रति सालकाननम् ।
असौ महाभोगनियोगिनी गिरेस्तटी तुलां ते प्रकटीकरोति भोः॥३५॥

परिस्फुरदित्यादि—भोः सुन्दरि ! असौ महत आभोगस्य परिपूर्णत्वस्य विस्तारस्य पक्षे महतो भोगस्य रतिसुखस्य नियोगोऽभिसम्बन्धो यस्याः सा, तथा परिस्फुरन्ति प्रभवन्ति श्रीयुक्ता मणयो यस्यां तया मेखलया समुत्तुङ्गमितम्बमालया काञ्च्या चाञ्चिता युक्ता 'काञ्च्यां शैलनितम्बे च, खङ्गबन्धे च मेखला' इति विश्वलोचने । या सम्प्रति सालानां नाम वृक्षाणां काननं वनं पक्षेऽलकैः केशैः सहितमाननं मुखं बिभर्ति सेयं तटी ते तुलां समानतां प्रकटीकरोति त्वत्तुल्या प्रतिभासते । उपमालकारः श्लेषेण ॥३५॥

हिमच्छलात्प्रापितमूर्तिना प्रिये ! निषेव्यतेऽसौ यशसा हि नित्यशः।
महत्त्वमासाद्य महीभृतां चये विराजतेऽन्तः सुतरामधीश्वरः ॥३६॥

हिमच्छलादित्यादि—हे प्रिये ! असौ गिरिः हिमच्छलात् तुषारव्याजात् प्रापिता

रोकनेके लिये ही मानो पाषाणके समान कान्तिवाले मेघोके ऊपर-ऊपर समुन्नत होता हुआ ऊँचा हो रहा है ।

भावार्थ—कैलास पर्वत बर्फका स्थान है, अतः बर्फका नाशक सूर्य यहाँ पर न आ पावे इस भावनासे ही मानो यह पर्वत उठते हुए मेघोके कारण दिन प्रति दिन ऊँचाई पकड़ रहा है ॥३४॥

अर्थ—भो सुन्दरि ! पर्वतकी यह तटी तुम्हारी समानताको प्रकट कर रही है, क्योकि जिस प्रकार पर्वतकी तटी **परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता**—देदीप्यमान सुशोभित मणियोसे युक्त मेखला–नितम्ब मध्यभागसे सहित है, उसी प्रकार तुम भी **परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता**–देदीप्यमान मणिमयी मेखला–करधनीसे सुशोभित हो । जिस प्रकार पर्वतकी तटी **महाभोगनियोगिनी**–बहुत भारी विस्तारके सम्बन्धसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **महाभोगनियोगिनी**–बहुत भारी रतिसुखके सम्बन्धसे सहित हो और जिस प्रकार पर्वतकी तटी इस समय **सालकानन**-वृक्षोके वनको धारण करती है उसी प्रकार तुम भी **सालकानन**–अलक–केशोसे सहित आनन–मुखको धारण कर रही हो ॥३५॥

अर्थ—यह पर्वत तुषारके छलसे मूर्तिमान् अवस्थाको प्राप्त यशके द्वारा

भूति शरीरं यस्य येन वा यशसा कीर्त्या नित्यशो निरन्तरं निषेव्यते, अतोऽसौ महीभृता पर्वतानां चये समूहे अन्तर्मध्ये महत्त्वं प्रभुत्वमासाद्य प्राप्य अधीश्वरो गिरिराजः सन् सुतरां विराजतेऽत्यन्तं शोभते ॥३६॥

अपामपायाद्धवला बलाहकावलिः सुखात्संवृतिका विलोक्यते ।
सुरैरमुष्मिन् विवृतेऽपि पर्वते स्वयं सयोषैः सुरताभिसन्धिभिः ॥३७॥

अपामित्यादि—अस्मिन् विवृतेऽपि निराच्छादनेऽपि पर्वते स्वयं योषाभिर्निजनियोगिनीभिः सहितैः सयोषैः सुरताभिसन्धिभिः संगमाभिलाषिभिः सुरैरपां जलानामपायादभावाद्धवला श्वेतवर्णा या बलाहकानां मेघानामावलिः पङ्क्तिरवशिष्यते । सा सुखादनायासात् संवृतिका यवनिका विलोक्यतेऽनुभूयते ॥३७॥

मणीनिहान्तः सहसा निगोपयन् शिलातलानि प्रकृतानि दर्शयन् ।
दरीभृदभ्यागतनुःपुरस्सरं सुकेशि ! कूटस्थतया विराजते ॥३८॥

मणीनित्यादि—हे सुकेशि ! असौ दरीभृत् पर्वतोऽभ्यागतस्य नॄनरस्य पुरस्सारं सम्मुखे सहसा स्वभावेनैव मणीन् हीरकादीनिहान्तश्छन्नान् निगोपयन् सन् शिलातलानि तान्येव प्रकृतानि दर्शयन् पुनरेष कूटैः शिखरैरेवं च मायाचारैः सह तिष्ठतीति कूटस्थस्तत्तया विराजते नित्यमवलोक्यते ॥३८॥

झरैरविच्छिन्ननिपातशालिभिर्महीभृतामीशतयाऽयमिष्यते ।
परिस्फुरद्भिर्विशदैर्ध्वजांशुकैरिवातिमात्रोन्नतिमन्नितम्बिनि ! ॥३९॥

झरैरित्यादि—हे अतिमात्रोन्नतिमन्नितम्बिनि ! परिस्फुरद्भिः प्रकाशमानैर्विशदैः

निरन्तर सेवित रहता है, अतः पर्वतोंके समूहके बीच महत्त्व प्राप्त कर अधिपातके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥३६॥

अर्थ—पर्वत यद्यपि विवृत है–खुला है आच्छादनसे रहित है, फिर भी यहाँ जलके अभावसे जो श्वेतवर्ण मेघोकी पंक्ति दिखायी देती है वही स्त्री सहित संभोगके इच्छुक देवोंके द्वारा स्वयं संवृत्तिका–परदा मान ली जाती है–उसे वे परदा रूप से देखते हैं ॥३७॥

अर्थ—हे सुकेशि ! यह पर्वत यहाँ हीरा आदि मणियोको तो स्वभावसे भीतर छिपा कर रखता है और बाह्य शिलातलों–प्रस्तरखण्डोको दिखताला है, अतः अभ्यागत मनुष्यके संमुख कूटस्थता–मायाचारका व्यवहार करता है (पक्षमें कूटों–शिखरोंसे नित्य ही अवस्थित रहता है ॥३८॥

अर्थ—हे अत्यन्त विशाल नितम्बोंसे सुशोभित प्रिये ! जो सब ओर फह-

स्वच्छैर्ध्वजांशुकैः केतनचीवरैरिवाविच्छिन्नं निरन्तर निपातशालिभिः संपतद्भिर्झरैर्नीरस्रोतोभिरयं महीभृता पर्वतानामुत राज्ञामीशतयेष्यते किलेत्युपमा ॥३९॥

समाप शस्त्रेण सता शतक्रतोरयं च मुग्धे महतीं क्षतिं पुरा ।
व्रणानि नानोपहतानि जन्तुभिर्विभान्ति भो गह्वरनामतोऽधुना ॥४०॥

समापेत्यादि—भो मुग्धे ! अयं च पुरा पूर्वकाले शतक्रतोरिन्द्रस्य सता शस्त्रेण वज्राख्येन महतीं क्षतिं समापेति श्रूयते । तत एवास्य व्रणानि यानि जातानि तानि नानाजन्तुभिरुपहतानि व्याप्तानि अधुना गह्वरनामतो विभान्ति । अपह्नुतिः ॥४०॥

पविच्छविं देवपतौ प्रदर्शयत्ययं पुनः स्विन्नतनुर्भयाढ्यताम् ।
सगैरिकाम्भोभरदम्भतो गुहामुखाद्विनिर्यद्रसनो व्यनक्ति भोः ॥४१॥

पविच्छविमित्यादि—देवपताविन्द्रेऽर्थान्मेघे पविच्छविं वज्रस्याकारमर्थाद्विद्युद्दलं प्रदर्शयति सति पुनरयं गिरिः स्विन्ना प्रस्वेदैर्व्याप्ता तनुर्यस्य स स्विन्नतनुरर्थात् सजलो भवन् गैरिकया रक्तमृत्तिकया सहितः सगैरिकश्चासावम्भोभरश्च तस्य दम्भतो मिषाद् गुहा कन्दरैव मुखं तस्माद् विनिर्यद्रसनो निर्गलज्जिह्वः सन् भयाढ्यतां भीततां व्यनक्ति प्रकटयति भो प्रिये ! 'देवो राज्ञि सुरे मेघे' इति विश्वलोचने । अपह्नुतिरलंकार ॥४१॥

सुकेशि ! उन्मुद्रय मुद्रणां गिरां सुधाकरात् वद्वदनात्वनाविलाम् ।
इहेक्षुदीक्षागुरुगौरवास्पदां नियच्छ पिच्छां मम तृप्तिकारणम् ॥४२॥

राती हुई ध्वजाओके वस्त्रोके समान जान पडते हैं, ऐसे अखण्ड प्रपातसे शोभायमान निर्झरोमे यह पर्वत महीभृतो–पर्वतों अथवा राजाओका ईश–स्वामी माना जाता है ॥३९॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! इस पर्वतने पूर्वकालमें इन्द्रके शक्तिशाली शस्त्रसे बहुत भारी क्षति प्राप्तकी थी। उस समय जो घाव हो गये थे वे ही इस समय नाना जन्तुओसे युक्त गुफाओके रूपमे विद्यमान हैं।

भावार्थ—ये गुफाएँ नही है, किन्तु घाव हैं और पुराने होनेके कारण उनमें कीडे पड़ गये है ॥४०॥

अर्थ—देवपति–इन्द्र अर्थात् मेघ ज्योंही पवि–वज्र (बिजली) दिखाता है त्योही सजल प्रदेश होनेके कारण इसके शरीरसे पसीना छूटने लगता है और गुफाओसे झरने वाले गेरूमिश्रित लाल जलके बहाने जीभ निकल आती है, इस प्रकार यह अपनी भयभीत दशाको प्रकट करता है ॥४१॥

सुकेशि ! इत्यादि—हे सुकेशि ! मुद्रणां मौनवृत्तिमुन्मुद्रय त्यज । इहास्मिन् पर्वतस्य विषये त्वद्वदनादेव सुधाकरादमृतसमुद्रादनाविला निर्दोषां तथेक्षोः पौण्ड्रस्य या दीक्षाऽऽप्रमलाभस्तस्य गुरुर्जन्मदाता तस्य गौरवस्यास्पद स्थानं यत्र तामिक्षोरप्यधिकमधुरां गिरां पिच्छां वाचा पंक्ति मम तृप्तेः कारण नियच्छ संवितर 'पिच्छा पंक्तौ च पूगे च' इति विश्वलोचने ॥४२॥

प्रसारयामास समात्तसम्भ्रमा प्रिये ह्रिये दत्तसुविश्रमा क्रमात् ।
सती सतीर्थ्यां मधुनोऽथ भारतीं रतीतिहेतुं श्रियमेव बिभ्रती ॥४३॥

प्रसारयामासेत्यादि—रतेः कामदेवाङ्गनाया अपीतिहेतु तिरस्कर्त्रीं श्रियं सुन्दरतां बिभ्रती स्वीकुर्वती सती सुलोचना प्रिये जयकुमारे समात्तः संधृतः सम्भ्रम आदरो यया सा, ह्रिये लज्जायै दत्त· सुविश्रमो विरामो यया सा सुलोचना नाम सती सा क्रमान्मधुनः सतीर्थ्यां तत्तुल्यमधुरा भारती प्रसारयामास ॥४३॥

गिरीश्वरः सोमसमृद्धभालभृत्त्वमस्ति सेयं गिरिजापि जायते ।
शिलोच्चयोपात्तकठोरतान्वयापि भाग्यतोऽहो मम गीस्तव प्रिया ॥४४॥

गिरीश्वर इत्यादि—सोमश्चन्द्र इव समृद्ध कान्तिसम्पन्नो यो भालो ललाटस्तं बिभर्तीति तथा पक्षे सोमेन समृद्ध चन्द्रेण सपन्न भालं ललाटं बिभर्तीति तथा, एवंभूतस्त्वं स्वयं गिरा वाचामीश्वरोऽधिप प्रशस्तवाणीश्वरोऽसि पक्षे गिरीश्वरः शिवोऽथ च गिरीणामीश्वरः कैलास । इय सा तव वाणी गिरिजा गिरिमाश्रित्य जातेति पक्षे पार्वतीरूपास्ति । मम सुलोचनायास्तु गीर्वाणी शिलानां प्रस्तराणामुच्चय समूहस्तस्मादुपात्तो

अर्थ—हे सुकेशि ! मौनमुद्रा छोडो और अपने मुखरूपी अमृतके समुद्रसे निकलनेके कारण निर्दोष तथा इक्षुसे भी अधिक मधुर एव मेरी तृप्तिके कारणभूत वचनोकी पक्ति प्रदान करो ॥४२॥

अर्थ—जो प्रिय–जयकुमारमे आदर भावको धारण कर रही है, जिसने लज्जाके लिये विराम दे दिया है तथा जो रतिका भी तिरस्कार करने वाली शोभाको धारण कर रही है, ऐसी सती सुलोचनाने क्रमशः मधुतुल्य वाणीको प्रसारित किया ॥४३॥

अर्थ—**सोमसमृद्धभालभृत्**–चन्द्रमाके समान समृद्ध ललाटको धारण करने वाले **गिरीश्वर**–वचनोके स्वामी हैं (पक्षमे चन्द्रमासे समृद्ध-सपन्न ललाटको धारण करने वाले) आप **गिरीश्वर**–**गिरीश**–शकर रूप है और गिरिजा–पर्वतके आश्रयसे उत्पन्न हुई आपकी यह वाणी **गिरिजा**–पार्वतीरूप है। मेरी वाणी यद्यपि शिलोच्चयोपात्तकठोरतान्वया–पाषाण खण्डोंके समूहसे कठोरताके सम्बन्धको

गृहीतः कठोरताया अन्वयो यया तथाभूतापि सती भाग्यतो मत्सुकृतोदयात् तव प्रिया प्रीतिकर्यस्तीत्यहो आश्चर्यम् ॥४४॥

किमु प्रजादुष्कृतभस्मसंचयः किमादिसूनोः सुकृतोच्चयोदयः ।
भवद्यशःस्तोमसमन्वयो ह्ययं घनायितः किन्नु विधोः सुधोदयः ॥४५॥

किमु इत्यादि—हे स्वामिन् ! प्रजाया दुष्कृतस्य पापाचारस्य भस्मसंचय एवायं किमु, तथादिसूनोर्भरतमहाराजस्य सुकृतस्य पुण्यकर्मण उच्चयोदय एव किमु, तथा भवतां श्रीमतां यशसः स्तोमः समूहस्तेन सार्द्धं समन्वयः समभावो यस्य सोऽयं, तथा घनायितो निबिडभावायितो विधोश्चन्द्रस्य सुधाया उदय एव किन्नु । इति सतर्कोऽलंकारः ॥४५॥

अनर्गलौद्धत्यवतेऽयि वल्लभ ! स्वतः कुजातीन् शतशः पलाशिनः ।
स्वपल्लवैः सत्पथसंविरोधिनोऽधिकुर्वतेऽस्मै भवतो न किं भयम् ॥४६॥

अनर्गलौद्धत्यवत इत्यादि—अयि वल्लभ ! प्रियवर ! अनर्गलमव्यवच्छेदमौद्धत्यमुच्छृङ्खलत्वं यस्य तस्मै तथा शतशः पलाशिनः पत्रवतश्च मांसभक्षकांस्तथा स्वपल्लवैः स्वैः पत्रैः पादक्षेपैश्च सत्पथस्याकाशस्य सन्मार्गस्य संविरोधिनोऽवरोधकान् कुजातीन् कोः पृथिव्या जातिरुत्पत्तिर्येषां तान् वृक्षान् कुजातीन् नीचकुलान् वाऽधिकुर्वते विदधतेऽस्मै किं भवतस्त्वत्तो भयं नास्ति ? ॥४६॥

ग्रहण करने वाली है-अत्यन्त कर्कश है, फिर भी मेरे भाग्यसे वह आपको प्रिय है, यह आश्चर्यकी बात है ॥४४॥

अर्थ—यह क्या प्रजाके दुराचारकी भस्मका समूह है या आदिसूनु भरत चक्रवर्तीकी पुण्यराशिका उदय है या आपके यशका समूह है या निबिडता–घनीभावको प्राप्त हुआ चन्द्रमाकी सुधा–अमृतका समूह है ॥४५॥

अर्थ—हे प्रियवर ! जो रोक-टोक रहित स्वच्छन्दतासे सहित हैं, स्वयं सैकडो बार पलाशिनः–मांस खानेवाले एवं स्वपल्लवैः–अपने पादविक्षेपोसे सत्पथ–समीचीन मार्गका विरोध करने वाले कुजातियो–नीचकुली लोगोंको धारण करता है, ऐसे इस पर्वतको आपसे क्या डर नही लगता ?

अर्थान्तर—जो विच्छेदरहित **औद्धत्य**–ऊँचाईसे सहित है तथा **पलाशिनः**–पत्रोसे सहित एव अपनी नई-नई कपोलोंसे **सत्पथ**–आकाशको रोकने वाले सैकडो **कुजातियो**–पृथिवीके उत्पन्न होने वाले वृक्षोको धारण करता है, ऐसे इस पर्वतके लिये आपसे क्या भय है ? अर्थात् नही है ॥४६॥

अधस्तनारम्भनिरुद्धभूतलः प्रयाति कूटैः पुरुहूतपत्तनम् ।
कुतः सरन्ध्रोऽवनिभृत्सु मानितोऽथवा पुरोः पादसमन्वयो ह्ययम् ।।४७।।

अधस्तनेत्यादि—अयं गिरिरधस्तनारम्भेण नीचैर्भवेन प्रसारेण निरुद्धमभिव्याप्तं भूतलं येन स तथा रन्ध्रैर्गह्वरैः सहितोऽपि किलावनिभृत्सु शैलेषु मानितोऽस्तीति कुतो यतो नीचकार्यकरः कपटधरश्च जनो नोपैति स्वर्गं दुर्गुणधरश्च भूपैर्मान्यो न भवतीति विरोधोऽथवा ह्ययं पुरोः श्रीनाभेयस्य पादयोश्चरणयोः समन्वयः सम्पर्को यस्य सोऽयमस्ति तत एवाभूतपूर्वप्रभाववानिति परिहारः । विरोधाभासोऽलंकारः ।।४७।।

बृहन्नितम्बा तिलकाङ्कभृच्छिरा निरन्तरोदार पयोधरा तराम् ।
सविभ्रमाऽपाङ्गतयान्विता श्रिया विभाति भित्तिः सुभगास्य भूभृतः ।४८।

बृहन्नितम्बेति —अस्य भूभृतः पर्वतस्य भित्तिः सा सुभगा सौभाग्यशालिनी विभाति यतोऽसौ बृहन्नितम्बा समुच्चशिखरा पक्षे तुन्नतकटिपृष्ठभागा, तथा तिलकस्य नाम वृक्षस्य पक्षे ललाटभूषणस्याङ्कभृच्चिह्नयुक्तं शिरः शृङ्गपक्षे मस्तकं यस्याः सा, निरन्तरं

अर्थ—यह पर्वत अपने अधस्तन–नीच कार्योंसे पृथिवी तलको व्याप्तकर रहा है (पक्षमे नीचेके विस्तारसे पृथिवी तलको घेर रहा है), कूट–कपटमय कार्योंसे (पक्षमे शिखरोसे) स्वर्गको जा रहा है–स्वर्गका स्पर्श कर रहा है और सरन्ध्र–छिद्रोसे सहित है (पक्षमे गुफाओसे सहित है) । इतने दुर्गुणोसे युक्त होकर भी यह अवनिभृत्–पर्वतो अथवा राजाओमे सन्मानित क्यो है ? क्योंकि जो नीच कार्य करता है तथा अनेक दुर्गुणोसे युक्त होता है वह स्वर्ग नही जाता । इस विरोधका परिहार यह है कि इसका आदि जिनेन्द्रके चरणोके साथ सम्पर्क हुआ है, यहाँसे उन्होने निर्वाण प्राप्त किया है, उन्होके चरण सम्पर्कका यह प्रभाव है । पूज्य पुरुषोंके चरणोंको सेवासे दुर्गुणी मनुष्य भी सद्गतिको प्राप्त हो जाते हैं ।।४७।।

अर्थ—हे प्रियवर ! रसभूभृत्–पर्वत (पक्षमे राजा) की **भित्ति–दीवाल** (पक्षमें स्त्री) शोभासे अत्यधिक सुशोभित हो रही है । यहाँ भित्ति शब्दके स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसमें स्त्रीका आरोप किया गया है । दोनों पक्षोंमे विशेषणोंकी योजना इस प्रकार है—**भित्तिपक्षमें बृहन्नितम्बा**–विशाल मध्य भागसे सहित है, **स्त्रीपक्षमें बृहन्नितम्बा**–विस्तृत नितम्बोंसे सहित है । **भित्तिपक्षमें तिलकाङ्कभृच्छिराः**–तिलक वृक्षसे युक्त शिखरसे सहित है, **स्त्रीपक्षमें–तिलकाङ्कभृच्छिराः**–कुङ्कुमके तिलकरूप चिह्नको धारण करने वाले मस्तकसे सहित है । **भित्ति-**

सदाकाले किलोदारा विपुला पयोधरा मेघा यस्यां सा पक्षे निरन्तरौ व्यवधानवर्जिता-वुदारावुन्नतौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा, सविभ्रमा विहगभ्रमणसहिताऽपां जलानां मध्ये गतया श्रिया पक्षे विभ्रमसहितोऽपाङ्गो नेत्रान्तप्रदेशो यस्यास्तया श्रिया शोभयेति समासोक्तिः । तरामित्युत्कर्षे ॥४८॥

निशास्वसौ संज्वलदोषधिव्रजैर्ज्वलन्तमात्मानमनल्पकल्पकृत् ।
शैलोपलेभ्यो विगलज्जलप्लवैरनल्पशस्तावदिहाभिषिञ्चति ॥४९॥

निशास्वित्यादि—अनल्पो विस्तृतो य कल्पो विधिरनुष्ठानविशेषस्तं करोतीत्यनल्पकल्पकृत् असौ पर्वतो निशासु रजनीषु सज्वलद्भिर्देदीप्यमानैरोषधिव्रजैरौषधसमूहैर्ज्वलन्त दह्यमानमात्मान स्व शलोपलेभ्यश्चन्द्रकान्तमणिभ्यो विगलतां क्षरतां जलानां प्लवैः पूरैरिह स्थानेऽनल्पश भूयोभूयोऽभिषिञ्चति अभिषिक्तं करोति । अत्र रात्रावोषधय प्रज्वलन्ति चन्द्रकान्तोपलेभ्यश्च जलं निश्च्योततीति भाव ॥४९॥

गवाक्षपूर्णो धृतमत्तवारणः समर्जुनिश्रेणिरुपात्ततोरणः ।
समुद्धनिर्यूहधरो महीधरः प्रिय ! प्रतीतोऽस्तु यथा मदालयः ॥५०॥

गवाक्षेत्यादि—हे प्रिय ! अय महीधर. पर्वतो यथाऽस्मदालयो निवासस्तथा प्रतीतोऽनुभवगम्योऽस्तु, यतो गवाक्षैर्जालकैर्वानरैश्च पूर्ण सव्याप्त । धृतमत्तवारणो

पक्षमे निरन्तरोदारपयोधरा—व्यवधान रहित अथवा सदा विशाल मेघोंसे सहित है, स्त्रीपक्षमे निरन्तरोदारपयोधरा—अन्तर रहित स्थूल स्तनोसे सहित है । भित्तिपक्षमे सविभ्रमापाङ्गतया श्रियान्विता—पक्षियोके सचारसे युक्त जलके मध्य प्राप्त शोभासे सहित है, स्त्रीपक्षमे सविभ्रमापाङ्गतया श्रियान्विता—हाव-भाव सहित कटाक्ष सम्बन्धी शोभासे सहित है । भित्तिपक्षमें सुभगा—सुन्दर है, स्त्री पक्षमे सुभगा—सौभाग्यशालिनी है ॥४८॥

अर्थ—बहुत भारी अनुष्ठानविशेषको करने वाला यह पर्वत रात्रियोमें देदीप्यमान औषधियोके समूहसे जलते हुए अपने आपको चन्द्रकान्त मणियोंसे झरने वाले जलके प्रवाहसे बार-बार सीचता रहता है ॥४९॥

अर्थ—हे प्रिय ! यह पर्वत हमारे घर जैसा अनुभवमे आता है, क्योंकि जिस प्रकार हमारा घर गवाक्षपूर्ण—झरोखोसे पूर्ण है, उसी प्रकार यह पर्वत भी गवाक्ष-

---

१ 'कल्पो ब्रह्मदिने न्याये प्रलये विधिशान्तयो ' इति विश्व० ।
२ 'शल तु शल्लकीलोम्नि शलो भृङ्गिगणे विधौ' इति विश्व० ।
३ 'गवाक्षो त्विन्द्रवारुण्या पुंसि जालककीशयो ' इति विश्व० ।

मत्तहस्तिभिर्युक्त पक्षे वन्दनवारैर्युक्त । समर्जुः सरला निश्रेणिः खर्जूरवृक्ष सोपान-पङ्क्तिर्वा यस्य सः । उपात्त स्वीकृतस्तोरणो नाम वृक्षो द्वारमुख वा येन स । समुद्ग उन्नतो निर्यूह शृङ्गो द्वारप्रदेशश्च तद्धरो धारक इति श्लिष्टोपमा 'निर्यूहो द्वारि । नियति शिखरे नागदन्तके' इति विश्वलोचने ॥५०॥

विपल्लवानामिह सम्भवोऽपि न विपल्लवानामुत शाखिनामपि ।
सदारमन्तेऽस्य विहाय नन्दनं सदा रमन्ते रुचिततस्तः सुराः ॥५१॥

विपल्लवानामित्यादि—इह पर्वते विपद आपत्तेर्लवानां लेशानामपि सम्भवो नास्ति । उत पुन. विपल्लवानां पत्ररहिताना शाखिनां वृक्षाणामपि सम्भवो नैवास्ति । तत एव सुरा देवा दारेभ्य सहितं सदारं यथा स्यात्तथा रमन्ते सुखं लभन्तेऽस्यान्ते प्रान्ते सदैव नित्यं प्रति नन्दनं स्वर्गवनमपि विहाय रुचित प्रीतिभावात् । यमकालंकारः ॥५१॥

गुणाकरां गूढपयोधरां नराधिराड् गिरां नव्यवधूमिवादरात् ।
ह्रियेव संक्षिप्तपदां स्वयं तदानुभूय भूयः प्रतिभूरभून्मुदाम् ॥५२॥

गुणाकरामित्यादि—नराधिराट् स जयकुमारस्तदा गुणानामाकरः सचयो यत्र तां

पूर्ण—वानरोसे व्याप्त है । जिस प्रकार हमारा घर **धृतमत्तवारण**—वन्दनवारोको धारण करने वाला है, उसी प्रकार यह पर्वत भी **धृतमत्तवारण**—मदोन्मत्त हाथियोको धारण करने वाला है । जिस प्रकार हमारा घर **समर्जुनिःश्रेणि**—एक बराबर एवं सीधी सीढियोंसे सहित है, उसी प्रकार यह पर्वत भी **समर्जुनि-श्रेणि**—एक सदृश एवं सीधे खर्जूरके वृक्षोंसे सहित है । जिस प्रकार हमारा घर **उपात्ततोरणः**—द्वारके अग्र भागसे सहित है उसी प्रकार यह पर्वत भी **उपात्त-तोरण**—तोरण नामक वृक्षोको ग्रहण करने वाला है और जिस प्रकार हमारा घर **उद्धनिर्यूहधरः**—ऊँचे द्वारप्रदेशको धारण करने वाला है, उसी प्रकार यह पर्वत भी **उद्धनिर्यूहधरः**—ऊँचे शिखरको धारण करने वाला है ॥५०॥

अर्थ—इस पर्वतपर **विपल्लवानां**—विपत्तिके अंशोका और **विपल्लवानां** शाखिना—किसलयरहित वृक्षोंका सद्भाव सम्भव नही है, इसीलिये देव नन्दनवन को छोडकर इसके प्रान्त भागमे स्त्रियो सहित सदा रुचिपूर्वक क्रीडा करते हैं ॥५१॥

अर्थ—राजा जयकुमार उस समय सुलोचनाकी उस वाणीका अनुभव कर

---

१. 'स्यान्मत्तवारणः पुंसि मददुर्दान्तवारणे ।
क्लीबं प्रासादवीथीना वरण्डे चाप्यपाश्रये ॥' इति विश्व० ।

२. 'निःश्रेणिरधिरोहिण्या खर्जूरी पादपे स्त्रियाम्' इति विश्व० ।

गूढं पयो रस धरतीति ता तथा गूढावप्रकटौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तां ह्रियेव लज्जयेव किल संक्षिप्तपदामल्पशब्दां लघुमन्दचरणक्षेपां वा गिरा तथोक्तां सुलोचनाया वाणीं नव्य-वधूमिवानुभूय भूयो वारं वार मुदां हर्षाणा प्रतिभू. स्वामी सोऽभूद् बभूव। श्लेषोपमानु-प्रासश्चालंकारः ॥५२॥

शिलोच्चयं साम्प्रतमप्रमत्तवान् रुरोह सच्छुक्लमिवात्मचिन्तनम् ।
यती विशुद्धयेव महागुणाश्रयः समन्वितः सोऽथ नतभ्रुवा जयः ॥५३॥

शिलोच्चयमित्यादि—अथ साम्प्रतमप्रमादवान् कर्तव्यविस्मृति प्रमादस्तद्रहितो जयो हस्तिनागपुराधिप स नतभ्रुवा नते भ्रुवौ यस्यास्तया सुलोचनया समन्वित' महागुणानां चाष्टमादिगुणस्थानामाश्रय सच्छुक्लमत्यन्तनिर्मलमात्मचिन्तनं ध्यानमिव शिलोच्चयं पर्वतमारुरोह चटितवानित्युपमालंकारः ॥५३॥

ददर्श देवाश्रममुत्तमं तदा तदाचरन् सत्वरमुद्भवन्महाः ।
महामना मूर्तिमदेव सत्कृतं कृतं परैः श्रीधरभूप्रमोददः ॥५४॥

ददर्शेत्यादि—तदा कैलासारोहणकाले उद्भवति प्रस्फुरति मह उत्सवो यस्य सः महामना विचारशील. श्रीधरभू. सुलोचना तस्यै प्रमोदं ददातीति यः सः, आचरन्नित-स्तत परितो गच्छन् सन् सत्वरं शीघ्रमेवोत्तम तद्देवस्यार्हत आश्रमं स्थान यत्परैर्महा-पुरुषैः कृत निर्मित मूर्तिमत् सत्कृत पुण्यमेव किल ददर्शेत्युत्प्रेक्षा ॥५४॥

बार-बार हर्षके स्वामी हुए, जोकि नवीन वधू–नवोढाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार वह वाणी **गुणाकर**–श्लेष-प्रसाद-माधुर्य आदि गुणोकी खान थी उसी प्रकार नवीन वधू भी **गुणाकर**–सौन्दर्य आदि गुणोकी खान होती है। जिस प्रकार वह वाणी **गूढपयोधरा**–गूढरसको धारण करने वाली थी उसी प्रकार नवीनवधू भी **गूढपयोधरा**–अप्रकट स्तनोको धारण करने वाली होती है और जिस प्रकार वह वाणी लज्जासे ही मानो **संक्षिप्तपदा**–संक्षिप्तपद विन्यास वाली थी उसी प्रकार नवीन वधू भी लज्जावश **संक्षिप्तपदा**–थोडी बोलती है, अथवा अल्पपद सचार करती है–थोडा चलती है ॥५२॥

अर्थ—जिस प्रकार महान् गुणोके आश्रयभूत प्रमादरहित मुनिराज विशुद्धिके द्वारा अत्यन्त निर्मल आत्मचिन्तनपर आरूढ होते हैं, उसी प्रकार सावधान एव शूरवीरता आदि गुणोके आधारभूत कुमार सुलोचनाके साथ शुक्लवर्ण कैलास पर्वतपर आरूढ हुए ॥५३॥

अर्थ—कैलास पर्वतपर चढते समय शीघ्र ही जिनका आत्मतेज उभर रहा है, जो विचारशील है, सुलोचनाको आनन्द देनेवाले है तथा सब ओर विचरणकर

कलं वनेऽसावविलम्बनेन तद् गिरेर्बलं देवलमाप पापहृत् ।
धृतावधानः सुनिधानवद् बुधः सदायकं वाञ्छितदायकं तदा ॥५५॥

कलमित्यादि—तदासौ बुधो बुद्धिमान् जयकुमारो धृतावधानः प्रयत्नवान् सन् निधानवद् देवलं तत्स्थानं वनेऽविलम्बनेनानन्यव्यासङ्गेनाप प्राप्तवान् । कीदृशं तद् देवलम् ? गिरेर्बलं सारभूतं पापहृद् दुरितनाशकं सदायकं समीचीनकर्मणं आयकरमुत्पादकं तत एव वाञ्छितदायकं समभीष्टसिद्धिकरमित्युपमा चानुप्रासश्चालंकारः । कलं मनोहरं तद्देवलमिति ॥५५॥

जयः प्रचक्राम जिनेश्वरालयं नयप्रधानः सुदृशा समन्वितः ।
महाप्रभावच्छविमुन्नतावधिं यथा सुमेरुं प्रभयान्वितो रविः ॥५६॥

जय इत्यादि—नयो नीतिरेव प्रधानं यस्य स जयकुमारः सुदृशा सुलोचनया समन्वितस्तं जिनेश्वरालयं प्रचक्राम प्रदक्षिणीकृतवान् । कीदृशं तं ? महाप्रभावती छविर्यस्य तं तथोन्नतोऽवधिर्मर्यादा यस्य तं सुमेरुं यथा प्रभयान्वितो रविः पर्येति तथेत्युपमालंकारः । यद्वा महाप्रभावच्छविरेव जयस्य विशेषणम् ॥५६॥

अथेममभ्यङ्गरुचिः पुनः शुचिः पयोधरोदारघटा बभाज सा ।
विधूपमानार्हमुखा सुखाशिका समाप्लवश्रीर्वरवर्णशासिका ॥५७॥

अथेममित्यादि—अथेमं पुनर्जयकुमारं समाप्लवश्रीः स्नानलक्ष्मीर्बभाज स्वीचकार । कीदृशी सेति चेत् ? शुचिर्निसर्गनिर्मला, वरवर्णशासिका वरस्य वल्लभस्य वर्णं स्तुतिं वा

रहे हैं, ऐसे जयकुमारने पूर्व पुरुषोंके द्वारा निर्मित उस उत्तम देवाश्रम-अर्हन्त देवके स्थानको क्या देखा मानो मूर्तिमान्-शरीरधारी पुण्यको ही देखा ॥५४॥

अर्थ—उस समय बुद्धिमान् एवं प्रयत्नवान् जयकुमारने वनमे विलम्ब किये बिना शीघ्र ही उस देवस्थानको प्राप्त कर लिया, जो कल-मनोहर था, पर्वतका बल-सारभूर था, पापहृत्-पापको नष्ट करनेवाला था, निधानके समान था, सदायक-शुभ कर्मको देनेवाला था तथा अभीष्टदायक था ॥५५॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रभासे सहित सूर्य बहुत भारी प्रभायुक्त छविवाले उत्तुङ्ग सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करता है, उसी प्रकार नीतिप्रधान एव सुलोचनासे सहित जयकुमारने कान्तिशाली उस जिनमन्दिरकी प्रदक्षिणा-परिक्रमा की ॥५६॥

अर्थ—तदनन्तर उस स्नानलक्ष्मीने जयकुमारकी सेवा की, जो अभ्यङ्गरुचि-उबटन अथवा तैलमर्दनमे रुचि रखती थी, शुचि-स्वभावसे उज्ज्वल थी,

शोभा वा वर श्रेष्ठं वर्णं रूपं वा शास्तीति वरवर्णशासिका वरवर्णिनी वातोऽभ्यङ्गरुचिः अभ्यङ्गस्योद्वर्तनस्य तैलमर्दनस्य वा रुचि शोभा यस्यास्तथाङ्गमभि अभ्यङ्गं रुचिः कान्तिर्भवति यया साऽभ्यङ्गरुचिस्तथा पयोधरोदारघटा पयोधरो जलभरितश्चोदारश्च घटो भवति यत्र तथा पयोधरौ स्तनावेवोदारौ घटौ कुम्भौ यस्यास्सा, तथा विधुः कर्पूरः स उपमानं मुख यस्यास्सा, सुखस्याशिका यत्र कृतायां वृतायां वा सुखं भवति सा किलेति समासोक्ति ॥५७॥

तदास्यसंशोधनसाधनाब्भरे छविच्छलेनावतरन्त्यदः करे ।
पचेलिमा द्यौर्निजगाद सत्कृतिममुष्य हूतापि परैरनागतिः ॥५८॥

तदास्येत्यादि—तदा तस्मिन्नवसरे किलास्य मुख तस्य संशोधन प्रक्षालनं तस्य साधन कारणमपा भरो यत्र तस्मिन् जलपूर्णेऽदः करे जयकुमारस्य हस्तेऽवतरन्ती प्रतिबिम्ब ववतो पचेलिमा परिपाक प्राप्ता द्यौ समुच्चगतिः स्वर्गलक्ष्मीर्वा सामुष्य सत्कृति जगाद समस्ययोवाच या परैर्हूताप्यनागतिर्नागच्छति ॥५८॥

असौ समङ्गेष्वथ काशि भूपभू-परीपरीरम्भपरोऽधिराट् चिरात् ।
यतः किलाप्तः परिरम्भितोऽभितः समार्द्रया भालमुखेषु मृत्स्नया ॥५९॥

पयोधरोदारघटा—जलको धारण करनेवाले बडे-बडे कलशोसे सहित थी, **विधुपमानार्हमुखा**—कपूरकी उपमाके योग्य प्रारम्भसे सहित थी, **सुखाशिका—सुख** प्रदान करनेवाली थी और **वरवर्णशासिका**—उत्तम रूपको प्रदान करने वाली थी।

भावार्थ—समाप्लवश्री स्त्रीलिङ्ग शब्द है, अत विशेषणोकी सदृशतासे उसमे स्त्रीका आरोप किया है, अर्थात् स्नानलक्ष्मी रूपी स्त्रीने जयकुमारको स्वीकार किया। इस पक्षमे विशेषणोकी अर्थ योजना इस प्रकार है। **अभ्यङ्गरुचि**—पतिके अङ्ग–शरीरमे जिसकी रुचि है, **शुचि**—स्वभावसे जो उज्ज्वल रूपको धारण करनेवाली है। **पयोधरोदारघटा**—घटके समान जिसके **बडे-बडे** स्तन है, **विधूपमानार्हमुखा**—जिसका मुख चन्द्रमाकी उपमाके योग्य है, **सुखाशिका**—जो सुखकी आशा रखता है और **वरवर्णशासिका**-पतिके रूप अथवा यशका वर्णन करने वाली है ॥५७॥

अर्थ—स्नानके समय मुखप्रक्षालनके साधनभूत जलके समूहसे सहित जयकुमारके हाथमे प्रतिबिम्बके छलसे अवतीर्ण हुई परिपाकको प्राप्त स्वर्गलक्ष्मी अथवा उच्च गति इनके पुण्य कार्यको सूचित कर रही थी। वह स्वर्गलक्ष्मी [illegible] उच्च गति जो कि दूसरोके द्वारा बुलाने पर भी नही आती है ॥५८॥

असावित्यादि—अथासौ राजाधिराट् काशिभूपभूः सुलोचना सैव परो सर्वोत्तमसुन्दरी तस्याः परीरम्भे समालिङ्गने पर. संलग्नोऽधुना किल विरावाप्तः संलब्ध इति किल समार्द्रया स्नेहयुक्तयाप्यशुष्कया मृत्स्नया मृत्तिकया भालमुखेषु प्रसिद्धेष्ववयवेषु परिरम्भित. समालिङ्गितोऽभूत् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥५९॥

अथामले वारिविलासिपल्वले विचारयंस्तद्व्यपदेशसंहृतिम् ।
निरञ्जनैः स्नातकमन्त्रसंस्कृतैस्तनुं स्म तोयैः स्नपयत्यसौस्वाम् ॥६०॥

अथामल इत्यादि—अथामलेऽपि वारिविलासिपल्वले निर्मलजलतटाकेऽपि तस्य कर्दममीनादे प्रसङ्गस्तस्य संहृति समायोग विचारयन् किल स्नातकमन्त्रेण संस्कृतैस्तोयै रसौ जय. स्वा तनु स्नपयति स्म ॥६०॥

अनेकधा तानितसंगुणोक्तिभृत् पवित्रितान्तःकरणप्रसक्तिमत् ।
विशालमालम्बितवान् दुकूलकं सुनिर्मलं जैनवचोऽनुकूलकम् ॥६१॥

अनेकधेत्यादि—स उक्तप्रसङ्गो जयकुमार स्नानानन्तरं विशालमसंकीर्णं दुकूलकं वस्त्रमालम्बितवान् जग्राह । कीदृक् तत् ? जैनवचोऽनुकरोति यत्तत् जैनवचोऽनुकूलकं सुनिर्मल स्वच्छ पवित्रितस्यान्तःकरणस्य हृदयस्य प्रसक्तिमत् प्रसन्नताद्योतक तथाऽनेकधातानिताना सगुणाना समीचीनाना तन्तूना मुक्तिभृत् ॥६१॥

अर्थ—मुखप्रक्षालनके बाद जयकुमारने मस्तक आदि अङ्गोमे उत्तम मिट्टी लगायी, उससे ऐमा जान पडता था कि अब तक जयकुमार सुलोचनाके आलिङ्गनमे ही तत्पर रहे हैं, मुझे अवसर ही नही मिल सका। अब अवसर देख पृथिवीरूप स्त्री स्नेहसे आर्द्र हो उनके मस्तक आदि अङ्गोका आलिङ्गन कर रही हो ॥५९॥

अर्थ—निर्मल जलसे सुशोभित सरोवरमे कर्दम तथा मछली आदिके संयोगका विचार करते हुए जयकुमारने स्नातक मन्त्रसे सुसंस्कृत अत एव पवित्र जलसे ही अपने शरीरको नहलाया था ॥६०॥

अर्थ—स्नानके बाद जयकुमारने उस विशाल मात्राके अनुरूप वस्त्रको धारण किया जो जिनेन्द्र भगवान्के वचनोका अनुकरण करने वाला था, क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के वचन अनेकधातानितसंगुणोक्तिभृत्–अनेक प्रकारसे विस्तृत समीचीन गुणोके कथनको धारण करनेवाला है, उसी प्रकार वह वस्त्र भी अनेकधातानिकसगुणोक्तिभृत्–अनेक प्रकारसे विस्तारित समीचोन सूत्रो–तन्तुओ के कथनको धारण करने वाला था। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के वचन पवित्रितान्तःकरणप्रसक्तिमत्–पवित्र हृदयके सम्बन्धसे सहित है, उमी प्रकार वह वस्त्र भी पवित्र हृदयके अनुकूल था। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के वचन विशाल द्वादशागमे विस्तृत हैं, उसी प्रकार वह वस्त्र भी विशाल–समुचित रीति-

चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितं बहिर्न भूतेषु भवेत्प्रसक्तिमत् ।
निजीयमेवं किल भावशुद्धिमान् हृदुत्तरीयेण बबन्ध बुद्धिमान् ॥६२॥

चिरन्तनेत्यादि–स बुद्धिमान् चिरन्तनस्य पूर्वंजातस्याभ्यासस्य निबन्धनेन कारणेनेरितं प्रेरितं हृच्चित्तं तद् बहिर्भूतेषु दृश्यमानेषु वस्तुषु प्रसक्तिमत् न भवेदित्येव किल भावशुद्धिमान् विशुद्धविचारवान् सन्नुत्तरीयेण वस्त्रेण तदपि बबन्धेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥६२॥

महामना मन्दपदप्रचारभृत् समुल्ललङ्घार्हतगेहपद्धतिम् ।
विलोकयन् विच्युतरत्नवद्भुवमनन्यवृत्त्या प्रकृतं विचारयन् ॥६३॥

महामना इत्यादि—महामना जयकुमार स मन्दयोर्मधुरयो पदयो. प्रचारं संक्षेपणं बिभर्तीति स विच्युतं पतित रत्नं यस्य तद्वद् भुव पृथ्वीं विलोकयन् सन् किलानन्यवृत्त्या सावधानचित्तेन प्रकृतं भगवद्भक्तिविषयमेव विचारयन् अर्हंत इदमार्हत च तद्गेह च तस्य पद्धति मार्गवीथिकामुल्ललङ्घातीतवान् ॥६३॥

पुनश्च विघ्नप्रतिरोधिनिःसहीति मन्त्रसूत्रं रुचितः समुच्चरन् ।
निधानधाम्नो हि जिनालयस्य स कवाटमुद्घाटयति स्म धीरराट् ॥६४॥

पुनश्चेत्यादि—निधानस्य धनकोशस्य यद् धाम स्थान तस्य होव जिनालयस्य कवाट द्वाररोधिवस्तु तदुद्घाटयति स्म धीरराट् विघ्नस्यान्तरायस्य प्रतिरोधि निवारकं यन्निःसहीति मन्त्रसूत्र तद्रुचित. समुच्चरन् ॥६४॥

से पहिननेके योग्य था और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन सुनिर्मल–पूर्वापरविरोधसे रहित होनेके कारण निर्मल होते हैं, उसी प्रकार वह वस्त्र भी मैल-से रहित होनेके कारण निर्मल–स्वच्छ था ॥६१॥

अर्थ—बुद्धिमान् जयकुमारने अधोवस्त्र धारण करनेके बाद ऊपरसे उत्तरच्छद–दुपट्टा भी धारण किया था। वह इसलिये कि पूर्वकालीन सस्काररूप कारणसे प्रेरित होता हुआ हमारा हृदय बाह्य विषयोमे सलग्न न हो जावे इस प्रकारकी भावशुद्धिमे युक्त होकर ही मानो उन्होंने अपने हृदयको–वक्ष.स्थलको उत्तर वस्त्रसे बाध दिया था–ढक दिया था ॥६२॥

अर्थ—महामना जयकुमारने धीरे-धीरे पैर रखते तथा जिसका रत्न गिर गया है, उसके समान पृथ्वीको देखते और अनन्य भावसे प्रकृत–भगवद्भक्ति विषयका चिन्तन करते हुए जिनमन्दिरके मार्गको व्यतीत किया ॥६३॥

अर्थ—फिर धीरशिरोमणि राजा जयकुमारने 'नि·सहि' इस विघ्ननिवारक मन्त्रको पढते हुए कोश–खजानेके स्थानभूत जिनालयके किवाड खोले ॥६४॥

निपूतपादाभिगमाभिलाषुको निपूतपादः स्वयमप्ययासकौ ।
जयेति वाचा कथितः श्रिया युतं जयेति वाचा गृहमाविशत्तराम् ।।६५।।

निपूतपादेत्यादि—अथासौ जयेति वाचा कथितो नरो निपूतौ नितरां पवित्रौ पादौ यस्य तस्य भगवतोऽभिगमः सम्पर्कस्तस्याभिलाषुको लोलुपोऽसावेवासकावतः स्वयमपि निपूतपादः प्रक्षालितचरणो भूत्वा जयेति वाचा जय जयेति त्रिरुच्चरन् श्रिया युतं गृहं श्रीसदनं तदाविशत्तरा प्राप्तवानिति ।।६५।।

समुन्ननामातिलघु प्रभोः पुरो द्वयं मिलित्वा शययोश्च साम्प्रतम् ।
शिरः स्वयं भक्तितुलाधिरोपितं गुरुत्वतश्चावननाम भूपतेः ।।६६।।

समुन्ननामेत्यादि—प्रभोरर्हतः पुरोऽग्रे भूपतेर्जयकुमारस्य भक्तितुलायामधिरोपित शययोः करयोर्द्वयमपि मिलित्वाऽतिलघु च ततः साम्प्रतमुन्ननामोपर्युत्थितम्, किन्तु शिरस्स्वय गुरुत्वतो महत्स्वभावतोऽवननाम नम्रमभूत् ।।६७।।

लुठन् भुवीह प्रणनाम दण्डवज्जिनं यथासौ शरणागतः स्मरः ।
तदङ्घ्रियुग्मे कुसुमानि साम्प्रतं निजीयशस्त्राणि समर्प्य सादरः ।।६७।।

लुठन्नित्यादि—असौ जयकुमार इह साम्प्रतमधुना सादर आदरयुक्तो भवन् तस्य जिनदेवस्याङ्घ्रियुग्मे चरणद्वये कुसुमानि पुष्पाणि समर्प्य निजीयशस्त्राणि, शरणागत स्मर कामो यथा तथा जिन भगवन्तं दण्डवद् भुवि लुठन् प्रणनाम ।।६७।।

अर्थ—जिन्हे भगवान् जिनेन्द्रके संपर्ककी अभिलाषा है तथा जिन्होने चरण धोये हैं, ऐसे जयकुमारने जय जय शब्दका उच्चारण करते हुए श्रीगृहमे प्रवेश किया ।।६५।।

अर्थ—इस समय भक्तिकी तराजू पर चढे हुए राजा जयकुमारके दोनो हाथ परस्पर मिल कर प्रभुके आगे शीघ्र ही ऊपर उठ गये, परन्तु भक्ति रूप तराजू पर चढा हुआ राजाका शिर गुरुता—महत्ताके कारण स्वयं नीचेकी ओर झुक गया। तात्पर्य यह है कि राजाने हाथ जोड़ कर तथा शिर झुका कर प्रभु को नमस्कार किया ।।६६।।

अर्थ—उस समय जयकुमारने भगवान्के चरणयुगलमे पुष्प चढाकर पृथिवी पर लोटते हुए दण्डवत् प्रणाम किया। पुष्प चढ़ाकर प्रणाम करते हुए जयकुमार ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपने शस्त्र (पुष्प) समर्पित कर कामदेव ही आदरपूर्वक शरणमे आया हो।।६७।।

निजोत्तमाङ्गत्वमुवाच तच्छिरोऽधुनोन्नतं प्राप्य पदद्वयं गुरोः ।
तनुस्तु भूमेरुपगम्य सगमं समाप सत्याविव कण्टकोद्गमम् ॥६८॥

निजोत्तमाङ्गत्वमित्यादि—तच्छिरो जयकुमारस्य मस्तक तदधुना गुरोरर्हत उन्नतं पदद्वयं प्राप्य लब्ध्वा निजस्योत्तमाङ्गत्वं श्रेष्ठत्वमुवाच । तस्य तनुस्तु भूमेः सगम सम्पर्कमुपगम्य लब्ध्वा सत्याविव तनुरिव भूमिरपि जयस्य सम्बन्धिनीति समानधर्मतयेव कण्टकोद्गम रोमाञ्चभाव समापेत्युत्प्रेक्षालकार. ॥६८॥

त्रिधा परिक्रम्य जयः क्रमादयं महामनास्तस्य जगत्पतेः पुरः ।
तदागतानागतवर्तमानकान् परिभ्रमान् सूचयति स्म चात्मनः ॥६९॥

त्रिधेत्यादि—तदाय महामना जयस्तस्य जगत्पते· पुरस्त्रिधा परिक्रम्यागतानागतवर्तमानकानात्मन. स्वस्य परिभ्रमान् सूचयति स्म ॥६९॥

समाप तापत्रयभिच्छवेर्भवे जिनेन्द्रचन्द्रस्य मुदं सुदर्शने ।
निधेरिवाराज्जनुषाप्यकिञ्चनः स किञ्च नर्मप्रतिकर्मवित्तदा ॥७०॥

समापेत्यादि—किञ्चास्मिन् भवे जन्मनि स नर्मणो विनोदस्य प्रतिकर्मवित् कारणज्ञस्तापत्रयभिदो जन्मजरामृत्युरूपसन्तापत्रितयोच्छेदकस्य जिनेन्द्र एव चन्द्र आह्लादकत्वात्तस्य सुदर्शनेऽवलोकने तदा जनुषा जन्मनाप्यकिञ्चनो दरिद्र. स निधेर्वाञ्छितदायकस्याराात् तत्काल दर्शन इव मुद हर्षं समवापेत्युपमालकारः ॥७०॥

अर्थ—इस समय राजा जयकुमारके शिरने प्रभुके उन्नत चरणयुगलको प्राप्त कर अपना उत्तमाङ्गपन प्रकट किया, अर्थात् मै सब अङ्गोमे उत्तमाङ्ग—उत्कृष्ट अङ्ग हूँ, इसीलिये तो मुझे भगवान्के चरणयुगलका सपर्क प्राप्त हुआ। परन्तु शरीर पृथिवीका सगम पाकर समान भावसे ही मानो कण्टकोद्गमको प्राप्त हुआ, अर्थात् जिस प्रकार पृथिवीमे कण्टक उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनके शरीरमे भी कण्ठक—रोमाञ्च उत्पन्न हो गये ॥६८॥

अर्थ—उस समय महामना जयकुमारने क्रमसे तीन प्रदक्षिणाए देकर जगत्पति जिनेन्द्रदेवके आगे यह सूचित किया था कि हे प्रभो ! मैंने इसी प्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमे परिभ्रमण किया है ॥६९॥

अर्थ—एक बात यह भी है कि इस जन्ममे विनोदके कारणोको जानने वाले जयकुमारने जन्म-जरा-मृत्युरूप त्रिविध तापको नष्ट करने वाली छविसे युक्त जिनेन्द्रचन्द्रका दर्शन होनेपर वह आनन्द प्राप्त किया, जो जन्मसे दरिद्र मनुष्यको निधिके दर्शनसे होता है ॥७०॥

क्रमोच्चनैवेद्यसुराजिराजितैः पुमानमत्रैः पुरतः प्रसारितैः ।
अबन्ध तां स्वर्गमनाथपद्धतिमिवेशसेवासमितात्मसम्मतिः ॥७१॥

क्रमोच्चनैवेद्येत्यादि—ईशस्य भगवतः सेवायां समिता सयोजिताऽऽत्मसम्मतिर्येन स पुमान् जयकुमारः उच्चा या नैवेद्यस्य सुराजि पंक्तिस्तया राजितैः सुशोभितैरमत्रैः पात्रैः पुरतोऽग्रे प्रसारितैस्तां स्वर्गमनाय पद्धतिं सोपानपंक्तिमिव अबन्धेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥७१॥

गुरोरिहाग्रे खलु लज्जितेव भूर्बभूव गुप्तावयवा समग्रजैः ।
धवं समालोक्य निरन्तरागतसमर्चनावर्तनवर्तनव्रजैः ॥७२॥

गुरोरित्यादि—समग्रे जातैः समग्रजैः समर्चनस्य पूजनस्यावर्तनं प्रवर्तनं येस्तेषां वर्तनानां पात्राणां कलशकरकस्थाल्यादीनां व्रजैः समूहैः कीदृशैस्तैर्निरन्तरागतैरन्तरवर्जितैस्तैः कृत्वा भूः पृथ्वी गुरोः श्रीमतोऽग्रे धवं स्वामिनं सोमपुत्रं समालोक्य लज्जितेव खलु गुप्तावयवा संवृताङ्गोपाङ्गा बभूवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥७२॥

जलाञ्जलिः स्वस्य किलाघकर्मणे समर्पितः श्रीपतिपादतर्पणे ।
मनस्विनासौ सलिलार्पणच्छलाद्यतः समन्तात् कलिलावनं बलात् ॥७३॥

जलाञ्जलिरित्यादि—तत्र प्रथम तेन मनस्विना श्रीपतिपादयोस्तर्पणे पूजने सलिलार्पणस्य जलोत्सर्गस्य च्छलात् किल यतो बलात् प्रभावात् कलेः कलहस्य लावनमुच्छेदन स्यात् स जलाञ्जलिरेव स्वस्याघकर्मणे पापाय समर्पितः । यद्वा यतोऽघकर्मणो

अर्थ—जिनेन्द्रकी सेवामे अपनी सद्बुद्धिको सयोजित करनेवाले पुरुषरत्न-जयकुमारने क्रमसे सजाई हुई नैवेद्यकी उच्च पक्तियोसे सुशोभित पात्रोसे स्वर्ग जानेके लिये मानो मार्ग ही बाध रक्खा था ॥७१॥

अर्थ—आगे रखे हुए पूजामे काम आने वाले व्यवधानरहित बर्तनोके समूहमे पृथिवी ढक गयी थी, उससे वह ऐसी जान पडती थी कि गुरु-भगवान्‌के आगे अपने पति जयकुमारको देख लज्जित होकर उसने मानो अपने अवयवोको सवृत ही कर लिया हो—छिपा लिया हो। गुरुजनोके सामने पतिको देख स्त्रियाँ लज्जित होती ही है ॥७२॥

अर्थ—विचारशील जयकुमारने जिनेन्द्रदेवके चरणोकी पूजामे जल अर्पित करनेके छलसे मानो अपने पापकर्मके लिये ही जलाञ्जलि दी, क्योकि उसके प्रभावसे बलपूर्वक कलिलावन—कलहका उच्छेद होता है। अथवा जिस पाप-

बलात् कलिलस्य पापभावस्यावन संरक्षण भवति, तस्मायघकर्मणे जलाञ्जलिर्दत्त इत्युत्प्रेक्षालङ्कृतिः ॥७३॥

समर्पितो वारिजरागभाजने जनेन सम्यग्घरिचन्दनद्रवः ।
जिनेशमादर्शमवेत्य सङ्गतः किलासकौ भास्वति चन्द्रमण्डलः ॥७४॥

समर्पित इत्यादि—तत्र जनेन तेन भगवत्पूजा वसरे वारिज रागस्य पद्मरागस्य मणेर्भाजने समर्पितो यो सम्यक् समीचीनो हरिचन्दनस्य द्रवोऽसकौ जिनेशं प्रभुमादर्श मादरणीय मवेत्य भास्वति सूर्यबिम्बे चन्द्रमण्डलः सङ्गतः किलेत्युत्प्रेक्षा ॥७४॥

समर्पणां प्राप्य मनस्विना परां सदक्षताः श्रीशपदाग्रतो धराम् ।
विभूषयन्तोऽनुभवन्ति ते तरां शुभस्य च स्माङ्कुरतां महत्तराम् ॥७५॥

समर्पणामित्यादि—मनस्विना जयेन परां निःस्वार्थरूपा समर्पणां प्राप्य सदक्षताः श्रीशस्य पदाग्रतो धरा भुव विभूषयन्तस्ते शुभस्य पुण्यकर्मणो महत्तरामङ्कुरतामनुभवन्ति स्म ॥७५॥

समर्पितं तेन सुमं सुमञ्जुलं जिनेशपादाम्बुजयोरभात्तराम् ।
मनस्तदीयं परिचेतुमागतं किलात्मसञ्जातिकयोः प्रसन्नयोः ॥७६॥

समर्पितमित्यादि—तेन जयेन जिनेशस्य पादाम्बुजयोश्चरणाब्जयो प्रसन्नयोरग्रे

कर्मसे कलिल-अवन-पापका सरक्षण होता था, उस पापकर्मके लिये जलाञ्जलि दी थी ॥७३॥

अर्थ—जयकुमारने पद्मरागमणिके वर्तनमे जो उत्तम हरिचन्दनका द्रव चढाया था, वह ऐसा जान पडता था मानो जिनेन्द्रको आदर्श—आदरणीय जान कर सूर्यबिम्बमे चन्द्रमण्डल आ मिला हो।

भावार्थ—जो कभी मिलते नही, ऐसे परस्पर विरोधी सूर्य और चन्द्रमा भी भगवान्को आदर्श मानकर परस्पर मिल गये थे ॥७४॥

अर्थ—मनस्वी-बुद्धिमान् जयकुमारके द्वारा निःस्वार्थ समर्पणाको पाकर अर्थात् चढाये हुए उत्तम अक्षत श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोके आगेकी भूमिको अलकृत करते हुए पुण्यकर्म की बहुत भारी अङ्कुरताका अनुभव कर रहे थे।

भावार्थ—भगवान्के चरणाग्रमे चढाये गये सफेद सफेद चावल ऐसे जान पडते थे मानो पुण्य कर्मके बड़े बडे अंकुर ही हो ॥७५॥

हिन्दी—जयकुमारके द्वारा जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोमे चढ़ाया गया अत्यन्त

समर्पित सुमञ्जुलमतिमनोहरं सुमं पुष्पं किल तदीय जयकुमारसम्बन्धि मम एवात्मनः सज्जातिकयोस्तन्मनसोऽपि किलाम्बुजोपमत्वात् परिचेतु ताभ्यां सह परिचयं कर्तुमागत-मित्युत्प्रेक्षा ॥७६॥

जिनेश्वराग्रे जवलेविकामसौ न तावदावर्तवर्ती जयाह्वयः ।
समुत्ससर्जाशु विनेयताश्रितोऽथ संसृति किन्तु मुमोच तच्छलात् ॥७७॥

जिनेश्वराग्र इत्यादि—अथासौ जयाह्वयस्तावज्जिनेशपूजावसरे जिनेश्वरस्याग्रे संमुखत आवर्तवर्ती नाम जवलेविकां न समुत्ससर्ज, किन्तु विनेयताया विनीतभावस्याश्रयः स तस्याश्छलाद्वाशु शीघ्रं संसृतिमेव मुमोचेत्यपह्नुतिः ॥७७॥

व्यमुञ्चदेकार्थतयैकतां गतौ स रागरोषाविह दीपदम्भतः ।
निजक्रियासम्भ्रमिदर्शिनौ पुनर्जवाज्जयः स्वस्वकवर्णलक्षणौ ॥७८॥

व्यमुञ्चदित्यादि—पुनर्जयो जवादनन्तरं शीघ्रमेव दीपदम्भतो दीपकस्य छलत इह जिनपूजावसरे किलैकोऽर्थः प्रयोजनं संसारसम्बन्धरूपं तत्तया तावेकतां गतौ स्वस्व-कवर्णाविव भासुरताकज्जलतारूपौ लक्षणे ययोस्तौ निजक्रिया या सम्भ्रमिस्तस्या दर्शिनौ तौ व्यमुञ्चदिव मप्युह्नुतिरलंकारः ॥७८॥

मनोहर पुष्प ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने समानजातीय एव प्रसन्न भगवान्‌के चरणकमलोसे परिचय करनेके लिये उनका हृदय ही आया हो ॥७६॥

अर्थ—विनीत भावके आश्रयभूत जयकुमारने जिनेन्द्र भगवान्‌के आगे घुमावदार जलेबी नही चढायी थी, किन्तु उसके छलसे शीघ्र ही अपना संसार छोड़ दिया था ।

भावार्थ—जिस प्रकार संसृति–ससार चतुर्गतिके परिभ्रमण रूप है, उसी प्रकार जलेबी भी परिभ्रमण रूप–घुमावदार थी, अत उसमे जलेबीका अपह्नव किया गया है ॥७७॥

अर्थ—तदनन्तर जयकुमारने शीघ्र ही दीपकके छलसे एक प्रयोजनताको प्राप्त रागद्वेषको छोड दिया था, क्योकि रागद्वेष और दीपक–दोनो ही अपनी अपनी सभ्रमण रूप क्रियाको दिखा रहे थे तथा दोनो ही अपने वर्णरूप लक्षणको धारण करने वाले थे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक, प्रकाश और कज्जल रूप होते हैं, वायुके वेगसे सम्भ्रमिरूप–हलन चलन रूप होते हैं, उसी प्रकार रागद्वेष भी शुभ–अशुभ रूप होते हैं और संसार परिभ्रमणके कारण कहलाते हैं ॥७८॥

तथार्हतोऽग्रे बहुशस्यवृत्तिनाऽथ तेन कृष्णागुरुणा महात्मना ।
प्रमोदिना सम्प्रति कृष्णवर्त्मनि जवेन नीलाम्बरता प्रकाशिता ॥७९॥

तथेत्यादि—तथा पुनरर्हतोऽग्रे सम्प्रति बहुशस्या प्रशंसायोग्या वृत्तिश्चेष्टा यस्या-थवा बहुशस्या वृत्तिर्बहुव्रीहिसमासो यस्य तेन बहुशस्यवृत्तिना कृष्णोऽगुरुरर्थाल्लघु-भ्राता यस्य तेन कृष्णागुरुणा महात्मना गन्धापेक्षया विपुलरूपेणाथवा महापुरुषेण प्रमोदिना सुगन्धयुक्तेन कृष्णवर्त्मनि बह्नौ नीलाम्बरता धूमेन कृतं नीलमम्बरमाकाशं येन तत्ता तथा कृष्णस्य नारायणस्य वर्त्मनि पद्धतौ सहवर्तितया नीलाम्बरता नीलमम्बर वस्त्रं यस्य तत्ता बलदेवता प्रकाशितेति समस्तीह समासोक्तिरलंकारः ॥७९॥

सुनालिकेरं निजमस्तकाकृति समीरयामास पुनः समी रयात् ।
स्वयंभुवः सन्दयितः स्वयंभुवः पदेषु सन्देशपदेषु च श्रियः ॥८०॥

सुनालिकेरमित्यादि—पुनः स समी समताभावी भुव पृथिव्या सन्दयितः प्रिय-तमो जयः श्रियो लक्ष्म्या सन्देशपदेषु स्थानेषु स्वयंभुवोऽर्हतः-पदेषु, पूज्यत्वाद् बहुवचनमत्र, निजमस्तकस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तन्नालिकेरं नाम फल स्वय समीरयामास समर्पया-मासेत्यत्र यमकालंकार· ॥८०॥

अर्थ—अत्यन्त प्रशंसनीय वृत्तिसे सहित उदारहृदय तथा प्रमोदसे युक्त जयकुमारने अर्हंत भगवान्‌के आगे अत्यन्त सुगन्धित कृष्णागुरु चन्दनकी धूप अग्निमे निक्षिप्त कर उसके धूमसे आकाशको नीला-नीला कर दिया ।

अर्थान्तर—उस धूपने **नीलाम्बरता** बलभद्रता प्रकाशितकी थी, क्योंकि जिस प्रकार बलभद्र **बहुशस्यवृत्ति—बहुत धान्यका** सग्रह करने वाले थे उसी प्रकार धूप भी **बहुशस्यवृत्ति**—अत्यन्त प्रशसनीय चेष्टावाली थी, जिस प्रकार बलभद्र **कृष्णागुरु** थे–कृष्ण नामक लघु भाईसे सहित थे उसी प्रकार धूप भी **कृष्णागुरु**–अगुरु चन्दनसे निर्मित थी, जिस प्रकार बलभद्र **महात्मा**–उत्कृष्ट आत्मा वाले थे उसी प्रकार धूप भी **महात्मा**–सुगन्धकी अपेक्षा उत्कृष्ट रूप थी, जिस प्रकार बलभद्र **प्रमोदी**–हर्ष सम्पन्न थे उसी प्रकार धूप भी प्रमोदी–दूर तक फैलने वाली प्रकृष्ट गन्धसे सहित थी, जिस प्रकार बलभद्र **कृष्णवर्त्म**–श्रीकृष्णके मार्गानुयायी थे उसी प्रकार धूप भी **कृष्णवर्त्म**–अग्निको अनुयायी थी अर्थात् अग्निमे प्रक्षिप्त की जाती थी और जिस प्रकार बलभद्र **नीलाम्बर**–नील वस्त्र धारण करने वाले थे उसी प्रकार धूप भी **नीलाम्बर**–आकाशको नीला करने वाली थी ॥७९॥

अर्थ—तदनन्तर समताभावी एवं पृथिवीके प्रियतम जयकुमारने लक्ष्मीके

पदारविन्देषु पदारविन्दको मनोहराष्टाङ्गमयीं प्रभोर्जयः ।
तनुं स्वकीयामिव चातनूत्तमां समर्पयामास समग्रतो बलिम् ॥८१॥

पदारविन्देष्वित्यादि—एवं जयो नाम राजा स पदारस्य चरणरजसो विन्दकोऽनुज्ञा-वेदनकरो भवन् प्रभोः पदारविन्देषु चरणकमलेषु मनोहराणि अष्टावङ्गानि पूर्वकथितानि तन्मयीं बलिं पूजां स्वकीयां तनुमिव चातनूत्तमां बलिपक्षेऽत्यन्तोत्तमां तनुपक्षे चातनो कामदेवस्य यथोत्तमा तथोत्तमां समग्रतः पूर्णरूपेण समर्पणमासेत्युपमालंकारः ॥८१॥

सुदेवमन्त्रा जपतः सुरीतितः शये समापुर्गुणिनोऽवतारणम् ।
सितोपलाक्षावलिदम्भसम्भवा विशुद्ध बीजस्फुटशुद्धवर्णकाः ॥८२॥

सुदेवमन्त्रा इत्यादि—सुरीतितो यथागमोक्तरीति तो जपतो जपं कुर्वतोऽस्य गुणिनो जयकुमारस्य शये हस्ते सुदेवमन्त्रा परमेष्ठिवाचका मन्त्रा अवतारणमवतारस्यावत-रणस्य ण ज्ञान तदवतारण समापुः । कथं समापुरिति चेत् ? सितोपलाक्षाणां शुद्धस्फटिक-निर्मितमणीनामावलि पङ्क्तिस्तस्या दम्भादेव सम्भवो येषां ते विशुद्धेभ्यो बीजेभ्यः स्फुटः प्रकटीभूतः शुद्धः स्वच्छो वर्ण एव वर्णको येषां ते तथेति किलोपह्नुत्यलंकारः ॥८२॥

तदागसां संहरणाभिलाषिणः पयोजलक्ष्मी मुषि पाणिपल्लवे ।
षडङ्घ्रिमाला ह्यनुषङ्गिजन्मिनां रराज रुद्राक्षपरम्परा तराम् ॥८३॥

सन्देश स्थान स्वरूप अर्हन्त भगवान्के चरणोमे स्वय अपने मस्तकके समान आकृति वाले नारियलको शीघ्र ही समर्पित किया ॥८०॥

अर्थ—इस प्रकार चरणरजको प्राप्त करने वाले जयकुमारने प्रभुके चरण कमलोंमे पूर्वोक्त जल-चन्दनादि आठ अङ्गोसे सहित उस अर्घरूप पूजाको संपूर्ण रूपसे समर्पित किया, जो अपने शरीरके समान थी, अर्थात् जिस प्रकार अपना शरीर हस्तपादादि आठ अङ्गोंसे सहित है, उसी प्रकार वह अर्घरूप पूजा भी जल-चन्दनादि आठ अङ्गोसे सहित थी और जिस प्रकार अपना शरीर अतनूत्तम-अनङ्ग-कामदेवसे सुन्दर था, उसी प्रकार वह अर्घरूप पूजा भी अतनूत्तमा-अत्यन्त उत्तम थी ॥८१॥

अर्थ—आगमोक्त रीतिसे जाप करने वाले गुणवान् जयकुमारके हाथमे परमेष्ठिवाचक उन मन्त्रोने अवतरण किया, जो शुद्ध स्फटिककी मालाके बहाने बीजाक्षर रूप शुद्ध वर्णरूप अक्षरोसे सहित थे ।

भावार्थ—जयकुमारने हाथमे स्फटिककी माला लेकर परमेष्ठि वाचक मन्त्रका जाप किया ॥८२॥

तदागसामित्यादि—तदा जपावसरेऽनुषङ्गजन्मिनां प्रसङ्गतः प्राप्तानामागसामपराधानां संहरणं परिहारमभिलषतीति तस्य पयोजलक्ष्मीमुषि कमलशोभापहारके पाणिपल्लवे जयकुमारस्य हस्ते रुद्राक्षाणां परम्परा पङ्क्तिः षडङ्घ्रिमाला भ्रमरततिरिव रराजतरामित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८३॥

बभाज भाजन्मभुवं तु बन्धुरं स्वरिन्दिराकृष्टिकृतः करं वरम् ।
सुशिक्षितुं लोहितिमानमुच्चकैः प्रवालवालावलिरेनसां रिपोः ॥८४॥

बभाजेत्यादि—एनसां पापानां रिपोः सहजशत्रोः स्वरिन्दिराया स्वर्गलक्ष्म्या आकृष्टिं समाकर्षणं करोति यस्तस्य जयकुमारस्य भायाः शोभाया जन्मन उत्पत्तेर्भुवं स्थानं तत एव वरं बन्धुरं मनोहरं करं प्रवालस्य विद्रुमस्य बालाः सबालका अंशास्तेषामावलिः सा किलोच्चकैर्लोहितिमानं निर्दोषरक्तिमानं सुशिक्षितुं समुपालब्धुं बभाजाङ्गीचकारेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८४॥

प्रपञ्चशाखौ ग्रहणौ जयस्य तौ गुणेन बद्धौ तु विभोर्बभूवतुः ।
भयाकुलेवेत्यपि भारती तदा तदात्मिका सा निरगात् स्वसद्मतः ॥८५॥

प्रपञ्चशाखावित्यादि—जयस्य ग्रहणौ हस्तौ यौ प्रकृष्टाः पञ्च पञ्च शाखा अङ्गुलयो ययोस्तौ प्रपञ्चशाखौ प्रतारणात्मकाविति तौ विभोरर्हतो गुणेन क्षमासत्यादिरूपेण रज्ज्वा वा बद्धौ बभूवतुरितीवापि तदात्मिका प्रपञ्चात्मिका या विचारशीला जयस्य भारती सापि तदा भयाकुलेव भयभीता भवतीव स्वसद्मतो मुखान्निरगादित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८५॥

अर्थ—जपके समय आनुषङ्गिक अपराधोके परिहारकी इच्छा करनेवाले जयकुमारके कमलतुल्य पाणिपल्लवमे रुद्राक्षकी माला ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानों भ्रमरोकी पङ्क्ति ही आ लगी हो ॥८३॥

अर्थ—पापोके सहज शत्रु एव स्वर्गलक्ष्मीको आकृष्ट करनेवाले जयकुमारके शोभाकी जन्मभूमि रूप अत एव उत्तम और मनोहर हाथको विद्रुम खण्डोंकी मालाने मानो उच्चतम लालिमाको सीखनेके लिये ही स्वीकृत किया था ॥८४॥

अर्थ—प्रपञ्चशाख-पाँच-पाँच अङ्गुलियोंसे सहित (पक्षमे प्रपञ्च- प्रतारणाको विस्तृत करनेवाले) जयकुमारके हाथ भगवान्के क्षमा-सत्य-संयमादि गुणोसे (पक्षमे रस्सीसे) बद्ध हो गये–बाँध दिये गये, यह देख प्रपञ्च–प्रतारणा (पक्षमे विस्तार) करने वाली उनकी वाणी भी भयभीत होकर मुखरूप घरसे धीरे-धीरे निकल रही थी ।

भावार्थ—जयकुमारने जापके बाद दोनो हाथ जोडकर मन्द स्वरसे कुछ पाठ पढ़ा, इसीका कविने उत्प्रेक्षालंकारसे वर्णन किया है ॥८५॥

[1]तत्याज शक्रः शकनाभिमानं पुनीत यावत्तव कीर्तिगानम् ।
स्वल्पेन बोधेन तथापि नामिन् वातायनेनेव निरूपयामि ॥८६॥

तत्याजेति—हे पुनीत ! पवित्रात्मन् ! यावत्तव कीर्तिगानं तावत् कर्तुं शकनस्याभिमानं शक्रोऽपि शकनार्थनामधरोऽपि तत्याज त्यक्तवान्, तथापि वातायनेव गवाक्षेणेव स्वल्पेन यत्किञ्चनात्मकेनापि बोधेन हे नामिन् ! स्वामिन्नहं तव कीर्तिगानं निरूपयामि करोमि, गवाक्षो यथा शक्यं वार्तं निरूपयति तथाहमपीति दृष्टान्तालंकारः । अथवा यथा स्वल्पच्छिद्रयुक्तो गवाक्षो महान्तं गजादिकं दर्शयति, तथाहमपि स्वल्पेन बोधेन महान्तं भगवद्गुणौघं दर्शयामि ॥८६॥

तवावतारो हृदिमे प्रशस्य क्षुद्रेऽपि वादर्श इव द्विपस्य ।
गुणांस्तु सूक्ष्मानपि सालसज्ञा सूची न गृह्णाति कुतो रसज्ञा ॥८७॥

तवावतार इत्यादि—हे प्रशस्य भगवन् ! मे मम क्षुद्रे संकीर्णेऽपि हृदि चित्ते महात्मनस्तवादर्शे दर्पणे द्विपस्य हस्तिन इवावतारः समागमोऽभूदपि वोल्लेखनीय एव प्रसङ्ग इति सूचीव या मे रसज्ञाऽऽलस्यमेव प्राप्ता यद्यपि सूची सा सूक्ष्मं गुणं सूत्रं सुखेन गृह्णाति, किन्तु नासौ मे रसज्ञा सूची तव गुणान् सूक्ष्मान् गृह्णातीत्यालस्यमेव । विरोधाभासोऽयम् ॥८७॥

अर्थ—हे पवित्रात्मन् ! जितना आपका कीर्तिगान है, उतना करनेके लिये यद्यपि शक्तिशाली इन्द्रने अपनी शक्तिका अभिमान छोड दिया, परन्तु मै झरोखेके समान अपने स्वल्पज्ञानमे हे स्वामिन् ! आपका कीर्ति गानकर रहा हूँ ॥८६॥

अर्थ—हे प्रशस्य ! हे स्तुत्य ! मेरे सकीर्ण हृदयमे आपका अवतीर्ण होना ऐसा है जैसे दर्पणमे हाथीका अवतार होता है। यह एक उल्लेखनीय प्रसङ्ग है परन्तु सुईके समान जो मेरी रसज्ञा जिह्वा है वह अलसज्ञा—रसज्ञा न रहकर अलसज्ञा हो गई है, अर्थात् आलस्यको प्राप्त हो गई। यद्यपि सुई सूक्ष्म गुण—महीन सूतको ग्रहण कर लेती है परन्तु मेरी जिह्वारूपी सुई आपके सूक्ष्म गुणोको ग्रहण नही कर पाती इसलिये वह अलसज्ञा हो गई है। तात्पर्य यह है कि आपकी महिमा हमारे हृदयमे तो अवतीर्ण हुई है, परन्तु जिह्वामे उसे कहनेकी सामर्थ्य नही है ॥८७॥

---

१. तत्याज शक्रः शकनाभिमान नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥ 'विषापहारे धनंजयस्य'

शुद्धात्मसंवित्तिरिहाभिरामा तवाथ मे रागरुषोः सदाऽमा ।
नामासको सम्प्रति वाक्प्रवृत्तिरेकस्य लब्धिर्न युगस्य दत्तिः ॥८८॥

शुद्धात्मेत्यादि—हे प्रभोरिह तव शुद्धात्मन केवलस्य रागद्वेषाविरहितस्याभिरामा कल्याणाधारा संवित्तिरस्ति । अथ पुनर्मे मम रागश्च रुट् च तयो रागरुषोरमाऽन्धकार-पूर्णाऽमावस्यैव सदा सततमिति नाम वाक्प्रवृत्तिर्लोकोक्तिरेकस्य लब्धिर्न युगस्य दत्तिः सा चरितार्था । नकारस्य मध्यदीपकत्वादुभयतः प्रवृत्तेरिति दीपकोऽलंकारः ॥८८॥

कुदेवतानामधुनाऽऽधिदत्त्वाद् अक्षार्थभूताधिचिकित्सकत्वात् ।
इन्द्रादिभिः स्तुत्यतया त्रिधा त्वां देवाधिदेवं मनुजा मनन्ति ॥८९॥

कुदेवतानामित्यादि—हे नाथ ! त्वां मनुजा महापुरुषा देवाधिदेवमिति मनन्ति स्तुवन्ति तदधुना त्रिधा त्रिप्रकारं ये वास्तवेन देवा न भवन्ति किन्तु संसारिणः स्वार्थ-वशेन यान् देवा इति कथयन्ति तेषामाधेर्दायकत्वान्निषेधकत्वादित्येकः प्रकारः । अक्षाणामिन्द्रियाणां देवशब्दवाच्यानां येऽर्था विषयास्तेभ्यो भूतस्य सञ्जातस्याधेश्चिकित्स-कत्वादिति द्वितीयः प्रकार । इन्द्रादिभिर्देवैश्च त्वं स्तुत्य इत्यतो देवानामधिदेव इति तृतीय प्रकारः ॥८९॥

मोहस्य मोहस्त्वयि वीतरागे रागश्च सागस्त्वमगाज्जिनेन्द्र ।
कामो निकामोऽथ वयं वदामस्त्वयानुविद्धा कमलामलाऽभूत् ॥९०॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके तो कल्याणकी आधारभूत एक शुद्धात्माकी ही अनुभूति है, परन्तु मेरे रागद्वेषको अन्धकारपूर्ण अमावास्या है। न मुझे एक शुद्धात्माकी अनुभूति हो सकती है और न रागद्वेषका देना हो सकता है, इसीलिये लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'लेना एक न देना दो' ॥८८॥

अर्थ—हे नाथ ! उत्तम पुरुष आपको देवाधिदेव मानते हैं अर्थात् देवाधिदेव कहकर आपकी स्तुति करते हैं। यह देवाधिदेवत्व तीन प्रकारसे सिद्ध होता है—(१) आप कुदेवताओंको आधि[१]-मानसिक व्याधिके देने वाले हैं इसलिये देवाधि-देव कहलाते है। (२) आप इन्द्रियवाचक देवोंके[२] विषयोंसे प्राणिमात्रके चिकित्सक हैं, अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राणियोंको सुरक्षित करते हैं, इसलिये आपको देवाधिदेव कहते है। (३) और आप इन्द्रादि देवोंके द्वारा स्तुत्य हैं, अतः उन सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण देवाधिदेव कहलाते हैं ॥८९॥

---

१ 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः ।
२ 'देवो राज्ञि सुरे मेघे देवं स्यादिन्द्रिये मतम्' इति विश्वलोचनः ।

मोहस्येत्यादि—हे जिनेन्द्र ! त्वयि वीतरागे सति मोहः परस्मिन्नात्मभावः स तु मोहं ऊहेनाधुनाहं किं करोमीति वितर्कमाप्तः । रागः स्वार्थस्य साधकतया प्रेम स सागस्त्व सापराधत्वमगात् किल नैव तिष्ठति । कामश्च मैथुनभाव स निकामो निष्क्रियो निरीहो वा । त्वयानुविद्धा प्रभाविता सा कमलाप्यात्मनि एव मलं यस्याः किलामलाऽभूदिति वय ववाम । बहुप्रभावोऽयमलंकार ॥९०॥

निजं जिन त्वां प्रवदामि भक्त्या स्वार्थी परः सम्भवितास्ति शक्त्या ।
विलोमतास्मिन्नखरप्रयुक्त्या त्वददादरी योऽनुगतः स भुक्त्या ॥९१॥

निजमित्यादि—हे जिनाहं त्वां जिनमेव निजमिति प्रवदामि भक्त्या गुणानुराग-वशेन शब्दविभागवशेन वा, परो य' कोऽपि नरः स तु स्वार्थी सम्भवितास्ति शक्त्या यथाशक्ति स्वार्थमेव पूरयति । यदि जिन एव निज इति तदा विलोमतात्र कुतो जातेति चेन्नखरप्रयुक्त्याऽत्र सा यथा खरं तीक्ष्णमेव कराग्रं जना नखरं वदन्ति तथा त्वामपि यत-स्त्वददादरी यो जन स भुक्त्या भोगसामग्र्याऽखिलप्रकारया सम्पत्त्या वाऽनुगतो युक्तो भवति ॥९१॥

नमत्सिरीटोचितरत्नरोचिः पदाग्ररुच्या तव चेद्धशोचिः ।
समागमे स्वस्तिकमेव वस्तु समस्तु पुंसां सुकृतश्रियस्तु ॥९२॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके वीतराग होनेपर मोहको मोह हो गया, अर्थात् वह (मा + ऊह) मैं क्या करूं इस वितर्क-विचारसे रहित हो गया । रागसागस्त्व अपराध सहित अवस्थाको प्राप्त हो गया (आगसाऽपराधेन सहित. सागा स्तस्य भावः सागस्त्वम्) । और आपसे अनुविद्ध-प्रभावित कमला-लक्ष्मी स्वय ही कमला (के-आत्मनि मल यस्याः सा कमला, आत्माके विषयमे मल-मलिनताको प्राप्त हो गई ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप मोह-रहित हैं, रागरहित हैं और भौतिक लक्ष्मीसे रहित हैं ॥९०॥

अर्थ—हे जिन ! मैं भक्तिसे आपको निज कहता हूँ । अन्य लोग तो स्वार्थी होते हैं, वे शक्तिके अनुसार स्वार्थ ही सिद्ध करते है । जिनका निज कैसे हो गया अर्थात् शब्दोमे विलोमता विपरीतता कैसे हो गई, तो नखर शब्दके समान हो गई । भाव यह है कि मनुष्यके कराग्र-हाथके अग्रभागको जो कि खर-तीक्ष्ण होता है, उसे लोकमें नखर-तीक्ष्ण नही (पक्षमे नाखून) कहा जाता है । इसी प्रकार जो निज थे वे जिन कहलाने लगे । तथा जो मनुष्य त्वदादरी-आपमे

नमत्तिरीटोचितेत्यादि—हे जिन ! पुंसां भक्तजनानां नमन्तो ये तिरीटा मौलयस्तेषूचितानि यानि रत्नानि तेषां रोचिः कान्तिप्रसरणं तत् तव पदाग्राणां नखानां रुच्या किलेद्धं समृद्धं शोचिः प्रकाशो यस्य तदेतत् सुकृतश्रियः पुण्यसम्पत्त्याः समागमे स्वस्तिकं नाम मङ्गलकर वस्तु समस्तु ॥९२॥

भास्वन् प्ररोहन्त्यपि मानसाब्धावनेकशो ये कमलप्रबन्धाः ।
त्वद्दर्शनेनाशु पुनः स्फुटन्ति आमोदवादाः स्वयमुद्भवन्ति ॥९३॥

भास्वन्नित्यादि—हे भास्वन् प्रभामय सूर्य ! अस्माकं मानसाब्धौ चित्तसागरेऽनेकशो बहुप्रकारा ये कमलप्रबन्धा मनोरथरूपाः प्ररोहन्ति जन्म लभन्ते तेऽपि त्वद्दर्शने तवावलोकने पुनः शीघ्रं प्रस्फुटन्ति, यतः स्वयमेवामोदस्य सुगन्धस्य प्रसन्नभावस्य वादाः समाचारा उद्भवन्ति ॥९३॥

निरीहमाराध्य सुसिद्धसाध्यस्त्वामस्तु भक्तो विगुणं विराध्य ।
चिन्तामणिं प्राप्य नरः कृतार्थः किमेष न स्याद्विदिताखिलार्थ ॥९४॥

निरीहमित्यादि—हे विदिताखिलार्थ ! हे सर्वज्ञ ! भक्तो जनो विगुण गुणहीनमन्यं विराध्य त्यक्त्वा त्वां निरीहमिच्छारहितमाराध्य निषेव्य सम्यक्प्रकारेण सिद्धः सम्पन्नतामाप्तः साध्यः कर्तव्यो यस्य सोऽस्तु । एष नरश्चिन्तामणिं प्राप्य किं न कृतार्थः सफलकार्यः स्यात्, किन्तु स्यादेवेति वक्रोक्तिः ॥९४॥

आदरसे सहित है, वह भुक्ति-भोगसामग्री अथवा विविध सम्पत्तिसे अनुगत-सहित होता है ॥९१॥

अर्थ—हे भगवन् ! भक्त जनोके नम्र होनेवाले मुकुटोमे संलग्न रत्नोकी जो कान्ति आपके नखोकी कान्तिसे समृद्ध-अत्यन्त देदीप्यमान हो रही है, वह पुण्य रूप लक्ष्मीके समागममे स्वस्तिक मङ्गलकारी वस्तु हो ॥९२॥

अर्थ—हे देदीप्यमान सूर्य ! हमारे हृदयरूपी सागरमे जो अनेक प्रकारके कमलरूप मनोरथ अङ्कुरित हो रहे हैं, वे आपका दर्शन होनेपर शीघ्र ही विकसित हो जाते है और उनकी सुगन्ध अथवा प्रसन्नताके समाचार स्वयं ही उद्भूत हो जाते हैं ॥९३॥

अर्थ—हे समस्त पदार्थोके ज्ञाता जिनेन्द्र ! भक्त जन अन्य गुणहीन देवोको छोड़कर इच्छारहित आपको आराधना कर अपना साध्य-मनोरथ सिद्ध कर लेते है सो ठीक ही है, क्योकि चिन्तामणि-रत्नको प्राप्त कर क्या मनुष्य कृतार्थ-कृतकृत्य नही होता ? अर्थात् अवश्य होता है ॥९४॥

त्वदीयपादाम्बुजराजभाजां भुवां भवन्तीह महःसमाजाः ।
सुमानि सम्प्राप्य सुगन्धिमन्ति सौगन्ध्यमाराग्नृशयं नयन्ति ॥९५॥

त्वदीयेत्यादि—हे सर्वज्ञ ! त्वदीयपादावेवाम्बुजराजौ भजन्ति सेवन्ते यास्तासां भुवां त्वच्चरणसम्पर्कितभूमीनामपि किलेह महसामुत्सवानां समाजाः समूहा भवन्ति यथा किल सुगन्धिमन्ति सुमानि पुष्पाणि तानि सम्प्राप्य गत्वा नुर्मनुष्यस्य शय हस्तमारादेव सौगन्ध्यं नयन्तीति दृष्टान्त. ॥९५॥

नरोत्तमः प्रार्थयितेति नाथमनाकुलोऽभूदनवद्यगाथ ।
स्वर्गश्रियोऽपाङ्गशरौघलक्षः संसिद्धिसन्देशपुनीतपक्षः ॥९६॥

नरोत्तम इत्यादि—अनाकुलो व्याकुलतारहितोऽनवद्या निर्दोषा भगवत्स्तुतिमया गाथा वाचो यस्य स जयकुमार इत्युक्तप्रकारेण नाथं त्रिलोकपतिमर्हन्तं प्रार्थयिता सा स्वर्गश्रियोऽपाङ्गानां कटाक्षाणामेव शराणां बाणानामोघा समूहास्तेषा लक्ष्योऽभूत् तथ ससिद्धेर्मुक्ते. सदेहस्य रहस्यनिवेदनस्य पुनीत पवित्रः पक्षश्च भूविति ॥९६॥

जिनेशरूपं सुतरामदुष्टमापीय पीयूषमिवाभिपुष्टः ।
पुनश्च निर्गन्तुमशक्नुवानस्ततो बभूवोचितसविधानः ॥९७॥

जिनेशरूपमित्यादि—श्रीजयो जिनेशस्य रूप सुतरामेव यददुष्ट निर्दोष तदेव पीयूषममृतमापीय यथेष्ट पीत्वाऽभिपुष्ट स्थूलतामवाप्त इव पुनस्ततो निर्गन्तु प्रतिनिवर्तितुमशक्नुवानोऽसमर्थ इत्युचितसविधानः किं कार्यं कथमतो गन्तव्यमिति विचारवान् बभूवेत्युत्प्रेक्षालकार· ॥९७॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपके चरणरूपी श्रेष्ठ कमलोकी सेवा करने वाली पृथिवीके इस लोकमे बहुत भारी उत्सवोके समूह उद्भूत होते है यह ठीक है, क्योकि सुगन्धियुक्त पुष्प अपने सपर्कसे मनुष्यके हाथको सुगन्धि प्राप्त करा ही देते हैं ॥९५॥

अर्थ—आकुलतारहित तथा निर्दोष वचनोसे सहित राजा जयकुमार इस तरह भगवान् जिनेन्द्रकी स्तुति कर स्वर्गलक्ष्मीके कटाक्षरूप बाणसमूहके लक्ष्य हुए तथा मुक्तिसदेशके भी पात्र हुए ॥९६॥

अर्थ—श्री जयकुमार श्रीजिनेन्द्र देवके अमृतके समान निर्दोष रूपको अत्यधिक मात्रामे पीकर मानो इतने स्थूल हो गये कि जिनालयसे निकलनेके लिये असमर्थ हो गये । भाव यह है कि जिनेन्द्र देवकी प्रशान्त मुद्राके दर्शन करते हुए वे इतने भावविभोर हो गये कि वहाँसे बाहर जानेका विचार ही भूल गये ।

सूक्ष्मत्वतो लुप्तमवेत्य चेतः श्रीपादयोर्निर्व्रजताथवेतः ।
अवापि तत्रत्यरजस्तु तेन सशोधनाधीनगुणस्तुतेन ॥९८॥

सूक्ष्मत्वत इत्यादि—अथवा तेन जयेनेत श्रीसदनान्निर्व्रजता चेत स्वीय मन' सूक्ष्मत्वत कारणाच्छ्रीपादयोर्लुप्त विलीनमवेत्य सशोधनस्य समन्वेषणस्याधीनो यो गुणस्तेन प्तुतेन समर्थितेन तेन तत्रत्य रज श्रीचरणधूरिवापि सगृहीतमित्युत्प्रेक्षालकार ॥९८॥

अनुष्ठित यद्यदधीश्वरेण तत्तत्कृतं श्रीसुदृशाऽऽदरेण ।
येनाध्वना गच्छति चित्रभानुस्तेनैव ताराततिरेति साऽनु ॥९९॥

अनुष्ठितमित्यादि—अधीश्वरेण जयकुमारेण तत्र यद्यदप्यनुष्ठितं समाचरितं श्रीसुदृशा सुलोचनयापि तत्तदादरेण विनयपूर्वक कृतमेतद्युक्तमेव, यत' किल चित्रभानु सूर्य. स येनाध्वनाकाशमार्गेण गच्छति तेनैवाध्वना सा ताराणा ततिः पक्तिरपि तमनु एति सगच्छतीति दृष्टान्तोऽलकार ॥९९॥

वेला बभूव व्यवधानहेतुः सुलोचनातद्धवयोर्द्वये तु ।
सन्ध्या निशावासरयोरिवाथानुगच्छतोर्निम्ननिबद्धगाथा ॥१००॥

वेलेत्यादि—अथानुगच्छतो सार्द्धं व्रजतो सुलोचना च तद्धवो जयकुमारश्च तयोर्द्वये व्यवधानहेतुर्निम्ननिबद्धा गाथा परिचयरीतिर्यस्या. सा वेला निशावासरयोर्मध्ये सन्ध्येव बभूव । तु पादपूर्तौ ॥१००॥

पश्चात् क्या करना चाहिये इस प्रकारका विचार करने लगे ॥९७॥

अर्थ—जयकुमारने देखा कि सूक्ष्मताके कारण हमारा चित्त जिनेन्द्रदेवके चरणोमे लुप्त हो गया है, अत उसे प्राप्त करनेके योग्य गुणसे सहित जयकुमारने जिनालयसे निकलते हुए वहाँकी धूलि प्राप्त कर ली। धूलिको उन्होने मानो इस भावनासे प्राप्त किया था कि इस तान्त्रिक प्रयोगसे हमारा लुप्त चित्त हमे प्राप्त हो जायगा।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी चरणरज मस्तक पर लगा कर वे मन्दिरसे बाहर निकले ॥९८॥

अर्थ—जयकुमारने वहाँ जो जो कार्य किया उस उस कार्यको सुलोचनाने भी आदर भावसे किया सो ठीक ही है, क्योकि सूर्य जिस आकाश मार्गसे जाता है ताराओकी पक्ति भी उसी मार्गसे उसके पीछे-पीछे जाती है ॥९९॥

अर्थ—जिस प्रकार आगे-पीछे चलते हुए रात्रि और दिनके बीच सन्ध्या व्यवधानका कारण होती है, उसी प्रकार सुलोचना और जयकुमार इन दोनोंके बीचमे निम्नाङ्कित परिचयसे युक्त वेला व्यवधानका कारण हुई थी ॥ ००॥

सौधर्मसंसदि निशम्य तयोः प्रशंसां
शीले परीक्षितुमुपात्तमानः स्विदेव ।
भार्यां निजस्य चतुरामिह काञ्चनाख्यां
स्माज्ञापयत्यपि रविप्रभनामदेवः ॥१०१॥

सौधर्मेत्यादि—स्पष्टमिदम् ॥१०१॥

सदम्भाऽऽगत्य सा रम्भा जयभूजानिसन्निधौ ।
उवाच वाचमित्येव सविलासदयोदयाम् ॥१०२॥

सदम्भेत्यादि—दम्भेन छलेन सहिता सदम्भा मायाविनी सा रम्भा स्वर्वेश्या भूः पृथ्वीयं जायेव यस्य स भूजानिर्जय एव भूजानिस्तस्य सन्निधौ निकटदेशे आगत्य विलासेन सहिताया दयाया उदयो यथा भवेदित्येतादृशीमित्येव निम्नाङ्कितां वाचमुवाच ॥१०२॥

मम वृत्तकुसुममालाऽऽमोदमयी भाग्यशालिना त्वकया ।
हृदयेऽवधारणीया नररत्नक ! यत्नतो लभ्या ॥१०३॥

ममेत्यादि—हे नरेषु सामर्थ्यशालिषु रत्नक ! श्रेष्ठतम ! त्वयैव त्वकया भाग्यशालिना मम वृत्तान्यतीतानि चरितानि तान्येव कुसुमानि तेषां माला याऽऽमोदमयी प्रसन्नतादात्रीति सुगन्धसहिताऽसौ यत्नतोऽपि प्रयत्नं कृत्वापि समर्जनीया स्वहृदयेऽवधारणीयास्ति ॥१०३॥

विजयार्द्धोत्तरभागे रत्नपुरेन्द्रो मनोहरे विषये ।
पिङ्गलगान्धाराख्यः सुलक्षणा सुप्रभा महिषी ॥१०४॥

विजयार्द्धेत्यादि—विजयार्द्धपर्वतस्योत्तरश्रेण्या मनोहरे देशे रत्नपुरस्येन्द्रो राजा

अर्थ—सौधर्मेन्द्रकी सभामे प्रशसा सुनकर जयकुमार और सुलोचनाके शील की परीक्षा करनेके लिये उत्सुक रविप्रभ नामक देवने अपनी काञ्चना नामक चतुर देवीको आज्ञा दी ॥१०१॥

अर्थ—उस मायाविनी देवीने राजा जयकुमारके पास आकर विलास सहित दयाको प्रकट करने वाले निम्नाकित वचन कहे ॥१०२॥

अर्थ—हे नररत्न ! मेरे चरितरूप फूलोकी माला, जो कि आनन्दको देने वाली है (पक्षमे सुगन्धमयी है) और प्रयत्नसे प्राप्त करने योग्य है, आप भाग्यशालीके द्वारा हृदयमे धारण करने योग्य है ॥१०३॥

अर्थ—विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणी सम्बन्धी मनोहर देशम पिङ्गल-

पिङ्गलगान्धाराख्यस्तस्य सुप्रभा नाम सुलक्षणा प्रशसनीयगुणा महिषी चास्ति ॥१०४॥

विद्युत्प्रभा सुपुत्री ह्यन्वितनामानयोर्नमेर्भार्या ।
त्वामेकदा सुमेरोर्विहरन्तं नन्दने वनेऽपश्यत् ॥१०५॥

विद्युत्प्रभेत्यादि—अनयोर्द्वयोर्विद्युत्प्रभा नाम पुत्री या यथार्थनामा नमेर्विद्याधरस्य भार्या सेकदा सुमेरोर्नन्दने वने विहरन्तं त्वामपश्यत् ॥१०५॥

वनं मनोज्ञं बहुकल्पवृक्षं हारिप्रियानीत इहास्ति शक्रः ।
प्रसन्न ऐरावत एव किं वा कुबेरको नन्दनवत्ततो यत् ॥१०६॥

वनमित्यादि—यद् वनं मनोज्ञं नन्दनं नाम ततो नन्दनं स्वर्गीयवनमिव यतो कल्पवृक्षं बहुकल्पैरनेकप्रकारैर्वृक्षैर्युक्तं तद् बहुभि: कल्पवृक्षैर्युक्तं यत इह हरिप्रिया नामौषधिस्तया नीत: स्वीकृत: शक्र: कुब्जो वाऽर्जुनो वृक्षो वा पक्षे हरिप्रिया शची तया नीत इन्द्र: । प्रसन्न ऐरावतो नारङ्गनाम वृक्ष:, पक्षे ऐरावतो हस्ती कुबेर एव कुबेरको नन्दीवृक्ष: पक्षे धनद इति ॥१०६॥

लतानिकुञ्जेषु घनप्रसूनपदेन पुष्पायुधलुब्धकेन ।
प्रसारिता सम्प्रति सग्रहीतुं पाशा हि पान्थेक्षणपक्षिमालाम् ॥१०७॥

गान्धार नामका रत्नपुरका राजा है और प्रशमनीय गुणोसे सहित सुप्रभा नामक उसकी रानी है ॥१०४॥

अर्थ—उन दोनोकी सार्थक नाम वाली विद्युत्प्रभा पुत्री है, जो नमिकी स्त्री है। उसने एक समय सुमेरुके नन्दन वनमे विहार करते हुए तुम्हे देखा ॥१०५॥

अर्थ—सुमेरु पर्वतका वह नन्दनवन स्वर्गके नन्दनवनके समान मनोज्ञ—मनोहर था, क्योंकि जिस प्रकार स्वर्गका नन्दनवन **बहुकल्पवृक्ष**—अनेक कल्पवृक्षोसे सहित है उसी प्रकार वह नन्दन वन भी **बहुकल्पवृक्ष**—बहुत प्रकारके वृक्षोसे सहित था, जिस प्रकार स्वर्गके नन्दनवनमे **हरिप्रियानीतः शक्रोऽस्ति**—इन्द्राणीके द्वारा लाया हुआ इन्द्र रहता है उसी प्रकार उस नन्दन वनमे **हरिप्रियानीतः शक्रः**—हरिप्रिया नामक ओषधिसे सहित कुब्जक अथवा अर्जुन (कोहा) नामक वृक्ष था, जिस प्रकार स्वर्गके नन्दनवनमें **प्रसन्न ऐरावतः**—प्रसन्न ऐरावत हाथी होता है उसी प्रकार उस नन्दनवनमे भी **प्रसन्न—उत्तम ऐरावत**—नारङ्गीके वृक्ष थे और जिस प्रकार स्वर्गको नन्दनवनमे **कुबेर—उत्तर दिशाका** दिक्पाल धनद रहता है उसी प्रकार उस नन्दन वनमे **कुबेर—नन्दी वृक्ष** था ॥१०६॥

लतेत्यादि—यत्र लतानां निकुञ्जेषु गृहेषु घनानां विपुलानां प्रसूनाना पदेन व्याजेन पुष्पायुधः कामः स एव लुब्धको व्याधस्तेन पान्थानां पथिकानामीक्षणान्येव पक्षिणस्तेषां मालां संग्रहीतु प्रसारिताः पाशा हि सम्प्रति भान्ति ॥१०७॥

परिभ्रमत्षट्पदराजिकायामन्तर्गतो मौक्तिकपुष्पपुञ्जः ।
मौर्व्यामनङ्गस्य नियुक्तबाणाग्रारोपितः पुङ्ख इवावभाति ॥१०८॥

परिभ्रमदित्यादि—परिभ्रमतां पर्यटतां षट्पदाना भ्रमराणां या राजिका पंक्ति-स्तस्यामन्तर्गतो मध्यवर्ती मौक्तिकपुष्पपुञ्जो मुक्ताकृतिपुष्पसमूह सोऽनङ्गस्य कामदेवस्य मौर्व्यां ज्यायां नियुक्तस्समारोपितो यो बाणस्तस्याग्रे भाग आरोपित पुङ्ख इवावभाति ॥१०८॥

समुत्सुकानामथवा शुकानां पंक्तिः पतन्ती परमप्रसन्ना ।
मनो हरत्येव हरिन्मणीनां विनिर्मिता तोरणसन्ततिर्वा ॥१०९॥

शुकात्मनामित्यादि—समुत्सुकाना मुत्कण्ठायुक्तानां शुकानकीराणां परम-प्रसन्ना पंक्तिस्तत्रापतन्ती सती हरिन्मणीनां निर्मिता तोरणसन्ततिर्वा दर्शकानां मनो हरत्येवोत्प्रेक्षालकार ॥१०९॥

पुरा पुरारेरुपरि प्रकोपान्मुक्तेषु कामस्य हि मार्गणेषु ।
प्रेमिन् परागोपचयापदेशात् तदङ्गभस्मैव समस्ति लग्नम् ॥११०॥

पुरेत्यादि—हे प्रेमिन् ! यत्र पुरा पूर्वकाले पुरारेर्महादेवस्योपरि प्रकोपान्मुक्तेषु

अर्थ—जिस नन्दनवनके लतागृहोमे अत्यधिक पुष्पोके छलसे कामदेवरूपी शिकारीने पथिकजनोके नेत्ररूपी पक्षियोकी पक्तिको पकडनेके लिये इस समय मानो जाल ही फैला रक्खे हैं ॥१०७॥

अर्थ—परिभ्रमण करनेवाले भ्रमरोकी पक्तिके मध्यमें स्थित मोतीके आकार वाले पुष्पोका समूह कामदेवकी प्रत्यञ्चा पर चढाये गये बाणकी मूठके समान सुशोभित होता है ॥१०८॥

अर्थ—अथवा उस वनमे उत्कण्ठित तोताओकी पडती हुई परम प्रसन्न पङ्क्ति हरे मणियोकी बनी तोरणसन्ततिके समान दर्शकोका मन हर लेती है ॥१०९॥

अर्थ—हे प्रेमिन् ! पूर्वकालमे कामदेवने तीव्र क्रोधसे महादेव जीके ऊपर जो

कामस्य मार्गणेषु शरेषु पुष्पेषु परागस्यापचय सग्रहस्तस्यापदेशाद् रजोऽशच्छलात् तस्य देवस्याङ्गे यद् भस्म तदेव लग्नं समस्तीत्यपह्नुति ॥११०॥

मुहुर्मरुद्भङ्गिभिरङ्ग यत्र भ्रश्यद्रजाः श्रीस्थलपद्म आस्ते ।
समुद्वमन् सन् हुतभक्कणान् स शाणोपलः स्मारशिलीमुखानाम् ॥१११॥

मुहुरित्यादि—हे अङ्ग ! यत्र मरुतो वायोर्भङ्गिभि झम्पनाभिर्मुहुर्भ्रश्यद्रजा निरन्तरं निपतद्रेणुपराग स श्रीस्थलपद्म स हुतभुजो वह्ने कणान् समुद्वमन् सन् स्मारशिलीमुखाना स्मरसम्बन्धिबाणानां शाणोपल उत्तेजकपाषाण आस्ते। अपह्नुतिरलंकार ॥१११॥

चाम्पेयपुष्पं परमप्रसन्नमन्तर्निलीनालिकुल विभाति ।
आरोपितं साशुगसंचय च तूणीरमेतद्रतिनायकस्य ॥११२॥

चाम्पेयपुष्पमित्यादि—यत्र यच्चाम्पेयं चम्पासम्बन्धि पुष्प परमप्रसन्नं विकासमाप्त यच्चान्तर्निलीनालिकुलमङ्कस्थितभ्रमरसमूह तत्किलैतद्रतिनायकस्य कामस्यारोपितमङ्गीकृत साशुगसचयमाशुगाना बाणाना सचयेन सहित तूणीरमिव विभाति शोभते। उपमालंकार ॥११२॥

सुसज्जगुञ्जा परितो भ्रमन्ती रजस्तटे षट्पदधोरिणीति ।
अयोमयीय खलु शृङ्खला स्यादिध्माधिपस्याध्वगबन्धनाय ॥११३॥

सुसज्जगुञ्जेत्यादि—सुसज्जा स्पष्टरूपा गुञ्जा गुञ्जन ध्वनिर्यस्या सा षट्पदाना भ्रमराणां धोरिणी पक्तिस्सा रजस पुष्पेभ्यो निपतितस्य तटे प्रान्ते परित इतस्ततो

अपने पुष्परूपी बाण छोडे थे, उनमे पराग सग्रहके छलसे उनके शरीरकी भस्म ही सलग्न है ।

भावार्थ—फूलोमे जो पुष्परजके अश दिखायी देते है, वे पुष्परजके अश नही है किन्तु महादेवके शरीरकी भस्म हैं ॥११०॥

अर्थ—वायुकी झम्पनाओ–झोखोके कारण जिसमे बार-बार पराग गिर रही है, ऐसा शोभायमान गुलाब वहाँ अग्नि-कणोको उगलने वाला कामदेवके बाणोको तीक्ष्ण करनेका शाणोपल–मसाण ही है ॥१११॥

अर्थ—जिसके भीतर भ्रमरोका समूह छिपा हुआ है, ऐसा यह खिला हुआ गुलाब बाणसमूहसे सहित कामदेवके तरकशके समान जान पडता है ॥११२॥

अर्थ—परागके समीप गुञ्जन ध्वनिके साथ चारो ओर भ्रमण करती हुई

भ्रमन्ती सतीक्ष्यते सेयं । खलु अध्वगानां पान्थानां बन्धनाय स्तम्भनायेऽमाधिपस्य कामराजस्यायोमयी लोहघटिता शृङ्खला निगडतति स्यान्नूवेदित्युत्प्रेक्षालंकार. ॥११३॥

प्रान्तभ्रमद्भृङ्गनिनाददम्भादतिप्रसन्ना खलु पाटला तु ।
जगज्जिगीषोर्मदनामरस्य निरन्तरं कूजति काहलेव ॥११४॥

प्रान्तेत्यादि -- तु पुनरतिप्रसन्ना पाटला सा खलु प्रान्ते भ्रमन्तो ये भृङ्गा भ्रमरास्तेषां निनादस्य गुञ्जनस्य दम्भान्निरन्तरं जगज्जिगीषोर्विश्वं जेतुमिच्छतो मदनामरस्य कामदेवस्य काहला ढक्का कूजतीवेत्युत्प्रेक्षालंकार ॥११४॥

दृष्टा मुहुर्या कुसुमप्रदेशे भृङ्गैः सदङ्गैरथ पल्लवानाम् ।
कुलैरिदानीमुपलालितापि विभाति सद्यो गणिका प्रसन्ना ॥११५॥

दृष्टेत्यादि—अथेदानीमत्र सद्यः प्रसन्ना गणिका[1] यूथिका वेश्या च विभाति । कीदृशीति चेत् ? पल्लवानां पत्राणां पक्षे विटपानां यद्वा भृङ्गाराणां कुलैः समूहैरुपलालितापि सदङ्गैर्हृष्टैः सुन्दरैश्च भृङ्गैरलिभिः कामिभिश्च कुसुमप्रदेशे पुष्पस्थाने मुहुर्वारं वारं दृष्टावलोकितार्थादुपभुक्ता या सा । 'पल्लवो विस्तरे खड्गे भृङ्गारेऽलक्तकरागयो । बलेऽप्यस्त्री तु किसले विटपेऽपि च पल्लवः । इति विश्वलोचनकार. । समासोक्तिरलंकारः ॥११५॥

गतो भवान् दृक्पथमात्रमित्थं मनोभवाराम इवाभिरामे ।
त्वत्सन्निधौ विक्रिययान्तरङ्ग-पक्षी समापाशु गुणोश तस्याः ॥११६॥

भ्रमरोकी पंक्ति ऐसी जान पडती थी, मानो पथिकोको बाधनेके लिये कामदेवकी लोहनिर्मित जजीर ही हो ॥११३॥

अर्थ—अत्यन्त खिली हुई गुलाबकी झाडी समीपमे भ्रमण करते भ्रमरोके शब्दके छलसे ऐसी जान पडती है, मानो जगत्को जीतनेके इच्छुक कामदेवका नगाडा ही निरन्तर बज रहा हो ॥११४॥

अर्थ—जिस नन्दनवनमे शीघ्र ही प्रसन्ना–खिली हुई (पक्षमे प्रसन्नचित्त) वह गणिका–जुही (पक्षमे वेश्या) सुशोभित होती है, जो कि पुष्पोके स्थान पर सुन्दर शरीर वाले भ्रमरो (पक्षमे विटो) से देखी गई है तथा पल्लवाना कुलै.–किसलयोके समूह (पक्षमे कामीजनो समूहसे) उपलालित-सेवित अथवा उपभुक्त है ॥११५॥

---

१. 'गणिका यूथिका वेश्या' इति विश्वलोचन. ।

गत इत्यादि—हे गुणीश ! इत्थं प्रकारेण मनोभवस्य कामदेवस्यारामं इवाभिरामे मनोहरे तस्मिन्नारामे भवान् दृक्पथमात्रं गतस्तदा तस्या अन्तरङ्गपक्षी विक्रियया विकार-भावेन पक्षिचेष्टया वाऽऽशु शीघ्रमेव (वत्सन्निधौ सन्निकटे समाप प्राप्तवान् ॥११६॥

यतः प्रभृत्येव भवानदृश्यं सुदर्शनीयोऽपि बभावदृश्यः ।
नितम्बिनीनां मणिकाभिजाताऽहो साम्प्रतं सा कणिकेव जाता ॥११७॥

यत इत्यादि—अवश्य सुदर्शनीयोऽपि भवान् यतः प्रभृति अदृश्य एव प्रच्छन्नो बभौ तत आरभ्य या नितम्बिनीना मणिकाभिजाता सर्वादरणीयमणिरूपापि साम्प्रत सा कणिकेव जाता भवद्वियोगवशेन कृशप्राया बभूव । अहो आश्चर्ये ॥११७॥

यावन्नदीनं दिनमुत्ततार कथं कथं साऽप्यबलाप्युदार ।
भयकरा प्रत्युत सा विशेषाद्वनी पुनः सा रजनिश्च केषाम् ॥११८॥

यावदित्यादि—हे उदार विशालहृदय ! सापि किलाबलापि स्वभावतो या सा कथं कथमपि कृत्वा यावन्नदीन दिनं समुद्रवद् दीर्घं दिवममुत्ततार व्यतीतवती पुन सा रज-निश्च केषा सौभाग्यशालिनां या सारस्य जनिर्जन्मदात्री सैव प्रत्युत तस्यै विशेषाद्भयंकरा वनी जातेति यावत् । श्लेषोऽलंकारः ॥११८॥

मनोऽम्बुजस्थोऽप्यखिलप्रदेशव्यपेक्षणीयः खलु विष्णुवेषः ।
अर्द्धावशिष्टा भवता महेशाहो त्वां त्रिमूर्ति निजगाद चैषा ॥११९॥

मनोऽम्बुजस्थ इत्यादि—हे महेश ! महांश्चासावीशश्चेति महेशस्तत्सम्बुद्धौ

अर्थ—हे गुणीश ! इस प्रकार कामदेवके उपवनके समान सुन्दर उस नन्दन वनमे आप उस विद्युत्प्रभाके दृष्टिगोचर ही हुए थे कि शीघ्र ही उसका मनरूपी पक्षी विक्रियया-विकार भावसे अथवा पक्षि सम्बन्धी चेष्टासे आपके निकट आ पहुँचा ॥११६॥

अर्थ—सुदर्शनीय होने पर भी आप जिस कारण उस समयसे अदृश्य रहे, उस कारण वह विद्युत्प्रभा स्त्रियोमे मणिकाके समान श्रेष्ठ होने पर भी इस समय कणिकाके समान कृश हो गई है, यह आश्चर्यकी बात है ॥११७॥

अर्थ—हे विशालहृदय ! स्वभावसे अबला होने पर भी उसने किसी तरह नदीन–समुद्रके समान विस्तृत दिनको तो व्यतीत कर लिया, सा रजनि–वह रात्रि जो कि किन्ही सौभाग्यशाली पुरुषोके लिये सारजनि–सार्थक जन्म वाली होती है, उसके लिये विशेषकर भयकर अटवीके समान हो गई है ॥११८॥

अर्थ—हे महेश ! महान् राजन् ! (पक्षमे हे महादेव !) आपने उसे अर्द्धा-

पक्षे हे शिव ! सैषा त्वया अर्द्धावशिष्टा कृता महादेवेन गौरीत्वं नीता पक्षे दौर्बल्येनार्ध-मवशिष्टं यस्याः सा, यतस्त्वं तस्या मन एवाम्बुजं कमलं तत्र तिष्ठति स मनोऽम्बुजस्थो ब्रह्मात्मकत्वेनाधीतः सन् पुनरखिलेषु प्रदेशेषु व्यपेक्षणीयः सर्वत्र सर्वास्ववस्थासु त्वमेवाव-लोकनीयोऽभूदिति कृत्वा च त्वमेव विष्णुरेष इत्य त्वामेवैषा त्रिमूर्ति निजगाद ॥११९॥

वित्ताश्रितं चित्तमभूच्च तस्याभवत्समीपेऽथ पुनः कुतः स्यात् ।
अर्थक्रियाकारिशरीरमेतदकारणं कार्यमिवार्द्रचेतः ॥१२०॥

वित्ताश्रितमित्यादि—हे आर्द्रचेतः ! करुणाशील ! तस्याश्चित्तं यद्वित्तया विचारकतयाऽऽश्रितं तच्च भवत्समीपेऽभूत्त्वदधीनं बभूवाथ पुनस्तस्या एतच्छरीरमकारणं कारणेन विना कार्यमिव कुतः स्यादिति सा निश्चेष्टा बभूवेति । अन्यथानुपपत्ति-रलंकार ॥१२०॥

आह्वानने तां भवतः प्रवृत्तां त्यक्त्वा क्षुधाद्या अपि ता निवृत्ताः ।
सख्यस्तदीया न पुनस्त्वदीया दृक् तद्हृदाजीवनदायिनी याः ॥१२१॥

आह्वानन इत्यादि—तां भवतः श्रीमत आह्वानने सन्निमन्त्रणे प्रवृत्तां त्यक्त्वा चैकाकिनीं कृत्वा ताः प्रसिद्धाः सर्वदापि सहचारिण्यस्ताः क्षुधाद्या अपि सख्यो निवृत्ता दूरगताः पुनरपि तस्या हृदो मनस आजीवनदायिनी प्राणप्रदा या त्वदीया दृक् सा नाभूदिति ॥१२१॥

वशिष्ट कर दिया है–अर्धाङ्गिनी बनाकर गौरी रूप प्राप्त कर दिया है (पक्षमे वह सूख कर आधी रह गई है) फिर आप उसके मनरूपी कमलमे स्थित हैं, इसलिये पद्मनिवासी ब्रह्मा है (पक्षमे सदा अपने मनमे आपका ध्यान करती है) तथा सकल्पके कारण सब जगह दिखायी देते है, अत विष्णु है । इस प्रकार वह आपको त्रिमूर्ति कहती है ॥११९॥

अर्थ—हे करुणाशाल ! उसका जो चित्त वित्ताश्रित–विचारकतासे सहित था वह तो आपके समीप पहुँच गया–आपके अधीन हो गया । इसलिये जिस प्रकार कारणके बिना कार्य नही होता इसी प्रकार चित्तके बिना उसका शरीर अर्थ-क्रियाकारि कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता । भाव यह है कि वह निश्चेष्ट हो गई है ॥१२०॥

अर्थ—आपके बुलानेमे प्रवृत्त उस विद्युत्प्रभाको छोडकर उसकी क्षुधा आदि सखियाँ भी चली गई हैं, फिर भी उसके हृदयको जीवन देने वाली आपकी दृष्टि उसे प्राप्त नही हो रही है ॥१२१॥

१. 'विरहे स्यात्तन्मयं भुवनम्' इति प्रसिद्धेः ।

स्वमिन्दुकान्तत्वमहो जगाद मुखं मृगाक्ष्याः प्रकृतप्रसाद ! ।
विधूदये सुस्रवदश्रुकायः स्वतोऽमृतो येन पयोनिकायः ॥१२२॥

स्वमित्यादि—हे प्रकृतप्रसाद ! कृपाशील ! तस्या मृगाक्ष्या मुखं स्वमात्मसम्बन्धि तदिन्दुकान्तत्वं चन्द्रसदृशसुन्दरत्वमुत चन्द्रकान्तमणित्व जगाद येन किल कारणेन विधोश्चन्द्रस्योदये सति तावदेवामुतस्तस्या मुखात् सुस्रवन्ति निर्व्रजन्ति अश्रूणि तान्येव कायो यस्य स पयोनिकायोऽम्बुप्रवाहः स्वत एवेति अहो समद्भुतमेतत् । अन्यथानुपपत्तिः ॥१२२॥

निशो निवृत्तौ स्विदुषो गतं वा रुषो विधिं पूर्वदिशोऽविलम्बात् ।
तत्राथ च त्रासमवाप शापवशंगता ते सुतरामपाप ॥१२३॥

निशो निवृत्तावित्यादि—हे अपाप ! पापाचारवर्जित ! निशो रात्रेर्निवृत्तौ समाप्तावपि स्विदुषः प्रातरभूत् तदविलम्बात् तत्कालमेव पूर्वदिश· प्राच्या रुषो विधि गत पूर्वंदिशापि सपत्नी तस्या· प्रकोपोऽभूत् । ततोऽथ च तत्रापि ते शापवशं गता सा विरहाधीना सुतरा त्रासमवाप । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१२३॥

इत्येवमेषा ललना विशेषात्प्रवर्तते त्वत्स्मरणावशेषा ।
स्माहारमप्युज्झति नैव हारं गता बतारान्मदनाधिकारम् ॥१२४॥

इत्येवमित्यादि—इत्येवमारात् पूर्णतया मदनस्य कामस्याधिकार गता तदधीना सत्येषा ललना हारं कण्ठभूषणमित्युपलक्षणं तेन सर्वशृङ्गारमेव न किन्तु आहारमपि उज्झति त्यजति स्मेति बत सखेदमुच्यते । विशेषात्केवलं त्वत्स्मरणावशेषा भवता सह समागमस्याशामात्रतया प्रवर्तते भो प्रभो ! अनुप्रासोऽलंकारः ॥१२४॥

अर्थ—हे कृपाशील ! उस मृगनयनीका मुख अपने आपकी चन्द्रमाके समान सुन्दरता अथवा चन्द्रकान्तमणित्वको स्वयं कहता है, क्योंकि चन्द्रोदय होने पर उससे झरते हुए अश्रुसमूहरूप जल-प्रवाह स्वयं प्रवाहित होने लगता है। यह अद्भुत बात है ॥१२२॥

अर्थ—हे अपाप ! पापाचाररहित ! रात्रिकी समाप्ति होने पर उषाकाल आता है पर वह शीघ्र ही पूर्व दिशाके क्रोधको प्राप्त हो जाता है, अत. आपके क्रोधकी वशीभूत वह उस समय भी अत्यधिक त्रास–दु.खको प्राप्त होती है ॥१२३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्णरूपसे कामकी अधीनताको प्राप्त इस स्त्रीने न केवल हार (उपलक्षणसे सर्वशृङ्गार) को छोडा है, किन्तु आहार भी छोड़ दिया है। केवल आपका स्मरण ही उसके शेष रहा है, यह बडे दुःखकी बात है ॥१२४॥

स्मरोहितः पीत इतः स यावन्नैकान्तकस्तिष्ठति शुद्धवर्णः ।
श्यामापि सा रक्ततया लसन्ती चित्रानुरूपा धवला बभूव ।।१२५।।

स्मरोहित इत्यादि—स शुद्धवर्णः पवित्रजातीयः श्वेतरूपो वा पीतः पिशङ्गो रोहितो रक्तश्च सन् यावन्नैकान्तकोऽनेकरूपो भूत्वा तिष्ठति स्म तथा स्मर इति रूपेणोहितस्तर्कविषयीकृतः सम्यगवलोकितोऽपि चैकान्तक एकान्तको भूत्वा यावन्न तिष्ठति तावत् सा श्यामापि नवयौवनस्वरूपा चित्रानुरूपा चित्रा नाम स्वर्गवेश्या तदनुरूपा रक्ततयाऽनुरागवत्तया लसन्ती धवला प्रियस्याभिलाषावती तथा श्यामा कृष्णवर्णाऽरुणवर्णात्मिका धवला श्वेतरूपा चेति चित्रानुरूपा नानावर्णा बभूवेति श्लेषोऽलङ्कारः ।।१२५।।

पुनः सखीनामनुशासनेन चिरेण चाशासहिता सती सा ।
विराजिता धामनि धाममूर्तेर्मूर्ति तु चित्ते बत चिन्तयन्ती ।।१२६।।

पुनरिति—पुनरपि सखीना सहचरीणामनुशासनेनाश्वासनदानेन चिरेण आशासहिताभिलाषवती सा सती धाममूर्तेस्तेजस्विनस्ते मूर्तिमाकार तु चित्ते चिन्तयन्ती बत सकष्ट धामनि स्वस्थाने विराजिताऽभूत् ।।१२६।।

भाग्यानुयोगात् सहसाभ्युपात्तस्तया स चिन्तामणिरित्युदात्तः ।
समर्थयत्वर्थमथानवद्या प्रवर्तते चेदिह भावविद्या ।।१२७।।

अर्थ—**शुद्धवर्ण**-पवित्र जातोय अथवा श्वेतरूप, **पीत**-पीतवर्ण और **रोहित**-लालवर्ण वाले जयकुमार जब तक नैकान्तक-अनेकरूप होकर स्थित रहे (पक्षमे **स्मरोहित**-यह स्मर-कामदेव है इस तर्कणाके विषयभूत और **पीत**-अच्छी तरह अवलोकित होकर भी **एकान्तात्मक**-होकर स्थित न हो मके तब तक वह स्वर्गवेश्या भी **श्यामा**-नवयौवनवती, **चित्रानुरूपा**-चित्रा नामके अनुरूप **रक्ततया**-अनुरागसे युक्त होनेके कारण शोभायमान और **धवला**-धवं पुरुषं लाति गृह्णातीति धवला) प्रियविषयक अभिलाषासे युक्त होती हुई, **श्यामा-कृष्णवर्ण**, **रोहिता**-अरुणवर्ण और **धवला**-श्वेतवर्ण रूप इस प्रकार चित्रानुरूपा-नाना रूप वाली हो गई।

भावार्थ—उम चित्रा नामक देवीने अपने नामके अनुकूल विविध रूप दिखलाये ।।१२५।।

अर्थ—फिर भी सखियोंके आश्वासनसे चिरकालोन आशा लगाये हुई वह अपने चित्तमे आप तेजस्वोकी मूर्ति-आकृतिका चिन्तन करती हुई अपने स्थानमे स्थित है ।।१२६।।

भाग्यानुयोगादित्यादि—अथ च उदात्त उत्तमश्चिन्तामणिरिति तथा भाग्यानुयोगात् शुभोदयवशात् सहसाद्याभ्युपात्त· समुपालब्ध । स एव पुनरिह चेद्यदि भावविद्या पदार्थज्ञानरूपाऽनवद्या निर्दोषा प्रवर्तते तदार्थं समर्थयितुं वाञ्छितप्रदान करोतु । अनुप्राम एवालकार· ॥१२७॥

अथायमास्ते समयः सहायः येनाभ्युपात्तः समरूपकायः ।
मया शरोपाधिकया स्मरस्य त्व निर्जरप्राय इह प्रशस्य ! ॥१२८॥

अथायमित्यादि—हे प्रशस्य ! अद्याय समय. सहाय आस्ते येन तया मया रूपं च काय शरीरं च तौ समौ रूपकायौ यस्य स त्व निर्जरप्रायो जरारहितो युवा रलयोरभेदान्निर्जलप्राय स तया मया स्मरस्य कामस्य शरेण बाणेन तथा जलेन कृत उपाधिर्यस्यास्तयाऽभ्युपत्त. । श्लेषोऽलकार. ॥१२८॥

निका गुणेनास्मि भवानिदानीमेकायते तावदथात्ममानिन् ।
समाश्रयात् साधुदशत्वमस्तु नो चेत्पुनः शून्यतयास्म्यवस्तु ॥१२९॥

निकेत्यादि—हे आत्ममानिन् स्वोपयोगशालिन् ! अह गुणेन सह निका गुणनिका गुणग्राहिका शून्यरूपा च भवामि, किन्तु भवानिदानीमेकायत एक इवाचरत्येकाकी च भवति प्रसिद्धा वा तावदथ द्वयोरपि समाश्रयात्संयोगात् साधुदशत्व सुन्दरावस्थत्व सुष्ठु

अर्थ—आज शुभोदयसे उमने उत्तम चिन्तामणि स्वरूप आपको प्राप्त किया है-आप यहाँ विद्यमान है यह ज्ञात किया है। यदि पदार्थ ज्ञानरूप निर्दोष भावविद्या आपके पाम है-आप उसके अभिप्रायको ममझ मके है तो वाञ्छित-मनोरथको प्रदान करे-पूर्ण करे ॥१२७॥

अर्थ—हे प्रशंसनीय ! यह अनुकूल ममय है जिससे कि कामबाणसे पीडित मैने निर्जर प्राय-तरुणावस्थासे युक्त आपको प्राप्त किया है। **अर्थान्तर**—**शरोपाधि**-जलके उपद्रवसे पीडित मैने **निर्जलप्राय**-जलके उपद्रवसे रहित आपको प्राप्त किया है ॥१२८॥

अर्थ—हे आत्ममानिन् ! स्वोपयोगशालिन् ! मै गुणसहित निका **अर्थात्** गुणनिका गुणग्राहिणी हूँ अथवा शून्यरूप हूँ और आप इस समय एकके समान आचरण करते हैं अथवा एकाकी-द्वितीयरहित हैं, अतः दोनोके संयोगसे साधुदशत्व-सुन्दरावस्था हो अथवा अच्छी तरह दश सख्या हो-दोनोकी पाँच-पाँच इन्द्रियोके मिलनेमे दश सख्या हो। यदि ऐसा नही होता है तो शून्यताके कारण मै अवस्तु रूप होती हूँ, अर्थात् मरणको प्राप्त होती हूँ ॥१२९॥

वशासंख्यास्व वास्तु, नो चेदन्यथा पुनः शून्यतमाऽस्तु अस्मि मरणं गच्छामीति ॥१२९॥

समभूर्मम भूतिरात्मनः प्रभवेन्नेति भुवस्तले पुनः ।
भवतां भवतादसौ रुचिः स्विदहिंसावशवर्तिनां शुचिः ॥१३०॥

समभूरित्यादि—अस्मिन् भुवस्तले पुनर्ममात्मनो भूतिर्भस्मभावो न प्रभवेदिति भवतामहिंसावशवर्तिनां शुचिः पवित्ररूपा रुचिरसौ समभू सर्वत्र समदर्शिका सा स्विदवश्यमेव भवतात् समस्तु । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१३०॥

निजः परो वेति न वेत्ति सत्तम उदेत्युतस्वित्कतमेषु हृत्तमः ।
स्वमेव विश्वं वदतेऽधुना नमः समस्तु तस्मै समदर्शिने मम ॥१३१॥

निज इत्यादि—सत्तमः सज्जनोत्तमो भवादृश सोऽयं निजोऽयं वा पर इति न वेत्ति विकल्पयति । उतस्वित् किन्तु एततु हृदश्चितस्य तमोऽन्धकार कतमेषु क्षुद्रेषु जनेषूदेति सम्भवति । मम तु स्वं विश्वं विश्वं वा स्वं वदते तस्मै समदर्शिनेऽधुना नमः समस्तु । अत्राप्यनुप्रास ॥१३१॥

तनुरेषा परिशेषात् सदावदाता न धीमतां किमु चित् ।
तारुण्ये कारुण्यं विधेहि सुविधे ! निधेहि तत्र रुचिम् ॥१३२॥

तनुरेषेत्यादि—हे सुविधे ! पुण्यात्मन् ! एषा तनुरपि परिशेषान्न्यायात् परोपकारकरणादेव सदावदाता निर्दोषा भवतीति धीमतां विचारकारिणामपि चिद् विचारधारा किमु नास्ति ? किन्त्वस्त्येवेति तारुण्ये यौवने कारुण्य करुणाबुद्धि विधेहि, यौवन व्यर्थं मा कुरु रुचि निधेहि तत्रेति । वक्रोक्तिरलंकारः ॥१३२॥

अर्थ—इस पृथिवी तलपर मेरी भस्म न हो अर्थात् मेरी मृत्यु न हो, अतः अहिंसा धर्मके वशवर्ती आपकी समदर्शिका पवित्र रुचि हो–मेरी प्रार्थना पर आपकी रुचि–अभिलाषा प्रकट हो ॥१३०॥

अर्थ—आप जैसे सज्जनोत्तम यह मेरा है यह दूसरा है ऐसा विकल्प नहीं करते किन्तु हृदयका यह अन्धकार कितने ही क्षुद्र पुरुषोंमे होता है। आप तो अपनेको विश्व और विश्वको अपना कहते हैं, अतः समदर्शी है आपके लिये मेरा नमस्कार हो ॥१३१॥

अर्थ—हे पुण्यात्मन् ! परिशेष न्यायसे यह शरीर भी परोपकार करनेसे ही सदा निर्दोष होता है, क्या यह विचारवान् मनुष्योंकी विचारधारा नहीं है ? अर्थात् अवश्य है, अतः यौवन पर दया करो, उसे व्यर्थ मत जाने दो, उस पर रुचि करो ॥१३२॥

इत्यादिवेदवाक्यैरमुकमनोऽमरवरप्रसादाय ।
काममखं सा विदधे निजशक्त्याङ्गानुयोगमयम् ॥१३३॥

इत्यादीत्यादि—'सा देवता तत्र गतो भवान्' इत्यादिभिर्वेदवाक्यैः कामोत्पादकवचनैरमुकस्य जयकुमारस्य मन एवामरवरो देवाधिपस्तस्य प्रसादाय प्रसत्तये निजशक्त्या यथात्मशक्ति अङ्गस्य स्वशरीरस्यानुयोग. प्रेरण तन्मय यद्वाङ्गस्यामन्त्रस्यानुयोगमयं काममखं स्मरयज्ञ विदधे कृतवती। 'अङ्ग सबोधनेऽसत्त्य पुनरर्थप्रमोदयो' इति विश्वलोचने। रूपकोऽलकार ॥१३३॥

प्रखरैः शरैरिवामुं भिन्दन्ती सुन्दरी दृगन्तैः सा ।
स्मरशासनवत् सघनं जघन समदर्शयत्तावत् ॥१३४॥

प्रखरैरित्यादि—प्रखरैस्तीक्ष्णैः शरैर्बाणैरिव दृगन्तैः कटाक्षैरमु जयं भिन्दन्ती सा सुन्दरी देवी स्मरशासनवत् कामदेवाज्ञापत्रमिव सघनं स्थूलं जघनं जघनस्थलं तावत् समदर्शयत् प्रकटयामास ॥१३४॥

सैषाभ्यञ्चति निम्नगा प्रथमतः फेनायमानं स्मितं
पश्चान्निर्मलनीरनिर्झरनिभेऽस्याः स्रसमानेऽशुके ।
सद्योऽप्यभ्युदियाय कामिरमणद्वीपप्रतीपः स्तनो
व्यक्तोऽतो वलिबद्धनाभिकुहरः कल्लोलितावर्तवत् ॥१३५॥

सैषेत्यादि—एषा निम्नगा निम्नाचारवतीत्यतो निम्नगा नदीवात. प्रथमतस्तावत् फेन इवाचरतीति फेनायमानं स्मितमीषद्धसितं तदभ्यञ्चति स्म प्रसारयामास। तत्पश्चादस्या निर्मलनीरस्य निर्झरः प्रवाहस्तस्य निभा प्रभेव निभा यस्य तस्मिन्नंशुके वस्त्रे

अर्थ—'उस देवताने' इत्यादि वेद वाक्योके द्वारा जयकुमारके मनरूपी श्रेष्ठ देवको प्रसन्न करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार स्वशरीरकी प्रेरणारूप कामयज्ञ किया ॥१३३॥

अर्थ—तीक्ष्ण बाणोके समान कटाक्षोसे जयकुमारको भेदती हुई उस सुन्दरी–देवीने कामदेवके आज्ञा पत्रके समान स्थूल जघनभाग दिखलाया–प्रकट किया ॥१३४॥

अर्थ—वह देवी निम्न आचार वाली होनेसे निम्नगा–नदीके समान थी। सबसे पहले उसने फेनके समान आचरण करने वाली मन्द मुसक्यान प्रकट की, पश्चात् स्वच्छ जलके झरनेके समान इसका वस्त्र खिसकने पर शीघ्र ही कामी

ऽसमाने प्रस्खलिते सति कामिने रमणोऽतिप्रियो यो द्वीपस्तस्य प्रतीपः प्रतिस्पर्द्धी स्तन उरोजभागः सद्योऽप्यभ्युदियाय । अतः पुनर्वलिभिस्त्रिभङ्गीभिर्बद्धोऽनुनिबद्धो योऽसौ नाभिकुहरस्तुण्डिकाप्रदेशः स कल्लोलितावर्तवत् सतरङ्गभ्रमणवद् व्यक्तोऽभूत् । उपमालंकारः ॥१३५॥

नाङ्कं टङ्कमिवाशनिप्रतिकृतौ लेभे वचस्तद्धृदि
हावादीहमनाङ्न तत्परिणतिं प्रापोषरे बीजवत् ।
तस्याः किञ्च मनोरथोन्नतगिरिं भेत्तुं वचोवज्रराट्
श्रीस्तम्बेरमपत्तनेश्वरमुखादेवं पुनर्निर्ययौ ॥१३६॥

नाङ्कमित्यादि—उपर्युक्तं देवताया वचस्तस्य जयकुमारस्य हृदि अशनेर्वज्रस्य प्रतिकृतौ टङ्कमिव प्रावदारणास्त्रवन्नाङ्कं स्थान लेभे समाप । तथा तस्या हावादि चेह जयकुमारस्य हृदि ऊषरे क्षेत्रे बीजवत्तत्परिणतिं परिणमनं न प्राप किञ्चिदपि कर्तुं न शशाक । किंच प्रत्युत तस्या देवताया मनोरथ एवोन्नतो गिरिः शिखरी त भेत्तुं श्रीस्तम्बेरमपत्तनस्य हस्तिनागपुरस्य य ईश्वरः सोमसुतस्तस्य मुखाद् वच एव वज्रराट् स एवं पुनर्निर्ययौ । उपमामुख्योऽलंकारः ॥१३६॥

रसहितं नवनीतमगान्मनो वचनचक्रमभूत् कटुतक्रवत् ।
किलकिलाटववक्त्रगतं नु ते किमु न पश्यसि गोरससारिके ! ॥१३७॥

रसहितमित्यादि—हे गोरससारिके ! वाच आनन्दवेदिके ! गोपिके च वा त्वं किमु न पश्यसि ते रस एव शृङ्गार एव हित यस्य तदथवा रकारेण वह्निना सहित मनो नवनीतं

मनुष्यके क्रीडाद्वीपके समान स्तन प्रकट हुआ और इसके पश्चात् लहरोंसे युक्त भँवरके समान त्रिवलियोंसे युक्त नाभिरूप गर्त प्रकट हुआ ॥१३५॥

अर्थ—जिस प्रकार वज्रकी प्रतिमा पर पत्थर तोड़ने वाली टाँकी स्थान नही पाती है उसी प्रकार देवताके वचन जयकुमारके हृदयमे स्थानको नही प्राप्त कर सके और जिस प्रकार ऊषर भूमिमे बीज अंकुरादिरूप परिणतिको प्राप्त नही होते उसी प्रकार उसके हावभाव आदि भी जयकुमारके हृदयमे कुछ भी परिणमन नही कर सके। पश्चात् उसके मनोरथरूपी उन्नत पर्वतको भेदनेके लिये हस्तिनागपुरके स्वामी जयकुमारके मुखसे इस प्रकारका वचनरूपी श्रेष्ठ वज्र प्रकट हुआ ॥१३६॥

अर्थ—हे गोरससारिके ! वचनसम्बन्धी आनन्दका अनुभव करने वाली ! अथवा हे गोपिके ! रसहित–शृङ्गारसहित तुम्हारा मनरूपी नवनीत तो र-

तवगात् द्रुतमेव वचनचक्रं च ते तक्रवत् कटु अभूज्जातं तथा तेऽङ्गगतम् तु पुनः किल-किलाटवन्निःसारमेव ॥१३७॥

अहो धुरि कुलस्त्रीणां प्राप्तयापि पराप्तया ।
अनङ्गरूपमङ्गावस्त्वयाऽभाषि सुभाषिणि ॥१३८॥

अहो इत्यादि—अङ्ग हे भद्रे ! कुलस्त्रीणा धुरि प्राप्तयापि कुलीनासु प्रथमयापि पुनः परेण पुरुषेणाप्तया स्वीकृतयापि त्वयाव एतवनङ्गरूपं कामवासनापूर्णमतोऽनुचितात्मकमभाषि कथितमस्ति । हे सुभाषिणि ! एतत्सम्बोधनं पूर्वकालापेक्षया ॥१३८॥

शुचेस्तव मुखाम्भोजान्निरेति किमिदं वचः ।
दूरे तिष्ठति हे देवि रेफगर्भावतः सुधीः ॥१३९॥

शुचेरित्यादि—हे देवि ! तव शुचेः परमपुनीतान्मुखाम्भोजाद् वदन कमलादपीवमेतादृग्वन किमिति कथं निरेतीत्यह न जाने रेफगर्भाद् रेफो निन्दितो गर्भोऽन्तर्भागो यस्य तस्मादतो वचनात् सुधीर्दूरे तिष्ठति । 'रेफो रवर्णे पुंस्येव कुत्सिते त्वभिधेयवत्' इति विश्वलोचने ॥१३९॥

विरम विरमतः सुरमेऽमुकतः सुकतरवमत्र न हि जातु ।
हा तुच्छविषयसुखतः क्रोणास्युरु दुर्गतेर्दुःखम् ॥१४०॥

विरमेत्यादि—हे सुरमे ! सुष्ठमहिले ! अमुकतो विरमतोऽसुन्दराद्वचनाद्विरम दूरीभव, यतोऽत्र जातुचिदपि सुकतरवमाह्लावकारित्वं नास्ति हि संस्मरेति किल तुच्छान्निःसाराद्विषयसुखतो दुर्गतेर्नारकाभिधाया उरु दुःखं सागरान्तभावि कष्टं क्रोणासि । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१४०॥

सहित–अग्निसे सहित हो चला गया–पिघलकर बह गया, वचनचक्र–वचनसमूह तक्र–छाछके समान कटुक हो गया और शरीरगत जो चेष्टा है वह किलकिलाट–छोकके समान नि.सार है, यह क्या तुम देख नही रही हो ।

भावार्थ—तुम्हारे मानसिक, वाचनिक और शारीरिक विकार मुझे विचलित करनेमे अकार्यकारी हैं ॥१३७॥

अर्थ—हे सुभाषिणि ! कुलीन स्त्रियोमे अग्रणी होकर भी तुमने परपुरुषको प्राप्त हो यह कामवासनापूर्ण अनुचित वचन कहा है ॥१३८॥

अर्थ—हे देवि ! तुम्हारे पवित्र मुखकमलसे यह वचन कैसे निकला ? जिसका मध्यभाग निन्दनीय है. ऐसे वचनसे सुधीजन–ज्ञानीजन दूर रहते हैं ॥१३९॥

अर्थ—हे भद्रमहिले ! इस अशुभ वचनसे दूर रहो, क्योकि इसमे सुख देने

रेफमञ्जुलयोः साम्यभूतामाज्ञापरत्वतः ।
नररामां सदा देवि पररामामुपैमि भोः ॥१४१॥

रेफेत्यादि—भो देवि ! रेफं नन्दितं च मञ्जुलं मनोहरं तयोर्द्वयोः साम्यभूतां समबुद्धीनां सतामाज्ञापरत्वतोऽहं परेण गृहीतां रामा पररामां तां सदा नररामां रलयोरभेदाल्ललामां सुन्दरी नोपैमीत्यनुप्रासः ॥१४१॥

औदासीनवचोऽवचाय कुणपीप्राया भवन्तीति साऽऽ-
दायामुं परिगत्वरी तु सहसा सच्चक्षुषा भर्त्सिता ।
त्यक्त्वाऽगात्तमहो सुशीलमहिमाऽसौ येन संजायते
सर्पो हारतयाऽनलो जलतयाऽसिः पुष्पमाला तया ॥१४२॥

औदासीन्यवच इत्यादि—सा देवी जयस्य पूर्वोक्तमुदासीनतायुक्त वचोऽवचाय श्रुत्वा पुन· कुणपीप्राया दुर्गन्धदुराकारवती भवन्तीत्यमु जयकुमारमादाय तु पश्चात्परिगत्वरी धावनशीला सा सहसा सच्चक्षुषा सुलोचनया भर्त्सिता संतर्जितात· पुनस्त जयकुमार त्यक्त्वाऽगाज्जगाम । अहो सुशीलस्यासौ महिमा येन सर्पो हारतया भूषणरूपेणानलोऽग्निर्जलतयाऽसिश्च पुष्पमाला तया सजायते परिणमनमेति ॥१४२॥

निष्कामितामिति समीक्ष्य सुपर्वणाथ
हर्षप्रफुल्लवदनेन सजानिनाऽऽरात् ।
आगत्य तेन समपूजि सजानिरेव
यो ब्रह्मणापि महितः स न मह्यते कैः ॥१४३॥

निष्कामितामित्यादि—इत्येवं निष्कामितां शीलवत्तां समीक्ष्याराच्छीघ्रमेव हर्ष-

---

वाली कही कोई बात नही है। खेद है कि तुम तुच्छ विषयसुखसे नरक नामक दुर्गतिके भारी दु खको खरीद रही हो ॥१४०॥

अर्थ—हे देवि ! भद्र और अभद्रमे समताभाव धारण करने वाले सत्पुरुषोको आज्ञामे तत्पर होनेके कारण मैं दूसरेके द्वारा गृहीत सुन्दर स्त्रीको भी स्वीकृत नही करता हूँ ॥१४१॥

अर्थ—वह देवी जयकुमारके पूर्वोक्त उदासीनतापूर्ण वचन सुनकर राक्षसी जैसी दुर्गन्धित तथा विरूप आकार वाली होती हुई जयकुमारको लेकर भागने लगी। तब सुलोचनाने उसे डाटा, जिससे जयकुमारको छोडकर चली गई। कवि कहते है कि सुशीलकी महिमा आश्चर्यकारी है, क्योकि उससे सर्प हाररूप, अग्निजलरूप और तलवार पुष्पमालारूप परिणत हो जाती है ॥१४२॥

अर्थ—इस प्रकार शीलवत्ताको परीक्षा कर प्रसन्न मुख वाले देवने देवी

प्रफुल्लवदनेन प्रसन्नमुखेन सजानिना प्रियासहितेन तेन सुपर्वणा देवेनागत्य सजानिः प्रियासहित एष जयकुमार समपूजि पूजितोऽभूदिति । योऽत्र ब्रह्मणा शीलेन महितोऽर्चितः स कैर्न मह्यतेऽपि तु सर्वैर्मह्यते । अर्थान्तरन्यासः ।।१४३।।

गच्छन् वै सह तीर्थदेशमनयाऽसौ हंसगत्याखिलं
जन्मानर्घमथ व्रजन्नमलहृत्प्राप्तावधिर्बोधोऽवनेः ।
पुण्यात् प्रापितविद्य एवमनिशं प्राणप्रियः पूजितुं
तुष्टया प्रागमयज्जयः सुपुरुषो रंहोऽपनेतुं स तु ।।१४४।।

गच्छन्नित्यादि—पुण्यात् प्रापितविद्य. प्राप्तावधिबोधोऽवने. प्राणप्रियः प्रजाया वल्लभो जयो नाम सुपुरुषोऽमलहृन्निर्मलान्त.करणस्तुष्टया प्रसन्नभावेनासौ चरितनामकोऽनया हसगत्या सुलोचनया सहाखिल तीर्थदेश पूजितु गच्छन् वै नियमेन रंहो गृहस्थाश्रमजनितमानुषङ्गिकमपराधमपनेतुमनिश सर्वमपि दिनं प्रागमयत् सव्यतीतवान् । एतस्य चक्रबन्धस्य प्रथमाक्षरैः षष्ठाक्षरैश्च गजपुरनेतुस्तीर्थविहरणमिति सर्गविषयनिर्देश. ।।१४४।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये तद्गदिते निरेति च चतुर्विशः पुनीताशयः
श्रीवीरोदयसोदरेऽतिललिते सर्गोऽरिवुर्गेऽप्ययम् ।।१४५।।

श्रीमानित्यादि—श्रीवीरोदयकाव्य ग्रन्थकर्त्रा रचित सहोदरो यस्य तस्मिन्, अरिदुर्गेऽरय प्रतिस्पर्द्धिनो बुधास्तेषा दु खेन गन्तु शक्य तस्मिन् । शेष पूर्ववत् ।।३४५।।

सहित आकर सुलोचना सहित जयकुमारकी पूजा की, सो ठीक ही है। जो ब्रह्मचर्य-शीलव्रतसे पूजित है, वह किनके द्वारा पूजित नही होता ? अर्थात् सभीके द्वारा पूजित होता है ।।१४३।।

अर्थ—तदनन्तर जो अनर्घ-अमूल्य जन्मको प्राप्त थे, जिनका हृदय निर्मल था, जिन्हे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था और पुण्यसे जिन्हे पूर्वभवकी विद्याएँ प्राप्त हुई थी, ऐसे पृथ्वीपति जयकुमार सत्पुरुषने हंसके समान गतिवाली सुलोचनाके साथ पूजा करनेके लिये तीर्थप्रदेशोकी यात्रा को तथा गृहस्थाश्रम के पापको दूर करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए संतोषपूर्वक समय व्यतीत किया ।।१४४।।

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदय-
महाकाव्ये चतुर्विशः सर्गः समाप्तः ।

पञ्चविंशतितमः सर्गः

बहु सुमत्यवरोधिविधेः क्षयप्रशमतः शमतः स्विदयं जयः ।
झगिति निर्विविदेऽथ भवच्छिदे क्वचिदचित्तरुचिर्निजसंविदे ॥१॥

बहु सुमतीत्यादि—सुमत्यवरोधिविधेः सुमतिज्ञानावरणस्य कर्मणो बहु अत्यन्तं क्षयप्रशमतः क्षयसहितः प्रशम क्षयोपशमनामा ततः कारणात् स्विदथवा शमतः शमभाववशादयं जयकुमार क्वचिदपि दृश्यपरिकरे नास्ति चित्तस्य रुचिः प्रतीतिर्यस्य स निजस्यात्मनः संविदे संवेदनायाय च भवच्छिदे ससारविनाशाय च झगिति शीघ्रमेव निर्विविदे निर्वेदमवाप ॥१॥

अनुभवानिलजालसमीरिते हृदयसारगभीरसरस्वति ।
जनिमवाप भवापदुदीरिणः स्फुटविचारतरङ्गततिः सती ॥२॥

अनुभवेत्यादि—अनुभवः स्वोद्धारस्य विचारस्स एवानिलो वायुस्तस्य जालेन प्रचारेण समीरिते प्रेरिते भवस्य संसारस्य सम्बन्धिनी याऽऽपत् तामुदीरयति यस्तस्य हृदयसार एव गभीर सरस्वान् सागरस्तस्मिन् स्फुटा विचाराणामेव तरङ्गाणां तति परम्परा हितकर्त्रीत्यत सती जनिमवाप जन्म लेभे । रूपकोऽत्रालंकार. ॥२॥

क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियिकं सुखम् ।
विभव एव च सुप्तविकल्पवदहह दृश्यमदोऽखिलमध्रुवम् ॥३॥

क्षणरुचिरित्यादि—कमला धनसम्पत्तिः सा दिशां दशानां मुखानि तानि प्रतिदिङ्मुखं क्षणेऽतोऽनन्तरक्षणे तत इति क्षणरुचिः क्षणैव भाति । तथेन्द्रियाणामिदमैन्द्रियिकं

अर्थ—तदनन्तर किसी भी दृश्यमान पदार्थमें जिनके मनकी रुचि नहीं लग रही थी ऐसे जयकुमार सुमति-ज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त क्षयोपशम अथवा प्रशमभावसे ससारका उच्छेद करने तथा स्वकीय शुद्ध आत्माकी अनुभूतिके लिये शीघ्र ही विरक्त हो गये ॥१॥

अर्थ—संसारसम्बन्धी आपत्तिका उन्मूलन करने वाले जयकुमारके अनुभव रूपी वायुसमूहसे प्रेरित श्रेष्ठ हृदयरूपी गहरे समुद्रमें स्फुट विचार रूपी तरङ्गोंकी उत्तम परम्पराने जन्म पाया ॥२॥

अर्थ—धनसम्पत्ति प्रत्येक दिशाओंसे चमकने वाली बिजलीके समान है, इन्द्रियजन्य सुख चञ्चल है और पुत्रपौत्रादि रूप यह वैभव स्वप्नके समान

सुखं तच्च सुरधनुराकाशे प्रस्फुटमिन्द्रधनुरिव चलं भाति । तथा चैव विभवः पुत्रपौत्रादि-समागमः सुप्तस्य विकल्पवत् स्वप्नतुल्यमस्तीति, अदोऽखिलमपि दृश्यमध्रुवं क्षणिकमेव । अहहेति महदद्भुतमेतत् । उपमालंकारः ॥३॥

युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवा द्विरदा मदरोचनाः ।
लहरिवत्तरलास्तुरगा दले क्षणत एव न किन्तु चलाचले ॥४॥

युवतय इत्यादि—दले सैन्ये मृगस्येव मञ्जुले मनोहरे लोचने यासां ता युवतयो लसन्ति, कृतरवा गर्जनाकारिणस्तथा मदेन दानेन रोचना रुचिर्येषां ते द्विरदा हस्तिन-स्तथा तुरगा हया अपि लहरिवज्जलकल्लोलसदृशास्तरला. शीघ्रगामिनः सन्ति, किन्तु सर्वमेतत्क्षणत एव चलाचलेऽस्मिन् दृश्यते । उपमैवात्र ॥४॥

लवणिमाब्जदलस्थजलस्थितिस्तरुणिमायमुषोऽरुणिमान्वितिः ।
लसति जीवनमञ्जलिजीवनमिह दधात्ववधिं न सुधीजनः ॥५॥

लवणिमेत्यादि—लवणिमा सौन्दर्यप्रसरः सोऽब्जदलस्थस्य कमलपत्रगतस्य जलस्य स्थितिरिव स्थितिर्यस्य सोऽस्ति । तरुणिमा यौवनभावश्चोषस सन्ध्यासमयस्य योऽरुणिमा लालिमा तदन्वितिर्यस्य सोऽस्ति । जीवनमायुष्यं च जनस्याञ्जलौ यज्जीवनं जलं तदिव लसति । सुधीजन इह कमप्यवधिं कालमर्यादां न दधातु । उपमैवालंकारः ॥५॥

न भविनो दिवसा इव शाश्वता नितिरहर्निशयोरिह सम्मता ।
स्फुटमनाथ इतो नरनाथतां प्रमुदितो रुदितं पुनरीक्ष्यताम् ॥६॥

है । खेद है कि दिखायी देने वाला सब कुछ अनित्य है, स्थिर रहने वाला नही है ॥३॥

अर्थ—सेना मे मृगके नेत्रोके समान मनोहर नेत्रों वाली युवतियाँ हैं, गर्जना करने वाले मदस्रावी हाथी हैं और तरङ्गके समान चञ्चल घोड़े है, किन्तु इस अत्यन्त चञ्चल–भङ्गुर संसारमे यह सब क्षणभर भी नहीं दिखायी देने वाले हैं, अर्थात् क्षणभरमे नष्ट हो जाने वाले हैं ॥४॥

अर्थ—लावण्य कमलदल पर स्थित जलके समान है, यौवन प्रातःकालकी लालिमाका अनुसरण करने वाला है और मनुष्यका जीवन अञ्जलिमे स्थित जलके समान क्षीयमाण है । इसलिये ज्ञानीजन इनके विषयमे समयकी अवधि न करें, अर्थात् ऐसा विचार न करे कि यह वस्तु इतने समय तक हमारे पास रहेगी ॥५॥

न भवित इत्यादि—पुनश्च भविनो जन्मधारिणो यावज्जन्मापि दिवसास्ते शाश्वताः सर्वैकरूपा न भवन्ति, किन्त्विहापि किलाहर्निशयोर्दिनरात्र्योरिव मितिः सम्मतास्ति। यतोऽत्रानाथ एव नरनाथतामितो भाति, प्रमुदितः प्रसन्नतया स्थितो जनश्च रुदित इति पुनरीक्ष्यताम्। अनुप्रासोऽलंकारः ॥६॥

तमपहाय जवादहमिन्द्रतां पणपणत्वमुरीक्रियतेऽर्वता।
व्रजति किञ्चिदवाप्य मदं पुनस्तदपि पर्ययबुद्धिरयं जनः ॥७॥

तमपहायेत्यादि—अर्वता निन्दितेन संसारिणा जवादतिशीघ्रमेवाहमिन्द्रतामपहाय त्यक्त्वा पण कपर्द एव पणो मूल्यं यस्य तत्त्वमुरीक्रियते तदपि पुनरयं बुद्धिरवस्थामात्रानुवेदको जनः किञ्चिदप्यवाप्य मदं व्रजति किलाहमहमैश्वर्यशालीति वदति ॥७॥

भृतिकवत् खलु षष्ठसतोंऽशतः समनुपालयता जनतां ततः।
नृपतिरित्युररीक्रियते जिन ! धिगपि धिग् जडतामिति देहिनः ॥८॥

भृतिकवदित्यादि—हे जिन ! भगवन् ! खलु षष्ठसतोंऽशतस्ततो जनताया आजीवनात् षष्ठांशं गृहीत्वा भृतिकवद् दासवत्ततस्तां समनुपालयता अनेनाहं नृपतिरित्युररीक्रियते। तामित्येतादृशीं देहिनो जडतां धिक् पुनरपि धिक् कीदृशीयं विडम्बनेति ॥८॥

विभववानहमित्यतिसाहसिन् सुभग किं तनुषे ननु शेमुषीम्।
कुटकुटीघटमेहि नु यो भृतः स वशिको वशिकोऽथ भृशं भृतः ॥९॥

विभववानित्यादि—हे सुभग ! हेऽतिसाहसिन् ! नन्वहं विभववानस्मीति शेमुषीं

अर्थ—जन्मधारी-ससारी प्राणीके दिन भी सदा एक रूप नही हैं, उनकी स्थिति रात और दिनके समान मानो गई है। स्पष्ट देखा जाता है कि जो अनाथ है वह नरनाथता-राज्यावस्थाको प्राप्त हो जाता है और जो प्रमुदित है-हर्षका अनुभव कर रहा है, वह रुदनको प्राप्त हो जाता है ॥६॥

अर्थ—निन्दित ससारो जीव अहमिन्द्रताको छोडकर शीघ्र हो कौडी मूल्य वाले नरजन्मको प्राप्त करता है। फिर भी यह पर्याय बुद्धिजन कुछ थोड़ा विभव पाकर गर्वको प्राप्त होता है ॥७॥

अर्थ—जनताकी आयका छठवां भाग लेकर सेवककी तरह जो उसका पालन करता है, फिर भी वह अपने आपको राजा स्वीकार करता है। हे भगवन् ! प्राणीकी इस मूर्खताको बार-बार धिक्कार है ॥८॥

अर्थ—हे अत्यधिक साहस करनेवाले भले आदमो ! मैं विभवान् हूँ-ऐश्वर्य

बुद्धि किं तनुषे ? कुटकुटी अलानयनवासी तस्या घटमेहि सम्यगवलोकय यो भृत स तु वशिको रिक्तो भवति वशिकोऽथ यः स भृतो भवतीति भृश निरन्तरमनुवृत्तिर्जायते । ननु वितर्के । अनुप्रासः ।।९।।

किमु भवेद्विपदामपि सम्पदां भुवि शुचापि रुचापि जगत्सवाम् ।
करतलाहतकन्दुकवत् पुनः पतनमुत्पतन च समस्तु नः ।।१०।।

किमु भवेदित्यादि—जगत्सवां जगन्निवासिनां भुवि पृथिव्यां विपदामपि समागमे शुचा शोकेन किं सम्पदामपि समागमे रुचा रुच्या किं प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः । यतो नोऽस्माकं करतलेनाहतं ताडितं यत्कन्दुक गेन्दुक तद्वद् उत्पततमुन्नमन पुनः पतनमवनमन च समस्तु भवेदेव ।।१०।।

ननु जनो भुवि सम्पदुपार्जने प्रयततां विपदामुत वर्जने ।
मिलति लाङ्गलिकाफलवारिवद् व्रजति यद्गजभुक्तकपित्थवत् ।।११।।

ननु जन इत्यादि—भुवि पृथिव्यां ननु निश्चयेन जनः सम्पदामुपार्जने संचयकरणे उताथवा विपदां वर्जने निराकरणे च प्रयततां स्वेच्छ प्रयत्नं करोतु परन्तु प्रयत्नेन न तत्साध्यम् । यतस्मात् कारणाद् लाङ्गलिकाफलवारिवद् नालिकेरस्यान्तःस्थितजलवत् सम्पत् शुभोदये स्वय मिलति प्राप्यतेऽशुभोदये च गजेन भुक्त यत्कपित्थ दधिफल तद्वद् व्रजति गच्छति, नश्यतीति यावत् ।।११।।

तृणवदुत्पणमेव पुरः पुरः समुपदर्श्य च मावृगयं नरः ।
छगलवद्विपदे कविकृष्णया सपदि दूरमनायि च तृष्णया ।।१२।।

शाली हूँ ऐसी बुद्धि क्यो करता है, तू गेहटके घटको अच्छी तरह देख, जो भरा है वह खाली हो जाता है और जो खाली है वह भर जाता है । तात्पर्य यह है कि जो आज वैभववान् है, वह दूसरे दिन दरिद्र हो जाता है और जो दरिद्र है वह वैभववान् हो जाता है ।।९।।

अर्थ—जगद् निवासी जीवोको पृथिवीपर विपत्तियोका समागम होनेपर शोक और सम्पत्तियोका समागम होनेपर रुचि–हर्षसे क्या होता है ? अर्थात् कुछ नही, क्योकि मनुष्योका उत्थान और पतन हस्ततलसे ताडित गेंदके समान होता ही रहता है ।।१०।।

अर्थ—पृथिवीपर मनुष्य सम्पत्तियोका सचय करने और विपत्तियोका निराकरण करनेमे प्रयत्न भले ही करे, परन्तु शुभोदय होनेपर नारियलके भीतर स्थित पानीके समान सपत्ति स्वय मिलती है और पापका उदय होनेपर हाथीके द्वारा खाये हुए कैथाके सारके समान स्वयं चली जाती है ।।११।।

तृणवदित्यादि—सपदि साम्प्रतं समये कवये कृष्णा [1]द्राक्षेव या तया तृष्णया मादृगयं संसारिजनः स छागलोऽजापुत्रस्तद्वत् स उत्पणं प्राप्तव्य धनं तृणवत् पुरःपुर समुपदर्श्य विपदे आपायै चैव दूरमनायि नीतोऽस्मि । दृष्टान्तोऽलंकार ॥१२॥

तरुरुचा (त्वचा) वसनं शयनं तथाऽवनितले खलु याचनयाशनम् ।
परिकरं तनुमात्रमितोऽप्यहो भवितुमिच्छति चक्रपतिर्जनः ॥१३॥

तरुरुचेत्यादि—यस्य तरुरुचा वल्कलेन वस्त्रं, पृथ्वीतले शयनं, भिक्षया भोजनं शरीरमात्रं च परिकरं परिग्रहो विद्यते सोऽपि जनश्चक्रपतिर्भवितुमिच्छतीत्यहो महदाश्चर्यम् ॥१३॥

जडजनो विमनाः कितवासवे नरमते रमते द्रविणोत्सवे ।
कनकनाम समेत्य समं द्वयोर्न कियदन्तरमेति बुधोऽनयोः ॥१४॥

जडजन इति—कितवो धत्तूरस्तस्यासवे विक्षिप्तताकारिद्रवे विकृतं मनो यस्य स जडजनोऽज्ञानसहितजनः नरमते मनुष्यावृते द्रविणोत्सवे धनोत्सवे रमते हर्षमनुभवति कनकनाम समेत्य प्राप्य, धत्तूरोऽपि कनकं स्वर्णमपि कनकं इति सम सदृश नामाभिधानं समेत्य बुधो ज्ञानी अनयोर्द्वयोः कियदन्तरं वैशिष्ट्य नेति न जानाति, न प्राप्नोति वा ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार आगे आगे घास दिखाकर कोई बकराको मारनेके लिये दूर ले जाता है उसी प्रकार मुझ जैसा अज्ञानी प्राणी कविके लिये द्राक्षास्वरूप तृष्णाके द्वारा आगे आगे प्राप्तव्य धन दिखला कर विपत्तिके लिये दूर ले जाया गया है ॥१२॥

अर्थ—जिसका वस्त्र वृक्षकी छाल है, जो पृथिवी तल पर सोता है, भिक्षासे भोजन करता है और शरीरमात्र ही जिसके साथी सगा है, वह मनुष्य भी चक्रवर्ती बननेकी इच्छा करता है। बडा आश्चर्य है ॥१३॥

अर्थ—धतूराके आसवसे उन्मत्त हुआ अज्ञानी मानव निरमते–मनुष्यके लिये इष्ट धनके सचयमे आनन्द मानता है। धतूरा और सुवर्ण दोनोका नाम 'कनक' है, अत. नामकी समानता पाकर अज्ञानी दोनोमे कितना अन्तर है यह नही जानता ॥१४॥

---

१. 'कृष्णा तु द्रौपदी नीली हारहूरा तु पिप्पली' इति विश्वलोचनः । हारहूरा द्राक्षा ।

मन इयान् प्रतिहारक एतकप्रतिहृतेर्नटतादृशगः स कः ।
भुवि जनाभ्यनुरञ्जनतत्परः भवति वानर इत्यथवा नरः ॥१५॥

मन इत्यादि—मन इयमियान् प्रतिहारकः क्रीडनकारकोऽस्ति यत्किलैतकस्य प्रतिहृतेः प्रपञ्चवृत्तेर्वशगः सन् भुवि धरायां जनानामभ्युरञ्जने नटतात् नृत्यं करोतु या स एव सको वानरः कपिरित्यथ वा नरो वा भवतीति विचारशीलानां विषयः ॥१५॥

वदसि शाकलवैरपि पूर्यते तदुदरं दुरितं ननु दुर्मते ! ।
किमु वदान्यधिकाधिकलालसमहह हृद् भरितं च सहस्रशः ॥१६॥

वदसीत्यादि—हे दुर्मते ! नन्वहं पृच्छामि यदुदरं शाकस्य लवैः कतिपयैर्ग्रासैरपि पूर्यते पूरितं भवति तदेव यदि दुरितं दुर्गतं वदसि तदा पुनः सहस्रशो भरितं हृद् हृदयं च पुनरधिकाधिकलालसं भवति उत्तरोत्तरात्यधिकतृष्णामुरीकरोति । तत्किमु वदानीति वक्रोक्ति ॥१६॥

अपि तु तृप्तिमियाच्छुचिरिन्धनैरथ शतैः सरितामपि सागरः ।
न पुनरेव पुमान् विषयाशयैरिति समञ्चति मोहमहागरः ॥१७॥

अपीत्यादि—शुचिरत्र वह्नेर्नामास्ति, यथोक्त ममरकोषे—शुचिरप्युपसमित्यादिः । अत्र जगति शुचिरग्निरिन्धनैः काष्ठशतै, अथ च सागर समुद्रः सरितां स्रवन्तीनां शतैः तृप्ति संतोषमियादपि प्राप्नुयादपि, किन्तु पुनरेव पुमान् पुरुषो विषयाशयैः पञ्चेन्द्रियविषयवाञ्छाभिस्तृप्ति नेयादितीत्य मोह एव महागरो महाविषं समञ्चति शक्तिशाली वर्तते ॥१७॥

अर्थ—मन इतना क्रीडा कराने वाला है कि इसके प्रपञ्चके वशमे हुआ मनुष्य पृथिवी पर सदा दूसरोको आनन्दित करनेमे तत्पर रहता है, ऐसा मनुष्य वानर है या नर, कौन जाने ?

भावार्थ—जिस प्रकार मदारीके द्वारा बचाया जाने वाला वानर दूसरोंका मनोरजन करता है, उसी प्रकार मनरूपी मदारीके द्वारा प्रेरित हुआ मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि दूसरोको प्रसन्न करनेमे तत्पर रहता है ॥१५॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धे ! जो पेट शाकके टुकडोंसे भी भर जाता है उसे तो तूं दुरित-दुष्ट या पापी कहता है, पर जो हृदय-मन हजारों बार भरे जाने पर भी उत्तरोत्तर अधिक लालसा युक्त रहता है, उसे क्या कहूँ ? ॥१६॥

अर्थ—अग्नि ईन्धनसे और समुद्र सैकडो नदियोसे भले ही संतोषको प्राप्त

जगदिदं सकलं हरिणाङ्गनाखुरमितेन हि तेन हि चर्मणा ।
सपदि वञ्चितमस्ति विगर्हिणा नहि परं तु निमित्तमिहाङ्गिनाम् ॥१८॥

जगदित्यादि—इदमेतत्सकलं जगद् हरिणाङ्गनाखुरमितेन मृगीखुरपरिमितेन प्रसिद्धेन विगर्हिणा साधुजनजुगुप्सितेन सपदि शीघ्रं वञ्चितं प्रतारितमस्ति, तु किन्तु परमन्यद्वस्तु इह जगति अङ्गिनां प्राणिनां निमित्तं नहि भवतीति यावत् ।१८॥

पिशितशोणितसान्द्रमिह स्त्रिया वपुरहो लुलितं सुखसात्क्रिया ।
भवति नस्तदवन्ति निशम्यतां पशव एवमिहास्ति न रम्यता ॥१९॥
अपि तु पूतिपरं वनिताव्रणं यदसृगामिषकीकशयन्त्रणम् ।
कृमिषु तत्र लगत्सु किमन्तरं ननु वदन्तु विदामधिपा अरम् ॥२०॥
मधुरसा करटस्य हि निम्बिका घनमहो दुरितस्य कपर्दिका ।
विडशनं हि किरे रसनन्दनं विषयतो हि तथा हृदि रञ्जनम् ॥२१॥

पिशितेत्यादि—पिशितं मांसं शोणितं रुधिरं ताभ्यां सान्द्रं निबिडत्वेन पूर्णं स्त्रिया वपुश्शरीरमिह जगति लुलितं सेवितं सद् नोऽस्माकं सुखसात्क्रिया सुखसाधनं भवति, किन्तु निशम्यतां दृश्यतां नष्टं तत् पशवः शृगालादय एवावन्ति खादन्ति तत इह रम्यता मनोहरता नास्ति । अपि तु किञ्च वनिता स्त्री पूतिपरं दुर्गन्धयुक्तं व्रणमस्ति यच्च असृग् रुधिरमामिषं मांसं कीकशमस्थि एषां यन्त्रणास्ति यस्मिंस्तत् । तत्र वनितायां व्रणे च कृमिषु कीटेषु लगत्सु सत्सु तयोर्वनिताव्रणयोः किमन्तर को भेद इति विदामधिपा विद्वांसोऽरं शीघ्रं वदन्तु कथयन्तु । करटस्य काकस्य निम्बिका निम्बफलं

हो जावे, परन्तु यह पुरुष विषयवाञ्छाओसे सतोषको प्राप्त नही होता, ऐसा यह मोहरूपी विष शक्तिशाली है ॥१७॥

अर्थ—यह समस्त ससार मृगीके खुर के बराबर निन्दनोय चर्मसे शीघ्र ही ठगाया गया है, किन्तु पर पदार्थ प्राणियोके सुखोपभोगमे निमित्त नही होता ॥१८॥

अर्थ—मांस और खूनसे भरा हुआ स्त्रीका शरीर सेवित होने पर हमारे सुखका साधन होता है, परन्तु नष्ट होने पर देखो उसे शृगाल आदि पशु ही खाते हैं, उसमे सुन्दरता नही है। स्त्री दुर्गन्धसे युक्त एक व्रण-घाव है जो कि रुधिर, मांस और हड्डियोकी यन्त्रणासे सहित है। दोनोमे कीड़े लगते हैं तब श्रेष्ठ ज्ञानी जन शीघ्र बतावें कि दोनोंमे अन्तर क्या है? भेद क्या हैं? कौएके

('निवोरी' ति प्रसिद्धा) मधुरसाऽऽस्वादायिनी भवति, दुरितस्य दरिद्रस्य कपर्दिका धनं भवतीत्यहो आश्चर्यम्, यथा किरेर्ग्राम्यशूकरस्य विडशनं पुरीषभक्षणं रसनन्दनं संतोषकारणं भवति तथा विषयत पञ्चेन्द्रियविषयात् कामितां हृदि मनसि रञ्जनं हर्षानुभवो भवति ॥१९-२१॥

विषयमप्रकृतात्मरसो मतेर्नरमणी रमणीयमुपाश्नुते ।
मधुरमेव हि सर्पिरपश्यते भवति तैलमपीति निवृश्यते ॥२२॥

विषयमित्यादि—मतेर्बुद्धेरप्रकृतः सुदूर आत्मरस स्वशुद्धसंवेदनबोधो यस्य स नरेषु मणिरपि सन् विषय रमणीयमित्युपाश्नुते तथा सर्पिरपश्यते घृतादर्शकजनाय तैलमपि मधुरमेव हीति निवृश्यते। दृष्टान्तोऽनुप्रासश्चालंकारः ॥२२॥

विषयमस्तमतिः प्रति मुह्यति नहि विपन्न इतोऽपि विमुञ्चति ।
मुहुरहो स्वदिते ज्वलिताधरः स्विदभिलाषपरो मरिचं नरः ॥२३॥

विषयमस्तमतिरित्यादि—अस्ता नष्टा मतिर्विवेकबुद्धिर्यस्यैवंभूतो नरः विषयं प्रति मुह्यति मोह करोति। इतो विषयाद् विपन्नोऽपि विपदं प्राप्तोऽपि न तं नहि विमुञ्चति। यथा तिक्तरसाभिलाषी नरो ज्वलितोऽधरो यस्य तथाभूतोऽपि सन् मुहुर्भूयोभूयो मरिचो स्वदते खादतीत्यहो ॥२३॥

गणयतीतिचणो विपदां भरं न विषयी विषयैषितया नरः ।
असुहृतिष्वपि दीपशिखास्वरं शलभ आनिपतत्यपसम्भरम् ॥२४॥

लिये निवोरी मीठी लगती है और दरिद्र व्यक्तिके लिये कौडी ही धन होता है। जिस प्रकार ग्रामके शूकरको विष्ठाका भक्षण आनन्दकारी होता है, उसी प्रकार विषयसामग्रीसे रागी मनुष्यके हृदयमे आनन्द होता है ॥१९-२१॥

अर्थ—जिसकी बुद्धिसे आत्मरस दूर है, ऐसा मनुष्य नरमणिरपि सन्—मनुष्योमे शिरोमणि होता हुआ भी रमणीय है—सुन्दर है ऐसा मानकर विषयका सेवन करता है। जैसे मिष्ट—स्वादिष्ट घीको नही देखने वाले मनुष्यके लिये तेल भी अच्छा लगता है ॥२२॥

अर्थ—निर्बुद्धि मनुष्य विषयसे विपत्तिमे पड़ता हुआ भी उसके प्रति मोह करता है—उसे छोड़ता नही है। जैसे चिरपरा खानेका अभिलाषी मनुष्य ओठके जलते रहने पर भी बार बार मिर्चका स्वाद लेता है ॥२३॥

---

१. तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्ट घृतं क्वापि ।
अविदितपरमानन्दो वदति विषयमेव रमणीयम् ॥

गणयतीत्यादि—विषयी नरो विषयमिच्छतीति विषयैषी तस्य भावस्तया विषयस्याभिलाषित्वेन हेतुना पुनरीतिक्षणो विपत्तिसहनसमर्थो भवन् विपदां भरं समूहमपि न गणयति-तस्याप्युपेक्षां करोति । यथा शलभः पतङ्गोऽसूनां प्राणानां हृतिर्विनाशो यत्र तासु दीपशिखास्वप्यरं शीघ्रमपसम्बरं निरर्गलं यथा स्यात्तथाऽऽनिपतति । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥२४॥

बकुलमप्यतिमौक्तिकमाक्षिपन् तिलकमप्यधुना मधुलोलुपः ।
कमलमेत्य पुनः शशिना धृतो मधुकरोऽतिविरौति विलक्षितः ॥२५॥

बकुलमित्यादि—मधुलोलुपो मधुकरो भ्रमरो यो बकुलमतिमुक्तकमपि तिलकमप्याक्षिपदनुभुक्तवान् पुनरपि न विश्राम्यति, किलाधुनातिलोभेन कमलमेत्य गत्वा पुनस्तत्र शशिना निशाकरेण धृतो विलक्षितो विकलतां गतः सन्नतिविरौति किलैवा विषयिणां दशा ॥२५॥

अयमहो मलिनो बलिभुग्जनः शमलमूत्रमये सुदृशः पुनः ।
अनुपतन्नियतः खलु घर्षणे मुदमियात् सघृणे जघनव्रणे ॥२६॥

अयमित्यादि—अहो अय बलिभुग्विषयलम्पटो जनो मलिनो घृणितविचारवान् स खलु घर्षणे मैथुने नियतो भवन् स सुदृश सुलोचनायाः स्त्रियः शमलं च मूत्रं च तन्मये विण्मूत्रमयेऽत एव घृणासहिते सघृणे जघनस्य व्रणे पुनर्वारं वारमनुपतन् मुदं हर्षमियाद् गच्छेदित्यहो । 'घर्षणं गर्जिते रते' इति विश्वलोचने । 'शमलं च मलं शकृत्' इत्यमरकोषे । अनुप्रासोऽलंकार ॥२६॥

अर्थ—विषयी मनुष्य विषयाभिलाषी होनेके कारण विपत्तिके सहन करनेमे समर्थ होता हुआ विपदाओंके समूहको कुछ नही गिनता—उसकी उपेक्षा कर देता है । जैसे पतंग प्राणघात करने वाली दीप-शिखाओ पर बिना किसी प्रतिबन्धके शीघ्र ही आ पडता है ॥२४॥

अर्थ—मधुका लोभी भ्रमर बकुल, अतिमुक्तक और तिलक पुष्पका उपभोग करता हुआ कमल पुष्पको प्राप्त हो चन्द्रमाके द्वारा उसमे बन्द कर दिया गया, अत व्याकुल होता हुआ रोता है ।

भावार्थ—भ्रमरके समान विषयी मनुष्य एक को छोड़ दूसरे विषयको ग्रहण करता है और उसी तृष्णामे मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

अर्थ—आश्चर्यकी बात है कि यह घृणित विचारवाला विषयलम्पट मनुष्य मैथुनसे तत्पर होता हुआ स्त्रीके मलमूत्रमय एवं घृणोत्पादक जघन छिद्रमे बार-बार ससर्ग करता हुआ हर्षको प्राप्त होता है ॥२६॥

ननु परिग्रह एष बलादकृत्कथ दारजनः खलु दारकः ।
स परितः परिवारिगणोऽभवद् गृहमिदं स्फुटबन्धनगेहवत् ।।२७।।

नन्वित्यादि—परितो ग्रह इव परिग्रहो धनादिसमस्तपरिकर एष बलात् स्वशक्त्याऽकृत् कष्टदायकोऽस्ति । ननु नियमेनाथ पुनर्दाराणां स्त्रीणां जन समूह स दारकोऽर्थादेव विदारणकरः खलु । स परिवारिणो गणश्च यत्परितोऽभवदिव गृहं स्फुटबन्धनगेहवत् कारागारतुल्यमेव ।२७।।

यदपि वस्तुतया हितमात्मने तदपहर्तुमहो भवकानने ।
परिजने परिगच्छति मुह्यतां विमतिरेव गतिस्तु कुतः सताम् ।।२८।।

यदपीत्यादि—अहो अस्मिन् भवकानने यदपि किञ्चिद्वस्तु आत्मने हित भाति साधुसङ्गमादि तदपहर्तु वस्तुतया चोररूपेण परिगच्छति प्रयत्न कुर्वति परिजनेऽस्मिन् कुटुम्बवर्गे विमतिर्विचारहीन एव विमुह्यताम् सतां तु पुनरत्र कुत कारणाद् गतिः प्रवृत्तिः स्यान्न कुतोऽपीति काकूक्तिः ।।२८।।

परिजनाः कुलपादपके क्षणमधिवसन्ति च यान्ति च पक्षिणः ।
फलमवाप्य किमप्यथ ते रयाज्जगति यान्ति महोन्द्र ! यदृच्छया ।।२९।।

परिजना इत्यादि—अथ जगतीदं कुलमेव पादप स एव पादपकस्तस्मिन्नमी परिजना पुत्रादयस्ते क्षणमधिवसन्ति किञ्चित्कालं तिष्ठन्ति पक्षिण पक्षकारिणश्च सन्ति, किन्तु हे महोन्द्र ! भूपते ! तेऽपि किञ्चित्फल स्वचेष्टानुसारमवाप्य रयादेव स्वेच्छया यान्ति गच्छन्ति ।।२९।।

अर्थ—निश्चयसे यह परिग्रह स्वशक्तिसे दुःखको करने वाला है । दारजन–स्त्रीसमूह अपने नामसे ही विदारण करनेवाला है । यह परिवार–कुटुम्बिजनोका समूह परिवार–चारों ओरसे घेरा डालने वाला है और घर स्पष्ट ही कारागारके समान है ।।२७।।

अर्थ—इस भव रूपी वनमे आत्माके हितकारी साधुसमागम आदिको चोर रूपसे अपहरण करनेके लिये प्रयत्नशील कुटुम्बीजनमे बुद्धिहीन मनुष्य भले ही मोहको प्राप्त हो, परन्तु सत्पुरुषोकी इसमे प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती ।।२८।।

अर्थ—इस संसारमे कुलरूप वृक्षपर परिजनरूपी पक्षी (पक्षमे पक्ष करने वाले) कुछ ही क्षणतक बसते है, ठहरते हैं और फिर हे राजन् ! अपनी चेष्टाके अनुरूप फल प्राप्तकर शीघ्र ही इच्छानुसार चले जाते हैं ।।२९।।

अयि सुवंशज ! वंशमहीरुहि स्वगतवातवशेन मिथोद्रुहि ।
अपरमत्र न किञ्चिदये फलं कलहवह्निमुपैमि तु केवलम् ॥३०॥

अयीत्यादि—अयि सुवंशज ! स्वगतो यो वात सन्ततिपालनबुद्धिर्वा वायुस्तद्वशेन मिथ परस्परं द्रुहि विद्रोहकरे वंशमहीरुहि कुलपादपे वेणुवृक्षे वा केवलमहं कलहवह्नि विसंवादरूपमग्निमेवोपैमि, अपरं किञ्चिदपि फलमहं नोपैमि, 'वा वाततातयोर्न्यौ' इति विश्वलोचने ॥३०॥

अभिमतस्य मुदो यदि सङ्गमे दरद एवमनुष्य विनिर्गमे ।
इति विनिर्वृतये खलु सम्मुखा विगतसङ्गसुखाः पुरुराण्मुखाः ॥३१॥

अभिमतस्येयादि—अभिमतस्य संगमे यदि मुदो हर्षवृद्धयो भवन्ति तदा पुनरेवममुष्याभीष्टस्य विनिर्गमे विनाशे दरदो भीतयोऽपि भवन्ति खलु, इत्येव विचार्य पुरुराट् श्रीनाभेयो मुख येषां ते विगतमनपेक्षितं सङ्गस्य गृहवासस्य सुखं यैस्ते तथा भवन्तो निर्वृतये मुक्त्यै सम्मुखा जाता ॥३१॥

सुखमतीतमतीतमथान्वयः किमिति भाविनि तत्र किलेत्ययम् ।
हृतमतिः क्षणसौख्यविमोहितः श्रममुपैति वृथैव तरामितः ॥३२॥

सुखमित्यादि—अथान्यदपि विचारणीयं यत्सुखमतीतं पूर्वकालीनं तत्तु अतीतं गतं विनष्टमेव, भाविनि तत्र सुखे पुनरन्वय सम्बन्धोऽस्ति किम् ? किन्तु नैवास्ति, एव क्षण-

---

अर्थ—हे सुवंशज ! श्रेष्ठवशमे उत्पन्न आत्मन् ! मै स्वकीय सन्तानके परिपालनकी बुद्धिरूप वायुसे परस्पर द्रोह करने वाले वंशमहीरुह–कुलरूपी वृक्ष अथवा बाँसके वृक्षपर मात्र कलहरूप अग्निको प्राप्त करता हूँ, इसके सिवाय अन्य कुछ भी फल नही प्राप्त करता ।

भावार्थ—जिस प्रकार बाँसके वृक्षमे कुछ भी फल नही लगता, वे परस्परके संघर्षसे अग्नि ही उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार वंश–कुटुम्बरूपी वृक्षमे परस्परके विसंवादसे कलहरूप अग्नि ही उत्पन्न होती है, उसमे आत्माका हित करनेवाला कोई फल प्राप्त नही होता ॥३०॥

अर्थ—यदि इष्टवस्तुके समागममे हर्ष होता है तो उसके वियोगमे दुःखकारक भय होता है, यह विचारकर ही श्रीवृषभदेव आदि प्रमुख पुरुष गृहवाससम्बन्धी सुखकी उपेक्षाकर मुक्तिके लिये उद्यत हुए थे ॥३१॥

अर्थ—अतीत कालका सुख तो अतीत ही हो चुका–नष्ट हो चुका और आगामी सुखका सम्बन्ध क्या है ? प्राप्त होगा ही यह भरोसा है क्या ? नही

सौख्येन तत्कालमात्रास्वादनेन विमोहितोऽयं हतमतिर्विनष्टविचार इतो विषयेषु वृथैव श्रममुपैति किल ॥३२॥

यदनुलोमतया पठित बताक्षरयुग विषयेषु मुदेऽर्वताम् ।
मम तु मर्मभिदेव पुनर्मतमिह विलोमतया परिपश्यतः ॥३३॥

यदनुलोमतयेत्यादि—यदक्षरयुगं 'राग' इति रूपमनुलोमतया पठितमर्वतां जघन्याना विषयेषु मदे प्रसक्तये भवति बतेति खेदस्तदेव तु पुनरिह विलोमतया वैपरीत्येन पश्यतो मम मर्माभिदेव 'गरा' इति मतम् ॥३३॥

जगति दिव्यतनुश्च सुधान्धसां गलति सा स्वयमेव सुधान्धमाम् ।
क्षणत एव तु मृत्युमुखे स्थिता किमुत मर्त्यगणस्य निरुच्यताम् ॥३४॥

जगतीत्यादि—जगति पुन: सा सुधैवान्धोऽन्न येषा तेषा दिवौकसां दिव्या यासौ तनुर्निष्कीकशाविरूपा सा च स्वयमेव क्षणत एवात्र गलति विनश्यति तदा पुनर्मर्त्यगणस्य मृत्युमुख एव स्थिता या सा किमुतेति निरुच्यताम् ॥३४॥

भजति हा विषयानसुमांस्तकं न लभते च पुरःस्थितमन्तकम् ।
शिरसि सन्निहितांश्छगलो बलावपि धृतोत्ति मुदा यवतण्डुलान् ॥३५॥

भजतीत्यादि—असुमान् प्राणी विषयान् भजति सेवते च, किन्तु पुर स्थितमग्र एव स्थितमन्तकं काल न लभते तमेव तक सर्वभक्षक हाव्यय. खेदार्थ । बलावपि धृतः सकल्पितश्छागोऽजापुत्र स शिरसि सन्निहितान् यवतण्डुलान् मुदात्ति खादति प्रसन्नतयेति ॥३५॥

है, अतः वर्तमानके क्षणिक सुखमे लुभाया यह निर्बुद्धि मनुष्य इन विषयोमे व्यर्थ ही क्यो अत्यन्त श्रमको प्राप्त होता है ? ॥३२॥

अर्थ—अनुलोमता-पूर्वानुपूर्वीरूपसे पढे गये 'राग' रूप दो अक्षर जघन्य मनुष्योके विषय-सम्बन्धी प्रसन्नताके लिये है। पश्चादानुपूर्वीरूपसे जब मै उन्हे देखता हूँ तब व 'गरा' विषरूप होकर मेरा मर्मभेदन करनेवाले हो जाते हैं॥३३॥

अर्थ—इस जगत्मे जब अमृतभोजी देवोका दिव्य शरीर भी क्षणभरमे नष्ट हो जाता है, तब मनुष्यसमूहका जो शरीर मृत्युके मुखमे ही स्थित है उसके विषयमे क्या कहा जावे ? वह तो अवश्य ही नष्ट होनेवाला है ॥३४॥

अर्थ—यह प्राणी विषयोका सेवन करता है परन्तु सामने स्थित मृत्युको नही देखता है जैसे कि बलिके लिये सकल्पित बकरा शिरपर रखे हुए जौ और

नर ! नवाध्वयुते ननु ते किल स्थितिमुपैति सुगो विहगोऽनिलः ।
तदिदमेवमहो भुवि पञ्जरे किमुत चित्रमितो यदि निस्सरेत् ॥३६॥

नरेत्यादि—ननु हे नर ! योऽनिलो नि श्वासरूपो विहग पक्षी सोऽस्मिन् नवाध्व-युते नवसंख्यकैरध्वभिर्युते पञ्जरे शरीररूपे सुखेन गन्तु समर्हः सुगोऽपि किल स्थिति-मुपैति तदिदमेव मह उत्सवयोग्यमितो यदि स निस्सरेत्तदा किमु चित्रमद्भुतमिति । रूपकालङ्कारः ॥३६॥

शशिहरो भविता सविता पिता तदुदयेन हसिष्यति पङ्कजम् ।
अलिनि चिन्तयतीति विसस्थिते द्रुतमिहोद्धजतेऽम्बुजिनीं गजः ॥३७॥

शशिहर इत्यादि—रक्षकत्वाद्विकासदायकत्वाद्वा पिता पितृतुल्य. सविता सूर्यः शशिहरो कमलवैरिचन्द्रहरः सन् भविता उदेष्यति, सूर्यो वा चन्द्रापहारको भविष्यति, तस्य सूर्यस्योदयेन पङ्कजं कमलं हसिष्यति विकासमेष्यति, इत्येवं विसस्थिते कमलदलान्तः-स्थितेऽलिनि भ्रमरे चिन्तयति विचारयति सति गज. करीह जगति द्रुतं शीघ्रमम्बुजिनीं कमलिनीं भजते सेवते त्रोटयित्वा भक्षयतीति यावत् । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥३७॥

गतगदोऽशनिनैव कटाक्ष्यते तदहतो भुजगाग्निविषादिभिः ।
इति कृतान्तसमाजमये भवे स्थितिरिहास्य कियच्चिरमस्तभीः ॥३८॥

चावलोको प्रसन्नतासे खाता है पर मृत्युकी ओर नही देखता। यह दुःखकी बात है ॥३५॥

अर्थ—हे नर ! यदि नौ द्वारोसे युक्त पिंजरेमे अच्छी तरह उड़नेकी योग्यता वाला श्वासोच्छ्वासरूपी पक्षी स्थित रहता है तो यही बड़े उत्सवकी बात है, यदि निकल जावे तो इसमे क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नही ॥३६॥

अर्थ—कमलके भीतर बन्द भ्रमर विचार करता है कि पितातुल्य सूर्य चन्द्रमाको नष्ट करने वाला होगा, उसके उदयसे कमल खिलेगा, अभी रात्रिभर सुगन्धका सेवन कर लेना चाहिये। परन्तु उधर भ्रमर उपर्युक्त विचार करता ही रहा, इधर हाथोने शीघ्र आकर कमलिनीको खा लिया।

भावार्थ—जगत्के प्राणी विषयोका सकल्प करते-करते बीचमे नष्ट हो जाते है[1] ॥३७॥

---

१ होगी निशा विगत और प्रभात होगा
　　होगा उदित रवि पंकज भी खिलेंगे।
ऐसा सरोजगत भृङ्ग रहा विचार
　　हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार ॥

गतगद इत्यादि—प्रथमं तु गदेन रोगेण बाधामेति जनो गतगदोऽपि वेदेवोऽशनिना वज्रेण कटाक्ष्यते ततोऽप्यहतो भुजगाग्निविषादिभिः कटाक्ष्यत इति कृतान्तस्य मरणस्यैव समाजमयेऽस्मिन् भवेऽस्य जन्तोरस्तभीर्भयवर्जिता स्थिति कियच्चिरमिह स्यात् ॥३८॥

गृहमिदं वृषवास्तु न वास्तु किं विशति निर्व्रजतीति यदृच्छया ।
हसति रौति च मत्त इवात्र तु निजधियं प्रतिपद्य जनोऽन्वयात् ॥३९॥

गृहमित्यादि—इद गृहमपि वृषवास्तु धर्मस्थानमिव न वास्तु किम् ? किन्तु तदेवास्ति यतोऽत्र प्राणी यदृच्छया विशति निर्गच्छति च, तस्मिन् विशति निर्व्रजति च सति जनः सर्वसाधारणोऽन्वयान्ममत्व निजधिय स्वोऽय ममेति कृत्वा मत्तो विक्षिप्त इवात्र हसति च रौति च । उपमालकार ॥३९॥

शमनमेव शिरःस्थितमीक्षतां नहि पुनः कवलेऽपि रुचिस्ततता ।
प्रतिभवेत् किमुतापरसम्पदि पतति किन्तु न सन्मतिससदि ॥४०॥

शमनमित्यादि—एष ससारी यदि स्वशिरसि स्थित शमलमन्तकमीक्षतां तदा पुन कवलेऽन्नग्रासेऽपि रुचिस्तता सगता नहि प्रतिभवेत्, किमुतापरसम्पदि पुत्र-कलत्रादौ स्यात् ? अपि तु नैवेति । किन्त्वेष सन्मते. श्रीमहावीरस्य सन्मतीनां विचार-शीलाना वा ससदि सभाया पतत्येव नहि ॥४०॥

अर्थ—यदि कदाचित् यह जीव रोगरहित होता है तो वज्रके द्वारा कटाक्षित होता है, अर्थात् वज्रपातसे मृत्युको प्राप्त होता है । उससे भी यदि नही मरता है तो सांप, अग्नि और विष आदिके द्वारा कटाक्षित होता है । इस प्रकार यमराजकी समाज–साथी सगे रोग, वज्र, सर्प, अग्नि और विष आदिसे परिपूर्ण इस ससारमे जीवकी निर्भय स्थिति कितनी देर तक हो सकती है ? ॥३८॥

अर्थ—क्या यह घर धर्मशालाके समान नही है ? क्योकि जीव इसमे अपनी इच्छानुसार प्रवेश करता है और निकल जाता है । जब यह प्रवेश करता है अथवा निकलता है, तब पागलकी तरह हँसता है और रोता है । इस घरको अपना मानकर ही जीव इस अवस्थाको प्राप्त होता है ॥३९॥

अर्थ—यदि यह जीव शिरपर स्थित यमराजको देख सके तो अन्नके ग्रासमे भी इसकी विस्तृत रुचि न रहे, स्त्री-पुत्रादि अन्य सम्पत्तिकी तो बात ही क्या है ? परन्तु यह सन्मति–भगवान् महावीर अथवा अन्य विचारशील मनुष्योकी सभामे नही जाता–उसके सम्पर्कसे दूर रहता है ॥४०॥

ननु मनोरथपूर्तिपरायणः सपुलकः कदलीदलजालवत् ।
विकलयन् कलनानि भवस्य वा परिभवं परमेति किलाङ्गभृत् ॥४१॥

नन्वित्यादि—मनोरथस्य स्ववाञ्छितस्य पूर्तौ समुपलब्धौ परायणस्तल्लीनः सन् सपुलक पुलकितगात्रः किलायमङ्गभृत् कदल्या रम्भाया दलानां पत्राणां जालवद् भवस्य स्वजन्मनः कलनानि बन्धनानि विकलयन समनुभुञ्जानः परं परिभवं प्रतारणमेति प्राप्नोति ॥४१॥

चतुरशीतिगुणाङ्कितलक्षणेऽत्र तु चतुष्पथके विचरन् क्षणे ।
जनिमुतैति मृतिं दुरिताक्षतः॰ न पुनरेति परं पदमुद्धतः ॥४२॥

चतुरशीतीत्यादि—चतुरशीतिसंख्याकैर्गुणैरङ्कितं लक्षणं यस्य तस्मिन्नत्र चतुष्पथके चत्वार पन्थानो यस्य नरकगत्यादयो भवन्ति तस्मिन् क्षणे काले समुत्सवे वा सर्वस्मिन्नेव विचरन् पर्यटन् दुरितानि दुश्चेष्टितानि यान्यक्षाणि पञ्चापीन्द्रियाणि तेभ्यस्ततस्तथा दुरिता येऽक्षा. पाशकास्तेभ्यस्तत उद्धतः सन् जनिं जन्म मृतिं मरणमुपैति प्राप्नोति, किन्तु पर मुक्तिस्थान केन्द्र वा पुनर्नैति सारिवदिति । समासोक्तिरलंकारः ॥४२॥

भ्रमणमेतु जनः खलु माययाङ्कितगुण स्तरुणोऽपि च तृष्णया ।
अपि तु जातु च यातु मरीचिकाविचरणे हरिणः किमु वीचिकाम् ॥४३॥

भ्रमणमेत्वित्यादि—अय संसारी जनः खलु मायया मोहधियाऽङ्कितगुणः समाच्छा-

---

अर्थ—मनोरथोकी पूर्तिमे तत्पर रहनेवाला यह प्राणी पुलकित शरीर हो कदलीपत्रके जालके समान स्वकीय जन्मके बन्धनोको सुदृढ करता हुआ अत्यधिक पराभवको प्राप्त होता है ॥४१॥

अर्थ—चौरासी लाख योनिरूप चौराहेमे भ्रमण करता हुआ यह जीव दुष्ट इन्द्रियोका वशीभूत हो क्षणभरमे जन्मको प्राप्त होता है और क्षण भरमे मृत्युको प्राप्त होता है, परन्तु आगे बढकर परमपद–मुक्तिको प्राप्त नही होता ।

भावार्थ—जिस प्रकार चौपडकी चारो पट्टियोमे भ्रमण करता हुआ गोटपासा ठीक न पडनेसे क्षणभरमे जीतका अनुभव करता है और क्षणभरमे मारा जाता है, परन्तु ऊँचा उठकर केन्द्र स्थानको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार यह जीव नरकादि चारो गतियोमे इन्द्रिय विषयोके कारण परिभ्रमण करता हुआ जन्म-मृत्युको प्राप्त होता रहता है, पर चक्रसे निकलकर मुक्ति पदको प्राप्त नहीं हो पाता ॥४२॥

अर्थ—मोहसे आच्छादित बुद्धिवाला संसारी प्राणी तृष्णासे तरुण होता हुआ

विलस्वशक्तिरपि च तृष्णया विषयाभिलाषया तरुणोऽर्दितो भ्रमकमेतु जन्ममरणादीनो भवतु न तु सुखमवाप्नोतु । अपि तु यथा हरिणो मृगः स मरीचिकाया मृगतृष्णाया विवरणे जातु च किञ्चिदपि वीचिकां जलस्य किलांशमपि किमु यातु किन्तु नैवेति । दृष्टान्तो-ऽलंकारः ॥४३॥

पिहितदृष्टिरसौ परतन्त्रितः सपदि मर्मणि दण्डनियन्त्रितः ।
बहुभरं भ्रमतीत्थमथोद्धरन् जगति तैलिकगौरिव हा नरः ॥४४॥

पिहितदृष्टिरित्यादि—अथासौ नर इत्युपलक्षणात्संसारी तैलिकस्य गौरिवास्ति यतोऽसौ पिहितदृष्टिर्विचारशक्तिरहित: पक्षे छादितनेत्रः परतन्त्रित परेण स्वार्जित-कर्मणा तैलिकेन वा तन्त्रितो वशीकृतस्तत एव बहुभारं परिग्रहात्मकं वा पाषाणाद्यं वोद्धरन् सपदि साम्प्रतं मर्मणि दण्डेन पापाचारेण लगुडेन वा नियन्त्रितः प्रपीडितो जगतीत्थं भ्रमति । हा कष्टानुभवने । उपमालंकारः ॥४४॥

ननु सहस्व गुणिन् सहसा स्वयं किमु विलक्षतया व्रजताञ्जयम् ।
ननु पुराकृतमेतदुदीरितं नहि परन्तु कदापि लभे हितम् ॥४५॥

नन्वित्यादि—अत्र स्वकृतकर्मफलसहने कातरं लक्ष्यीकृत्योच्यते—हे गुणिन् ! विल-क्षतया कातरभावेन किमु जयं व्रजतात् ? किन्तु नैव । अतः सहसा साहसेन स्वयं सहस्वैत-त्तवैव पुराकृतमुदीरितमुदयागतमस्ति । ततस्त्वया सोढव्यमस्ति नेहाहं कमपि परं हितं सहायं कदापि लभे । हीति निश्चये, ननु वितर्के ॥४५॥

भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु कभी सुखको प्राप्त नहीं होता। ठीक ही है, मृगमरीचिकाके विवरणमे क्या मृग कभी जलकी एक तरंगको भी-अंशको भी प्राप्त करता है ? अर्थात् नहीं ॥४३॥

अर्थ—जिसकी आँखें पट्टीसे ढक दी गई हैं, जो तेलीके पराधीन है, रुक जानेपर जिसके मर्म स्थानमे डण्डासे चोट पहुँचाई जाती है और जो पत्थर आदिका बहुत भारी भार लादे हुए है, ऐसा तेलीका बैल जिस प्रकार निरन्तर घूमता रहता है, चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार जिसकी विचारशक्ति आच्छादित है, जो स्वोपार्जित कर्मके अधीन है, पापाचाररूपी दण्डसे मर्म स्थानमें आघातको प्राप्त हो रहा है और परिग्रहरूप बहुत भारी भारको धारण कर रहा है, ऐसा मनुष्य खेद है कि संसारमे परिभ्रमण करता रहता है ॥४४॥

अर्थ—हे गुणिन् ! विचारशील प्राणिन् ! तू स्वकृत कर्मका फल साहस पूर्वक सहनकर, व्याकुल होनेसे इसपर क्या तू विजयको प्राप्त कर सकेगा ? नही । तूने पहले जो किया था वही तो उदयमे आया है । इस विषयमे मैं किसी

**भृतिमितीच्छति वत्स ! परिच्छदः शशिमुखी शुचिभूषणसम्पदः ।
तनय एष परं परिपोषणं स्वयमथास्तु पुमान् विधिचर्वणम् ॥४६॥**

भृतिमित्यादि—हे वत्स ! परिच्छदः कर्मकरादीना समूह. स केवलं भृति निजां वृत्तिमित्येवेच्छति । शशिमुखी या स्त्री सा शुचीनां सुन्दराणां भूषणानां सम्पदः शोभा इच्छति । एष आत्मजनामधेयस्तनयः स पर केवलं परिपोषणमेवेच्छति । विधेः कर्मणश्चर्वणं तु पुमान् स्वयमस्तु । अथेति पूर्णरूपेण ॥४६॥

**अपि परेतरथान्तमथाङ्गना पितृवनान्तममी परिवारिणः ।
पुरुष एष हि दुर्गतिगह्वरे स्वकृतदुष्कृतमेष्यति निर्घृणः ॥४७॥**

अपीत्यादि—अपि चान्यच्चिन्तनीयं यदियमङ्गना स्त्री सा परेतरथान्त शवशिबिकारचनापर्यन्तमेवाथ पुनरमी परिवारिणो जनाः पितृवनान्तं श्मशानपर्यन्तं गच्छन्ति । स्वकृत निजार्जित दुष्कृत पापकर्म तत्तु निघृणो लज्जारहित एष पुरुषो हि दुर्गतिगह्वरे गत्वा स्वयमेष्यति, अथावश्यमिति ॥४७॥

**निजनिजोचितचेष्टितवागुराऽवकलिताकलितानविपद्धुरा ।
सुविधुरा हि नरास्तु नराधिप ! किमिव तत्र कदर्थनमाक्षिप ॥४८॥**

निजनिजेत्यादि—हे नराधिपेति स्वात्मन एव सम्बोधनम् । निजनिजोचित स्वस्वकृतं यच्चेष्टित तदेव वागुरा बन्धनरज्जू तयावकलिता बद्धाः सर्वेऽपि नराः प्राणिनः कले· पापस्य यस्तान. प्रसारस्ततो या विपद् बाधा तस्या या धूरग्रभागस्तया हेतुभूतया

अन्य सहायकको नही पाता हूँ ॥४५॥

अर्थ—हे वत्स ! इस जगत्मे परिच्छद–नौकर-चाकर आदि का समूह अपना वेतन चाहता है, स्त्री सुन्दर आभूषणोकी शोभा चाहती है और पुत्र अत्यधिक पोषण चाहता है, परन्तु कर्मका चर्वण (चबैना) स्वयं पुरुषको बनना पड़ता हैं।

भावार्थ—स्त्री-पुत्रादिकों प्रसन्न करनेके लिये जो अनैतिक कार्य करता है, उसका फल उसे स्वय ही भोगना पड़ता है ॥४६॥

अर्थ—स्त्री शवशिबिका–अरथी बनानेके स्थान तक और ये परिवारके लोग श्मशान तक जाते हैं, परन्तु स्वकृत पाप कर्मको लेकर यह निर्लज्ज आत्मा ही दुर्गति मे जाता है ॥४७॥

अर्थ—हे राजन् । अपनी-अपनी चेष्टाओं–स्वकृत कर्मकलापोंसे बद्ध सभी मनुष्य–सभी प्राणी पापके प्रसारसे होनेवाली बाधाके अग्रभागसे अत्यन्त दुःखी

पुविधुरा विकलाः सन्ति । तत्र कदर्थनमन्यथात्व किमिर्थाक्षिप त्व कुरु ? न किमपीति किल । वक्रोक्तिरलकार. ॥४८॥

तनयवत्स्वनयोऽरमनुव्रजत्यपि बुधेश विधिश्च यदात्मजः ।
परिनिमन्त्रितभूतवदेतकं प्रतिचरत्यपि नो भुवने स कः ॥४९॥

तनयेत्यादि—अयि बुधेश ! विधिस्तु यद्यप्यनयोऽस्त्यविशेषज्ञश्च पुनस्तथापि तनयवच्छिशुरिव यदात्मजो भवति तमेवारमनुव्रजति । अपि पुन परिनिमन्त्रितस्समाहूतश्चासौ भूत परेतस्तद्वत् किलैतकमेनमतिचरति सोऽपि भुवनेऽस्मिन् ससारे कोऽस्ति भोः ? न कोऽपीति । उपमालकार ॥४९॥

तनुरनन्यतयाऽनुगतादरिन्नपि न चेत् परलोकमुपेतरि ।
समितिमेति कुतोऽथ परिच्छदे समुपपत्तिमहो विबुधो वदेत् ॥५०॥

तनुरित्यादि—हे आदरिन् विनयशील ! परलोकमुपेतरि जने याऽनन्यतया भेदाभावरूपेणाऽनुगतापरिच्छिन्ना सा तनुरपि चेद्यदि समिति सह गमन नैति तदाथ पुनर्यो विबुधो विचारशीलोऽस्ति स परिच्छदे पुत्रपौत्रादौ समुपपत्तिमह सहगमनोत्सव कुतो वदेदपि तु न कथमपि ॥५०॥

पृथगिवाञ्चति कोशत आयुधममुकतः खलु विग्रहतो बुधः ।
अनवबुध्य परस्परसंविशः स्खलतु केवलमेव तु बालिशः ॥५१॥

पृथगित्यादि—बुधो विचारवान्नर सोऽमुकत· खलु विग्रहत. शरीरात्कोशादायुध-

---

हैं, इसमे अन्यथा करनेकी क्या बात है ? अर्थात् कुछ नही ॥४८॥

अर्थ—हे बुधेश ! हे श्रेष्ठज्ञानी जन । यद्यपि विधि–दैव-कर्मोदय अनय है–विशेष ज्ञानसे रहित है अर्थात् विपरीत प्रवृत्ति करने वाला है, फिर भी वह शिशुके *समान पीछे लगा रहता है*, न चाहनेपर भी वह साथ छोडता नही है, क्योकि आत्मज–पुत्र निमन्त्रित भूतके समान साथ लगा रहता है जगत्मे जो उसका प्रतिकार करे वह कौन है ? अर्थात् कोई नही है । तात्पर्य यह है कि स्वकृत कर्म इस जीवके पीछे लगा ही रहता है ॥४९॥

अर्थ—अभिन्न रूपसे सदा साथ रहने वाला शरीर भी जब परलोकको प्राप्त होनेपर साथ नही जाता है–यही छूट जाता है, तब अन्य पुत्रपौत्रादि परिकरके विषयमे कौन विद्वान् कह सकता है कि साथ रहेगे ? अर्थात् कोई नही ॥५०॥

अर्थ—जिस प्रकार विचारवान् मनुष्य म्यानसे शस्त्रको पृथक् जानता है,

मिव पृथगञ्चति प्रभवति तु पुनः केवलं बालिशो मन्दबुद्धिरेव सोऽनयोरात्मशरीरयोः परस्परसंविशोऽन्योन्यानुप्रवेशभावाननवबुध्य स्खलतु द्वयोरैक्यं स एव वदतु। 'विट् पुंसि वैश्ये मनुजे प्रवेशे तु पुनः स्त्रियाम्' इति विश्वलोचने ॥५१॥

वसु रजोगुणको रजसोऽञ्चति पय इवाथ जलाद्वरटापतिः ।
विभजते जडतः खलु चेतनमिति विवेकबलादसकौ जनः ॥५२॥

वस्वित्यादि—रजोगुणको रजसः संशोधको जनः स रजसो वसु धनं सुवर्णादिकम्, वरटापतिर्हंसः स जलात् पयो दुग्धमिवाञ्चति पृथग् लभते। तथैवासावेवासकौ जन खलु जडत. शरीराच्चेतनमात्मान विवेकबलाद्विभजते पृथग् जानातीति किलोपमालंकारः ॥५२॥

न खलु कञ्चुकमुञ्चनतः क्षतिरहिवरस्य भवत्यपि सन्मतिः ।
स च सुखेशमखण्डसुखो वहेत्सदिव विग्रहभारविनिग्रहे ॥५३॥

न खल्वित्यादि—यथा कञ्चुकस्य मुञ्चनतस्त्यागादहिवरस्य सर्पराजस्य कापि क्षतिर्हानिर्न भवति, तदिव तथैव योऽपि सन्मति सुबुद्धिः स च विग्रहभारस्य विनिग्रहे शरीरस्य विनाशे सति च न खण्ड्यते सुख यस्य सोऽखण्डसुखस्सन् सुखेशमात्मान वहेत् स्वीकुर्यादिति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥५३॥

यदपि भूमितले तुषकण्डनं तदपि सम्प्रति तण्डुलमण्डनम् ।
तदिव वा जडपिण्डविवेचनं सुखवतस्तदखण्डनिवेदनम् ॥५४॥

उसी प्रकार शरीरसे आत्माको पृथक् जानता है। शरीर और आत्माके परस्पर प्रवेशको न जानकर केवल अज्ञानी जीव ही स्खलित होता है–दोनोको एक कहता है ॥५१॥

अर्थ—जिस प्रकार रजधोवा रजसे स्वर्णादि धनको और हंस जलसे दूधको पृथक् जानता है, उसी प्रकार यह ज्ञानी जीव जड–शरीरसे चेतन–आत्माको पृथक् जानता है ॥५२॥

अर्थ—जिस प्रकार कांचलीके छोड़नेसे सर्पराजकी कोई हानि नही होती, उसी प्रकार जो सद्बुद्धि-विचारवान् मनुष्य है वह शरीरका विनाश होनेपर अखण्ड–सुखका धारक रहता हुआ आत्माको स्वीकृत करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कांचलीके छोड़नेपर साप दुःखका अनुभव नही करता, उसी प्रकार ज्ञानी जीव शरीरके छूटनेपर दुःखका अनुभव नही करता, क्योंकि वह सुखसे तन्मय आत्माको शरीरसे पृथक् अनुभव करता है ॥५३॥

यद्यपीत्यादि—अस्मिन् भूमितले यद्यपि तुषस्य कण्डनं दूरीकरणं तदपि सम्प्रति सर्वथा तण्डुलस्य मण्डनमेव भवति, तद्विव जडस्य चेतनत्वशून्यस्य पिण्डस्य शरीरस्य विवेचन पृथक्करणमस्ति । तत्सुखवत आत्मनोऽखण्डनिवेदनमेव प्रत्युत तदुपयोगायैवेति स एव दृष्टान्तोऽलंकार ॥५४॥

यदपि चेतनको गहनं श्रयत्यहह विग्रहसंग्रहतो ह्ययम् ।
घनविघातमुपैति तनूनपात् विकमयसाभिगमस्य न चेत्कृपा ॥५५॥

यदपीत्यादि—अयं चेतनको ज्ञानवानात्मा यदपि गहन दुःख श्रयति संलभते तत्सर्वं विग्रहस्याङ्गस्य संग्रहतो हि न चान्यथा । तनूनपादग्निर्नाम स चेदपि पुनरयसा लोहेन सहाभिगमस्य समागमस्य कृपा न भवेत्, तदा घनस्य विघातमुपैति किम् ? किन्तु नोपैति । तथेति दृष्टान्तोऽलंकार ॥५५॥

वसति यावदयं खलु चेतनस्तनुरियं घृणितापि हरेन्मनः ।
मृगमदाभिपदा किल कूपिकाऽन्तसमये तु समस्तु दशा हि का ॥५६॥

वसतीत्यादि—यावदयं खलु चेतनोऽत्र तनौ वसति तिष्ठति तावदियं मांसमज्जादि-रूपा घृणितापि सती मनश्चित्त हरेत् । यथा किल मृगमदस्य कस्तूरिकाया अभिपदं सस्थान यस्या सा कूपिका चर्मरूपापि तु पुनरन्तसमये चेतनस्यात्मनोऽभावे काऽस्या दशात्र स्याद्धीति चिन्त्यताम् स । एव दृष्टान्तोऽलंकार ॥५६॥

अर्थ—इस भूमिपर तुषका दूर करना जिस प्रकार चावलको विभूषित करने वाला है, उसी प्रकार जड-चेतनतारहित शरीरका पृथक् होना सुखसम्पन्न आत्माकी अखण्डताको सूचित करने वाला है ॥५४॥

अर्थ—यह ज्ञानवान् आत्मा जो दुःख उठाता है वह शरीरके ग्रहणसे ही उठाता है, जैसे अग्नि जो घनोंके प्रहारको प्राप्त होती है वह यदि उसका लोहके साथ समागमकी कृपा न होती तो क्या प्राप्त होती ? अर्थात् नही ।

भावार्थ—जिस प्रकार लोहकी संगतिसे अग्नि घनोके प्रहार सहन करती है, इसी प्रकार यह जीव भी विग्रह-शरीरकी संगतिसे अनेक दुःख सहन करता है ॥५५॥

अर्थ—जब तक यह चेतन-आत्मा शरीरमे निवास करता है, तभी तक यह शरीर घृणित होनेपर भी मनको हरण करता है । कस्तूरिकासे सुशोभित इस शरीरकी अन्त समयमे क्या दशा होती है ? अर्थात् आत्माके बिना शरीरकी समस्त प्रभुता नष्ट हो जाती है ॥५६॥

निजमतिं वपुषीति जडात्मके परिकरे च सहायधियं न के ।
विषयसन्निचये सुखशेमुषीं समुपगम्य हता वद संवशिन् ॥५७॥

निजमतिमित्यादि—हे संवशिन् ! मनोऽक्षनिग्रहकर ! अस्मिन् जडात्मके वपुषि निजमतिमात्मबुद्धिमिति तथा परिकरे स्त्रीपुत्रधनादौ सहायधियं सुखसाधनबुद्धिं च पुनर्विषयाणां पञ्चेन्द्रियैरुपभोगयोग्यानां निचये सग्रहे सुखस्य शेमुषीं मतिं समुपगम्य के जना न हता नष्टा जाता इति वदापि तु सर्वेऽपि विनष्टाः ॥५७॥

इत इदं तु कलेवरमुद्धतमितरतः सकलं समलं कृतम् ।
तदपि याति जनः समलङ्कृतं न पुनरीक्षणमेवमलंकृतम् ॥५८॥

इत इत्यादि—हे संवशिन् ! शृणु इत एकतस्तु कलेवरं शरीरमुद्धृतमितरतस्तत पुन. समलं मलसहितं सर्ववस्तु कृतं पुनरपि कलेवरं कलेवरमेव, किन्तु अयं जनस्तदपि कलेवरं समलंकृतं समीचीनरीत्यालङ्कारैः सज्जितं याति स्वीकरोति न पुनरेव विचारयुक्तमीक्षणं चक्षुरलं यथेष्टं कदापि कृतमिति यमकालंकार. ॥५८॥

परिचरत्यपि रासकदासवन्निजनिवेदमृते धरणीधवः ।
अयमतो निवसन् वलयेऽवनेः प्रतियतेत मतेरथ शोधने ॥५९॥

परिचरतीत्यादि—अयमात्मा धरणीधवो महाराजोऽपि सर्वशिरोमणिरपि निजनिवेदमृते स्वरूपसंवेदनं विनाऽस्मिन्नवनेर्वलये भूतले रासको रासकरो गोपक्रीडाकारको यो दासस्तद्वत् परिचरति सर्वेषां सेवक इव भूत्वावतिष्ठतेऽतोऽय मतेः स्वबुद्धे. शोधने प्रतियतेत प्रयत्नं कुर्यादिति ॥५९॥

अर्थ—हे जितेन्द्रिय ! जड शरीरमे आत्मबुद्धि, स्त्रीपुत्रादि परिकरमे सहायबुद्धि और पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय समूहमे सुखबुद्धि प्राप्त कर कौन नष्ट नही हुए हैं, कहो ॥५७॥

अर्थ—हे जितेन्द्रिय ! इधर एक ओर इस शरीरको रखो और दूसरी ओर मलसहित समस्त वस्तुओको रखो, फिर भी यह जीव समलकृतं–मलसहित अथ च समीचीन अलकारोसे सुसज्जित किये हुए शरीरको प्राप्त होता है, विचारयुक्त ईक्षण–चक्षुको अच्छी तरह प्राप्त नही होता ॥५८॥

अर्थ—यह आत्मा राजा–महाराजा होता हुआ भी आत्मज्ञान बिना रासक्रीडाकारा–त्ररेदी (गोचारक गोप) के समान सबका परिचारक बन पृथिवी तल पर निवास करता है, अत. बुद्धिके शोधनेका प्रयत्न करो। तात्पर्य यह है

सपदि मन्थ इतः प्रतिमन्थिनि भ्रमति तद्वयं जगदध्वनि ।
अरुणतो गुणतः स्वयमात्मनः विरम भो विरमेति मनः कुतः ॥६०॥

सपदीत्यादि—मन्थो दधिविलोडनदण्डः स इतो मन्थिनीं दधिपातिनीं प्रति प्रतिमन्थिनि अरुणतो गुणतो व्याकुलेन गुणेन सपदि सपदि साम्प्रतं भ्रमति, तद्वदेवाय संसारिजनोऽपि जगदध्वनि संसारस्य वत्मनि स्वयमात्मन एवारुणतो गुणतो रागभावत एव भ्रमति तत पुनरधुना भो मनो विरमाशु विरम तूष्णींभव । 'नीरवारक्त कपिल व्याकुलेष्वरुणोऽन्यवदिति विश्वलोचने ॥६०॥

सुखमवैति तु नात्मगुणं जडो बहु परेषु परं प्रतिपद्यते ।
अविदितात्मगतोत्तमसौरभो मृगवरः परितोऽपि विपद्यते ॥६१॥

सुखमित्यादि—जडो मन्दबुद्धिर्जन सुखमात्मगुण स्वभाव तु नावैति जानाति परेषु विषयेषु स्पर्शरसादिषु परं केवलं तत् प्रतिपद्यते मनुते, यथाऽविदितो न परिज्ञात आत्मनि शरीरे गतः समुत्पन्नो य उत्तमः सौरभो गन्धो येन स मृगवरः परित इतस्तत सर्वतोऽपि विपद्यते कष्टमनुभवति । दृष्टान्तोऽलकार ॥६१॥

बहिरमोष्वसमेषु विकारतः परिचयं रचयन्नविचारतः ।
न परमात्मपथे रतिमेत्ययं रस इयान् रसितः किमपि स्वयम् ॥६२॥

बहिरित्यादि—किमपि स्वयमेवेयान् रसोऽनिर्वचनीयो रसित आस्वादितोऽस्ति येनाय संसारी विकारत कारणादविचारत उचितानुचितस्य विचारमकृत्वा बहिरमीषु

कि आत्मबोधके बिना राजाधिराज पदका प्राप्त होना भी कार्यकारी नही है ॥५९॥

अर्थ—जिस प्रकार मन्थनदण्ड उसमे लगी रस्सीसे प्रेरित हो मन्थन करने वाली स्त्रीकी ओर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह जीव अपनी रागरूपी रस्सीसे प्रेरित होता हुआ संसारके मार्गमे स्वय भ्रमण करता है । हे मन ! तू उस ओरसे शीघ्र ही विरत हो ॥६०॥

अर्थ—यह मन्दबुद्धि जीव सुखको आत्माका स्वभाव नही जानता किन्तु स्पर्श-रस आदि पर-पदार्थोंमे सुख है ऐसा मानता है । जिस प्रकार अपने शरीरमे विद्यमान उत्तम सुगन्धको न जानकर कस्तूरीमृग इधर उधर कष्टका अनुभव करता है, उसी प्रकार यह जीव अपनी आत्मामे विद्यमान सुखको न जानकर पर-पदार्थोंमे सुखको खोजता हुआ दुःखी होता है ॥६१॥

अर्थ—इस जीवने इतना रसका आस्वादन किया है कि तज्जनित विकारसे

दृश्यमानेषु असमेषु विलक्षणेषु स्वतः परिचयं रचयन्ननुरागं कुर्वन् परमात्मपथे परमे हितकारके आत्मन पथि रतिं नेति । अनुप्रासोऽलंकार ॥६२॥

सपदि मन्थगुणेन गवीश्वरो यदिव दध्न उपैति नवोद्धृतम् ।
परमपास्य गुणी सहसात्मनो रसिति रूपमवैति नवोद्धृतम् ॥६३॥

सपदीत्यादि—यदिव यथा सपदि साम्प्रतं दृश्यते गवीश्वरो गोपालक स मन्थस्य गुणेन प्रयोगेण दध्नो नवोद्धृतं नवनीतमुपैति तथैव गुणी विवेकवान् जनः सहसा स्वसाहसेन रसिति शीघ्रमेव परं जडरूपमपास्य पुनरात्मनः स्वस्य रूपं नवोद्धृतमभूतपूर्वमुपैति तावदिति दृष्टान्तोऽलंकार ॥६३॥

नहि विषादमियादशुभोदये नहि शुभे सुभगो मुदमानयेत् ।
जगति सम्प्रति सव्यतदन्ययोः किर्यदिवान्तरमस्ति च जन्ययोः ॥६४॥

नहीत्यादि—सुभगो जनोऽशुभस्य पापस्योदये विषाद खेदं नहीयाद् गच्छेत् तथा शुभे पुण्यकर्मण उदये मुद प्रसन्नतामपि नहि आनयेत् स्वीकुर्यात् । सम्प्रति सव्य वामं तदन्यच्च दक्षिण तयोर्जन्ययोर्ज्ञातव्ययोरङ्गयोरिव यथा जगति लोके कियदन्तरमस्ति न कियदपीति दृष्टान्तोऽलंकार. ॥६४॥

वृषलपालित आसवमश्नुते द्विजमितस्त्यजतीत्युपसश्रुते ।
दृशि तु दासिसुतौ सुदृशामुभौ निगदितौ च तथैव शुभाशुभौ ॥६५॥

यह उचित और अनुचितका विचार भूल गया है । फलस्वरूप इन बाह्य विलक्षण विषयोमे स्वयं परिचय करता हुआ रागको करता है और परमात्मपथमे–आत्महितकारी मार्गमे राग–प्रीति नहीं करता ॥६२॥

अर्थ—जिस प्रकार गायोका स्वामी–गोपालक मन्थनके प्रयोग द्वारा दहीसे नवनीतको प्राप्त होता है, उसी प्रकार विवेकवान् मनुष्य अपने साहससे शीघ्र ही पर–जडरूप पदार्थको छोडकर आत्माके नवोद्धृत–अभूतपूर्वरूपको प्राप्त करता है ॥६३॥

अर्थ—उत्तम मनुष्य पापकर्मके उदयमे विषादको तथा पुण्यकर्मके उदयमे हर्षको प्राप्त नही होता । जगत्मे जैसे बाये और दाहिने भागसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोमे कितना अन्तर होता है ? अर्थात् कुछ नही ।

भावार्थ—शुभ और अशुभ–दोनो कर्मोका उदय, बन्धका कारण होनेसे मोक्ष प्राप्तिमे बाधक है । ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप शुभाचरण करता हुआ श्रद्धामे उसे मोक्षका साक्षात् कारण नही मानता ॥६४॥

वृषलपालित इत्यादि—दासस्य सुतयोर्मध्ये किलैकस्तु स्वयं वृषलेन दासेन पालितः पोषित स आसव मद्यं प्रसन्नतयाऽश्नुते पिबति, किन्त्वन्यो द्विजमितो विप्रस्य समीपं गतः स आसवं त्यजति ततो दूरं व्रजतीत्येवोपसश्नुते. सद्भावात् । किन्तु सुदृशां दृशि दृष्टौ तु तावुभौ दाससुतावेवेति तथैव शुभाशुभौ योगावपि निगदितौ स्तः ॥६५॥

रजक एष गुणी स्वगुणाम्बरं समरसेन रसेन सता वरम् ।
झगिति धावति नावति कश्मलं ननु विवेकमुपेत्य सुफेनिलम् ॥६६॥

रजक इत्यादि—एष गुणी जीवो रजको वस्त्रसंक्षालकः स समरसेन किलेष्टा-निष्टयोस्तुल्यभावेनैव सता पवित्रेण रसेन जलेन वर श्रेष्ठं स्वगुणाम्बरं स्वाधीनगुणरूपं वस्त्र झगिति शीघ्रमेव धावति प्रक्षालयति कश्मलं नाम मल नावति न इष्टुमीहते विवेकं नामोचितानुचितयोर्ज्ञान तदेव सुफेनिलं सम्यक्तया मलापहरणं द्रव्य तदिदमुपेत्य समुप-लभ्येति रूपकोऽलंकार ॥६६॥

अयि विवेकितयैव वसेर्मन इह च किं वसतोऽपि विपत्पुनः ।
किमुत गारुडिनो विलसन्मतेर्भुजगभुक्तमपीति विषायते ॥६७॥

अयीत्यादि—अयि मनस्त्वं विवेकितयैव निर्मलभावेनैव वसेर्निवास गच्छेः । पुनरिहापि

अर्थ—किसी शूद्रा दासीके दो पुत्र हुए, उनमे एकका पालन उसीके घर हुआ और दूसरा ब्राह्मणके घर पाला गया । दासीके घर जिसका पालन हुआ था वह मदिराका सेवन करता है और जिसका पालन ब्राह्मणके घर हुआ था वह मदिरा को छोडकर उससे दूर रहता है । दो पुत्रोका आचरण दो प्रकारका अवश्य है परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी दृष्टिमे दासीके पुत्र होनेसे शूद्र दोनो हैं । इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनो मोहजन्य होनेसे आस्रवके ही कारण माने गये हैं । यही भाव आचार्य अमृतचन्द्रने टिप्पणगत [1]श्लोकमे प्रकट किया है ॥६५॥

अर्थ—यह गुणी मनुष्य एक धोबी है, जो समताभावरूपी पवित्र जलसे अपने गुणरूपी वस्त्रको शीघ्र ही धोता है। वह मैलकी रक्षा नही करता और विवेकरूपी उत्तम साबुनको लेकर गुणरूपी वस्त्र धोता है ॥६६॥

अर्थ—हे मन ! तू निर्मल भावसे ही निवास कर, इस निर्मल भावमे निवास

१. एको दूरात्त्यजति मदिरा ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्य शूद्र. स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तथैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥
—नाटके समयसारेऽमृतचन्द्रस्य सूरेः

वसतस्ते किन्नाम विपदास्ति, नैवास्ति। विलसन्मतेः प्रस्फुटबुद्धेर्गारुडिनो भुजगभुक्तं सर्प-दष्टमपीति किमुत विषायते विषविकाराय भवति ? नैव भवतीति काकुपूर्वो दृष्टान्तः ॥६७॥

भुवि वृथा सुकृतं च कृतं भवेद्भुविजनस्य तरामविवेकतः।
अनयनस्य वटोवलन पुनः कवलितं च शकृत्करिणा ततः ॥६८॥

भुवीत्यादि—भुवि किलास्यां धरायां भविजनस्य जन्मवतोऽविवेकतो निर्विचारभावेन कृतं सुकृतं पुण्यं कर्मापि कृत वृथा निष्फलं भवेत्तरां यथाऽनयनस्यान्धस्य वटीवलनं रज्जू-सम्पादनमपि ततोऽन्यत पुनः शकृत्करिणा वत्सेन कवलितं ग्रासीकृतं भवतीति। 'शकृत्करिस्तु वत्सः स्यात्' इत्यमरकोषे। दृष्टान्तालंकारः ॥६८॥

स्नवविहो न तथा न दशान्तरमपि तु मोहतमोहरणादरः।
लसति बोधनदीप इयान् यतः विधिपतङ्गगणः पतति स्वतः ॥६९॥

स्नवविह इत्यादि—कस्यापि विवेकिन. क्वचित्कदापिदपि स्नवविह स्नेहो न भवति स्नेहस्तु रागस्तैल च वा नास्ति तथा दशान्तरमपि द्वेषोऽपि यद्वा वर्तिप्रकारोऽपि नास्ति, तथापि तु पुनर्मोह एव तमोऽन्धकारस्तस्य हरणेऽपाकरण आदरो विद्यते सदैवेया-नीदृशो बोधन ज्ञानमेव दीप सम्भवति यत.। स्वत एव विधीना दुरितानामेव पतङ्गानां गण. पतति विनश्यति। रूपकोऽलंकार ॥६९॥

करते हुए तुझे क्या विपत्ति हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। स्पष्ट बुद्धि वाले विषवैद्यको सर्पका दंश क्या विष रूप होता है ? अर्थात् नही ॥६७॥

अर्थ—पृथिवी पर मनुष्यका विवेकके बिना किया हुआ पुण्यकर्म निष्फल होता है, जैसे अन्धा मनुष्य एक ओरसे रस्सीको बटता जाता है और दूसरी ओर से बछडा उसे खाता जाता है। 'अन्धा बटे बछडा खाय'।

अर्थ—विवेकी मनुष्यको किसी पदार्थमे न स्नेह-राग होता है और न दशान्तर-रागके विपरीत द्वेष होता है, उसको तो मोहरूप अन्धकारको दूर करने-का ही आदर होता है। ज्ञानरूप दीपक ही ऐसा है कि जिस पर कर्मरूप पतंगे स्वय पडते है-नष्ट होते है।

अर्थान्तर—किसी मनुष्यको न मोक्ष मार्गमे स्नेह-रागरूप तैल है और न ससार मार्गमे दशान्तर-द्वेष अथवा बत्ती है, फिर भी वह मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेमे आदर रखता है उसका यह कार्य इस लोकोक्तिके अनुसार है कि 'न तैल है न बाती, उजियालामे रहेगे'। अत ज्ञानरूपी दीपकको प्रज्वलित

अपि तु बाह्यकवस्तुनिबन्धनेऽभ्यनुरतस्तनुमान् ननु धन्धने ।
अनयनो नितरां निजगन्धने व्रजति हा विपदामनुबन्धने ॥७०॥

अपि त्वित्यादि—अयं तनुमान् ननु नियमेन बाह्यकानि वस्तूनि स्त्रीपुत्रादीनि तान्येव निबन्धनानि कारणानि यस्य तस्मिन् धन्धने कार्यव्यापारेऽभ्यनुरतो विलग्नोऽपि तु सततमेव, किन्तु निजस्य गन्धने सम्बन्धे नितरामनयनो जात्यन्ध एव हा खेदप्रदर्शनार्थम् तत एव विपदां विपत्तीनामनुबन्धने प्रत्यनुवर्तने व्रजति सम्पतितोऽस्ति । 'गन्धो गन्धके सम्बन्धे' इति विश्वलोचने, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशसम्बन्धगर्वयोः' इति चान्यत्र । अनुप्रासोऽलंकार ॥७०॥

हसति रौति च मूर्च्छति वेपते तनुभृदेव किलापगतो धृतेः ।
भ्रमति सर्वत एव भिया स कौ भवति भूतनिवास इवासकौ ॥७१॥

हसतीत्यादि—एष तनुभृद् देहधरो धृतेरपगतो धैर्यहीनो भूत्वा कदाचिदिष्टसमागमे हसति तदपगमे च रौति पुनरनिष्टसमागमे वेपते कम्पमेति वा मूर्च्छति वा पुनः स भिया भयवशेन कौ पृथिव्यां सर्वत एव भ्रमति एवमसावेवासकौ भूतनिवासः प्रेतगृहीत इव भवति न कश्चिद्विशेष. किलात्र ॥७१॥

हितमवैति न कश्चन वै जनस्तदितरस्य तु सशयित मनः ।
परमये विपरीतरुचा धृत जगदिदं सकलं तमसाऽऽवृतम् ॥७२॥

हितमित्यादि—कश्चनैकस्तु जनो हित मङ्गलकर वृत्तमवैत्येव वै न, शृणोत्येव न,

---

करना चाहिये, अर्थात् विवेकपूर्वक धर्माचरण करना चाहिये। उसीसे कर्म-निर्जराका योग प्राप्त होता है ॥६९॥

अर्थ—यह प्राणी नियमसे बाह्य वस्तु-स्त्रीपुत्रादि रूप कारणोसे युक्त धन्धन–सासारिक व्यापारमे सलग्न है, किन्तु निजसे सम्बद्ध कार्यके विषयमे अनयन–जन्मान्ध है। खेद है कि यह जीव विपत्तिके कारणोमे ही पड़ा है ॥७०॥

अर्थ—यह प्राणी धैर्यहीन हो कभी इष्टका समागम होने पर हँसने लगता है, कभी इष्टका वियोग होने पर रोने लगता है, कभी अनिष्ट समागमकी आशङ्कासे कॉप उठता है और भयसे सर्वत्र भ्रमण करता है–रक्षाकी दृष्टिसे इधर उधर भागता है। इस प्रकार यह भूतगृहीत–पिशाचाक्रान्त जैसा हो रहा है ॥७१॥

अर्थ—कोई एक मनुष्य हितको जानता ही नहीं है–उसे सुनता ही नहीं है,

तदितरस्य तु कस्यचिन्मनो हितं श्रुत्वापि तत्र सशयितं भवति दोलायत एव किं करोमि किं न करोमीति ? ततः परं पुनर्विपरीतया दयाऽभिलाषया धृतमये पश्यामि, एवमिव सकलं जगत्समसाऽज्ञानेनाऽऽवृतं तिष्ठति ॥७२॥

वयनकीटवदात्मनि वेष्टितैर्विपदमेति जनो निजचेष्टितैः ।
प्रभवतीह हितैरिमकैर्जितैर्जगति मत्कुणवन्म्रियते न तैः ॥७३॥

वयनकीटवदित्यादि—आत्मनि वेष्टितैर्वयनकीटवद् ऊर्णनाभ इवायं जनोऽपि निजचेष्टितैरेव विपदमेति जगतीह इमकैर्जितैः व्यतीतैः पुनर्हितैः प्रभवति हितप्राप्त्या समर्थो भवति, किन्तु तैर्मत्कुणवन्न म्रियते ॥७३॥

सपदि मल्लमहावपि युद्धयतोर्भवति दीपकजीवसमन्वितः ।
लगति तस्य तनौ हि रजः कुजं तदितरो विलसत्यपि केवलः ॥७४॥

सपदीत्यादि—सपदि साम्प्रतं मल्लमहौ व्यायामभूमौ महिशब्दो ह्रस्वेकारान्तोऽपि कविभिः सम्मतोऽस्ति, धरणिशब्दवत् । युद्धयतोर्युद्धं कुर्वतोर्यः कोऽपि दीपकजीवेन स्नेहेन समन्वितो भवति तस्यैव तनौ शरीरे हि कुजं रजो भूमिगतपांसुर्लगति तदितरो यः स्नेहेन वर्जितः स केवल एवापि विलसति ॥७४॥

विषयजातिशयाश्रयिहृद्वता जनुरिदं ननु नीतमपार्थताम् ।
गतधियापि मया समयः श्रियां पणयितो मुकुरेण मणी स्यात् ॥७५॥

किसीका मन संशयसे युक्त है–वह निर्णय नहीं कर पाता कि क्या करूँ क्या न करूँ और कोई अन्य मनुष्य विपरीत बुद्धिसे आक्रान्त है। इस प्रकार यह समस्त जगत् अज्ञानसे आवृत हो रहा है ॥७२॥

अर्थ—जिस प्रकार मकडी अपने ही वेष्टनसे वेष्टित हो विपत्तिको प्राप्त होती है, उसी प्रकार यह जीव अपनी ही चेष्टाओंसे विपत्तिको प्राप्त होता है। कोई जीव अपनी भूतकालीन हितकारी चेष्टाओंसे प्रभुत्वयुक्त होता है, उनसे खटमल-के समान मृत्युको प्राप्त नहीं होता ॥७३॥

अर्थ—एक साथ दो मल्ल अखाडेमें युद्ध कर रहे हैं–कुश्ती खेल रहे हैं। उनमेंसे एक मल्ल तैलसे सहित है–शरीरमें तैल लगाये हुए है और दूसरा तैलसे रहित है। जिसके शरीरमें तैल लग रहा है उसके शरीरमें पृथिवीकी धूलि–अखाड़ेकी मिट्टी लग जाती है पर जो तैलसे रहित होता है वह अकेला ही सुशोभित होता है। तात्पर्य यह है कि रागभाव ही बन्धका कारण है और विरागभाव निर्जराका कारण है ॥७४॥

विषयजेत्यादि—मयापि गतधिया बुद्धिहीनेन विषयेभ्यो जायते योऽतिशयो विशेषः स एवाश्रयो विश्रामस्थानं यस्यैतादृग्धृद्वता सतेदं जनुर्मानवजन्मापार्थता व्यर्थभावनां नीतं ननु निश्चयेन व्ययीकृतमास्ते। यतः श्रिया लक्ष्मीणा समय आधारभूतो मणि स मुकुरेण पणयितो विक्रीतो स्यात् किमपि विचारमकृत्वा। अनुप्रासोऽलंकारः ॥७५॥

श्रुतमधीत्य यथाविधि बुद्धिमान् समधिगम्य च साधुसमागमम्।
जगदुदीक्ष्य च भङ्गुरमुह्यतां मदपरः क इवेह विमुह्यताम् ॥७६॥

श्रुतमित्यादि—मत्तोऽपरो मदपर क इव बुद्धिमान् यो यथाविधि श्रुतं शास्त्रमधीत्य साधुसमागमं साधूना सज्जनानां सम्पर्क यद्वा साधुश्चासौ समागमश्च त समुचितसम्प्रयोगं समधिगम्य चेद जगच्च भङ्गुर नश्वरमुदीक्ष्य दृष्ट्वा पुनरपीह विमुह्यतां मोहं गच्छेदित्यूह्यता विचार्यता तावत् ॥७६॥

अनवयन्दहनं शलभोऽतति बडिशमांसमितश्च झषोऽमतिः।
न विषयान् गहनांश्च सुचिन्निधिस्त्यजति मादृगहो निबिडो विधिः ॥७७॥

अनवयन्नित्यादि—य शलभ पतङ्ग स तु दहन वधकरमनवयन्नजानन् एवातति सगच्छति। झषो मीनोऽपि यो बडिशस्य मास लोहकण्टकेन सह लग्न पलमितः सम्प्राप्त स चामतिर्बुद्धिरहित एव, किन्तु सुचिन्निधि सम्यग्बुद्धिधरोऽपि सन् विषयान् गहनान् कष्टकरांश्च जानन् पुनरपि मादृङ्नरस्तान् न त्यजति तावदिति विधि पुराकृतप्रणिधि. सन्निबिड एवाहो ॥७७॥

अर्थ—विषयजन्य विशेष सुखका आश्रय करने वाले हृदयसे युक्त मुझ जयकुमारने भी निर्बुद्धि हो इस मानव जन्मको व्यर्थ खो दिया है। मैंने लक्ष्मीके आधारभूत मणिको कुछ विचार किये बिना ही मुकुर (काच) मे बेच दिया है ॥७५॥

अर्थ—मुझसे भिन्न दूसरा कौन बुद्धिमान् होगा जो विधिपूर्वक शास्त्र पढ कर, साधु समागम—साधुओंका समागम अथवा समुचित सम्प्रयोग प्राप्त कर और जगत्को नश्वर देखकर भी विमोहको प्राप्त होगा? विचार किया जावे ॥७६॥

अर्थ—पतङ्ग अग्निके पास जाता है, पर वह उसे दहन—जलाने वाली न जानकर जाता है। इसी प्रकार मछली वशीमे लगे हुए मासको प्राप्त होती है, पर वह अमति—बुद्धिसे रहित है। परन्तु ज्ञानदर्शनरूप चेतनाका भाण्डार होकर भी मेरा जैसा मनुष्य इन गहन विषयोको नही छोड रहा है, इससे आश्चर्य है कि मेरा कर्म बहुत सान्द्र—मजबूत है ॥७७॥

स दिवसः समयः स मयाञ्चितः सपदि सोऽहमपीतिकथाश्रितः ।
उपहतः पुनरुक्तपरिश्रमैररवत् प्रभवामि वृथाक्रमैः ॥७८॥

स दिवस इत्यादि—स एव तु दिवसः स एव समयः प्रातःकालादिरूपो यो मया पूर्वमञ्चित समुपभुक्तस्तथा सपदीतिकथया बाधाकारकवार्तयाश्रितोऽहमपि स एव तथापि वृथाक्रमोऽनुवर्तनं येषां तैः पुनरुक्तपरिश्रमैरुपहतोऽपि अररवत् कपाटवत् प्रभवामि । अनुप्रासश्चोपमालंकारः ॥७८॥

नहि कृतं मदनारिक माजनुः स्मृतमहो न जिनेन्द्रपदं ननु ।
युवतिमार्दवकर्दमकेऽर्थितं किमु कथेयमथो भसदोऽग्रतः ॥७९॥

नहीत्यादि—अहो मयाऽऽजनुर्जन्मन आरभ्याद्यावधि मदनारिक कामवासना-विरोधि किमपि न हि कृतम्, जिनेन्द्रस्य पद चरणद्वन्द्वं ननु नियमेन न स्मृतं तस्य सामीप्यमपि न स्मृतम्, केवल युवतीनां मार्दव कोमलत्वमेव कर्दम. स एव कर्दमकं तस्मिन्नेवार्थित प्रार्थित ततो भसद कालस्य यमराजस्याग्रतोऽथो किमु वदेयमिति काकूक्ति । 'कथ' इति भौवादिको धातुर्यस्य लुङि व्यन्ते 'अचीकथत्' इति कथं जैनकाव्येषु प्रचलितम्, 'अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो' इति वादीभसिंहेन क्षत्रचूडामणौ प्रयुक्तम् ॥७९॥

स्मरशरासरसाशयितान्विता नियमिता वमिता भ्रमिता मिता ।
जडतयापि तथापि तु चिन्तया किमधुना समये च शिवं स्यात् ॥८०॥

अर्थ—वही दिन है, मेरे द्वारा उपयुक्त वही समय है और कथाओका आश्रयभूत मैं भी वही हूँ, फिर भी व्यर्थ क्रमसे युक्त पुनरुक्त परिश्रमो-विषयोकी प्रवृत्तिसे उपहत होता हुआ किवाड़के समान बन रहा हूँ, अर्थात् सद्विचारोके प्रवेशके लिये बाधक हो रहा हूँ ।

भावार्थ—आकर्षणके लिये उपभोग्य और उपभोक्तामे नूतनता आवश्यक होती है, पर यहाँ नूतनता कुछ भी नही है । फिर भी विषयोमे मेरा आकर्षण कम नही हो रहा है, यह आश्चर्यकी बात है ॥७८॥

अर्थ—आश्चर्य है कि मैने जन्मसे लेकर आजतक कामवासनाका विरोधी कुछ भी कार्य नही किया, न जिनेन्द्रदेवके चरण युगलका स्मरण किया, मात्र स्त्रियोकी कोमलतारूपी कीचडकी चाह-करता रहा अथवा उसमे फँसकर पीड़ित होता रहा, अब मै यमराजके आगे क्या कहूगा ?

विशेष—यमराजकी कल्पना लौकिक है, जिनागममे ऐसे यमराजका कोई उल्लेख नही है । वहाँ मरणको ही यमराज कहा गया है ॥७९॥

स्मरेत्यादि—अद्यावधि मया स्मरस्य शरासं धनुस्तस्य रसा भूःस्थानमाश्रयो मनस्तद्वत्ता कामवासनायुक्ततैवान्विता स्वीकृताऽतो नियमिता परिमितगामिता वमिता परित्यक्ता, भ्रमिता किलेतस्ततो भ्रमणशीलतैव मिताङ्गीकृता जडतया निर्विचार-वृत्त्या, किन्तु तथापि चिन्तयाऽधुना किं साध्यम् ? गतसर्वस्य घृष्टिचिन्तनरूपयाऽधुनापि पुना रयाच्छिवं कल्याणं समये गच्छामीति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥८०॥

अधम ! यौवनमाप लयाश्रितिं बहुमयौ वन एव मता स्थितिः ।
क्षण इतो मृदुहारमणीभृतः स खलु हा रमणीसदसोऽप्यतः ॥८१॥

अधमेत्यादि—हे अधम ! अधुना यौवन तारुण्यमपि लयाश्रितिमाप विनाशं जगामातः खलु मृदुहारभृतः सुललितमणिमयकण्ठिकायुक्तस्य रमणीनां युवतीनां सदसः समाजस्य क्षणोऽपि समयोऽपीतो व्यतीत , हेति खेद एवैतद् । अतोऽधुना तु पुनर्बहवो मयवो मृगा यस्मिंस्तस्मिन् वने कानन एव स्थितिर्निवासो मता वृद्धैरनुमतास्ति । 'मयुर्मृगे किन्नरे स्यात्' इति विश्वलोचने । यमकालंकार ॥८१॥

अखिलमेव तु वस्तु पुरःस्फुरन्निजनिजोचितधर्मधुरन्धरम् ।
अहह धर्ममृतेऽति पुमानतिविकलितः खलु जीवितुमिच्छति ॥८२॥

अखिलमित्यादि—तु पुनरखिलमेव वस्तु पदार्थसमूह पुर स्फुरन् प्रत्यक्ष दृश्यमानो यो निजनिजस्योचितो योग्यो धर्म स्वभावस्तस्य धुरन्धर धारक शोभते किन्त्वति-विकलितो व्याकुलत्व प्राप्त पुरुषो धर्ममृतेऽपि स्वस्वभावमन्तरेणापि खलु निश्चयेन जीवितुमिच्छत्यभिलषति । अहहेति खेदे ॥८२॥

अर्थ—मैने मनको कामवासनाका आश्रय बनाया, परिमितता–भोगोपभोगकी सीमाका परित्याग किया और जडता–अज्ञानके कारण भ्रमिता–भ्रमणशीलताको स्वीकृत किया, परन्तु अब चिन्तासे क्या साध्य है ? क्या चिन्तासे मै शीघ्र ही कल्याणको प्राप्त हो सकता हूँ ? अर्थात् नही ॥८०॥

अर्थ—हे अधम ! योवन विनाशको प्राप्त हो गया और मणिमय कोमल कण्ठिकाओसे युक्त स्त्रीसमूहका भी समय निकल चुका है, अतः अब अनेक मृगोसे युक्त वनमे निवास करना ही वृद्ध जनोने स्वीकृत किया है ॥८१॥

अर्थ—ससारके समस्त पदार्थ आगे देदीप्यमान–अनुभवमे आने वाले अपने अपने योग्य धर्मको धारण करते हुए शोभायमान है, परन्तु अत्यन्त विकलता–विह्वलताको प्राप्त हुआ पुरुष खेद है कि धर्मके बिना ही जीवित रहनेकी इच्छा करता है ॥८२॥

न वृषमेत्यनुषङ्गजमप्यथ सततमेनसि संविलसत्कथः ।
अहह मूढमना मनुजोऽमृतं समपहाय विषं पिबति स्वतः ॥८३॥

न वृषमित्यादि—अहह महदाश्चर्यस्थानमेतद् यदयं मूढमना विचारविहीनहृदयो मनुजो वृषं धर्मं प्रयत्नेन न करोतीति तु तावदास्तां किन्त्वनुषङ्गजमपि प्रसङ्गवशादनायासतयाऽऽप्राप्तमपि नैति नानुतिष्ठति, सततं निरन्तरमेनसि पापाचारे संविलसति समुत्साहमेति कथा वार्ता यस्य सोऽथ सम्भवति सोऽयममृतं समपहाय परित्यज्य स्वत एव विषं प्राणहर पिबति । मोहमुग्धस्य स्वभावोक्तिरलंकारोऽयम् । अथात्र प्रश्ने वर्तते ॥८३॥

यदि हृषीकसुखान्यपि हे जिन किल फलानि वृषस्य हि शाखिनः ।
न किममी सहिताश्च सुखाशया वृषमुषन्ति नु सन्ति मलाशयाः ॥८४॥

यदीत्यादि—हे जिन ! भगवन् ! यदि किल हृषीकसुखानीन्द्रियजन्यान्यपि सुखानि वृषस्य हि शाखिनो धर्मवृक्षस्यैव फलानि सन्ति, तदा पुनरमी सुखस्याशयाभिलाषया सहिताश्च सन्तो वृषं धर्मं किन्नोषन्ति सेवन्ते, मलः पापयुक्तः कृपणो वाऽऽशयोऽभिप्रायो येषां ते भवन्तीति । नु वितर्के ॥८४॥

स सुतत्त्वमहत्त्वदायिनीं वृषचिन्तामणिसंविधायिनीम् ।
भवभोगवपुष्षु निःस्पृहो हृदि चिन्तामणिमित्यगाद्वहो ॥८५॥

स इत्यादि—स जयकुमार सुतत्त्वस्यात्मनो महत्त्वं ददातीति तां सुतत्त्वमहत्त्वदायिनीं वृषो धर्मः स एव चिन्तामणिर्वाञ्छितपूर्तिकर इति संविधानं करोतीति तां वृषचिन्तामणिसंविधायिनीमिति पूर्वोक्तरूपां चिन्तानुचित्तवृत्तिः सैव मणिस्तामगाज्ज-

---

अर्थ—आश्चर्य है कि यह मूढहृदय मनुष्य धर्मको प्रयत्नपूर्वक नही करता है यह दूर रहे, किन्तु अनायास प्राप्त धर्मको भी नही करता है, इसके विपरीत पापाचारविषयक कथाओमे ही संलग्न रहता है । ऐसा जान पडता है कि यह अमृतको छोडकर स्वय विषको पीता है ॥८३॥

अर्थ—हे जिन ! हे भगवन् ! यदि इन्द्रियजन्य सुख भी धर्मरूपी वृक्षके फल है, तो सुखकी अभिलाषामे सहित ये प्राणी धर्मका सेवा क्यो नही करते ? मलिन अभिप्राय वाले क्यो है ? ॥८४॥

अर्थ—इस प्रकार ससार, भोग और शरीरमे निःस्पृह भावको धारण करने वाले जयकुमार आत्मतत्त्वकी महिमाको देने वाली तथा धर्म चिन्तामणिको

गाम हृदि स्वचेतसि भवो जन्मभोग स्त्रीसपर्काविर्वपु शरीरं तेष्वेतेषु निःस्पृहो वाञ्छारहितो यतस्ततोऽहो विचारविमर्शो । यमकोऽलंकारः ॥८५॥

य उपश्रुति निर्वृतिश्रिया कृतसंकेत इवाथ भूमियाम् ।
विजनं हि जनैकनायकः सहसैवाभिललाव चायकः ॥८६॥

य उपश्रुतीत्यादि—योऽथ धियां विचारशक्तीनां भू स्थान तथा जनानामेकः प्रसिद्धो नायकोऽभिनेता जयकुमारश्चास्य चन्द्रमस इवाय एवायकः शुभावहो विधिर्यस्य स चन्द्र इवाह्लादकः स श्रुतेः कर्णस्य समीपमुपश्रुति निर्वृतिश्रिया मुक्तिलक्ष्म्याऽऽगत्य कृत· संकेत. समस्यालेशो यस्मै स इव सहसाऽकस्मादेव हि विजनं निर्जनं वनमभिललाव वाञ्छितवानित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८६॥

जन्मातङ्कजरावितः स भयभृच्चिन्तामथागाच्छुभां
यत्नोद्वाह्यमिमं तु राज्यभरकं स्थाने समाने ध्रुवम् ।
सद्भूयामहमत्र कुत्र भवतो निक्षिप्य निर्यन्मना
नानिष्टां जनताऽऽयति प्रसरताद् भातूत्सवश्चात्मनाम् ॥८७॥

जन्मेत्यादि—अथ जन्म आतङ्कश्च जरा चावो येषां दुःखानां तेभ्यस्ततो भयभृत् सतर्कः स जयकुमारः शुभामेतां चिन्तामगात् कृतवान् यत्किलेदं राज्यस्य भर एव भरकस्तं कीदृश त यत्नेनोद्वाह्य प्रयत्नपूर्वकमेव वहनयोग्यं तमहमत्र कुत्र समाने मम तुल्य एव स्थाने ध्रुव सदाकाल यावन्निक्षिप्य भवतोऽस्मात् संसारान्निर्यन्मना विनिर्वृत्तचित्तस्सम्भूयां

प्रकट करने वाली उत्तम सद्विचार मालाको हृदयमे प्राप्त हुए ।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे उन्होने अपने हृदयमे चिन्तन कर ससार, शरीर और भोगोसे उदासीनता प्राप्त की ॥८५॥

अर्थ—तदनन्तर जो विचारशक्तियोके स्थान थे, जनसमूहके अद्वितीय नायक थे तथा च-चन्द्रमाके समान आयक-शुभ भाग्यको धारण करनेवाले थे, ऐसे जयकुमारने अकस्मात् ही निर्जन वनमे जानेकी अभिलाषा की । इससे ऐसा जान पडता था मानो मुक्तिरूपी लक्ष्मीने कानके पास आकर मिलनेका संकेत ही कर दिया हो ॥८६॥

अर्थ—तदनन्तर जन्म, रोग तथा जरा आदिसे भयको धारण करनेवाले जयकुमारने यह शुभ विचार किया कि मै प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य इस राज्यभारको अपने तुल्य किस स्थान पर-किस व्यक्तिको सौंपकर संसारसे

जनता चानिष्टामार्यातिं भविष्यन्तं कालं न प्रसरतादथ तथात्मनां कुटुम्बिजनानामुत्सवो भातु इति। एतस्य चक्रबन्धस्य प्रत्यराग्राक्षरैर्जयसंभावना (सद्भावना) इति सर्गविषय-निर्देश कृतो भवति ॥८७॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
[1]ज्ञानानन्दपदानुयायिनि गतः सर्गो निसर्गोज्ज्वल-
स्तत्प्रोक्तेऽत्र जयोदये सुललितो [2]बाणाक्षिभूत्सम्बलः ॥८८॥

विरक्तहृदय हो सकूं, जनता भी भविष्यमे अनिष्टको प्राप्त न हो और हमारे कुटुम्बी जनोमे उत्सवकी वृद्धि होती रहे ॥८७॥

इति वाणीभूषणब्रह्मचारिप० भूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचना-
स्वयवरापरनामजयोदये महाकाव्ये जयकुमारवैराग्य-
भावनाप्ररूपकः पञ्चविंशतितमः सर्गः समाप्तः ॥

●

---

१. ज्ञानानन्दयोः पदमनुयाति, वर्णयति तस्मिन्। जयोदयस्य विशेषणम् ॥

२. पञ्चविंशतितमः।

षड्विंशः सर्गः

समभूत् समभूतरक्षणः स्वसमुत्सर्गविसर्गलक्षणः ।
शिवमानवमानवक्षणः नृपतेरुत्सववत्सवक्षणः ॥१॥

समभूदित्यादि—समानां सर्वेषां भूतानां प्राणिनां रक्षण यत्र स तथा स्वस्य धनादे. समुत्सर्गस्तस्य विसर्गोऽन्तिमावस्था लक्षणं यस्य स परिपूर्णत्यागात्मकस्तथा शिव शर्म तस्य मा शोभा वा लक्ष्मीर्वा तस्या नवो मान सन्मानस्तस्य वक्षण. सम्पत्तिकरो व इति पूर्णकुम्भस्तस्य क्षण इव क्षणो यस्येत्यर्थात् । एतादृशो नृपतेर्जयकुमारस्योत्सवक्षण उत्सवद् यत्रागत्य जल तिष्ठति तत्स्थानमुत्स कथ्यते तद्वत्समभूत् । अनुप्रासोऽलकार ॥१॥

अनुनामगुणैकभूरभूदथ शिवकरिरेतदङ्गभूः ।
नहि शत्रुभिरन्ततामितः स्विदनन्तोत्तरवीर्यसंज्ञितः ॥२॥

अनुनामेत्यादि—अथात्रैतस्य जयकुमारस्याङ्गभू पुत्र शिवकरि. शिवंकराया नाम राज्ञ्या सजातोऽनन्तात्पदादुत्तर यद्वीर्यपद तेन सञ्ज्ञितोऽनन्तवीर्यनामाऽनुनामगुणैकभूर्नामानुसारगुणधारको यतोऽत्र स न शत्रुभिरन्तता पराभवमित. कदापीत्येतादृगभूत् ॥२॥

स बभूव कुलानुमानतः सवभूश्च प्रतिपत्तिमानतः ।
नृपतीर्थपतिर्न्ययोजयन्नृपतीनां सन्नयो जयः ॥३॥

अर्थ—राजा जयकुमारका वह उत्सव क्षण–जिसमे कि समस्त जीवोका सरक्षण था, जिसमे धन आदिका पूर्ण परित्याग था तथा जो शिवमा–मोक्षलक्ष्मी अथवा सुखलक्ष्मीके नवीन मान–आदरके लिये वक्षण–मङ्गल कलश रूप था, उत्स–जलके एकत्रित होनेके स्थानके समान हुआ था ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर राजा जयकुमारका एक अनन्तवीर्य नामका पुत्र था जो शिवकरा रानीसे उत्पन्न हुआ था, नामके अनुसार गुणोंको धारण करनेवाला था और शत्रुओके द्वारा जो कभी भी अन्त–पराभवको प्राप्त नही हुआ था ॥२॥

अर्थ—यतश्च अनन्तवीर्य कुलपरम्पराके अनुसार प्रतिपत्ति-विश्वासके योग्य था, अतः वही राज्याभिषेका पात्र हुआ। राजतीर्थके नायक नीतिवेत्ता जयकुमारने उसे ही राजाओके आगे नियुक्त किया ॥३॥

---

१ 'सदृक् सर्वमान्येषु च सम त्रिषु' इति विश्वलोचने ।

स बभूवेत्यादि—कुलानुमानतः कुलपरम्परानुसारतः स एव प्रतिपत्तिमान् विश्वासयोग्योऽत' स एव सबभू' राज्याभिषेकस्य स्थानं बभूव । सन्नयः समीचीननीति-वेत्ता जयो नाम नृपतीर्यस्य पतिः स तमेव नृपतीना भूपानां धुरि सर्वेषामुपरि न्ययोजयत् सन्नियुक्तं कृतवान् । यमकोऽलंकारः ॥३॥

क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा परितश्चत्वरपूरणत्वरा ।
सुदृशां नखरेषु सोमता प्रजयाऽक्षिप्रजयाऽसौ मता ॥४॥

क्षरदक्षरेत्यादि—तयासौ निर्दिश्यमाना सोमता चन्द्रमस्ता सुन्दरता चाक्षिप्रजया-ऽक्षिप्रो विलम्बस्तस्य जयात्परिहाराच्छीघ्रमिति यावत् प्रजया जनसाधारणेनापि सुदृशां मृगनयनानां स्त्रिया नखरेषु कराग्रेषु मतानुमानिता यतस्तत्र सुधाया प्रस्तरचूर्णविकारस्येदं सौध सत्त्व अक्षर बहुकालस्थायि च तत्सौधसत्त्वं क्षरन्निर्व्रजच्च तदक्षरसौधसत्त्वं राति स्वीकरोति सा परितः सर्वतश्चत्वरस्य मङ्गलमण्डलस्य पूरणे त्वरा शीघ्रता यस्यास्सा । अनुप्रासोऽलंकारः ॥४॥

त्वकयि त्वकजिच्च नस्ततां लभतां स्नेहगुणाऽप्यनन्तताम् ।
अभिषेकनिषेकसम्पदः स्फुरदभ्यङ्ककृता व्यभाव्यदः ॥५॥

त्वकयीति—अभिषेकस्य स्नानस्य यो निषेकस्समारम्भस्तस्य या सम्पत्तस्याः स्फुरत् स्पष्टरूपमभ्यङ्गं तैलमर्दनं करोति यस्तेन जनेन हे प्रभो ! त्वयि एव त्वकयि तु पुनर्नोऽ-

---

अर्थ—स्त्रियोने अपने हाथोसे शीघ्र ही चौक पूरकर उत्सवमे सोमता—भव्यता (पक्षमे चन्द्रता) ला दी। प्रजाने उस सोमताको स्त्रियोके अग्रभाग सम्बन्धी अनुमानित की थी, क्योकि जिस प्रकार चन्द्रता **क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा**—झरते हुए अविनाशी अमृत समूहके सद्भावको देने वाली होती है, उसी प्रकार वह सोमता—भव्यता भी **क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा**—झरते हुए कलईके सद्भावको देने वाली थी, अर्थात् सफेद-सफेद कलईसे स्थानको स्वच्छकर उसमे चौक पूर रही थी तथा **परितश्चत्वरपूरणत्वरा**—जिस प्रकार **सोमता**—चन्द्रता चारो ओर **चत्वरता**—मण्डलता—गोलाकृतिको धारण करने वाली होती है, उसी प्रकार वह **सोमता**—भद्रता भी **परितश्चत्वरपूरणत्वरा**—सब ओर मण्डल—रगावली द्वारा मण्डलके पूरनेमे शीघ्रतासे सहित थी ॥४॥

अर्थ—स्नानके पूर्व अनन्तवीर्यके शरीरमे अभ्यङ्ग—तैलका मर्दन किया था जो ऐसा जान पड़ता था मानों कह रहा हो हे भावी राजन् ! शरीर पर जो स्नेह—तैल लगाया जा रहा है वह हम प्रजा जनोंके **अकजित्**—दुःख अथवा पापको

स्माकं प्रजाजनानामकजित् पापापहारो दु:खापहारो वा योऽसौ स्नेहगुणस्तैलानुयोगेना-नुराग एव ततां विस्तृतामनन्ततामविनश्वरतां लभतामिति सम्रजेवित्यद इदं व्यभावि स्पष्टीकृतम् । इत्युत्प्रेक्षा ।।५।।

लसताल्लसता त्वदाश्रिते विषता संविशता तथा जिते ।
यदुपेत्यतरामवातरन्न किमुद्वर्तनमित्युदाहरत् ।।६।।

लसतादित्यादि—यदुद्वर्तनं नृपस्य भाविनो राज्ञ: शरीरमुपेत्यतरामवातरत्तत्पुनर्हे प्रभो ! त्वदाश्रिते जने लसता सुभगता लसतात् सम्भवेत् तथा त्वया जिते पराजिते पुंसि विषतानुपयोगिता संविशतोपपद्यतेति किन्नोदाहरदपि तु जगावैवेति वक्रोक्ति-रनुप्रासश्च ।।६।।

सहते सह तेजसा स्थितः कुत एतन्मलिनत्वमित्यतः ।
कचसन्निचयस्तमस्तुतः समभावुत्तमभावितः स्तुतः ।।७।।

सहत इत्यादि—अयं तेजसा सह स्थितोऽपि किलास्माकमेतत्सहजप्रसिद्धं मलिनत्वं कृष्णवर्णत्वमुत मलयुक्तत्वं कुतः सहते, किन्तु नैवमित्यत एव किल कचानां केशानां सन्निचयः समूहो यस्तमस्तुतस्तमः इवान्धकार इव स्तुतः श्यामवर्णः सोऽप्युत्तमभावतस्तदा फेनिलनामकेनोत्तमेन स्वच्छेन भावेन स्तुतः समभावित्युत्प्रेक्षालंकारः ।।७।।

जीतने वाला आपका स्नेह–अनुराग अत्यन्त विस्तृत अनन्तता–अविनश्वरताको प्राप्त हो, अर्थात् हम लोगोके परिपालनमे सदा आपका स्नेह–अनुराग–प्रीतिभाव निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहे ।।५।।

अर्थ—उस समय भावी राजाके शरीरमे जो अच्छी तरह उद्वर्तन–उपटन लगाया गया था, वह क्या यह नही कह रहा था कि हे राजन् ! जो मनुष्य आपके आश्रित लसता–सुन्दरता सुशोभित हो और आपके द्वारा जो पराजित है, उसमे विषता–अनुपयोगिता अर्थात् विषरूपता समुपपन्न हो ।।६।।

अर्थ—भावी राजाके मस्तक सम्बन्धी केशोका समूह फेनिल–रीठासे धोया गया था । उससे वह ऐसा जान पडता था मानो उसने विचार किया हो कि यह राजा तो सहज स्वाभाविक तेजसे सहित है, पर इसके आश्रित रहने वाले मुझे अन्धकारतुल्य केशसमूहमे मलिनता–श्यामलता अथवा मलिनता क्यो है ? यह विचार कर ही मानो वह उत्तमभाव मलिनताको नष्ट करने वाले पदार्थसे अच्छी तरह उज्ज्वल किया गया था ।।७।।

ललिता वलिताखिलैनसश्चलिता संकलिताप्यनेकशः ।
परितोषयितुं प्रजा अभाद् वदनेन्दोरमृतस्रुतिः शुभा ॥८॥

ललितेत्यादि—तदा वलितं नष्टमखिलं सम्पूर्णमेनो दुराचरणं यस्य तस्य वदनं मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तस्मात्किलानेकशो वार वार सकलितापि ललिता दर्शने मनोहरा शुभा मङ्गलरूपाऽमृतस्य स्रुतिर्धारा सा प्रजा. परितोषयितु सुखयितुमेव चलिता विनिर्गताभूदिति । अनुप्रासोऽलंकार उत्प्रेक्षा च ॥८॥

अपकर्षणसन्निकर्षपा हरिपीठे परिपीतसर्षपाः ।
पुलकाङ्कुलका इवोत्थिताः परिवर्धिष्णुतया बभुः सिताः ॥९॥

अपकर्षणेत्यादि—अपकर्षणस्य दुरीहतया कर्षणस्य योऽसौ सम्यङ्निकर्षः परिहारस्तं पान्ति स्वीकुर्वन्ति ते पीतसर्षपाः सिद्धार्था हरिपीठे मङ्गलसिंहासने निक्षिप्ता ये सिता श्वेतवर्णास्ते परिवर्धिष्णुतया वर्द्धनशीलतया पुलकानां रोमाञ्चानामङ्कुल (र) का अंशा इवोत्थिता बभुर्विरेजुरित्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥९॥

सममाश्रममाविशन् गुरुप्रकृताज्ञानुकृताशिषोरुरु ।
शिरसीष्टरसो पुरोहितस्तिलकं स्रागलिखत्तरामितः ॥१०॥

सममित्यादि—पुरोहितः पुरुषः पुरोधा स तस्य भविष्यतो राज्ञः शिरसि गुरुणा पित्रा प्रकृता याऽऽज्ञा तथा नृभिरन्यलोकैः कृता दत्ताशीस्तयोर्द्वयोस्सममेव सहैवाश्रमं स्थानमाविशन्निव किलेष्टौ पूजायां रसोऽनुरागो यस्य स पुरोहितः स्राक् तदानीं शीघ्रमेवेतस्तस्य शिरसि स उरु विशालं तिलकं विशेषकमलिखत्तरां कृतवानित्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥१०॥

अर्थ—फेनिल–रीठाका जो सफेद पानी शिरसे बह रहा था, वह ऐसा जान पडता था मानो समस्त एनस्–पाप या दुराचरणको नष्ट करनेवाले मुखरूपी चन्द्रमासे अमृतका शुभ एव मनोहर झरना अनेक बार सकलित होनेपर भी प्रजाको सतुष्ट अथवा सुखी करनेके लिये बह चला हो ॥८॥

अर्थ—उस समय दृष्टि-दोष सम्बन्धी हानिके सम्पर्कसे रक्षा करनेवाले–बचानेवाले जो पीतसर्षप–पीले सरसों सिंहासनपर बिखेरे गये थे, वे वृद्धि स्वभावके कारण उठे हुए सफेद रोमाञ्चों अथवा माङ्गलिक–प्रवाङ्कुरोंके समान जान पड़ते थे ॥९॥

अर्थ—पूजामे अनुराग रखने वाले पुरोहितने होनहार राजाके मस्तकपर शीघ्र ही जो विशाल तिलक किया था, वह ऐसा जान पडता था मानों पिताकी आज्ञा और प्रजाजनोंके माङ्गलिक आशीर्वादोका सम्मिलित स्थान हो ॥१०॥

उपकुङ्कुममुप्तवान् बलादिह बीजानि सुतण्डुलच्छलात् ।
फलतूत्तलतुष्टिवल्लरीति तदा भालभुवीष्टिकृद्धरिः ॥११॥

उपकुङ्कुममित्यादि—इष्टिकृद्धरि पुरोहितः स उत्तरा श्रेष्ठा या तुष्टिरेव वल्लरी सा फलतु सफला भवतु किलेतीह भालभुवि ललाटक्षेत्रे बलात्प्रयत्नपूर्वकं तदा काले सुतण्डुकाना छलाद् बीजानि कुङ्कुममुप युज्योपकुङ्कुममुप्तवान् समारोपयामासेत्यनुप्रासश्चापह्नुतिश्च ॥११॥

धरणीभरणीतिसत्क्रियां प्रततां साम्प्रतभिन्धिकां प्रियाम् ।
धृतवान् धृतवानमुद्धनो मृदुमौलिच्छलतोऽस्य मूर्धनि ॥१२॥

धरणीत्यादि—धृत ललाटे निक्षिप्तं वान सौरभं तिलकात्मक यतो या मुत् प्रसन्नता तस्या धनी स्वामी जयकुमारः स साम्प्रतमधुनाऽस्य मूर्धनि अनन्तवीर्यस्य शिरसि मृदुमौलिच्छलत समधुरमुकुटव्याजेन धरण्या भूमेर्यो भरो गुरुतरो भारस्तस्य नीति. समुद्धरण तस्या. सत्क्रिया यस्या तां प्रततां विस्तृता प्रियामुचितामिन्धिकां भाराधारप्रक्रिया धृतवान्, यत स गुरुतरमपि भूभार सुखेनोद्वहेदित्यपह्नुतिश्चानुप्रासश्चालकार. ॥१२॥

हरिपीठगतः स राजतामनुकुर्वन् विशदांशुकस्तताम् ।
उदयाचलचुम्बिचन्द्रवत् कुमुदालम्बनलम्भनोऽभवत् ॥१३॥

हरिपीठगत इत्यादि—हरिपीठगतः सिंहासनस्थः सोऽनन्तवीर्यो विशदान्यंशुकानि वस्त्राणि यस्य सः, पक्षे विशदा निर्मला अंशवः किरणा यस्य सः, ततां विस्तृतां राजतां भूपालता पक्षे चन्द्रतामनुकुर्वन् स्वीकुर्वाण उदयाचलचुम्बिचन्द्रवत् पूर्वपर्वतस्थेन्दुरिव

अर्थ—प्रधान पुरोहितने अनन्तवीर्यके ललाटरूपी खेतमे कुङ्कुमका तिलक लगानेके बाद प्रयत्नपूर्वक चावल लगाये थे, मानो इस भावनासे कि यहाँ उत्कृष्ट सतोषरूपी लता फलीभूत हो ॥११॥

अर्थ—ललाटपर लगाये गये सुगन्धित तिलकसे प्रसन्नताका अनुभव करने वाले जयकुमारने अनन्तवीर्यके मस्तकपर मनोहर मुकुटके छलसे इस समय पृथिवीका भार धारण करनेकी नीतिको प्रकट करने वाली विस्तृत एव समुचित भारारोपण रूप क्रियाको संपन्न किया था ॥१२॥

अर्थ—सिंहासनपर स्थित **विशदांशुक**—श्वेतवस्त्रधारी (पक्षमे धवल किरणों-से युक्त) तथा विस्तृत **राजता**—भूपालता (पक्षमे चन्द्रता) को स्वीकृत करते हुए अनन्तवीर्य उदयाचलपर स्थित चन्द्रमाके समान **कुमुदालम्बनलम्भनः**—पृथिवी-

को: पृथिव्या अर्थात् प्रजाया या मुत्तस्या आलम्बनं पक्षे कुमुदानां रात्रिविकासिकमलानामालम्बनं तस्य लम्भन: समाधारोऽभवत् सम्बभूवेत्युपमालंकार: ॥१३॥

सुतरामुत राज्यसम्पदः समितायाः स मुदश्रुसंविदः ।
जरतीकरतीर्थलम्भितान् भरति स्म द्रुतमक्षतान् हितान् ॥१४॥

सुतरामित्यादि—उतायवा सुतरां स्वत एव समितायाः समागताया राज्यसम्पदो मुदो हर्षस्याश्रूणि नयनजलानि तेषां सविदो बुद्धयो यत्र तान् जरतीनां वृद्धानां करावेव तीर्थं तेन लम्भितागत एव हितान्मङ्गलकरानक्षतान् द्रुतमेव भरति स्माङ्गीचकारेत्युत्प्रेक्षा ॥१४॥

समभान्मृदुकेशलक्षणं प्रति राहुं हसदाप्रदक्षिणम् ।
शशिबिम्बमिवातपत्रकं भवतः प्राभवतः किलानकम् ॥१५॥

समभादित्यादि—मृदुकेशनिवेशं नाम राहुं प्रति आप्रदक्षिणं घूर्णमानतया हसत् तदातपत्रं छत्रं भवतस्तस्य प्रभोर्भावः प्राभवं प्रभुत्वं ततः किलानकं निरुपद्रवं शशिनो बिम्बमिव समभात् सम्बभौ किलेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

सुरसिन्धुरसिञ्चवेव तं नृपतीनामवतीर्य दैवतम् ।
प्रतिपन्नवतीवसम्भवाद्विलसच्चामलसम्पदः पवात् ॥१६॥

तत्स्थ प्रजाके हर्षके आधार (पक्षमे रात्रिविकासी कमलोके विकासके आधार) हुए थे ॥१३॥

अर्थ—जो स्वय प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मीके हर्षाश्रुओके समान जान पडते थे, ऐसे वृद्धा स्त्रियोके हस्तरूपी तीर्थसे प्राप्त हितकारी अक्षतोको राजा अनन्तवीर्यने अच्छी तरह स्वीकृत किया।

भावार्थ—वृद्धा स्त्रियोने अपने हाथोसे उनपर आशीर्वादात्मक अक्षत-वर्षाये ॥१४॥

अर्थ—जो प्रत्येक प्रदक्षिणामे कोमलकेश नामक राहुकी मानो हँसी कर रहा था तथा उत्पन्न होने वाले प्रभुत्वसे जो निरुपद्रव था, ऐसा उनका छत्र चन्द्रबिम्बके समान जान पडता था।

भावार्थ—राजा अनन्तवीर्यके मस्तकपर जो श्वेत छत्र लगाया गया था, वह उस चन्द्रबिम्बके समान जान पड़ता था जो अपने प्रतिद्वन्द्वी राहुको मानों हँसी ही उड़ा रहा है। यहा काले केशोंमे राहुका आरोप किया गया है ॥१५॥

सुरसिन्धुरित्यादि—सुरसिन्धुराकाशगङ्गा सा तमनन्तवीर्यं नृपतीनां वैवत-मधिनायकं प्रतिपन्नवतीव जानतीव सम्मदाद्धर्षवशाद्विलसतां चलता चामला(रा)-नां या सम्पच्छोभा तस्या पदाच्छलादवतीर्य समागत्य सैवाभिषिक्तवदित्यपह्नुतिः ॥१६॥

स्वजनोपहृताऽतिविस्तृताऽमलमुक्ताफलभाजनैस्तता ।
धवमाप्य नवं नु शम्फली सहसाभूत्सहसा तदा स्थली ॥१७॥

स्वजनोपहृतेत्यादि—स्थलीयमवनिः सैव शम्फली वा सम्भली वा विलासिनी तदा काले स्वजनैः प्रजाजनैरुपहृतानि उपहारमानीतान्यतिविस्तृतानि, अतस्ततो धृतानि अमलाना निर्दोषाणां मुक्ताफलानां मौक्तिकानां भाजनानि तैः सहसाऽकस्मादेव तता व्याप्ता सती नवं नवीन धवं स्वामिनमाप्य लब्ध्वा सहसा हसेन हास्येन सहिताऽभूत् । नु वितर्के । उत्प्रेक्षालंकार. ॥१७॥

जयवारयवारसम्पदा परिषत् सा परिसंचरन्मदा ।
मृदुलोमदलोमयाञ्चिता नवराजः सवराजसान्मिता ॥१८॥

जयवारेत्यादि—तदा सा परिषत् सभा नवश्चासौ राट् चेति नवराट् तस्य नवीन-भूपस्य सवराजो राज्याभिषेकस्तत्सास्तस्य सम्बन्धान्मिताऽनुगृहीतातः परिसंचरति विस्तार-मेति मदो हर्षो यस्या सा सती जयवारा जयस्य संसूचका ये यवारा मङ्गलाङ्कुरास्तेषां सम्पदा शोभया मृदूनां लोम्नां दलस्य समूहस्योमा शोभा तयाञ्चिताऽभूत् । उत्प्रेक्षानु-प्रासश्चालंकार ॥१८॥

सुभगा शुभगान्विकार्पितपिचुका संक्रमतो द्विषाठिजतः ।
विरवस्फुरदङ्कुरास्पदाऽभवदेवं भवतः सभा तदा ॥१९॥

अर्थ—आकाशगङ्गाने अनन्तवीर्यको मानो राजाओंका अधिनायक स्वीकृत किया था, इसलिये निर्मल चामरोंकी शोभाके छलसे उसीसे हर्षपूर्वक उनका अभिषेक किया था ॥१६॥

अर्थ—उस समय प्रजाजनोके द्वारा उपहारमे लाये हुए मुक्ताफलोंके निर्मल पात्रोंसे व्याप्त विस्तृत भूमि रूपी विलासिनी स्त्री नूतन पतिको प्राप्त कर अकस्मात् ही क्या हँसने लगी थी ॥१७॥

अर्थ—जिसमे सब ओर हर्ष छाया हुआ था, ऐसी नवीन राजाके अभिषेक-सम्बन्धी वह सभा विजयसूचक मङ्गलाङ्कुरोंकी शोभासे ऐसी प्रतिभासित हो रही थी, मानो कोमल रोमाञ्चसमूहकी शोभासे ही सहित हो रही हो ॥१८॥

सुभगेत्यादि—द्विषाञ्जितः शत्रुनाशकस्य भवतोऽनन्तवीर्यस्य सभा तदा संक्रमतोऽनुक्रमरूपेण शुभेन सरलचित्तेन गान्धिकेन गन्धदायकेनार्पिताः पिचुका गन्धप्रदतूलांशा यस्यां सा चिरवस्य यशसः स्फुरन्तो येऽङ्कुरास्तेषामास्पदं स्थानं यत्र सा किलेवं सुभगा भाग्यवत्यभवद् बभूवेत्युत्प्रेक्षानुप्रासश्चालङ्कार ॥१९॥

अथ दृक्पथ एव संकथः खलु नः पल्लवितो मनोरथः ।
प्रभवे नृभवे च सम्मदादिति ताम्बूलदलानि कोऽप्यदात् ॥२०॥

अथेत्यादि—अथ कोऽपि जनोऽस्मिन् नृभवे मनुष्यजन्मनि नोऽस्माकं समीचीना कथा यस्य स संकथो मनोरथोऽन्तरङ्गाभिप्रायोऽस्मै प्रभवे नवीनाय भूपाय नोऽस्माकं दृक्पथ एव सम्मुखत एव पल्लवितो जात इत्येव सूचयन्नेव खलु ताम्बूलस्य दलानि अदात् दत्तवान् । अत्राप्युत्प्रेक्षानुप्रासश्चालंकारः ॥२०॥

अवतारयति स्म हृत्तु न शशिनो बिम्बवदुन्नयन् पुनः ।
अमुकाननशाननन्दनं शुचि नीराजनभाजनं जनः ॥२१॥

अवतारयतीत्यादि—जनः कोऽपि मनुष्य पुनरिदानीं शशिनश्चन्द्रस्य बिम्बवच्छुचि निर्मलं यन्नोऽस्माकं हृच्चित्तं तु किलेति नीराजनभाजनमारार्तिकं यदमुकस्य राज्ञोऽनन्तवीर्यस्य यदाननं तस्य शानं रुचिदलं तस्य नन्दनं समृद्धिकरं तदिव वा नन्दनमानन्दायकं तदुद्यन्नवतारयति स्मेत्युपमानुप्रासश्च ॥२१॥

प्रमितं शमितस्मना नवमगदं सन्नगदर्शनोत्सवम् ।
वचनं स च नर्महेतवे समयज्ञस्तुज आजवं जवे ॥२२॥

अर्थ—उस समय शत्रुविजयी माननीय राजा अनन्तवीर्यकी वह भाग्यशालिनी सभा जिसमे कि शुभ गन्धदायक लोगोके द्वारा अनुक्रमसे इत्रकी फुइया वितरणकी जा रही थी, ऐमी जान पडती थी मानो यशके शोभायमान अङ्कुरोंका स्थान ही बन गई हो ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर किसी मनुष्यने इस मनुष्य भवमे नवीन राजाके लिये समीचीन कथासे युक्त जो हमारा मनोरथ था, वह सम्मुख ही पल्लवित–विकसित हो गया, यह सूचित करते हुए मानो हर्षसे सबको पान दिये ॥२०॥

अर्थ—हमारा हृदय चन्द्रबिम्बके समान उज्ज्वल है, यह प्रकट करते हुए किसी मनुष्यने राजा अनन्तवीर्यके मुखकी कान्तिको बढाने वाला उज्ज्वल आरतीका पात्र उठाकर आरती उतारी ॥२१॥

प्रमितमित्यादि—शमिषु शमधारकेषु यतिषु तन्मना संयमधारणेच्छावानसौ जय-कुमारः स तुजे पुत्राय तस्मायनन्तवीर्यायाजवंजवेऽस्मिन् संसारे नर्महेतवे कल्याणकारणा-यागदं औषधमिव नव प्रशंसायोग्य नूतनं समीचीनस्य नगस्य रत्नस्य दर्शनेनोत्सव इवो-त्सवो येन तत्प्रमितमनधिक वचनं समयच्छद्ददौ । अनुप्रासोऽलंकार ॥२२॥

अपि केन न वीक्ष्यते रविः शशिनीत्थं वशिनिन्दितो भवी ।
जनतावनतानसन्दिशो वयमेतद्द्वयमेचकाः शिशो ! ॥२३॥

अपि केनेत्यादि—हे शिशो ! वत्स ! शृणु रविर्यं एकान्तप्रचण्ड. स केनापि न वीक्ष्यते तस्य दिशि कोऽपि द्रष्टु नाभिवाञ्छति तथा शशिनि सदा शान्तावस्थे सति भवी शरीरधारी जनः स वशिभिः संयमधारिभिर्निन्दितो घृणिताचरणो भवति । वय तु जन-ताया अवनस्य संरक्षणस्यानन्दस्य च योऽसौ तानो विस्तारस्तस्य सन्दिशा सन्देशदायका भवामस्तस्मादेतयोः सूर्यचन्द्रमसोर्द्वयेन सम्मिश्रणेन मेचका. कदाचिदुग्रप्रकृतिषु सूर्यवत्प्र-चण्डरूपा. पुनर्विनीतेषु जनेषु चाह्लादनाकारा भवामः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२३॥

जनतां च नतां समाश्वसेः स्वमनस्यम ! नैव विश्वसेः ।
नटवत् तटवर्तिदृक्तया रहितो हर्षविमर्षसृक्तया ॥२४॥

जनतामित्यादि—हे अम ! निष्पाप ! शृणु, क्वचिदपि हर्ष. प्रसन्नभावो विमर्षश्च

अर्थ—जिनका मन मुनियोमे लग रहा था, ऐसे जयकुमारने पुत्र अनन्तवीर्य-के लिये संसारमे कल्याण प्राप्तिके उद्देश्यसे समीचीन रत्नके दर्शनके समान आनन्द देनेवाले नवीन औषधके समान हितकारी सीमित वचन प्रदान किये—संक्षिप्त उपदेश दिया ॥२२॥

अर्थ—हे वत्स ! सूर्य किसीके द्वारा नही देखा जाता, अर्थात् तेजस्विताके कारण उसकी ओर कोई नही देखता तथा सदा शान्तावस्थामे रहने वाले चन्द्रमा-के विषयमे मनुष्य घृणित आचरण वाला हो जाता है, अतः जनताकी रक्षाका सन्देश देनेवाले हमलोग चन्द्रमा और सूर्यके सम्मिश्रण भावको प्राप्त हैं।

भावार्थ—जो राजा सूर्यके समान एकान्तसे तेजस्वी रहता है, प्रजा उससे भयभीत रहनेके कारण लाभ नही उठा पाती और जो राजा चन्द्रमाके समान सदा शान्त रहता है, उसकी ओर से प्रजा निर्भय हो स्वच्छन्द हो जाती है। यतश्च हमलोग प्रजाकी रक्षाका सन्देश देनेवाले हैं, अतः न तो सर्वथा उग्र नीति-को अपनाते हैं और न अत्यन्त शान्त नीतिको स्वीकृत करते हैं ॥२३॥

अर्थ—हे निष्पाप ! हर्ष और विषादकी रचने वाली दृष्टिसे रहित हो

सद्विपरीतस्तौ सुजतीति सृक् तस्या रहितः सन् नटवन्नृत्यकारकमत्यंवत्तटवर्तिवृत्तया मध्यस्थवृत्त्या निश्वसन् नतां सदाचारधारिणीं विनीतां जनतां समाश्वसे आश्वासनेन सम्भावये, किन्तु विश्वसेस्तु स्वमनस्यपि नैवापरस्य तु पुन का वार्ता ? न जाने कदा कीदृशी दशा स्यादिति। अनुप्रासोऽलंकार. ॥२४॥

स्वयमन्तरितांस्तु शल्यवज्जय युक्त्यैव मदादिकान् ध्रुवम्।
अरिमग्निमिवोपतापकं जलवत् तूद्दलनाश्रयः स्वकम् ॥२५॥

स्वयमित्यादि—हे अय ! त्वमन्तरितानन्तरङ्गतः सगतान् मदादिकानरीन् स्वयं शल्यवत् कण्टकवद्युक्त्यैव ध्रुवमवश्यमेव जय निवारय, किन्त्वग्निमिवोपतापकं बहिरुप-द्रवकरतया प्रजासु विप्लवभूततया वा सन्तापकरमरिं स्वकं तु पुनर्जलवदुद्दलनाश्रय उद्रिक्त बलयुक्त सम्भवन् संस्तथा जय निराकुरुपेक्षां मा कुरु। उपमालकारः। कामक्रोध-मदमात्सर्यालस्यादयोऽन्तरिता. शत्रव ॥२५॥

प्रकृतीरनुरन् जयजयन् द्विषतो भद्र ! सतो मुदं नयन्।
प्ररुजोऽङ्गज ! राजयक्ष्मणः पृथिवीं रक्ष विपक्षलक्ष्मणः ॥२६॥

प्रकृतीरित्यादि—हे भद्र ! त्वं प्रकृतीरमात्यादीन् राजवर्गीयान् जनाननुरञ्जयन्

तटस्थ वृत्तिसे विनीत जनताको आश्वसित करना चाहिये—सदा उत्साहित करना चाहिये, परन्तु विश्वास करते समय अपने हृदयका भी विश्वास नही करना चाहिये, फिर अन्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है। विश्वासके विषयमे नटके समान चेष्टा होना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार नृत्य करनेवाला सबकी ओर देखता है, जिससे दर्शक समझता है कि यह हमारी ओर देख रहा है, पर वास्तवमे वह किसी एककी ओर नही देखता। इसी प्रकार राजाको ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे लोग समझें यह मुझसे प्रसन्न हैं, परन्तु वास्तवमे उसकी प्रसन्नता किसी एककी ओर नहीं रहती ॥२४॥

अर्थ—शल्यकी तरह अन्तर्गत मदादि शत्रुओको तुम निश्चित ही युक्ति द्वारा स्वय जीतो—उनपर विजय प्राप्त करो और अग्निके समान बाह्यमे सताप करनेवाले शत्रुको तुम प्रचण्ड शक्तिसे युक्त होते हुए जलको तरह स्वयं नष्ट करो ॥

भावार्थ—जिस प्रकार जल अग्निको समूल नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम विप्लवकारी शत्रुको बलपूर्वक स्वयं नष्ट कर दो, उपेक्षा न करो ॥२५॥

अर्थ—हे भद्र पुत्र ! मन्त्री आदि राजकीय वर्गको प्रसन्न करते हुए,

यथाशक्ति समनुकूलान् कुर्वन्, किन्तु द्विषतो वैरिणो विरुद्धं व्रजतो वा जयन् निवारयं-स्तथा सतो नीतिमार्गानुगामिनो जनान् मुदं नयन् प्रसन्नान्कुर्वन्नेवंरीत्या हे अङ्कुश ! विपक्षः सशत्रुसमुत्पाद एव लक्षणं यस्य ततो राजयक्ष्मणो नाम प्रसिद्धात्तस्मान्नाश-कारकात्प्ररुजो रोगात् पृथिवीं रक्ष सम्भालयेत्यनुप्रासोऽलंकार ॥२६॥

श्रुतमाश्रुतमात्रकं सकः प्रवहन्नञ्जलिनाऽलिनाशकः ।
निजमूर्ध्नि जवेन तीर्थत स्वमतः पूततमं त्वमन्यत ॥२७॥

श्रुतमित्यादि—सकोऽनन्तवीर्यो योऽलि(रि) नाशक शत्रुसंहारकारक स श्रुत-मिद गुरुसूक्तमाश्रुतमात्रकमेव तत्कालमेव मुखान्निर्गतसमय एव जवेन वेगेनाञ्जलिना करसंपुटेन निजमूर्ध्नि स्वकीये मस्तके प्रवहन् सन्नतस्तीर्थतस्तु पुन स्वमात्मानं पूत-तममत्यन्तपवित्रममन्यतेत्यनुप्रासोऽलंकारः ॥२७॥

परिपीय हितोपदेशितं सहसा स्वस्थतया स्थितेऽन्वितम् ।
इह वन्दिजनस्य चाऽभवज्जय नन्देति वचोऽपि पथ्यवत् ॥२८॥

परिपीयेत्यादि – अन्वितमनुकूलतया समागतमिदमुपर्युक्त हितेन गुरुणोपदेशितं सहसौषधवत् परिपीय यथेष्टं पीत्वा सहसा स्वस्थतया निराकुलभावेन स्थिते सति तस्मिन्ननन्तवीर्ये नवीनभूपे तवेह वन्दिजनस्य मागधवर्गस्य जय नन्देत्येवमादिवचोऽपि पथ्यवदभवत् । उपमालंकार. ॥२८॥

शत्रुओको जातते हुए और नीतिमार्गानुगामो सज्जनोको हर्ष प्राप्त कराते हुए तुम शत्रु नामक राजयक्ष्मा–टी० बी रोगसे प्रजाकी रक्षा करो ॥२६॥

अर्थ—शत्रुओका नाश करने वाले राजा अनन्तवीर्यने पिता–जयकुमारके द्वारा उपदिष्ट श्रुतको सुननेके साथ ही शीघ्र अञ्जलि द्वारा अपने मस्तक पर धारण किया और तीथस्वरूप उस श्रुत–उपदेशसे अपने आपको अत्यन्त पवित्र माना ।

भावार्थ—पिताके उपदेशको अनन्तवोर्यने हाथ जोड मस्तकसे लगाकर स्वोकृत किया और अपने आपको कृतकृत्य माना ॥२७॥

अर्थ—इसप्रकार हितकारी जयकुमारके द्वारा उपदिष्ट अनुकूल उपदेशको औषधके समान शीघ्र पीकर जब राजा अनन्तवीर्य स्वस्थताका अनुभव करने लगे, तब यहाँ वन्दिजनोके 'जय, नन्द, वर्धस्व' आदि वचन पथ्यके समान प्रकट हुए ॥२८॥

भयविस्मयसंरसाद् रसाऽऽपतिता प्रेतपतेरिवाऽत्र सा ।
कथितासिलता तपोभृताऽभ्युपगम्यास्य करेऽर्पिता सता ॥२९॥

भयेत्यादि—अत्र सता तपोभृता तपोऽङ्गीकर्तुमिच्छता जयकुमारेणाभ्युपगम्य समादायास्यानन्तवीर्यस्य करेऽर्पिता दत्ता सा भय च विस्मयश्च तयोः सरसावधिकारादापतिता प्रेतपतेर्यमराजस्य रसा जिह्वेव कथिताऽसिलता खड्गवृत्तिरित्युत्प्रेक्षालंकार ॥२९॥

प्रतियच्छत भो यथोचितामिह सन्मातृपदे नियोजिताः ।
सचिवाः शुचिवाचमास्पदे रुचिमानेष यतोऽस्तु नापदे ॥३०॥

प्रतियच्छतेत्यादि—भो सचिवा इह यूयं सन्मातृपदे पालनपोषणकरो मातेत्यर्थरूपे समीचीने नियोजितास्ततो यथोचितामवसरयोग्यां शुचिवाचमस्मै प्रतियच्छत संवदत यत एव आस्पदे स्थान एव रुचिमानस्तु तथा नापदेऽनुचिते स्थाने कदापि रुचिमान्नास्तु भवतु । अनुप्रासोऽलंकार ॥३०॥

प्रभवेन्नृभवेऽयमुत्थितः स्ववृषे शुद्धिवृशेऽथवा चितः ।
न यतोऽस्तु किलाघचर्वणं प्रचराथर्वण तद्धि कार्मणम् ॥३१॥

प्रभवेदित्यादि—हे अथर्वण ! पुरोहित ! त्वमपि तद्धि कार्मणं क्रियानुष्ठानं प्रचर यतोऽयमघस्य पापस्य चर्वणं मास्तु नृभवेऽस्मिन्नसुलभे मनुष्यजन्मनि स्ववृषे स्वोचिते धर्मे कर्तव्ये किलोत्थितः कटिबद्धस्सन् चितो बुद्धेः शुद्धिवृशे शुद्धेर्निर्दोषताया वृशे गवेषणार्थे प्रभवेत् समर्थो भूयादिति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३१॥

अर्थ—तपको धारण करने वाले सज्जन जयकुमारके द्वारा स्वय लेकर राजा अनन्तवीर्यके हाथमे सौपी गई तलवार ऐसी जान पडती थी, मानो भय और विस्मयके अधिकारसे यमराजकी जिह्वा ही यहाँ आ पड़ी हो ॥२९॥

अर्थ—जयकुमारने मन्त्रियोको सबोधित करते हुए कहा कि हे मन्त्रियो ! आप समीचीन मातृपद–माताके स्थानपर नियुक्त किये गये है, अतः उज्ज्वल वचन इसके लिये देवे जिससे यह योग्य स्थानमे रुचिमान् हो, अपद–अनुचित स्थानमे रुचिमान् न हो ॥३०॥

अर्थ—निवर्तमान राजा जयकुमारने सबोधित करते हुए कहा कि पुरोहित जी ! पापको नष्ट करनेवाला वह अनुष्ठान आप करे, जिससे यह दुर्लभ मनुष्य भवमे अदा आत्मधर्ममे कटिबद्ध रहे अथवा आत्मशुद्धिकी खोजके लिये समर्थ रहे ॥३१॥

सुभटाः शुभतारतम्यतः प्रकृतं पश्यत साम्प्रतं यतः ।
प्रभवत्सु भवत्सु सम्भवेत् सुदृढं स्तम्भगसौधवद् भवे ॥३२॥

सुभटा इत्यादि—भो सुभटा ! यूयं साम्प्रतं शुभस्य तारतम्यतः प्रकृतं राज्यं पश्यत यतो भवत्सु प्रभवत्सु समर्थेषु भवेऽस्मिन् संसारे स्तम्भगसौधवत् प्रकृतं राज्यं सुदृढं सम्भवेत् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३२॥

इति वः प्रतिवर्मयुक्तये परिगन्तास्म्यहमत्र मुक्तये ।
विनतोऽस्मि पुरापयुक्तये ह्यनुमन्यध्वमबन्धयुक्तये ॥३३॥

इति व इत्यादि—इत्येवंरूपतो वो युष्माकं वर्म वर्म प्रतिवर्मं स्वस्वकर्तव्यानुकूलं युक्तये स्वयं चात्र मुक्तयेऽहं परिगन्तास्मि विनिवेदयिता भवामि । तत एव पुनः पुरा पूर्वकाले या काचिदपयुक्तिर्जाता मत्तोऽनुचिता वार्ताऽभूत् तस्यै विनतोऽस्मि क्षमाप्रार्थी भवामि यूयमतोऽबन्धस्य युक्तये बन्धविच्छित्तयेऽनुमन्यध्वमनुमतिप्रदानं कुरुध्वं हीति निश्चयेन ॥३३॥

इति तन्मितितत्त्ववद्वचः परिपीयाऽरिपिपत्रवन्न च ।
किमु तत्र सभाजने पुनः स्थितिरन्यैव बभूव वस्तुनः ॥३४॥

इतीत्यादि—इति पूर्वोक्तरूपेण तस्य जयकुमारस्य मितितत्त्ववद् गार्हस्थ्यजीवनसमाप्तिरूपं वचोऽरिपिपत्रवत् निरक्षरसमाचारवत् परिपीयानुभूय तत्र सभाजने पुनर्वस्तुन स्थितिश्चान्यैवाऽवाक्परिणमनरूपा किमु न बभूवापि त्वभूदिति काकूक्तिरर्थात् किंचित्कालं सर्वेऽपि तूष्णीं जाताः । अनुप्रासश्चालंकारः ॥३४॥

अर्थ—सैनिकोको सबोधित करते हुए कहा कि हे सुभटों ! अब आप लोग इस राज्यको अपने शुभ भावोंके तारतम्यसे इस प्रकार देखे कि जिससे आप लोगोके समर्थ रहते हुए यह राज्य उत्तम स्तम्भो पर स्थित प्रासाद-महलके समान सुदृढ रह सके ॥३२॥

अर्थ—निवर्तमान राजा जयकुमारने कहा कि आप लोग अपने अपने कर्तव्य पालनकी योजनाके लिये तत्पर रहे। मैं यहाँ मुक्ति प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हूँ। पूर्वावस्था-राज्य सचालनके समय यदि मुझसे कुछ अनुचित बात हुई तो मैं उसके लिये विनम्र हूँ, क्षमा प्रार्थी हूँ। आप मुझे अबन्धयुक्ति-बन्धरहित अवस्था प्राप्त करनेके लिये अनुमति प्रदान करें ॥३३॥

अर्थ—इस प्रकार जयकुमारके गार्हस्थ्यनिर्वृत्तिपरक वचनको मूक समाचारके समान पीकर-सुनकर समाजनोमे क्या वस्तुकी स्थिति अन्य रूप नहीं हो

क्व समिष्टविशिष्टपारणा क्व च तन्निष्ठघनिष्ठधारणा ।
द्वितयेऽपि चयेऽर्पिता श्रिया खलु दोलायितमङ्गिनां धिया ॥३५॥

क्वेत्यादि—क्व तु समिति पूर्णरूपेणेष्टोऽनन्तवीर्यनामराजा तेन विशिष्टा पारणा किलोपवासानन्तर भुक्तिरिव सन्तृप्तिरूपा, क्व च पुनस्तन्निष्ठा जयकुमारहृदयस्था घनिष्ठा कष्टसाध्या किन्त्वनिवार्यरूपा धारणा बुद्धिरुपवासात् पूर्वं तन्निर्धारणरूपा स्थितिर्वा तयोर्द्वितयेऽपि चये समुपस्थितेऽर्पिता प्ररूपिता श्रीः शोभा यया, तयाऽङ्गिनां धिया बुद्धया खलु दोलायितम् ॥३५॥

जगतस्तु सबाधकार्यतां नितरां स्वैरितरां तथार्यताम् ।
अवधार्य च कार्यकोविदाः समिताः किन्तु रहस्यसंभिदा ॥३६॥

जगत इत्यादि—किन्तु ये कार्ये कर्तव्ये कोविदा विद्वांसस्ते जगतोऽस्य संसारस्य बाधासहितमेव भवति कार्यं यस्य तत्तां सबाधकार्यतां तथार्यतां महापुरुषता पुनर्नितरा-मत्यन्तमेव स्वैरितरां स्वस्यैवाधीनां केरप्यन्यैरन्यथा कर्तुमशक्यामित्यवधार्य विनिश्चित्य रहस्यस्य गोप्यस्यान्तस्तत्त्वस्य संभिदा भेदनेन यद्वा संविदा समीचीनज्ञानेन समिता-स्तटस्थता गताः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३६॥

पदयोः सवयोपयोगिनः परिपेतुर्निखिला नियोगिनः ।
वचसा न च साक्षिणोऽप्यमी जयतावेव भवादृशो यमी ॥३७॥

गई थी ? अवश्य हो गई थी। तात्पर्य यह है कि उनके गृहत्याग रूप वचनको सुनकर सभामे सन्नाटा छा गया—सब लोग चुप हो गये ॥३४॥

अर्थ—कहाँ अत्यन्त इष्ट अनन्तवीर्यकी पारणा–उपवासके पश्चात् होने वाली भुक्तिसम्बन्धी तृप्ति और कहाँ जयकुमारके हृदयमे स्थित उपवासकी धारणा, इन दोनोंके बीचमे स्थित लोगोकी बुद्धि दोलाके समान आचरण कर रही थी।

भावार्थ—एक ओर अनन्तवीर्यके राज्यप्राप्तिका हर्ष और दूसरी ओर जयकुमारके वियोगका दुःख, दोनोंके बीच मनुष्योकी बुद्धि चञ्चल हो रही थी। हर्ष मनाया जावे या विषाद, इसका निर्णय लोग नही कर पा रहे थे ॥३५॥

अर्थ—किन्तु कार्य करनेमे निष्णात मनुष्य 'जगत्के सब कार्य बाधासे सहित हैं, तथा महापुरुषोंकी पूज्यता अत्यन्त स्वाधीन है—किसीके द्वारा अन्यथा नही की जा सकती, ऐसा निश्चय कर आत्मतत्त्वके प्रकट अथवा ज्ञात होनेसे तटस्थताको प्राप्त हो गये ॥३६॥

पदयोरित्यादि—निखिला अपि नियोगिनोऽमात्यादयस्ते वचसा न च साक्षिणोऽपि न किमप्युक्तवन्तोऽपि भवादृशो यमी संयमधरो जयतादेव सफलतां यातु किलेति सूचयन्तोऽमी सदयो दयया सहित उपयोगो मनोविचारस्तद्वतः पदयोश्चरणो. परिपेतुर्निपतन्ति स्मेत्यनुप्रासोऽलकारः ॥३७॥

तनयाभिषवोत्सवक्रिया नृपतेर्निर्गमसम्भवद्धिया ।
गरलोत्तरलड्डुभुक्तिवदभवत् सभ्यजनाय पक्तिभृत् ॥३८॥

तनयेत्यादि—नृपतेर्जयकुमारस्य निर्गमो गृहत्यागस्ततः सम्भवन्ती या ह्रीस्त्रपाऽनिच्छारूपा तया सहिता या तनयस्यानन्तवीर्यस्याभिषेवोत्सवक्रिया राज्याभिषेकवृत्तिः सा सभ्यजनाय सभास्थितवर्गाय पक्तिभृत् परिणामवती गरल विषमुत्तरं यस्या. साऽसौ लड्डुभुक्तिर्मोदकभक्षणक्रिया तद्वदभवत् सहर्षविषादवती बभूव । उपमालंकारः ॥३८॥

अदयं हृदयं च योगिनां परिगीयेत गुणानुयोगिनाम् ।
परिदेविनि दूयते न वा निजबन्धौ ममता महोजयत् ॥३९॥

अदयमित्यादि—अहो गुणेषु क्षमाधैर्यादिषु अनुयोगस्तल्लीनता तद्वता योगिनां महात्मनां चापि हृदय मनोऽदयं दयारहितमेव परिगीयेत किलोच्येत यत् किलममता मोहपरिणतिं जयद् विनाशयत् सत् परिदेवनमेव परिदेवस्तद्वति परिदेविनि विलापवति निजबन्धौ कुटुम्बिनि न दूयते द्रवीभवति । 'विलाप. परिदेवनम्' इत्यमरः । अनुप्रासोऽलंकार. ॥३९॥

अर्थ—मन्त्री आदि समस्त नियोगी पुरुष वचनसे कुछ नही कहते हुए भी यह सूचित कर रहे थे कि आप जैसे सयमी पुरुष जयवन्त होते हो हैं—कर्मशत्रुओ पर विजय प्राप्त करते हैं। ह । चुपचाप यह सूचित करते हुए वे दयालु हृदय वाले जयकुमारके चरणोमे पड़ गये ॥३७॥

अर्थ—राजा जयकुमारके गृहत्यागसे होने वाली लज्जाके कारण पुत्र—अनन्तवीर्यके राज्याभिषेक सम्बन्धी उत्सवकी क्रिया सभ्य जनोके लिये उस मोदकभुक्ति-लड्डू-भुक्तिके समान हुई, जिसमे खानेके बाद विषरूप परिपाक होता है । तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य राज्याभिषेककी सभामे उपस्थित थे, उन्होने पहले हर्षका अनुभव किया पश्चात् विषाद का ॥३८॥

अर्थ—आश्चर्य है कि क्षमा, धैर्य आदि गुणोमे तल्लीनता रखने वाले योगियो-साधुओ अथवा महात्माओका हृदय निर्दय कहा जा सकता है, क्योकि ममताको जीतने वाला उनका हृदय निज कुटुम्बीजनोके विलाप करने पर भी द्रवीभूत नही होता ॥३९॥

जनलोचनशुक्तिसन्ततौ विदिते स्वातिहिते महीपतौ ।
श्रुतयाऽश्रुतया किलाभवविह मुक्ताफलतास्रवो नवः ॥४०॥

जनलोचनेत्यादि—महीपतौ जयकुमारे स्वस्यैवातिहितमन्यानुपेक्ष्यात्मसाधनं यस्य तस्मिंस्तादृशि विदिते सति स्वातिनामनक्षत्रवद्धिते सति जनानां लोचनान्येव शुक्तयो मुक्तामातरस्तासां सन्ततौ परम्परायामिह श्रुता विख्याताऽथवा स्रुता समुद्भूता याश्रूणां नयनजलाना समूहोऽश्रुता तया नवो नवीनो मुक्ताफलताया मौक्तिकौघस्य यद्वा जन्मसफलताया आश्रव प्रतिज्ञालेशोऽभवत । अनुप्रासो रूपकश्चालंकार. ।।४०।।

गजवत् सजवं विबन्धनः स्फुरिताशो दुरितानिबन्धनः ।
अपरायपरायणस्तथा वनमानन्दनमभ्यगात् पथा ॥४१॥

गजवदित्यादि—स उपर्युक्तो महीपतिरपरो योऽसावाय स्वाधीनवृत्तिभावस्तस्मिन् परायणो निरतस्तथा दुरितस्य दुश्चेष्टितस्य निबन्धन हेतुत्व नास्ति यस्य स दुरितानिबन्धनस्तथा स्फुरिता विकासमिताऽऽशा स्वाभिलाषा यस्य स , विबन्धन बन्धनेन गार्हस्थ्यरूपेण निगडरूपेण च रहितो गजवत् करी भवति यथा तथाऽसौ पथा मार्गेण सजवमविलम्ब यथा स्यात्तथाऽऽनन्दनं प्रसन्नतादायक वनमभ्यगाज्जगामेत्युपमा चानुप्रासश्चालंकार ॥४१॥

अर्थ—राजा जयकुमार जब स्वातिहित–आत्मसाधना रूप हित (पक्षमे स्वाति नक्षत्र) रूपसे प्रसिद्ध हुए तब जनसमूहके लोचनरूपी सीपोके समूहसे जो अश्रुसमूह निकल रहा था, उससे मोतियोका नवीन नि सरण हो रहा था।

भावार्थ—राजा जयकुमारके गृहत्यागके लिये उद्यत होने पर लोगोके नेत्रोंसे जो आँसू टपक रहे थे, वे ऐसे जान पडते थे मानो सीपोसे मोती ही निकल रहे हो, क्योकि स्वाति नक्षत्रमे पानीकी जो बूंद सीपमे पडती है वह मोती रूपमें परिणत हो जाती है। राजा जयकुमार स्वय स्वातिहित–अपना ही अत्यधिक हित चाहने वाले (पक्षमे स्वाति नक्षत्ररूप) थे, मनुष्योके नेत्र सीप थे और उनसे निकलने वाली आँसुओकी बूँदे मोती थे ॥४०॥

अर्थ—स्फुरिताशः–जिनकी दीक्षाधारण रूप अभिलाषा पूर्ण रूपसे विकसित हो चुकी है, जिनकी प्रवृत्ति पापचेष्टाओका कारण नही हैं, जो स्वाधीन वृत्तिकी प्राप्तिमे तत्पर है और जिनका गृहस्थी सम्बन्धी बन्धन टूट चुका है, ऐसे जयकुमार बन्धनरहित हाथीके समान शीघ्र ही योग्य मार्गसे आनन्ददायक वनकी ओर चल पड़े ॥४१॥

कुरुराट्पुरुराडुपाश्रयं परमार्थी परमाप्तवानयम् ।
निधिवद् विधिबन्धुरोदयी समभूत्तेन तदा मुदन्वयी ॥४२॥

कुरुराडित्यादि—परमोऽर्थोऽपवर्गलक्षणो यस्य स परमार्थी कुरुराडयं प्रकरणगतो जयकुमार परमुत्कृष्टं पुरुराजो नाभेयस्योपाश्रय समवसरणनामानं निधिवन्निधानमिव वाञ्छितकारकमाप्तवान् यतो विधेर्देवस्य बन्धुरो रमणीय उदयो यस्य स विधिबन्धुरोदयी ततः स तेन तदा समवसरणलोकनेन मुदन्वयी प्रसन्न समभूत् । उपमानुप्रासश्चालंकारः ॥४२॥

सहजा सह जातिवैरिभिर्हृदि मैत्री यदिमैर्धृताङ्गिभिः ।
यदिवाऽयविवाकरो जिनः क्व तदा शात्रवसाद्रवोऽपि नः ॥४३॥

सहजेत्यादि—यत्रार्हदाश्रमेऽङ्गिभिरिमैर्विडालमूषकादिभिर्जातिवैरिभिरपि सह यद्यस्मात् कारणादर्हतः प्रभावाद् हृदि सहजा निसर्गजा मैत्री स्नेहवृत्तिर्धृताङ्गीकृताऽऽसीत् । यदि वा यत्रायः शुभावहो विधि स एव दिवा दिवसस्तत्करोति य सोऽयदिवाकरो जिनो भगवान् वर्तते तदा पुनस्तत्र शात्रवसाच्छत्रुतासम्बन्धी रव. शब्दोऽपि नोऽस्माकं मध्ये क्व सम्भवेन्नैव सम्भवेदिति काकूक्ति ॥४२॥

अमरैरमरैकवेदिभिः क्रियते कर्मसुमर्मभित् ।
मुहुरेव जयेति शार्मणं परमुच्चाटनमेव कार्मणम् ॥४४॥

अमरैरित्यादि—यत्रामरस्येति रलयोरभेदादमलस्यैवैकस्यार्हतो भगवत एव वेदिभि. पण्डितैरनुज्ञानधरैरमरैर्देवै कर्मणोऽदृष्टस्य सुमर्मवेदि मर्मस्थल भिनत्तीति तत् तथा शर्मसम्बन्धी णो ज्ञान येन तच्छार्मणं शर्मदायकं मुहुरेव वारं वारं जय जयेति

अर्थ—मोक्षरूप परमार्थकी इच्छा रखने वाले कुरुराज–जयकुमार निधिके समान मनोरथको पूर्ण करने वाले भगवान् वृषभदेवके समवसरणको प्राप्त हुए । कर्मोदयकी अनुकूलतासे युक्त जयकुमार समवसरणके अवलोकन मात्रसे प्रसन्न हो गये ॥४२॥

अर्थ—अरहन्त देवके जिस समवसरणमे जन्मविरोधी इन जीवोंने परस्पर नैसर्गिक प्रीति हृदयमें धारण की है, अथवा भाग्यदिवाकर अर्हन्तदेव जहाँ विराजमान हैं, वहाँ हमलोगोके बीच शत्रुता सम्बन्धी शब्दका होना भी क्या सम्भव है ? अर्थात् नही ॥४३॥

अर्थ—जिस समवसरणमे **अमरैकवेदी**–अर्हत् स्वरूपके ज्ञाता देवोके द्वारा बार बार वह जयजयकार किया जाता है, जो **कर्म**–अदृष्टके मर्मका भेदन करने

शब्दोच्चारणकल्पं परं सर्वोत्कृष्टमुच्चाटनं कार्मणमेव क्रियते। 'वैविरङ्गुलिमुद्रायां बुधे संस्कृतभूतले', 'जकारो निर्णये ज्ञाने' इति च विश्वलोचने ॥४४॥

जिनतोऽभिमतः पराजयः स्वयमस्मान्नयमञ्जुला लयः ।
कुसुमानि सुमायुधस्य तत्करतश्चाम्बरतः पतन्त्यतः ॥४५॥

जिनत इत्यादि—जिनतो जिनेन श्रीमता सुमायुधस्य कामदेवस्य पराजयः स्वयमेव जात इत्यभिमत सर्वसम्मतोऽस्ति । अस्मात्कारणात्पुनस्तस्य लयः प्रच्छन्नीभावोऽपि नयमञ्जुलो नीतिसुन्दरः समुचित एवास्ति । अत. पुनर्लयार्थं प्रव्रजतः कुसुमायुधस्य कुसुमानि. तस्य करतो हस्तात्पतन्ति यत्राम्बरत पतन्ति यानीत्युत्प्रेक्षालकार ॥४५॥

परिधौतमिवाम्बरं शुचि हरितां तीर्थसवोद्भवा रुचिः ।
धरणीतलमब्दनिर्मल जगतां सम्भवसृष्टये बलम् । ४६॥

परिधौतमित्यादि—यत्राम्बरमाकाशं तद् धौत वस्त्रमिव शुचि भवति । हरितां दिशाना रुचिराभा तीर्थसवावृतुस्नानादुद्भवो यस्याः सेव भवति । धरणीतल चाब्दवद्दर्पणतुल्यं निर्मल भवति । जगतां प्राणिनामपि सर्वेषां सम्भवस्य हर्षस्य सृष्टये समुद्भूतये बल भवतीत्यत्रोपमालकारः । 'हरित. ककुभि स्त्रियाम्' इति विश्वलोचने ॥४६॥

वाला है, शार्मण–सुखदायक है और कर्मरूप शत्रुओका उच्चाटन करने वाला है ॥४४॥

अर्थ—समवसरणमे आकाशसे पुष्पवृष्टि हो रही थी, जिससे ऐसा जान पडता था कि कामदेव जिनराजसे पराजित होकर अदृश्य हो गया—छिप गया। अब मानों उसके हाथसे उसके शस्त्ररूप पुष्पोकी वर्षा हो रही है।

भावार्थ—समवसरणमे पुष्पवर्षा हो रही थी पर बरसाने वाला दिखायी नही देता था। इस सन्दर्भमे कविने कल्पना की है कि कामदेव जिनराजसे पराजित हो गया यह बात सर्व सम्मत है। पराजित होनेके कारण लज्जासे वह छिप गया और छिपकर आकाशसे अपने शस्त्र-पुष्पोंको जिनेन्द्रके आगे छोड रहा है। पराजित शत्रु विजेताके आगे अपने शस्त्र डाल देता है, यह प्रसिद्ध है ॥४५॥

अर्थ—जिस समवसरणमें आकाश धुले हुए वस्त्रके समान उज्ज्वल है, दिशाओंकी आभा ऋतुस्नानसे उत्पन्न हुएके समान है, पृथिवी तल दर्पणके समान निर्मल है और जहाँकी शक्ति प्राणियोंके हर्षोत्पत्तिके लिये है ॥४६॥

कमनः शमनन्दिनामुनाऽपहतास्त्रस्त्वनुकम्पयाऽधुना ।
समिताश्च मिता सुमश्रियामृतवस्तद्धितवस्तुदित्सया ॥४७॥

कमन इत्यादि—कमन कामदेवोऽमुना समवसरणस्थेन शमे नन्दिरानन्दपरिणामो यस्य तेन भगवताऽपहतास्त्रो निरस्तशस्त्रोऽधुना तु पुनरनुकम्पयाऽनुग्रहकरणबुद्धया सर्वेऽपि ऋतवस्तस्य कामस्य हितमुपयोगि यद्वस्तु तद्दित्सा दातुमिच्छा तया सुमश्रिया पुष्पशोभाया मिता पर्याप्ता. सन्तस्ते समिताः सममेकीभावेन प्राप्ता इत्युत्प्रेक्षालकार । 'कमन कामुके चाभिरूपे चाशोककामयो.' इति विश्वलोचने ॥४७॥

मणिसंकणिसंविभालतस्त्ववधूतो नवधूलिशालत ।
नयनारिरगादभावतां न निशावासरयोर्भिदोऽत्र ताः ॥४८॥

मणिसंकणीत्यादि—मणीना नानाविधानां रत्नानां या समीचीना कणय. कणिकास्तासा सविभा समीचीनां प्रभां लाति दधातीति ततो नवान्नूतनाद् धूलिशालतो रत्नरेणुनिर्मितवप्रतोऽवधूतो दूरीकृतो नयनारिरन्धकार सोऽत्राभावता गतो नैव विद्यतेऽतोऽत्र निशावासरयो रात्रिदिवसयोरपि ता सुप्रसिद्धा भिदो न भवन्ति, सदा प्रकाश एव भवतीत्यनुप्रासोऽलकार ॥४८॥

समचिन्मम चित्तवृत्तितः सुगभीराऽऽशुगभीधराऽभितः ।
विशदा हि सदा तथाकृतेः परिखा संवरखा विराजते ॥४९॥

समचिदित्यादि—यत्र पुन परिखा खातिका विराजते सा मम चित्तवृत्तित समचित् समा समाना चिद् विवेचना यस्यास्सा विराजते यत सा सुगभीराऽतलस्पर्शवत्यभि-

---

अर्थ—वहाँ सभी ऋतुएँ एक साथ प्रकट हुई थी, उससे ऐसा जान पड़ता है कि शान्तिमे आनन्दकी अनुभूति करने वाले अर्हन्त भगवान्ने कामदेवको शस्त्ररहित कर दिया था, अब करुणाबुद्धिसे उसको हितकारी वस्तु–देनेकी इच्छासे पुष्पोकी शोभामे पूर्णताको प्राप्त छहो ऋतुएँ मानो एक साथ आई हैं ॥४७॥

अर्थ—यतश्च समवसरणमे विविध रत्नो सम्बन्धी समीचीन कणिकाओकी प्रभाको धारण करने वाले नूतन धूलि सालसे अन्धकार नष्ट हो गया था, अतः वहाँ रात-दिन का भेद नही था । सदा प्रकाश ही विद्यमान रहता था ॥४८॥

अर्थ—उस समवसरणमे जो परिवार सुशोभित है, वह मेरी चित्तवृत्तिके समान है, क्योकि जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति **सुगभीरा**–अत्यन्त गम्भीर–

सोऽपि तथाऽऽशुगाद्वायो पक्षे कामाद् भीधरा तथाकृतेः सदा विशदा सुनिर्मला संवरं जलं तद्वत् खमाकाशं यस्या. सा पक्षे संवरो जिनभगवानेव तद्वत् ख बुद्धिर्यस्या. सा । 'खमाकाशे दिवि सुखे, बुद्धौ संवेदने पुरे' 'संवरं सलिले मेघे संवरोऽथ जिनान्तरे' इति च विश्वलोचने ॥४९॥

किमु नाकरमाश्रमाम्भसः किमु सिद्धेर्मदभूद्दृशोरसः ।
नभसो रभसोदयी पतत्यपि गन्धोदकवृत्तिरूपतः ॥५०॥

किमु नाकेत्यादि—अपि च गन्धोदकबिन्दुरूपतो यत्र रभसाद्वेगादुदयो यस्य स रभसोदयी रसः पतति स किमु नाकरमाया स्वर्गलक्ष्म्या श्रमाम्भस प्रस्वेदस्य रसोऽथवा किमु सिद्धे. स्वयंमुक्तेरेव मदभृत् प्रसन्नताहेतुको दृशोश्चक्षुषो रस इति वितर्कोऽलंकारः ॥५०॥

विचलद्दलवल्लतावनं मरुता चालिरुताप्तकीर्तनम् ।
धृतलास्यमिवास्य पश्यतां दृशि याति प्रभुभक्तिशस्यताम् ॥५१॥

विचलद्दलवदित्यादि—खातिकातोऽग्रेऽभ्यन्तरस्यार्हद्बुपाश्रयस्य लतावनमस्ति, तच्च मरुता वायुना विचलन्ति दलानि यस्य तत्तथालीनां भ्रमराणां रुतं गुञ्जनं तेनाप्तं कीर्तनं येन तदेव चाप्त कीर्तनं येन तत् पश्यतां लोकानां दृशि दृष्टौ धृतं समारब्धं लास्यं नृत्यं येन तदिव तथा प्रभोरर्हतो भक्त्या शस्यतां श्लाघ्यतां याति लभत इत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥५१॥

धैर्यशालिनी है, उसी प्रकार परिखा भी **सुगभीरा**–अत्यन्त गहरी है। जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति **आशुग-भीधरा**–कामसे भय धारण करती है, उसी प्रकार परिखा भी **आशुगभीधरा**-वायुसे भय धारण करती है—अर्थात् लहरोके छलसे कम्पित रहती है, जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति-**मनोवृत्ति कृतेः**–कार्यसे **विशद**–उज्ज्वल है, उसी प्रकार परिखा भी **आकृतेः**–आकारसे उज्ज्वल है और जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति **संवरखा**–जिनेन्द्र भगवान्मे संलग्न बुद्धिसे सहित है उसी प्रकार परिखा भी **संवरखा**–पानीके समान आकाशसे सहित है अथवा आकाशके समान निर्मल जलसे सहित है ॥४९॥

अर्थ—समवसरणसे आकाशमे गन्धोदक वृष्टिके रूपमे जो शीघ्र शीघ्र रसकी वृष्टि हो रही थी, वह रस क्या स्वर्गलक्ष्मीका पसीना था ? या मुक्तिरूपी लक्ष्मीके नेत्रसम्बन्धी हर्षाश्रुओका समूह था ? ॥५०॥

अर्थ—समवसरणमे परिखाके आगे वह लतावन था, जिसके पत्ते हवासे हिल रहे थे, जिस पर बैठे भ्रमर मानो कीर्तन कर रहे थे, जो देखने वालोको दृष्टिमे नृत्य करता हुआ सा जान पड़ता था तथा प्रभु भक्तिसे प्रशंसनीयताको

वरणत्रयमत्र यन्मतं जिनरत्नत्रयवत् समुन्नतम् ।
परिनिर्वृतिसाधनत्वतस्त्रिजगन्मोदकरं महत्त्वतः ॥५२॥

वरणत्रयमित्यादि—पुनरत्रोपाश्रये यद्वरणत्रय प्राकारत्रितयं तद् रत्नत्रयवन्मतं यतः समुन्नतमुच्चैराकाशे गतं रत्नत्रयं चोन्नतिदायक परिनिर्वृतेर्मुक्ते साधनत्वतो निमित्तकारणत्वतः पक्षे तूपादानकारणत्वतोऽतश्च महत्त्वतस्त्रिजगतां मोदकरं प्रसन्नतादायकमित्युपमालंकारः ॥५२॥

गरवद् वरवस्तुयोगतः प्रकृतं तीर्थकृतः प्रयोगतः ।
अपवृत्य हि कर्मकाष्टकं भवतीदं भुवि मङ्गलाष्टकम् ॥५३॥

गरवदित्यादि—वरस्य श्रेष्ठस्य वस्तुनो रसायनस्य योगतः प्रसङ्गतो गर विषं यथा तथा तीर्थकृत आदिपुरुषस्य प्रयोगतः समागमतः कर्माणि च तानि ज्ञानावरणादीनि एव कर्माणि तत्र समूहार्थे क तदेव हि किलापवृत्य परिवर्तमुपेत्य भुवीह भूतले मङ्गलाना शर्मदायकवस्तूना कलश-भृङ्गार-ध्वजा दर्पण-छत्र-चमर-तालवृन्त-स्वस्तिकाभिधानानामष्टक तदिदं भवति यद् द्वार द्वार प्रति वर्तते प्रकृत प्रस्तुतमिति दृष्टान्तपूर्वकोऽपह्नुवोऽलंकारः ॥५३॥

सुचिरं शुचिरद्य कुम्भनी स्थितिरस्यां न मयावलम्बिनी ।
इतिधूपघटास्य धूमकच्छलतश्चोच्चलदेव मस्त्यकम् ॥५४॥

प्राप्त हो रहा था ॥५१॥

अर्थ—समवसरणमे जो तीन कोट थे, वे जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रयके समान समुन्नत–उत्कृष्ट (पक्षमे ऊँचे) थे, परिनिर्वृति–निर्वाण (पक्षमे सतोष) के साधन होनेसे और महत्त्वत –श्रेष्ठता (पक्षमे ऊँचाई) के कारण तीनों जगत्के जीवोको आनन्द देने वाले थे ॥५२॥

अर्थ—जिस प्रकार रसायन आदि उत्कृष्ट वस्तुके सयोगसे विष औषध रूपमे परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकरके संयोगसे ज्ञानावरणादि आठ कर्म भी परिवर्तित होकर समवसरण भूमिमे आठ मङ्गल द्रव्य रूप हो गये थे। तात्पर्य यह है कि समवसरणमे १ कलश, २ भृङ्गार, ३ ध्वजा, ४ दर्पण, ५ छत्र, ६ चमर, ७ व्यजन और ८ स्वस्तिक ये आठ मङ्गल द्रव्य विद्यमान थे, जो आठ मङ्गल द्रव्य न होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके परिवर्तित रूप थे ॥५३॥

सुचिरमित्यादि—अथासौ कुम्भिनी पृथ्वी शुचिः पवित्राऽत एवास्यां मम स्थितिः सुचिरमधिककालमवलम्बिनी स्थायिनी नेति किलाकं पाप धूपस्य घटाः कुम्भास्तेषा-मास्यानि मुखानि तेभ्यो निर्गतो यो धूमस्तस्य च्छलत एवं निरन्तरमुज्वलन्निर्गच्छतीति । अपह्नुतिरलंकारः ॥५४॥

प्रतिलासनिवासमाश्रवाम्बुधिमानन्दधियायमत्र वा ।
करचारतयारमुत्तरत्यनुतारं नटदप्सरोभरः ॥५५॥

प्रतिलासनिवासमित्यादि—अत्र वार्हद्रुपाश्रये लासनिवासो नृत्यशाला लास-निवासं लासनिवासं प्रतिलासनिवासं नटन्तीनामप्सरसां यो भरो नृत्यकारिणी-समूहः स आनन्दधिया प्रसन्नबुद्ध्याऽनुतारं रलयोरभेदात्तालानुसारं वादित्रलयानुकूलं करयोर्हस्तयोश्चारः प्रचारस्तत्तयाऽऽश्रवाम्बुधि संसारसागरमेवारं शीघ्रमुत्तर-त्ययम् ॥५५॥

सुमनोभिरुपासिता हिता मनुजेभ्यश्च फलोदयान्विताः ।
परितापहरा महीरुहाः परितः श्रीशगुणोपमावहाः ॥५६॥

सुमनोभिरित्यादि—अत्र पुनः परितस्तत्रोपाश्रये महीरुहा वृक्षा भवन्ति ते श्रीशस्य श्रीमतोऽर्हतो यो गुणस्तस्योपमावहाः सन्ति, यतस्ते सुमनोभिः पुष्पैः पक्षे देवै-रुपासिताः समाराधितास्तथा मनुजेभ्यः सर्वेभ्यो हिताः कल्याणकरा यतः फलोदयेनाम्रादि-

---

अर्थ—अब पृथिवी पवित्र हो गई है, अतः इसमे हमारी स्थिति अधिक काल तक नही हो सकेगी, यह विचार कर ही धूपघटोके मुखसे निकलने वाले धूमके छलसे पाप निकल कर ऊपरकी ओर भाग रहे थे ॥५४॥

अर्थ—उस समवसरणकी प्रत्येक नाट्य-शालाओमे तालके अनुसार नृत्य करती हुई अप्सराओका समूह हाथोके सचालनसे ऐसा जान पडता था मानो बडी प्रसन्नतासे शीघ्र ही संसार-सागरको पार कर रहा हो ॥५५॥

अर्थ—समवसरणमे जो चारों ओर वृक्ष थे, वे श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंकी उपमाको धारण करते थे, क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण सुमनस्-देवोंके द्वारा उपासित-समाराधित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी सुमनस्-पुष्पोसे सेवित-सहित थे, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण मनुष्योके लिये हित-कल्याण-कारक हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी हित-कल्याणकारी थे, जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके गुण स्वर्गादि फलकी प्राप्तिसे सहित हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी आम्र आदि फलों उत्पत्तिसे सहित थे और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण परिताप-

सद्भावेनान्विताः पक्षे स्वर्गगमनकारकत्वेनोचिताः परितापहराश्चेति क्लिष्टोपमालंकार: ॥५६॥

क्रमशः श्रमशर्मतोऽर्हतां दशधर्मैरवकृत्य सन्धृताः ।
त्वच एव च सन्त्यमी ध्वजा दुरितानामुत्कम्पितं रुचा ॥५७॥

क्रमश इत्यादि—अर्हदुपाश्रये द्वितीयतृतीय वप्रयोर्मध्ये हंसादिचिह्नवत्यो दशप्रकारा ध्वजा भवन्ति तासामिहोल्लेखः। श्रम प्रयत्नकरण तत्र शर्म शान्तिरनुद्रेकभावस्ततो हेतुतोऽर्हतां श्रीमतां दशधर्मैः क्षमादिभिः क्रमश क्रोधादीनां तत्प्रत्यनीकानां दशाना दुरितानां त्वचोऽवकृत्य सन्धृतास्ता एव ध्वजा इति नामतः प्रसिद्धा उतात एव तत्र रुजा पीडया कम्पितमित्यपह्नुतिरलंकार. ॥५७॥

अविवादधराश्च राशयस्त्वनुगृह्णाति यकान् महाशयः ।
युगपच्च युगादिभास्करः स गतान्द्वादशतां सतां वरः ॥५८॥

अविवादधरा इत्यादि—तृतीयकोटतोऽप्यभ्यन्तर्द्वादश सभा भवन्ति ता उद्दिश्य कथनमिदम्। अतः पुनरविवादधरा विसवादरहितास्तथाविर्मेषस्तस्य वादं धरन्ति ततः समारब्धा भवन्ति ते राशयः समूहा ज्योतिशास्त्रसम्मता वा यानेव यकान् द्वादशतां गतान् स सता सज्जनानामुत नक्षत्राणां वरः श्रेष्ठो महाशयोऽसकीर्णविचारो युगादिभास्कर आदीश्वरसूर्यो युगपदेव सोऽनुगृह्णाति। दुर्विक्षेपे प्रसिद्धः सूर्यः क्रमशो गृह्णातीति क्लिातिरेकोऽलकार ॥५८॥

हर–ससार भ्रमणजन्य सतापको हरने वाले हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपनी छायाके द्वारा घर्मजन्य सतापको हरने वाले थे।

भावार्थ—समवसरणमे प्राकारोके बीच आम तथा कल्पवृक्ष आदिके वन थे ॥५६॥

अर्थ—समवसरणके द्वितीय और तृतीय कोटके बीच हस आदिके चिह्नोंसे सहित जो दस प्रकारकी ध्वजाएँ थी वे ध्वजाएँ नही थी किन्तु जिनेन्द्रदेवके क्षमा आदि दश धर्मोंने अपने विरोधी क्रोध आदि पापो की जो चमडी प्रयत्नपूर्वक खीच ली थी वह थी, तथा वे चमडियाँ पीड़ामे कम्पित हो रही थी ॥५७॥

अर्थ—जो अविवादधरा–मेष आदि नामको धारण करनेवाली बारह राशियाँ है, उन्हे सत्–नक्षत्रोका स्वामी सूर्य क्रमसे अनुगृहीत करता है परन्तु महाशय–उदार अभिप्रायसे सहित तथा सज्जनोंमे श्रेष्ठ आदीश्वर भगवान् उन बारह सभारूपी राशियोको एक साथ अनुगृहीत कर रहे थे ॥५८॥

जिनसाज्जगतां तु दुर्जयी स हि मोहो महिमोहविस्मयी ।
नहि दुन्दुभिकः समस्ति सद्धृदयोद्भेदरवस्तु वस्तुतः ॥५९॥

जिनसावित्यादि—जगतां तु अन्येषां प्राणिनां यो दुर्जयी जेतुमशक्यः स हि मोहो जगज्जेता जिनसाज्जिनस्याग्रे महिम्नि विषये य ऊहो विचारस्तेन विस्मयी किलाश्चर्य-चकित एवं तु पुनर्यो दुन्दुभिको नाम नादः स वस्तुतो न दुन्दुभिकः, किन्तु तस्य मोहस्य यद् हृदयं वक्षस्तस्योद्भेद आश्चर्येण द्वैधीभावस्तस्यैव रवः शब्द इत्यपह्नवोऽलंकार. ॥५९॥

नितरामितरायिता यतेरथ मासौ कथमासनायते ।
अधरायत ईशिताऽऽवृता क्व रहोनीतिरहो निरीहता ॥६०॥

नितरामित्यादि—अथ मा किल लक्ष्मीर्या किल नितरामत्यन्तमितरायिता एकं त्यक्त्वाऽन्य पुनस्तमपि त्यक्त्वा परमिति नवं नवमङ्गीकरोतीतरायिताऽथवोद्धतां गता साऽसौ यतेरस्य वशिन आसनमिवाचरतीत्यासनायते समाधारो भवतीति कथं किन्तु न भवत्येव, यतः किलायमीशिता स्वामीहाधरायते गन्धकुटीगतसिंहासनात् तत्रत्यकमला-च्चाधर एव तिष्ठति । अहो क्व रहोनीतिर्नाम रहस्यवृत्तिर्निरीहताऽऽवृता स्वीकृतास्ति ॥६०॥

मनसा वचसा च कर्मणाऽर्चनमिन्दुः परिपूर्य शर्मणा ।
त्रिगुणं वपुराप्य घूर्णते क्षयजिच्छत्रतया जगत्पतेः ॥६१॥

अर्थ—जो मोह जगत्के अन्य जीवोंके लिये दुर्जय है, वह जिनेन्द्रदेवके आगे उनको महिमाविषयक विचारसे विस्मयमें पड गया । (उसे लगने लगा कि मैंने सबको जीता, अब इन्हें किस प्रकार जीतूँ ?) समवसरणमे जो दुन्दुभिका शब्द हो रहा था वह दुन्दुभिका शब्द नही था, किन्तु वास्तवमे उसी मोहके हृदयके फटनेका शब्द था ॥५९॥

अर्थ—जो लक्ष्मो अत्यन्त इतरायिता–एक-एकको छोड अन्य-अन्यको प्राप्त होती रहती है अथवा अत्यन्त उद्दण्ड है, वह यति–जिनेन्द्रका आसन–आधार कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकतो । यही कारण है कि जिनेन्द्र समवसरण-में अधर–अन्तरीक्षमे विद्यमान रहते है, गन्धकुटीके सिंहासन अथवा कमलसे ऊपर रहते हैं, उस लक्ष्मीका स्पर्श भी नही होने देते । आश्चर्य है कि जिनेन्द्रके द्वारा आवृत–स्वीकृत यह रहोनीति–रहस्यवादकी वृत्ति कहाँ और निरीहता–निःस्पृहता कहाँ ? ॥६०॥

मनसेत्यादि—इन्दुश्चन्द्रः स जगत्पतेर्नाभेयस्यार्चनमाराधनं मनसा वचसा कर्मणा चेति पूर्णरूपेण परिपूर्य कृत्वा शर्मणा सौभाग्येनाधुना क्षयाजद्राजयक्ष्मरोगनोऽपि मुक्तो भवन् त्रिगुणं शरीरमाप्य समुपलभ्य जगत्पतेश्छत्रतया घूर्णते। अपह्नुव एवालंकार ॥६१॥

शमशोऽयमशोकपादपः ह्वयतीतो जयति प्रमाणपः।
भविनां कविनामिनां चलन्निजशाखाशयचालनैर्दलम् ॥६२॥

शमश इत्यादि—अयमशोकपादपो योऽसौ प्रभो: पृष्ठलग्न स शम एव शो धर्मो यस्य स चलन्त्यो या निजशाखास्ता एव शयचालनानि करविक्षेपणानि तैः कविनामिनां कवि-सदृशाना भविनां शरीरधारिणा दलं समूहमितो ह्वयति प्रमाणपो भवन् जयति। उत्प्रेक्षा-लंकार ॥६२॥

अनिला इव मागधाः सुराः परमामोदविधालसद्धुराम्।
सुमनःसुरभिश्रिय तरां विनयन्ति त्रिपुरारिराड्गिराम् ॥६३॥

अनिला इत्यादि—त्रिपुराणा जन्मजरामरणाख्यानामरिराजो नाभेयस्य गिरां वाचं सुमनसः पुष्पस्य सुरभिश्रिय सुगन्धशोभामिव परमस्यामोदस्य प्रसन्नभावस्य या विधा प्रकारस्तया लसति धुरा मुखभागो यस्यास्ता किलानिला वायव इव मागधा सुरा विन-यन्तितरामित्युपमालंकारः ॥६३॥

जिनशासनमेव मूर्तिमद् वृषचक्राह्वयतस्तरां लसत्।
निवहन्ति सुरा दुरासदमितरेभ्योऽमितरेत इत्यदः ॥६४॥

अर्थ—समवसरणमे जिनेन्द्र भगवान्के मस्तकके ऊपर जो छत्रत्रय घूम रहा था पह छत्रत्रय नही था, किन्तु मन-वचन-कायसे पूजाको पूर्ण कर उसके फल स्वरूप क्षयरोगसे मुक्त हो तीन शरीर पाकर चन्द्रमा हो सुखसे झूम रहा था ॥६१॥

अर्थ—शमश.–सुखरूप धर्मसहित अर्थात् दूसरे जीवोको सुख उत्पन्न करने वाला प्रमाणप –अत्यन्त ऊँचा अशोक वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखारूप हाथोके सचालनसे ऐसा जान पडता था, मानो कविनामधारी प्राणियोंको इस ओर बुला ही रहा हो ॥६२॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु उत्कृष्ट सुगन्धसे युक्त अग्र भागवाली पुष्पोकी शोभाको विस्तृत करती है, उसी प्रकार मागध जातिके देव उत्कृष्ट आनन्दको प्रदान करने वाली भगवान्की वाणीको विस्तृत कर रहे थे ॥६३॥

जिनशासनमित्यादि—सुरा यक्षेन्द्रा इतरेभ्यो दुरासदं धर्तुमवाच्यमित्यहो वृषचक्र-मित्याह्वयतो नामतो लसत् प्रख्यातं तन्मूर्तिमज्जिनशासनमेव यदमितरेतोऽत्यधिकतेजो-धारकं तन्निवहन्तितरामित्यपह्नवोऽलंकारः ॥६४॥

जिनचरणवराणामर्चनात्तत्पराणां
　　किमिति नहि सुराणां सत्कृतस्याङ्कुराणाम् ।
उदय इह ततानां मूर्तभावं गतानां
　　चमरमिषमितानां घूर्णते स्फूर्जितानाम् ॥६५॥

जिनचरणेत्यादि—इहार्हदुपाश्रये चरणेषु वरा श्रेष्ठाश्चरणवरा जिनानामर्हतां ये चरणावरास्तेषामर्चनायामुपासनायां तत्पराणां तल्लीनानां सुराणां सत्कृतस्य पुण्यकर्मणो येऽङ्कुरास्तेषाम्, कीदृशानां तेषामिति चेत् ? स्फूर्जितानां स्फूर्ति प्रादुर्भूति गतानामेव मूर्तभावं गतानां मूर्तमाकारमवाप्तानां ततानां प्रसृतानां तथा चमराणां मिषं व्याज-मितानामुपगतानामुदय समुद्भूव किमिति नहि, किन्तु भवत्येवेति काकुपूर्वोऽपह्नवा-लंकार ॥६५॥

भवान्तरोद्बोधनमङ्गिनामतः प्रभोः परावृत्तसतः प्रभावतः ।
महोऽस्त्यहो कोटिगुणं गतोऽनया रविः सवित्तापकतापकृत्तया ॥६६॥

भवान्तरोद्बोधनमित्यादि—प्रभोः स्वामिनः प्रभावृत्तं भामण्डलमेव सद्वस्तु तस्य प्रभावृत्तस्य सतोऽत प्रभावतः शक्तितोऽङ्गिनां भव्यानां प्राणिना भवान्तरस्य प्राग् जन्म-नोऽप्युद्बोधनं ज्ञानमस्ति जायते, तदेतत्प्रभावृत्तं नाम सवित् रविरेवास्ति यस्ताप-कतायाः संतापवृत्तेरपकृत्ता निरसनता तयाऽनया स्पष्टदृश्यया कोटिगुण महः पूर्वपेक्ष-

---

अर्थ—यक्षेन्द्र अन्य देवोके द्वारा दुरासद एवं अपरिमित तेजसे युक्त जिस शोभायमान धर्मचक्रको धारण कर रहे थे, वह धर्मचक्र नही था किन्तु मूर्तिमान् जिनशासन ही था ॥६४॥

अर्थ—समवसरणमे जो चमरोका समूह चञ्चल हो रहा था, वह क्या जिनेन्द्रदेवके श्रेष्ठ चरणोकी पूजामें तल्लीन देवोंके सुविस्तृत तथा चमरोके बहाने मूर्तरूपको प्राप्त शक्तिसम्पन्न पुण्याङ्कुरोका उदय नही था ? अवश्य था। तात्पर्य यह है कि समवसरणमे देवो द्वारा डुलाये जा रहे चमर उनके पुण्या-ङ्कुरोंके समान जान पडते थे ॥६५॥

अर्थ—प्रभुकी जिस वस्तुके प्रभावसे प्राणियोंको भवान्तरों–अतीत–अनागत

याप्यधिकं तेजो गत सम्प्राप्तोऽस्ति । भामण्डलं भामण्डलं न नाम, किन्तु स्वस्य सन्ताप कर्ता परिवर्त्य पूर्वापेक्षयाप्यधिकप्रकाशभृद्रविमण्डलमेवेदमिति भावोऽपह्नवश्चालंकार अहो वितर्कणे ॥६६॥

ध्वनिरयं निरयन् द्रुतमर्हतां रसमय समयं तनुते सताम् ।
गतिरयं निरयँस्तु पयोमुचः पृथगतोऽय गतोऽनुजन रुचः ॥६७॥

ध्वनिरित्यादि—अर्हतां तीर्थकृतां दिव्यो नाम ध्वनिर्निरयन्निर्यच्छन् सन् पयोमुचो मेघस्य गतिरयमवस्थाविशेष तिरयन्ननुकुर्वन् यथा वारि सर्वत्र सर्वेभ्य' समानतया वर्षति तथा ध्वनिरपीति यावत् । अतोऽथानुजन प्राणिन प्राणिन प्रति पृथगेव रुचोऽभिरुचीर्गत. स सतां सज्जनाना रसमय वर्षणतुल्य समय तनुते करोति । यथा वृष्ट वारि निम्बेक्षु काण्डादिषु पृथक् परिणमते, तथार्हद्‌ध्वनिरपि ॥६७॥

समवसरणमेवं वीक्षमाणोऽथ देवं
गुणमणिमनुलेभे हर्षमेतेन रेभे ।
पुलककुलकशसा अन्तरेनोदुरंशाः
सपदि बहिरुदीर्णा पुण्यपाकेऽवतीर्णात् ॥६८॥

समवसरणमित्यादि—अथैवमुक्तरीत्या समवसरणं नाम सभास्थानं वीक्षमाणः सम्पश्यन् स जयकुमारस्तत्र गुणाः समतादयो मणयो यस्य त देव भगवन्तमप्यनुलेभे प्राप्त-

---

भवोका बोध होता है, वह भामण्डल नही था किन्तु अपनी सतापक वृत्तिको छोडकर पूर्वकी अपेक्षा कोटिगुणित तेजको प्राप्त हुआ ज्ञानी सूर्य ही था ॥६६॥

अर्थ—अरहन्त परमेष्ठियोकी निकलती हुई–प्रकट होती हुई दिव्य ध्वनि मेघकी अवस्थाविशेषका अनुकरण करती है और सत्पुरुषोके समीप उनकी रुचिके अनुसार परिणमन करती हुई वृष्टितुल्य अवस्थाको विस्तृत करती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मेघका जल एक सदृश बरसता है परन्तु नीम तथा गन्ना आदिमे विविध रूपोमे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अर्हन्तकी दिव्य ध्वनि एक समान प्रकट होती है, परन्तु श्रोताओके कर्णकुहरोमे उनकी भाषाके रूपमे परिणम जाती है तथा उनके मनोगत प्रश्नोका समाधान करती है ॥६७॥

अर्थ—इस प्रकार समवसरणको अच्छी तरह देखते हुए जयकुमार गुणरूपी मणियोसे सहित भगवान् आदीश्वरको प्राप्त हुए, अर्थात् उनके समीप पहुँचे ।

चानेतेन हेतुना स हर्षं च रेभे समारब्धवान् । एवं पुण्यपाके परमशुभोदयेऽवतीर्णास्तत. सपदि तदानीं पुलकानां रोमाञ्चानां कुलकमेव छलाऽभिधा येषां तेऽन्तरेनोकुरंशा अन्तर्गता पापस्य लेशास्ते बहिरवतीर्णा उपर्यागता बभूवुरित्युत्प्रेक्षाऽलंकार. ॥६८॥

संसारसागरसुतीरवदादिधीर-
　　श्रीपादपादपपदं समवाप धीरः ।
तत्राऽऽनमंस्तु झरदुत्तरलाक्षिमरवा-
　　न्मुक्ताफलानि ललितानि समाप सत्वात् ॥६९॥

संसारेत्यादि—धीरो जयकुमारः स संसार एवातलस्पर्शत्वात् सागरोऽब्धिस्तस्य सुतीर-वत्तटवदादिधीरो भगवान् वृषभस्तस्य श्रीपादौ चरणावेव पादपौ वृक्ष· समाश्वासन-दायकत्वात्तस्य पदं स्थानं समवाप लेभे । तत्र पुनरानमन्नमस्कारं कुर्वंस्तु स सत्वात् सात्त्विक-भावस्य सद्भावात् झरती झरममुकुर्वंतौ उत्तरले सुचपले ये अक्षणी लोचने तद्वत्त्वाल्ला-लितानि मनोहराणि मुदश्रुरूपाणि मुक्ताफलानि समवापेति रूपकालंकार. ॥६९॥

प्रसन्नाक्षरपुष्पाणां मालाथालापशालिना ।
गुणैरावर्तिताऽऽदेर्नु महतामनुयायिना ॥७०॥

प्रसन्नेत्यादि—अथाऽऽलापशालिनानेन वाक्चतुरेण महतामनुयायिना महान्तो यथानुतिष्ठन्ति तथानुतिष्ठता तेन जयकुमारेणादेर्नुः श्रीनाभेयस्य गुणैः क्षमादिभिरेव

इस हेतु उन्होंने बहुत भारी हर्ष प्राप्त किया और उस हर्षसे उनके शरीरमें रोमाञ्च निकल आये। वे रोमाञ्च ऐसे जान पड़ते थे मानों शुभोदय–पुण्योदयमें अवतीर्ण होनेसे उनके भीतर जो पापके कुत्सित अश थे, वे रोमाञ्च-समूहके छलसे बाहर निकल आये हों ॥६८॥

अर्थ—धीरवीर जयकुमारने संसाररूपी सागरके उत्तम तटस्वरूप भगवान् वृषभदेवके चरणरूप वृक्षके स्थानको प्राप्त किया। वहाँ नमस्कार करते हुए उन्होंने सात्त्विक भावके कारण झरती हुई चञ्चल आँखोसे युक्त हो मनोहर मोती प्राप्त किये।

भावार्थ—भगवान् वृषभदेवके चरणोंका सान्निध्य पाकर उनके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकलने लगे। वे अश्रुकण मोतियोंके समान जान पड़ते थे ॥६९॥

अर्थ—तदनन्तर बात करनेमें चतुर तथा महापुरुषोंका अनुकरण करने-

वीरकैः प्रसन्नानि च तानि अक्षराणि ककारादीनि तानि पुष्पाणि तेषां मालाऽऽवलिता कृता स्तुतिः समारब्धेति ।।७०।।

जयस्यहो आदिमतीर्थनाथ ! शक्रादिभिस्त्वं परिणीतगाथः ।
हितस्य वर्त्म त्वकया पवित्रं न्यदेशि तत्त्वं भुवनस्य मित्रम् ।।७१।।

जयतीत्यादि—अहो आदिमतीर्थनाथ ! त्वं शक्राविभिरपि परिणीता कृता गाथा स्तुतिकथा यस्य स जयसि सम्भवसि., यतस्त्वयैव त्वकया पवित्रं निर्दूषणं हितस्य सुखस्य वर्त्मायन यद्भुवनस्याखिलप्राणिवर्गस्य मित्रं सुहृत् तत्त्व यथार्थवस्तुस्वरूप न्यदेशि कथितमस्ति ।।७१।।

हे देव दोषावरणप्रहीण ! त्वामाश्रयेद् भक्तिवशः प्रवीणः ।
नमामि तत्त्वाधिगमार्थमारान्न मामितः पश्यतु मारधारा ।।७२।।

हे देवेत्यादि—हे देव ! दोषावरणप्रहीण ! दोषा रागादय आवरण ज्ञानदर्शना-भावरूप तत· प्रहीण ! पूर्णरूपेण रहित ! भक्तिवश प्रवीणो बुद्धिमान् नरस्त्वामेवा-श्रयेत् । हे देव ! अह त्वां तत्त्वस्य वस्तुत्वस्याधिगमार्थं परिज्ञानार्थमाराच्छीघ्रमेव नमामि नमस्करोमि, यतो मामित. आरभ्य मारस्य कामदेवस्य धारा शस्त्रास्त्रभागो न पश्यतु मा स्पृशतु ।।७२।।

भवन्ति भो रागरुषामधीना दीना जना ये विषयेषु लीनाः ।
त्वां वीतरागं च वृथा लपन्ति चौरा यथा चन्द्रमसं शपन्ति ।।७३।।

वाले जयकुमारने आदिपुरुष भगवान् वृषभदेवके क्षमादिगुणरूपी सूतसे स्पष्ट अक्षररूपी पुष्पोकी माला बनाई, अर्थात् स्तुति करना प्रारम्भ किया ।।७०।।

अर्थ—हे आद्यतीर्थंकर ! आपकी स्तुति इन्द्रादि देवोके द्वारा की गई है, अत आप जयवन्त प्रवर्तते है। आपने ही जगत्के जीवोके लिये वह तत्त्व-यथार्थ वस्तुका स्वरूप कहा है, जो हितका पवित्र मार्ग तथा समस्त प्राणिसमूहका मित्र है ।।७१।।

अर्थ—हे रागादि दोष तथा ज्ञानावरणादि कर्मोसे रहित देव ! भक्तिके वशीभूत चतुर मनुष्य आपका ही आश्रय लेते है, अतः तत्त्वज्ञानके लिये मैं शीघ्र ही आपको नमस्कार करता हूँ और चाहता हूँ कि अब कामदेवके अस्त्र-शस्त्रोकी धारा मुझे न देखे ।।७२।।

भवन्तीत्यादि—भो प्रभो ! ये विषयेषु लीना भोगाभिलाषिणो दीना बहुशोऽपि रागाश्च द्वेषश्च तासामधीना वशगा जना भवन्ति, ते त्वां वीतरागं पक्षपातविहीनमपि च वृथा लपन्ति जिनाद्देवात् कस्य कोऽर्थः सिद्धयतीति कथयन्ति, यथा चौराश्चन्द्रमस शपन्तीति दृष्टान्तोऽलंकार ॥७३॥

राज्ञामिवाज्ञा भवतां जगन्ति गताऽविसंवादतया लसन्ती ।
शिशोरिवान्यस्य वचोऽस्त्वपार्थं मोहाय सम्मोहवतां धृतार्थम् ॥७४॥

राज्ञामित्यादि—अविसंवादतया विच्छेदाभावतया लसन्ती भवतां श्रीमतामाज्ञा राज्ञा भूपानामिव सा जगन्ति गता सर्वथैवाऽखण्डतया वर्तते । अन्यस्य पुनरनर्हतस्तु वचः शिशोर्बालकस्येवापार्थमकल्याणकरं भवत्केवलं सम्मोहवतां संसारिणां मोहाय विभ्रमोत्पादनायैव धृतोऽर्थो हेतुभावो येन तवस्तु, न तु हितकरमिति । 'अर्थः प्रयोजने वित्ते हेत्वभिप्रायवस्तुषु' इति विश्वलोचने ॥७४॥

विरागमेकान्ततया प्रतीमः सिद्धौ रतः किन्तु भवान् सुषीम ! ।
विश्वस्य संजीवनमात्मनीनं स्याद्वादमुज्झेत् किमहो अहीन ! ॥७५॥

विरागमित्यादि—हे सुषीम ! सुशोभन ! वयं त्वद्भक्तास्त्वामेकान्ततया सर्वथा विरागं कुत्राप्यनुरागो नास्ति यस्येदृशं प्रतीमः प्रतीतिं कुर्मः, किन्तु भवांस्तु सिद्धौ नाम निर्वृतौ रतोऽनुलग्नोऽस्ति । अहो अहीन ! सर्वाङ्गसम्पन्न ! तदिदं सत्यमपि यतो भवत

अर्थ—हे प्रभो ! जो राग-द्वेषके अधीन तथा विषयोमे लीन दीन मनुष्य हैं, वे आप वीतरागको भी व्यर्थ कहते हैं, अर्थात् वीतराग देवसे किसीका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होता, ऐसा कहते हैं । जैसे चोर चन्द्रमाकी निन्दा करते हैं, वैसे ही विषयाधीन मनुष्य वीतराग देवकी निन्दा करते हैं ॥७३॥

अर्थ—अविरोध रूपसे शोभायमान आपकी आज्ञा राजाओकी आज्ञाके समान समस्त जगतमे व्याप्त है, जबकि अन्य पुरुषोकी आज्ञा बच्चोके निरर्थक वचनके समान मोही जीवोके मोहके लिये ही हेतुभूत है ॥७४॥

अर्थ—हे अतिशय शोभायमान ! जिनेन्द्र ! हम आपके भक्त आपको यद्यपि सर्वथा विराग–रागरहित जानते हैं, पर आप सिद्धि–मुक्तिवधूमे लीन है–उसे प्राप्त करना चाहते है, अतः सर्वथा विराग–रागरहित किस प्रकार हुए ? हे अहीन ! हे सर्वगुणसपन्न भगवन् ! आप क्या समस्त जगत्‌के हितकारी अपने स्याद्वाद सिद्धान्तको छोड़ सकते हैं ? अर्थात् नही छोड सकते ।

आत्मनीनं स्वायत्तीकृतं विश्वस्य च वस्तुमात्रस्य च संजीवनं जीवनाधारभूतं स्याद्वादं कथंचिदिति सिद्धान्तं भवान् किमुज्झेत् कथंकारं त्यजेदिति वक्रोक्तिरलंकारः ।।७५।।

अहो यदेवास्ति तदेव नास्ति तवाद्भुतेयं प्रतिभाति शास्तिः ।
यद्वा स्मरामोऽत्र तमी नरेभ्यो निशापि सा नास्ति निशाचरेभ्यः ।।७६।।

अहो इत्यादि—अहो भगवन् ! यदेवास्ति तदेव नास्ति चेयं तवेयं शास्तिरनुशासनवृत्तिरद्भुताऽभूतपूर्वा प्रतिभाति नानुभव मुपयाति । यद्वा स्मरामः स्मृतिं गच्छामो वयमत्र निशा रात्रिर्नरेभ्योऽस्मादृशेभ्यस्तमी महान्धकारपूर्णास्ति सापि निशाचरेभ्यो विडालादिभ्यस्तमी नेति भद्रमेतत् ।।७६।।

तुलान्तवत्तद् द्वयमस्तु वस्तु प्रतिष्ठितं विज्ञहृदीह वस्तुम् ।
न पश्चिमांशेन विना बिभर्ति समग्रभंशं खलु याऽस्ति भित्तिः ।।७७।।

तुलान्तवदित्यादि—तुलाया अन्तौ प्रान्तौ द्वौ तुलाप्रतिबद्धौ तथास्ति च नास्ति चेत्येतद् द्वयमपि विज्ञस्य हृदि चित्ते वस्तुं प्रतिभातुमिह वस्तु प्रतिष्ठितमेवास्ति खलु या भवति भित्ति सा समग्रमंशं पुरोभागं पश्चिमांशेन तदपरभागेन विना न बिभर्तीति ।।७७।।

भावार्थ—आप सासारिक पदार्थोका राग छोड देनेसे विराग हैं और सिद्धि-स्वात्मोपलब्धिमे रत-लीन होनेसे सराग जान पडते हैं। इसलिये स्याद्वाद सिद्धान्तकी अपेक्षा आप विराग भी है तथा सराग भी हैं ।।७५।।

अर्थ—हे भगवन् ! जो है वही नही है, यह आपका उपदेश अद्भुत-आश्चर्यकारी जान पडता है । अथवा हम जानते हैं कि रात्रि मनुष्योके लिये तमी-अन्धकार पूर्ण है, वही बिलाव आदि निशाचर जीवोंको अन्धकारपूर्ण नही है।

भावार्थ—स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है ।।७६।।

अर्थ—जिस प्रकार तराजूके दोनो प्रान्त परस्पर बद्ध होते हैं, अर्थात् एक प्रान्तसे तराजू नही बनती है। उसी प्रकार वस्तु भी अस्ति नास्ति-दोनो रूप होकर ही ज्ञानी मनुष्योके हृदयमे प्रतिभासित होनेके लिये प्रतिष्ठित है। अथवा जिस प्रकार जो दीवाल है वह अपने पिछले भागके बिना पूर्णताको धारण नही करती, उसी प्रकार कोई भी वस्तु अपनेसे विरुद्ध धर्मके बिना पूर्णताको प्राप्त नही होती। जो अस्ति रूप है वह नास्ति रूप भी है, जो नित्य है वह अनित्य भी है, जो एक है वह अनेक भी है जो तद् है वह अतद् भी है इत्यादि ।।७७।।

अभेदभेदात्मकमर्थमर्हंस्तवोदितं संकलयन् समर्हम् ।
शक्नोमि पत्नीसुतवन्न वक्तुं किलेह खड्गेन नभो विभक्तुम् ॥७८॥

अभेदेत्यादि—हे अर्हन् ! भगवन् ! अभेदश्च भेदश्चैक्यमनैक्यञ्च तौ द्वावात्मा स्वरूपं यस्य तमर्थंतत्त्वसमहं पूर्णतयोचितं सकलयन्ननुभवन्नपि किलेह वक्तुं न शक्नोमि पत्नीसुतवद् यथा पत्न्या एव सुतः स मातरं वा ब्रूयात् पत्नीं वा तामिति तथैवात्रापि भिन्नं वा वदेद्वस्तु अभिन्नं वा यतस्तद्द्वयात्मकमतः कथमपि वक्तुं न योग्यम् । यथा खड्गेन नभो विभक्तुं न योग्यं तथा शब्देन वस्तुस्वरूपमपि पूर्णतया न वाच्यम् ॥७८॥

द्वयात्मनोऽप्यस्ति जनो यदर्थी श्रीवस्तुनः सम्प्रति तत्समर्थी ।
वमेर्विधौ यद्यपि वक्त्रमूह्यं विरेचने किन्तु तथैव गुह्यम् ॥७९॥

द्वयात्मन इत्यादि—द्वयात्मनोऽपि वस्तुनो जनो यदा यदर्थी भवति तदा तत्समर्थी तस्यैव धर्मस्य समर्थको भवति । यथा वमेर्विधौ वमनसमये वक्त्रं मुखमूह्यमुत्स्फाल्यमस्ति यद्यपि, किन्तु तथैव विरेचने मलोत्सर्गसमये गुह्यमङ्गमेव विस्फाल्यमिति सम्प्रति दृश्यते ॥७९॥

तत्त्वं त्ववुक्तं सदसत्स्वरूपं तथापि धत्ते परमेव रूपम् ।
युक्ताप्यहो जम्भरसेन हि द्रागुपैति सा कुङ्कुमतां हरिद्रा ॥८०॥

हे अर्हन् ! आपके द्वारा कथित भेदाभेदात्मक पदार्थको जब मै पूर्णरूपसे ग्रहण करता हुआ कहना चाहता हूँ, तब पत्नीके पुत्रके समान कह नही सकता हूँ। तात्पर्य यह है कि पुरुषकी पत्नीको उसका पुत्र माता कहता है और पति पत्नी कहता है। उसे सर्वथा न मातारूप कहा जा सकता है और न पत्नीरूप, क्योकि उसमे माता और पत्नीका व्यवहार पुत्र और पतिकी अपेक्षासे है, इसी तरह किसी वस्तुको भेद और अभेद दोनो रूप कहा जाता है। प्रदेशभेद न होनेके कारण वस्तु अपने गुणोसे अभेदरूप है और संज्ञा, लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद रूप है। दो रूप वस्तुको एकान्त रूपसे एक रूप कहना तलवारसे आकाशको खण्डित करनेके समान अशक्य है ॥७८॥

अर्थ—कोई पुरुष जब द्वयात्मक वस्तुको ग्रहण कर रहा है, तब वह जिसका इच्छुक होता है उस समय उसीका समर्थक होता है। जैसे वमन करते समय मुखको विस्तृत किया जाता है और मलविसर्जन करते समय गुह्य स्थानको विस्तृत किया जाता है ॥७९॥

तत्त्वमित्यादि—हे देव ! त्वदुक्त तत्त्व यद्यपि सदसत्स्वरूपं कथंचित् स्वचतुष्टयेन सद्रूपं परचतुष्टयेन चासद्रूपमिति, तथापि परमेव रूपं धत्तेऽनुकरोति। यथा हरिद्रा जम्भरसेन युक्ता सती हि द्राक् शीघ्रमेव सा कुङ्कुमतामुपैति स्वीकरोति, न तु हरिद्रारूपेण तिष्ठति न च जम्भरसात्मतामेति ॥८०॥

अङ्गाङ्गिनोर्नैक्यमितो हरीतिर्न भोः प्रभो भाति यथाप्रतीति ।
सत्या त्वदुक्तिः शतपत्रनीतिर्गुणेषु नष्टेषु परेऽपि हीतिः ॥८१॥

अङ्गाङ्गिनोरित्यादि—भो प्रभो ! अङ्ग चाङ्गी चाङ्गाङ्गिनौ तयोर्द्वयोर्नैक्यमेव पृथक्त्वमेवेहास्तीति रीतिः शब्दप्रयुक्तिर्यथाप्रतीति न भाति समुचिता न प्रतीयते, किन्तु त्वदुक्ति पत्राणा शत तदेवैकीभूय शतपत्र कमलमिति कथनरूपा सत्या सम्भवति, यतो गुणेषु नष्टेषु सत्सु परेऽपि गुणिन्यपीतिर्हि नियमेन भवतीति ॥८१॥

येषां मतेनाथ गुणः स्वधाम्ना सम्बध्यते वै समवायनाम्ना ।
तेषां तदैक्यात्किल संकृतिर्वाऽनवस्थितिः पक्षपरिच्युतिर्वा ॥८२॥

येषामित्यादि—अथ येषां मतेन गुणो ज्ञानादि स स्वधाम्ना गुणिनाऽऽत्मना सार्द्धं समवायनाम्ना सम्बन्धेन सम्बध्यते वै निश्चयेन, तेषा तस्य सम्बन्धस्यैक्यादेवत्वात्किल

अर्थ—हे देव ! आपके द्वारा कहा हुआ तत्त्व यद्यपि सदसत्स्वरूप है-स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सद्रूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असद्रूप है, तथापि वह एक तृतीय रूपको ही प्राप्त होता है। जैसे हलदी नीबूके रसमे युक्त होती हुई शीघ्र ही केशररूप-लालरूप हो जाती है, न हलदीरूप रहती है और न नीबूके रसरूप ॥८०॥

अर्थ—हे प्रभो ! अङ्ग और अङ्गी-अवयव और अवयवीमे ऐक्य-अभेद नही है, पृथक्ता ही है, ऐसा कहना ठीक नही जान पडता, परन्तु आपका अभेद कथन शतपत्रके समान सत्य है, जैसे कि सौ पत्रो-कलिकाओका समूह शतपत्र-कमल कहलाता है। यहाँ सौ पत्रो और कमलमे भेद नही है-अभेद है, क्योकि एक-एक पत्रके पृथक् करने पर शतपत्र-कमल ही नष्ट हो जाता है। यही बात गुण और गुणीमे भी है। प्रदेशभेद न होनेसे गुण-गुणीमे अभेद है, क्योकि गुणोंके नष्ट होने पर गुणी भी नष्ट हो जाता है ॥८१॥

अर्थ—जिनके मतमे गुण गुणीके साथ समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धको प्राप्त होता है, उनके मतमे समवायके एक होनेके कारण सकर, अनवस्थिति और प्रतिज्ञाहानिरूप दोष आते है।

भावार्थ—वैशेषिक दर्शन गुणको गुणीसे भिन्न मानता है, जैसाकि आत्माका ज्ञान और आकाशका शब्द गुण क्रमशः आत्मा और आकाशसे भिन्न है।

संकृतिः संकरनामदोष संजायते, यतो ज्ञानं नाम गुणो व्यापकेनैकेन समवायसमवाये-नात्मनि सम्बध्यते तेनैवाकाशेऽपि सम्बन्ध्यतामिति । शब्दश्च यथाकाशे तथात्मनि सम्बन्ध्यतामिति सर्वसंकरः । यद्वा ज्ञानमाकाशे शब्दश्चात्मनि सम्बन्ध्यतां को नियामको यज्ज्ञानमात्मन्येव सम्बन्ध्यतामित्यनवस्थितिर्नाम दोषोऽन्यथा तु पुनः पक्षस्य परिच्युति, प्रतिज्ञाहानिर्नाम दोषो यतो ज्ञानात्मनोः सम्बन्धक. समवायो भिन्नः शब्दाकाशयोः सम्बन्धको भिन्न इति स्यात् ।।८२।।

सम्मेलनं नो तिलवत् प्रसक्तिर्नान्धाश्मवच्चैतदशक्यभक्तिः ।
सत्तावयोरस्ति तदात्मशक्तिस्तद्दीपदीप्त्योरिव तेऽनुरक्तिः ।।८३।।

सम्मेलनमित्यादि—सद् वस्तु आत्मादि तत्त्वं च तस्य भावो गुणो ज्ञानादिस्तया-स्तित्व च, तिल तैलश्च तयो. प्रसक्तिरिवापूर्वापि पृथग् भावरूपा प्रसक्तिर्यत्र तन्नो भवति, तथान्धाश्मवदशक्या कर्तुमयोग्या भक्तिर्विभागभावो ययोर्यत्रेति किलाशक्यभक्ति

परन्तु उसके मतमे गुणका गुणीके साथ समवायसम्बन्ध माना गया है । यतश्च समवाय एक है और व्यापक है, तब ज्ञानका सम्बन्ध आत्माके ही साथ हो और शब्दका सम्बन्ध आकाशके ही साथ हो इसका नियामक कौन है ? नियामकके अभावमे ज्ञानका आकाशके साथ और शब्दका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे सकर और अनवस्था नामका दोष आ जाता है । इनसे बचनेके लिये यदि आत्मा और ज्ञानका सम्बन्ध करानेवाला समवाय दूसरा है तथा शब्द और आकाशका सम्बन्ध करानेवाला समवाय दूसरा है, ऐसा माना जाय तो समवाय एक है तथा व्यापक है इस पक्षको–मान्यताको हानि होती है । फलतः गुण और गुणीमे प्रदेशभेद न होनेसे एकरूपता है, मात्र सज्ञा, सख्या तथा लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है । गुण गुणीरूप है और गुणी गुणरूप है, अतः इनमे तादात्म्य सम्बन्ध है । तादात्म्य सम्बन्धमे जिस द्रव्यका जो गुण है उसका उसीके साथ तादात्म्य होता है, अत सकरादि दोषोकी आपत्ति नही आती ।।८२।।

अर्थ—सत् और सत्ता इनका सम्बन्ध न तो तिल और तैलके समान है और न अन्धपाषाण और सुवर्णके समान है, किन्तु दीपक और दीप्ति–प्रकाशके समान है । जिस प्रकार दीपक और दीप्तिका तादात्म्य सम्बन्ध है, उसी तरह सत् और सत्ताका तादात्म्य सम्बन्ध है ।

भावार्थ—यद्यपि तिल और तेलका सम्बन्ध एकरूप दिखायी देता है, तथापि तेल तिलसे अलग हो जाता है, अतः उन दोनोमे तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकता । इसी तरह अन्धपाषाणमे जो सुवर्ण है, उसे यद्यपि पृथक् नही

सम्मेलनमपि न भवति, किन्तु ते मते तयोर्दीपदीप्त्योरिव दीप एव दीप्तिः, दीप्तिरेव च दीपः, केवल लक्षणप्रयोजनादिना तु भेद साध्यते, किन्तु सत्तया नानयोर्भेद इति तदात्मशक्तिस्तादात्म्यशक्तिस्तादात्म्यसम्बन्धो गुणगुणिनोरिति तेऽनुरक्तिः प्रतिपत्तिरस्ति ॥८३॥

न सत् सदैकं गुणसंग्रहत्वाद् घृतादयो मोदकमस्तु तत्त्वात् ।
अनेक्यमेवास्य तथैतु किञ्चिदेकैकतोऽनेक्यमुपैति किञ्चित् ॥८४॥

न सदित्यादि—हे प्रभो ! तव मते सत् सर्वदा सर्वथा किलैकमेव न भवति, गुणानां संग्रहत्वात् । तद्यथा मोदक घृतादय एव मोदकरूपेणैक कथ्यते, किन्तु तत्त्वात्तद् घृत च शर्करा च पिष्ट चैतेषां सग्रह एवेति । तथा चानेक्यमपि सदा सर्वदा सर्वथा सत इति चिद् बुद्धि. किमेतु किन्तु नैतु, यतः किञ्चिदपि चानेक्यमुपैति तदेकैकत एवोपैति नान्यथा ॥८४॥

वारा इवारात्पदवाच्यमेकमनेकमप्येतितरां विवेकः ।
समस्तु वस्तुप्रतिरूपवेशमुद्बोधनायास्त्वथवैकशेषः ॥८५॥

किया जा सकता, तथापि अन्धपाषाण और सुवर्णमे अभेद नही माना जाता, क्योकि दोनोकी जातियाँ पृथक् पृथक् है, दोनोके प्रदेश अलग-अलग है, साधनके अभावसे वे अलग अलग नही हो पाते । सत् और सत्तामे तादात्म्य सम्बन्ध है, इनमे प्रदेशभेद नही है, अत दीपक और दीप्तिके समान इनमे तादात्म्य माना जाता है । तिल और तैलके समान इनमे पृथक् भाव नही होता ॥८३॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक नही है, क्योकि वह अनेक गुणोका सग्रह रूप है । घृत, शक्कर और आटा आदिको मिलाकर लड्डू बनाया जाता है, अत वह देखनेमे एक प्रतीत होता है । परजिन पदार्थोंके सग्रहसे बना है । उनकी ओर दृष्टि देनेसे वह अनेकरूप हो जाता है । परन्तु जीवादि द्रव्यरूप सत् अनेक गुणोके सग्रह रूप होनेसे लड्डूकी तरह अनेकरूपताको नही प्राप्त होता, क्योकि घृत, शर्करा आदि पदार्थ अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व लिये हुए लड्डूमे सगृहीत होकर एकरूप दिखते हैं, इस प्रकार जीवादि द्रव्योमे रहने वाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण अपनी अपनी पृथक् सत्ता नही रखते और न कभी जीवादि द्रव्योसे पृथक् थे । इसलिये सत्मे जो अनेकत्व है वह उसमे अनेक गुणोके साथ तादात्म्य होनेसे है, सग्रहरूप होनेसे नही । अनेक गुणोकी ओर दृष्टि देनेसे जीवादि सत् अनेक रूप जान पडते हैं, परन्तु उन सबमे प्रदेशभेद न होनेसे परमार्थसे एकरूपता है ॥८४॥

वारा इत्यादि—विवेको विचारोऽपि दारा इति पदस्य वाच्यमेकं चानेकधाराबेव निसर्गभावेनैवेतितरामुपैति किल रूपस्य वेश वेशं प्रति प्रतिरूपवेश वस्तु समस्तु। अथ य एकशेषो नाम समासो निर्दिष्ट शाब्दिकैः, सोऽपि वा निश्चयेनोद्‌बोधनाय तस्य प्रस्पष्टीकरणायैवास्तु ॥८५॥

अद्वैतवादोऽपरिणामभृत् स्याददृष्टहृद्दृष्टविरोधकृत् स्यात् ।
किं यातु सेतुं च तदीयहेतुर्विरुद्धता द्वीपवतीभरे तु ॥८६॥

अद्वैतवाद इत्यादि—यदि किलाद्वैतमेकवस्तु नान्यद् इति वादोऽद्वैतवादः स स्यात्त्वे-त्सोऽप्यपरिणामभृत् स्यात् किल निर्हेतुकत्वात् । तत्र परिणामस्य को हेतुः स्यात् ? कोऽपि न स्यात् । तत एव वादोऽदृष्टहृद् दृष्टस्य नवीनजातस्य हृदवलोपकर स्यादेवं स दृष्टस्य दृष्टिपथगतस्य समुत्पद्यमानस्य वैचित्र्यस्य विरोधकृत् स्यात् सम्भवेत् । यदि तस्य हेतु-स्तदीयहेतु स प्रकल्प्यते चेत् स पुनर्विरुद्धतेव द्वीपवती नदी तस्या भरे प्रवाहे किं सेतुं यातु ? किन्तु नैव यातु । य एव हेतुः प्रकल्प्येत स ततोऽन्य इति विरुद्धताकारकः स्यात् ॥८६॥

अर्थ—यह भी एक विचार आता है कि जिस प्रकार स्त्री वाची 'दार' शब्द एक स्त्रीके रहने पर भी 'दारा' इस प्रकार बहु सख्यामे प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार सत् भी एक होकर भी अनेकरूपताको प्राप्त होता है। वैया-करणोने जिस प्रकार 'रामश्च, रामश्च, रामश्चेति रामाः' इस द्वन्द्व समासमे अनेक राम शब्दोको एक राम शब्दमे समाविष्ट कर अनेकमे एकत्वको प्रकट किया है, उसी प्रकार पर्यायगत अनेकरूपताको गौणकर द्रव्यमे भी आचार्योंने एकरूपता स्वीकृत की है। तात्पर्य यह है कि सत् एक भी है और अनेक भी है। द्रव्यार्थिक नय–सामान्यकी विवक्षामे द्रव्य एक है और पर्यायार्थिक नय–विशेषकी विवक्षामे अनेक हैं ॥८५॥

अर्थ—यदि एक अद्वैतवादको ही स्वीकृत किया जावे तो वह परिणाम–परिवर्तनसे रहित होगा। परिणामका कारण स्वीकृत किये बिना स्वयं परिणाम हो नही सकता और परिणामका कारण स्वीकृत किया जावे तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार यह माना जाय कि ससारमे सब पदार्थ पहलेसे विद्यमान है, अदृष्ट वस्तु कुछ भी नही है तो यह मान्यता भी प्रत्यक्ष दिखने वाली विचित्रताका विरोध करनेवाली है, नित्य नयी-नयी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, इसका विरोध होगा। परिणाम नवीन विचित्र वस्तुओंकी उत्पत्ति का कारण माना जाय तो अद्वैतादि मान्यतामे विरुद्धता आती है। इस विरुद्धता रूप नदीके प्रवाहमे पुल क्या होगा ? विरुद्धताका परिहार कौन करेगा ॥८६॥

भावैकतायामखिलानुवृत्तिर्भवेदभावेऽथ कुतः प्रवृत्तिः ।
यतः पटार्थो न घटं प्रयाति हे नाथ ! तत्त्वं तदुभानुपाति ॥८७॥

भावैकताया इत्यादि—यदि भाव एव सर्वस्य सर्वथा सर्वदेति वाद स्वीक्रियेत, तदा तस्या भावैकतायाम् अखिलानुवृत्तिर्भवेत् सर्वत्र प्रवृत्तिरेव स्यान्न निवृत्तिरिति, तथा थाभाव एव सर्वस्येति कथने पुनर्लोकस्य या प्रवृत्तिर्भवति सा कुत स्यात् ? या दृश्यते हे नाथ ! पटस्य वस्त्रास्यार्थी जनो घट न प्रयाति न स्त्री करोति ततस्तत्त्व वस्तु तदुभानुपाति सदसदात्मकमेवेति ॥८७॥

अंशीह तत्कः खलु यत्र दृष्टिः शेषः समन्तात् तदनन्य सृष्टिः ।
स आगतोऽसौ पुनरागतो वा परं तमन्वेति जनोऽत्र यद्वाक् ॥८८॥

अंशीहेत्यादि—अनेकधर्मात्मके वस्तुनि यत्र खलु जनस्य दृष्टि स्यात् तत्कस्तन्मात्र एवेहांशी स्यात्, ततोऽन्य· शेष सर्वोऽपि धर्मसमूह स तदन्यसृष्टिस्ततोऽशितोऽनन्या

अर्थ—यदि भावरूप ही पदार्थको माना जावे तो सबकी सब पदार्थोंमे प्रवृत्ति होनी चाहिये और सर्वथा अभावरूप ही पदार्थको माना जाय तो प्रवृत्ति किस कारण होगी ? क्योंकि वस्त्रका इच्छुक मनुष्य घटको प्राप्त नही होता। इसलिये हे प्रभो ! पदार्थ भाव और अभाव दोनो रूप है ।

भावार्थ—यदि अन्योन्यानुभावके माध्यममे घटमे पटका अभाव न माना जाय तो पटके इच्छुक मनुष्यकी घटमे प्रवृत्ति होनी चाहिये, पर नही होती, इससे जान पडता है कि घटमे पट नही है और पटमे घट नही है। एक पर्यायका दूसरी पर्यायमे नही होना अन्योन्यानुभाव कहलाता है। एक द्रव्यका दूसरा द्रव्यरूप नही होना अत्यन्ताभाव कहलाता है। कार्योत्पत्तिके पूर्व पर्यायमे कार्यका अभाव होना प्रागभाव कहलाता है और वर्तमान पर्यायके नष्ट होनेको प्रध्वसाभाव कहते है। उपर्युक्त चारो अभावोको जिनागममे स्वीकृत किया गया है। इसलिये पदार्थ भाव-अभाव–दोनो रूप है ॥८७॥

अर्थ—इस जगत्मे अंशी कौन है ? जिस पर दृष्टि होती है, वही अंशी है और सब ओर विद्यमान शेष पदार्थ अन्य रूप हैं। जैसे जनसमूहके आनेपर मनुष्यकी जिसपर दृष्टि–अपेक्षा होती है, उसके लिये कहता कि वह आ गया और यह फिर आ गया। इस प्रकार जिस जिसकी अपेक्षा करता है, वही अंशी हो जाता है, तद्रूप कहलाने लगता है और शेष अतद्रूप ।

दृष्टिर्यस्य स समन्तात् सर्वस्वसंशरूपतापन्नो भवेत् । यतोऽत्र जनो यद्वाग् यदपेक्षको भवति जनसमूहे समायाते स आगतो वा न वाऽसौ पुनरागत इति पर तमेवान्वेति ॥८८॥

नित्यैकतायाः परिहारकोऽब्दः क्षणस्थितेस्तद्विनिवेदिशब्दः ।
सिद्धोऽधुनार्थः पुनरात्मभूप ! संज्ञानतो नित्यतदन्यरूपः ॥८९॥

नित्यैकताया इत्यादि—हे आत्मभूप ! नित्यमेवैकं नानित्यमिति विचारो नित्यैकता तस्या. परिहारकः प्रतिवादकरोऽब्दो मेघ एव, योऽकस्मादुत्पद्यते पुनर्लयमप्येतीति । तथा तद्विनिवेदिशब्दस्तदुत्थो गर्जनात्मक शब्द. सोऽप्यनेकक्षणस्थायित्वात् क्षणस्थितेः परिहारको भवति, यतो यत्रानेकक्षणस्थायित्वं तत्र पुनः सर्वदा स्थायित्वेन कोऽस्तु द्वेष इति किलाऽधुना संज्ञानतो यः पुरा बालः स एवाधुना युवायमिति प्रत्यभिज्ञानतो नित्यतदन्यरूपो नित्यानित्यात्मकोऽर्थः सिद्धोऽस्ति[1] ॥८९॥

काष्ठं यदादाय सदा क्षिणोति हलं तटस्थो रथकृत् करोति ।
कृष्टा सुखी सारथिरेव रौति न कस्त्रिधा तत्त्वमुरीकरोति ॥९०॥

काष्ठमित्यादि—यो रथकृत्तक्षक काष्ठमादाय सदा तत् क्षिणोति तादृगाजीवनोऽस्ति स यदा तटस्थ. सन् हलं करोति तदा कृष्टा कृषीवलः स तु स्वेच्छानुकूल

भावार्थ—अनेक धर्मात्मक वस्तुमे जिस समय जिस धर्मकी विवक्षाकी जाती है, उस समय वह वस्तु तद्रूप हो जाती है और शेष वस्तु अतद्रूप ॥८८॥

अर्थ—हे आत्मभूप ! नित्यैकताका परिहार करने वाला मेघ है और मेघसे उत्पन्न हुआ शब्द क्षणस्थिति–अनित्यैकताका प्रतिषेध करने वाला है। प्रत्यभिज्ञानसे नित्य और अनित्यकी सिद्धि होती है, अर्थात् जिसके विषयमे यह ज्ञान हो कि यह वही है जिसे पहले देखा था वह नित्य है और जिसके विषयमे 'यह वह नही है' इस प्रकारका बोध हो वह अनित्य है। मेघ अकस्मात् उत्पन्न होता है और अकस्मात् विलीन हो जाता है, इससे पदार्थकी अनित्यताका बोध होता है। और मेघसे उत्पन्न हुआ शब्द अनेक क्षण तक विद्यमान रहता है, इससे पदार्थ सर्वथा अनित्य नही है यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य ॥८९॥

अर्थ—कोई बढ़ई लकड़ी लेकर सदा छीलता है, छीलता हुआ यदि वह स्वेच्छासे हल बना देता है तो किसान सुखी हो जाता है और रथका इच्छुक

---

१. नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥ आप्तमीमांसा

साधनतया सुखी भवति, किन्तु यः सारथिः स स्वसाधनाभावात्रोति विलक्ष एव भवति । ततः स को बुद्धिमान् यस्तत्त्व त्रिधा व्ययोत्पादस्थितिमवैति नोरीकरोति, किन्तु न कश्चिदपि ।।९०।।

विशेषतद्व्यक्तिगतं नरत्वं विशिष्यते गोकुलतस्ततस्त्वम् ।
सामान्यशेषौ तु सतः समृद्धौ मिथोऽनुविद्धौ गतवान् प्रसिद्धौ ।।९१।।

विशेषेत्यादि—नरत्व नाम सामान्यं तन्निःशेषास्तद्व्यक्तयो ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यशूद्ररूपास्तत्र गत गोकुलतो वचनाद्विशिष्यतेऽङ्गीक्रियते, ततो हे भगवंस्त्वं सामान्य च शेषो विशेषश्च तौ द्वौ सतो वस्तुनः समृद्धौ सम्पूर्णरूपेण समर्थौ प्रत्येक-वस्तुनः सामान्यमपि समानार्थकमात्मनिष्ठ यथा विलक्षणतार्थको विशेष इति तौ द्वौ धर्मौ मिथोऽनुविद्धौ यन्नरत्व सामान्यं तद् ब्राह्मणत्वाद्यपेक्षया, ब्राह्मणत्वादिश्च तस्य नरत्वस्य विशेष इति तथा ब्राह्मणत्वमपि गौडत्वाद्यपेक्षया सामान्य गौडत्वादिश्च तस्य विशेष इत्यनुविद्धता सुस्पष्टैवेत्येव प्रसिद्धौ त्वं गतवाननुभूतवान् हे भगवन् ! ।।९१।।

सदेतदेकं च नयादभेदाद् द्विधाऽभ्यधास्त्वं चिदचित्प्रभेदात् ।
विलोडनाभिर्भवतादवश्यमाज्यं च तक्रं भुवि गोरसस्य ।।९२।।

सदेतदित्यादि—हे प्रभो ! सदिति सामान्य वस्तु तदपि चाभेदान्नयादेकैक भवति । भेदान्नयात् तु पुनस्त्वं चिच्चेतनात्मकमचिज्जडात्मकमिति प्रभेदाद् द्विधा द्विरूपतयाऽभ्यधा उक्तवान् । यथावश्यमेव विलोडनाभिर्गोरसस्यैकस्यैवाज्यं घृतं तक्रं च मथितमिति भवतादेवेति द्विरूपं पृथक् पृथग् भुवि ।।९२।।

सारथि दु खी हो जाता है और बढई तटस्थ रहता है, अर्थात् हर्ष विषाद कुछ भी नही करता, क्योकि वह आजीविकाकी दृष्टिसे काष्ठको छील ही रहा था। यह देखकर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप स्वीकृत न करे[1] ।।९०।।

अर्थ—हे भगवन् ! नरत्व-मनुष्यत्व ब्राह्मणादि विशेष व्यक्तियोमे व्याप्त होनेसे सामान्य है और ब्राह्मणत्व आदि विशिष्ट व्यक्तियोमे व्याप्त होनेसे विशेष है। इस प्रकार सामान्य और विशेष सत्-पदार्थके समृद्ध-परिपूर्ण परस्पर मे सम्बद्ध ओर प्रसिद्ध धर्म है। इन्हे आपने अनुभूत किया है-स्वीकृत किया है ।।९१।।

अर्थ—हे भगवन् ! इस सत्को आपने अभेदनयसे एक और भेदनयकी

---

१. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। आप्तमीमासा

भवन्ति भूतानि चितोऽप्यकस्मात्तेभ्योऽथ सा साम्प्रतमस्तु कस्मात् ।
स्वलक्षणं सम्भवितास्ति यस्मादनादिसिद्धं द्वयमेव तस्मात् ॥९३॥

भवन्तीत्यादि—हे भगवन् ! प्रभो ! चितो बुद्धितो विलक्षणरूपातोऽकस्माद् भूतानि पृथिव्यादिकानि भवन्त्यपि किम् ? यथा ब्रह्मवादिभिर्निरूप्यते तथा किन्तु नैव भवितुमर्हन्ति । अथ पुनस्तेभ्यो भूतेभ्यश्चेतनतारहितेभ्यस्सारवन्तविलक्षणा चिदपि कस्मादस्तु यथा बृहस्पतिमार्गानुगामिभिर्गीयते । यस्मात्कारणात्पदार्थ. स्वलक्षणं निजलक्षणानुसार यथा स्यात्तथैव किल सम्भवितास्ति प्रभवितुमर्हति न चेतनोऽचेतनरूपेण न चाचेतनश्चेतनतयेति तस्माद् द्वयमेवानादिसिद्धमस्ति साम्प्रतं यद् दृश्यते ॥९३॥

भो गोमयादावपिह वृश्चिकादिश्चिच्छक्ति रायाति विभो अनादि ।
जनोऽप्युपादान विहीनवादी वह्निं च पश्यन्नरणे प्रमादी ॥९४॥

भो गोमयादावित्यादि—भो विभो ! गोमयादावपीह वृश्चिकादिश्चिच्छक्ति-श्चेतनात्मक आयाति सोऽप्यनादिरेवायाति । गोमयादितस्तु तस्याङ्गमेव यदचेतन तदेव प्रभवति । योऽरणे. परस्परं वेणुसंघर्षाद् वह्निं पश्यन् किलोपदानाद्विहीनमपि जायतेऽत्रेति

अपेक्षा चेतन-अचेतनके प्रभेदसे दो प्रकारका कहा है। यह ठीक ही है कि विलोडन करनेसे पृथिवीपर गोरसके घी और तक्रके भेदसे दो भेद अवश्य हो जाते है ॥९२॥

अर्थ—चित्-बुद्धिसे अकस्मात् पृथिवी आदि भूत कैसे उत्पन्न हो सकते है ? और अचेतन भूतोसे चित्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। इसका कारण यह है कि अपने लक्षणके अनुसार ही पदार्थका उत्पन्न होना सम्भव है। इससे सिद्ध है कि सत्के चेतन-अचेतन भेद अनादिसे सिद्ध है।

भावार्थ—ब्रह्मवादी-वेदान्तियोका यह कहना कि चेतन रूप ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति होती है और चार्वाकोका यह कहना है कि पृथिवी आदि भेदोंसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, दोनो मिथ्या है, क्योकि चेतन-अचेतनका कारण नही हो सकता और अचेतन चेतनका कारण सम्भव नही है। इसलिये चेतन-अचेतन पदार्थोकी उत्पत्ति अपने अपने उपादानसे होती है। ऐसा आपने कहा है ॥९३॥

अर्थ—हे प्रभो ! गोबर आदि अचेतन पदार्थोसे बिच्छू आदि चेतन शक्तिकी उत्पत्ति होती है, ऐसा जो कहते है उनका कहना वह ठीक नही है, क्योकि चेतन शक्ति तो अनादि है, गोबर आदिसे मात्र उनका शरीर उत्पन्न होता है। इसी तरह अरणि नामक लकडीसे अग्निकी उत्पत्तिको देखकर जो यह कहता है कि उपादानके बिना भी कार्यकी उत्पत्ति होती है, वह प्रमादी है, यथार्थवादी नही

ववति: स उपादानविहीनवादी जन प्रमादी मदोन्मत्त एव, न यथार्थवादी। यतः किलारणिरपि रूपादिमान् पुद्गलोऽग्निरपि रूपादिमानिति पुद्गल एव पुद्गलाज्जायते, नास्त्यत्र किंचिदनिष्टम् ॥९४॥

शरीरमात्रानुभवात् सुनामिन् न व्यापक नाप्यणुकं भणामि।
आत्मानमात्माङ्गनयास्तिकामी नखाच्छिखान्तं पुलकाभिरामी ॥९५॥

शरीरमित्यादि—हे सुनामिन्! भगवन्! अहं यथा तव मते निर्दिष्टमस्ति तथैव शरीरमात्रानुभवाद्धेतोरात्मानं व्यापक न भणामि नाप्यणुकमत्यल्परूपं भणामि कथयामि, किन्तु यावच्छरीरव्यापिनमेव जानामि, यतः कामी नामात्मा जीवः सोऽङ्गनया स्त्रिया सह संपर्कमुपेत्य नखादारभ्य शिखन्तमेव हि पुलकाभिरामी रोमाञ्चितोऽस्ति सम्भवति ॥९५॥

अहन्तयास्मिन् वपुषीतियुक्तस्तथा ममत्वाद्विषयेषु रुक्तः।
प्रदोषतोऽस्मात् समुपैति खेदमिहायमस्यास्ति न चात्मवेदः ॥९६॥

अहन्तयेत्यादि—हे प्रभो! अयं मादृशः ससारी जनोऽस्मिन् वपुषि शरीरेऽहन्तया किलेदमेवाहमिति बुद्धया तथा पुनर्विषयेषु स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु रुक्तोऽभिरुचितो ममत्वान्ममैते समुपभोग योग्या इति विचारादीतियुक्तोऽस्ति परवशोऽस्ति। अस्मादेव प्रदोषतोऽपराधा-द्विहाय खेदमुपैति प्राप्नोति तथा चास्य नास्त्यात्मनस्स्वरूपस्य वेदो ज्ञानमिति ॥९६॥

है, क्योकि अरणि नामक लकडी रूपादिमान् होनेसे पुद्गल है और अग्नि भी पुद्गल है, अतः पुद्गलसे पुद्गलकी उत्पत्ति होनेमे कुछ विरोध नही है ॥९४॥

अर्थ—हे भगवन्! सम्पूर्ण शरीरमे ही अनुभव होनेसे मै आत्माको न तो व्यापक कहता हूँ और न अणुमात्र कहता हूँ, क्योकि कामी—कामेच्छासे सहित जीव स्त्रीके साथ सपर्क होने पर नखसे लेकर शिखा पर्यन्त रोमाञ्चित होता है।

भावार्थ—कुछ लोगोका कहना है कि आत्मा समस्त ब्रह्माण्डमे व्याप्त है और कुछ का कहना है कि अणुमात्र है, अलात चक्रके समान समस्त शरीरमे शीघ्रतासे घूमता रहता है। पर हे जिनेन्द्र! आपका कहना है कि इस जीवको जितना छोटा या बडा शरीर प्राप्त होता है उसीमे व्याप्त होकर रहता है, क्योकि कामी मनुष्य स्त्रीके सपर्कसे समस्त शरीरमे रोमाञ्चित होता हुआ विषय सुखका अनुभव करता है ॥९५॥

अर्थ—यह ससारी प्राणी इस शरीरमे आत्मबुद्धिसे तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोमे रुचिपूर्वक ममत्व भावसे युक्त है। इसी अहंकार और ममकार रूप अपराधमे यह प्राणी ससारमे खेदको प्राप्त होता है। इसे आत्मज्ञान नही है ॥९६॥

त्वमीश्वराहंममकारवेशं संक्लेशवेशं जितवानशेषम् ।
प्रक्षीणदोषावरणोऽथ चिद्वान् समस्तमारात् स्फुटमेव विद्वान् ॥९७॥

त्वमित्यादि—हे ईश्वर ! भगवन् ! त्वं पुनरथाहंकारश्च ममकारश्चाहंममकारौ समासभावादेकस्य कारशब्दस्य लोपस्तयोर्वा वेशः सन्निवेशस्तं ततश्च जायमानं संक्लेशवेशं कष्टभावमप्यशेषं संपूर्णं जितवानसि, ततो दोषो रागादिभाव आवरणं चाज्ञानं च ते दोषावरणे प्रक्षीणे दोषावरणे यस्य स त्वं चिद्वानित्यनेन शुद्धज्ञानवान् भवन् आरादेककालमेव समस्तं पदार्थजातं स्फुटं प्रस्पष्टरूपं विद्वान् सञ्जातवान् ॥९७॥

यन्मीयते वस्त्वखिलप्रमाता भवेदमेयस्य तु को विधाता ।
श्रुत्याखिलार्थाधिगमोऽप्यशक्त्याऽवलोक्यते भुव्युपनेत्रयुक्त्या ॥९८॥

यन्मीयत इत्यादि—यदस्ति वस्तु तन्मीयते मेयगुणाधारो भवति प्रमाणेगम्यतामुरीकरोति यतः किलामेयस्य प्रमेयताविरहितस्य तु पुनर्विधाता विधानकर्ता को भवेदतोऽखिलप्रमाता सर्वज्ञो भवेदेव । भुवीह श्रुत्या वेदद्वाराऽखिलानामर्थानामधिगमो भवत्येव न तु प्रत्यक्षत इति चेत् ? किलाशक्त्या नयनयो शक्त्यभावे सत्युपनयनयुक्त्याऽवलोक्यते, यस्य शक्ति स स्वयमवलोकयेदेवेत्यायातं भगवन् ! अस्मिन् विषये विशेष वर्णन जैनन्यायशास्त्रे द्रष्टव्यम् ॥९८॥

सम्बोधयत्यत्र न सम्पदेव गुर्वविवाचामिह कश्चिदेव ।
युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धकोष ! भवेद्भवानेव स मुक्तदोषः ॥९९॥

अर्थ—हे ईश्वर ! हे भगवन् ! आपने अहकार और ममकारके सन्निवेश तथा सक्लेशके समस्त स्थानोको जीत लिया है, साथ ही रागादि भावरूप दोष और ज्ञानावरणादिके क्षीण–नष्ट हो जानेसे आप चिद्वान् शुद्धात्मरूप हैं तथा समस्त पदार्थोंको स्पष्ट रूपसे जानते हैं, अर्थात् आप वीतराग–सर्वज्ञ हैं ॥९७॥

अर्थ—जो वस्तु प्रमेय है–प्रमेयत्व गुणका आधार है वह अवश्य ही किसीके ज्ञानका विषय होती है, अमेय–अप्रमेयका ज्ञाता कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नही । इससे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । यदि कहा जाय कि सर्वज्ञको क्या आवश्यकता है ? श्रुति–वेदके द्वारा ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जायेगा । इसका उत्तर यह है कि श्रुतिके द्वारा होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही है । जिसको प्रत्यक्ष ज्ञान नही है वही श्रुतिका आलम्बन लेता है, जैसेकि जिसके नेत्रोंमे स्वयं ेकी शक्ति नही है वही उपनयन–चश्माके द्वारा देखता है । जिसके शक्ति है देखता है ॥९८॥

सम्बोधयत्स्वित्यादि—तथा वेदस्य सम्पदेव स्वयं शब्द एव स्वस्यार्थं नहि सम्बोधयतु ममायमर्थ इति निवेदयतु । ततस्तदर्थवाचकानां विवाचां परस्परविरुद्धभाषिणां मध्ये कश्चिदेव गुरुर्भवेद्यो युक्त्यागमाभ्यां युक्तितश्चागमतश्च न विरुद्ध कोष शब्दार्थो यस्य तस्य सम्बोधन हे युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धकोष ! सोऽपि भवानेव यतोऽस्ति मुक्तदोषो दोषरहित इति ॥९९॥

सेवन्तु देवन्तु परे परोक्षेऽप्यनन्यवित्का यदि वाऽऽदरोऽक्षे ।
त्वच्छासनैकाशनकानुयुक्ती हे देव देव्यावपि भुक्तिमुक्ती ॥१००॥

सेवन्त्वित्यादि—हे देव ! यदि वा पुनर्येषामक्षे स्पर्शनादौ हृषीक एवादरस्ते परेऽपि लोका वैषयिकसुखाधीनाः स्वकीये परोक्षे प्रत्यक्षतारहितज्ञानेऽनन्यवित्कास्त्वदपरज्ञानरहिता. सन्तस्तत्तद्देवनाम्ना देव त्वामेव तु सेवन्तु समाराधयन्तु, यत किल भुक्तिश्च मुक्तिश्च भुक्तिमुक्ती त्रिवर्गापवर्गसम्पदे द्वे अपि देव्यौ त्वच्छासनमेव तव मतमेवैकमशनकं भोजन तत्रानुयुक्तिरासक्तिर्ययोस्ते स्त । लौकिकसम्पदपि लोकोत्तरसम्पदपि तव शासनादेव स्त इति ॥१००॥

निधीयते येन च ते समाधिर्न व्याधिरेनं व्रजतीह नाधिः ।
चिकित्सको निर्विचिकित्सकोऽसि पापात्मनामप्युत हे सुतोषिन् ॥१०१॥

निधीयत इत्यादि—हे सुतोषिन् ! भगवन् ! ते तव समाधिर्ध्यानं समादरो वा निधीयते स्वीक्रियते तमेन उ न न तु व्याधि. शारीरिकरोगो व्रजति प्राप्नोति न चाधि-

---

अर्थ—एक बात यह भी है कि वेदके शब्द स्वय अपने अर्थको नही बतलाते कि मेरा यह अर्थ है । अत' परस्पर विरुद्ध अर्थको प्रतिपादन करनेवालोके मध्य कोई गुरु अवश्य होना चाहिये और युक्ति तथा आगमसे अविरुद्ध शब्दार्थोंसे सहित हे भगवन् ! वह गुरु आप ही हो सकते है, क्योकि आप ही रागादि दोषोंसे रहित है ॥९९॥

अर्थ—हे देव ! जिनका स्पर्शनादि इन्द्रियोमे आदर है, ऐसे अन्य लोग भी अपने परोक्ष ज्ञानमे आपसे अतिरिक्त अन्य देवोको न जानते हुए आपकी ही सेवा करे, क्योकि भुक्ति–सासारिक सुख और मुक्ति–पारमार्थिक सुख रूप जो देवियाँ है, वे आपके ही शासनरूप भोजन मे अनुरक्त है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी आराधनासे भुक्ति और मुक्ति–दोनो प्राप्त होती है, अत जो भुक्ति–सासारिक सुख चाहते है उन्हे भी आपकी उपासना करनी चाहिये ॥१००॥

अर्थ—हे सुतोषिन् ! हे भगवन् ! जिसके द्वारा आपका ध्यान ध

मानसिकः खेदो यतस्त्वं निर्बाधचिकित्सको घृणारहितः सन् पापात्मनामपि चिकित्सको व्याहरोऽसि ॥१०१॥

भगवन् ! सुभक्तिगङ्गा समुत्तरङ्गा त्वदङ्घ्रिहितरङ्गात् ।
मां वामदेवमारात् पुनातु चातुच्छविस्तारा ॥१०२॥

भगवन्नित्यादि—हे भगवन् ! सुभक्तिर्गुणानुरागरूपा सैव गङ्गा प्रसरणशीलत्वात् सा तवाङ्घ्री चरणावेव हितं पथ्यं तस्य रङ्गात् स्थानादतुच्छो बहुमानपूर्णो विस्तारो यस्यास्सा मां वामानि वक्रतामाप्तानि यस्येन्द्रियाणि तमारादेव झगित्येव पुनातु । कीदृशी भक्तिगङ्गा ? मुदो हर्षस्य तरङ्गो यस्यां सा । वामदेवो महादेवस्यापि नाम, विष्णोश्चरणाभ्यामागता गङ्गा महादेवं पुनातीति लोकोक्तिः ॥१०२॥

संन्यासिनां जगति मृक्षणमेव मूल्यं
शक्रादिजीवनमुपैति च तक्रतुल्यम् ।
ह्राक्छाणशं परिवदाम्यपरं स्वशस्य-
मेनं सुघोष ! समयस्तव गोरसस्य ॥१०३॥

संन्यासिनामिति—सुष्वरो घोषः शब्दो यस्य स गोपालकश्च तस्य सम्बोधनं तव गोरसस्य वाण्याः सारस्य प्रसिद्धस्य गोरसस्य दुग्धस्य वास्येवमीदृक् समय सिद्धान्तो यत्किल जगति संन्यासिनां त्यागवतां जीवनं तत्तु मृक्षण नवनीतमूल्यं ततोऽन्यच्छक्रादीनां जीवनं यत्तव भक्तावेव व्ययमेति तत्तक्रतुल्यमपरन्तु यज्जीवनं न तु त्यागरूप-

---

जाता है, इस लोकमे उस पुरुषको न तो शारीरिक पीडा प्राप्त होती है और न मानसिक पीडा, क्योंकि आप पापी जीवोंके भी ग्लानिरहित चिकित्सक–वैद्य हैं, अर्थात् आप अत्यधिक पापी जीवोका भी उद्धार करने वाले हैं ॥१०१॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो हर्षरूपी तरङ्गोंसे सहित है तथा आपके चरणरूपी हितकारी स्थानसे निकलकर बहुतभारी विस्तारको प्राप्त हुई है, ऐसी उत्तम भक्तिरूपी गङ्गा मुझ इन्द्रियविषयाधीन पुरुषको पवित्र करे ॥१०२॥

अर्थ—हे सुघोष ! हे दिव्यध्वनिसे युक्त भगवन् ! (पक्षमे हे गोपालक !) आपके गोरस–वाणीरूप रसका यह समय–सिद्धान्त है (पक्षमे दुग्धरूप गोरसका यह सार है) कि जगत्में संन्यासियो–मुनियोका जो जीवन है, वह मृक्षण–मक्खनके समान है, इन्द्रादिकका जो जीवन है वह तक्र (छाछ) के तुल्य है और अन्य पुरुषोका जो अप्रशस्त जीवन है, वह छोक (कीट) के समान

वेव न च तव स्तवनमिरतवेव द्वाभ्यामपि रहितं तत्तु छाणशं गोरसोत्करमिवोत्क्षेपणीयं सर्वथा नि.सारं परिवदामि त्यागमहमिच्छामीति ॥१०३॥

निर्विण्णस्य जयस्य संसृतिपथात् सिद्धिं समिच्छोः पुनः

गम्भीरां समवाप्य सम्मतिमतः पृच्छां स साक्षात्कविः ।

मर्मस्पर्शितया प्रबन्धति सतां य कश्चिदीशो विधिं

धिष्ण्योत्सानितसंगतैः स्म महितो नर्मण्यविघ्नो निधिः ॥१०४॥

निर्विण्णस्येत्यादि—पुनरनन्तरं संसृतिपथात्सागारजीवनान्निर्विण्णस्य वैराग्यमाप्तस्य सिद्धिं समिच्छोर्मुक्तिमभिलषतस्सन्मतिमत सुबुद्धिधरस्य गम्भीरां पृच्छां समवाप्य विश्लेषणीय प्रश्नमुपेत्य स साक्षात्कविर्भगवान् यो धिष्ण्यात् सदनादुत्सानितं पृथक्कृतं सगत चेष्टितं येषा तैर्महर्षिभिरपि महितः समाराधितो यश्च नर्मणि विनोदे पुनरविघ्नो विघ्नरहितो निधिश्च स ईशो नाभेय. सतां मर्मस्पर्शितया गृहणीय तयोचित य कश्चिद् विधिं प्रबन्धति स्म समारब्धवान् । प्रबन्धशब्दान्नामधातो रूपं प्रबन्धतीति । 'धिष्ण्यं सद्मनि नक्षत्रे' इति विश्वलोचने । एतस्य चक्रबन्धस्याराग्राक्षरैर्निर्गमनविधि ॥१०४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं

वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।

तेनोक्ते द्विगुणत्रयोदश इतः सर्गः श्रियामध्वनि

साम्राज्याभिषवैकभूमिभवने श्रव्येषु चौजस्विनि ॥१०५॥

श्रीमानित्यादि—साम्राज्याभिषवस्यानन्तवीर्यस्य राज्याभिषेकवर्णनयुक्ते । शेषं स्पष्टम् ॥१०५॥

है, ऐसा मै कहता हूँ ॥१०३॥

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थके जीवनसे विरक्त मुक्तिके इच्छुक तथा समीचीन बुद्धिसे युक्त जयकुमारके गम्भीर प्रश्नको प्राप्त कर उन आदि जिनेन्द्रने जो कि गृहविरक्त साधुओके द्वारा पूजित, विनोदपूर्ण वार्ता करनेमे कुशल एवं साक्षात् कवि थे, सत्पुरुषो के मर्मको स्पर्श करने वाली वाणीसे जो कुछ कहा, वह प्रबन्ध काव्यके समान आचरण करता है ॥१०४॥

इति श्रीवाणीभूषण-ब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचनास्वयंवरापरनामजयोदयमहाकाव्ये षड्विंशतितमः सर्गः ॥

सप्तविंशतितमः सर्गः

अथानुजग्राह सभाभृदेव नराधिराजं जगदेकदेवः ।
स्वभावतः सद्विभवाय चारी तमोनुदेवं च मुदेऽधिकारी ॥१॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं स्वभावत एव सहजभावतः सतां सुपुरुषाणां नक्षत्राणां च यो विभवः प्रसन्नभावस्तस्मै चारो विचरणं यस्य स तमोनुदन्धकारहर एवं च कृत्वा मुदे विनोदायाधिकारो यस्य स जगदेकदेवो जगतां सर्वेषां जीवानामेको देवः प्रकाशदाता सभाभृत् संसद स्वामी स च भाभृत् सूर्यः स नराधिराजं जयमनुजग्राहैवं निम्नरीत्यैवेति समासोक्तिः । च पादपूर्तौ ॥१॥

सद्यो लभस्वाद्य विपद्युदारमाचारसारं विलसद्विचार ।
निवेदयाम्यङ्ग गुणाधिकारमारम्भणीयं खलु योगिनारम् ॥२॥

सद्य इत्यादि—अङ्ग हे ! विलसति स्फूर्तिमेति विचारो यस्य तस्य सम्बोधनं हे विलसद्विचार ! आचारस्य सारं यत्याचाररूप गुणानां क्षमादीनामधिकारो यत्र त खलु योगिनात्मोपयोगिनाऽऽरम्भणीयं तं विपदि चोदारं शरणभूत तमहमद्य निवेदयामि वदामि । त त्वं सद्य एव लभस्वाङ्गीकुरु । अरं शीघ्रमेव ॥२॥

अर्थ—तदनन्तर जो समवसरण सभाके स्वामी थे, जगत्‌के एक अद्वितीय देव थे, स्वभावसे ही सत्पुरुषोंके विभवके लिये जिनका विचरण होता था, जो अज्ञान-तिमिरको नष्ट करने वाले थे तथा हर्षके लिये अधिकारी थे, अर्थात् सबको हर्षित करने वाले थे, ऐसे आदि जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवने राजा जयकुमारको इस प्रकार अनुगृहीत किया ।

अर्थान्तर—जो भाभृत्-प्रभाको धारण करने वाला था, जगत्‌का अद्वितीय प्रकाश करने वाला था, स्वभावसे ही सद्विभव-नक्षत्रोंके विभवके लिये विचरण करने वाला था तथा विनोदके लिये अधिकारी था, ऐसे तमोनुद्-सूर्यने राजा जयकुमारको निम्न रीतिसे अनुगृहीत किया ॥१॥

अर्थ—हे शोभायमान विचारोंसे सहित ! जो विपत्तिमे शरणभूत है, क्षमादिगुणोके अधिकारसे युक्त है तथा योगीके द्वारा धारण करने योग्य है, उस आचारसार-मुनिके आचारका मैं कथन करता हूँ, उसे तुम शीघ्र ही प्राप्त होओ-धारण करो ॥२॥

सौधायतेऽयं समयः स्वपाता पुराकृतिस्ते वृतिरेव जाता ।
ध्वजत्यजत्वप्रकृतिः कृतिन् ते धियोऽधियोगं स्फुटतां यजन्ते ॥३॥

सौधायत इत्यादि—हे कृतिन् ! विचारकारिन् ! तेऽयं समय स्वपाता स्वरक्षाकरोऽतः सौधायतेऽमृतपूरक इव भवति, पुराकृतिर्जन्मकालादारभ्याद्यपर्यन्ता या कृतिस्ताऽस्या वृतिर्व्याख्येव जाता । अथवाऽसौ समयः सौधायते प्रासाद इव भवति पुराकृतिश्च सास्य वृतिरिव वाट इव चाद्य तेऽजत्वप्रकृतिरमरभावो ध्वजति स्फूर्तिमेति धियश्च ते बुद्धयोऽधियोग ध्यानमधिकृत्य स्फुटता यजन्ते स्वीकुर्वन्ति । अनुप्रासोऽलकारः ॥३॥

समाः समात्त किमु विस्मरन्तु भुक्तस्य युक्त न विवेचनं तु ।
भविष्यते स्फातिमितस्य कालः फलत्यनल्पं किमु नो नृपाल ॥४॥

समा इत्यादि—हे नृपाल ! समा सम्माननीया जनास्ते समात्तं श्रेष्ठत्वेनात्त प्राप्तं यत् तत् किमु विस्मरन्तु ? नैव विस्मरन्तु, किन्तु तस्य सदुपयोग कुर्वन्तु । यद् भुक्तं व्यतीत तस्य विवेचन मयैतत्कृत तन्न कृत्वा तत्कृत स्यात्तदा भद्रमित्यादिरूपतयाऽनुशोचनं तु गतस्य सर्पस्य घृष्टिकुट्टनवद्युक्त न भवति । भविष्यतेऽनागताय स्फातिं विचारशीलतामितस्य जनस्य कालोऽनल्प बहुल किं नु फलति ? अपि तु फलत्येवेति काकु ॥४।

दृष्टा प्रवृत्तिः खलु कर्मकृत्तिस्तत्त्वं निवृत्तिर्जगते प्रवृत्तिः ।
भवेदवेदः परथा निवेदः प्रवेदनेनास्तु भवानखेदः ॥५॥

दृष्टेत्यादि—हे नृपाल ! या खलु प्रवृत्ति· स्त्रीपुत्रादिषु बाह्येषु वस्तुषु सा खलु कर्मणा दुरितानां कृत्तिस्त्वचा, तनुरिति यावत्, किन्तु निवृत्तिरेव तेभ्योऽपसरणमेव तत्त्वं

अर्थ—हे कृतिन् ! हे विचारशील ! तुम्हारा यह समय आत्मरक्षाकारी है, अतः अमृतपूरके समान है और जन्मसे लेकर अब तकका तुम्हारा कार्य उसकी व्याख्या ही है अथवा तुम्हारा यह समय सौध-प्रासादके समान है, तुम्हारा अबतकका कार्य उसकी बाडी है। तुम्हारी अजत्वप्रकृति-अमरस्वभाव उसकी ध्वजा है और तुम्हारी ध्यानविषयक बुद्धियाँ स्फूर्तिको स्वीकृत कर रही हैं ॥३॥

अर्थ—हे राजन् ! सम्माननीय मनुष्य अच्छी तरह प्राप्त हुई वस्तुको क्या विस्मृत कर दे ? अर्थात् नही, वे उसका सदुपयोग करें। जो बीत चुका है उसका विवेचन करना उचित नही है। भविष्यत्के लिये विचार करने वाले मनुष्यका काल क्या बहुत भारी फल नही देता है ? अवश्य देता है ॥४॥

अर्थ—हे राजन् ! स्त्रीपुत्रादि बाह्य पदार्थोमे जो प्रवृत्ति देखी गई है, वह पाप कर्मोंकी त्वचा है, उनसे निवृत्ति होना ही तत्त्व है-यथार्थ बात है, प्रवृत्ति

महत्त्वदायक भवति, प्रवृत्तिस्तु जन्ममरणरूपसंसाराय स्यादिति विक्। इतोऽन्यथा परथा यो निर्वेदः कथनकम सोऽस्त्यवेदो वेदात्सम्यग्ज्ञानादन्य इति प्रवेदनेन समुचित-ज्ञानेन भवानखेदोऽस्तु सुखी भवतु। अनुप्रासोऽलंकारः ॥५॥

क्षमो न भोक्तुं ममतां तु भोगी रहस्यमङ्गीकुरुतेऽत्र योगी।
यथोचितं लङ्घनमेति रोगी नियोगिने तस्य समस्ति नो गीः ॥६॥

क्षम इत्यादि—भोगी भोगानामभिलाषावान् स तु ममतां भोगेषु सम्भवन्तं रागं भोक्तु क्षमो न भवति, किन्त्वत्र यत्किञ्चिद् रहस्यं तद् योगी जन एवाङ्गीकुरुतेऽत स एव रहस्यं योगोपयोगरूपमेकान्तमङ्गीकुरुते यथाऽसौ रोगी जनोऽन्नं प्रत्यरुचिमान् स एव यथोचितं लङ्घनमेति, स्वीकरोति किन्तु नियोगिने पाणिग्रहणकर्मणि दीक्षिताय तस्य लङ्घनस्य गीर्वाणपि नो समस्ति नैव भवति। दृष्टान्तोऽलंकारः ॥६॥

पथा प्रथा येन जनस्य दृश्याऽन्यथा कथा भो यतिनस्तु शस्या।
पूर्वस्य यत्संग्रहणानुरागौ त्यागं परत्राह विरागतां गौः ॥७॥

पथेत्यादि—भो जय! येन पथा मार्गेण जनस्येति गृहस्थलोकस्य प्रथा ख्यातिः समवलोक्यते यतिनः संयमिनो जनस्य तु पुनरतोऽन्यथा कथा भवति विभिन्नप्रकारैव वार्तास्ति। यद्यस्मात्कारणात् पूर्वस्य गृहस्थस्य संग्रहणमुपचयीकरणमनुरागश्चैतौ द्वावेव भवत., किन्तु यस्त्रसंयमिनि जने त्याग विरागतामेव चाह वदति गीर्वाणीति ॥७॥

महद्भिराराध्यतमा शमारात् समर्पयन्ती निरवद्यधारा।
न यत्र संसारिजनप्रवृत्तिरलौकिकी भातु मुनेर्हि वृत्तिः ॥८॥

संसार बढाने वाली है। इससे अन्य प्रकार कथन करना अवेद–अज्ञान है, आप यथार्थ ज्ञानके द्वारा खेदरहित हो–सुखी होवे ॥५॥

अर्थ—भोगी मनुष्य भोगविषयक ममताको छोडनेके लिये समर्थ नही होता, परन्तु योगी त्यागके रहस्यको स्वीकृत करता है। जैसे रोगी मनुष्य कहे अनुसार लंघनको प्राप्त होता है, परन्तु विवाह कार्य मे दीक्षित मनुष्यके लिये लघनकी वाणी भी नही है, अर्थात् लघनकी बात भी उसे रुचिकर नही होती ॥६॥

अर्थ—हे जय ! जिस मार्गसे गृहस्थ जनकी ख्याति देखी जाती है, सयमी जनकी कथा उससे विभिन्न है, क्योकि गृहस्थ जनके सग्रह और विषयानुराग दोनो होते है, परन्तु सयमी जनके त्याग और विरागता होती है, ऐसा वाणी (शास्त्र) कहती है ॥७॥

महद्भिरित्यादि—मुनेर्महाव्रतिनो वृत्तिरवस्थाऽलौकिकी लोकोत्तरा भवति हीति निश्चयेन निरवद्या पापवर्जिता धारा परम्परा यस्याः साऽऽरात् सहजेनैव शमानन्दमर्पयन्ती ततश्च महद्भिरुदारलोकैराराध्यतमाऽत्यन्तमाराधनीया यत्र च संसारिजनस्य विषयिलोकस्य प्रवृत्तिर्नेति सा भातु रुचिमेतु । अनुप्रासः ॥८॥

सक्षालनप्रोञ्छनयोः प्रवृत्तस्तनोर्जनोऽयं प्रतिभाति हृत्तः ।
यतिः सदात्मैकमतिः शरीरसेवासु रेवां न समेति धीरः ॥९॥

संक्षालनेत्यादि—अयं संसारिजनो हृत्तो मनोभावनया तनोः शरीरस्य संक्षालनं प्रोञ्छनं चाभिषेचनं परिमार्जनं च तयोः प्रवृत्तः संलग्नः प्रतिभाति, किन्तु यति स धीरो भवति धियं बुद्धिमीरयति समनुकूलयति सदा सततमेवात्मनि चिदानन्द एवैका मतिर्यस्य स सन् शरीरस्य सेवासु किलाभिषेचनादिषु रेवां रतिं रुचिं न समेति । 'रेवा नील्यां स्मरस्त्रियोः' इति विश्वलोचने । अनुप्रासोऽलंकारः ॥९॥

भोगेषु भो गेहभृदस्ति गत्वाऽघनिग्रहं विग्रहमेव मत्वा ।
योगे नियोगेन मुनिः प्रवृत्त आत्मप्रतिष्ठः खलु तन्निवृत्तः ॥१०॥

भोगेष्वित्यादि—भो भव्य ! विग्रहं शरीरमेवाघस्य दुःखस्य निग्रहं विच्छेदकं मत्वाङ्गीकृत्य तस्य सन्तर्पणार्थं भोगेषु मिष्टान्नभोजनादिषु गत्वा निरतो भूत्वा जनो गेहभृदस्ति गृहस्थो भवति नान्यथा । अत्र गम्धातोर्निरतार्थकत्वाद् भोगेष्विति सप्तमी । मुनिस्तु ततो भोगभावतो निवृत्तो दूरंगतः सन्नात्मनि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य स खलु सम्भवन् नियोगेन नियमेन योगे परमात्मध्याने प्रवृत्तो भवति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१०॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अत्यन्त आराधनीय है, जो सहज भावसे आत्मसम्बन्धी आनन्दको देती है, जिसकी परम्परा पापसे रहित है, जिसमे ससारी जनोकी प्रवृत्ति नही होती और जो स्वयं अलौकिक–लोकमें सर्वश्रेष्ठ है, वह मुनिकी वृत्ति तुम्हें रुचिकर हो ॥८॥

अर्थ—यह संसारी जन हृदयसे शरीरके धोने और पोंछनेमें संलग्न जान पडता है, जबकि निरन्तर एक आत्मामे ही लीन रहने वाले धीरवीर मुनिराज शरीरकी सेवाओमे रुचिको प्राप्त नही होते ॥९॥

अर्थ—हे भव्य ! शरीर ही दुःखका निग्रह करने वाला है, ऐसा मानकर भोगोमे निरत–निमग्न हुआ प्राणी गृहस्थ बना है, परन्तु भोगोंसे निवृत्त मुनि आत्मनिष्ठ होते हुए नियमसे योग–आत्मध्यानमें प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

जनस्य तु स्याद्विजनेऽभियोग ऋषेरुषेवातिशयान्नियोगः ।
शरीरबाधास्वयतेस्तु रोगः साधोः पुनः सुष्ठु समस्ति योगः ॥११॥

जनस्येत्यादि—जनस्य गृहस्थलोकस्य विजने जनरहिते शून्ये स्थानेऽभियोग उपद्रवात्मकः परिणामो भवति, किन्तु ऋषेस्तु रुषा कोपेनेव कृत्वाऽतिशयान्नियमात्तत्र विजन एव नियोगो निवासविधिरस्ति । तथा अयतेर्गृहस्थस्य शरीरे या बाधा शीतातपादिरूपास्तासु समापद्यमानासु रोगः सम्पद्यते, साधोस्तु पुनर्योगः शरीरनिग्रहपूर्वकं स्वात्ममननमेव सुष्ठु समस्ति न किञ्चिदन्यदिति । अनुप्रास एवालंकारः ॥११॥

मृदूदरे मृक्षणगुद्गुदाने कुचोच्चये वा शुचिचूततानें ।
पुष्पोपगोऽङ्गी स्वकरौ प्रियायाः प्रयोजयन् योजयति व्यवायान् ॥१२॥

मृदूदर इत्यादि—अङ्गी शरीरधारी स पुष्पोपगः पुष्पाण्युपगच्छति स पुष्पतल्पोपरि स्थितस्सन् प्रियाया वल्लभाया मृदु च तदुदरं च तस्मिन् कीदृशे मृक्षणं नवनीत तद्वद् गुद्गुदाने मृदुले यद्वा 'मृक्षणवद्विधाने' इति पाठो वा । पुनः शुचि परिपक्वं यच्चूतमाम्रफलं तस्य तानवत्तानं विस्तारो यस्य तस्मिन् कुचयोः स्तनयोः प्रोद्देशे स्वकरौ हस्तौ प्रयोजयन् समुपनयन् सन् व्यवायान् सम्भोगान् योजयति विदधातीत्यनुप्रासः । 'व्यवायः सुरतेऽन्तर्द्धौ' इति विश्वलोचने ॥१२॥

स कंकरप्रस्तरशङ्कुनोदप्रतोदयोर्यच्छतु सप्रमोदः ।
कठोरयोः श्रीपदयोः कशं(ष)सच्छीतातपप्रायसहः स हंसः ॥१३॥

स कंकरेत्यादि—कंकरप्रस्तरशङ्कूनां नोदोऽस्त प्रवेशस्तेन यः प्रतोदोऽतिर्ययोस्तयोः कठोरयो कर्कशस्पर्शयोः श्रीपदयोर्गुरुचरणयो कशं विमर्दनं यच्छतु करोतु स

अर्थ—गृहस्थका एकान्त निर्जन स्थानमे उपद्रवात्मक भाव होता है, अर्थात् वह उसे कष्टकर मानता है, परन्तु साधुका क्रोधसे ही मानो नियमपूर्वक निर्जन स्थानमे निवास होता है । अयति-गृहस्थको सर्दी-गर्मी आदि शारीरिक बाधाओंके होनेपर रोग होता है, परन्तु साधुका उनके होनेपर अच्छी तरह योग-स्वात्मचिन्तन होता है ॥११॥

अर्थ—गृहस्थ जन फूलोंकी शय्यापर स्थित हो प्रियाके मक्खनके समान कोमल उदर तथा पके हुए आमके समान विस्तार वाले स्तनप्रदेशो पर अपने हाथ चलाता हुआ संभोगकी योजना करता है ॥१२॥

अर्थ—गृहस्थ अपने हाथोंका उपयोग उपर्युक्त कार्योंमें करता है, परन्तु शीत-

हंसो योगी । कीदृशः सः ? शीत आतपश्च सन्तौ प्रकृष्टौ शीतातपौ तौ प्रायशः सहते य स शीतादिपरिषहः सहनकरः सन् । प्रायशब्दः प्रचरार्थकः ॥१३॥

हसत्यसत्याशनदूरगः सन् जनो मनोहार्यशनं समश्नन् ।
साधोस्तु न स्वादनवृत्तिरस्य तस्मादनाचर्वणमस्त्यवश्यम् ॥१४॥

हसतीत्यादि—जन संसारी सोऽसत्यादप्रशस्तादशनाद् भोजनाद् दूरगः सन् मनोहारि यदशनं भोजन तत्पुनः समश्नन् समास्वादयन् किल हसति प्रसन्नो भवति, किन्तु साधोस्तु यत पुनरस्य स्वादनवृत्तिर्न भवति सुस्वादु किलेदमिदं तु न स्वादु भोजनमिति विचारात्मिका वृत्तिर्नास्ति । तस्मादवश्यं नूनमेवानाचर्वणं दन्तैश्चर्वणरहितं यथा स्यात्तथात्ति स्वोदरपूरणं करोति ॥१४॥

कचेषु तैलं श्रवसोः फुलेलं ताम्बूलमास्ये हृदि पुष्पितेऽलम् ।
नासाधिवासार्थमसौ समासात् समस्ति लोकस्य किलाभिलाषा ॥१५॥

कचेष्वित्यादि—लोकस्य ससारिजनस्य नासाया घ्राणेन्द्रियस्याधिवासार्थं सन्तर्पणनिमित्त समासात् सक्षेपात् कथ्यते । तदाशा कीदृगभिलाषा समस्ति ? हृदि वक्षःस्थलेऽलं यथेष्ट पुष्पिते पुष्पमालाभिरञ्चिते सति कचेषु मूर्धजेषु तैलमल यथेष्टं स्याच्छ्रवसो कर्णयो. फुलेल पुष्पासवं स्यादास्ये मुखे ताम्बूलं पूगादियुक्तं दलमिति । अनुप्रासोऽलकारः ॥१५॥

उष्ण आदि परोषहोको प्रचुर मात्रामे सहन करनेवाला हंस-योगी ककड सहित पत्थर तथा कील आदिके भीतर घुस जानेसे पीड़ायुक्त साधुओके कर्कश स्पर्श वाले चरणोमे हर्षपूर्वक कश प्रदान करता है, अर्थात् अपने हाथोंसे उनके पाद-मर्दन करता है ॥१३॥

अर्थ—संसारी मानव अप्रशस्त-अनिष्ट भोजनसे दूर रहकर मनोहर भोजन करता हुआ प्रसन्न होता है, परन्तु साधुके स्वाद लेनेको वृत्ति नही होती, अर्थात् वे यह विचार नही करते कि यह भोजन स्वादिष्ट है और यह स्वादिष्ट नही है । इसलिये साधु नियमसे दाँतोसे चर्बण किये बिना, अर्थात् स्वादका विचार किये बिना हो आहार करते हैं ॥१४॥

अर्थ—संसारी जनके नासिका इन्द्रियको संतृप्त करनेके लिये संक्षेपसे ऐसी इच्छा रहती है कि केशोंमे पर्याप्त तैल हो, कानोमें फुलेल हो, मुखमे ताम्बूल हो और वक्ष स्थलपर पुष्पोंकी माला हो ॥१५॥

शिरो गुरोरङ्घ्रिधुरो रजोभिरुरः पुरः पांशुपरं सुशोभि ।
फूत्कारपूत्का खलु कर्णपालीत्यमृष्टदन्तस्य मुनेः प्रणाली ॥१६॥

शिर इत्यादि—न मृष्टा दन्ता मञ्जनादिभिरसंस्कृता यस्य तस्यामृष्टदन्तस्य मुनेः पुनरेषा प्रणाली पद्धतिरस्ति खलु निश्चयेन तस्य शिरो मस्तकं तद् गुरोराचार्यस्याङ्घ्र्योश्चरणयोर्धाधूरग्रभागस्तस्या रजोभिर्धूलिभिः सुष्ठु शोभा यस्य तद् भवति । तथैव तस्योरो वक्षःस्थलं तच्च पुरः पांशुषु अग्रे समागतासु धूलिषु परं तल्लीनं तद्युक्तं भवति । कर्णपाली च श्रोत्रदेशो गुरोर्मन्त्रोच्चारणपूर्वको योऽसौ फूत्कारस्तेन पूत्का पूता पवित्रा भवतीति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१६॥

सारं सतारं लसदङ्गहारं मञ्जीरशिञ्जानमयोपहारम् ।
मित्रैः पवित्रैकतलेऽभिलाष्यं दृशा दशाङ्गं सुदृशां क्व लास्यम् ॥१७॥

सारमित्यादि—क्व नु तद् गृहस्थजनेनोपलभ्यं सुदृशां स्त्रीणां लास्यं नृत्यं यत्किल सारं रसभरितत्वादादरणीयं, सतारं रत्नयोरभेदात्तालमानसहितं, लसति प्रस्फुरत्यङ्गहारो हस्तादिसंचारो यत्र तत्, दशाङ्गं नृत्यशास्त्रोक्तैर्दशभिरङ्गैः पूर्णं ततो दृशा चक्षुषाभिलष्यमवलोकनीयं तच्च मित्रैः सहचरैः पवित्रैकतले पुनीततमे कस्मिंश्चिदेकस्थलेऽवलोकनीयमिति । अनुप्रास ॥१७॥

शार्दूलसिंहादिपरम्पराणां भयङ्कराणां क्व वनेचराणाम् ।
स्फोटकारचोत्कारपरं तु नृत्यं हृत्कम्पकृद् धीरतयाधिकृत्यम् ॥१८॥

शार्दूलेत्यादि—पुनस्त्यागिनावलोकनीयं तत् किल शार्दूलश्च सिंहश्चादौ येषां भल्लूकप्रभृतिक्रूरजीवानां ये परम्परा: पुत्रपौत्रादयस्तेषां भयंकराणां दर्शनमात्रेणैव भयो-

---

अर्थ—दन्तमार्जनसे रहित मुनिका शिर आचार्य परमेष्ठीके चरणाग्रकी धूलिसे और वक्षःस्थल सामनेसे आयी हुई धूलिसे अत्यन्त सुशोभित होता है तथा कान गुरुके मन्त्रोच्चारण पूर्वक दी हुई फूंकसे पवित्र रहते हैं। मुनिकी यही प्रणाली–पद्धति है ॥१६॥

अर्थ—गृहस्थ जनोके द्वारा प्राप्त करने योग्य स्त्रियोका वह नृत्य कहाँ ? जो रसमे भरित होनेके कारण सारभूत है, तालसे सहित है, अङ्गहारों–हस्तादिके सचारोसे सुशोभित है, नूपुरोंकी झनकार रूप उपहारसे सहित है, नाट्यशास्त्रमे कहे गये दस अङ्गोसे सहित है तथा मित्रोंके साथ पवित्र–अद्वितीय–सुन्दर रङ्गभूमिमे चक्षुके द्वारा दर्शनीय है ॥१७॥

अर्थ—और साधुओके द्वारा दर्शनीय तेंदुए तथा सिंहादिकी परम्परा एवं

स्वापकानां वनेचराणां स्फोत्कारोऽङ्गस्फालनरूपश्चीत्कारश्च शब्दस्तयोर्द्वयोः परं तल्लीनं तन्मयमतो हृत्कम्पकरं चित्ते कम्पोत्पादकमतश्च धीरतयाधिकृत्यं धैर्यपूर्वकमेवाधिकरणीयं नृत्यम् ॥१८॥

श्रवःसुधाऽनन्यरुचा पुनीता सुधेव पीता वसुधेश ! गीता ।
मितामरीभिर्मधुराधरीभिर्या वागयावा सदने परीभिः ॥१९॥

श्रवःसुधेत्यादि—हे वसुधेश ! गृहे सा वाग् वाणी श्रव स्रु्चा कर्णरूपचषकेण पीता समास्वादिता भवति या सुधेव पुनीता मनःप्रिया यतो मिता तुलनां नीता अमर्यो याभिस्ताभिर्मधुरमधरं च यासां ताभिर्मधुराधरीभिः परमसुन्दरीभिर्गीता सम्यगुक्ताऽत एवायावाया निर्दोषा साऽनन्यरुचा अन्यप्रासम्भवत्या रुचा रुच्या पीताऽऽस्वादिता भवति । रूपकेणोपमया च सहितोऽनुप्रासोऽलंकारः ॥१९॥

कृतान्तवृत्तान्तसुभैरवा वागिहर्षये मर्मनिकर्मभावा ।
द्रुतं नु तं धारय मारयेति विलुब्धकानामुपलब्धहेतिः ॥२०॥

कृतान्तेत्यादि—इह पुन. ऋषये सयताय तु विलुब्धकानां व्याधानामुपलब्धा समुत्थापिता हेतिरसिपुत्रिका यत्र सा तमेन द्रुतमेव धारय मारयेति च मर्मणि विषमस्थाने निकर्मण उत्कृन्तनस्य भावो यया भवति सा कृतान्तस्य यमराजस्य वृत्तान्तवत् सुभैरवा भयंकरा वाग् वाणी स्यादित्यनुप्रासोऽलंकारोऽत्र । नु वितर्के ॥२०॥

विरुद्धवृत्तौ रुषमेति लोकश्छन्दोऽनुगे तर्षनिदर्शनौकः ।
रोषो न तोषो जगदेकपोष ऋषेर्भवस्येव भवेऽपदोषः ॥२१॥

भयंकर वनेचर जीवोंका वह नृत्य कहाँ ? जो स्फीत्कार–अङ्गविक्षेप तथा चीत्कार–भयंकर गर्जनसे तन्मय है, हृदयको कम्पित कर देने वाला है और धैर्यपूर्वक देखने योग्य है ॥१८।

अर्थ—हे राजन् ! आपने घरमे कर्णरूपी पानपात्रके द्वारा अनन्यरुचिपूर्वक उस वाणीका पान किया था, जो सुधाके समान पवित्र थी तथा देवाङ्गनाओ की तुलना करनेवाली मधुर ओठोसे युक्त परियों–अत्यन्त सुन्दर स्त्रियो द्वारा गायी गई थी ॥१९॥

अर्थ—और यहाँ शिकारियोंकी उस वाणीको सुनो, जो यमराजके वृत्तान्तके समान अत्यन्त भयंकर है, ऋषियोंको लक्ष्य कर कही गयी है, मर्मभेदी है तथा उसे शीघ्र पकड़ो और मारो यह कह कर जिसमें छुरी निकाली गयी है ॥२०॥

विरुद्धवृत्ताविति—लोकः सर्वसाधारणो जनश्छन्दोऽनुगे किलाज्ञानुसारिणि जने तर्षस्य वाञ्छाया निदर्शनं प्रकाशनं तस्यौक' स्थानं भवति, किन्तु विरुद्धवृत्तौ विरुद्धचारिणि रुषमेति कोपं करोति । ऋषेर्भवे त्यागिदशाया तु क्वापि न रोष कलुषभावो न च तोष प्रसन्नभावो वा, किन्तु अपदोषः पक्षपातेन रहितो जगतां सर्वेषां जीवानां सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु किलेत्येवमात्मक एक पोष आशीर्वादो भवति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२१॥

प्रवञ्चनार्थं स्वसमञ्चनार्थं वचोऽङ्गिनः स्याज्जगतोऽहितार्थम् ।
आख्याति विख्यातिमनिच्छुरेव निःस्वार्थविश्वात्मतयर्षिदेवः ॥२२॥

प्रवञ्चनार्थमित्यादि—अङ्गिनो गेहिजनस्य यद् वचो भवति तत्स्वस्य मनीषितस्य समञ्चनं समर्थनमेवार्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथा प्रवञ्चनार्थं प्रवञ्चना परेषां प्रतारणार्थः प्रयोजन यस्य तत्, ततो जगतोऽहितार्थं विश्वस्य बाधाकारकमेव स्यात् । किन्तु ऋषिदेवस्तु यत् किञ्चिदाख्याति कथयति तद् विख्यातिमात्मश्लाघामनिच्छुरेव सन् निःस्वार्थः स्वस्यैवाभिप्रायस्य पोषणरूपस्स्वार्थस्तेन रहिता या विश्वात्मता सर्वजनहितकारिता तयाऽऽख्याति कथयति किलेत्यनुप्रासः ॥२२॥

स्ववैभवे दैवभवेऽप्यरङ्गी परश्रियां संस्पृहयालुरङ्गी ।
त्यक्त्वा स्वसर्वस्वमपि प्रवृत्तः पुनः परार्थेषु यतिः सुवृत्तः ॥२३॥

स्ववैभव इत्यादि—अङ्गी ससारी जनो दैवेन भाग्येन भवो जन्म यस्य तस्मिन् स्वस्य वैभवे सम्पत्तिनिकरेऽप्यरङ्गी सन्तोषरहितः सन् परस्य श्रियां लक्ष्मीणां संस्पृहयालुरभि-

---

अर्थ—संसारी मनुष्य, आज्ञानुसार चलने वाले मनुष्यसे पूछता है कि आपकी क्या इच्छा है ? अर्थात् क्या चाहते हो ? परन्तु विपरीत प्रवृत्ति वाले मनुष्यके विषयमे क्रोधको प्राप्त होता है । साधुकी दशामे न किसीसे रोष होता है, न सतोष होता है, किन्तु समस्त जगत्को एक निर्दोष आशीर्वाद होता है ॥२१॥

अर्थ—संसारी प्राणीका वचन दूसरेको ठगनेके लिये या अपना समर्थन करने के लिये होता है, अतः वह जगत्के लिये अहितकारी है, परन्तु मुनिराज जो वचन कहते हैं वह आत्मप्रशंसा रहित होकर समस्त जीवोके कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत निःस्वार्थ रूपमे कहते हैं ॥२२॥

अर्थ—संसारी जीव भाग्यसे प्राप्त होने वाले अपने वैभवमे भी संतोषरहित होता हुआ दूसरोंकी लक्ष्मीकी इच्छा करता है, परन्तु उत्तम चारित्रके धारक

लाभावामस्ति । यतिः सयमी च पुनः स्वस्य सर्वस्वमपि त्यक्त्वा परार्थेषु परोपकारेषु प्रवृत्तो भवति, यतः स सुवृत्त उत्तमचारित्रवान् भवति । अनुप्रासोऽलंकार ।।२३।।

नितम्बिनीषु स्विदनीदृशीषु भासा समासाद्विजितोर्वशीषु ।
अङ्गेन रङ्गे नरराडनन्यभावं प्रलिप्सुः प्रभवेत् सजन्यः ।।२४।।

नितम्बिनीष्विदित्यादि— नरराड् योऽसौ गृहस्थशिरोमणिः स भासा स्वदीप्त्या विजिता पराभवं नीतोर्वशी स्वर्वेश्याऽपि याभिः समासात् संक्षेपतो न ईदृशी प्रशंसा यासां तास्वनीदृशीषूपमावर्जितासु नितम्बिनीषु स्त्रीषु रङ्गे स्त्रीप्रसङ्गभूमौ जन्यया मुदा सहितः सजन्यो 'जन्या मातृसखीमुदोः' इति विश्वलोचने । स्विदङ्गेन शरीरेणापि किलानन्यभावमपृथक्रूपतां प्रलिप्सुः समिच्छुः प्रभवेत् समुत्साहं गच्छेदिति । अनुप्रासोऽलंकारः ।।२४।।

कामारितायां निलयः सुधामा रामापि सामायिकवृत्तिनामा ।
तस्यामतः स्यामतदन्यवृत्तिः सावश्यकस्येति मुनेस्तु वृत्तिः ।।२५।।

कामारितायां इत्यादि— न वशोऽक्षमनसामित्यवश', अवश एवावशकस्तस्य भाव आवश्यक तेन सहितः सावश्यकस्तस्येन्द्रियजयिनो मुनेस्तु पुनर्वृत्तिः प्रक्रिया सा इतीदृशी भवति यत्किलाहं कामारितायाः स्मरविरुद्धतायाः निलयः स्थानं सुष्ठु धाम प्रभावो यस्य स सुधामास्मि, अतो मम रामा रमणयोग्यापि सामायिकवृत्तिनामास्ति, अयनमयः समस्तुल्यश्चासावयश्च समायस्तस्य भावः कर्म वा सामायिकं तत्र वृत्तिर्नाम स्थितिर्यस्या सा तस्यामहमतदन्यवृत्ति. स्यामेकीभावेन निरतो भवेयमिति । अनुप्रासोऽलकार ।।२५।।

मुनि अपने सर्वस्वको भी छोड कर परोपकारमे प्रवृत्त रहते है ।।२३।।

अर्थ—अथवा यह गृहस्थशिरोमणि अपनी कान्तिसे उर्वशीको जीतनेवाली अनुपम स्त्रियोमे शरीरसे भी अपृथग्भावको प्राप्त करनेका इच्छुक होता हुआ रङ्गभूमिमे हर्षसहित होता है ।

भावार्थ—आसक्तिके कारण भिन्न शरीर वाली भी स्त्रियोको अपने शरीरसे अभिन्न करना चाहता है ।।२४।।

अर्थ—ऊपर गृहस्थजनकी प्रवृत्तिका वर्णन किया, परन्तु षडावश्यकोका पालन करने वाले मुनिकी वृत्ति इस प्रकार है—वे विचार करते हैं कि मैं कामकी विरुद्धताका स्थान हूँ, उत्तम प्रभावशाली हूँ, सामायिक वृत्ति ही मेरी रामा—रमण करने योग्य है, अतः मै इसीमे अनन्यवृत्ति होता हूँ, सब ओरसे अपना मन हटा कर समताभावमे ही लगाता हूँ ।।२५।।

रमासु रामास्वसमास्वमासु प्रश्नो जनोऽनित्यमतासु तासु ।
स किञ्च नो तावदकिञ्चनोऽपि योगी नियोग्यङ्गममत्वलोपी ॥२६॥

रमास्वित्यादि—जनः ससारी सोऽनित्यमस्थिरं मतं यासां तासु अमासु मा परिमाण तेन रहितासु किलापरिमितासु असमासु अनन्यसदृशीषु रमासु लक्ष्मीषु रामासु स्त्रीषु प्रश्नोऽसंतृप्तो भवति, 'मा क्षेपे मानबन्धयोः' इति विश्वलोचने । किञ्च, यो योगी स तावदकिञ्चनः किमपि यस्य पार्श्वे नास्ति सोऽपि भवंस्तासु रमासु रामासु च नियोगी तत्परो न भवति, यतोऽसावङ्गेऽस्मिन् देहेऽपि ममत्वस्य लोपी भवति ततोऽपि निर्मम स्तिष्ठति । अनुप्रासोऽलकारः ॥२६॥

धृतः क्षतत्राणकचर्मपाशः करेऽसिरेवं खलु चन्द्रहासः ।
मातङ्गमातम्भितवान् सुपाणे सरोषहुंकारधरः प्रयाणे ॥२७॥

धृत इत्यादि—गृहस्थावस्थायामेकस्मिन् करे क्षतत्राणकरः क्षतत्राणकः स चासौ चर्मपाशो गण्डकचर्मखण्डो धृत एव खलु परस्मिन् करे चन्द्रहासोऽसिर्धृतस्तथा रोषेण सहितो यो हुंकारस्तत्परः सन् सुष्ठु पस्य पवनस्याणः शब्दो यत्र तस्मिन् सुपाणे प्रयाणे युद्धार्थं निर्गमने मातङ्गं हस्तिनमातम्भितवान् समारुरोहाङ्गीकृतवानिति ॥२७॥

तुम्बी सपिच्छा हृदि सा समिच्छा पुरः पथिच्छादितचक्षुरिच्छा ।
दिवा विहारो दलिताध्वचारो मुनेः समारोपहृतः सुचारोः ॥२८॥

तुम्बीत्यादि—सुचारोः विश्वप्रसादकस्य समारोपहृतो भ्रमविनाशकस्य मुनेः संयमिनः पुन पार्श्वे पिच्छया मयूरपक्षनिर्मितया सहिता सपिच्छा तुम्बी कमण्डलुर्भवति

अर्थ—ससारी मानव अनुपम, अपरिमित और अनित्य उन प्रसिद्ध लक्ष्मियो तथा स्त्रियोमे असंतुष्ट रहता है-कभी सतुष्ट नही होता, परन्तु शरीरमे भी ममत्व बुद्धिको लुप्त करने वाला वह योगी अकिञ्चन होने पर भी उनमे तत्परताको प्राप्त नही होता ॥२६॥

अर्थ—गृहस्थावस्थामे इस इस मानवने एक हाथमे चमडेकी ढाल और दूसरे हाथमे तलवार धारण की तथा क्रोधसे हुँकारको धारण करता हुआ वह पवनके शब्दसे सहित प्रयाणकाल-युद्धके लिये प्रस्थान करते समय हाथी पर आरूढ हुआ ॥२७॥

अर्थ—परन्तु सब पर प्रसन्नता प्रकट करने वाले एवं सशयापहारी मुनिका विहार दिनमे ही होता है, वह भी मनुष्य, पशु आदिके द्वारा मर्दित-क्षुण्ण मार्गमे

हृदि चित्ते च सा समिच्छा शरीरमपीव मे नास्ति किलेदृशी मनोभावना भवति, विहारदशा तस्य मुनेर्दिवा दिवस एव स्यात्तथा च दलितेनाम्यैर्मनुष्यपशुप्रभृतिभिरवगाहितेनाध्वना यथा चारो विचरणं भवति तथा गमनसमये पुरः सम्मुखे पथि वर्त्मनि छादिता प्रसारिता चक्षुष इच्छा वृत्तिरितस्ततोऽनवलोकनरूपेति यावत् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२८॥

इतस्ततो भो परिमार्जनीवाऽविदग्धनुः सावगुणार्जिनी वाक् ।
वेश्येव विज्ञस्य पुनर्मनुष्यान् सम्मोहयन्ती भृतिकामनुः स्यात् ॥२९॥

इतस्तत इत्यादि—भो भव्य ! अस्मिन् भूभागेऽविदग्धोऽनभिज्ञो यो ना मनुष्यस्तस्य या वाग् वाणी सा परिमार्जनीवावकरसंग्राहिकेवावगुणार्जिनी दुर्गुणग्राहिका भवति, विज्ञस्य जनस्य च पुन. सा वेश्येव गणिका तुल्या मनुष्यान् सम्मोहयन्ती सती केवल भृतिकामनु जीविकार्जनप्रयोजना स्यात् । उपमालंकारः ॥२९॥

मुनिस्तु मौनं मनुतेऽञ्जनोनं क्वचिद्धितार्थं स्वमुखादघोनम् ।
निस्सारयेद्रत्नमिवातियत्नपुरस्सरं प्रत्नपदं विनूत्नम् ॥३०॥

मुनिरित्यादि—मुनिस्तु प्रथमतस्तु मौनमेवाञ्जनोनं कलङ्कविहीनं पवित्रं मनुते । क्वचित्कदाचिद्वक्तुमेव युक्तं भवति तत्र हितार्थं विश्वोपकारकं पुनरघोनं पापवर्जितं प्रत्नानां पुराणपुरुषाणां पद प्रतिष्ठा यस्मिंस्तत् पुराणपुरुषसम्मतं विनूत्नं नवीनतारहितं चार्थात् स्वकपोलकल्पनाहीनं तदेतदपि चातियत्नपुरस्सरं यथा स्यात्तथा रत्नमिव स्व-मुखान्निःसारयेत् । सैवा भाषासमितिः । उपमा चानुप्रासश्चालंकारः ॥३०॥

होता है। विहार कालमे उनके साथ मयूरपिच्छ और कमण्डलु रहता है। हृदयमे लोककल्याणकी भावना अथवा विरक्तिका परिणाम होता है और मार्गमे आगे चक्षुकी निष्प्रमाद प्रवृत्ति होती है, अर्थात् इधर-उधर देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव होता है ॥२८॥

अर्थ—हे भव्य ! अनभिज्ञ-अज्ञानी मनुष्यकी जो वाणी है, वह इधर-उधर झाडने वाली बुहारीके समान दुर्गुणका सग्रह करनेवाली होती है, पर विवेकी मनुष्यकी वाणी वेश्याके समान मनुष्योंको मोहित करती हुई प्रयोजनके अनुसार ही प्रवृत्त होती है, अर्थात् निष्प्रयोजन नही होती ॥२९॥

अर्थ—प्रथम तो मुनि मौन को ही निष्कलक मानते है, यदि कही बोलनेका अवसर आता है तो ऐसे वचन मुखसे निकालते हैं जो हितकारी हो, पापसे रहित हो, यत्नपूर्वक बोला गया हो, पुराणपुरुषोके वर्णनमे तत्पर हो और नूतनतासे रहित हो, अर्थात् कपोलकल्पित कल्पनाओंसे रहित हो और रत्नकी तरह मूल्यवान् हो ॥३०॥

हन्तोदरायास्ति कृतापराधः पतत्यतस्त्वात् तृणतोऽपि नाधः ।
बन्धूनपि द्वेष्टि कदन्नकोष्टिर्यद्येकवेलामपि नाशनेष्टिः ॥३१॥

हन्तेत्यादि—नाऽसौ नरो हन्तेति खेदपूर्वकमुच्यते यत्किलोदरायास्मै जठराय कृतापराधोऽपि पापाचरणपरायणो भवति । तत्त्वं स्वरूप तदभावात् स्वरूपज्ञानाभावा- तृणतोऽप्यधः पतति सर्वतोऽपि लघुतामुरीकरोति । यदि चैकवेलामपि चान्नस्य भोजन- स्येष्टिर्निष्पत्तिर्नास्ति तदा कदन्नकस्याभक्ष्यभक्षणस्येष्टिरिच्छा यस्य स भवन् बन्धूनपि द्वेष्टि तैरपि सह द्वेषं करोति । अनुप्रासालंकारः ॥३१॥

आपक्षमासं व्रजतोऽपि मन्तुं गुरूननूद्योगपरोऽपि गन्तुम् ।
लेश्याविशुद्धिं लभते सुबुद्धिर्नैवापराध्यत्यपि भैक्ष्यशुद्धिम् ॥३२॥

आपक्षमासमित्यादि—पक्षश्च मासश्च पक्षमासौ यावदित्यापक्षमासं तथा चापि शब्दादतोऽप्यधिककालपर्यन्तं मन्तु परमेष्ठिनं व्रजतो भोजनमकृत्वा परमात्मध्यानं कुर्वतो गुरून् वृषभबाहुबल्यादीन् गन्तुमनुसर्तुमुद्योगपरः परमप्रयत्नशील सुबुद्धि- विचारवान् मुनिः सोऽपि शब्दात् सुदीर्घकालमपि भोजनालाभेऽपि भैक्ष्यस्य शुद्धिं भिक्षा- सिद्धान्तस्य मर्यादा नैवापराध्यति समुल्लङ्घयति, प्रत्युत लेश्याया विशुद्धिमेव लभते निराकुल एव तिष्ठति । अनुप्रासोऽलंकारः । 'मन्तुः स्यादपराधेऽपि मानवे परमेष्ठिनि' इति विश्वलोचने ॥३२॥

यथासुखं कौतुकिकौ तु किन्न यदृच्छयान्यासु महीषु खिन्नः ।
कुशो विशत्येष करोति हो यदक्लेशयन् वेषमपि स्वकीयम् ॥३३॥

यथासुखमित्यादि—कुशः पापात्मा संसारी जनोऽन्यासु महीषु विनोदविहीनासु

अर्थ—उस मनुष्यसे खेदपूर्वक कहा जाता है कि जो इस पेटके लिये अप- राध करता है, स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जो तृणसे भी नीचे जा पडता है— अत्यन्त अनादरको प्राप्त होता है, यदि एक बार भी भोजनका जुगाड़ नही होता है तो अभक्ष्यभक्षणकी इच्छा करने लगता है तथा बन्धुजनोंके साथ द्वेष करता है ॥३१॥

अर्थ—एक पक्ष, एक मास अथवा इससे भी अधिक काल तक भोजन न कर परमेष्ठीका ध्यान करने वाले भगवान् वृषभदेव तथा बाहुबली आदिका अनुसरण करनेके लिये प्रयत्नशील विचारवान् मुनि भैक्ष्यशुद्धिका उल्लघन नहीं करते, किन्तु लेश्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते है ॥३२॥

अर्थ—कुश-पापी ससारी जीव विनोदरहित भूमियोमे खिन्न होता हुआ

खिन्नो विमना सन् यदृच्छया स्वेच्छया कौतुकिनां मद्यपद्यूतकरादीनां कौ तु भूमौ यथा-सुखं किन्न विशति तिष्ठति ? अपि तु तिष्ठत्येव । अपि चैव यत्किञ्चित्करोति तदपि स्वकीयं वेषं नेपथ्यमक्लेशयम्नविराधयन् करोति । ही खेदप्रकाशने । 'कुत्सो मलेऽपि पापिष्ठे', 'ही विस्मयविषादयोः' इति च विश्वलोचने । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३३॥

न चापलं शापलमेति जन्तोर्मुनीश उद्वेगभृतोऽपमन्तोः ।
उपैति चेदासनवैपरीत्यं भुवं विशोध्याङ्गमथापचित्यम् ॥३४॥

न चापलमित्यादि—यो मुनीश सोऽपमन्तोर्निरपराधस्य जन्तो प्राणिन. किन्तू-द्वेगभृतो यस्मात्कारणात्पीडां गच्छतः शाप दुराशिष लाति गृह्णाति तच्चापलं चपल-भाव नैति निश्चलैकासनेन तिष्ठति च । यदि कदाचिदासनस्य वैपरीत्य परिवर्तनमुपैति तदा भुवः स्थलमासनयोग्यमथचापचित्य परिवर्तनीयमङ्ग च विशोध्य पुनरुपैति ॥३४॥

लालाविलौष्ठ्याधि निचूष्य को न सुधेति बुद्धया प्रवरो मघोनः ।
सदारवर्गे पुनरेव रेतस्त्यजः समः कः प्रभवेदथैतः ॥३५॥

लालाविलेत्यादि—सदारा गृहस्थास्तेषां वर्गे पत्न्या लालया थूत्कधारयाऽऽविल ओष्ठोऽधर आदौ यत्र तत् कपोलप्रभृतिकमङ्ग निचूष्यात्रासौ सुधास्तीति बुद्धया मघोनोऽपी-न्द्रादपि प्रवरः को न भवति ? भवत्येव सर्वः । अथ पुना रेतस्त्यजः शुक्रमोक्षकस्य तु समः समान इतोऽस्यां धरायां कः प्रभवेत् ? किन्तु कोऽपि नैवेनि काकूक्ति ॥३५॥

मद्यपायी तथा जुआड़ी आदि कुतूहलप्रिय लोगोकी भूमिमे सुखपूर्वक क्या नही प्रवेश करता ? अर्थात् करती ही है तथा वहाँ अपनी वेषभूषाकी विराधना न करता हुआ इच्छानुसार कुछ भी कार्य करता है ॥३३॥

अर्थ—मुनिराज निरपराध एव छटपटाते हुए जीवकी दुराशिषको ग्रहण करनेवाली चपलताको प्राप्त नही होते, अर्थात् अपने विहार और आदान निक्षे-पणसे किसी जीवको पीडा नही देते । यही नही, यदि कभी उन्हे आसनपरि-वर्तन करना होता है तो भूमि और परिवर्तनीय अङ्गको शोधकर–पीछीसे परिमार्जित कर आसन-परिवर्तनको प्राप्त होते है ॥३४॥

अर्थ—गृहस्थ जनोमे लार आदिसे मलिन स्त्रीके अधरोष्ठ आदि अङ्गोको चूष कर यह अमृत है, ऐसा मानकर कौन पुरुष इन्द्रसे बढकर नही होता है ? अर्थात् सभी होते है । इसी प्रकार शुक्र-मोक्ष करनेवालेके समान इधर कौन है ? अर्थात् कोई नही ॥३५॥

शरीरमात्रं मलमूत्रकुण्डं किमेकमेतद्धि कलत्रतुण्डम् ।
यतिः स तिष्ठेवमुतो विरज्य घने वने ब्रह्मघनेऽनुरज्य ॥३६॥

शरीरमात्रमित्यादि—हि निश्चयेन एतत्कामिजनचूच्यमाणमेकं कलत्रतुण्डं वनिता-वदनमेव किं शरीरमात्र निखिलशरीरं मलमूत्रयोः कुण्ड स्थानं वर्ततेऽतो स प्रसिद्धो यति-र्मुनिरमुतः स्त्रीशरीराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा ब्रह्मैव धनं तस्मिन् शुद्धात्मवित्तेऽनु-रज्यानुरक्तो भूत्वा घने निबिडे स्त्रीजनवुर्गमे वनेऽरण्ये तिष्ठेत् स्थितो भवति ॥३६॥

चित्तं कुविस्तेन तनोः समित्ते विकारभृद् वेशभृतिं विधत्ते ।
पटेन यद्वद् व्रणपत्पदादि रज्ज्वादिना वेष्टयते खरादी ॥३७॥

चित्तमित्यादि—हे राजन् ! जयकुमार ! ते चित्तं मन कुवित् कोः पृथिव्या बुद्धिर्यस्य तदस्ति, तेन कारणेन ते तनोः समिद् देहस्य समागमो विकारभृतो नानाविधस्य वेशस्य भृतिं परिपूर्तिं विधत्ते । यथा खरादी शस्त्रचिकित्सको वा काष्ठरञ्जको वा व्रणव-त्पदादि यत् तत्पटेन वस्त्रवेष्टनेन रज्ज्वादिना वेष्टयते तद्वदिति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥३७॥

विकारवर्ज्यं वपुराविभाति महामुनेर्हैममिवाभिजाति ।
यज्जातुषं चेन्मणिकारवारे रज्ज्येत किं मौक्तिकमप्युवारैः ॥३८॥

विकारवर्ज्यमित्यादि—महामुनेर्वपुः शरीरं तद्विकारवर्ज्यं कृत्रिमभावरहितं हेम्ना निर्मितं हैमं सौवर्णं वस्तु तदिवाभिजाति जातिं सहजवृत्तिमभिव्याप्य तिष्ठतीत्य-भिजाति अभिभाति शोभते । यज्जातुषं लाक्षाविघटितं चेदस्ति तन्मणिकारस्य वारैः

अर्थ—परमार्थसे स्त्रीका एक यह मुख ही क्यों, शरीरमात्र मल और मूत्रका कुण्ड है, अतः मुनिराज इससे विरक्त हो आत्मधनमे अनुरक्त होकर सघन वनमे निवास करते हैं ॥३६॥

अर्थ—हे राजन् जयकुमार ! तुम्हारा मन **कुविद्**—पृथिवीका जानकार है, अतः तुम्हारे शरीरका समागम विविध वेषकी पूर्तिको उस तरह करता है, जिस तरह कि खरादी–शस्त्राघातकी चिकित्सा करनेवाला वैद्य घावसे सहित पैर आदिको वस्त्रसे वेष्टित करता है अथवा लकडीका काम करनेवाला पुरुष जिस तरह व्रण–खोट युक्त लकडीको रज्जु आदिसे वेष्टित करता है–छिपा देता है ॥३७॥

अर्थ—महामुनिका विकाररहित शरीर स्वर्णनिर्मित उच्चकोटिके आभूषणके समान सुशोभित होता है। जिस तरह जातुष–लाखसे निर्मित वस्तु मणिकार–

पकारैरुदारै रज्ज्येत तथा किं मौक्तिकमपि ? किन्तु नहीति काकूक्तिः ॥३८॥

सुदर्पणे स्वास्यसमर्पणेन स्वैरं समालम्ब्य समादरेण ।
बिभर्ति तैलाद्यलकेषु वस्तु शृङ्गारसौन्दर्यपरो नरस्तु ॥३९॥

सुदर्पण इत्यादि—शृङ्गारश्च सौन्दर्यं च तयोः परोऽनुरक्तो यो नरो गृहस्थः स तु समादरेण किलादरभावेन स्वैरं यथेच्छं यथा स्यात्तथा समालम्ब्य करेण धृत्वा सुदर्पणं धृत्वा तस्मिन् स्वास्यस्य निजमुखस्य समर्पणेन प्रतिबिम्बावलोकनेन सहालकेषु केशेषु तैलादि वस्तु केशप्रसाधकं बिभर्ति ॥३९॥

क्षुरोनरोचिष्णुरवद्यजिष्णुरिरां तरिष्णुः सहजं चरिष्णुः ।
यूकादिशूकाचरणं न मुञ्चेत् कचानचापल्ययुगेव लुञ्चेत् ॥४०॥

क्षुरोनेत्यादि—एष मुनिस्तु पुनरवद्यजिष्णुः पापाचारं जेतुमर्हं इरां व्यसनभूमिं च तरिष्णुरुत्तरीतुं योग्यः सहजं चरिष्णुरनन्यवशाचरणकारी क्षुरेण कचापहारि शस्त्रेण चोनो रहितस्सन् रोचिष्णु सुरुचिमान् । एवं च यूकादीनां जन्तूनां शूकं दयाभावस्याचरणमपि न मुञ्चेत्त्यजेदतश्चापल्य न युनक्तीत्यचापल्ययुग् भवन् कचान् केशान् लुञ्चेदेव । 'शूकः स्यादनुकम्पायाम्' इति विश्वलोचने ॥४०॥

परः परागः प्रकृतः प्रयागः स्फुरन् शरीरे सहजोऽनुरागः ।
सौवर्ण्यमायात्वधुनेति मे हि संस्नाति मृत्स्नातिशयेन गेही ॥४१॥

कलाकारके विविध प्रकारोसे रग दी जाती है, उस प्रकार क्या मोतियोसे निर्मित वस्तु भी रगी जाती है, अर्थात् नही ।

भावार्थ—जिस प्रकार लाखके आभूषण पर रङ्ग किया जाता है, उस प्रकार मोतियोके आभूषण पर नही । इसी प्रकार गृहस्थके शरीर पर विविध प्रकारकी सजावट की जाती है, मुनिराजके शरीर पर नही ॥३८॥

अर्थ—शृङ्गार और सौन्दर्यमे तत्पर रहने वाला मनुष्य आदरपूर्वक स्वेच्छानुसार दर्पण लेकर तथा दर्पणमे अपने मुखका प्रतिबिम्ब देखकर केशोमे तेल आदि सजावटकी वस्तुको धारण करता है ॥३९॥

अर्थ—ऊपर गृहस्थकी बात कही, परन्तु जो क्षुरा (उस्तरा) से रहित होने पर भी सुशोभित है, पापाचारको जीतने वाले हैं, सकटकी भूमि नरकादिको पार करने वाले है, सहज-स्वाभाविक आचरणसे सहित हैं और चपलतासे युक्त नही है, ऐसे ये मुनिराज जुआ आदि जीवोकी दयाका आचरण करते हैं तथा केशोका लुञ्चन करते है ॥४०॥

पर इत्यादि—गेही जनो मृत्स्नाया स्निग्धाया मृत्तिकाया अतिशयेनाङ्ग सम्मर्दय संस्नाति स्नानं करोति यतस्तस्य पार्श्वे परः समुत्कृष्टः परागः स्नानीय रज सम्भवति, प्रयागो नाम तीर्थदेशश्च प्रकृतः प्रसङ्गप्राप्तो भवति, शरीरे च तस्य होति नियमेनाधुना मे सौवर्ण्यं सुष्ठुवर्णत्वमायातु भवेदित्येव सहज एवानुरागोऽपि स्फुरन् वर्तते । तत स्नान-प्रक्रमो युक्त एव ॥४१॥

सवेह् देहं मलमूत्रगेहं ब्रूयां सुरामत्रमिवापदेऽहम् ।
तद्योगयुक्त्या निवहेदपांशु याति स्रवत्स्वेदनिपातिपांशु ॥४२॥

सवेहेत्यादि—अहमिह देहमिदं यत्सदैव मलमूत्रयोर्गेहं गृहं तत् सुराया मद्यधाराया अमत्रं पात्रमिव केवलमापदे विक्षिप्ततारूपायै विपदे ब्रूया वदेयम् । यश्च यति. स इव देहं स्रवति समुद्भवति स्वेदे श्रमजले निपाती समापतनशील. पांशुर्यत्र तत्तथाभूत तत एवापा-शु अपगता अंशव किरणा यस्मात्तथाभूतं निष्प्रभमित्यर्थ', योगस्य ध्यानस्य युक्त्या प्रयोगेण योगे वा युक्त्या निवहेत्, स्नानमकृत्वैवेति शेषः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥४२॥

मृष्टाशनत्रं रुचिवित्कलत्रन्यस्तं समासाद्य तमाममत्रम् ।
सुविष्टरे स्पष्टतयोपविष्टः सहात्ति मित्रैः सदनेशशिष्टः ॥४३॥

मृष्टाशनत्रमित्यादि—सदनेशः शिष्टो गृहस्थसज्जनः स मृष्ट मनोऽभिलषित-मशनं त्रायते यत्र तत् तथा रुचिं वेत्ति समनुजानाति यत्तेन कलत्रेण भार्यया न्यस्तं समानीय दत्त यदमत्र भोजनपात्र तत्समासाद्य तमाम् उपादाय सुविष्टरे मनोभिलषितासने स्पष्टतयोपविष्टोमित्रै सह सम्भूयात्ति समश्नाति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥४३॥

अर्थ—यतश्च गृहस्थके पास स्नानके समय काम आने वाला सुगन्धित रज है, स्नानके योग्य प्रयाग नामका उत्तम क्षेत्र है, शरीरमे स्वाभाविक अनुराग है और इस समय मेरे शरीरमे सुन्दरता आवे ऐसी इच्छा है, अत' वह उत्तम मिट्टीसे शरीरका मर्दन कर स्नान करता है ॥४१॥

अर्थ—इस जगत्मे मैं जिस शरीरको मलमूत्रका घर तथा मदिराके पात्रके समान विपत्तिका कारण कहता हूँ, झरते हुए पसीनाके साथ जिसकी धूलि निकल रही है, ऐसे अपाशु–निष्प्रभ शरीरको योगी ध्यानकी योजनासे धारण करते हैं–बिना स्नानके ही उसे जोवनपर्यन्त धारण करते है ॥४२॥

अर्थ—गृहस्थ सज्जन, मनोभिलषित भोजनमे युक्त और रुचिको जानने वाली स्त्रीके द्वारा सामने रखे भोजनपात्रको लेकर उत्तम आसन पर आरूढ हो मित्रोके साथ भोजन करता है ॥४३॥

स्वपाणिपात्रं पुनरल्पमात्रं स्थित्वाप्तिकात्रं परतन्त्रसात्रम् ।
मुनेरथात्रस्तविजन्तुमात्रं क्व भोजनं भो जनरञ्जनात्र ॥४४॥

स्वपाणिपात्रमित्यादि—भो जनरञ्जन ! जनानां स्नेहभाजन ! अथ पुनर्मुनेर्भोजनं यद् भवति तत्, स्वस्य पाणि. कर एव पात्र यत्र तत्, तथाल्पमात्र स्वल्प रूपं, तच्च स्थित्वैव वोद्ध्रीभूयात्तिका भुक्तिस्ता त्रायते तत्, परतन्त्र गृहस्थाधीनं सत्रमेव सात्रं सदादान यत्र तत् तथा न त्रस्तं बाधायुक्तं भवेत्, विजन्तुमात्रमपि यत्र तदत्र क्व सुलभ भवेदिति चिन्तनीयम् । अनुप्रासोऽलंकारः ।।४४।।

एतावती स्यादुदरेऽभिवृद्धिर्मृष्टेऽशने सत्यशनेऽतिगृद्धिः ।
नक्तंदिवं व्यक्तमहो चरिष्णोर्भवत्यवज्ञाविषया विजिष्णोः ॥४५॥

एतावतीत्यादि—विशिष्टो जिष्णुरग्निर्यस्य तस्य गृहस्थलोकस्य नक्तंदिवं निरन्तरमेव व्यक्त स्पष्टतया चरिष्णोर्भक्षयतः किल मृष्टे मनोऽभिलषितेऽशने सति उदरे पुनरेतावती याऽभीष्टा साभिवृद्धि स्यादित्येतद्रूपतयाऽशनेऽतिगृद्धिर्लोलुपता साऽवज्ञा-विषया ज्ञानिभिरनादरणीयैव भवति ।।४५।।

स्फूर्तिस्त्वजग्धावुत भाति मूर्तिर्न ध्यानजूर्तिश्च सुगर्तपूर्तिः ।
सकृत्समश्नातु यथा न दातुः कष्टं निजस्यावनतिश्च जातु ॥४६॥

स्फूर्तिरित्यादि—ज्ञानवतो भोजन कीदृगिति कथयति किल—तस्य स्फूर्तिरुत्कण्ठा

अर्थ—परन्तु हे जनरञ्जन ! सबके स्नेहभाजन ! मुनिका जो भोजन होता है वह अपने हाथ रूपी पात्रमे होता है, अल्प होता है, खडे होकर ग्रहण किया जाता है, परतन्त्र—गृहस्थके अधीन होता है, दानरूपमे प्राप्त होता है, बाधारहित होता है और जन्तुरहित होता है। इस तरह गृहस्थका भोजन कहाँ और मुनिका भोजन कहाँ ? दोनोमे बडा अन्तर है ॥४४॥

अर्थ—जिसकी जठराग्नि विशिष्ट है तथा जो रात-दिन स्पष्ट रूपमे खाता रहता है, ऐसे गृहस्थको 'अभिलषित भोजनके होनेपर उदरमे इतनी वृद्धि होती है' इस भावनासे युक्त जो भोजनविषयक गृद्धता—लम्पटता है, वह अवज्ञा—अनादरका विषय है।

भावार्थ—रात-दिन तथा अत्यधिक मात्रामे खाकर पेट बढाने वाले मनुष्य-को लोग 'पेटू' कहकर अनादृत करते है ॥४५॥

अर्थ—ज्ञानी मनुष्यका भोजन कैसा होता है ! यह कहते हैं। ज्ञानी मनुष्य-

तु तावदजग्धावनशम एवोत पुनरियं मूर्तिः शरीर सा ध्यानस्य जूति. शक्तिर्यस्यां सा नास्ति चेति दृष्ट्वा सुगर्तपूर्ति· सुगर्तस्य यथा तथा पूर्ति क्रियते, तथैव सकृदेकवार विने समश्नातु खादतु ज्ञानी यथा दातुर्जातु कष्टं नास्तु न च निजस्य जात्वपि चावनतिरवज्ञा स्यात् ॥४६॥

ताम्बूलसंचर्बणतोऽप्यतुष्यन् रदान् विशोध्यान्तरदान् मनुष्यः ।
सदारुणान् निष्कषदारुणापि कलङ्कयेन्मज्जनतोऽप्यपापिन् ॥४७॥

ताम्बूलेत्यादि—हे अपापिन् ! पापवर्जित ! मनुष्योऽयं जनसाधारण सोऽन्तरदान् भिन्नभाव गतान् रदान् दन्तान् ताम्बूलस्य पूगदलस्य सचर्बणत. पुनः पुनरास्वादनतः अरुणान् व्याकुलानपि सशोध्यापि पुनरतुष्यन् सन्तोषमगच्छन् सन् सदा नित्यमेव निष्कष-दारुणा सघर्षणकाष्ठेनापि कलङ्कयेदलकुर्यात् मज्जनतोऽपि दन्तशोधकचूर्णतोऽपि कलं-कयेत् । 'अरुणो व्याकुलेऽपि च' इति विश्वलोचने । अनुप्रासोऽलकारः ॥४७॥

श्रुतिस्तु सत्त्वानखिलान् समेति द्विजानवध्यान् स्मृतिरप्यथेति ।
द्विजान्वयेष्वेष निजान्वयेषु कुतोऽङ्गुलिस्पर्शनमेतु तेषु ॥४८॥

श्रुतिरित्यादि—श्रुतिर्वेद आगमो वा स त्वखिलानेव सत्त्वान् प्राणिनोऽवध्यान् समेति कथयति, किन्त्वथ पुन स्मृतिरैहिकागमोऽपि द्विजान् द्विजन्मनस्त्ववध्यान् निवेदयति, अतः पुनरेषागमानुसारी मुनिर्निजान्वयेषु स्वसम्बन्धिष्वेव द्विजान्वयेषु द्विजनामधारकेषु तेषु दन्तेषु किलाङ्गुलिस्पर्शनमपि कुत एतु ? न कुतोऽपि । मुनिर्दन्तमञ्जनादिक न करोतीति ॥४८॥

को उत्कण्ठा–अभिलाषा तो उपवासमे ही रहती है, परन्तु आहारके बिना शरीर-मे ध्यानकी शक्ति नही रहती, इसलिये उदररूपी गर्तकी पूर्ति करता है। ज्ञानी मनुष्यको दिनमे एक बार ही भोजन करना चाहिये, जिससे दाताको कष्ट न हो और अपनी कभी अवज्ञा न हो ॥४६॥

अर्थ—हे निष्पाप ! पापरहित ! साधारण मनुष्य हिलते हुए तथा बार-बार पान चबानेसे व्याकुलताको प्राप्त हुए दाँतोको निकालकर भी सतुष्ट नही होता, किन्तु दातौन और मञ्जनसे उन्हे अलकृत करता है ॥४७॥

अर्थ—वेद अथवा आगम समस्त प्राणियोको अवध्य कहते है और स्मृति भी द्विजोको अवध्य बताती है। फिर यह मुनि द्विजनामधारी अपने सम्बन्धियो-दाँतोपर अंगुली क्यो उठावे, अर्थात् अंगुलिसे उनका स्पर्श क्यो करे। तात्पर्य यह है कि मुनि दन्तधावन नही करते।

अनल्पतल्पे तलुनस्त्रियामामङ्गीकरोतीव तु कान्तयाऽमा ।
जयत्ययं शर्करिले शयानः किलैकपार्श्वेन चिदेकतानः ॥४९॥

अनल्पतल्प इत्यादि—तलुनो युवा ससारी स तु कान्तया स्ववनितयाऽमा सार्द्धमनल्प बहुमूल्यं तूलपुष्पोपगादियुतं यत्तल्प पल्यङ्कः तस्मिन् शयानस्त्रियामां रात्रिमङ्गीकरोति बहु मन्यते, किन्त्वय संयमी स चिद् आत्मानुभवकारिणी बुद्धिस्तया सहैकतानोऽनन्यवृत्ति सन् किलैकेन पार्श्वेन नोत्तानोऽनुत्तानो वा सन् शर्करिले कर्करप्रस्तरव्याप्ते भूतले शयानस्ता जयति व्यत्येति ॥४९॥

स्वमास्यमादर्शतलेऽभिपश्यंस्तल्पोत्थितो नैश्यरहस्यमस्यन् ।
प्रवर्तते सज्जनतासमक्षमसौ मनुष्यो व्यवहारदक्षः ॥५०॥

स्वमास्यमित्यादि—असौ व्यवहारे गृहस्थाश्रमे दक्ष सुचतुरो मनुष्यस्तल्पाच्छय्यातलादुत्थितस्तल्पोत्थित स्वमास्य मुखमादर्शतले दर्पणप्रान्तेऽभिपश्यन् अवलोकयन् नैश्य निशासम्बन्धि यद्रहस्य गोप्यं वस्तु तदेवंरीत्याऽस्यन् निराकुर्वन् समीचीना गुरुवर्गपरिपूर्णा या जनता तस्या समक्षं समुद्देशं प्रवर्तते समायाति । अनुप्रासोऽलकार ॥५०॥

साम्ये समुत्थाय धृतावधान इष्टेऽप्यनिष्टेऽपि कृतावसानः ।
अबुद्धिपूर्वं च समुत्थमागः संशोधयत्यध्वविदस्तरागः ॥५१॥

साम्य इत्यादि—अध्वविदपवर्गमार्गज्ञाताऽस्तरागो विषयेष्वनुरागरहित समुत्थाय निशावसाने प्रसन्नतापूर्वक स्थितो भूत्वाऽसाविष्टे मनोऽनुकूलेऽप्यनिष्टे तत्प्रतिकूलेऽपि कृत स्वीकृतमवसानमभावो येन स इष्टानिष्टकल्पनारहितः, किन्तु साम्ये समभावे सामायिक-

---

भावार्थ—दो बार उत्पन्न होनेसे दातोको द्विज कहते है और गर्भनिःसरण तथा दीक्षाधारणकी अपेक्षा मुनि भी द्विज कहलाते हैं ॥४८॥

अर्थ—युवावस्थामे सहित ससारी जीव अपनी स्त्रीके साथ बहुमूल्य पलङ्ग पर शयन करता हुआ रात्रिको बहुत मानता है, परन्तु एक आत्मबुद्धिमे सलग्न मुनि कंकर-पत्थर तथा धूलिसे युक्त पृथिवी तलपर एक करवटसे शयन करते हुए रात्रिको व्यतीत करते है ॥४९॥

अर्थ—व्यवहार-गृहस्थाश्रममे चतुर मनुष्य शय्यासे उठकर दर्पण तलमे अपना मुख देखता हुआ रात्रि सम्बन्धी गोपनीय वृत्तको दूरकर सज्जनोके समक्ष प्रवृत्त होता है, अर्थात् गुरुजनोके बीच आता है ॥५०॥

अर्थ—मोक्षमार्गके ज्ञाता रागरहित मुनि प्रातःकाल उठकर साम्यभावमें

नाम्नि धृतावधानो लब्धोत्साहः सोऽबुद्धिपूर्वं चाप्यागोऽपराधं बुद्धिपूर्वं तु करोत्येव न, किन्त्वकुर्वतोऽपि यदस्य जातं तत् पुनः संशोधयति तदर्थं प्रतिक्रमणं करोतीत्यर्थः ।।५१।।

प्रयोजनाधीनकवन्दनस्तु विलोकते क्वापि जनो न वस्तु ।
मूर्ध्नाऽलिवद्योऽथ रतेष्टदीनः स्त्रियाः पदाब्जाह्रि तये विलीनः ।।५२।।

प्रयोजनेत्यादि—जनः संसारी लोकः प्रयोजनमधीनं यस्य स कासौ क आत्मा तस्यैव वन्दनाय यस्य स भवति, यत स्वप्रयोजनस्य सिद्धिं वीक्षते तमेवाभिवन्दतेऽतः स वस्तु क्वापि न विलोकते । केवलं रतस्य स्त्रीसङ्गस्य या किलेष्टि समभिलाषा तया हेतुभूतया दीनो भवति ततो मूर्ध्ना मस्तकेन योऽसौ स्त्रियाः पदाब्जयोः चरणकमलयो-र्द्वितयेऽप्यालिवद् भ्रमरवद्विलीनो भवति ।।५२।।

यतिस्तु तत्त्वैकमतिर्जिनादिष्वास्ते गुणाधीनतयाऽभिवादी ।
आदीनवाऽदीनतया प्रसादिष्वेकान्ततः स्वान्त इहाप्रमादी ।।५३।।

यतिरित्यादि—हे आदीनव ! हे संक्लिष्ट ! 'आदीनवस्तु दोषे स्यात्परिक्लिष्ट-दुरन्तयो' इति विश्वलोचने । यतिः संयमी तु पुनस्तत्त्वैकमतिरात्माधीनबुद्धिरास्तेऽतः स स्वान्ते स्वमनसि किलेहाप्रमादी पापाचारविहीन एवैकान्ततो नियमतः आस्तेऽत सोऽदीन-तया दीनतातो दूरवर्तितया प्रसादिषु प्रसन्नताधारकेषु जिनादिष्वर्हत्सिद्धादिपञ्चपरमेष्ठिषु गुणाधीनतया गुणानुरागवृत्त्याऽभिवादी तेषामभिवन्दनकः । अनुप्रासोऽलंकारः ।।५३।।

स्तवोऽथ बोधस्य समाश्रमे तु निरीहतायाः स समस्ति हेतुः ।
मनोऽङ्गिनः काञ्चनकाञ्चनाय यो वा यदर्थी स तदभ्युपायः ।।५४।।

उपयोग लगाते हैं, इष्ट और अनिष्टके विकल्पको दूर करते हैं तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाले अपराधकी भी शुद्धि करते हैं, अर्थात् प्रतिक्रमण करते हैं ।।५१।।

अर्थ—जो अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये आत्माकी वन्दना करता है, वह अपने प्रयोजनके अतिरिक्त कहीं भी किसी वस्तुको नहीं देखता है । ऐसा ससारी प्राणी स्त्रीसमागमको इच्छासे दीन हुआ मस्तकसे स्त्रीके चरण-कमल युगलमे भ्रमरके समान विलीन–आसक्त रहता है ।।५२।।

अर्थ—हे संक्लिष्ट ! हे संसारपरिभ्रमण खिन्न ! यतश्च संयमी–मुनि तत्त्वैकमति–आत्माधीन बुद्धि होता है, अतः वह अपने मनमे प्रमाद–पापाचारसे रहित होता हुआ नियमसे दीनतासे दूरवर्ती होनेके कारण प्रसन्नताके धारक अर्हन्त आदि पञ्च परमेष्ठियोंकी ही वन्दना करता है । वह उन्हीके गुणोके अधीन रहता है ।।५३।।

स्तव इत्यादि—यद्यपि अङ्गिनः शरीरधारिणो मन कञ्चनमेव काञ्चनमिति कृत्वा स्वार्थे क. प्रत्ययस्तस्य अञ्चनाय सुवर्णस्यैव स्तवनाय प्रवर्तते, किन्तु समताया आश्रमे समाश्रमे त्यागमार्गे तु पुनरस्य बोधस्य केवलशुद्धात्मनो ज्ञानस्य स्तवो वचसा विश्लाघनं भवति यतः, स एव बोधो निरीहताया समताया हेतुः कारणं समस्ति । यो वा जनो यदर्थी यत्प्रयोजनवान् भवति स तदभ्युपायस्तस्मै यत्नकरो भवतीत्यर्थान्तरन्यास. ।।५४।।

सम्पादयाम्यद्य तदेतदाद्यावपूर्णमस्ताह्नि अहो प्रमादात् ।
तत्कृत्यमित्थं च तदित्युपायपरो नरोऽयं भविता सुखाय ।।५५।।

सम्पादयामीत्यादि—अय नर सुखाय समाश्वासनहेतवेऽह् किलाद्यावो तदेतत्सम्पादयामि यदस्ताह्नि पूर्वस्मिन् दिने प्रमादादालस्यवशादपूर्णमसम्पन्नमेवाहो सस्मरणे तथा चाद्याधुना तत्कृत्य करणीयमास्ते तत्त्वित्थं कृतमेवेत्युपायपरो भवितास्ति निरन्तरमेतादृगेव चिन्तयति ।।५५।।

यतिः सदैवं यततेऽनवद्यपथे प्रथावानहमद्य सद्यः ।
त्यजामि यद्ध्यः स्खलितं ह्यसह्यं श्वस्तावदास्ते रुचिकृत्तु मह्यम् ।।५६।।

यतिरित्यादि—यतिस्तु यो भवति सोऽनवद्यपथे पापापेते वर्त्मनि प्रथावान् प्रगतिवान् भवति, तत स सदैवंप्रकारेण यतते प्रयत्न करोति यदहमद्य सद्यस्तत्कालमेव तत्त्यजामि परिहरामि यत्किञ्चित्किल ह्यः पूर्वस्मिन् दिने स्खलित प्रमादादन्यथाचरित हि यस्मात्कारणान्मह्य तदरुचिकृत् किल हानिकरमेवातः श्वस्तावदनागतदिवसपर्यन्तमसह्यमास्ते । अनुप्रासालकार. । प्रतिक्रमणप्रकारोऽयम् ।।५६।।

अर्थ—ससारी जीवका मन सुवर्णकी स्तुतिके लिये होता है, परन्तु समताके आधारभूत मुनिमे शुद्धात्मज्ञानका स्तवन होता है, क्योकि वह निरोहता–निःस्पृहताका हेतु है । ठीक ही है, क्योंकि जो मनुष्य जिस वस्तुका इच्छुक होता है, वह उसीके लिये उपाय करता है ।।५४।।

अर्थ—ससारी प्राणी निरन्तर ऐसा विचार करता रहता है कि आज मै पहले यह कार्य करता हूँ, कल यह कार्य प्रमादसे अपूर्ण रह गया था और आज यह कार्य इस तरह करने योग्य है । इस प्रकार यह मनुष्य सुखके लिये उपाय करनेमे तत्पर रहता है ।।५५।।

अर्थ—मुनि निरन्तर पापरहित मार्गमे प्रगति करते हुए इस प्रकार प्रयत्न करते है कि आज मै इस कार्यको शीघ्र ही छोडता हूँ । पूर्वदिन प्रमादसे जो विपरीत आचरण हुआ था, वह मेरे लिये अरुचिकर है–उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ और आगामी दिवस पर्यन्त वह कार्य मेरे लिये असह्य है ।।५३।।

शास्त्राणि शस्त्राणि किलान्तरङ्गनियन्त्रणानीति वदत्यचङ्गः ।
कदापि चेदाश्रयतोष्टसिद्धिकराणि तानीह नरेश विद्धि ॥५७॥

शास्त्राणीत्यादि—अचङ्गो निर्विचारो जन सोऽन्तरङ्गस्य मनसो नियन्त्रण भवति यैस्तानि शास्त्राणि सन्तीति हेतोस्तानि किल शस्त्राणि वदति ततो दूरतर एव तिष्ठति । कदापि श्रयति तानि चेत्तदेहेष्टसिद्धिकराणि यानि जानाति तान्येव श्रयति किलेति हे नरेश ! त्वं विद्धि जानीहि । 'अङ्गो दक्षेऽथ शोभने' इति विश्वलोचने ॥५७॥

निराश्रयत्वेन स शान्तिजानिः समुत्तरंस्तान्यथ दुःश्रुतानि ।
ध्यानात्यये श्राम्यति चागमेषु स्वभावसम्भावनयान्वितेषु ॥५८॥

निराश्रयत्वेनेत्यादि—अथ शान्तिर्जाया प्रिया यस्य स शान्तिजानिर्मुनिर्निर्गतः शान्तेराश्रयो येभ्यस्तत्त्वेन यानि प्रसिद्धानि कलहविसंवादविसम्पादकानि दुःश्रुतानि तानि समुत्तरन् परिहरन् केवल स्वभावस्यात्मभावस्य सम्भावनाऽनुचिन्ता तयान्वितेषु चागमेषु ध्यानस्यात्मन्येकाग्रत्वस्यात्ययेऽभावे स्वात्मभावनतो मनसः प्रच्यवनकाले श्राम्यति विश्राम करोति ॥५८॥

देहाय हा कर्मकरायतेऽयं यत्तत्समादानविधावगेयः ।
विपद्यतेऽलीव विपद्यमानेऽमुष्मिन्नहो किन्तु रहो न जाने ॥५९॥

देहायेत्यादि—अय संसारी जनः स तत्त्व तत्त्व समादानं नित्यकर्म देवपूजनादि 'समादान समीचीनग्रहणे नित्यकर्मणि' इति विश्वलोचने, तस्य विधौ सावधाने गेयेन

अर्थ—हे नरेश ! अचङ्ग–विचारहीन मनुष्य मनका नियन्त्रण करने वाले शास्त्रोको शस्त्र कहता है–उनसे सदा दूर रहता है । यदि कदाचित् शास्त्रोंका आश्रय लेना भी है तो अपना प्रयोजन सिद्ध करानेवाले शास्त्रो–रागद्वेषवर्धक शास्त्रोका आश्रय लेता है–उनका पठन-पाठन करता है, ऐसा जानो ॥५७॥

अर्थ—शान्तिरूप स्त्रीसे सहित मुनि शान्तिका आश्रय न होनेसे कुशास्त्र कहे जानेवाले शास्त्रोको छोडते हुए ध्यानके अभावमे स्वकीय शुद्ध आत्माके अनुचिन्तनसे सहित आगमो–शास्त्रोमे श्रम करते है–उनका स्वाध्याय करते है, अर्थात् आत्मध्यानसे उपयोग हटनेपर समीचीन शास्त्रोका स्वाध्याय करते है ॥५८॥

अर्थ—यह संसारी प्राणी देवपूजा आदि नित्य कर्मोंमे कर्तव्यहीन होता हुआ एक शरीरके लिये ही कर्मकर–भृत्यका आचरण करता है–उसीकी सँभाल-

नालयोग्येन कर्तव्येन रहितत्वादगेयः सन्देहायैवास्मै कर्तव्य इवाचरतीति कर्मकरायते हा खेदप्रकाशने। तथामुष्मिन् विपद्यमाने जातुचिदपि विचलतामनुकुर्वाणे शरीरेऽतीव विपद्यते बहु कष्टमनुभवति तदहो विस्मयस्थलमत्र किन्तु रहो गुह्यतत्त्वमित्यहं न जाने। अथवाऽत्र किन्नु रह किमपि तत्त्वं नास्तीत्यह जानेऽनुभवामि। अनुप्रासोऽलंकार ॥५९॥

श्रमैकसवाहि किलाभिजल्पन् विनिर्वहत्यासकलत्रकल्पम्।
ज्वलत्कुटीरोपममेतदङ्गमापत्क्षणे मोक्तुमुवेत्यसङ्गः ॥६०॥

श्रमैकसंवाहीत्यादि—असङ्ग सयतो जन आत्तं स्वीकृतं च तत्कलत्रं स्त्री वा दुर्गस्थान वा 'कलत्र भूभुजा दुर्गस्थानेऽपि श्रोणिभार्ययो' इति विश्वलोचने, तस्य कल्पो विधिरिव विधिर्यस्य तदेतदङ्ग श्रमैकसंवाहि यत्किञ्चिच्छ्रमवानं दत्त्वा निर्वहनयोग्यं किलाभिजल्पन् सवदन् पुनरापत्क्षणे विपत्तिवेलायामेतन्मोक्तुं तत्कालं त्यक्तुमुवेति तत्परस्तिष्ठति ज्वलत्कुटीरोपम दह्यमानकुटीरसदृशमिति किलोपमालंकार. ॥६०॥

अनन्यमान्या स्वगुणैकधान्या मुनेः सदा न्यायपथानुमान्या।
जनस्य नीतिः परतः प्रणीतिः सभीतिरास्ते विकलप्रतीतिः ॥६१॥

अनन्यमान्येत्यादि—मुनेर्नीतिः परिणतिस्सा सदा न्यायस्य समीचित्यस्य य पन्था मार्गस्तेनानुमान्या समादरणीयाऽथवानुमानविषयाऽनुमेया भवति तथा स्वस्यात्मनो यो गुणो निर्ममत्वादि. स एव धान्यं व्रीहिर्भक्षणीयमन्नं यत्र साऽनन्यमान्या परमादरणीया भवति, किन्तु जनस्य नीतिः सा परत प्रणीतिः पराधीनजीवनाऽत सभीतिर्भयान्विता तथा विकलाऽपरिपूर्णा प्रतीति परिज्ञान यत्र सा भवति। अनुप्रासोऽलंकार ॥६१॥

मे निरन्तर निमग्न रहता है। यदि कदाचित् यह नष्ट होनेकी स्थितिमे होता है, तो अत्यन्त कष्टका अनुभव करता है। आश्चर्य है कि इसके रहस्य—गूढ तत्त्वको मै नही जान पा रहा हूँ ॥५९॥

अर्थ—परन्तु परिग्रहसे रहित मुनि इस शरीरको 'यह खेदको ही उत्पन्न करनेवाला है' ऐसा कहते हुए स्वीकृत स्त्री अथवा दुर्गम स्थानके समान उसका निर्वाह करते हैं, अर्थात् भोजन-पान देकर उसकी रक्षा करते हैं, परन्तु विपत्तिका अवसर आनेपर—मृत्युका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर उसे जलती हुई झोपड़ीके समान छोड़नेके लिये तत्पर रहते हैं ॥६०॥

अर्थ—मुनिकी परिणति सदा न्यायमार्गका अनुसरण करनेवाली तथा स्वकीय गुणरूपी धान्यसे सहित होती है, अत वह परमादरणीय है, परन्तु संसारी जनकी नीति परके अधीन होती है, अतः वह भयसे सहित और अपूर्ण ज्ञानवाली होती है ॥६१॥

पादुकेव सति कण्टकाततेऽप्यस्ति चिज्जगति गुप्तये यतेः ।
अङ्गिनः स्वतलसावभासिनी दीपिकेव जगते प्रकाशिनी ॥६२॥

पादुकेवेत्यादि—यतेश्चिद् बुद्धिः सा कण्टकैराततं व्याप्ते जगति भूतले सत्यपि पादुकेव तस्य स्वस्य रक्षाविधायिनी सास्ति, किन्त्वङ्गिनः संसारिणस्तु सा मति दीपिकेव जगते प्रकाशदायिनी च स्वतलसात् स्वान्ततलस्यैव चाऽभासिनी न ज्ञानवती भवति । उपमालंकारः ॥६२॥

विषयोत्थं सुखं यत्तद् विषान्नमिव दुःखदम् ।
त्यक्त्वा निजं विजानातु सुधारसमयं बुधः ॥६३॥

विषयोत्थमित्यादि—बुधो बुद्धिमान् नरः समस्ति य. स विषयेभ्यो रामादिसंपर्केभ्य उत्था जन्म यस्य तत्सुखं विषान्नमिव विषमिश्रितभोजनमिव दुःखदमित्यतस्तत् त्यक्त्वा सुधारसमयममृतभावपूर्णमथ च सुधारस्य संशोधनस्य समयोऽवसरो यस्य तं निजमात्मानं विजानातु ॥६३॥

आपातमात्ररमणीयमणीय एतत्
किम्पाकवत् परमपाकरणीयमेतः ।
पातुं नृपातुरतया तु न यातु कश्चिद्
धर्म्यं विपाकपटुकं कटुकं विपश्चित् ॥६४॥

आपातेत्यादि—एतल्लोकसम्मत वैषयिकं सुखमणीयोऽत्यन्ताल्पं क्षणस्थायि चाऽपातरम्यमेव रमणीयं तत्कालमनोहरमिव भाति, किन्तु परिणामे दुःखदं किंपाकवन्महा-

---

अर्थ—जगत्के कण्टकोंसे व्याप्त रहते हुए योगी–मुनिकी वृत्ति पादुकाके समान गुप्ति–रक्षाके लिये है, अर्थात् जिस प्रकार कण्टकाकीर्ण भूमि पर चलते समय पादुका रक्षा करती है, उसी प्रकार मुनिकी बुद्धि रागरज्जुसे भरे हुए जगत्मे उनकी रक्षा करती है और संसारी मनुष्यकी बुद्धि दीपकके समान यद्यपि जगत्के लिये प्रकाशित करती है, परन्तु अपने आपको प्रकाशित नही करती–'दिया तले अँधेरा' की लोकोक्तिको चरितार्थ करती है ॥६२॥

अर्थ—जो विषय जन्य सुख है, वह विषमिश्रित अन्नके समान दुःखदायक है, अतः उसे छोड़कर ज्ञानी पुरुष सुधारसमयं–अमृत रससे परिपूर्ण अथवा सुधार–संशोधनके अवसरसे सहित निज आत्माको जाने ॥६३॥

अर्थ—हे नृप ! हे राजन् ! यह विषय सुख प्रारम्भमे ही रमणीय है, अत्यन्त अल्प है तथा किंपाक फल–विषफलके समान है, अतः अब तुम्हारी इसमें अपा-

कालफलवद्भवति। तत इतः परं केवलमपाकरणीयता परिहरणीयतैव भवतु। हे नृप! धर्मं तु सदाचरणं यद्यपि कटुक प्रतिभाति तावत्, किन्तु विपाके पटुक मनोहरमेव तत आतुरतया कश्चिद् विपश्चिद्विज्ञो न पातुं यातु किन्तु पिबत्वेव ॥६४॥

धर्मस्वरूपमिति सैव निशम्य सम्यङ्
नर्मप्रसाधनकरं करणं नियम्य।
कर्मप्रणाशकरशासनकृद्धुरीणं
शर्मैकसाधनतयाऽर्थितवान् प्रवीणः ॥६५॥

धर्मस्वरूपमित्यादि—प्रवीणो जयकुमार सैव इत्युपर्युक्तप्रकारं कर्मणो दुरितस्य प्रणाशनकर विध्वसकरं यच्छासन सम्प्रेरण कुर्वन्ति तेषु धुरीण सर्वोपरि वर्तमानं धर्मस्य स्वरूपं निशम्य श्रुत्वा पुनर्नर्मणो विनोदस्य प्रसाधनकर सम्पादक करण जात्यपेक्षयैक-वचनं तेन करणानीन्द्रियाणि सम्यङ नियम्य शर्मणः स्वहितस्यैक प्रसिद्ध यत्साधनं कारणं तत्तयाऽर्थितवान् परिगृहीतवान्। अनुप्रासोऽलकारः। सैव इत्यत्र स चेव इति पादपूर्ती-विधिः ॥६५॥

जग्मुर्निर्धृतिसत्सुखं समधिकं निर्देशतातीतिपं
यस्मादुत्तमधर्मतः सुमनसस्ते शश्वदुद्भासितम्।
कुज्ञानातिगमन्तिमं स मनसा तेनार्जितः सिद्धये
येनासौ जनिरायतिः सकुशला पञ्चायतच्छित्तये ॥६६॥

जग्मुरित्यादि—ते प्रसिद्धा नाभेयादय सुमनसः पवित्रचित्ता यस्मादुत्तमधर्मतः शश्वदुद्भासितमुत्पादानन्तरं सदावर्तमानकं कुज्ञानात्पराधीनाद् बोधादतिगं दूरवर्ति तथा-न्तिमं सम्पन्नावस्थं निर्देशता वाच्यता तस्या अतीतिं पाति स्वीकरोतीति तत् केनापि

करणीयता त्याग बुद्धि हो। धर्माचरण यद्यपि कटुक—तत्कालमे दुःखप्रद जान पडता है, परन्तु विपाक—फलकालमे सुखद है। इसका पान करनेके लिये कौन ज्ञानी जीव उत्कण्ठापूर्वक न जावे, अर्थात् सभी जावें ॥६४॥

अर्थ—आत्महितसाधनमे निपुण जयकुमारने इस प्रकार कर्म-विध्वंसक शासनके करनेवालोमे प्रमुख धर्मके स्वरूपको अच्छी तरह सुन कर तथा विनोद-का साधन करनेवाली इन्द्रियोको नियन्त्रित कर सुखका अद्वितीय साधन होनेसे दीक्षाको ग्रहण किया ॥६५॥

अर्थ—जिससे पवित्र चित्तवाले वे प्रसिद्ध महापुरुष समताके समुद्र, वचना-गोचर, स्थायी, कुज्ञानसे रहित और अन्तिम—सर्वोत्कृष्ट निर्वाण-सुखको प्राप्त

शब्देन तत्सुखमीदृशं भवतीति वक्तुमशक्यम् तथा समधिक समभावस्य समुद्रस्वरूपं जग्मुः समापुर्येन च धर्मेणामौ जनि वर्तमानं जन्म तथाऽऽयतिरुत्तरकालपरिस्थितिरपि पञ्चाना-मिन्द्रियाणामाय आजीवनं तस्य त परिपालन तस्य च्छित्तये विनाशाय किलेन्द्रियनिग्रहाय सकुशला कुशलसहिता दक्षा स्यात्, स धर्मस्तेन जयकुमारेण सिद्धये मुक्तये जन्ममरण-हानयेऽर्जितोऽङ्गीकृतः । अस्य चक्रबन्धस्याद्याक्षरै. षष्ठाक्षरैश्च 'जय कुपतये सद्धर्मदेशना' किलेति निर्गच्छति ॥६६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये मञ्जुतमेऽस्य विंशतितमः सप्ताधिकोऽस्त्येति यः
सत्कर्तव्यकथोपदेशनपरो　लक्ष्योऽपवर्गश्रियः ॥६७॥

श्रीमानित्यादि—मञ्जुतमेऽतिमनोहरे, अपवर्गश्रिय मोक्षलक्ष्म्या लक्ष्य इति । शेषं स्पष्टम् ॥६७॥

हुए थे और जिसके द्वारा वर्तमान जीवन तथा आगामी जीवन कुशलतासे युक्त होता है, उस उत्तम धर्मको जयकुमारने पञ्चेन्द्रियोकी प्रवृत्तिका विघात करने एव मुक्ति प्राप्त करनेके लिये हृदयसे स्वीकृत किया ॥६६॥

इति वाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचनास्वयंवरा-परनामधेयेजयोदयमहाकाव्ये सप्तविंशतितम सर्ग समाप्तः ॥

●

अष्टाविंशतितमः सर्गः

स वारुणोदितां वृत्तिं परिवर्त्य सतांपतिः ।
गुरोरनुग्रहप्राप्त्या समवापाच्छतामथ ॥१॥

सदेत्यादि—सदा अरुणेन सारथिना उदिता वृत्तिं सूर्यसम्बन्धिनीं परिवर्त्य अन्यथा कृत्वा गुरोः बृहस्पतेः अनु पश्चाद् ग्रह इति प्राप्त्या अच्छतां श्वेतवर्णतां शुक्रस्य श्वेतवर्णत्वात् समवापेति सता नक्षत्राणां पतिः सूर्य छ न भवतीणि अच्छ. असूर्यं, 'छश्छेदकार्कयो' इति विश्वलोचने। सतांपतिर्जयकुमारो गुरोर्वृषभदेवस्यानुग्रहप्राप्त्या प्रसादेन स वारुणोदितां भयकरा दुर्जनेभ्यो वैरिभ्योऽतिकष्टदायिनीं वृत्तिं राजकीयां चेष्टां परिवर्त्य अच्छतां हृदयस्य सरलतां छा छेदनक्रिया परेभ्यो बाधा यस्य न भवति यत्र वा न भवति सोऽच्छस्तस्या भावस्तता वारुणा उदितां काष्ठसजाता वृत्तिं गुरोऽनुग्रहप्राप्त्या परिवर्त्य स सतापतिः अच्छतां स्फटिकरूपतां समवापेत्यर्थ ॥१॥

राजतत्त्वपरित्यागात् समिनोदितवर्णता ।
पश्यतो हरतो जाताथानिद्रालोः स्वशर्मणि ॥२॥

राजतत्त्वेत्यादि—अथ स्वामिन. सदुपदेशप्राप्त्यनन्तर स्वशर्मणि आत्महिते

अर्थ—तदन्तर सज्जनोके स्वामी जयकुमारने गुरु-भगवान् वृषभदेवके प्रसादसे भयकर वृत्तिको परिवर्तित कर अच्छता-सरलताको प्राप्त किया।

अर्थान्तर—सदा अरुण-सारथिके द्वारा उदित-प्रकट वृत्ति-प्रवृत्तिको परिवर्तित कर गुरु-बृहस्पतिके अनु पश्चात् आनेवाले ग्रह-शुक्रकी प्राप्तिसे सतापति-नक्षत्रोके स्वामी सूर्यने अच्छता-असूर्यताका प्राप्त किया। अथवा दारुणा-काष्ठके द्वारा वृत्तिको परिवर्तित कर सता पतिः-सज्जनोके स्वामी उन जयकुमारने गुरु-भगवान् वृषभदेवके अनुग्रह-प्रसन्नता की प्राप्तिसे अच्छता-स्फटिकताको प्राप्त किया ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर आत्महितमे जागरूक जयकुमारके राजतत्त्व-प्रजापालन रूप राजतत्त्वका परित्याग होनेसे पश्यत-चराचरका अवलोकन करने वाले हरत-महादेव श्रीवृषभदेवकी समिना-उदित-वर्णता-ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित वर्णता-दिगम्बर मुद्रा जाता-सम्पन्न हुई, अर्थात् भगवान् ऋषभदेवने

अनिद्रालोरनलसस्य जयकुमारस्य राजतत्त्वपरित्यागात् पृथिवीपालकरूपतापरित्यागात्, समिना योगिना उदितो यो वर्णः स्वजातीयसमूहलक्षणस्तत्ता, पश्यतः समवलोकयतः हरत श्रीवृषभदेवस्वामिनः महादेवाद् जाता सम्प्राप्ता ।

स्वशर्मणि अनिद्रालोः कर्तव्यकार्ये समुदितस्य कस्यापि जनस्य पश्यतोहरतः स्वर्णकाराद् हेतो राजतत्त्वपरित्यागात् दुर्वर्णता समिनेन अभ्युदितसूर्येण उदितं वर्णं हेम तत्ता जाता । अह दिन पश्यत:, अत स्वशर्मणि अनिद्रालोर्जनस्य राजस्तत्त्वं चन्द्रमसः स्वरूप रात्रिलक्षण तस्य परित्यागात् सम्यग् इन. सूर्यः समिनस्तेन उदितो यो वर्णस्तत्ता जाता ।।२।।

स्फोटयितु हि कमलं कौमुदं नान्वमन्यत ।
सानुग्रहतयार्हन्तमुपेत्यासीत् तपोधनः ।।३।।

स्फोटयितुमित्यादि—कमलं कस्यात्मनो मल रागद्वेषादिरूप स्फोटयितु दूरीकर्तुं तावत् कौ पृथिव्यां मुद हर्षं किञ्चिदपि नान्वमन्यत अस्मिन् भूतले विप्रयोगादितया सर्वदा दुःख विहाय सुखस्य नामलेशोऽपि नास्तीति बुद्धिमान् जयः अनुग्रहेण परोद्धरणलक्षणेन सहित· सानुग्रहस्तस्य भावस्तत्ता तया अर्हन्तं समुल्लसन्तं भगवन्तं प्राप्य तपोधन आसीत् ।

कमल जलज स्फोटयितुं विकासयितुं पुनः कौमुद रात्रिविकासिकमलसमूह यो नान्वमन्यत स सानूनां शिखराणां गुह. संग्रह सम्भवति यत्र तस्य भावस्तत्ता तया अर्हन्तं समुल्लसन्तं उदयनामपर्वतम् उपेत्य अधिरुह्य तपोधनः धर्माधिकारी आसीत् सूर्यः ।।३।।

जिस दिगम्बर मुद्राका कथन किया था, आत्महितमे सावधान रहने वाले जय कुमारने उसे धारण किया ।

अर्थान्तर—अपने करने योग्य कार्यके विषयमे सावधान रहने वाले किसी मनुष्यके स्वर्णकारके निमित्तसे जो दुर्वर्णता–कुरूपता पक्षमे चाँदीरूपता आ गई थी, उसमे पुन राजतत्त्वपरित्यागात् चाँदीपनका परित्याग होनेसे सम्यक् प्रकारसे उदित सूर्य सदृशवर्णता–सुवर्णपना जाता प्रकट हो गया। अथवा अहः पश्यत.–दिनको देखने वाले एव आत्मसुखमे सावधान व्यक्तिके चन्द्रत्वका परित्याग होनेसे पुन· सूर्यरूपता प्रकट हो गई ।।२।।

अर्थ—जयकुमारने कमल–रागद्वेषादिरूप आत्ममलको दूर करनेके लिये कौमुद–पृथ्वीसम्बन्धी हर्षको स्वीकृत नही किया था। इसलिये वे परके उद्धार रूप अनुग्रहसे सहित होनेके कारण शोभायमान अर्हन्त–वृषभ जिनेन्द्रके पास जाकर तपोधन–मुनि हो गये । अथवा—

सहसा सह सारेणापदूषणमभूषणम् ।
जातरूपमसौ भेजे रेजे स्वगुणपूषणः ॥४॥

सहसेत्यादि—असौ जयकुमार सहसा शीघ्रमेव सारेण उत्साहेन सह वर्तमानम् अपदूषणं दोषवर्जितम् अभूषण च वेषभूषावर्जित जातरूपं दिगम्बरत्वं भेजे धृतवान् सन् स्वगुणानां क्षमादीना पूषेव सूर्य इव णः निर्णयकारकः सन् शुशुभे ॥४॥

सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायणः ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधकः ॥५॥

सदाचारेत्यादि—सदा निरन्तर यश्चार पर्यटनं व्यर्थं भ्रमणं तेन विहीनः सन्नपि सदाचार एव परायण इति विरोधस्तस्मात् सदाचारे ध्यानस्वाध्यायादिलक्षणे परायणः तत्पर इत्यर्थ । समक्ष अपि पवित्रेन्द्रिय. सन्नपि अक्षाणा रोधकः परिहारक इति विरोधस्तस्मात् समक्ष सर्वसाधारणाना गोचर , यद्वा सम्यग् अक्ष आत्मा स समक्ष. सन् अक्षरोधकः इन्द्रियविजयी इत्यर्थः । स राजा पृथ्वीपालक सन्नपि तपस्वीति विरोधस्तस्मात् स राजा शोभनशरीरः सन् तपस्वी जात. ॥५॥

हरेर्यैवेरया व्याप्तं भोगिनामधिनायकः ।
अहीनः सर्पवत् तावत् कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥६॥

अर्थान्तर—कमलोको विकसित करनेके लिये सूर्यने कुमुदसमूहको स्वीकृत नही किया, किन्तु सानुग्रहता–शिखरोके सग्रहसे सुशोभित उदयाचलको प्राप्त कर वह तपोधन–धर्मधन–धर्माधिकारी हो गया ॥३॥

अर्थ—जयकुमारने शीघ्र ही उत्साहसे सहित, दोषरहित एव आभूषणरहित दिगम्बर मुद्राको धारण किया और आत्मगुणोके सूर्यके समान निर्णायक हो सुशोभित होने लगे ॥४॥

अर्थ—वह मुनि जयकुमार सदाचार–निरन्तर परिभ्रमणसे रहित होकर भी सदाचारपरायण थे, निरन्तर परिभ्रमण करनेमे तत्पर रहते थे (परिहार पक्षमे ध्यान-स्वाध्याय आदि समीचीन आचार–आचरणमे तत्पर थे), राजा होकर भी तपस्वी थे (परिहार पक्षमे राजा–सुन्दर शरीर वाले होकर भी तपस्वी थे) और समक्ष–पञ्चेन्द्रियोसे सहित होकर भी अक्षरोधक–इन्द्रियोका निरोध करनेवाले थे (परिहार पक्षमे समक्ष–सर्वसाधारणके गोचर–मिलनेके योग्य अथवा समीचीन अक्ष–आत्मासे सहित थे.) ॥५॥

हेरयैवेत्यादि—सर्पवत् स राजा जयकुमार भोगिनां सुखोसम्पत्तिशालिनां पक्षे सर्पाणामधिनायकः, अत एवाहीनः समुन्नतः पक्षेऽहीनां सर्पाणामिनः स्वामी, इरया व्याप्तं पृथिव्या स्वीकृतं पक्षे विषरूपव्यापत्तिसमाक्रान्त कञ्चुकमङ्गरक्षकं पक्षे निर्मोक मुक्तवान् तत्याज ॥६॥

पञ्चमुष्टि स्फुरद्दिष्टिः प्रवृत्तोऽखिलसंयमे ।
उच्चखान महाभागो वृजिनान् वृजिनोपमान् ॥७॥

पञ्चमुष्टीत्यादि—स्फुरन्ती दिष्टिः भाग्यसत्ता यस्य स वृजिनोपमान् पापतुल्यान् वृजिनान् केशान् पञ्चमुष्टि यथा स्यात्तथा उच्चखान पञ्चमुष्टिलोचन कृतवान् इत्यर्थः । 'वृजिनं कलुषे क्लीव केशे ना कुटिले त्रिषु' इति विश्वलोचने ॥७॥

कृताभिसन्धिरभ्यङ्गनीरागमहितोदयः ।
मुक्ताहारतया रेजे मुक्तिकान्ताकरग्रहे ॥८॥

कृताभिसन्धिरित्यादि—मुक्तिकान्तायाः करग्रहे परिणयने कृता अभिसन्धि-विचारधारा येन सः, अङ्गमभिव्याप्य वर्तत इत्यभ्यङ्ग शरीरं प्रति ये रागात् निष्क्रान्ता नीरागास्तैर्महितः पूजित उदयो यस्य स नीरागमहितोदयः पक्षेऽभ्यङ्गमुद्वर्तनं च नीरं च तयोः आगमेन ससर्गेण हितस्योदयो यस्य स, मुक्त आहारोऽशन येन तस्य भावस्तत्ता तया, पक्षे मुक्तानां मौक्तिकानां हारो यस्य तस्य भावस्तेन रेजे शुशुभे ॥८॥

अर्थ—जो सर्पके समान भोगियो-सुखसम्पत्तिशाली मनुष्यो (पक्षमे फणाधारी सर्पो) के नायक थे तथा अहीन-समुन्नत (पक्षमे अहियो सर्पोके इन-स्वामी) थे, ऐसे जयकुमारने इरा पृथिवीरूप इरा-मदिराके द्वारा व्याप्त कञ्चुक-अंगरक्षक पक्षमे काचलीको छोड़ दिया था ॥६॥

अर्थ—जिनका भाग्य प्रबल था तथा जो सकल संयमके धारण करनेमे प्रवृत्त थे, ऐसे जयकुमारने पापतुल्य केशोको पाँच मुष्टियोमे ही उखाड़ डाला ॥७॥

अर्थ—मुक्तिरूपी कान्ताके पाणिग्रहण-विवाहमे जिनका अभिप्राय लग रहा है तथा अभ्यङ्गनीराग-शरीरके प्रति वीतराग मनुष्योंके द्वारा जिनका उदय-अभ्युदय पूजित है (पक्षमे उबटन और जलसे जिनकी शोभा बढ रही है), ऐसे जयकुमार मुक्ताहारतया-आहारका त्याग करनेसे (पक्षमे मोतियाँका हार धारण करनेसे) सुशोभित हो रहे थे ॥८॥

प्रायश्चित्तं चकारैष विनयेन समन्वितम् ।
स्वाध्यायसहितं धीरः परिणामानुयोगवान् ॥९॥

प्रायश्चित्तमित्यादि—परिणामानां निजभावानामनुयोग सम्यक् प्रेरणा तद्वान् एष धीरो जयकुमार प्राय. प्रचुरभावेन चित्त स्वाध्यायसहित विनयेन नम्रभावेन समन्वितं सयुक्तं चकार कृतवान् ॥९॥

अमानवर्द्धितत्त्वार्थग्रामाय लोकवर्त्मना ।
योजनेनाप्यलभ्याय लङ्घनं कृतवान् मुहुः ॥१०॥

अमानवर्द्धीत्यादि—यः जयकुमारः अमानवैर्देवजनैर्लभ्या या ऋद्धय सम्पत्तय-स्तासां तत्त्वार्थस्य यो ग्राम समूह , अथवा तु अमानवर्धीना तत्त्वानां च जीवादीनां ग्राम समूह , पक्षे एतन्नामकं जनस्थान तस्मै जनेन सर्वसाधारणलोकेन अलभ्याय अप्राप्याय यद्वा योजनेनाऽपि चतुःक्रोशात्मकेन अलभ्याय अतिदूरायेऽत्यर्थ , मुहुः लङ्घनमनशनं पक्षे विहरण कृतवान् ॥१०॥

मारवाराभ्यतीतः सन्नथो नोदलताश्रितः ।
निवृत्तिपथनिष्ठोऽपि वृत्तिसंख्यानवानभूत् ॥११॥

मारवारेत्यादि—अथ पुन स मारवारेण नाम देशेन अभ्यतीत सन्नपि उदलतां जलयुक्ततां न श्रित इति विरोध , तस्मान्मारस्य कामदेवस्य यो वार समाक्रमणं

अर्थ—अपने भावोकी प्रेरणासे सहित धीरवीर जयकुमार प्रायश्चित्त और विनयसे सहित स्वाध्यायको करते थे अथवा अपने चित्तको अत्यधिक मात्रामें स्वाध्याय-आत्मचिन्तन और विनयसे युक्त करते थे ॥९॥

अर्थ—जयकुमार मुनिने गणधरादि देवजनोके द्वारा प्राप्त करने योग्य ऋद्धियो-सम्पत्तियोकी यथार्थताके समूहको अथवा गणधरादि देवजनोके द्वारा प्राप्त करने योग्य ऋद्धियो और जीवादि तत्त्वोके उस समूहके लिये जो कि लौकिक मार्गसे साधारण जनोके द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता, बहुत बार उपवास किये थे। अथवा उस स्थानविशेषको जो कि योजनके द्वारा भी-एक योजन भी चलकर प्राप्त नही किया जा सकता, प्राप्त करनेके लिये लङ्घन-विहार किया था ॥१०॥

अर्थ—तदनन्तर जयकुमार मुनि मारवाराभ्यतीतः-मारवाड़ देव अतिक्रान्त होने पर भी उदलता-जलयुक्त प्रदेशताको प्राप्त नहीं हुए थे (परिहार पक्षमें

तेनाभ्यतीतः सन्, अथ ऊनोदलतां रलयोरभेदादूनोदरतां स्वल्पभोजनग्राहकतां श्रित, निवृत्ता वृत्तिर्यस्मान् स निवृत्तिरेतादृशे पथि निष्ठा यस्येत्येवंभूत सन्नपि वृत्तीनां संख्यान तद्वानभूदिति विरोधस्तस्मान्निवृत्तिपथे मुक्तिमार्गे वृत्तिरहिते निष्ठा यस्य स वृत्तिसंख्याननामकानुष्ठानवानभूत् ॥११॥

अनेकान्तप्रतिष्ठोऽपि चैकान्तस्थितिमभ्यगात् ।
अकायक्लेशसंभूतः कायक्लेशमपि श्रयन् ॥१२॥

अनेकान्तेत्यादि—अनेकान्त एकान्ते न भवतीति संकीर्णो देश, तत्प्रतिष्ठ सन् एकान्ते निर्जने देशे स्थितिमभ्यगाद् इति विरोध, तस्मादनेकान्ते नाम स्याद्वादसिद्धान्ते प्रतिष्ठा यस्य स इत्यर्थः कार्यः। कायक्लेशं शरीरस्य कष्टं श्रयन्नपि कायक्लेशो न सम्भूतो न भवतीति विरोधस्तस्मात् अकाय नाम पापाय क्लेशसभूत कष्टकारकः अपहर्तासीद् इत्यर्थ । कायक्लेशनामक तपश्च कृतवानित्यर्थ ॥१२॥

नीरसत्वमथावाञ्छत् समीनपरिणामवान् ।
नदीनाभावमापापि निर्जरोक्तगुणाश्रयात् ॥१३॥

नीरसत्वमित्यादि—समिनामिष्टानिष्टपदार्थेषु तुल्यभावधारिणामिनः स्वामी तस्य परिणामतः स जयकुमार नीरसत्व सर्वत्रापि भोजनादिषु रसाभावस्तमेवावाञ्छत् । एव निर्जराया पूर्वबद्धकर्मक्षपणायामुक्तस्य गुणस्याश्रयत्वाद् दीनमावं नाप । तथा स

मारवाराभ्यतीत.—कामदेवके आक्रमणसे रहित होनेपर ऊनोदल(र)ता—ऊनोदर—अवमौदर्य तपको प्राप्त हुए थे), तथा वृत्तिरहित मार्गमे स्थित होकर भी वृत्ति-सख्यानसे युक्त हुए थे (परिहार पक्षमे निवृत्तिपथ—निवाणमार्ग—मोक्षमार्ग स्थित होकर भी वृत्तिसख्यान नामक तपसे युक्त हुए थे) ॥११॥

अर्थ—जयकुमार मुनिराज अनेकान्तप्रतिष्ठ—जब बहुत स्थानमे स्थित होकर भी एकान्त स्थिति—एकान्त—निर्जन स्थानमे स्थितिको प्राप्त हुए थे (परिहार पक्षमे अनेकान्त नामक स्याद्वाद सिद्धान्तमे स्थित होकर भी एकान्त स्थिति—विविक्त शय्यासन नामक नपको प्राप्त हुए थे तथा कायक्लेशसे रहित होकर भी कायक्लेशको प्राप्त हुए थे (परिहार पक्षमे अकायक्लेशमम्भूत.—पापके परिहारके लिये होने वाले पञ्चाग्नि तप आदि क्लेशोंसे रहित होकर भी आतापनादि योग-रूप कायक्लेश नामक तपका आश्रय लेते थे ॥१२॥

अर्थ—तदनन्तर इष्ट—अनिष्ट पदार्थोंमे समताभाव रखने वालोमे प्रमुख—साधुओके परिणामसे युक्त जयकुमार मुनि भोजनादिकमे नीरसत्व—रसपरि-त्यागकी वाञ्छा की, अर्थात् रसपरित्याग नामक तप धारण किया और निर्जरा—

मीनपरिणामतो मत्स्यरूपत्वान्नीरसद्भावं जलसद्भावमवाञ्छत् 'जलेन रहितो निर्जर-स्तस्य गुणस्याश्रयात् नदीनभावं समुद्ररूपतां चापेति विरोधः ॥१३॥

नानात्मवर्तनोऽप्यासीद् बहुलोहमयत्वतः ।
समुज्ज्वलगुणस्थानग्रहोऽभूत् तन्तुवायवत् ॥१४॥

नानात्मेत्यादि—बहुलोहमयत्वत. अनल्पायासयुक्तत्वत. नानात्मवर्तन अनेकरूप-भाजनसहित आसीत्, स च बहुलोहमयत्वत अनेकप्रकारोहापोहयुक्तत्वात् सोऽपि नानात्मवर्तनः । आत्मनि न वर्तत इति अनात्मवर्तनो नासीत्, आत्मनि बहुचिन्तावान् बभूवेत्यर्थः । स च समुज्ज्वलानां गुणाना शीलसयमादीनां पक्षे सूत्राणां स्थान गृह्णातीति स तन्तुवायवत् पटकारवद् अभूत् । गुणस्थानमिति मुमुक्षूणा संक्रमणपदाना सज्ञा जिनागमे ॥१४॥

राजसत्वमतीयाय सत्त्वरं जितभावनः ।
कञ्जातमधिकुर्वाणस्तमोपहृतया स्थितः ॥१५॥

सत्तास्थित कर्मोकी क्षपणाके गुणोका आश्रय होनेके कारण उन्होने दीनभाव—दीनताको प्राप्त नही किया, अर्थात् किसी रसकी प्राप्तिके लिये दीननाको प्रकट नही होने दिया ।

अर्थान्तर—मीन—मत्स्यरूप परिणामसे युक्त होनेके कारण उन्होने नीर-सत्त्व—जलके सद्भाव को इच्छा की तथा निर्जर—निर्जल—जलाभावके कथित गुणो-का आश्रय होनेसे वे नदीनभाव—समुद्रत्वको प्राप्त हुए, अर्थात् जो जलाभावका इच्छुक है वह समुद्रभावको कैसे प्राप्त होगा ? यह विरोध है, परिहार पक्षमे निर्जराके गुणोका आश्रय होनेसे उन्होने कभी दीनताको प्राप्त नही किया ॥१३॥

अर्थ—वे जयकुमार मुनि **बहुल-ऊहमय**—अनेक प्रकारके ऊहापोह से सहित होकर भी **अनात्मवर्तन**—आत्माको छोड अन्य पदार्थोमे प्रवृत्ति करनेवाले नही थे, अर्थात् अपना उपयोग आत्मामे अथवा **बहु-लोहमय**—अत्यधिक लोह धातुरूप होकर **नानात्मवर्तन**—अनेक प्रकारके भाजनोसे सहित थे तथा **तन्तुवाय**—जुलाहाके समान अपना उज्ज्वल **गुणस्थान**—सूतके स्थानोको ग्रहण करनेवाले थे (पक्षमे निर्मल **गुणस्थान**—षष्ठ-सप्तम गुणस्थानको ग्रहण करनेवाले थे, अर्थात् प्रमत्त-विरत आर अप्रमत्त गुणस्थानमे प्रवृत्ति करनेवाले थे ॥१४॥

भावार्थ—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके परिणामोमे जो तारतम्य होता है, उसे गुणस्थान कहते है । ये १४ होते हैं । छठवे गुणस्थानसे लेकर आगेके सब गुणस्थान मुनियोके ही होते हैं ॥१४॥

राजसत्वमित्यादि—स जयकुमारः तपोपहतया तमोगुणनिर्हरणतया पक्षेऽन्धकार-नाशकतया सूर्यवस्थित. सन् कञ्जातं स्वसमुत्पन्नं कमानन्दं पक्षे कमलमधिकुर्वाणः सन् सत्त्वेन नामगुणेन रञ्जिता भावना मनोवृत्तिर्यस्य सः पक्षे सत्वेन शीघ्रमेव जितं भानां नक्षत्राणामवनं रक्षण येन स, 'अवन रक्षणे मुदि' इति विश्वलोचने। राजसत्वं राजसगुणं पक्षे राज्ञः चन्द्रस्य सत्त्वमतीयाय त्यक्तवान् भूपरूपं च त्यक्तवान् ॥१५॥

दिन एव व्यभात् सद्यो गोचरीकृतभक्षणः।
रात्राववियुरत्वेन स्थितिमाप्त्वेत्यथाद्भुतम् ॥१६॥

दिनेत्यादि—स दिन एव सद्य सकृदेकवार गोचरीवृत्त्या कृत भक्षणं भोजनस्वीकारो येन सः पक्षे गोचरीकृत स्पष्टता नीतो नाना तारकाणा क्षण. समयो रात्रिलक्षणो येन सः, अथ पुन रात्रौ अविधुरत्वेन अविकलत्वेन पक्षे विधुं चन्द्रमस राति पातीति तद-भाववत्त्वेन चन्द्ररहितत्वेन स्थिति निश्चलता पक्षे व्यवस्थां आप्त्वा स्वीकृत्य व्यभात् शुशुभे। एतदद्भुतम् ॥१६॥

अपूर्वकरणं कर्तुं स पृथक्त्वविचारतः।
अप्रमत्तदशाविष्ट आत्मानं विचचार सः ॥१७॥

अपूर्वकरणमित्यादि—सः अप्रमत्तदशा प्रमादरहितामवस्था यद्वाऽप्रमत्तनामक-सप्तमगुणस्थानवृत्तिमाविष्टः सन् पृथक्त्ववितर्कत स्वशरीरादपि ममायमात्मा भिन्न

अर्थ—जो तमापहता–तमोगुणके नाशक, पक्षमे अन्धकारके नाशक होनेसे सूर्यके समान स्थित थे, जो जात क–समुत्पन्न आत्मसम्बन्धी आनन्दको (पक्षमे कजात–कमलको अधिकृत किये हुए थे और सत्त्वरंजितभावनः–सत्त्वगुणसे अनुरक्त मनोवृत्ति वाले थे (पक्षमे सत्त्वरं शीघ्र ही जितभावन –नक्षत्रोके अवन–रक्षणको जीतने वाले थे।) ऐसे जयकुमार मुनिने राजसत्व–रजोगुणका (पक्षमे चन्द्रमाका अथवा राजावस्थाके अस्तित्वका उल्लघन किया था)।

भावार्थ—उन्होने तमोगुण और राजसगुण पर विजय प्राप्त की थी ॥१५॥

अर्थ—वे दिनमे ही एक ही बार आहार करते थे और रात्रिमे पूर्णरूपसे निश्चलताको प्राप्तकर सुशोभित होते थे। अथवा वे दिनमे ही भ-क्षण–नक्षत्रोका समय, अर्थात् रात्रिको प्रकट करते थे और रात्रिमे चन्द्राभावको स्थितिको प्राप्त कर सुशोभित थे, यह आश्चर्यकी बात थी ॥१६॥

अर्थ—अप्रमत्तदशा–प्रमादरहित दशाको प्राप्त हुए जयकुमार मुनि पृथक्त्व-वितर्क–अपने शरीरसे मेरी यह आत्मा पृथक् है, इस प्रकारके विचारसे अपूर्वकरण–

इत्येवं वितर्कतः, आत्मानं अपूर्वम् अकार पूर्वस्मिन् यस्य तत्करणम् अकरणं करणैरिन्द्रियै रहितमतीन्द्रियं कृतकृत्यं वा कर्तुं विचचार विचारितवान्। अथवा पृथक्त्ववितर्क-नामकशुक्लध्यानत अपूर्वकरणनामगुणस्थानं कर्तुं विचचार ॥१७॥

निवृत्तीच्छुरपीत्यत्रानिवृत्तिकरणं गतः ।
जातुचित् संपरायत्वमित्यतोऽस्य बभूव तत् ॥१८॥

निवृत्तीत्यादि—स निवृत्तीच्छुरपि संसारादतियातुमिच्छुः सन् अनिवृत्तिकरणं निवृत्तिरहितत्वं गत इति विरोधः, तस्मादनिवृत्ति नाम गुणस्थानं प्राप्त इत्यर्थः। अत एवास्य पुनर्जातुचित् सम्परायत्वं यत्किञ्चित्कषाययुक्तत्व यद्वा सूक्ष्मसाम्परायनाम-गुणस्थानवत्त्व चास्य बभूव ॥१८॥

स मोहं पातयामास समोऽहं जिनपैरिति ।
अनुभूतात्मसामर्थ्योऽप्यनुभूतदयाश्रयः ॥१९॥

स मोहमित्यादि—अनु ततोऽनन्तर भूतदयाश्रयः प्राणिमात्रेषु दयावान् सः, अहं जिनपैर्भगवद्भिरर्हद्भिः समस्तुल्य इतीत्थमनुभूतमात्मसामर्थ्यं येन स मोह पातयामास क्षीणमोहनामकगुणस्थान प्राप्तवानिति ॥१९॥

अशिष्टमन्त्यजं स्पृष्ट्वा वर्णतो यस्तदाद्विजः ।
तत्क्षणात् केवलं धृत्वा स्नातकत्वमगादसौ ॥२०॥

अकरण–इन्द्रियरहित अथवा करने योग्य कार्यसे रहित आत्माको करनेके लिये अथवा पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यानसे अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानको प्राप्त करनेके लिये विचार करने लगे ॥१७॥

अर्थ—मुनिराज जयकुमार यद्यपि निवृत्ति–ससारसे पार होनेके इच्छुक थे, तो भी अनिवृत्तिकरण–पार न होने योग्य अवस्थाको प्राप्त हुए। यह विरोध है। परिहार पक्षमे अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त हुए। पश्चात् कदाचित् इनके किञ्चित्–अत्यन्त सूक्ष्म कषायसे सहित अवस्था हुई अथवा सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थान प्राप्त हुआ ॥१८॥

अर्थ—पश्चात् प्राणिमात्रपर दया करनेवाले जयकुमार मुनिने मैं जिनेन्द्र भगवान्के तुल्य हूँ, अर्थात् शक्तिकी अपेक्षा उन्हीके समान ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हू, इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव करते हुए मोह कर्मका क्षयकर दिया ॥१९॥

अशिष्टमित्यादि—अशिष्टं सभ्यतारहितम् अन्त्यज चाण्डालादिकं स्पृष्ट्वा यः वर्णतो जात्या आदिजः प्रथमवर्णोत्पन्नः स पुनस्तत्क्षणादेव के जले वलं शरीरं धृत्वा समवगाह्येत्यर्थः, स्नातको जातः कृतस्नानोऽभूत् । तथा यो वर्णतः अक्षरोच्चारणात्मकनामतः आदौ जकारो यस्य एतादृशो यः यकारोऽर्थात् जय जयकुमारो मुनिः, स अकारेण शिष्टं प्रारब्धोच्चारणम् अन्त्ये भवोऽन्त्यो जकारो यस्य त अजं परमात्मरूप स्पृष्ट्वा समासाद्य तत्क्षणादेव केवलं नामातीन्द्रियं पूर्णं ज्ञानं धृत्वा सम्प्राप्य स्नातकत्वमर्हत्त्वम् अगात् प्राप्तवान् ॥२०॥

विलोमगामिनं चैव निजं मत्वा जिनोऽभवत् ।
सहिष्णुभावतः स्वीयां[1] शक्तिमुद्योतयन्नयम् ॥२१॥

विलोमेत्यादि—अयं जयकुमारः विलोमगामिनविरुद्धमपि जनं निजं बन्धुरूपं चैव मत्वा सहिष्णुभावत क्षमाशीलत्वात् स्वीयां शक्तिमुद्योतयन् जिनोऽभवत् । तथा निजमित्येतत्पदं विलोमगामिन विपरीतपाठं मत्वा जिनः समभूदिति युक्तम् ॥२१॥

विनतात्मभुवा किन्न साम्प्रतमजपक्षिणा ।
अहिन्दुरयताऽवापि हिन्दुजातेन धीमता ॥२२॥

विनतेत्यादि—हिंसां दूषयन्तीति हिन्दवस्तेषा तातेन पूज्येन धीमता विज्ञेन तेन विनतः पराजित. आत्मभूः कामो येन तेन, साम्प्रतमधुना अजपक्षिणा आत्मचिन्तकेन

अर्थ—जो वर्णकी अपेक्षा आदि वर्णज–क्षत्रिय वर्णमे उत्पन्न थे, ऐसे जयकुमार मुनि अशिष्ट–असभ्य अन्त्यज–चाण्डालका स्पर्शकर तत्काल के–जलमे वलं धृत्वा–शरीर धारणकर–जलमे डुबकी लगाकर स्नातकत्व–कृतस्नान अवस्थाको प्राप्त हुए । अथ च, वर्ण–अक्षरकी अपेक्षा जिसके आदिमे ज है, ऐसा य, अर्थात् जय मुनिने जिसके प्रारम्भमे अ है और अन्तमे ज है ऐसे अज-परमात्माका स्पर्शकर–ध्यानकर तत्काल केवलज्ञान प्राप्तकर स्नातकत्व–अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर ली ॥२०॥

अर्थ—जयकुमार मुनि विरुद्ध पुरुषको भी अपना बन्धु मानकर सहनशीलतासे अपनी शक्ति विकसित करते हुए जिन–अर्हन्त हो गये थे, अथवा 'निज' इस पदको विपरीत क्रमसे मानकर जिन हुए थे ॥२१॥

अर्थ—जिन्होने कामदेवको जीत लिया था, जो अज–परमात्माके पक्षसे सहित थे अथवा आत्मचिन्तक थे, हिन्दुओंके पूज्य थे तथा बुद्धिमान् थे, ऐसे जयकुमार केवलीने क्या हिंसकत्वका अभाव प्राप्त नहीं किया था ? अवश्य प्राप्त किया था ।

अहिम्दुरयता हिंसकत्वाभावता किन्न अद्यापि प्राप्ता अपितु प्राप्तैव । तथा विजतात्मभुवा गरुडेन नामाजपक्षिणा कृष्णखगेन अहिं नाम सर्पं दुरयता निराकुर्वता तेन साम्प्रतं हिन्दुता किन्नाद्यापि किन्तु प्राप्तैव ॥२२॥

सुगर्तसमिताङ्कानां कणानां तेन साधुना ।
निष्तुषीकरणायाथ धृता मुसलमानता ॥२३॥

सुगर्तेत्यादि—सुगर्ते उदूखले समितः प्राप्तोऽङ्कः स्थानं यैस्तेषां सुगर्तसमिताङ्कानां पक्षे सुष्ठु गच्छतीति सुग, सुगं च तद्वृतं च यस्य स सुगर्तो यथार्थसत्यवादी स चासौ समी समदर्शी तस्य भावस्तत्ता अङ्के उत्सङ्गे येषां तेषां कणाना धान्यानां तथा आत्मज्ञानानां निष्तुषीकरणाय तुषरहितत्वाय यद्वा निर्दोषत्वाय तेन जयकुमारेण अधुना साप्रत सा प्रसिद्धा मुसलमानता मुशलस्य नाम काष्ठस्य मानता पक्षे यवनता धृता स्वीकृता ॥२३॥

अन्यापोहतया चित्तलक्षणेऽथ क्षणे स्थितिम् ।
धृत्वा तथागतस्यापि तत्त्वं तेन भविष्यतः ॥२४॥

अन्यापोहेत्यादि—चित्तलक्षणे आत्मद्रव्ये यद्वा चित्तस्यात्मनो लक्षण संवेदन यत्र तस्मिन् क्षणे समये अन्यापोहस्य अन्यस्य संसारिप्रपञ्चस्यापोहोऽसद्भावस्तस्य भावस्तया स्थितिं कृत्वा आत्मचिन्तनतत्परेण तेन गतस्य भूतस्य तथा भविष्यतश्च तत्त्व सम्पूर्णमपि वस्तु तेनाऽपि परिज्ञातम् तथा अन्यापोहतया अन्यव्यवच्छेदेन कृत्वा चित्तलक्षणे स्थितिं धृत्वा क्षणविशरारवो ज्ञानक्षणा एव न त्वन्यत् किञ्चिद् इति मत्वा तेन भविष्यतस्तथागतस्य तत्त्वमपि चाऽपि प्राप्तम् ॥२४॥

अर्थान्तर—जो विनताका पुत्र था, अहिं दुरयता-सर्पको नष्ट करता था, तथा बुद्धिमान् था, ऐसे अजपक्षी-कृष्णके वाहनभूत गरुड पक्षीने क्या इस समय हिन्दुता-हिन्दूपनको प्राप्त नही किया था ? किया था ॥२२॥

अर्थ—उदूखल रूप गर्तमें स्थित धान्यकणोको तुषरहित करनेके लिये उन जयकुमारने इस समय वह प्रसिद्ध मुसलमानता मुसल-मूषलकी सदृशता प्राप्त की थी ।

अर्थान्तर—यथार्थवादिता और समदर्शीपनसे सहित आत्मज्ञानियोको निर्दोषता प्राप्त करानेके लिये इस समय उन्होने मुसलमानपना स्वीकृत किया था ॥२३॥

अर्थ—उन्होने चित्तलक्षण-आत्मद्रव्यमे अथवा आत्माका लक्षणभूत-सवेदन जिसमे विद्यमान है, ऐसे क्षण-समय अथवा उत्सवमे अन्य सासारिक प्रपञ्चके अभावपूर्वक स्थिति करनेवाले उन जयकुमारने भूत तथा भविष्यत्

ईशायितां त्रिसन्ध्यं हि स्वीचकार महामनाः ।
नयेनावर्णवादश्च जनेषु प्रतिपादितः ॥२५॥

ईशायितामित्यादि—येन जनेषु अवर्णवादो निन्दाकरणं न प्रतिपादितः, स महामना उदारचित्तः त्रिसन्ध्य सर्वदैव ईशस्य भगवतोऽय शुभावहो विधि यस्य तत्तां भगवद्भाजकतां स्वीचकार जयकुमार । तथा येन नयेन नीतिमार्गेण जनेषु अवर्णवादः जातिवर्णरहितत्व प्रतिपादित, स महामना असाम्प्रदायिकचित्त ईशायितां क्रिश्चियनवृत्तितां स्वीचकारेति ॥२५॥

आत्मादरयुतेनापि सान्तस्थोष्मविहीनता ।
समक्षलक्षणार्थेषु वैकल्यमधिगच्छता ॥२६॥

आत्मेत्यादि—आत्मनि स्वरूपे आदरयुतेन तल्लीनेन, समक्ष लक्षण येषां तेषु सासारिकेषु अर्थेषु इन्द्रियगोचरेषु वैकल्य निस्सारत्वमधिगच्छता जानता जयकुमारेण अन्तस्थस्योष्मणो मानसिकव्यथाया विहीनता सा प्रसिद्धा निराकुलस्थितिरापि प्राप्ता । तथा आन् अकारात्समारभ्य सकारे आदरयुतेन सम्पूर्णानामक्षराणा समक्षराणा क्षणः उत्सव. अवकाशो वा यत्र तेषु अर्थेषु सम्पूर्णाक्षरज्ञानेषु इत्यर्थ , वैकल्यमधिगच्छता अपूर्णत्वं

कालसम्बन्धी समस्त तत्त्व प्राप्त कर लिया था, जान लिया था। तथा अन्य-व्यवच्छेद रूपसे चित्तलक्षण–सवेदनमे स्थिति कर उन्होने भूत-भविष्यन्के समस्त तत्त्वको जान लिया था ॥२४॥

अर्थ—जिन्होने मनुष्योमे अवर्णवाद–निन्दा न करनेका उपदेश प्रतिपादित किया, उन उदारचित्त जयकुमारने सदा ईशायिता–भगवद्विषयक शुभ विधिसे सहित भावको स्वीकृत किया था। तथा जिस नीतिमार्गसे मनुष्योमे अवर्णवाद–वर्ण-जाति आदि कुछ नही है, सब एक समान है, इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था, उस नीति मार्गकी अपेक्षा उन उदारहृदय जयकुमारने ईशायिता–क्रिश्चियनपनको स्वीकृत किया था ॥२५॥

अर्थ—स्वरूपमे आदरसे सहित तथा प्रत्यक्ष लक्षणसे युक्त सासारिक पदार्थोमे विकलता–निस्सारताको जानने वाले जयकुमारने उस प्रसिद्ध मानसिक पीडाके अभावकी स्थितिको प्राप्त किया था।

अर्थान्तर—अ से लेकर स पर्यन्तके अक्षरोंमे आदरसे युक्त तथा समस्त अक्षरविषयक ज्ञानमे अपूर्णताका अनुभव करनेवाले जयकुमारने अन्तस्थ और ऊष्मा वर्णोंका असद्भाव स्वीकृत किया था।

प्राप्तेन अन्तस्याश्च ऊष्माणश्च यद्वा तेषां विहीनता यकारादिहकारपर्यन्ताक्षरज्ञान-रहितता अपि ॥२६॥

नमःस्तुतोऽयमोंकारो विसर्गान्तस्वरूपतः ।
तेनानन्दमयेनापि रूपापभ्रंशवेदिना ॥२७॥

नम इत्यादि—तेन जयकुमारेण ओंकार इत्ययमक्षर नमःस्तुतः नमःशब्देन युक्तः आपि जपितुमारब्ध., तत रूपस्य अपभ्रंशो विनाशस्तद्वेविना रूपातीतध्यानज्ञेन अत एव आनन्दमयेन परमप्रसन्नभावं प्राप्तेन मकारेण न स्तुतो, योऽयमोंकारः मकाररहितः पुनर्विसर्गान्तस्वरूपतः ओः इति एवंरूप आपि प्राप्त, रूपस्य योऽपभ्रंशो विकार-स्तद्वेदिना अस्पष्टभाषिणा इति हर्षसमये ओः इत्युच्यते सर्वैस्तथा तेनापि 'ओं नमः' इति जापतत्परेण ओः इति हर्षातिरेकः प्राप्त इत्यर्थ ॥२७॥

तपसाधिगतामेव काञ्चनस्थितिमादधत् ।
मुद्रोचितं प्रयोगेण कं कणं कृतवानसौ ॥२८॥

तपसेत्यादि—तपसा वह्निप्रयोगेणाधिगतां प्राप्तां काञ्चनस्य सुवर्णस्य स्थितिं आदधत् स्वीकुर्वन् असौ जयकुमारो मुद्रोचितं मुद्रायोग्य तत्सुवर्णं प्रयोगेण निजकौशल-कर्मणा कङ्कण कृतवान्, अथवा तपसा अनशनादिनाधिगता काञ्चनानिर्वचनीयां स्थिति-

---

भावार्थ—अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ये ९ स्वर तथा कवर्गादि पाँच वर्गोंके पच्चीस अक्षरोमे ही जिसका आदरभाव है, उसका अक्षरविज्ञान अपूर्ण रहता है, क्योकि समस्त अक्षरोमे य र ल व ये चार अन्तःस्थ और श ष स ह ये चार ऊष्मा वर्ण भी सम्मिलित है। जो अकारसे लेकर म पर्यन्तके ही अक्षरोमे आदरभावसे सहित होता है, उसके अन्तस्थ और ऊष्माके आठ अक्षर छूट जाते है, अत विकलता–अपूर्णता रहती है ॥२६॥

अर्थ—रूपातीत ध्यानके ज्ञाता तथा परमप्रसन्न भावको प्राप्त हुए उन जयकुमारने 'ओं' इस मन्त्रकी नमः शब्दके साथ स्तुतिकी, पश्चात् रूपके विकारको जानने वाले उन जयकुमारने जिसमे म निकल गया है और अन्तमे विसर्ग आ गया है, ऐसे 'ओः' शब्दको प्राप्त किया ॥२७॥

अर्थ—अनशनादि तपसे प्राप्त किसी अनिर्वचनीय दशाको धारण करनेवाले जयकुमारने **कं**–अपनी आत्माको **कण**–आत्मनिर्णयसे युक्त अत एव **मुद् रोचितं**–प्रसन्नतासे शोभा युक्त किया।

अर्थान्तर—तपसा–अग्निके प्रभावसे प्राप्त सुवर्णकी स्थितिको स्वीकृत करते

भवस्यामावधवसो जयकुमार. क आत्मानं कस्यात्मन. णः निर्णयो यस्य तं स्वात्मध्यान-लीनम् अत एव मुदा प्रसन्नतया रोचितं शोभायुक्त कृतवान् ।।२८।।

यो नाभिजातपत्रात्तं सिक्त्वाथो मानसामृतैः ।
शिखालुतां नयन् वातं कल्पद्रुममिवान्वगात् ।।२९।।

यो नाभिजातेत्यादि—यो जयकुमारः, अभिजातं न भवतीति नाभिजात निकृष्ट पत्रं तेनात्तं नाभिजातपत्रात्त हीनजातीयं तुरुष्कादिकं मानसामृतैरुदारभावैः सिक्त्वाऽलङ्कृत्य शिखालुतां नयन् चूडायुक्तां हिन्दूपरिणतिं प्रापयन् कल्पस्य परिवर्तनस्य द्रुममिवान्वगात् काय (?) इत्यादिवत् । अथवा नाभिजातैः पत्रैरात्तं शुष्कप्रायं वृक्ष मानसस्य नाम सरोवरस्य अमृतैर्जलैः सिक्त्वाभिषिच्य पुनः शिखालुतां नयन् पल्लवितं कुर्वन् कल्प-द्रुममिव मनोहरमन्वगात् । तथा च नाभिजातात्रैः आत्तं प्राप्त प्रथमं नाभिकमलात् समुत्थ वातं पवनं मानसामृतैः हृदयपवनैः सिक्त्वा सम्मिश्रीकृत्य पुन शिखालुतां नयन् तालुस्थवायुता प्रापयन् तं कल्पद्रुममिव वाञ्छितदायकमन्वगात् ।।२९।।

यावद् घनं नेत्रवालं तावद् धान्याहिते रतः ।
विश्वतः श्रीस्थितिं मत्वा न तदातिससार सः ।।३०।।

यावदित्यादि—यावन्मात्र घन नाम नागमुस्ताभिधमौषध तावत् नेत्रवालं तावदेव धान्यं तस्य हितेरत विश्वतः शुण्ठिनाम ओषधितः पुन श्रीस्थितिं विल्वफलमात्रां मत्वा शुण्ठि-धान्यक-नागमुस्ता-नेत्रनाल-विल्वफलानि—इति आदाय नातिसार अनिसाररोगं

हुए जयकुमारने मुद्रोचित—अगूठीके योग्य उस सुवर्णको अपनी कुशलतासे ककण—हस्तभूषण कर दिया—बना दिया ।।२८।।

अर्थ—उन जयकुमारने हीनजातीय यवन आदिको उदार भावसे अलकृत-कर चोटीधारी बनाते हुए मानो परिवर्तनका वृक्ष ही खडा कर दिया था। अथवा शुष्कप्राय वृक्षको मानस सरोवरके जलसे सीचकर पुनः पल्लवित—हरा-भरा करते हुए कल्पवृक्षके समान मनोहर कर दिया था। अथवा ध्यान मुद्रामे नाभिकमलसे उत्पन्न वायुको हृदयकमलकी वायुसे मिश्रित कर तालुस्थ वायुताको प्राप्त कराते हुए वाञ्छित दायक होनेसे मानो कल्पवृक्ष बना दिया ।।२९।।

अर्थ—अन्य मनुष्योके हितमे तत्पर जयकुमार जब तक मेघ की स्थिति अथवा जब तक नेत्र की टिमकार है, तब तक ही सम्पत्ति की स्थिति है, यह मानकर विश्व—ससार मे आसक्तिको प्राप्त नही हुए थे।

नाप्तवान् । अथवा अन्यस्य हिते रत परोपकारपरायण स जयकुमारो यावद् घनं याव-न्मात्रकालमितं नेत्रवाल मिमेषरूपं तावद्धा विश्वत संसारात् श्रिय स्थिति सम्पत्य-वस्थानं मत्वा तां नातिससार सासारिकसम्पत्तौ आसक्तो नाभूदित्यर्थ. ॥३०॥

प्रत्याहारमुपेतो वा यमिताद्युपयोगवान् ।
तत्रान्तराय मासाद्य धारणाख्यातिमादधौ ॥३१॥

प्रत्याहारेत्यादि—प्रत्याहार नाम व्याकरणोक्तसंकोचमुपेत अयं जयकुमार. इता अप्रयोगिवर्णेन स आदेः शब्दस्योपयोगवान् तत्र तयोर्मध्येऽन्तः आयः सम्प्राप्तिर्यस्य वर्ण-समूहस्य त आसाद्य 'सात्मेत्यादि'-व्याकरणसूत्रस्य धारणाख्याति स्मृतिमादधौ । अथवा—आहार प्रत्युपेत स यमिता संयमिता आदौ येषां क्षमादीना तेषाम् उपयोगवान् जयकुमार-स्तत्र भुक्तिवेलायामन्तरायमासाद्य यत्किंचिद् विघ्नमात्र प्राप्य पुन धारणाख्यातिननशन-सकल्पक्रिया आदधौ । तथा च प्रत्याहारं नाम भ्रुवोर्मध्यदेशादिषु यथेच्छं मनोनयन-मुपेतः स यमिताद्युपयोगवान् जयकुमारः अयं महात्मा तत्रान्तरा तन्मध्ये तन्मन आसाद्य स्थापयित्वा धारणाख्यातिं नाम ध्यानस्याङ्गविशेषमादधौ ॥३१॥

अर्थान्तर—घन–नागमोथा, नेत्रवाला, धना, सोठ और बेल फलको लेकर अतिसार रोगको प्राप्त नही हुए । (अप्रासङ्गिक अर्थ है) ॥३०॥

अर्थ—प्रत्याहार–व्याकरण शास्त्रमे कही हुई विधिको प्राप्त हुए इन जय-कुमारने इत् सज्ञक अन्तिम वर्णके द्वारा आदि प्रथम अक्षर और आदि तथा अन्त अक्षरके मध्यमे आगत वर्णोंको ग्रहण कर प्रत्याहार विधिकी धारणा की थी ।

भावार्थ—व्याकरणमे आदि और अन्तिम अक्षर तथा मध्यपाती अक्षरोको लेकर प्रत्याहार बनता है । जैसे 'अइउण्' यहाँ अन्तिम ण् इत् सज्ञक होता है । उसे छोड दिया जाता है । आदि अक्षर अ है और मध्यमे इ उ आते हैं । इस प्रकार अण् प्रत्याहारमे 'अ इ उ' इन तीन अक्षरोका समावेश होता है । वे इस प्रत्याहार विधिका स्मृतिको प्राप्त थे । अथवा मुनि अवस्थामे जब जयकुमार आहारके प्रति–आहारके अभिप्रायमे श्रावकके घर आते थे, तब अपने सयमीपनका उप-योग करते हुए यदि चरणानुयोगमे प्रसिद्ध अन्तरायको प्राप्त होते थे, तब पुनः उपवास आदि नियमोकी धारणा करते थे । अथवा ध्यानकी वेलामे दोनो भोहो-के बीच अपना मन लगाकर योगशास्त्रमे प्रसिद्ध यमिता आदि विधिका उपयोग करते हुए धारणा नामक ध्यानके अङ्गको प्राप्त होते थे ॥३१॥

जगतां विमुखेनापि सतां मार्गे सपक्षता ।
साधनेन विना साध्यसिद्धिरासीदहो पुनः ॥३२॥

जगतामित्यादि – जगता त्रिलोकानां विमुखेन तेन जयकुमारेण सतां मार्गे सभ्यानां वर्त्मनि मुक्तिपथे सपक्षता आपि रुचि कृता । तथा विमुखेन पक्षिमुख्येन सतां मार्गे गगने सपक्षता पक्षाभ्यां युक्तता आपि । धनेन विना परिग्रहेण रहितत्वात् आधीनामुपाधीनामसिद्धिः निष्फलता सा चानिर्वचनीयासीत् । तथा साधनेन हेतुना विनापि साध्यस्य सिद्धिरस्यासीत् पुनरहो आश्चर्यम् ॥३२॥

अपत्रपाज्जगद्वृत्तात् संत्रस्तहृदयो भवन् ।
सम्पल्लवसमारब्धां योगच्छायामुपाविशत् ॥३३॥

अपत्रपादित्यादि—अपत्रपात् लज्जारहितात् पक्षे निष्पत्रात् जगद्वृत्तात् लौकिकचरित्रात् संत्रस्तं भयभीत हृदयं यस्य स भवन् य जयकुमार सम्पदो लवा अंशा यत्र तेन समेन प्रशमभावेन आरब्धा पक्षे समीचीनै पल्लवैः समारब्धां योगस्य ध्यानस्य छायां पक्षे य स जयकुमार अगच्छाया वृक्षस्य छायामुपाविशत् ॥३३॥

भवतात्मना स्फुरद्रूपाराधिता सूपयोगिता ।
व्यञ्जनं वास्तुकोद्भूतलक्षणं तत्र सम्मतम् ॥३४॥

अर्थ—तीनो लोकोसे पराङ्मुख रहनेवाले जयकुमारने सभ्य पुरुषोके मार्ग–मोक्ष मार्ग मे **सपक्षता**–रुचि प्राप्त की। अथवा **विमुख**–पक्षियोमे मुख्य जयकुमारने **सतां मार्गे**–आकाशमे **सपक्षयुक्तता**–पक्षसहितपन प्राप्त किया अथवा धनके बिना–परिग्रहसे रहित होनेके कारण उपाधियोकी वह अनिर्वचनीय निष्फलता प्राप्त को। अथवा साधनके बिना भी साध्यकी सिद्धि हुई थी, यह आश्चर्यं की बात थी ॥३२॥

अर्थ—**अपत्रप**–लज्जारहित **जगद्वृत्त**–लौकिक चरित्रसे जिनका हृदय भयभीत हो गया था, ऐसे जयकुमार सम्पत्तिके अशोसे सहित अथवा आगमके समीचीन पदो–वर्णसमूहके अशोसे सहित **सम**–प्रशमभावके द्वारा प्रारब्ध–प्रारम्भकी गई **योगच्छाया**–ध्यानकी छायामे उपविष्ट हुए। अर्थात् मुनि अवस्थामे आगमके पद-पदांशोका आश्रय ले शुक्ल ध्यानमे आरूढ हुए थे।

अर्थान्तर—**अपत्रप**–निष्पत्र–रूक्षतम जगत्के व्यवहारसे भयभीत हृदय जो जयकुमार थे, वे **सम्पल्लवसमारब्धा**–समोचीन किसलयोसे प्रारब्ध **अगच्छाया**–वृक्षकी छायामे समुपविष्ट हुए थे ॥३३॥

भक्तात्मनेत्यादि—तेन भक्तात्मना भगवद्भक्तियुक्तेन यद्वा ओदनरूपेण तेन सूपयोगिता उत्तमोपयोगवत्ता तथैव वालीसंयोगिता स्फुरद्रूपा स्पष्टरूपा आराधिता तत्र कोदृभूतलक्षणं आत्मसंजातरूपं व्यञ्जनं वास्तु भूयात्। यद्वा वास्तुकान्नाम पत्रशाका-वुद्भूतं लक्षणं यस्य तद् व्यञ्जनं नाम लगवणं (इति देशभाषायां) सम्मतं युक्तमेव ॥३४॥

क्षमाशीलोऽपि सन् कोपकरणैकपरायणः ।
बभूव मार्दवोपेतोऽप्यतीव दृढधारणः ॥३५॥

क्षमाशील इत्यादि—स क्षमाशीलः परकृतस्यापराधस्याप्युपेक्षावान् सन्नपि कोप-करणे क्रोधावेशे परायण इति विरोधस्तस्मात् कस्यात्मनो यान्युपकरणानि संयमनियमा-दीनि तेषु परायण इति परिहारः। मार्दवोपेतः कोमलतायुक्तोऽपि अतीव दृढधारण. काठिन्ययुक्त इति विरोधस्तस्माद् मार्दवधर्मोपेतः सन् दृढधारणावान् बभूवेति परि-हारः ॥३५॥

अप्यार्जवश्रिया नित्यं समुत्सवक्रमङ्गतः ।
पावनप्रक्रियोऽप्यासोत्तवा शौचपरायणः ॥३६॥

अप्यार्जवेत्यादि—आर्जवश्रिया सरलतया समुद् हर्षयुक्तोऽपि स जन. वक्रमङ्गतः कुटिलयाचक इति विरोधस्तस्मात् आर्जवधर्मयुक्त. सन् .समुत्सवस्य क्रम गत आसीदिति

अर्थ—मुनि अवस्थामे भगवद्भक्तिसे युक्त जयकुमारने अत्यन्त स्पष्ट, उत्तम उपयोगसे सहित अवस्थाकी आराधना की थी। अत एव **कोदृभूतलक्षण**—आत्मासे उत्पन्न लक्षण, व्यञ्जन-प्रकट हो, यह उचित ही था। भगवद्भक्त पुरुष आत्मस्वरूपका अनुभवी होता ही है।

अर्थान्तर—भक्तात्म-ओदनरूप व्यक्तिने सूप-दालका उपयोग किया और वास्तुक-बथुआकी भाजी साथमे ली, यह उचित हो था ॥३४॥

अर्थ—वे जयकुमार क्षमाशील होनेपर भी कोपकरणैकपरायण-क्रोध करने-मे मुख्यरूपसे तत्पर थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे क्षमाशील होकर भी क-आत्माके उपकारी सयम-नियम आदिके करनेमे प्रमुख रूपसे तत्पर रहते थे। इसी प्रकार मार्दव-कोमलतासे युक्त होकर भी दृढधारणः-कठोरतासे युक्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे मार्दव धर्मसे युक्त होकर भी दृढधारणा शक्तिसे युक्त थे ॥३५॥

अर्थ—वे जयकुमार **आर्जवश्री**-सरलताकी शोभासे निरन्तर **समुद्**-हर्ष सहित होकर भी **वक्रमंगत**-कुटिल याचक थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार

परिहार.। पावनप्रक्रियः पवित्रतायुक्तोऽपि आशौचपरायण सूतकनामाशुद्धियुक्त इति विरोधस्तस्मात् शौचधर्मयुक्तस्संतोषशीलस्सन् पवनस्येदं पावनं तद्रूपप्रक्रिय आसीत् सदा विचरणशील इति परिहार ॥३६॥

श्यामतां नान्वगाच्चित्ते सत्यानुगतवृत्तिमान् ।
यमादभीत एवासीत् संयमप्रभयान्वितः ॥३७॥

श्यामतामित्यादि—चित्ते सत्यया सत्यभामया नाम महिष्यानुगता या सौ वृत्तिश्चेष्टा तद्वान् सन्नपि श्यामतां माधवतां नान्वगादिति विरोध., तस्मात्सत्येनावितथवचनेन अनुगतवृत्तिमान् सत्यवक्ता भवन् श्यामतां पापाशयतां नान्वगाद् इति परिहारः। यमस्य समीचीनया प्रभयान्वितोऽपि यमादभीत इति विरोधः, तस्मात् संयमस्येन्द्रियदमनस्य प्रभयान्वितस्सन् यमादन्तकादभीत एवासीदिति परिहार ॥३७॥

असन्तप्तान्तरङ्गोऽपि तपसि प्रणिधिं गतः ।
न त्यागमहितोऽप्यासीत् त्यक्ताशेषपरिग्रहः ॥३८॥

असन्तप्तेत्यादि—तपसि नाम सतापे प्रणिधिं गतोऽपि असन्तप्तान्तरङ्ग एवं विरोधः। तपसि नाम तपस्यायां प्रणिधिं गतः विचारवानासीद् इति परिहारः। त्यक्ता-

---

है कि आर्जव धर्ममे युक्त होकर **समुत्सवक्रमं गतः**–समीचीन उत्सवके क्रमको प्राप्त थे। तथा **पावनप्रक्रियः**–पवित्रतासे युक्त होकर भी **आशौचपरायण**–सूतक नामक अशुद्धिसे युक्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **पावनप्रक्रियः**-पवन सम्बन्धी प्रक्रियासे सहित थे, अर्थात् पवनके समान विचरण-विहार करने वाले थे और शौच नामक धर्मसे सहित थे ॥३६॥

अर्थ—वह जयकुमार मनमे **सत्यभामा पट्टरानीकी** चेष्टासे अनुगत होकर भी **श्यामता**–श्रीकृष्णताको प्राप्त नही थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि सत्यधर्मके अनुगामी होकर मनमे मलिनताको प्राप्त नही थे। तथा **संयमप्रभयान्वित**:–यमको समीचीन प्रभासे युक्त होकर भी **यमादभीत**–यमसे अभीत थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि **संयम**–इन्द्रियदमन और प्राणिरक्षणरूप सयमसे युक्त होकर भी यम–मृत्युसे अभीत–भय रहित थे ॥३७॥

अर्थ—वे जयकुमार **तपसि**–सतापमे **प्रणिधि**–प्रणिधान-स्थितिको प्राप्त होकर भी **असन्तप्तान्तरङ्गः**–संतप्त हृदयसे सहित नही थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि तपश्चर्यामे लीन होकर भी–तपोधर्म से सहित होकर भी अन्तरङ्गमे सन्तापका अनुभव नहीं करते थे और **त्यक्ताशेषपरिग्रह**–समस्त

होव परिग्रहः सन् त्यागेन सहितो नासीद् इति विरोधस्तस्मान्नतेर्नम्रताया आगमेन सहित इति परिहारः ॥३८॥

संगीतगुणसंस्थोऽपि सन्नकिञ्चन रागवान् ।
वर्णनातीतमाहात्म्यो वर्णितोचितसंस्थितिः ॥३९॥

संगीतेत्यादि—सगीतस्य गानस्य गुणे संस्था स्थितिर्यस्य सोऽपि सन् किञ्चन रागवान् मनागपि गानशीलो नासीदिति विरोध , तत सगीता सस्तुता गुणानां सस्था यस्य स सन् अकिञ्चनधर्मे रागवान् तल्लीन इति ज्ञेयं तथा वर्णनयातीतं रहितं माहात्म्य यस्य सोऽपि वर्णिता सकीर्तिता उचिता स्थितिर्यस्य स इति विरोध., ततो वर्णितायाः नि.स्त्रीकताया उचिता स्थितिर्यस्येति परिहार ॥३९॥

श्रीयुक्तदशधर्मोऽपि नवनीताधिकारवान् ।
तत्त्वस्थिति प्रकाशाय स्वात्मनैकायितोऽप्यभूत् ॥४०॥

श्रीयुक्तेत्यादि—श्रीयुक्ताः शोभासहिता क्षमादयो दशधर्मा यस्य स श्रीयुक्तदशधर्म सन्नपि नवसंख्यात्मकाधिकारयुक्त अभूदिति विरोध । तस्य परिहारः-नवनीतस्य

परिग्रहका त्यागकर देनेपर भी **नत्यागमहित**.–त्यागसे महित नही थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि समस्त परिग्रहका त्यागकर देनेपर भी नत्यागमहितः–नम्रताकी प्राप्तिसे हितरूप थे ॥३८॥

अर्थ—वे जयकुमार सगोतके गुणोमे स्थितिको प्राप्त होकर भी–सगीतके अच्छे ज्ञाता होकर भी रागसे सहित नही थे-स्वर विज्ञानसे शून्य थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि प्रशसनीय गुणोकी स्थितिसे सहित होकर भी आकिञ्चन्य धर्मसम्बन्धी राग–प्रेमसे सहित थे। तथा अवर्णनीय माहात्म्यसे युक्त होकर भी वर्णनीय योग्य स्थितिसे सहित थे। जो अवर्णनीय है वह वर्णनीय कैसे हो सकता है ? यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है कि वर्णनातीत माहात्म्यसे युक्त होकर भी वर्णिता–ब्रह्मचर्यके योग्य स्थितिसे सहित थे, अथवा ब्रह्मचर्यविषयक उचित स्थितिसे सहित थे ॥३९॥

अर्थ—शोभा महित क्षमादि दश धर्मोसे युक्त होकर भी वे **नवनीताधिकारवान्**–नौ धर्मोके अधिकारसे सहित थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे दश धर्मोके अधिकारसे युक्त होकर भो नवनीत–मक्खनके समान कोमलताके अधिकारी थे। जीवादि सात तत्त्वोकी स्थितिका प्रकाश करनेके लिये एक स्वकीय आत्माके साथ ही एकत्वको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार

भ्रमणस्याधिकारवाम् तत्तुल्यकोमलतावामित्यर्थः । तत्त्वस्थितिप्रकाशाय तत्त्वानां जीवादीनां स्थितिप्रकाशाय स्वात्मना एकायित. एकतायुक्त इति विरोध. । तस्य परिहारः—संसारोच्छेदकतात्त्विकस्थितिप्रकाशनाय स्वात्मना तन्मयोऽभूदिति ॥४०॥

विनयाधिगतः सत्सु नयाधीनोऽप्यसौ सदा ।
सर्वारम्भविमुक्तः सन् योगमालब्धवान् मुहुः ॥४१॥

विनयेत्यादि—सत्सु विनयाधिगत', नयरहितोऽपि नयाधीनो नीतिमानासीद् इति विरोधस्तस्माद् विनयेन नम्रभावेन अधिगतः सन् नयाधीनः विचारवानासीदिति परिहारः । सज्जनानां वैयावृत्यकरोऽभूदित्यर्थः । सर्वारम्भै' कार्यक्रमैर्वियुक्तो रहितोऽपि योगं सन्नहनादिसम्प्रयोगमालब्धवान् इति विरोधस्तस्माद् योग नाम एकाग्रचिन्तानिरोधरूपम् आत्मध्यानम् आलब्धवानिति परिहार ॥४१॥

प्रायश्चित्तमधात् स्वस्मिन् प्रायश्चित्ताति दूरगः ।
सोऽहमित्यप्यनुध्यायन्नहङ्कारातिगोऽभवत्　　॥४२॥

प्रायश्चित्तमित्यादि—प्रायःचित्ताद् अतिदूरगो मनोरहितोऽपि स्वस्मिन् चित्तं हृदयमधात्, एवं विरोध' । तस्मात् प्रायश्चित्ताद् नाम आवश्यककर्मणि स्खलनात् अतिदूरग सन् स्वस्मिन् आत्मचिन्तने एव प्राय प्राचुर्येण चित्तम् अधाद् इति परिहार । सोऽहं इत्यनुध्यायन्नपि अहङ्कारातिगः अहमिति शब्दरहितोऽभवदिति विरोध , तस्मात् अहकारात् स्मयपरिणामात् अतिग इति परिहार ॥४२॥

है—ससारका उच्छेद करने वाली वास्तविक स्थितिका प्रकाश करनेके लिये वे स्वकीय आत्माके साथ एकत्वको प्राप्त हुए थे ॥४०॥

अर्थ—वे सत्पुरुषोके विषयमें **नयाधिगम**–नीतिज्ञानसे रहित होकर भी **नयाधीन**–नीतिज्ञानसे सहित थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है—सत्पुरुष-विषयक विनय गुणसे सहित होकर भी नयज्ञानके वेत्ता थे । सब प्रकारके आरम्भसे विमुक्त होकर भी **योग**–सयोगको प्राप्त थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि सब आरम्भोसे रहित होकर भी एकाग्र चिन्ता निरोध रूप आत्मध्यानको प्राप्त थे ॥४१॥

अर्थ—वे प्रायः **चित्त**–मनसे रहित होकर भी अपने आपमे मनको धारण करते थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार हे कि आवश्यक कार्योमे स्खलन होनेपर गुरुके द्वारा प्रदत्त दण्डसे दूर रहते थे तथा अपना मन अपने आपमे लीन रखते थे । **'सोऽहम्'** वह मै हूँ, इस प्रकार निरन्तर ध्यान करते रहने

हंसोऽभ्यवापि काकस्य रीतिः सौवर्ण्यभागिति ।
प्रतिलोमविचारेण सोऽहमित्यनुवादिना ॥४३॥

हंस इत्यादि—लोम-लोम प्रतिलोम विचारेण प्रतिक्षणमनुमननेन कृत्वा तेन सोऽह-मित्यनुवादिना हंस. शुद्धात्मा अभ्यवापि प्राप्तः। इय काकस्य रीति नीतिः पित्तलधातु-रपि सौवर्ण्यं भाग इति अभ्यवापि ॥४३॥

समारोहक्रमोऽप्येवं नयतो वस्तु संविदः ।
तस्यासीत् सकलादेशो विधुतावृष्टभावतः ॥४४॥

समारोहेत्यादि—एव वस्तु आत्मतत्त्वं सविद नयतः ज्ञानविषयभावं नयत. तस्य समारोहक्रमोऽपि श्रेण्यारोहणविधिरपि बभूव। विधुतः पराभूतः अवृष्टभावो दुष्कर्म-परिणामो दैवसद्भावो येन ततः तस्य स प्रसिद्धः कलादेश. कं आत्मानं लाति स्वीकरोति सकलः स आदेशोऽसौ आसीत्। यत तस्य वस्तुससविद तत्त्वविचारवृत्तयो बभूवुः। तस्मात् तस्य मारस्य नाम कामदेवस्य यः ऊहक्रमः कल्पनापरिपाटी स नासीत्। विधु-ताया चन्द्रपरिणामस्य वृष्टो यो भावः तस्मात् म कलादेशः मण्डलपरिपूर्तिरासीत् सकलादेशो नाम प्रमाणवृत्तिरप्यासीत् ॥४४॥

पर भी वे अहकार-अहम् शब्दके उच्चारणसे रहित थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—'य परमात्मा स अहम्' जो परमात्मा है वही मैं हूँ, इस प्रकार ध्यान करते रहनेपर भी वे अहंकार-अभिमानसे रहित थे ॥४२॥

अर्थ—प्रतिक्षण विचार करने (पक्षमे विपरीत क्रमसे विचार करने) और 'सोऽह' ऐसा उच्चारण करनेवाले जयकुमारने हंस-शुद्ध आत्माको प्राप्त किया था। सोऽह शब्दको विपरीत क्रमसे पढ़नेपर हस. शब्द निष्पन्न होता है। यह किसकी कौन नीति है कि जिससे रीति[1]-आरकट पीतल सुवर्णभावको प्राप्त हो जाता है। ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तु-आत्मतत्त्वको संविद-जानने वाले जयकुमारके समारोहक्रम-श्रेणी चढनेकी विधि भी सम्पन्न हुई थी। दुष्कर्मके प्रभावको दूरकर देनेसे उन जयकुमारके वह प्रसिद्ध कलादेश-आत्मतत्त्वकी स्वीकृति हुई थी, अर्थात् प्रतिरोधक कर्मका अभाव होनेसे उन्हे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई थी। अथवा यत जिस कारण उनके वस्तुसविद-तत्त्वविचारकी श्रेणियाँ प्राप्त हुई थी। इसलिये मार-ऊह-क्रमोऽपि कामदेवकी कल्पनापरिपाटी नही हुई थी।

अन्य अर्थ सस्कृत टीकासे जानना चाहिये ॥४४॥

---

१. 'रीति' स्यन्दे प्रचारे च लोहकिट्टारकूटयो:' इति विश्व० ।

नभोगतत्त्वसंग्राही नित्यमेव निरम्बरः ।
परमागमतल्लीनः परमामहरन्नपि ।।४५।।

नभोगेत्यादि—नभसि आकाशे गतत्वस्य संग्राही सर्वदा आकाशगामी च निरम्बरः आकाशहीन इति विरोध.। तस्य परिहारः—भोगतत्त्वं विषयतत्परतां न संगृह्णातीति न भोगतत्त्वसग्राही विषयवासनातीतो नित्यमेव निरम्बरो वस्त्राच्छादनरहित इति परिहारः। अथवा नासावेशं गच्छतीति नभोग यत् तत्त्वं स्वरोदयज्ञान तस्य सग्राही इत्यपि विक। परेषां मां लक्ष्मीं अहरन् परधनहरणरहितः सन्नपि परमाया आगमे संग्रहणे तल्लीन इति विरोधः, तस्मात् परमे आप्तोपज्ञे अहेतुवादरूपे च तस्मिन् आगमे शासने तल्लीन इति परिहार ।।४५।।

आदिनाथोक्तमादेशं गतोऽनादिस्थलं वधत् ।
अजपोक्तविधिं वाञ्छन् स जपेऽभूत् परायणः ।।४६।।

आदिनाथेत्यादि—आदिनाथेन उक्तं प्रारब्धं स्वामिना कथितम् आदेशं गत , स एव अनादिस्थल प्रारम्भविहीन स्थानं वधद् इति विरोध । तत आदिनाथेन पुरुदेवेनोक्त आदेश गतस्सन् नादि न भवतीत्यनादि स्थल नि शब्द स्थानं वधद् इति परिहार । जपो न भवतीत्यजप, तदुक्तं विधिं वाञ्छन् स जपे परायणोऽभूदिति विरोधस्तत अजं परमात्मरूपं पालयतीति अजप, इत्येवमुक्तो यो विधिस्तं वाञ्छन् इति परिहार ।।४६।।

अर्थ—वे **नभोगतत्त्वसंग्राही**-आकाशगमनके सग्राही होकर भी **निरम्बर**-आकाशसे रहित थे, यह विरोध है। परिहार पक्षमे **भोगतत्त्वके संग्राही न होकर**-निरन्तर **निरम्बर**-वस्त्र रहित थे। वे **परमां अहरन्**-दूसरेकी सम्पत्तिका हरण करनेवाले न होकर भो **परमागमतल्लीन**-दूसरेकी सम्पत्तिके आगम-प्राप्त करनेमे तल्लीन थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि **परम आगम**-सर्वज्ञ प्रणीत आगममे तल्लीन थे ।।४५।।

अर्थ—वे आदिनाथके द्वारा कथित आदेशको प्राप्त होकर अनादि-आदि-रहित स्थलको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—आदिनाथ-भगवान् वृषभदेवके द्वारा प्रतिपादित आदेश-आज्ञाको प्राप्त होकर **अनादिस्थलं**-शब्द रहित स्थलको प्राप्त हुए थे। तथा **अजपोक्तविधिं वाञ्छन्**-जपरहितके द्वारा कथित विधिकी इच्छा करते हुए जपमे तत्पर हुए थे, यह विरोध है, परिहार इम प्रकार है—**अजप**-परमात्मस्वरूपका पालन करनेवालेके द्वारा प्रतिपादित विधिकी इच्छा करते हुए जपमे तत्पर हुए थे ।।४६।।

शिवार्थं वृषभारुढः सदक्षपदमाश्रितः ।
सोमलब्धोत्तमाङ्गोऽपि यदहीनगुणाश्रयः ।।४७।।

शिवार्थमित्यादि—सोमात् नाम नृपात् लब्धं उत्तमं अङ्गं येन स सोमलब्धोत्तमाङ्ग सोमात्मज इति यत् अहीनानां प्रशस्तानां गुणानामाश्रयः शिवार्थं मोक्षनिमित्तं वृष धर्ममारूढः, सतोऽक्षस्यात्मन पद वर्णसमूहं आश्रितः परमात्मनाम जपत्वाद् इति । तथा सोमेन चन्द्रमसा लब्धमुत्तमाङ्गं शिरो यस्य स चन्द्रशेखरः, यत् अहीनस्य शेषनागस्य गुणस्याश्रयः स शिवार्थं पार्वतीनिमित्तं वृष बलीवर्दं आरूढ सन् महादेवो दक्षस्य नाम नृपते पद स्थानमाश्रित ।।४७।।

ज्ञानार्णवोदयायासीदमुष्य शुभचन्द्रता ।
योगतत्त्वसमग्रत्वभागजायत सर्वतः । ४८।।

ज्ञानार्णवेत्यादि—यो जयकुमारो गतत्व च समग्रत्व च गतत्वसमग्रत्वे ते भजतीति गतत्वसमग्रत्वभाग् भूतभावितत्वज्ञ सर्वतोऽजायत । एवममुष्य ज्ञानार्णवस्य ज्ञानसमुद्रस्य

अर्थ—सोम-सोमप्रभ राजासे जिन्हे उत्तमाङ्ग-उत्कृष्ट शरीर प्राप्त हुआ है तथा जो अहीन-उत्कृष्ट गुणोके आधारभूत हैं, ऐसे वे जयकुमार शिव-मोक्षके लिये वृष-धर्मपर आरूढ होकर सदक्षपद-समीचीन आत्माके पद-वर्णसमूहको प्राप्त हुए थे, अर्थात् परमात्माके नामका जाप करनेमे तत्पर थे।

अर्थान्तर—जिनका उत्तमाङ्ग-शिर सोम-चन्द्रमासे युक्त था, जो अहीन-शेषनागके गुण अथवा शेषनाग रूप रज्जुके आश्रय-आधार थे तथा शिवा-पार्वतीके लिये जो वृष-बैलपर आरूढ थे, ऐसे वे शङ्कर दक्षपद-राजा दक्षके स्थान-घर गये थे ।।४७।।

अर्थ—जो जयकुमार सब ओरसे गतत्व और समग्रत्वको प्राप्त थे, अर्थात् अतीत-अनागत पदार्थोंमे उनका ज्ञान व्याप्त था और पूर्णत्वको प्राप्त था तथा ज्ञानरूपी समुद्रकी अभिवृद्धिके लिये जयकुमारके शोभायमान चन्द्रपना था, अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्रको वृद्धिगत करता है, उसी प्रकार जयकुमार अपने ज्ञानरूप समुद्रको वृद्धिगत कर रहे थे।

अर्थान्तर—जयकुमार सब ओरसे योगतत्त्व-ध्यानरूप वस्तुकी पूर्णताको प्राप्त थे तथा ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थके उदयके लिये इनमे शुभचन्द्रपना था अर्थात् शुभचन्द्राचार्यने जिस प्रकार ज्ञानार्णव नामक योगशास्त्रकी रचनाकर योग-ध्यानको विस्तृत किया है, उसी प्रकार जयकुमारने भी शुक्ल ध्यानके

उदयाय शुभचन्द्रता शोभनचन्द्रमस्त्वम् आसीत् । अथवा योगतत्त्वस्य ध्यानवस्तुनः समग्रत्वभाक् परिपूर्णताकारकस्तस्मात् सर्वतोऽमुष्य ज्ञानार्णवनामकस्य ग्रन्थस्योदयाय शुभचन्द्रनाम धारकतासीत् । समुद्रस्य च वृद्धिकरश्चन्द्रो भवतीति तद्वद्यं ज्ञानस्य वृद्धिकरोऽभूत्, ध्यानतत्त्वस्य परिज्ञायकत्वादिति ॥४८॥

सुरतोचितचेष्टस्य　　नरतासुगुणस्थितिः ।
समुल्लङ्घनभाजोऽपि　विनयाचारधारिणः ॥४९॥

सुरतोचितेत्यादि—सुरतोचितचेष्टस्य मैथुनयोग्यचेष्टावतः सुगुणस्थिति नरता रतेन स्त्रीप्रसङ्गेन रहितता इति विरोध ,तस्मात् सुरतोचितचेष्टस्य नाम देवत्वयोग्यचेष्टावत अमुष्य नरता मनुष्यजन्मता सुगुणस्थिति उत्तमगुणानां भूमि अभूत् इति परिहार । समुल्लङ्घनभाज उद्दण्डतावतोऽपि विनयाचारधारिण नम्रतायुक्तस्येति विरोध , तस्मात् समुल्लङ्घनभाज सहर्षानशनकारिण एवं कृत्वा परिहार ॥४९॥

सुमता स्वीकृता तेनासुमताप्यधुना पुनः ।
कुलता सुलता येनामानि मानि जनुः कृतम् ॥५०॥

सुलतेत्यादि — तेन जयकुमारेण कुलता कुत्सिता वल्लरी च सुलता स्वीकृता तथा सुमता पुष्पता एवम् असुमताऽऽपि स्वीकृता जनु॰ स्वजन्म मानि मानवत् तथा चामानि

माध्यमसे घातिया कर्मोका क्षयकर अपने ज्ञानरूप सागरको विस्तृत किया था ॥४८॥

अर्थ—**सुरत**–सभोगके योग्य चेष्टासे युक्त जयकुमारकी उत्तम गुणोमे जो स्थिति थी, वह नरता–सभोगसे रहित थी, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**सुरता**–देवत्वके योग्य चेष्टासे युक्त जयकुमारमे **नरतासुगुणस्थिति**–मनुष्यत्वके योग्य उत्तम गुणोकी स्थिति थी । **सुरत, सुरता**–और **नरत, नरता**–शब्दोपर दृष्टि देनेसे विरोधका परिहार सरलतासे हो जाता है। इसी प्रकार जयकुमार **समुल्लङ्घनभाक्**–उद्दण्ड चेष्टा वाले होकर भी **विनयाचार**–नम्रतापूर्ण व्यवहारके धारक थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **समुद्-लङ्घनभाक्**–हर्षसहित उपवाससे सहित थे तथा विनयाचारके धारक–नम्र व्यवहारसे युक्त थे ॥४९॥

अर्थ—उन जयकुमारने **कुलता**–कुत्सित लताको **सुलता**–उत्तम लता और **सुमता**–पुष्पताको **असुमता**–अपुष्पता, स्वीकृत किया तथा **मानि**–मानयुक्त अपने जन्मको **अमानि**-मान रहित किया, इस प्रकार सर्वत्र विरोध है। उसका परिहार यह है—जिन जयकुमारने **कुलता**–कुलीनताको **सुलता**–(सुरता) देतवा

मानरहितं कृतम् एवं परस्परविरोधतत्परिहार कुलता कुलीनता सैव येन सुलता देवत्व-ममानि स्वीकृता तस्मात्ततोऽसुमता प्राणधारकेण सुमता श्रेष्ठता स्वीकृता। एवं जनु: मानिकृतं पूज्यतां नीतम् ॥५०॥

सजताप्यजतावापि येनात्मनि नयेन तु।
निश्चयेन चयेनापि भूर्विभूक्तिभृता तदा ॥५१॥

सजतेत्यादि—तेन आत्मनि येनापि नयेन सजतापि पुनरजता वापि, निश्चयेन च येन भू सैव विभूषितभृतापि भूरवापि इति विरोध:। तस्मादेवमर्थ:-येन जयेन नयेन आत्मनि सजता ध्यानं कुर्वता अजतावापि अविनाशिरूपतात्मन: स्वीकृता, येन च निश्चयेन विश्वासेन विभूक्तिभृता प्रभुनाम जपता भूर्भूमिरवापि इत्यर्थ.। सततमेव परमात्म नाम जपता आत्मनि संनिमज्ज्याविनाशिताऽवापि। एवं तात्पर्यम ॥५१॥

देहेऽपि निर्ममत्वेन ममत्वे नो व्यथाकर:।
न तत्त्वमपि बिभ्राणस्तत्त्वमाप गुरूक्तिषु ॥५२॥

देहेऽपीत्यादि—स देहेऽपि स्वशरीरेऽपि निर्ममत्वेन ममतारहितत्वेन युक्त: किं पुनरन्यत्र, पुनरपि ममत्वे नो व्यथाकरो बाधाकरो नासीदिति विरोध, तस्मात् मम तु

रूप माना था। **असुमता**-प्राण धारण करनेवाले जिन जयकुमारने **सुमता**-श्रेष्ठताको अङ्गीकृत किया था और अपने जन्मको **मानि**-सन्मानसे सहित किया था ॥५०॥

अर्थ—जिन जयकुमारने आत्माके विषयमे **सजता**-जन्म सहितता प्राप्तकी, उन्होने **अजता**-जन्मरहितता प्राप्त की और निश्चयसे जो **विभूक्तिभृता**-भू शब्दके उच्चारणसे विगत-रहित थे उन्होने उस **भू**-पृथिवीको प्राप्त किया, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**आत्मनि सजता येन**-आत्मामे लीन होने वाले जिन जयकुमारने **अजता**-जन्मरहितता प्राप्तकी थी और **विभूक्तिभृता**-प्रभुका नाम लेनेवाले जिन जयकुमारने पृथिवी प्राप्त की थी ॥५१॥

अर्थ—जयकुमार शरीरमे भी ममताभावसे रहित थे, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है ? इतना होनेपर भी वे ममताभावमे **व्यथाकर**-बाधा करनेवाले नही थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**मम तु एनो व्यथाकर:**-उनका अभिप्राय था कि मेरे लिये पापका नाश करने वाला ही प्रिय है। तथा **तत्त्वं न बिभ्राणोऽपि**-तत्त्व-यथार्थताको न धारण करते हुए भी वे गुरुओंकी उक्तियो-वचनोमे तत्त्वको प्राप्त हुए थे, यह विरोध है। इसका परिहार यह है—**नतत्त्वं**

पुन एनोब्ययाकरः पापनाशक इति, तथा गुरूक्तिषु गुरोरुपदेशेषु तत्त्वं न बिभ्राणोऽपि तत्त्वमापेति विरोध, तस्मात् नतत्वं नम्रत्वं बिभ्राण.तत्त्वं सत्यार्थत्वमोपेति ॥५२॥

समरूपगतां वृत्तिं दधानो नलताश्रिताम् ।
वारितापक्रमोऽप्येवं नतरूपगतिं दधौ ॥५३॥

समरूपेत्यादि—समरूप प्रशमभाव रागद्वेषाभावात्मकं गच्छतीति सा वृत्तिश्चेष्टा तां, कीदृशीं तां ? नलतां रलयोरभेदान्नरतां मनुष्यतां समाश्रितां दधानः, वारितः परिहारितोऽपक्रमो दुर्मार्गप्रवृत्तिलक्षणो येन स जयकुमार एव रीत्या नतरूपा च तां गतिं विनीतवृत्तिं दधौ । तथा स कश्चिदपि जनो वारितापक्रमः वारितायाः जलसत्ताया अपक्रमोऽभावो यस्य स मरूपगता मरुदेशेन उपगता प्राप्तां वृत्तिं दधानो लताभिर्वल्लरीभिः अनाश्रितां वृत्तिं दधानस्तरूणामुपगतिं वृक्षाणां सत्तां न दधावित्यर्थः ॥५३॥

मरुताश्रितसम्पत्तिमिच्छताथ　स्वरङ्गता ।
साधूरीक्रियते स्मैवं निर्जराशयसंजुषा ॥५४॥

मरुतेत्यादि—अथ मरुता देवेनाश्रितां सम्पत्तिं स्वर्गलक्ष्मीमिच्छता निर्जराशयसजुषा देवाभिप्रायशालिना स्वः स्वर्गस्याङ्गता साधु यथा स्यात्तथा उरीक्रियते स्म । तथा

बिभ्राणोऽपि—नम्रत्वको धारण करते हुए वे गुरुवचनोमे तत्त्व—यथार्थताको प्राप्त हुए थे ॥५२॥

अर्थ—जो समरूपगता-प्रशमभावको प्राप्त तथा नलताश्रिता—नरताश्रिता—मनुष्यतामे युक्त वृत्तिको धारण कर रहे थे तथा वारितापक्रम.—दुर्मार्ग प्रवृत्ति रूप अपक्रमको जिन्होने निवारित कर दिया था, ऐसे जयकुमारने इस तरह नतरूप वृत्ति—विनीतवृत्तिको धारण किया था ।

अर्थान्तर—वारितापक्रमः—जलके सद्भावसे रहित स—कोई व्यक्ति मरूपगता मरुस्थलसे प्राप्त और न लताश्रिता—लताओसे अनाश्रित वृत्तिको धारण करता हुआ तरूपगतिं न दधौ—वृक्षकी संगतिको प्राप्त नही होता, अर्थात् जिस प्रकार जलाभावसे पीडित मनुष्य मरुभूमिमे भ्रमण करता हुआ विश्रामके लिये न कहीं लताको प्राप्त होता है और न वृक्षको, उसी प्रकार संसाररूप मरुस्थलमे भ्रमण करता हुआ विषयाभिलाषी मनुष्य कही भी विश्रामको प्राप्त नही होता ॥५३॥

अर्थ—देवोके द्वारा आश्रित सम्पत्ति—स्वर्गलक्ष्मीकी इच्छा करनेवाले तथा देवोंके अभिप्रायसे सुशोभित मनुष्यके द्वारा अच्छी तरह स्वरङ्गता—स्वर्गकी

मरुता वायुनाश्रिता सम्पत्तिमिच्छता निर्जराशयसंजुषा जरारहितं आशयं बिभ्रता अनवच्छिन्नविचारेण तेन स्वरं गच्छतीति स्वरङ्गो नासादेशगामी तस्य साधु उरीक्रियते स्म प्राणायामप्रवृत्ति. क्रियते स्मेत्यर्थः । मरुतया मरुस्थलरूपेण आश्रिता सम्पत्तिमिच्छता जलाशयरहितवृत्तिना तेन सा धूरी एव रेणुप्राया स्वरङ्गताञ्जलि बिभ्रुता क्रियते स्मेत्यर्थः ।।५४।।

सज्जातरूपक्लृप्तिश्च विटपत्वातिगास्य तु ।
सदारता स्थितिस्त्यक्तदारस्यापि सदध्वनि ।।५५।।

सज्जातेत्यादि—अस्य जयकुमारस्य विटपत्वात् शाखित्वाद् अतिगा दूरवर्तिनी अपि तरूणाम् उपक्लृप्ति: सम्पत्ति. सज्जा शोभितेति विरोधः तस्य परिहार —विटपत्वात् कामित्वाद् अतिगा दूरवर्तिनी निष्कामिता, अत एव सज्जा।तरूपक्लृप्ति: सम्यग् यज्जातरूपं नवजातशिशुस्वरूपं तस्य क्लृप्ति. नग्नरूपता विटपत्वाद् व्यभिचाराद् अतिगा दूरवर्तिनी जाता । त्यक्तदारस्य स्त्रीरहितस्य चास्य सदारता स्त्रीयुक्ततेति विरोध , तस्य परिहार.—सदध्वनि सन्मार्गे सदा सर्वदैव रता तल्लीना स्थितिरिति विक् ।।५५।।

अङ्गता स्वीकृतकी जाती है, अर्थात् जो स्वर्गकी सम्पत्तिकी इच्छा रखता है वह स्वर्गके शरीर-वैक्रियिक शरीरको स्वीकृत करता है ।

अर्थान्तर—पवनसे आश्रित सम्पत्तिकी इच्छा करने वाला तथा शिथिलता रहित आशयसे युक्त मनुष्य अच्छी तरह नासिका-विवरसे निकलने वाले स्वरोको साधनेकी वृत्ति-प्राणायामको स्वीकृत करता है ।

अर्थान्तर—मरुस्थल सम्बन्धी सम्पत्तिका इच्छुक तथा जलाशयरहित वृत्तिको धारण करनेवाला मनुष्य मार्गमे धूलीको ही फाँकता है ।।५४।।

अर्थ—इन जयकुमारके **विटपत्वातिगा**-वृक्षत्वसे दूर **तरूपक्लृप्तिः**-वृक्षोकी सम्पत्ति **सज्जा**-शोभित थी, यह विरोध है, क्योकि जो वृक्षत्वसे रहित है उसके **तरूपसंपत्ति**-वृक्षरूप सम्पत्ति कैसे हो सकती है ? विरोधका परिहार इस प्रकार है कि उनकी **सज्जातरूपसम्पत्तिः**-सद्योजात बालकके समान नग्नरूपता **विटपत्वातिगा**-कामीपन-व्यभिचारसे दूर थी। वे **त्यक्तदार**-थे, स्त्रीके त्यागी थे, फिर भी उनकी **सदारतास्थिति**-स्त्रीसहित जैसी स्थिति थी, यह विरोध है, क्योंकि जो स्त्रीका त्यागी है, उसकी सदार-सस्त्रीक स्थिति कैसे हो सकती है ? विरोधका परिहार इस प्रकार है कि वे **त्यक्तदार थे**-स्त्रीरहित थे और उनकी स्थिति **सदा**-सर्वदा **सदध्वनि**-समीचीन मार्गमे **रता**-लीन थी ।।५५।।

सनस्तेनोपकाराय विधिरङ्गीकृतः सदा ।
भीमयमङ्गतानां च भीमुषेवमिहाद्भुतम् ॥५६॥

सनस्तनेत्यादि—भीमयानां भयभीतानां तेषां मङ्गतानां भिक्षुकाणां भीमुषा भयापहारकेण, येषां यदेव वस्तु तदेवापहारकेण चौरप्रसिद्धत्वात्पुनः स्तेनोपकाराय चौराणां प्रक्रमाय चौर्यप्रेरणाय स प्रसिद्धो विधिः नाङ्गीकृत इति विरोध, तस्मात् भीमश्च यो यमोऽन्तकस्तं गच्छन्तीति तेषां भीमयमङ्गतानां भयकरमृत्युमुखे स्थितानां जन्ममरणवतां नः इत्यस्माकं भीमुषा भयापहारकेण तेन जयकुमारेण अस्माकं संसारिणामुपकाराय स विधिस्तपस्यारूपोऽङ्गीकृत इति ॥५६॥

अग्रे स तस्करयुतिं लेभे नावत्तभागपि ।
न दैवस्यानुमोदाय सदैव गणभृच्च सन् ॥५७॥

अग्र इत्यादि—अदत्तभागपि चौर्यरहितोऽपि स अग्रे तस्कराणां चौराणां संयुतिं संयुतिं लेभे इति विरोधः, तस्मात् सत. गुणविशिष्टस्य नरस्याग्रे करयोर्हस्तयो. युतिं संयोजनां लेभे इत्यर्थः । स दैवगणभृत् पूर्वोपार्जितकर्मवान् सन् दैवस्यानुमोदाय समर्थ-

---

अर्थ—भयभीत भिक्षुकोके भयको हरने वाले जयकुमारने स्तेनोपकाराय चारोका उपकार करनेके लिये उस भयापहरण रूप विधिको सदा स्वीकृत नही किया था, अर्थात् यद्यपि वे भयभीत भिक्षुकोका भय दूर करनेवाले थे, फिर भी चौरोका निराकरण नही करते थे। इस अभिप्रायसे कि चोरीके बिना चोर दु खी हो जायेगे, अतः भिक्षुक सदा भयभीत रहते थे, क्योकि जिसके पास जो वस्तु है उसके लिये वही श्रेष्ठ होती है। यह अद्भुत विरोध है, इसका परिहार इस प्रकार है—**भीमयमं गतानां**-भयकर यम-मृत्युको प्राप्त लोगोके **भीमुषा**-भयका अपहरण करनेवाले तेन जयकुमारेण–उन जयकुमारने–न.–**अस्माकं उपकाराय**–हम सबके उपकारके लिये **स विधिः**–तपस्या रूप उस विधिको अङ्गीकृत किया था ॥५६॥

अर्थ—वे जयकुमार **नावत्तभागपि**–चोरीके त्यागी होकर भी आगे **तस्करयुतिं**–चोरोकी संगतिको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है। कि वे **सतः अग्रे करयुतिं**–सत्पुरुषके आगे हाथ जोड़नेकी क्रियाको प्राप्त थे। तथा **सदैवगणभृत्**–पूर्वोपार्जित कर्मसमूहके धारक होकर भी **दैव**–कर्मकी अनुमोदनाके लिये नहीं थे, अर्थात् **दैव**-भाग्यके समर्थक नही थे, यह विरोध है। परिहार इस

नाय नाभूविति विरोधः, तस्मात् गणभृद् मुनीनां नायकः सन् सदैव सर्वदैव दैवस्य भाग्यवादस्य अनुमोदाय न बभूव, पुरुषार्थकरोऽभूदित्यर्थः ॥५७॥

आत्मवृत्तिरजातत्वभृता गौरविणी कृता ।
तेनाविकृतमित्येवं वृषभावमुपेयुषा ॥५८॥

आत्मेत्यादि—आत्मनि वृत्तिर्यस्या सा स्वभावतत्परा अपि अजा छागी तेन तत्त्वभृता रविणी गौः शब्दयुक्ता धेनुः कृता, अविकृतं मेषसम्पादितं वृषभावं बलीवर्दरूपम् उपेयुषा इति विरोध, तस्य परिहार एवम् अजातत्वभृता पुनर्जन्मग्रहणरहितेन तेनात्म-वृत्ति स्वकीया चेष्टा गौरविणी गौरवशालिनी कृता । अविकृतं स्वाभाविक सहजसम्पन्नं वृषभाव धर्मतत्त्वमुपेयुषा ॥५८॥

पूरणायेत्यथो वाञ्छन् घटकं प्राप्य चात्मनः ।
वनस्थानमभिज्ञोऽभूत् स प्रमोक्षोपसंग्रही ॥५९॥

पूरणायेत्यादि—अथो पूरणाय नगरं कहलाय भवतीति वाञ्छन् पुनः आत्मनः घटक सुखवेदनदायक वनस्थानं वाञ्छन् सोऽभिज्ञो ज्ञानवान् प्रमोक्षोपसंग्रही अभूत् । किञ्च,

---

प्रकार है कि वे **गणभृत्**–मुनिसघके स्वामी होकर भी **सदैव**–सदा **दैव**–भाग्यकी अनुमोदना–समर्थनके लिये नही थे, अर्थात् भाग्यवादी न होकर पुरुषार्थवादी थे। अबुद्धिपूर्वक सिद्ध होने वाले कार्योंको दैवसिद्ध कहते थे और बुद्धिपूर्वक सिद्ध होनेवाले कार्योंका पुरुषार्थसिद्ध मानते थे ॥५७॥

अर्थ—उन तत्त्वज्ञ जयकुमारने आत्मवृत्ति–अपने आपमे स्थिर रहने वाली **अजा**–बकरीको **रविणी गौः**–शब्द करती हुई गाय कर दिया, यह विराध है। परिहार इस प्रकार है कि **अजातत्वभृता**–पुनर्जन्म ग्रहणसे रहित जयकुमारने **आत्मवृत्ति**–अपनी चेष्टाको गौरविणी–गौरवशालिनी कर लिया था तथा **अविकृत**–मेषकृत **वृषभाव**–बलीवर्दपनको प्राप्त हुए जयकुमारने उपर्युक्त कार्य किया था, यह विरोध है, क्योकि मेषके द्वारा बलीवर्दत्व कैसे किया जा सकता है? परिहार इस प्रकार है—**अविकृतं**–विकाररहित–सहज स्वाभाविक **वृष**–धर्मको प्राप्त तथा **अजातत्वभृता**–जन्मरहितत्वसे युक्त जयकुमारने **आत्मवृत्ति**–अपनी चेष्टाको **गौरविणी गौरवयुक्त**–किया था ॥५८॥

अर्थ—**पूः रणाय**–नगर कलहके लिये होता है, अतः वे **ज्ञानी जयकुमार** आत्माके **घटक**–आत्मस्वरूपका अनुभव करनेवाले **वनस्थान**–एकान्त स्थानकी इच्छा करते हुए **मोक्षतत्त्व**को प्राप्त करनेवाले हुए थे।

अर्थान्तर—अभिज्ञ–प्राणायामके ज्ञाता जयकुमार **पूरणक्रिया**–पवनके

स पूरणाय प्राणायामसमये पूरणाख्यकर्मकरणाय वाञ्छन् पुनः घटकं कुम्भकनाम क्रियांच वाञ्छन् ततः पुनः मोक्षस्य रेचननाम कर्मण उपसंग्रही सन् वनस्थानं एकान्त-देशम् अभितः संमुखो ज्ञानी बभूव। तथात्मनो घटकं स्वकीयं कुम्भं जलपात्रं प्राप्य पूरणाय संभरणाय वाञ्छन् सन् वनस्थानं जलप्रदेशमभिसंमुखं स जनः विवेकवान-भूत् ॥५९॥

आत्मानमभ्युपेतः सन् गत्वाहमिति साम्प्रतम् ।
सम्प्राप वर्णनातीतं संवित्तत्त्वं समन्ततः ॥६०॥

आत्मानमित्यादि—अहमिति गत्वा अहंप्रत्ययं समुपेत्य आत्मानमभ्युपेतः सन् वर्णनातीतं वर्णनया रहितं संवित्तत्त्वं संवेदनं साम्प्रतं संप्राप। अथवा आद् अकारात् समारभ्य हमिति हकारपर्यन्तं गत्वा मानमभ्युपेत. सन् जनः साम्प्रतं वर्णैरक्षरैः अतीतं रहितं न भवतीति वर्णनातीत अक्षरात्मक संवित्तत्त्वं सम्यक् पाण्डित्यं समन्ततः संप्रापेत्यर्थ. ॥६०॥

विधोरमृतमासाद्य सन्तापं त्यजतोऽर्कतः ।
पूरणाय प्रभात च सन्ध्यानन्वीक्षितश्रियः ॥६१॥

विधो रित्यादि—विधोः चन्द्रात् नाम वामस्वरात् अमृतं नाम प्राणायामवायु-मासाद्य गृहीत्वा पुनरर्कतः सूर्यनामकदक्षिणस्वरात् संताप रेचनवायु त्यजतस्तस्य वीक्षितेषु वीतरागिषु साधुषु श्रीः शोभा यस्य तस्य जयकुमारस्य प्रभातमेव प्रात.काल

खीचनेकी क्रियाको इच्छा करते हुए तथा **घटक**—पवनको भीतर रोकने वाली कुम्भक क्रियाको चाहते हुए **प्रमोक्ष**—पवनके छोडने रूप रेचक क्रियाको इच्छा करते हुए वनस्थान—एकान्त स्थानके इच्छुक हुए थे।

अर्थान्तर—जैसे कोई पुरुष अपना जलपात्र लेकर उसे भरनेके लिये वन-स्थान—जल प्रदेश—जलाशयकी ओर जाता है उसी प्रकार ॥५९॥

अर्थ—'मैं हूँ' इस प्रकारके अहंप्रत्ययको प्राप्त कर आत्माको प्राप्त हुए जयकुमारने सब ओरसे अवर्णनीय संवित्तत्त्वको इस समय अच्छी तरह प्राप्त किया था। अथवा **आत्**—अकारसे लेकर **हमिति**—गत्वा-ह पर्यन्तके समस्त अक्षरोंके **मान**—प्रमाणको प्राप्त कर **वर्णनातीतं**—अक्षरोंसे सहित **संवित्तत्त्व**—समीचीन पाण्डित्यको प्राप्त किया था ॥६०॥

अर्थ—विधो—चन्द्रनामक वाम स्वरसे **अमृतं**—अमृत नामक प्राणायाम वायुको ग्रहण कर **अर्कतः**—सूर्यनामक दक्षिण स्वरसे **संतापं**—रेचन वायुको

एव सम्यग् ध्यानं संध्यानं पूरणाय बभूव सकलकार्यसिद्धयर्थं जातम्। तथा विधो रात्रिनाथात् अमृतमासाद्य पुनरर्कत सूर्यस्य सकाशाद् दिवसे संतापं त्यजत: नन्दिभि: आनन्दैरीक्षिता श्री: शोभा यस्य तस्य सर्वथैव सुखिन इति पूरणाय अहोरात्रस्य पूर्तिकरणार्थं प्रभातं सूर्योदयपूर्वकाल: सन्ध्या सूर्यास्तमनवेला च बभूव ॥६१॥

सावश्यकोऽपि गुप्तिस्थस्त्यक्तर्द्धिश्च महर्द्धिकः।
मनःपर्ययसंरोधी मनःपर्ययमाप्तवान् ॥६२॥

सावश्यक इत्यादि—अवश्य' स्वैरचारी क आत्मा तेन सहित सावश्यकः स्वतन्त्रः अपि पुन' गुप्तिस्थ. कारानिबद्ध इति विरोधः, तस्माद् आवश्यकैः वन्दनाप्रतिक्रमणादिषट्कर्मभिः सहितः सन् गुप्तिस्थः मनोवाक्कायसगोपक आसीत् इत्यर्थः। एवं त्यक्ता ऋद्धयो धनधान्यादिगृहस्थोचितसम्पत्तयो येन स त्यक्तर्द्धिश्च महर्द्धिक धनसम्पत्तिशाली इति विरोधस्तस्माद् महर्द्धिकोऽणिमादिशाली इत्यर्थः। मनस:पर्ययसरोधी चित्तभ्रमनिरोधकरः सन्नपि मन पर्ययं मनसो विभ्रमणमाप्तवान् इति विरोधस्तस्मान्मनःपर्ययज्ञानं जिनागमोक्तं चतुर्थं दिव्यज्ञानमाप्तवानित्यर्थः ॥६२॥

छोडने वाले तथा **दीक्षितश्रियः**—साधुओमें शोभा सम्पन्न जयकुमारका प्रातःकाल सन्ध्यानं—समीचीन ध्यानकी पूर्तिके लिये हुआ था, अर्थात् समस्त कार्योंकी सिद्धि के लिये हुआ था।

अर्थान्तर—रात्रिमे **विधु**—चन्द्रमासे अमृत लेकर दिनमे सूर्यसे सतापको छोड़नेवाले तथा **नन्दी**—आनन्द युक्त जनोके द्वारा जिनकी शोभा ईक्षित—अवलोकित है, ऐसे जयकुमारके प्रभात और सन्ध्या दिनरातको पूर्ण करनेके लिये होते थे। अर्थात् जब जयकुमार मुनि ध्यानारूढ होते थे तब रात्रिमे चन्द्रमा उनके शरीरको शीतलता और दिनमे सूर्य संताप पहुँचाता था, प्रातःकाल और सन्ध्याकाल क्रमशः निकलते जाते थे ॥६१॥

अर्थ—जयकुमार **सावश्यक**—स्वतन्त्र होकर भी **गुप्तिस्थ थे**—कारागारमे स्थित थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकोसे सहित होकर मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंमे स्थित थे। इसी प्रकार **त्यक्तर्द्धि**—गृहस्थोचित धनधान्यादि सम्पत्तियोंके त्यागी होकर भी **महर्द्धिक**—बहुत भारी सम्पत्तिसे सहित थे, यह विरोध है। परिहार यह है कि वे **महर्द्धिक**—अणिमा, मर्महिमा आदि ऋद्धियोंसे सहित थे। तथा **मनःपर्ययसंरोधी**—चित्तभ्रमणके निरोधक होकर भी **मनःपर्यय**—चित्तभ्रमणको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार यह है कि **मनःपर्यय**—नामक चतुर्थ ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥६२॥

स निर्ग्रन्थोऽपि सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तरः ।
गणितामाप देवस्य गणितातीतसद्गुणः ॥६३॥

स निर्ग्रन्थ इत्यादि—निर्ग्रन्थ. परिग्रहरहितोऽपि सन् सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तर. सकलपरिग्रहवानिति विरोधः । तस्मात् निखिलानां ग्रन्थानां सूत्रकृताङ्गादीनां महाशास्त्राणां विस्तरं प्रणयनं कृतवानित्यर्थः । एवं गणितायाः गणनायकत्वात् अतीत. रहितः सद्गुणो यस्य स देवस्य श्रीवृषभस्य नाम तीर्थंकरस्य गणितां गणधरत्वमापेति विरोधस्तस्माद् गणिताद् गणनातोऽतीता नि.संख्याता· सन्तः क्षमामार्दवादयो यस्य स इत्यर्थ· ॥६३॥

सुदयानवलोऽप्यत्र न दयानवलोऽङ्गिनाम् ।
अलीकविप्रियोऽप्येष रेजे नालीकविप्रियः ॥६४॥

सुदयेत्यादि—सुदयायां प्रशस्तायामनुकम्पायां नवलो नवीनताधारको नित्यनवोत्साहसहितोऽपि सन् न दयानवलोऽसाविति विरोधस्तस्मात् अङ्गिनां संसारिणां नदयानस्य नौकाया बल सामर्थ्यं यस्मिन् स नदयानबलो भवसमुद्रतारक इत्यर्थ । अलीकस्य मिथ्याभाषणस्य विप्रिय. परिहारकोऽपि सत्यवक्तापि सन् नालीकविप्रिय. अलीकस्य विरोधी नासीविति विरोधस्तस्मात् नालीकाना मूर्खाणां विप्रिय इति । 'नालीकः पिण्डजे प्याज्ञे' इति विश्वलोचने ॥६४॥

तपःश्रियाश्रितोऽप्येष जगदातपवारणः ।
निस्तृणोऽपि सदैवासीदमृताप्तिपरायणः ॥६५॥

अर्थ—वे जयकुमार **निर्ग्रन्थ**-परिग्रहसे रहित होकर भी **सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तर**-समस्त परिग्रहोके विस्तारको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि समस्त शास्त्रोके विस्तारको प्राप्त थे। तथा **गणितातीतसद्गुणः**-गणधर पदसे रहित समीचीन गुणोसे युक्त होकर भी श्री वृषभदेवके **गणितां**-गणधर पदको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि गणनासे रहित समीचीन गुणोसे सहित थे ॥६३॥

अर्थ—वे जयकुमार **सुदयानवल**-प्रशस्त दयामे नवीनताके धारक होकर भी **नदयानवलः**-प्रशस्त दयामे नवीनताके धारक नही थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **अङ्गिनां नदयानबलः**-ससारी प्राणियोंके लिये नौकाकी सामर्थ्यसे सहित थे तथा **अलीकविप्रिय**-मिथ्याभाषणके विरोधी होकर भी **नालीकविप्रिय.**-मिथ्याभाषणके विरोधी नही थे, यह विरोध है। परिहार यह है कि वे **नालीकविप्रियः**-मूर्खोंके विरोधी थे ॥६४॥

तप इत्यादि—तपसः आतपस्य धर्मेण. श्रिया श्रितोऽपि युक्तोऽपि सन्नेव जगतां आतपवारणो घर्मनिवारक इति विरोधस्तस्मात् तपसामनशनादीनां श्रिया श्रितः सन् जगतामातपवारणः सन्तापनिवारकोऽभूत्, शान्तिकारक आसीदित्यर्थः। निस्तृष्णः पिपासा-रहितोऽपि अमृतस्य जलस्याप्तौ पाने परायण इति विरोधस्तस्मात् निस्तृष्णः नैराश्य-मवलम्बित सन् अमृतस्य मोक्षस्याप्तौ परायण आसीदित्यर्थः ॥६५॥

द्वादशात्मतपनक्रमं विदन्नष्टविंशभगुणादरी तराम्।
संव्रजन् जगति तारकाशयं प्राप्तवानिति दिगम्बरप्रभाम् ॥६६॥

द्वादशात्मेत्यादि—द्वादशात्मनः तपनस्यानुष्ठानस्य पक्षे सूर्यस्य क्रम विदन् जानन् अष्टविंशभानां गुणानामादरी मूलगुणधारकः सन् पक्षेऽष्टविंशभाना नक्षत्राणां गुणेष्वा-दरी, एव जगति तारकाशयं तारणरूपतां पक्षे तारकाणामुडूनामाशयमाकाश संव्रजन् एव दिगम्बरस्य साधो प्रभामाप्तवान् पक्षे दिशामम्बरस्य च प्रभां स्पष्टीकरणमाप्त-वानिति ॥६६॥

स्वष्टदलं कमलं मलयन्तीं कौमुदमुत्कलमाकलयन्तीम्।
वृत्तिमवन् क्षणदां स्वकलाभिः सोऽभिरराज सुधांशुसनाभिः ॥६७॥

स्वष्टदलमित्यादि—सुष्ठु अष्टदलानि यस्य तत् स्वष्टदल च तत् कस्यात्मनो मलं

अर्थ—वे जयकुमार **तपःश्रियाश्रितोऽपि**—घामकी शोभासे सहित होकर भी **जगदातपवारण**—जगत्‌का घाम दूर करनेवाले थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि अनशनादि तपोंकी लक्ष्मीसे सहित होकर जगत्‌के संतापको दूर करनेवाले थे और **निस्तृष्ण**—प्याससे रहित होकर भी **अमृताप्तिपरायण**—जल-की प्राप्तिमे तत्पर थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि विषयतृष्णासे रहित होकर **अमृत**—मोक्षकी प्राप्तिमे तत्पर थे ॥६५॥

अर्थ—बारह प्रकारके तपके क्रमको जाननेवाले तथा अट्ठाईस गुणोमे अत्यधिक आदरसे युक्त जयकुमार ससारमे तारक–पार करनेवाले आशयको प्राप्त होते हुए दिगम्बर साधुकी प्रभाको प्राप्त हुए थे।

अर्थान्तर—बारह सूर्योंके क्रमको जाननेवाला अट्ठाईस नक्षत्रोंके गुणो–फला-फलमे अत्यधिक आदरसे युक्त सूर्य जगत्‌मे आकाशमे गमन करता हुआ दिशाओं और आकाशके स्पष्टीकरणको प्राप्त हुआ था ॥६६॥

अर्थ—**अष्टदलं**–ज्ञानावरणादि आठ भेद वाले **कमलं**–आत्माके मलस्वरूप कर्मको जो **मलयन्ती**–नष्ट करती है (पक्षमें आठ कलिकाओंसे युक्त कमलको

दुरिताख्यं पक्षे दिनविकासिजलजं मलयन्तीं परिहरन्तीं कौ धरायां मुदं हर्षं उत्कलं यथा स्यात्तथा आकलयन्तीं वर्द्धयन्तीं पक्षे कुमुदानां समूहं विकासयन्तीं वृत्ति क्षणदामुत्सव-दायिनीं पक्षे रात्रिं अवन् प्रतिपालयन् स सुधांशुसनाभि चन्द्रसमानोऽभिरराज शुशुभे ॥६७॥

सकलं सकलङ्कमात्मनोऽपहरन् मानहरो हरद्विषः ।
समवाक् समवाप योगिभिः प्रतिपत्तिं प्रतिपत्तितिक्षितः ॥६८॥

सकलमित्यादि—हरद्विषः कामदेवस्य मानहर पराजयकारक प्रतिपदा भेदवि-ज्ञानदृष्ट्या तितिक्षितः स्वीकृतः स समवाक् इष्टानिष्टयोस्तुल्यवचन. सन् आत्मनः सकलं कलङ्कं दोषसमूह अपहरन् योगिभि साधुजनैः प्रतिपत्तिं विश्वासयोग्यतां समवाप प्राप्तवान् इत्यर्थं ॥६८॥

चक्रिस्त्रीन्दुसुभद्रयार्पितसमावेशा सुशेषावती
ब्राह्मीदेशितमेषित सुमतिभिस्तप्त्वा समुग्रं सती ।
दोषायात्र कलत्रतेति किल संसिद्धेः समृद्धयेकभूः
सविघ्नच्युतमच्युतेन्द्रविभवं सल्लोचना चान्वभूत् ॥६९॥

चक्रीत्यादि—सती सल्लोचना च पुन. चक्रिण. स्त्रीषु इन्दुरूपा सर्वप्रधाना या सुभद्रा नाम पट्टराज्ञी तया अर्पित· समावेशः प्रशंसनीयमाज्ञापनं यस्यै सा सुशेषावती शुभाशीर्धारिणी, ब्राह्मी नामार्या तया देशितं सुमतिभिर्बुद्धिमद्भिः एषितं प्रशस्तं समुग्रं

म्लान करती है) जो **कौ मुदं**–पृथिवीपर हर्षको अत्यधिक मात्रामे बढाती है (पक्ष मे कुमुदसमूहको अच्छी तरह विकसित करती है) तथा **क्षणदा**-उत्सवको देने वाली है, ऐसी अपनी वृत्ति–प्रवृत्तिकी (पक्षमे रात्रिकी) स्वकीय कलाओंमें अवन्–रक्षा करनेवाले वे जयकुमार चन्द्रमाके समान अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥६७॥

अर्थ—जो आत्माके समस्त दोषसमूहको दूर कर रहे हैं, जो कामदेवके अहकारको नष्ट करनेवाले है, जो इष्ट-अनिष्टके प्रसङ्गमे समभाषी है तथा तितिक्षा–क्षमा गुणसे युक्त हैं अथवा प्रतिपत्तितिक्षित·—भेदविज्ञानकी दृष्टिसे स्वीकृत हैं, ऐसे वे जयकुमार मुनि योगियोंके द्वारा प्रतिपद्–पद पदपर प्रतिपत्ति–सन्मानको अथवा विश्वास योग्यताको प्राप्त हुए थे ॥६८॥

अर्थ—चक्रवर्तीकी पट्टराज्ञी सुभद्राने जिसे तप करनेकी आज्ञा दी थी तथा जो वृद्धजनोके आशीर्वादसे सहित थी, ऐसी सती सुलोचनाने ब्राह्मी–आर्याके द्वारा उपदिष्ट तथा योगीजनोंके द्वारा अभिलषित उग्र तप कर विघ्नरहित अच्युतेन्द्रके

तपस्तप्त्वा अत्र लोके कलत्रतेयं स्त्रीपर्यायधारिता दोषायेति मत्वा किल संसिद्धेः सफलतायाः समृद्धेः सम्पाया एका प्रसिद्धा चासौ भूःस्थानं सती संविघ्नैः च्युतं रहितं अच्युतेन्द्रस्य षोडशस्वर्गपते. विभवं अन्वभूत् प्राप्तवतीति ॥६९॥

तज्जन्मोत्थितमित्थमुन्मदसुखं लब्ध्वा यथापाकलि
　　पश्चात्सम्प्रति जम्पती अदमतामेवं हृदा चारुणा ।
पञ्चाक्षाणि निजानि निर्मदतया तद्वृत्तमत्युत्तमं
　　मङ्क्षूद्गीतमिहोपवीतपदकैरित्युत्तृणाङ्कं मम ॥७०॥

(तपः परिणामश्चक्रबन्धः)

तज्जन्मेत्यादि—इत्थ प्रबन्धोक्तरूपेण वर्णितं यथापाकलि यथाभाग्यविपाकं 'नवपाके तु पाकलो' इति विश्वलोचने। नित्यनूतनभाग्योदयजातम्, उन्मद च तत्सुखं च मदरहितं सुखं लब्ध्वा चारुणा हृदा सरलेव हृदयेन पश्चात् तौ जम्पती सुलोचना-जयकुमारौ मङ्क्षु शीघ्रमेव निजानि पञ्चाक्षाणि इन्द्रियाणि अदमतां जितवन्तौ। निर्मदया तयोर्वृत्तं चरितमिदमत्युत्तमं चतुर्वर्गपूरणं इह सम्प्रति पवित्रैरेव पदकैरुपवीतिक्रियामिवगतैरमन्यजातैः उत्तृणाः तृणे दोषैः रहिता अङ्का सर्गा यस्मिन् तदिदं उत्तृणाङ्कं निर्मितम् ॥७०॥

प्रशस्तिः

यं पूर्वजमहं वन्दे स वृषोत्तमपादपः ।
एतदीयोपयोगायेयं सम्पल्लवता मम ॥७१॥

यमित्यादि—यं यकारं पूर्वे जकारो यस्य तं जकारसहितं यकारं जयमित्यर्थः,

---

विभवका अनुभव किया, अर्थात् सोलहवे स्वर्गमे इन्द्रका वैभव प्राप्त किया। यतश्च लोकमे स्त्रीपर्यायका धारण करना दोषके लिये माना गया है, अत वह निर्वाणको प्राप्त नही कर सकी, किन्तु सासारिक समृद्धिकी अद्वितीय स्थान अवश्य हुई ॥६९॥

अर्थ—इस प्रकार भाग्योदयके अनुसार सासारिक उत्तम सुख प्राप्त कर जिस दम्पतीने सरल हृदयसे अपनी पाचो इन्द्रियोका दमन किया था, उस दम्पती—जयकुमार और सुलोचनाका यह उत्तम चरित मैने यहाँ मद-रहित हो संस्कारित पदोसे शीघ्र ही प्रकट किया है। मेरा यह काव्य उत्तृणाङ्क—निर्दोष रहे, यह भावना है ॥७०॥

अर्थ—मैं जिसके पूर्वमे 'ज' है, ऐसे 'य' अर्थात् जयकुमारको नमस्कार करता हूँ, क्योकि वे धर्मके उत्तम वृक्ष थे। इन्हीके उपयोगके लिये, अर्थात्

वन्दे, स जयकुमारमुनिः वृषस्य धर्मस्योत्तमः पावप. वृक्ष इवाभूत् । ततः एतदीयस्योपयोगाय ममेयं सम्यक् पदानां वाक्यसमूहानां लवा यत्र तस्य भावस्तत्ता सम्पल्लवता जाता अथवा यं पूर्वजं प्राग्जातं गुरुवर्गं वन्देऽहम् । स वृषस्य उत्तमं पादं पालयतीति वृषोत्तमपादपः प्रशस्तधर्माचरणवान् बभूव । इयं च मम सम्पल्लवता यत्किञ्चित्सम्पत्तिसंग्रहणभूतता सा समीचीनशब्दग्राहकता एतदीयोपयोगायैव भवति ।।७१।।

इतीयं कविताबल्ली भूयः पल्लविता रसैः ।
त्रिवर्गं सन्निपातघ्नं फलताद् बलतां सताम् ।।७२।।

इतीयमित्यादि—इत्युक्तप्रकारेण इयं कवितावल्ली रसै शृङ्गारादिभि. जलैर्वा भूय पल्लविता पल्लवान् नीता सती बलतां प्रयत्नवतां सतां सभ्यानां सन्निपातं पतनं यद्वा त्रिदोषव्याधिं हन्तीति सन्निपातघ्नं त्रिवर्गं धर्मार्थकामरूपं यद्वा शुण्ठीमरिचपिप्पलीरूप फलतात् ।।७२।।

अहो काव्यरसः श्रीमान् यदस्य पृषता व्रजेत् ।
दुर्वर्णतां दुर्जनस्य मुखं साधोः सुवर्णताम् ।।७३।।

अहो इत्यादि—काव्यरस. श्रीमान् यत् यस्माद् कारणाद् अस्य पृषता बिन्दुनैव पदलेशेनापि दुर्जनस्य मुख दुर्वर्णता निन्दापरताम उत रजततां व्रजेत् सेर्ष्यविस्मयभावेन पाण्डुतां गच्छेत्, किन्तु साधोर्मुख सुवर्णतां प्रशंसापरत्वेनाह्लादरूपता तथा हेमभाव व्रजेत् ।।७३।।

इन्हीका चरित वर्णन करनेके लिये मेरा यह समीचीन पदोका प्रयोग है । अथवा मैं उन पूर्ववर्ती गुरुवर्गको प्रणाम करता हूँ, जो धर्मसम्बन्धी उत्तम आचरणका पालन करता था। मेरी यह शब्दरूप सम्पत्ति इन्हीके उपयोगके लिये है ।।७१।।

अर्थ—इस प्रकार रस-शृङ्गारादि रस अथवा जलके द्वारा जो पुनः पल्लवित हुई है, ऐसी यह कविता रूपी लता प्रयत्नशील सत्पुरुषोके सन्निपात-पतन अथवा त्रिदोषज ज्वरको नष्ट करने वाले त्रिवर्ग-धर्म अर्थ और काम, अथवा सोठ, मिर्च और पोपल रूप त्रिवर्गको पा ले ।।७२।।

अर्थ—काव्यरूपी रस आश्चर्यकारी है, क्योकि इसकी बूंद (पक्षमे पदमात्र) से हो दुर्जनका मुख दुर्वर्णता-निन्दातत्परता अथवा रजतरूपताको प्राप्त हो जाता है, क्योकि ईर्ष्यापूर्ण आश्चर्यसे मुख सफेद हो जाता है, अथवा दुर्वर्णता-कुत्सितरूपताको प्राप्त हो जाता है और सज्जनका मुख सुवर्णता-प्रशसा तत्परता अथवा सुवर्णभाव अथवा हर्षजन्य सौरूप्यको प्राप्त हो जाता है ।।७३।।

कथाप्यवितथाजीयादात्मकल्याणकारिणी ।
परिक्लेशकरी वार्ता भूरिभिः क्रियते जनैः ॥७४॥

कथेत्यादि—कस्य आत्मन थं मङ्गलं यत्र सा कथा, सा आत्मकल्याणकारिणी अत एव अवितथा सत्यरूपा सा जीयात्, किन्तु या वार्ता सा व्यर्थात एव परिक्लेशकरी, ~ा तु भूरिभि जनैः सर्वसाधारणैरपि क्रियते ॥७४॥

गुरोरनुग्रहः सेतुः स हेतुर्मे तु जायते ।
प्रबन्धवारिधेः पारं गतो येनास्मि हेलया ॥७५॥

गुरोरित्यादि—स्पष्टमिदम् ॥७५॥

प्रसादात् पूज्यपादानां शब्दार्णवमयं गतः ।
लघुप्रक्रियया ख्यातो यातु किं गुणनन्दिताम् ॥७६॥

प्रसादेत्यादि—पूज्यपादानां गुरूणां पक्षे देवनन्दिनामाचार्याणां प्रसादात् शब्दार्णवं शब्दसमुद्र तन्नामकं व्याकरण वा गतः अयं प्रबन्धः स लघुप्रक्रियया स्वल्पविस्तारतया पक्षे तद्व्याकरणस्य लघुप्रक्रियया नामटीकया ख्यात स गुणैः नन्दि आनन्दो यत्र ता पक्षे गुणनन्दिनामधारितां यातु प्राप्नोतु । किमिति प्रश्ने ॥७६॥

इहोक्तवृत्तरत्नानां परीक्षामुखतां दधत् ।
माणिक्यनन्दितामेतु योऽकलङ्कधियं गतः ॥७७॥

इहोक्तेत्यादि—इह अकलङ्का निर्दोषां धियं गतः पक्षे अकलङ्कस्याचार्यस्य सिद्धान्तं

अर्थ—वह सत्यकथा जयवत रहे, जो कि आत्माका कल्याण करने वाली होती है । क्लेशको उत्पन्न करने वाली वार्ता तो सर्वसाधारण अनेक जनोके द्वाराकी जाती है, उसकी कोई प्रतिष्ठा नही है ॥७४॥

अर्थ—गुरुका अनुग्रह एक पुल है । वह मेरे लिये हेतु स्वरूप है, क्योंकि जिसके द्वारा मै अनायाम ही प्रबन्धरूपी समुद्रके पारको प्राप्त कर सका हूँ ॥७५॥

अर्थ—पूज्यपाद गुरुओ (पक्षमे देवनन्दि आचार्य) के प्रसादसे यह प्रबन्ध **शब्दार्णव**-शब्दोके सागर अथवा शब्दार्णव नामक व्याकरण शास्त्रको प्राप्त हुआ तथा लघुप्रक्रिया-स्वल्पविस्तारसे अथवा एतन्नामक टीकासे प्रसिद्ध वह व्याकरण ग्रन्थ **गुणनन्दितां**-गुणोसे होनेवाले आनन्दसे युक्त अथवा गुणनन्दि नामको क्या प्राप्त हो ? अवश्य हो ॥७६॥

अर्थ—जो **अकलङ्कधियं गतः**-निर्दोष बुद्धिको प्राप्त थे (पक्षमे अकलङ्क आचार्यके सिद्धान्तके ज्ञाता थे) तथा जो इस जगत्मे कहे गये **वृत्तरत्नानां**-छन्द-

ज्ञातवान्, स इह उक्तानां वृत्तरत्नानां छन्दोमणीनां परीक्षा मुखे यस्य तत्तां दधन् माणिक्यनन्दितां रत्नपरीक्षकतां पक्षे परीक्षामुखनामग्रन्थरचनां कुर्वन् माणिक्यनन्दि-आचार्यनामतां यातु ॥७७॥

पूर्वजानां सतां सूक्तं समाराध्यापि सूत्थिता ।
मदीयोक्तिर्न किं स्वाद्या गुडाज्जातेव शर्करा ॥७८॥

पूर्वजानामित्यादि—मदीया चासावुक्तिश्च सा पूर्वजानां सतां सूक्तं प्राचीनसाहित्यं समाराध्य पठित्वापि सूत्थिता लब्धजन्मा यद्यपि, तथापि न किं स्वाद्या अपितु स्वाद्यैव यथा गुडाज्जाता शर्करा ॥७८॥

नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीममूनि चेच्छ्रीकवितां श्रयन्ति ।
सुधामपि प्रार्थयितुं व्रजन्ति पुनर्नभोगाश्रयिणीं जगन्ति ॥७९॥

नवक्रमित्यादि—अमूनि जगन्ति कवितां श्रयन्ति चेत् कीदृशी कवितां श्रयन्ति चेत् ? नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीं नवश्चासौ क्रमश्च यस्मिन् तम् अथवा नवकं सरलं आनन्दं उदाहरन्तीं स्वीकुर्वन्ती एतादृशीं कविता श्रयन्ति स्वीकुर्वन्ति चेत् पुनर्नभोगाना देवाना माश्रयो यत्र भवति तां नभोगाश्रयिणीं यद्वा भोगवर्जितां सुधामपि प्रार्थयितुं व्रजन्ति, किन्तु न व्रजन्ति, अपिशब्दस्य प्रश्नवाचकत्वात् ॥७९॥

घटिका घटिकार्थस्य समयः समयोऽसकौ ।
परवाणिः परवाणिर्भास्करो भास्करोऽप्यहो ॥८०॥

रूपी रत्नोकी परीक्षकताको धारण करते थे (पक्षमे परीक्षामुख नामक न्यायशास्त्र के प्रणेता थे) वे **माणिक्यनन्दिता**–रत्नपरीक्षकता (पक्षमे एतन्नामक आचार्यपद) को प्राप्त हो ॥७७॥

अर्थ—यद्यपि मेरी उक्ति पूर्ववर्ती सत्पुरुषोके सुभाषित–प्राचीन साहित्यकी आराधना कर उत्पन्न हुई है, प्रकट हुई है, तथापि यह क्या गुडमे उत्पन्न शर्करा-के समान आस्वादनीय नहीं है ? अवश्य है ॥७८॥

अर्थ—यदि ये जगत्के जीव श्रीकविताको सेवा करते हैं, तो कैसी कविताकी सेवा करते है ? उत्तर है कि **नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीं**–नवीन क्रमसे सहित अथवा सरल आनन्दको जो प्रकट कर रही हो। जगत्के लोग उस सुधाको भी प्राप्त नहीं करना चाहते, जो कि **नभोगाश्रयिणी** है–आकाशगामी देवोका आश्रय करती है यद्वा भोगोका आश्रय नही करती है ॥७९॥

घटिकेत्यादि—इह समयः क्षण एव समयः सम्यग् विधिकरः, घटिका च अर्थस्य घटिका सगठनकर्त्री, भास्करो विनोदयकरः सूर्य एव भास्कर. प्रतिभादायकः, परवाणिः संवत्सर. एव परवाणि धर्माध्यक्षः औचित्यकर इति ॥८०॥

अजीजनत् कृति त्वेनां शेमुषी महिषीव मे ।
पालयन्तु पुनः पुण्या धात्रीकल्पा धियः सताम् ॥८१॥

अजीजनदित्यादि—मे शेमुषी बुद्धि महिषीव पट्टराज्ञीव या तु एनां कृतिं कवितां अजीजनत् उत्पादयामास । पुनः सतां सज्जनानां धियो बुद्धयो याः पुण्या धात्रीकल्पास्ताः पवित्रा मातृतुल्याः ता एनां कृतिं पालयन्तु ॥८१॥

कवितायाः कविः कर्ता रसिकः कोविदः पुनः ।
रमणी रमणीयत्वं पतिर्जानाति नो पिता ॥८२॥

कविताया इत्यादि—कवि कवितायाः कर्ता जनको भवति । रसिकश्च तदास्वादकश्च पुन कोविद बुद्धिमान् जनो भवति । यथा रमण्या सुन्दर्या. रमणीयत्व मनोहरत्वं पतिरेव जानाति नो पुन. पिता ॥८२॥

सालंकारा सुवर्णा च सरसा चानुगामिनी ।
कामिनीव कृतिर्लोके कस्य नो कामसिद्धये ॥८३॥

सालंकारेत्यादि—अलंकारै. उपमादिभि नूपुरादिभिर्वा शोभना वर्णा अक्षरा यस्याः सा सुवर्णा पक्षे प्रशस्तरूपवती, सरसा नवरसयुता, अनुगामिनी शास्त्रानुसारिणी पक्षे आज्ञा-

---

अर्थ—इस जगत् अथवा काव्य रचनामे **समय**-क्षण ही **समय** है-कार्यकी विधिको करनेवाला है। **घटिका**-घड़ी ही अर्थ-कार्यकी **घटिका**-सम्पन्न करने वाली है, **भास्कर**-सूर्य ही **भास्कर**-प्रतिभाको करनेवाला है और **परवाणि**-सवत्सर ही **परवाणि**-धर्माध्यक्ष अथवा उचितता योग्य कार्यको करने वाला है ॥८०॥

अर्थ—पट्टरानीकी तरह मेरी बुद्धिने इस कृतिको जन्म दिया है। अब धायोंके समान सत्पुरुषोंकी बुद्धियाँ इसका पालन करें ॥८१॥

अर्थ—कवि कविताका कर्ता रचयिता होता है, पर उसका रसानुभव विद्वान् ही करता है। जैसे स्त्रीके सौन्दर्यको पति जानता है, पिता नहीं ॥८२॥

अर्थ—सालंकारा उपमा-रूपकादि अलकारोसे सहित (पक्षमे कटक-कुण्डलादि आभूषणोसे सहित) सुवर्णा-प्रशस्त अक्षरोसे सहित (पक्षमे सुरूपवती) सरसा-श्रृङ्गारादि रसोसे सहित (पक्षमे स्नेहवती) और अनुगामिनी-शास्त्रानुसारिणी

कारिणी, इयं मे कृति कामिनीव कस्य कामसिद्धये कामस्य वाञ्छितस्य पक्षे तृतीयपुरुषार्थस्य सिद्धये पूर्त्यर्थं न स्यात्, अपितु स्यादेव ॥८३॥

सद्वृत्तकुसुममाला सुरभिकथाधारिणी महत्येषा ।
पुरुषोत्तमैः सुरागात् सततं कण्ठीकृता भातु ॥८४॥

सद्वृत्तेत्यादि—एषा मे कृति सद्वृत्तानामेव कुसुमानां छन्द पुष्पाणां पक्षे वर्तुलाकारपुष्पाणां माला, या सुरभि कथां मनोहरा वार्तां पक्षे सुरभे सुगन्धस्य कथा धरतीति सा, अत एव महती पूज्या, तस्मात् पुरुषोत्तमै सज्जनै सुरागात् स्नेहात् संगीताद् वा सतत निरन्तरमेव कण्ठीकृता कण्ठस्थीकृता, कण्ठे धृता च भातु राजताम् ॥८४॥

यदालोकनतः सद्यः सरलं तरलं तराम् ।
रसिकस्य मनो भूयात् कविता वनितेव सा ॥८५॥

यदेत्यादि—स्पष्टम् ॥८५॥

सदुक्तिमपि गृह्णाति प्राज्ञो नाज्ञो जनः पुनः ।
किमकूपारवत् कूपं वर्द्धयेद्विधुदीधितिः ॥८६॥

सदूक्तिरित्यादि—स्पष्टमिदम् ॥८६॥

कवयो जिनसेनाद्याः कवयो वयमप्यहो ।
कौस्तुभोऽपि मणिर्यद्वन्मणिः काचोऽपि नामतः ॥८७॥

कवय इत्यादि—स्पष्टमिदम् ॥८७॥

(पक्षमे मेरी यह कृति-रचना, स्त्रीकी तरह लोकमे किसके काम-मनोरथ (पक्षमें काम पुरुषार्थ) की सिद्धिके लिये नही है, अर्थात् सभीके है ॥८३॥

अर्थ—जो मनोहर कथाको धारण करने वाली है (पक्षमे सुगन्धको चर्चासे सहित है) महती-श्रेष्ठ अथवा पूज्य है ऐसी यह सद्वृत्तकुसुममाला-उत्तम छन्दरूपी पुष्पोकी माला (पक्षमे गोल गोल फूलोकी माला सुराग-स्नेह अथवा सगीतसे सज्जनो द्वारा कण्ठस्थकी गई (पक्षमे गलेमे पहिनी गई) निरन्तर सुशोभित हो। अर्थात् विद्वानोके बीच इसका पठन-पाठन होता रहे ॥८४॥

अर्थ—जिसके देखनेसे रसिक मनुष्यका सरल मन अत्यन्त चञ्चल हो जाता है, वह कविता वनिता-स्त्रीके समान है ॥८५॥

अर्थ—समीचीन उक्तिको भी बुद्धिमान् मनुष्य ही ग्रहण करता है, अज्ञानी नही। क्या चन्द्रमाकी किरण समुद्रकी तरह कूपको भी बढाती है ? अर्थात् नही ॥८६॥

अर्थ—जिनसेन आदि कवि हैं और आश्चर्य है कि हम भी कवि है, परन्तु उस प्रकार, जिस प्रकार कि कौस्तुभमणि है और काच भी मणि है ॥८७॥

विशेषयन् कथाभागं कविः कश्चित् कलागुणैः ।
पिबन्तः पर्वतापायं कपयोऽन्ये सहस्रशः ॥८८॥

विशेषयन्नित्यादि—कथाभागं विशेषयन् सरसतया जनसाधारणस्य उपयोगितया वालकुर्वन् स्वस्य कलागुणै चातुर्यादिभि कश्चिदेव कविर्भवितुमर्हति । पर्वण सर्गस्य भावः पर्वता तस्यापायो विच्छेद तं पक्षे पर्वतस्य गिरेरपाय विकारं पिबन्तोऽन्ये सहस्रशः कपयो वानरा इव चाञ्चल्यमिता सन्ति मादृशा इति ॥८८॥

लोके समन्तभद्रोऽसौ प्रबन्धो जयताच्चिरम् ।
सम्भवन्नकलङ्कश्च विद्यानन्दः शिवायनः ॥८९॥

लोक इत्यादि—समन्तभद्रः समन्ताद् भद्र· सुगमनयार्थदायक· प्रबन्ध समन्तभद्र-नामक आचार्यश्च, अकलङ्क. कलङ्करहितो निर्दोष पक्षेऽकलङ्कनामाचार्यस्य, विद्याया आनन्दो यस्मिन् स पक्षे तन्नामक आचार्यः, न अस्माक शिवाय कल्याणाय पक्षे शिवायन-नामाचार्यश्च सम्भवन् चिर जयतात् ॥८९॥

महापुराण मधुरं विलोड्य क्षीरवन्मया ।
नवनीतमिवारब्धं प्रीत्यै भूयात् सतामिदम् ॥९०॥

स्पष्टमिदम् ॥९०॥

अर्थ—अपने चातुर्य आदि गुणोके द्वारा कथाभागको विशिष्ट करता हुआ कोई विरला ही कवि होता है, किन्तु पर्वतापाय-सर्ग समाप्तिका अनुभव करने वाले, अर्थात् एक के बाद एक अनेक सर्गोंकी रचना करने वाले (पक्षमे पर्वतके विकार-पर्वतसे नि.सृत निर्झरोका पान करनेवाले वानरोके समान चञ्चलतासे युक्त मेरे समान हजारो कवि हैं ॥८८॥

अर्थ—लोकमे यह प्रबन्ध जयोदयकाव्य) **समन्तभद्र**-सब ओरसे कल्याण कारक (पक्षमे समन्तभद्राचार्य) **अकलङ्क**-निर्दोष (पक्षमे अकलङ्क नामक आचार्य और **विद्यानन्द**-ज्ञानगरिमासे आनन्द देने वाला (पक्षमे विद्यानन्द आचार्य) होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहे-पठन पाठनमे आता रहे तथा **न· शिवाय**-हम सबके कल्याणके लिये हो (पक्षमे शिवायन आचार्य हो) ॥८९॥

अर्थ—मैने दूधकी तरह मनोहर महापुराणका विलोडन कर नवनीत-मक्खनके समान इस काव्यकी रचना की है। यह सज्जनोंकी प्रीतिके लिये हो ॥९०॥

गुणविगुणविदं तु त्रागपि ख्यापयन्तु
विशदिमविशदंशा पेयताङ्केऽत्र हंसाः ।
अशुचिपदकतुष्टा आत्मघोषाः सुदुष्टाः
किमिव नहि वराकाः काकुमायान्तु काकाः ॥९१॥

गुणेत्यादि—विशदिम्नि स्वच्छतायां विशन्त अंशा स्वभावा येषां ते हंसा बुद्धिमन्तो मरालाश्च ते पेयताङ्के आस्वादनीये काव्ये त्रागपि शीघ्रमेव गुणश्च विगुणश्च दोषश्च तयोर्विद बुद्धि ख्यापयन्तु कथयन्तु । किन्तु अशुचिपदकतुष्टा. भ्रष्टपदग्रहणेन सन्तुष्टा ये आत्मघोषा स्वमुखात् स्वप्रशंसाकारका: ते सुवृष्टा वराका काका इव के आत्मनि अकं पाप विद्यते येषा ते काका वायसाश्च कि काकुं तर्कणा न आयान्तु, अपि तु आयान्तु ॥९१॥

कार्पासविशदाः सन्तो नानापत्तिसहा अहा ।
येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये ॥९२॥

कार्पासेत्यादि—येषा गुणमय प्रशस्त पक्षे तन्तुप्राय जन्म परेषां जनाना गुह्यस्य दुराचारस्य पक्षे गोपनयोग्याङ्गस्य गुप्तये समाच्छादनाय भवति, ते नानापत्तिसहाः कार्पासवद् विशदा. स्वच्छा सन्तो जना , जयन्तु इति शेष । अहा इति आनन्दयुक्ताश्चर्यसूचने ॥९२॥

अर्थ—विशदिमविशदंशा.-स्वच्छतामे जिनका स्वभाव प्रवेश कर रहा है, अर्थात् जो काव्यके निर्दोष अशको ग्रहण कर रहे है, ऐसे हस विवेकी मनुष्य (पक्षमे हंसपक्षी) आस्वादनीय इस काव्यके विषयमे शीघ्र ही गुण और दोषको जानने वाली अपनी बुद्धिको सुविस्तृत करे, अर्थात् काव्यके गुण और दोषोकी समीक्षा करे, परन्तु जो **अशुचिपदकतुष्टा**-अशुद्धके पदके ग्रहण करनेमे सतुष्ट हैं (पक्षमे पुरीष आदि अपवित्र स्थानोमे सतुष्ट है, अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं, जो अपने आपमे अक–पापको सजोये हुए है (पक्षमे वायसतुल्य है), ऐसे दयनीय दुष्ट पुरुष इस काव्यके विषयमे किसी तरह काकु–तर्कणाको प्राप्त न हो, अर्थात् वे समीक्षाके अधिकारी नही हैं । अथवा समीक्षाके नाम पर वे [1]काकु–विभिन्न प्रकारकी कण्ठध्वनिको प्राप्त न हो ॥९२॥

अर्थ—जिनका गुणमय-प्रशस्त गुणोसे युक्त (पक्षमे सूत्रमय) जीवन दूसरोंके गुह्य–दुराचारो (पक्षमे गोपनीय अंग) के आच्छादन–छिपानेके लिये है, वे कपासके समान अनेक आपत्तियोको सहन करने वाले सज्जन जयवन्त रहे । अहा, सज्जन ऐसे होते है ॥९२॥

---

१. 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरै. काकुरित्यभिधीयते' ।

अपरातिपरत्वतः सुवर्णं बहु सन्तापय भो सुवर्णकार । ।
अमुकस्य गुणोऽतिरिच्यतेऽस्मात्तव तुण्डे खलु भस्मसन्निपातः ॥९३॥

अपरेत्यादि—सुवर्णस्य विद्वज्जनस्य कारागार इव कष्टदायको य स सुवर्णकारः दुर्जन पश्यतोहरश्च तस्य सम्बोधनम् । सुवर्णं च विद्वज्जनं हेम वा । शेषं स्पष्टम् ॥९३॥

आशिकाधारभूतेभ्यः शालिवृत्तेभ्य उत्तमम् ।
कथमप्यैमि गुर्वीकः शस्यसम्पत्करं खलम् ॥९४॥

आशिकेत्यादि—अहं गुर्वीक गुरूणां सेवक. धराजीविकश्च आशिकाधारभूतेभ्यः आशीर्वाददायकेभ्य पक्षे आशामात्रस्याधारेभ्य, शालि प्रशंसनीय वृत्तं चरित येषां तेभ्य, यद्वा शालिधान्यस्य वृत्त वार्तामात्रमेव येषु तेभ्य क्षेत्रेभ्य शस्या प्रशसनीया या सम्पत् ता करोतीति शस्यसम्पत्करं यत् किञ्चिद् दुर्गुणापहारकत्वेन निर्दोषाधायकं पक्षे शस्यस्य धान्यस्य सम्पत्कर त खल दुर्जन पक्षे धान्यसग्रहस्थानं कथमप्युत्तमं प्रशस्ततमं ऐमि जानामि ॥९४॥

गवामाधारभूतास्ते यद्यपीह सदङ्कुराः ।
खलं लब्ध्वा भवन्तीमा रमसंक्षरणक्षमाः ॥९५॥

अर्थ—हे सुवर्णकार ! विद्वज्जनोको कारावासके समान दुःख देनेवाले हे दुर्जन अथवा स्वर्णकार ! दूसरोको कष्ट देनेमे तत्पर होनेके कारण तुम **सुवर्ण**–विद्वज्जन अथवा स्वर्णको अत्यधिक सतापित करो अवश्य, परन्तु इससे उसका गुण ही विशेष रूपसे प्रकट होगा, तुम्हारे मुखपर केवल भस्मका पतन होगा, तुम्हे केवल दोषकथन करनेसे अपकीर्ति उठाना पडेगी–पक्षमे आगको फूंकनेसे भस्म मुखपर पडेगी ॥९३॥

अर्थ—मै गुर्वीक–गुरुओंका सेवक अथवा पृथिवीसे आजीविका करनेवाला जमीदार, **आशिकाधारभूत**–आशीर्वाद देने वाले (पक्षमे आशाके आधारभूत) **शालिवृत्त**–प्रशसनीय चरित वाले (पक्षमे धान्य–अनाजकी वार्तासे युक्त) सज्जनो (पक्षमे खेतो) से **खल–दुर्जन** (पक्षमे धान्य संग्रह करनेके स्थान–खलिहान) को किसी तरह **शस्यसम्पत्करं**–प्रशंसनीय सम्पत्तिको करनेवाला (पक्षमे धान्यरूप संपत्तिको करनेवाला) अत एव उत्तम जानता हूँ–मानता हूँ, अर्थात् जिस प्रकार खेतोकी अपेक्षा धान्यका संग्रह करनेसे खलिहान उत्तम है, उसी प्रकार प्रशंसा करनेवाले सज्जनोंसे दुर्जन अच्छा है, क्योंकि वह दोषोंकी आलोचनाकर काव्यको निर्दोष बना देता है और खलिहान भी भूसासे धान्यको अलग कर देता है ॥९४॥

गवामित्यादि—यद्यपीह लोके सतां सभ्यानां अङ्कुरा· कृपाकटाक्षा पक्षे सन्तश्च तेऽङ्कुराश्चाभिनवोद्भिद·, गवां वाणीनां पक्षे धेनूनां आधारभूता भवन्ति तद्वृत्तिकरत्वात् तेषाम् किन्तु इमा पुन खलं दुर्जनं पक्षे पिण्याकं लब्ध्वा रससंक्षरणक्षमाः सरसा पक्षे दुग्धदायिका भवन्ति ॥९५॥

विरजाः प्रभुरज्ञानध्वान्तभित्परमारवः ।
परमारक्षतान्मोहनिद्रालुं स प्रजां रविः ॥९६॥

विरजा इत्यादि—स्पष्टमिदम् । (शिबिकाबन्ध) ॥९६॥

राजते योगदक्षो यः सामायिकनिलिम्पितः ।
सृजत्वयोक्तिदः प्रायः स मां पाकं कलिस्थितम् ॥९७॥

राजत इत्यादि—य. सामायिकेन निलिम्पितः समभावतन्मयः योगे दक्षः स प्रायः अयोक्तिद सन्मार्गदायको भूत्वा मा कलिस्थितं अस्मिन् दुष्काले तिष्ठन्तमपि पाक पवित्रं सृजतु करोतु गुरुजनः । अयमपि चित्रबन्ध ॥९७॥

अर्थ—यद्यपि इस लोक मे सदङ्कुरा·–सज्जनोके कृपाकटाक्ष (पक्षमे प्रशस्त घासके अकुर) गवा–वाणीके (पक्षमे गायोके) आधारभूत हैं, तथापि ये गोरूप वाणी (पक्षमे गाये) खल–दुर्जन (पक्षमे) खलीको पाकर रससंरक्षणक्षमा:– रसोत्पादनमे समर्थ (पक्षमे दूध देने वाली) होती हैं ।

भावार्थ—घासके अंकुर गायोके आधार अवश्य हैं, क्योंकि उन्हे खाकर वे जीवित रहती हैं, परन्तु खलीके खानेसे अधिक दूध देती है। इसी प्रकार सज्जनोकी कृपासे कविगण काव्यकी रचना करते है, क्योकि उनकी प्रेरणासे ही कविकाव्य रचनामे प्रवृत्त होते है, परन्तु खल–दुर्जन मनुष्य दोष प्रदर्शित कर उस रचनाको निर्दोष कर देते हैं, अतः सरसता उन्हीसे प्राप्त होती है ॥९५॥

अर्थ—जो विरजा.–कर्मधूलिसे रहित हैं, प्रभु–शत इन्द्रोको नम्रीभूत करने वाले प्रभावसे सहित हैं, अज्ञानध्वान्तभिद्–अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं और परमारव –उत्कृष्ट लक्ष्मो और दिव्य ध्वनिसे युक्त हैं, वे जिनेन्द्ररूपी सूर्य मोहनिद्रामे निमग्न प्रजाकी अत्यन्त रक्षा करें ॥९६॥

अर्थ—जो योग–ध्यानमे दक्ष–समर्थ अथवा निपुण हैं, समताभावसे तन्मय और प्रायः सन्मार्गको देते हुए–उपदेश करते हुए सुशोभित हैं, वे गुरुजन दुष्कालमे स्थित मुझे पवित्र करें ।।९७॥

जीवानां जीवनाधारस्तदक्षरयुगं प्रभो ।
तवास्माकं मिथो भूयादनुलोमविलोमतः ॥९८॥

जीवनामित्यादि—स्पष्टमिदमपि ॥९८॥

विनमामि तु सन्मतिकमकामं द्योमितकैर्महितं जगति तमाम् ।
गुणिनं ज्ञानानन्दमुदासं रुचां सुचारुं पूर्तिकरं कौ ॥९९॥

विनमामीत्यादि—द्यामितकं देवैः इति अत्र सन्मतिविशेषेण ज्ञानानन्दमित्यभिधाय विद्यागुरवे नमस्कारः कृतो भवति, पादानामाद्याक्षरैः सूचितत्वात् ॥९९॥

जयतात् सुनिबन्धोऽय पुष्यन् सन्निगलं चिरम् ।
राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम् ॥१००॥
गणसेवी नृपो जातराष्ट्रस्नेहो वृषेषणाम् ।
वहन्निर्णयधीशाली ग्राम्यदोषातिगः क्षम ॥१०१॥
स्थिरत्वं मनुजाश्चेत श्रीमन्तोऽवन्तु सूक्तिमत् ।
चमत्कुर्याज्जगन्नेतुर्भुवनेषु वृषो निजः ॥१०२॥

अर्थ—हे प्रभो ! जो जीवोका आधारभूत है, वह अक्षरयुगल (नमः) आपके और हमारे लिये परस्पर अनुलोम तथा विलोम दोनो रूपसे प्राप्त हो ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके लिये मेरा नमः—नमस्कार हो और मेरे लिये आपका मन—करुणापूर्ण हृदय हो, अर्थात् मेरा उद्धार करनेकी भावना आपमे प्रकट हो । 'अनुलोममे नमः, और विलोममे मनः' यह अक्षरयुगल है ॥९८॥

अर्थ—जो सन्मति–समीचीन मतिसे सहित हैं, अकाम–कामसे रहित हैं, देवोके द्वारा जगत्मे अत्यन्त पूजित हैं, गुणवान् हैं, उदास–वीतराग हैं, मनोहर हैं और पृथिवीमे इच्छाओकी पूर्ति करनेवाले हैं, उन ज्ञानानन्द–नामक विद्या-गुरुको नमस्कार करता हूँ । यहाँ सन्मति शब्दसे ज्ञानानन्द–का ग्रहण हुआ है तथा प्रत्येक चरणके आदि अक्षरसे विद्यागुरु–शब्द प्रकट किया गया है ॥९९॥

अर्थ—सत्पुरुषोको मनोरथके पुष्ट करता हुआ यह सुनिबन्ध–काव्य चिर-काल तक जयवन्त रहे । देश निर्बाधरूपसे अत्यधिक प्रतिष्ठाको विस्तृत करता हुआ विद्यमान रहे । राजा गणसेवी, देशसे स्नेह करनेवाला, धर्मकी इच्छाको धारण करनेवाला, बुद्धिसे सुशोभित, ग्राम्य दोषसे रहित और सामर्थ्यवन्त–

---

१. 'द्यावाभूमिविस्फुरितयशसम्' इति पाठान्तरम् ।

नित्यमभ्येयं संसर्गं महतां शुभकर्मसु ।
तता धीः स्याच्च चित्तश्रीर्भूयाच्छ्रीश्रुततत्परा ॥१०४॥
मनागपि न संचारः कृच्छ्रेषु मम धीमतः ।
प्रसादादर्हतां शंम्बधोरिणी स्यादिति स्वयम् ॥१०५॥

एतस्य कामनाश्लोकपञ्चकस्य पदानामाद्यान्ताक्षरपठनक्रमेण कश्चि[illegible]त्वयो भवितुमर्हति । तद्यथा—

जयपुरराज्यान्तर्गतराणावलीग्रामस्थितश्रीमच्चतुर्भुजनिगमसुतश्रीभूरामल-कृतप्रबन्धोऽयम् ॥१००-१०५॥

श्रयणीयास्तु का शुद्धा ब्रह्मविद्भिः किमर्जितम् ।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या मण्डितं तैः किमस्तु नः ॥१०६॥
किमन्यदुच्यतामत्र सफलं समितिस्थले ।
सदुक्तेर्वाचनं यावदाद्यन्तं जन्मिनो भवेत् ॥१०७॥

श्रयणीयेत्यादि—शुद्धा शुद्धरूपा का श्रयणीया गृहीतु योग्या ? पुन ब्रह्मविद्भिः आत्मज्ञानिभिः किमर्जितं संगृहीतम् ? विद्वद्भिश्च सदा का वन्द्या ? वन्दनीया भवति ?

शक्तिशाली हो। अब श्रीमन्त लोग सूक्ति सहित स्थिरताकी रक्षा करे। लोक-नेताका अपना धर्म ससारमे चमत्कार उत्पन्न करे—सबको प्रभावित करे। मेरी कामना है कि शुभ कार्योंमें नित्य ही महान्—बडे पुरुषोका संसर्ग प्राप्त करता रहूँ। बुद्धि विस्तृत हो, मनकी गति श्रुताभ्यासमे तत्पर रहे। मुझ बुद्धिमान्का कष्टोमे रंचमात्र भी सचार न हो और अरहन्त भगवान्के प्रसादसे स्वयं ही कल्याणोकी परम्परा प्रवर्तमान रहे।

जयपुर राज्यके अन्तर्गत राणावली ग्राममे स्थित श्रीमान् चतुर्भुज सेठके पुत्र श्रीभूरामर(ल) के द्वारा किया हुआ यह प्रबन्ध है ॥१०१-१०५॥

अर्थ—किस शुद्ध स्वरूपका आश्रय करना चाहिये ? आत्म ज्ञानियोके द्वारा संगृहीत क्या है ? विद्वानोके द्वारा सदा वन्दनीय कौन है ? और इन सबसे हमारा क्या सुशोभित हो ? इन चार प्रश्नोके होनेपर सबका यही एक उत्तर है कि सभा स्थलमे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त समीचीन युक्तियोका वचन होना

---

१. शम्बधोरिणी—कल्याणाना परम्परा ।

तेश्च पूर्वोक्तैर्नोऽस्माकं किं तावन्मण्डितम् अस्तु ? इति चतुर्षु अनुयोगेषु सत्सु तदुत्तरमेव-मवधारणीयम् । अत्र अन्यत् किं वाच्यं केवलं समितिस्थले सभामध्ये यावत् जन्मन आद्यन्तं जन्मविनावारभ्य मरणपर्यन्तं सदुक्तेः सूक्तेः वाचनं पठनं भवेत् इत्येक-मेवोत्तरम् । तथा सदुक्ते. पूर्वोक्तायामेव यावदाद्यत्यन्तमक्षरयुगं वाचनं कृत्वा क्रमशः श्रद्धा गुरूक्तिषु विश्वासवृत्ति श्रयणीया, आत्मध्यानिभिर्वृत्तमर्जनीयं, विद्वद्भिश्च विद्या वन्दनीया तैरेतैरेव त्रिभिरस्माकं मनः मण्डितमस्तु रत्नत्रयनामकैरिति तात्पर्यार्थ· ॥१०६-१०७॥

जनयतु पुरुरभिराम ज्येष्ठो रावणानवसरी पुनराग-
स्तारेण च चातुर्यभुवा जटितं जनतायत भूनीरागः ।
मधुर आदि वागडिम्बकरणकथा विसरशुचितातत्तिसुज्ञा
लोकचक्रनाथः स्वमय ं नवलोऽरं ध्वनिशिव बुधमनस्सु ॥१०८॥

जनयत्वित्यादि—पुरुः ऋषभदेवः यः अभिरामेषु सज्जनेषु ज्येष्ठः सर्वश्रेष्ठः रावणस्य अनीतिवर्त्मगामिनः अवसरोऽवकाशस्तेन रहितः रावणानवसरो जनतया आयता व्याप्ता या भूः तत· नीरागः रागवर्जितः मधुरः सुभगः आदिवाक् प्रथमतीर्थंकर. अडिम्बानि करणानि छलरहितानीन्द्रियाणि यस्मिन् स चासौ कथायाः विसरः विस्तारः तस्य शुचिताया ततिः पक्तिः तया सुज्ञा सम्यग्ज्ञानम् आलोकश्च दर्शनं तयोः चक्रस्य संग्रहस्य नाथ नवल वार्धक्यरहितः भगवान् अरं शीघ्रं बुधमनस्सु विद्वज्जनानां

चाहिये । अथवा प्रथम श्लोकके प्रत्येक पादके आदि और अन्तिम अक्षरोको मिलाकर उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर कहना चाहिये । जैसे—

श्रयणीयास्तु का शुद्धा—**श्रद्धा**—शुद्ध श्रद्धा ही आश्रयणीय है ।
ब्रह्मविद्भिः किमर्जितं ? **व्रतं** आत्मज्ञानियोने व्रतका संग्रह किया है ।
विद्वद्भि. का सदा वन्द्या ? **विद्या** विद्वानोके द्वारा विद्या सदा वन्दनीय है ।
मण्डित तैः किमस्तु नः **मनः** उन सबसे अर्थात् रत्नत्रयसे हमारा मन सुशोभित हो ॥१०६-१०७॥

अर्थ—वे पुरुदेव-भगवान् वृषभदेव विद्वज्जनोंके हृदयोमे निर्दोष शब्द ज्ञान-को उत्पन्न करें-प्रकट करें, जो सज्जनोमे सर्वश्रेष्ठ थे, जिनके पास अनीति मार्गके लिये अवकाश नही था, जनसमूहसे व्याप्त भूमिसे जो रागरहित थे, मनोहर थे, आदि तीर्थंकर थे, छलरहित इन्द्रियोंकी कथा सम्बन्धी पवित्रताकी पंक्तिके ज्ञान और दर्शनके संग्रहके स्वामी थे, और वार्धक्यसे रहित थे ।

चित्तेषु स्वमयं चातुर्यभुवा आगस्तारेण दोषराहित्येन जटित युक्तं ध्वनिशिवं जनयतु ॥

एतस्य जाद्येकान्तरितैरक्षरै: कविप्रशस्तिर्नि सरति । तद्यथा—जयपुरराज्ये राणावरी-नगरे चतुर्भुजतनयभूरामरदिगम्बरकविरचितमुलोचनास्वयंवरनिबन्धनमिति ॥१०८॥

लोकधराङ्कात्मकसंगणिते　विक्रमोक्तसंवत्सरे　हिते ।
श्रावणमासमिति प्रति याति पूर्णं　निजपरहितैकजाति ॥१०९॥

लोकेति—लोकाः, त्रयः धरा पृथिव्य अष्टौ, अङ्का नव-आत्मा चैक इत्यमङ्कानां वामतो गतिरिति नियमात् परिवर्तिते १९८३ तये हितकरे विक्रमसवत्सरे श्रावणमासस्य पूर्णिमायां स्वपरहितकरोत्पत्तियुक्तमिदं काव्यं पूर्णतामगमत् ॥१०९॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तत्काव्यं लसतात् स्वयंविधिश्रीलोचनाया जय-
राजस्याभ्युदयं दधद् वसुदृगित्याख्यं च सर्गं जयत् ॥११०॥

इस श्लोकके ज अक्षरसे लेकर बीच-बीचके एक अक्षरको छोडते हुए अक्षरों-से कवि प्रशस्ति निकलती है। जैसे मूल प्रशस्ति सस्कृत टीकामे उद्धृत है। हिन्दी अनुवाद इम प्रकार है—जयपुर राज्यके राणावरी नगरमे चतुर्भुजके पुत्र भूरामर दिगम्बर कविने यह सुलोचना स्वयवर नामक काव्य (अपरनाम जयोदय काव्य) रचा है ॥१०८॥

अर्थ—१९८३ विक्रम सम्वत्सरमे सावन सुदी पूर्णिमाके दिन यह स्वपर हितकारी काव्य पूर्ण हुआ ॥१०९॥

इत्थ ब्र० भूरामलशास्त्रिणा विरचिते सुलोचनास्वयवरापरनामधेय-जयोदयमहाकाव्येऽष्टाविंशतितमः सर्गः समाप्त.॥

शुभ भूयात्

जैन जयतु शासनम् ।

●

किञ्चिन्निवेदनम्

ज्ञानसागर आचार्यो ज्ञानसागरसन्निभः ।
देववाणीविशेषज्ञः काव्यसिन्धुसुधांशुमान् ॥ १ ॥
आसीद्विद्वज्जनैर्मान्यो भूरामलेति नामभाक् ।
गद्यपद्यमयी काव्यरचना तस्य विश्रुता ॥ २ ॥
आद्रियते सदा प्राज्ञैर्भव्यभावविभूषितैः ।
जयोदयमहाकाव्यं रचितं तेन धीमता ॥ ३ ॥
महाकाव्यसमूहे यत्तस्य चूडामणीयते ।
अप्रसिद्धपदोपेतं विदुषामप्यगोचरम् ॥ ४ ॥
स्वोपज्ञटीकया युक्तं चकारैतन्महामनाः ।
अष्टाविंशतिसर्गाढ्यं भव्यानुप्रासभासितम् ॥ ५ ॥
अलङ्कृतमलङ्कारैरुपमारूपकादिभिः ।
भ्राजितं यमकाद्यैश्च शब्दालंकारसंचयैः ॥ ६ ॥
कलापे काव्यरत्नानामद्वितीयं विराजते ।
आश्विनकृष्णपक्षस्य तृतीयायां जयातिथौ ॥ ७ ॥
लोकवार्धिखनेत्राख्ये वैक्रमे शुभवत्सरे ।
संपादनमिदं जातं हिन्दीटीकासमाहितम् ॥ ८ ॥
विद्वांसः काव्यमर्मज्ञाः क्षमतां स्खलितं मम ।
यतोऽहमल्पबोधोऽस्मि प्रज्ञया परिवर्जितः ॥ ९ ॥
प्रार्थयामि बुधान्नम्रः शोधयन्तुतरामिदम् ।
गल्लीलालतनूजोऽहं जानक्युदरसंभवः ॥१०॥
दयाचन्द्रस्य शिष्योऽस्मि सागरग्रामवासिनः ।
पन्नालालोऽस्मि सन्नाम्ना बालश्चास्मि महाधिया ॥११॥
सागरग्रामवासोऽस्मि दासोऽस्मि विदुषां सदा ।
देवशास्त्रगुरून् नित्यं प्रणमामि हितान्मुदा ॥१२॥
विद्यासागर आचार्यो गुरुभक्तिपरायणः ।
हर्षप्रकर्षमेतेन लभतामन्तरात्मनि ॥१३॥
दत्त्वाशिषं सदा मह्यमेतस्माद्भववारिधेः ।
विदधातुतरां तीर्णं मादृन्न मां महाश्चिरात् ॥१४॥